





प्रन्थकार---

श्री स्वामी श्रोमानन्दजी तीर्थ

সকাহাক—

श्रार्थ साहित्य मंडल लि॰, श्रजुमेर

भाय्ये संवत् १,९७,२९,४९,०४८

द्वितीय संस्कर्ग) १०००

संवत् २००५ सन् १९४८

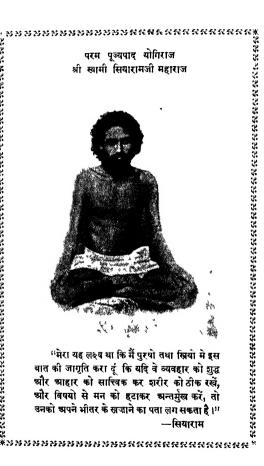
मूल्य १२) **द**पया प्रकाशकः— स्रार्य साहित्य मग्रहल लिमिटेड, स्राजमेर,

श्रनुक्रमशिका ********

चित्र परम पूंच्यपाद योगिराजजी स्त्रामी सियारामजी महाराज

8	प्राग् वक्तव्य	••••	••••	••••	••••	१से	११ तक	
	পকাহাক	••••		.,	••••	१		
	श्रीमान् डाक्ट	टर मंगलदेवजी	त्रिंसिपल स	संस्कृत कालेज	बनारस	२		
	स्त्रामी दिञ्चानन्दजी संयोजक प्रन्थ प्रकाशक-प्रबन्ध-परिषद्							
	प्रथम संस्कर	र् ष		••••	••••	3		
	बा० गंगाप्रस	ादजी रिटायर्ड	चीक जस्टि	स टिहरी गढ़	वाल तथा भ	रूत पूर्व		
	प्रधान सार्वदे	शिक आर्थ प्रति	निधि सभा	••••	••••	8		
	प्रन्थकार		••••		••••	ц		
	चित्र स्वामी	श्रोमानन्दतीर्थ	••••	••••	••••	4		
	श्राशीर्वाद-पू	च्यपाद स्वामी	श्री सोमतीर्थ	जी महाराज	••••	११		
	चित्र पूज्यपा	इस्वामीश्रीस	गेमतीर्थज <u>ी</u>	महाराज	••••	११		
₹	भूमिका रूप षड्	दर्शन-समन्वय		•••	••••	१ से	१४० तक	
	पहला प्र	करण						
	वेद और दशेन			`	••••	8		
	दूसरा प्रव	हरण						
	मीमांसा श्रौर वे	दान्त दर्शन	••••	••••		×		
	''द्वा सुपर्णा सयुः	जा सखाया" र	मन्त्र के अधी	िको बतलानै	वाला चित्र			
	तीसरा प्र							
	न्याय और वैशेषि	वेक दर्शन	••••	••••		8/0		
	चौथा प्रक	रण						
	सांख्य और योग	वर्शन	••••	••••		u o		
	रूपक द्वारा योग			_		90		

ą	पातब्जलयोगप्रदी	ч			••••	१	से ५०५ तक
	समाधिपाद	••••	••••	••••	•••	१	
	कोशसम्बन्धी चिः	त्र	•••		••••	४७	
	चोंकार का भावन	।।मय चित्र	••••			८७	
	साधनपाद			••••		१५१	
	नौली सम्बन्धी चि	7				२७०	
	श्रासनों के चित्र	••••				३१०	से ३१८
	षट्चकद्योतक चित्र	। (चतुर्थ प्राः	णायाम पांच	वीं विधि)	••••	३३९	
	सूत्र ३२ के विशेष	वक्तव्यकाण	गरिशिष्ट	••••		३४३	
	विभूतिपाद	••••	••••	••••		३६५	
	कै वल्यपाद	••••	••••		••••	४५५	
8	परिशिष्ट		••••	••••	••••	५०६	से ५७४तक
	परिशिष्ट १ मूल सू	त्र श्रनुक्रमर्ण	ì		••••	५०६	
	परिशिष्ट २ वर्गानुः	कम सूत्र सूर्च	î.	••••		५१२	•
	परिशिष्ट ३ शब्दानु	क्रमणी	••••		••••	486	
	परिशिष्ट ४ विषय स	रू ची				५३२	
	परिशिष्ट ५ शुद्धचङ्	ुद्धिप त्र		•••		५५७	







पुज्य श्री स्वामीजी महाराज ने योग के यथार्थ रहस्य तथा स्वरूप को मनुष्यमात्र के हृदयङ्गम करने के लिये 'पात्रञ्जलयोग प्रदीप' नामक पुस्तक लिखी थी उसका प्रथम संस्करण अनेक वर्षों से अप्राप्य हो रहा था। अब उसकी द्वितीयावृत्ति "आर्य-साहित्य मगडल" द्वारा छपकर पाठकों के सन्मुख प्रस्तत है। इस बार श्री स्वामी जी महाराज ने इसमें श्रानेक विषय बढा दिये हैं श्रीर योग-सम्बंधी अनेक चित्रों का समावैश किया है। इससे प्रन्थ प्रथम संस्करण की अपेचा लगभग दुगुना हो गया है। इस प्रन्थ में योगदर्शन व्यासभाष्य, भोजवृत्ति और कहीं कहीं योगवार्त्तिक का भी भाषानवाद दिया है। योग के अनेक रहस्य योग सम्बंधी विविध प्रन्थों और खानुभव के आधार पर भली प्रकार खोले हैं, जिससे योग में नये प्रवेश करने वाले अनेक भूलों से बच जाते हैं। श्री खामीजी ने इसकी 'षहदर्शन समन्वय' नाम्नी भूमिका में मीमांसा श्रादि छत्रों दर्शनों का समन्वय बड़े सुन्दररूप से किया है। महर्षि दयानन्द सरखती को छोड़ कर अवोचीन आचार्य तथा विद्वान छुओं दर्शनों में परस्पर विरोध मानते है. किन्त श्री खामीजी महाराज ने प्रवल प्रमाशों तथा यक्तियों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दशेनों में परस्पर विरोध नहीं है। श्री स्वामीजी महाराज इस प्रयास में पूर्ण सफल हुवे हैं तथा कपिल और कणाद ऋषि का अनीश्वरवादी न होना: मीमांसा में पश बलि का निषेध: हैत अहैत का भेद: सृष्टि उत्पत्ति: बन्ध और मोत्त: वेदान्त दर्शन अन्य दर्शनों का खरहन नहीं करता: सांख्य और योग की ऐक्यता श्रादि कई विवादास्पद विषयों का विवेचन खामी जी महाराज ने बड़े सुन्दर ढंग से किया है, इसके लिये खामीजी महाराज श्रत्यन्त धन्यवाद के पात्र हैं। दुशेनों और उपनिषद् आदि में समन्वय दिखलाने और योग सम्बन्धी तथा श्रम्य कई बाध्यात्मिक रहस्य पूर्ण विषयों को साम्प्रदायिक पत्तपात से रहित होकर अनुभृति, युक्ति, श्रुति, तथा आर्ष प्रन्थों के आधार पर खोलते हुए खामीजी ने अपने खतन्त्र विचारों को प्रकट किया है। श्रतः इन विचारों का उत्तरदायित्व श्रीखामीजी महाराज पर ही सममना चाहिए न कि आर्थ साहित्य मग्डल पर ।

पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाने के उदेश्य से खामीजी के आदेशानुसार यथोचित स्थानों में चित्र भी दिये गये हैं। कुछ आसनों के चित्र पं० भद्रसेनजी के यौगिक व्यायाम संघ के ब्लाकों से लिये गये हैं। जनके लिये पं० भद्रसेनजी मयडल की ओर से धन्यवाद के पात्र हैं।

प्राक्कथन

श्रीमान् पं॰ मङ्गलदेव जी शास्त्री, एम॰ ए॰ डी॰ फिल॰ (औक्सन) प्रिन्सिपल संस्कृत कालेज, बनारस, सुपरिन्टेन्डेन्ट ओफ संस्कृत स्टबीज़ यू॰ पी॰ तथा रजिस्ट्रार संस्कृत कालेज परीक्षा युक्तप्रान्त, बनारस।

'योग' शब्द का मौलिक अर्थ क्या है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। तो भी इस में कोई सन्देह नहीं कि 'योग' का अर्थ वास्तव में निपेध परक * न होकर विधि परक ही है। परन्तु योग सूत्र में ''योगश्चित्त बृतिनिरोधः'' इस प्रकार योग का जो प्रारम्भिक वर्णनिक्या है वह निषेधपरक ही है। इसका कारण प्राथमिक अभ्यासी योग के तात्त्विक खरूप को जो ''स्वयं तद-तःकरणेन गृह्यते'' के अनुसार स्वयं संवेध ही है, समम्क्रने की समता का न होना ही है।

योग के विषय में ध्यान रखने की दूसरी बात यह है कि वह वास्तव में एक दर्शन नहीं है। वह तो वृत्तियों के रूप में फुलफरी सहस्र प्रतिज्ञ्ञण उपज्ञीयमाण जीवनी शक्ति को स्ररूप में स्थिर करके अनर्धभास्वर माण की तरह स्थ्यं प्रकाश श्रात्मा के स्वरूप को 'अनुभव' करने की एक विशिष्ट कला है। इसी कला का विभिन्न दृष्टियों से भगवद्गीता में "समत्वं योग उच्यते", "यागः कमेसु कौशलम्" इस प्रकार वर्णन किया है। पर इस कला का भी दार्शनिक श्राधार होना चाहिए। इसी दृष्टि से जैसे न्याय (तके) का कला होने पर भी, दर्शनों में समावेश किया जाता है, उसी प्रकार योग की गणना दर्शनों में की गई है।

खपर्युक्त कारणों से योग की ठीक-ठीक व्यारव्या केवल ग्रुष्क पाशिहत्व के सहारे नहीं हो सकती। श्रवण्य योग सूत्रों पर श्रवंकानेक 'पाशिहत्यपृर्ण, टीकाश्रों के होने पर भी वास्तविक टप्टगा उनका कोई महत्त्व नहीं है। इसके विपरीत 'पात जल योग प्रदीप' का महत्त्व इसी में है कि इसकी रचना एक ऐसे विशिष्ट व्यक्ति ने की है जिन्होंने जीवन की प्रयोगशाला में इस कला का श्रभ्याम किया है। ऐसी व्याख्या के एक-एक शब्द का महत्त्व होना चाहिए। प्रम्थकर्त्ता ने श्रपने श्रव्यक्ता ही लिखी है, किन्तु योग-मागे के यात्री को जिस-जिस बात के जानने की श्रावश्यकता हो सकती है उस उसकी बतलाने का प्रयत्न किया है। दाशेनिक जिज्ञासुश्रों के लिए दाशेनिक समन्वय की विद्यत्तापुर्ण व्याख्या भी इस प्रम्थ का एक विशेष महत्त्व है।

भारतवर्ष में अत्यन्त प्राचीन काल से ही योग शास्त्र का विकास हुआ है। इस लिए विभिन्न शास्त्रीय परम्पराओं म योग-विषयक अनेकानेक बहुमृत्य अनुभव और उपयोगी विचार बिखरे पड़े हैं। विखरे हुए मोती सदश इन विचारों और अनुभवों को भी इस व्याख्या में विवेचना पुरःसर यथा खान एकत्रित करके प्रन्थकर्त्ता महोदय ने जिज्ञासुओं और साधकों का बढ़ा उपकार किया है। इस दितीय संस्करण में व्याख्याकत्तों ने इस व्याख्या को सबेश सर्वाङ्गपूर्ण बनाने की चेष्टा की है। इसके लिए हम सब को उनका आभारी होना चाहिए। आशा है जिज्ञासुजन इस दितीय संस्करण का पूर्ण सदपयोग करेंगे।

^{*} अर्थात श्रूत्यवाद के सदश योग निषेश्वपरक नहीं है, बरन् अन्यय व्यतिरेक के साथ नेति नेति द्वारा परमक्ष परमाध्म स्वरूप को प्राप्त कराता है।

प्राक् वक्तव्य

श्री स्वामी दिब्यानन्द जी महाराज (पूर्व बा॰ देवकी नन्द्रभ गुस वानप्रस्थी) (संयोजक पातञ्जल योगप्रदीप प्रकाशन प्रबन्ध परिषद्)

१९३९ के अप्रेल मास में खर्गीय लाला रयुवर दयाल जी मैजिस्ट्रेट की प्रेरणा से श्री खासी ओमानन्द जी महाराज, खर्गीय लाला प्यारे लालजी रिटायर्ड डिस्ट्रिक्ट एरड सेशन जज, ब्रह्मचारी शिवचरण जी नगीना निवासी और मैं रामगढ़ जिला नैनीताल गये। वहाँ हम श्री नारायण खामी आश्रम में ठहरे। वहाँ के शान्त वातावरण में श्री खामी ओमानन्द जी महाराज ने २ बजे अपना मौन व्रत खोलने के पश्चात् १ घएटा प्रतिदिन योग दशैन का प्रवचन करना स्त्रीकार किया।

प्रवचन समाप्त होने पर लाला रघुवर दयालजी की इच्छा हुई कि जनता की जानकारी के लिए योग दर्शन के सिद्धान्त बहुत संज्ञित रूप में जनता के समज्ञ रखे जावें। अतः उन्होंने एक छोटी सी पुस्तक लिखी और उस पुस्तक को श्री खामी जी महाराज की थोर से छपवाने का विचार प्रकट किया। खामीजी ने कहा कि, इसका कुछ लाभ न होगा अच्छा तो यह होगा कि पुस्तक पर्याप्त विस्तृत हो। लाला जी की इच्छानुसार खामीजीने एक घरटा प्रति दिन मीन खोलने के पश्चान् लिखवाना छुक् कर दिया। परन्तु ऐसा करने से पूर्व पूज्यपाद गुरुदेव जी श्री १०८ खामी सोमतीर्थ जी महाराज की खीइति छावस्यक समसी गई। गुरुदेव जी महाराज का उत्तर श्राया कि भाषाटीकार्य बहुत हैं। अतः इसका कुछ लाभ न होगा। यदि टीका विशेष महत्त्व की होतो कोई श्रापत्त नहीं हैं।

स्वामी जी गुरुदेव जी के श्रादेश श्रनुसार श्रपने श्रनुभव के श्राधार पर प्रतिदिन एक घरटा लिखाते रहे। ब्रह्मचारी शिवचरण जी व लाला रघुवर दयाल जी लिखते थे। लिखने के पश्चात् दोनों मिला कर भूलों को ठीक कर लेते थे। कुछ दिनों के पश्चात् बाबू गङ्गा प्रसाद जी चीफ जस्टिस भी रियासत टिहरी से रिटायर्ड होकर वहाँ आगये।

पहाड़ से नीचे चतरने पर यह उचित समक्ता गया कि छपनाने से पूर्व गुरुजी महाराज पुस्तक को एक बार सुनलें। खारध्य अत्यन्त खराव होने पर भी गुरु जी महाराज दिन में अवकाश न मिलने के कारण रात के समय सुनते रहे और अनुभव के आधार पर यथा तथा शोधन कराते रहे।

यह भी उचित समक्ता गया कि सूत्रों की व्याख्या व्यासभाष्य के आधार पर की जाने। और जनता के लाभ के लिए जहाँ त्रावश्यक हो भोजवृत्ति, विज्ञानभिक्षु के योग-वार्त्तिक तथा वाचस्पति मिश्र की टीका भी दी जाने।

कुछ मित्रों के अनुरोध करने पर हिप्रोटिजम । Hypnotism., मैसमैरिजम, Mesmerism. आदि व उत्तरायण दिज्ञणायण आदि की यथा स्थान व्याख्या भी करदी गई और हटयोग की षट् क्रियायें, तथा प्राणायाम आसन, मुद्रा आदि का विस्तार से वर्णन कर दिया गया जिससे पाठकों को दूसरी पुस्तुकों का सहारा हृद्ना न पहे । प्रत्येक पाद के अन्त में उपसंहार के रूप में यह बतला दिया गया कि उस में क्यान्क्या विषय है ।

स्वामी जी महाराज को बहुत सी अनुभूत श्रौषधियें साधुओं, महात्माश्रों से प्राप्त हुई थीं तथा उन्होंने खर्य अनुभव किया था श्रौर कराया था। साधकों के हितार्थ कुछ मित्रों के आप्रह से उनको भी यथास्थान प्रकाशित करा देना आवश्यक समका गया। पुस्तक के प्रकाशन का कार्य एक प्रकाशन प्रवन्ध परिषद् के श्रधीन कर दिया गया। जिसके निम्नलिखित सभासद् थे:—

१ श्री १०८ खामी सोमतीर्थ जी महाराज

२ श्री स्वामी श्रोमानन्दजी तीर्थ।

३ राय बहादुर श्री गङ्गा प्रसाद जी एम. ए रिटायर्ड चीफ जस्टिस टिहरी गढ़वाल

४ भी बार प्यारेलाल जी रिटायर्ड डिस्ट्रिक्ट ऐएड सेशन जन्म (स्वर्गीय)

५ श्री ला० रघुवरदयाल जी रिटायर्ड मैजिस्ट्रेट (स्वर्गीय)

६ श्री ला॰ हरप्रसाद जी एम० ए० एल० एल०, बी० देहली

७ श्री मास्टर वावू प्रसाद जी ट्रेजरर सेंट्रल कौपरेटिव बैंक श्रजमेर

८ श्री बाठ जगदीशे प्रसाद जी एमठ एठ सम्पादक प्रदीप प्रेस मुरादाबाद

९ श्री बा० देवकीनन्दनजी गुप्त वानप्रस्थी (वर्तमान स्वामी दिव्यानन्द जी)

श्री ला० प्यारे लाल जी तथा ला० रघुवर इयाल जी ने पुस्तक के श्रकाशनार्थ सी, सी, क्वये प्रदान किए। पुस्तक को श्रद्धों के रूप में छपवाना श्रारम्भ किया गया। किन्तु कुछ श्रद्धों के निकल जाने के प्रशान बड़ी किठनाई का सामना करना पड़ा। कुछ मित्रों ने सलाह नी कि कार्य को बन्द कर दिया जावे, परन्तु स्वामी जी को यह श्रसहा था कि कुछ प्राहकों से पूरी पुस्तक के दाम लेकर उन्हें थोड़े से श्रद्ध दिये जावें। कुछ मित्रों की सहायता से ऋषा लेकर कार्य पूरा हो पाया। परन्तु प्रेस के ऋषा से सर्वथा मुक्त करवाने का श्रेय श्री ला० ब्रजलाल जी Inspector of schools D. A. V. College विभाग को है।

पुराने पुस्तक विक्र ताओं का अनुमान या कि पहला संस्करण निकलने में ८-१० वर्ष लग जावेगें। परन्तु जनता ने इसे इतना पसन्द किया कि लगभग एक वर्ष में ही सब प्रतियां समाप्त हो गई और मांग को देखते हुए हमें दूसरे संस्करण का निकालना अनिवार्य हो गया। किन्तु गुद्ध के कारण कागज के न मिलने से यह कार्य खानित करना पड़ा। खामी जी महाराज ने इस अवसर का, लाभ उठाते हुए पुस्तक में कई खानों पर अधिक विस्तार से ज्याख्या करदी है और कुछ चित्र भी दे दिये हैं। विशेष वक्तव्य और विशेष विचार उनके अपने अनुभव के आधार पर हैं जिन से पाठकों को विशेष रूप से लाभ उठाना चाहिये।

हम उन सब महानुभावों के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने इस पुस्तक के प्रकाशन में हमारी सहायता की है।

वक्रव्य

श्री बा॰ गङ्गाप्रसाद एम. ए. एम., आर. ए. एस. (राथ बहादुर), रिटायर्ड चीफ जस्टिस, टिहरी गदवाल राज्य भूतपूर्व प्रधान सावेदेशिक आर्थ प्रतिनिधि सभा ।

श्री ख़ामी जोमानन्द तीर्थ कृत पातत्कल योग प्रदीप भाष्य के पहले संस्करण का जनता ने अच्छा मान किया। पहला संस्करण भी एक प्रकार से सर्वागपूर्ण था। श्री खामी जी ने दूसरे संस्करण में कई विषय बदा दिये हैं। योग सम्बन्धी शायद ही कोई विषय हो जो प्रन्य के भीतर न आ गया हो। षड्द्शेन समन्वय का विषय परिवर्द्धित करके बहुत स्पष्ट कर दिया है। आशा है कि योग साधन के इच्छुक और साधक प्रन्य से बहुत लाभ उठावेंगे।



प्रन्थकार का वक्रव्य

पातलाल योग प्रदीप का यह दूसरा संस्करण पाठकों के समन्न आरहा है। प्रथम सकरण की छपाई का कार्य सन १९४१ में बिना किसी साधन और सामग्री के अंकों के हुए में निकालना आरम्भ किया गया था। बीच बीच में कई प्रकार की कठिनाइयां उपस्थित होती रहीं। वे सब जिस परमगुर परमेश्वर की श्रेरणा से ख्रीर जिसके समर्पण रूप में यह कार्य किया गया था, उसी की अपार और अदुभुत शक्ति द्वारा दूर होती रहीं, और अन्त में मार्च १९४२ को यह पुस्तक रूप में तैयार हो ही गई। इसके प्रकाशन प्रबन्ध परिषद् के सदस्यों को श्रेस तथा अन्य सज्जनों के ऋगा चुकाने के सम्बन्ध में अत्यन्त चिन्ता थी, पर एक वर्ष के अन्दर ही पुस्तक की इतनी मांग बढ़ी कि न केवल उस ऋण का ही निबटारा होगया प्रत्यत लगभग सारी प्रतकें समाप्त होगई. और सन् १९४३ में ही दसरी आवृत्ति निकालने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस भयंकर युद्ध के समय में इतने बड़े धार्मिक प्रन्थ का बिना किसी बाह्य सहायता के निकालना असम्भव था। गत वर्षे यद्ध की समाप्ति पर ऐसा प्रयक्ष किया गया कि धार्मिक प्रन्थ छपवाने के लिए जो दानियों के कई टस्ट हैं इनमें से कोई इसको छपवा कर कम से कम मुख्य पर जनता तक पहुँचा दे. अथवा किसी ऐसे दानी महानुभाव की सहायता से जो अपने रुपयों को इस प्रकार के आध्यात्मिक कार्यों में लगाना चाहते हैं थोड़े दामों में पाठकों तक पहुँच सके। इसमें सफलता प्राप्त न होने पर इस दूसरे संस्करण को "आर्य साहित्य मंडल अजमेर" को जो इस प्रकार के धार्मिक प्रन्थ छापने में सराहनीय कार्य कर रहा है इस विश्वास पर सौंप दिया गया है कि वह इसको अधिक से अधिक उपयोगी और सन्दर बनाते हुए कम से कम दामों में सर्व साधारण के हाथों में पहुँचाने का यन करेगा।

षड्दर्शनसमन्वय—योग के दार्शनिक स्वरूप को समझने के लिए तो दर्शनों का झान आवश्यक है ही, किन्तु दर्शनों का यथार्थ झान भी योग द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है, इसके बिना उस को बोध कराने वाले बाह्य स्थूल शब्द आदि बुद्धि के केवल व्यायाम रूप साधन ही रहते हैं। प्राचीन विशाल हृदय व्यापक दृष्टि वाले ऋषि समस्व (समन्वय) बुद्धि से युक्त होते थे। यथा वेदों के कमेकाएड तथा झान काएड में जो विरोध प्रतीत होने लगा था उसी के अविरोध की स्थापना और समन्वय साधन के उदेश्य से श्री जैमिन जी ने पूर्व मीमांसा और श्री व्यासजी ने उत्तर मीमांसा की रचना की थी, किन्तु कई नवीन संकीर्य विचार वाले मेदवादी आचार्य जहाँ जात-पात, मतमतान्तर, छूत-अळूत, नीच-जंच आदि नाना प्रकार के भेद भाव उत्पन्न करके हिन्दुओं के व्यक्तिगत, सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय अवनति और पतन का कारण हुए हैं, वहाँ इन प्राचीन ऋषियों के भाष्यों में परस्पर भेद और विरोध का विष फैला गये हैं।

आधुनिक कालमें महर्षि दयानन्द ने सबसे प्रथम इस बुटि को अनुभव किया और दर्शनों के अविरोध तथा समन्वय साधन पर पूरा जोर दिया, किन्तु उनके परचात् इस डडेश्य की पूर्ति के लिए काई विरोष श्यन्न नहीं किया गया । न्याय, वैरोषिक, सांख्य और योग इन बारों दर्शनों का मुख्य उद्देश्य श्रृष्ठति के सर्वथा परित्याग पूर्वक शुद्ध अर्थात् परम्नद्धा को शास करना है, न कि अपर मद्धा अर्थात् ईश्वर के खराडन में जैसा कि सामान्यतया उन पर दोष आरोपित किया गया है। सांख्य और योग ही दो शाचीन निष्ठायें हैं और वास्तव में यही प्राचीन वेदान्त फिलासकी है, जिसका श्रुतियों (उपनिषदों) और स्मृतियों में स्थान स्थान पर वर्णन पाया जाता है। गीता तो सांख्य योग का ही मुख्य मन्य है। सांख्य और योग के आश्चरनर रूप के अर्तिरक्त कार्य चेत्र में उनका बाह्य ज्यावहारिक रूप कैसा होना चाहिए, इस बात को गीता में विरोषता के साथ स्पष्ट शब्दों में दर्शाया है। उदाहरणाथं, जहाँ ईश्वर समर्पण द्वारा निष्काम कर्म योग बतलाया गया है, वहां योग की निष्ठा है, और जहाँ 'गुण्य ही गुणों में वर्त रहे हैं, आत्मा अकर्ता है' इस भावना द्वारा वह सांख्य निष्ठा है, इसी प्रकार जह जहाँ 'श्वन्यादेश' अर्थात् प्रथम पुरुष और मध्यम पुरुष द्वारा परमात्मा की जपासना बतलाई गई है, वह योगकी निष्ठा है और जहाँ 'अर्हकारादेश' और 'आत्मादेश' अर्थात् परमात्मा का बोध कराया गया है वह सांख्य निष्ठा है, इस्यादि।

जैन और बौद भारतवर्ष के दो प्रसिद्ध धर्मों के प्रवर्तक आचार्य वस कोटि के आनुभवी योगी हुये हैं। सांख्य योग के सदश इनका च्येय भी असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् शुद्ध
पर-ब्रद्ध परमास्मा की ही प्राप्ति है। बाद्ध स्थूल शब्दों के अमजाल में फंस कर इनके वास्तिषक
स्वरूप को समम्त्रने में भी बहुत धोखा खाया गया है। ये भी एक प्रकार से हमारे दर्शन
समन्वय के अन्तर्गत हो सकते हैं। अर्थात् जैसे जल के सर्वत्र प्रथ्वी में व्यापक होते हुए भी
पृथ्वी से प्रथक् उसके शुद्ध स्वरूप से ही पिपासा की हित्त हो सकती है। इसी प्रकार चैतन
तस्व के सर्वत्र व्यापक होते हुए भी उनका लक्ष्य उसके शुद्ध स्वरूप परमात्मा = पर ब्रद्ध को
प्राप्त करना है। इससे उसके शबत स्वरूप अपर ब्रद्ध = ईश्वर का निराकरण न समम्त्रना
चाहिए, प्रस्युत उन्होंने भी किसी रूप में इस लक्ष्य की प्राप्ति में उसके अपर स्वरूप का ही
सहारा लिया है। योग किसी स्थान विशेष पर जिसको देश कहा गया है (देशबन्धित्तस्य
धारणा) अपर ब्रद्ध ईश्वर का सहारा लेकर (ईश्वर प्रिण्यानाद्वा) त्रिगुणात्मक स्थूल भूत,
तन्मात्रों तक सुक्ष्म भृत, अर्द्धकार, और चित्त के आवरणों को क्रमशः वितर्क, विचार,
धानन्द और अस्मितानुगत समाधि द्वारा हटाता हुआ विवेक ज्याति द्वारा गुणों को सर्वथा
इथक् करके असम्प्रज्ञात समाधि में शुद्ध पर-ब्रद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थित कराता है।
इस सुक्ष्म हिष्ट से उनके मन्तव्य और साधनों में भी अधिक अन्तर नहीं प्रतीत होगा।

योगमार्ग में प्रवेश से पूर्व संकीर्ण विचारों के क्ष्ममयह्नक न रह कर काम्यासी गण्ड हृदय की विशालता की दृष्टि से यह देख सकें कि किस प्रकार वैदिक दर्शन रूपी निद्वें विश्वरविद्या पिता के अनन्त ज्ञान के अथाह सागर में समावेश करती हैं, इस उदेश्य से षड दर्शन समन्वय को 'पात अल योग प्रदीप' का भूमिका रूप बनाया गया है।

पिछले संस्करण की व्यवेचा इस दूसरे संस्करण में षड्वर्शन समन्वय द्विग्रागित होगया है, क्योंकि दर्शनों के वास्तविक स्वरूप को विस्तार के साथ विस्तलाने तथा नाना प्रकार की प्रचलित शंकाओं के संतोषजनक समाधान करने का इसमें पूरा यक्ष किया गया है।

पातब्जल योग प्रदीप-कई योग के प्रेमी सज्जनों का विशेषकर प्रोफेसर विश्वनाथकी

विश्वालंकार भूतपूर्व उप-आचार्य गुरुकुल कांगड़ी का आप्रह वा कि सूत्रों के भावों तथा कहीं क्यास भाष्य को भी अधिक से अधिक खोलने का यत्न किया जाय। सूत्रों की व्याख्या में विशेष रूप से व्यास भाष्य और भोजवृत्ति को जिनका उचित खानों रां टिप्पणीं के रूप में भाषार्थ भी उद्दुष्टत किया गया है तथा सामान्य रूप से विज्ञान भिक्षु के योग वार्त्तिक (जिसके बहुत से सूत्रों का जहां आवश्यकता प्रतीत हुई है टिप्पणी में भी भाषार्थ दे हिया गया है,) वाचस्पित भिन्न के तस्व वैद्यारही तथा और बहुत से प्राचीन और नवीन भाष्यों को दृष्टिगोचर रक्खा गया है, विशेष विचार और विशेष वक्तव्य में अपने स्वतन्त्र विचारों को लेते हुए प्रसंग प्राप्त बहुत से दार्शनिक और योग सम्बन्धी विषयों तथा उपनिषदों के रहस्यों को खोलने का यत्न किया गया है।

योगदर्शन के दो उच्च कोटि के भाष्यकार विज्ञानिभक्षु और वाचस्पति मिश्र के भाष्यों में जहाँ कहीं परस्पर विरोध और अर्थों में अयुक्ति प्रतीत हुई है उसका भी युक्ति और प्रमाख स्रहित स्पष्टीकरण त्रावश्यक समका गया है। यथा स० पा० स्त्र ७ स्त्र १९ और सूत्र ४६

का वि० व०, सा० पा० सूत्र ४ का वि० व०।

साधारण मनुष्य स्थूल इत्तर द्वारा कोई विचित्र किया तथा भौतिक जगत् से सम्बन्ध रखने वाले आश्चर्यजनक चमत्कार अथवा बाझ व्यवहार से सम्बन्धित सिद्धि और विभूति आहि को ही योग का गौरव समभत हैं, उनकी यह बाझ दृष्टि हृटा कर यह निर्देश कराने के उद्देश्य से कि योग का वास्तिक स्वरूप अन्तर्भुख होना है, समाधिपप सूत्र १८ के वि० व० में योग की चार भूमियों—विर्तक, विचार, आनन्द अस्मिता तथा विवेक ख्याति, पर-वैराग्य, असम्प्रज्ञात समाधि और कैवस्य तथा उनके अन्तर्गत चन्द्रलोक (सूक्ष्मलोक), आदिस्य लोक (कारण जगत्) कम मुक्ति, सद्य मुक्ति और अवतार आदि का भी वर्णन आवश्यक समभा गया है।

समाधि पाद सुत्र ३४ के वि० व० में सूक्ष्म प्राणों के वर्णन के साथ साथ सूक्ष्म नाड़ियों, खरों, तस्त्रों, फर्नों और कुगडिलानी शक्ति का भी दिग्दर्शन करा देना आवश्यक था। चक्रों के सम्बन्ध में बहुत सी ऐसी वार्ते जिनका राजयोग से कोई सम्बन्ध नहीं है, और काल्पनिक हैं केवल तांत्रिक विचारों की जानकारी के उदेश्य से लिखी गईहें। तांत्रिक प्रम्थ और तांत्रिक सम्प्रदायों के सम्बन्ध में हम किसी प्रकार की विवेचना करना चित्र नहीं सममते। निःसन्देह इनमें से कई एक की तो पंच मकार के सम्बन्ध में बड़ी दब आध्यात्मिक धारणा है; यथा "पुर्यापुर्य पशु को ज्ञानखड्ग से मार कर पर-तस्त्र में चित्र लय का नाम 'मांस' भच्चण है, इन्द्रियों का मन से निरोध कर आत्मा में संयोजन करना 'मत्स्य' भोजन है। कुर्उं लिनी शक्ति को जामत कर सहस्रवृत्तिथत शिव के साथ सोमरस स्त्रादन का नाम 'मैशुन' है इत्यांद''।

हिन्दुओं में वैष्णव, रौव और झाक तीन प्रकार के वांत्रिक प्रन्थ तथा वैष्णव,रौव और झाक तीन प्रकार के वांत्रिक सम्प्रदाय हैं। तथा उनके अन्तगेत और बहुत से अवान्तर भेद हैं। जैन और बौड़ों में भी बहुत से वांत्रिक प्रन्थ और तांत्रिक सम्प्रदाय हैं। इनके अतिरिक्त और बौड़ों में भी बहुत से वांत्रिक प्रन्थ और वांत्रिक सम्प्रदाय और पद्धतियां प्रवित्त हैं। लगभग सभी वांत्रिक सम्प्रदाय और पद्धतियां प्रवित्त को शिक्त सिक्त के प्राप्त में विद्योष

प्रवृत्ति रखते हैं। राजयोग के अध्यास्म उन्नति चाहने वाले साधकों के लिये उनकी केवल उन्हीं बातों को प्रहुण करना चाहिए जो उनके अपने मुख्य उद्देश्य में सहायक हो सकें।

साधन पाद सूत्र ३० की व्याख्या में जहाँ हमने योगियों तथा साधारण मनुष्यों के लिए व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक तथा अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्ध से श्रिहसा, सत्य, आदि यमां का श्रादरी बतलाया है वहां सूत्र २१ के विशेष वक्तव्य में राष्ट्रपतियों के लिए जिनके कपर सारे राष्ट्र अथवा मनुष्य समाज का उत्तरदाधित्व हाता है, उनके लिए इसका क्या स्वरूप होना चाहिए, इसका महाभारत आदि के कह उदाहरणों के साथ दशीया है, तथा श्री कृष्णार्थ कर्ण पवे में जा सूक्ष्म दृष्टता का उपदेश दिया है इसका भा उद्गुत कर ।दया है।

साधन पाद सूत्र १७, २६, २९ की टिप्पियों में वैदिक दर्शनों के चार प्रतिपाद्य विषयों का बोद्ध दर्शन के चार आये सत्यों के साथ, याग दर्शन के अष्टांग योग का बौद्ध दर्शन के अष्टांगिक भागे के साथ तथा याग के पांच यमा का बौद्ध दर्शन के पंच शील के साथ समन्वय दिखलात हुए बौद्ध धमें क इन विषया पर यथांचित प्रकाश ढाला गया है।

आध्यात्मिक विषय सं भौतिक शरीर का क्या सम्बन्ध ? ऐसे विचार योग मार्ग में कोई स्थान नहीं रख सकत । आध्यात्मिक दर्शात में शरीर ही सबसे प्रथम और मुख्य साधन है। बिना खस्य, खच्छ श्रीर निर्मल शरीर के यांग मार्ग की प्रथम सीदी पर भी पग धरना दर्गम है। श्रव: शरीर के खच्छ, शुद्ध, निमेल श्रीर नीरांग रखने के चार उपाय सा० पा० सत्र ३२ के वि० व० में विस्तार पूर्वक बतलाय हैं(१) हठ योग की षट कियाएँ(२) प्राकृतिक चिकित्सा (३) सम्भाइन और संकल्प शक्ति । उपयुक्त तीनों साधन तभी तक काम दे सकते हैं जब तक कि शर्रार श्रीर मन इनके करने के योग्य खत्थ श्रवस्था में हों। किन्त किसी ऐसी व्याधि श्रादि वीडा की उपस्थित में जब शारीरिक श्रथवा मानसिक शक्तियें इन क्रियाश्रों के करने में सबेधा ऋसमधे हों जायें तब श्रीषधियों का ही सहारा लेना पड़ता है। इस मार्ग में श्वेश करने वाले लगभग ९० प्रतिशत किसी न किसी प्रकार की व्याधि लिये हुए शरीर से अस्त्रस्थ अवस्था में ही देखे जात है, उनके लिए सबसे प्रथम कार्य उन न्याधियों को निवृत्त श्रथवा शिथिल करना होता है। प्राचीन समय में जंगलों श्रीर पहाड़ों में रहने वाले योगी-जनों के लिए वहाँ से प्राप्त होने वाली जड़ी बूटी, आदियों का ज्ञान रखना आवश्यक होता था, जिससे आवश्यकतानुसार उनको काम में लाया जाता था। किन्तु इस समय न तो ऐसे स्थान आसानी से उपयक्त हो सकते हैं और न वहाँ की कठिनाइयों को सहन करने के योग्य शरीर रहे हैं। आधुनिक काल में श्रीषांधयों में भी नाना प्रकार के अन्त्रेषण किये गये हैं और उत्तम से उत्तम श्रीषधियें हर स्थान पर उपलब्ध हो सकती हैं, इसलिए हमने ऐसी श्रीपश्चियां (जनको हमने श्रनुभवी संन्यासियों, महात्माश्रों, डाक्टरों श्रीर वैद्यों से प्राप्त किया है तथा जिनको हमने खयं अनुभव किया है अथवा कराया है उपायरूप (४) में लेख बद्ध कर दिया है। जिससे साधक अथवा पथ दर्शक किसी योग्य वैद्य तथा डाक्टर की अनुपश्चिति में आवश्यकतातुसार काम में ला सके। रोग तथा ज्याधि एक प्रकार से पाप रूप है और भौषधि प्रायश्चित्त रूप, पूर्ण सावधानी पूर्वक यह होना चाहिए कि यह पाप निकट न आसके किन्त उसकी उपस्थिति में प्रायश्चित्त रूप श्रीषधि से बचने के लिए नाना प्रकार की यक्तियों को दूदना बुद्धिमत्ता नहीं है। इन चार उपायों में से श्रीपिधयों को साधनपाद के अन्त में परिशिष्ट भाग में दे दिया गया है।

सा० पा० सूत्र ४० की व्याख्या में जहां हमने भ्यान पर बैठने के लिये कई उपयोगी आसनों और नियमों का वर्षान किया है वहाँ विशेष अकट्य में भ्यान के उपयोगी खान आदि को बतला कर सब प्रकार के बन्धों, गुराओं और आसनों तथा गुफा में लम्बे समय तक बैठने के नियमों आदि का वर्षान कर देना भी जंचत समसा है, क्योंकि इनकी न कबल शरीर को खख्य और नीरोग रखने में उपयोगिता है बरन् वे नाईश्लोधन और प्राग्य के उखान में भी अत्यन्त सहायक होते हैं।

सा॰ पा॰ सूत्र ४९ की ब्याख्या में प्राणायाम का विस्तार पूर्वक वर्णन करने के प्रश्चात् उसके विशेष वक्तव्य में हटयोग की पुस्तका के आठों प्रकार के प्राणायाम तथा उनके अन्त-र्गत और बहुत सी प्राणायाम की विधियों को भी दिखलाया गया है।

सिद्धियों, विभूतियों और चमत्कारों आदि के सम्बन्ध में प्रचलित अन्ध विश्वास और आन्त ज्ञान हटाने के उद्देश्य से वि० पा० सूत्र ६ के विशेष वक्तव्य में संयम के वास्तविक स्वकृप तथा उसके सदुपयोग और दुरुपयोग पर पूरी विवेचना की गई है।

विभूति पाद सूत्र २६ के पिछले संस्करण में टिप्पणी में व्यास भाष्य का केवल शब्दार्थ ही दिया गया था, उसके सम्बन्ध में अपने विचारों को सुरह्तित रक्खा गया था। कई महानुभावों के आग्रह से इस संस्करण में उसका स्पष्टीकरण कर दिया गया है।

विभूति पाद सूत्र ३९ में उक्कान्ति शब्द को लेत हुए विशेष वक्तव्य में देवयान पितृ-यान कममुक्ति, सद्यमुक्ति अवतार आदि गूड़ विषयों के स्पष्टीकरण की आवश्यकता समम्ब्री गई है।

कैवल्य पाद सूत्र ३४ के भोजवृत्ति में योग के साथ सब दर्शनों का समन्वय दिख-लाया है। किसी को उसके द्वारा श्रन्य दर्शनों के खरडन की शंका न होने पावे इस हेतु उसका स्पष्टीकरण भी उचित समका गया है।

सूत्रों के विशेष विचार और विशेष वक्तव्य अवस्य पढ़ने चाहिये छनमें पाठकागण बहुत सी उपयोगी और जानने योग्य वार्तों को पायेंगे । सूत्रों की व्याख्या में व्यास भाष्य भोजपृत्ति और योग वार्त्तिक आदि की सभी मुख्य बार्ते आगई हैं। टिप्पिएयों में उनका भाषानुषाद केवल विशेष जानकारी के उद्देश्य से किया गया है। योग वार्त्तिक जो कि ब्वत् बड़ी और गुद्ध विषयक है केवल उच श्रेरिएयों के पाठकों के लिये है। इन टिप्पिएयों को यदि चाहें तो स्वेच्छानुसार श्लोब सकते हैं।

बहुत सी उपयोगी आवश्यक और जानने योग्य बातों के बढ़ा देने से वर्त्तमान प्रन्थ पिछले संस्करण की अपेजा लगभग दुगना हो गया है।

इस प्रकार जहाँ इस पातजाल प्रदीप में लगभग सभी आवश्यक विषयों का संकलन किया गया है और केवल इस एक पुस्तक को रखते हुए अन्य बहुत सी पुस्तकों की आवश्य-कता नहीं रहती है, वहाँ बहुत से सरसंगियों तथा अन्य कई प्रेमी सज्जनों के विचारों को हिष्ट में रखते हुए पड्वर्शन समन्वय, विशेष विचार और टिप्पिएयों आदि को खोड़ कर पातजाल बोग प्रदीप के केवल सूत्र, शब्दार्थ अन्वयार्थ और ट्यास्या को कुछ उचित परिवर्तन के साथ एक छोटी पुस्तक के रूप में लघु-पातजल योग प्रदीप के नाम से सलग निकालने का यहाँ किया गया है, जिससे वे योगप्रेमी सज्जन जो पातजल योग प्रदीप को संस्थित रूप में देखना चाहत हैं इससे लाभ घटा सकें तथा वह दैनिक पाट खादि में भी चपयोगी हो सके।

सारा ही मनुष्य जीवन योग के अन्तर्गत है। इस लिए मनुष्य जीवन से संबन्ध रखने वाले सारं विषयों को यथोचित खान में दर्शाया गया है। मनुष्यों की प्रकृतियाँ और हिचयाँ भिन-भिन्न हैं। यह असम्भव है कि सारी वातें सब मनुष्यों को सन्तुष्ट कर सकें। अतः पाठक महानुभावों से निवेदन है कि नाना प्रकार के विचार रूपी पुष्पों की इस प्रन्थ रूपी वाटिका में से अपने हिचकर पुष्पों की सुगन्ध को प्रहृपा करलें। जो उनके दृष्टिकोंगा से अनावश्यक अथवा दोषयुक्त प्रतीत हों उनके प्रति उपेना वृत्ति द्वारा अपने स्दार भावों का परिचय दें।

सारे ही विषयों को खतन्त्र विचारों के साथ युक्ति, खनुभूति और श्रुति के आधार पर निष्पन्न भाव से उनके सुक्ष्म से सूक्ष्म रूप में दहाने का यज्ञ किया गया है। आहा है पाठक गया साम्प्रदायिक पन्नपात तथा मतमतान्तरों की संकीर्युता की क्षुद्रता से परे होकर इदय की विदातता में प्रत्येक विषय पर अपनी खन्छ, निर्मल और सास्विक बुद्धि से विवेक पूर्य विचार करके वास्तविक लाभ चठाएंगें।

जो महातुआव इस प्रन्थ में किसी प्रकार की द्युटियों और भूलों के बतलाने, किसी क्षाम पर स्यूनाधिक, वा परिवर्तन करने अथवा अपने विशेष विचारों के प्रकट करने की कृपा करेंगे, उनका बड़े आदर, सम्मान और धन्यवाद के साथ स्वागत किया जावेगा तथा इसके तीसरे संस्करण में उनके सम्बन्ध में पूरा विचार किया जावेगा।

पाठकों के सुभीते के लिए अन्य के अन्त में पाँच परिशिष्ट दिये गये हैं। परिशिष्ट (१) में सांख्य और योग दर्शन के मूल सूत्र, (२) में वर्षातुकमसूत्रसूची, (३) में शब्दातुकमसूत्र, (३) में शब्दातुकमस्प्री, (४) में विषयसूची और (५) में शुद्धाशुद्धि पन्न है। आशा की गई थी कि इस दूसरे संस्करण में अशुद्धियां न होने पायेंगी, किन्तु प्रेस वालों के प्रयस्त करने पर भी बहुत सी अशुद्धियां रह गई हैं और एक लम्बा शुद्धाशुद्धि पत्र लगाना पड़ा है। पाठकाण अपया पढ़ने से पूबे अशुद्धियों को ठीक करलें अथवा कम से कम जिन पूछों को पढ़ें उनका शुद्धाशुद्धि पत्र पढ़ने से पूबे देख लें।

अन्त में जिन महानुभावों ने इस प्रन्थ के तैयार कराने और प्रकाशन कराने में किसी प्रकार की भी सहायता वी है उनका धन्यवाद तथा जिन प्राचीन ऋषियों और वर्तमान समय के महापुरुषों और विद्वानों के उच्च, पवित्र और रहस्य पूर्ण विचारों से इस प्रन्थ को सुशो-भित किया गया है और उपयोगी बनाया गया है उनके प्रति कृतक्षता का प्रगट कर देना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है।





पूज्यपाद योगिराज श्री १०८ श्रीयुत स्वामी सोमतीर्थे जी महाराज

पूज्यपाद योगिराज श्री १०८ श्रीयुत स्वामी सोमतीर्थ जी महाराज

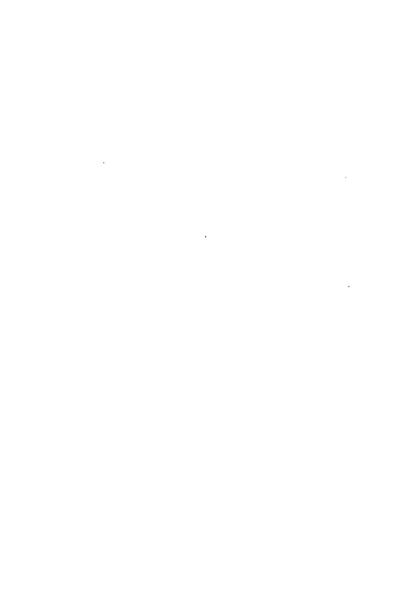
का

आशीर्वाद

~

क्रेशान्यकारनाशाय प्रमुक्तूषां विम्रुक्तये। तत्त्वज्ञानप्रदानाय चमो योगप्रदीपकः॥ (भूयात्)

हेशरूपी अन्धकार को नाश करने के लिये तथा मुमुक्षुजनों की मुक्ति के लिये और तत्त्वों का ज्ञान प्रदान करने के लिये पात जल योगप्रदीप समर्थ हो।



पातञ्जल योग प्रदीप

षड्दर्शन समन्वय

भूमिका

पाहिला प्रकरगा

वेद

वेद ईश्वरीय ज्ञान है जिसका प्रादुर्भाव ऋषियों पर सृष्टि के आरम्भ में समाधि द्वारा होता है।

- मृल चे र मन्त्र इन मन्त्रों की चार संहितायें है जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद श्रीर अथवेवेद कहलाती हैं।
- २. ब्राह्मण ग्रन्थ—इन में अधिकतर मूल वेदों में बतलाये हुए धर्म अर्थात् यज्ञादि कर्मों तथा विधि निषेध की विस्तृत न्याख्या और न्यवस्था है। 'त्राह्मण्'नामकरण का कारण यह है कि इनका प्रधान विषय नहान् (बृहु वर्धने, बदने वाला अर्थात् वितान यज्ञ) है। इनमें से चार प्रसिद्ध हैं ऐतरेय ऋग् का, शतपथ यजु का, तारङ्यमाद्मण सामवेद का और गोपथ अथर्व का। ब्राह्मण प्रन्थों में कुछ अंश ऐसा भी सम्मिश्रत होगया है जो मूल वेदमंत्रों के आशय के विपरीत जाता है।
- ३. उपनिषद्— उपनिषद् का मुख्य अर्थ ब्रद्धाविद्या है और यहाँ ब्रह्मविद्या-प्रतिपादक प्रन्थ विशेष के हैं। इसमें अधिकतर वेदों में बताये हुए आध्यात्मिक विचारों को सममाया गया है। इन्हीं को वेदान्त कहते हैं। इनमें मुख्य ग्यारह हैं—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुएडक, मायह्रक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्रेताश्रेतर, छान्दोग्य, और बृहदारएयक।

दर्शन

वेदों में बतलाये हुए ज्ञान को मीमांसा दर्शनशास्त्रों में मुनियों द्वारा सूत्ररूप से की गयी है। दर्शन शब्द का अर्थ है 'दरयते श्रानेन इति दर्शनम्' जिसके द्वारा देखा जावे श्रर्थात् बस्तु का सत्यभूत तास्विक स्वरूप जाना जावे।

"प्राणिमात्र की दु:खनिवृत्ति की खोर मवृत्ति"

छोटे से छोटे कीट से लेकर बड़े से बड़े सम्राट् तक प्रतिच्या तीनों प्रकार के आध्यात्मिक, आधिरैनिक और आधिभौतिक दुःखों में से किसी न किसी दुःख की निवृचि का ही यत्न करते रहते हैं। फिर भी दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता। मृगठृष्णा के सदश जिन विषयों के पीछं मनुष्य सुख समक्तकर दौड़ता है, प्राप्त होने पर, वे दुःख ही सिद्ध होते हैं। इसलिये तत्त्वदर्शी के लिये निम्न चार प्रश्न उपस्थित होते हैं:—

दर्शनों के चार मतिपाद्य विषय

- हेयं—दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या है जो 'हेय' श्रर्थात् त्याज्य है ? ।
- २, हेय हेतु—दु:ख कहाँ से उरपन होता है, इसका वास्तविक कारण क्या है, जो 'हेय' त्र्यांन त्याज्य दु:ख का वास्तविक 'हेतु' है ?।
 - ३, हात-दुःख का नितान्त स्रभाव क्या है, स्रर्थात् 'हान' किस स्रवस्था का नाम है ?।
 - ४. **हानापाय**—नितान्त दु:खनिवृत्ति का साधन त्र्यथात् 'हानोपाय' क्या है १ ।

तीन मुख्य तस्य

इन प्रश्नों पर विचार करते हुए तीन वातें श्रीर उपस्थित होती हैं:-

- १. चेतनतत्त्व: आग्मा, पृष्ठव (जीय)—दुःख किसको होता है १, जिसको दुःख होता है उसका वास्तविक स्वरूप क्या है १, यदि उसका दुःख स्वाभाविक धर्म होता तो वह उससे बचने का प्रयत्न ही न करता। इससे प्रतीत होता है कि वह कोई ऐसा तत्त्व है जिसका दुःख और जहता स्वाभाविक धर्म नहीं है। वह चेतनतत्त्व है। इस चेतन—आत्मा (पुराव) के पूर्ण ज्ञान से तीसरा प्रश्न 'हान' सुलक्ष जाता है। अर्थान् आत्मा के यथार्थ रूप कं साजान्कार, 'स्वरूपस्थिति' से दुःख का नितान्त अभाव हो जाता है।
- २. जड़तत्त्व : प्रकृति इस चेतनतत्त्व से भिन्न, इसके विपरीत, किसी श्रीर तत्त्व के मानने की भी श्रावश्यकता होती है, जिसका धर्म दु:ख है, जहाँ से दु:ख की उत्पत्ति होती है श्रीर जो इस चेतनतत्त्व से विपरीत धर्म वाला है। वह जड़तत्त्व है, जिसको प्रकृति, माया श्रादि कहते हैं। इसके यथार्थ रूप को समफ लेने से पहला और दूसरा दोनों प्रश्न सुलफ जाते हैं। श्राथंत दु:ख इसी जड़तत्त्व का स्वाभाविक गुण है, न कि श्रास्मा का। जड़ श्रीर चेतनतत्त्व में श्रासिक तथा श्रविवेकपूर्ण संयोग ही 'हेय' श्रर्थान् त्याज्य दु:ख का वास्तविक स्वरूप है। श्रीर चेतन तथा जड़तत्त्व का श्रविवेकश्रर्थान् त्याज्य दु:ख का वास्तविक स्वरूप है। श्रीर चेतन तथा जड़तत्त्व का श्रविवेकश्रर्थान् स्वाज्य दु:ख का कारण है। चेतन श्रीर जड़तत्त्व का विवेकपृर्ण ज्ञान 'हानोपाय' दु:ख-निवृत्ति का सुख्य साधन है।
- चेतनतस्व : परमारमा, पुरुष विशेष (ईश्वर, ब्रह्म)— इन दोनों चेतन श्रौर जड़तस्त्रों के गानने के साथ एक तीसरे तस्व को भी मानना श्रावश्यक हो जाता है, जो पहले

चेतनतस्त्व के सर्वाश अनुकूल हो श्रीर दूसरे जड़तस्त्व के विपरीत हो, श्रर्थात् जिसमें पूर्ण ज्ञान हो, जो सर्वज्ञ हो, सर्वव्यापक श्रीर सर्वशक्तिमान् हो, जिसमें दुःख, जड़ता और श्रज्ञान का नितान्त श्रभाव हो, जहाँ तक श्रात्मा का पहुँचना आत्मा का श्रन्तिम ध्येय है, जो ज्ञान का पूर्ण भराडार हो, जहाँ से ज्ञान पाकर आत्मा जड़-चेतन का विवेक प्राप्त कर सके श्रीर श्रविद्या के बन्धनों को तोड़कर 'हेय' दुःख से सर्वाश मुक्ति पा सके। इस तर्क के द्वारा हमें तीसरे श्रीर चीथे दोनों प्रश्नों का उत्तर मिल जाता है, श्रथोत् यही 'हान' है श्रीर 'हानोपाय' मी हो सकता है।

षड् दुर्शन

इन चारों रहस्यपूर्ण प्रश्नों के समफाने के लिये 'दर्शन शास्त्रों' में इन तीनों तत्त्वों को छोटे छोटे खौर सरल सूत्रों में युक्तियुक्त वर्णन किया गया है। इन दर्शनशास्त्रों में 'षड् दर्शन'—छ: दर्शन - मुख्य हैं। १. मीमांसा, २. वेदान्त, ३. न्याय, ४. वैशेषिक, ५. सांख्य खौर ६. योग। ये पडुदर्शन वेदों के उपाङ्ग कहलाते हैं।

- शिक्षा—जिसका उपयोग वैदिकवर्णों, स्वरों श्रीर मात्राश्रों के लोध कराने में होता है।
- २. करुर-जो आश्वलायन, आपस्तन्त्र, बौधायन और कात्यायन आदि ऋषियों के बनाये औत सूत्र हैं, जिनमें योग के प्रयोग, मन्त्रों के विनियोग की विधि है।
- ब्याकरस्य जो प्रकृति स्त्रीर प्रत्यय स्त्रादि के उपदेश से पद के स्वरूप स्त्रीर उसके स्त्रर्थ का निश्चय करने के उपयोगी हैं।
- ४. निरुक्त जो पदिवभाग, मन्त्र का ऋर्थ, और देवता के निरूपण द्वारा एक-एक पद के सम्भावित और अवयवार्थ का निश्चय करता है।
- छन्द—जो लौकिक और वैदिक पादों की अन्नर संख्या को नियमित करने, पाद, यति, और विराम आदि की व्यवस्था करने में उपयोगी है।
- ज्योतिष—जो यज्ञादि अनुष्ठान के काल विशेष की व्यवस्था करता है।
- ये वेदों के श्रद्ध कहलाते हैं। श्रर्थात् इनके द्वारा वेदमन्त्रों के श्रर्थों का यथार्थ बोध शाः होता है।



दूसरा प्रकरशा

पूर्व मीमांसा और उत्तर भीमांसा अर्थात भीमांसा और वेदान्त दर्शन

कर्मकारड—वेद मन्त्रों में बतलाई हुई,-कर्त्तव्य-कर्मी श्रर्थात् इष्ट श्रौर पूर्त्त कर्मी की,-शिला का नाम कर्मकारड है। इष्ट वे कर्म हैं जिनकी विधि मन्त्रों में दीगई हो, जैसे यज्ञादि। श्रौर पूर्त वे सामाजिक कर्म हैं जिनकी श्राज्ञा वेद में हो किन्तु विधि लौकिक हो, जैसे पाठशाला, कूप, विद्यालय, श्र्यनाथालय श्राद् बनवाना इत्यादि। इन दोनों कर्मों के तीन श्रवान्तर भेद हैं, नित्य कर्म, नौमित्तिक कर्म, श्रौर काम्य कर्म।

- नित्यकर्म—जो नित्य करने योग्य हैं, जैसे पंचमहायज्ञ आदि ।
- नैमिक्तिक—वे कर्म हैं जो किसी निमिक्त के होने पर किये जावें, जैसे पुत्र का जन्म होने पर जातकर्म संस्कार।
- काम्पकर्म—जो किसी लौकिक अथवा पारलौकिक कामना से किये जावें। इनके अतिरिक्त कर्मी के दो और भेद हैं, निषद्धकर्म और प्रायश्चित्तकर्म।
- (क) निविद्धकर्म-जिनके करने का शास्त्रों में निवेध हो।
- (स्त्र) प्रायश्चित्तकर्म—जो विहित कमें के न करने, अथवा विधि विकृद्ध के करने, वा वर्जित कमें करने से अन्तःकरण पर मिलन संस्कार पड़ जाते हैं उनके धोने के लिये किये जावें।

उपासनाकाएड—वेद मन्त्रों में बनलाई हुई लवलीनता त्र्यान् मनकी वृत्तियों को सब स्रोर से हटाकर केवल एक लक्ष्य पर ठहराने की शिल्ला का नाम उपासना है।

झानकाएड — इसी प्रकार वेद मन्त्रों में जहां-जहां श्रास्मा तथा परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है उसको ज्ञानकाएड कहते हैं। मन्त्रों के कर्मकाएड का विस्तारपूर्धक वर्णन मुख्य-नया ब्राझए प्रन्थों में, ज्ञानकाएड का श्रारएयकों तथा उपनिषदों में, श्रीर उपासनाकाएड का दोनों में किया गया है।

मीमांसा—इन तीनों काएडों के वेदार्थ विषयक विचार को मीमांसा कहते हैं। मीमांसा इन्द्र ''मान ज्ञाने'' से जिज्ञासा ऋर्थ में 'माने जिज्ञासायाम्' वार्तिक की सहायता से निष्पन्न होता है। मीमांसा के दो भेद हैं, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा।

पूर्व मीमांसा में कर्मकारुड श्रीर उत्तर मीमांसा में झानकारुड पर विचार किया गया है। चपासना दोनों में सिन्मिलित हैं। इस प्रकार ये दोनों दर्शन वास्तव में एक ही प्रस्थ के दो भाग कहे जा सकते हैं। यूवे मीमांसा श्री व्यासदेवजी के शिष्य जैमिनि मुनि ने प्रष्टुचिमांगी गृहस्थियों तथा कर्म काशिड्यों के लिये बनाई है। उसका प्रसिद्ध नाम मीमांसा दर्शन है। इसको जैमिनि दर्शन भी कहते हैं। इसके बारह श्रध्याय हैं जो मुख्यतया कर्मकारख से सम्बन्ध रखते हैं। उत्तर मीमांसा निवृत्ति मागे वाले झानियों तथा संन्यासियों के लिये श्री व्यास महाराज ने स्वयं रचा है। वेदों के कमे-कारख प्रतिपादक वाक्यों में जो विरोध प्रतीत होता है, केवल उसके वास्तविक श्रविरोध को दिखलाने के लिये पूर्व मीमांसा की, श्रीर वेद के झानकारख में समन्वयसाधन श्रीर श्रविरोध की स्थापना के लिये उत्तर मीमांसा की रचना की गई है। इस कारण इन दोनों दर्शनों में शब्द प्रमाण को ही प्रधानता दी गई है। यह दोनों द्शनकार लगभग समकालीन हुए हैं। इस लिये श्री जैमिनि का भी वही समय लेना चाहिये जो उत्तर मीमांसा के प्रकरण में श्री व्यासदेव जी महाराज का बतलाया जावेगा।

पूर्व मीमांसा

मीमांसा का प्रथम सूत्र है "अथातो धर्माजिक्वास।" अर्थात् अव धर्म की जिक्कास। करते हैं।

मीमांसा के अनुसार धर्म की ज्याख्या वेदविहित, हिग्टों से आचरण किए हुए कमों में अपना जीवन ढालना है। इसमें सब कमों को यज्ञों तथा महायज्ञों के अन्तर्गत कर दिया गया है। भगवान मनु ने भी ऐसा ही कहा है—''महायज्ञोंश्र यज्ञोश्र बाह्यांगं क्रियते तनुः'' महायज्ञों तथा यज्ञों द्वारा बाह्यण शरीर बनता है। पृश्णिमा तथा अमावस्या में जो छोटी २ इप्टि की जाती हैं इनका नाम यज्ञ और अध्यमेधादि यज्ञों का नाम महायज्ञ है। (१) ब्रह्मयज्ञ—प्रात: और सार्यकाल को संख्या तथा स्वाध्याय। (२) देवयज्ञ—प्रात: तथा सार्यकाल का हवन। (३) पित्यज्ञ—देव और पितरों की पूजा अर्थात् माता, पिता, गुरु आदि की सेवा तथा उनके प्रति अद्धा भक्ति। (४) ब्रालिवैश्वदेवयज्ञ—प्रकाये हुए अन्न में से अन्य प्राणियों के लिये भाग निकालना। (५) अतिथियज्ञ— घर पर आये हुए अतिथियों का सत्कार,—ये यज्ञ के अवान्तर भेद हैं।

ये यज्ञ और महायज्ञ वेदों में बतलाई हुई विधि के अनुसार होने चाहियें। इसलिए जैमिनि मुनि ने इनकी सिद्धि के लिए 'शब्द' अर्थात् 'आगम' प्रमाण ही माना है, जो वेद है।

वेद के ५ प्रकार के विषय हैं —(१) विधि, (२) मंत्र, (३) नामधेय, (४) निषेध और (५) अर्थवाद। ''स्वर्गकामो यजेत'' 'स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ को करें' इस प्रकार के वाक्यों को विधि कहते हैं। अनुष्ठान के अर्थ स्मारकों को 'मंत्र' के नाम से पुकारते हैं। यज्ञों के नाम की 'नामधेय' संज्ञा है। अनुधित कार्य से विरत होने को 'निषेध' कहते हैं। तथा किसी पदार्थ के सबे गुर्गों के कथन को 'अर्थवाद' कहते हैं। इन पांच विषयों के होने पर भी वेद का तात्पर्य विधि वाक्यों में ही है। अन्य चारों विषय उन के केवल आंग भूत हैं तथा

पुरुषों को अनुष्ठान के लियं उत्सुक बनाकर विधिवाक्यों को ही सम्पन्न किया करते हैं। विधि चार प्रकार की होती है। कर्म के स्वरूपमात्र को बतलाने वाली विधि "उत्वित्तिष्ध" है। अंग तथा प्रधान अनुष्ठानों के सम्बन्ध बोधक विधि को "विनियोग विधि", कर्म से उत्पन्न फल के स्वाभित्व को कहने वाली विधि को "अधिकार विधि", तथा प्रयोग के प्राधुभाव (शोधता) के बोधक विधि को "प्रयोग विधि" कहते हैं। विष्यर्थ के निर्णय करने में सहायक श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या नामक षट् प्रमाण होते हैं।

जैमिन मुनि के मतानुसार यहाँ से ही स्वर्ग श्रार्थात् ब्रह्म की प्राप्ति होती है। ''स्वर्ग-कामो यजेत'' स्वर्ग की कामना वाला यह को करे। यह के विषय में श्रीमद्भगवद्गीता में

ऐसा वर्णन किया गया है :

यज्ञार्थात्कर्मेखोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः । तद्र्थे कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥

(गी० अ० ३ श्लो० ९)

यज्ञ के लिये जो कर्म किये जाते हैं, उनके श्रतिरिक्त, श्रन्य कर्मी से यह लोक बंधा हुआ है। तदर्थ श्रर्थात् यज्ञार्थ (किए जाने वाले) कमे (भी) त् श्रासिक्त श्रथवा फलाशा छोड़कर करता जा।

> सहयज्ञाः मनाः सृब्ट्वा पुरोवाच मनापति:। श्रमेन मसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।

> > (গাঁ০ স০ ३ দ্ধাঁ০ ৭০)

प्रारम्भ में यज्ञ के साथ साथ प्रजा को उत्पन्न करके ब्रह्मा ने (प्रजा से) कहा ''इस (यज्ञ) के ढारा तुम्हारी वृद्धि हो, यह (यज्ञ) तुम्हारी कामधेतु होने व्यर्थात् यह तुम्हारे इष्ट फर्लों को देने वाला होने"।

> देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः । परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाष्ट्यथः॥

> > (गी० अ० ३ स्रो० ११)

(प्रजापित बहा यह भी बोले कि) तुम इस यहा से देवताओं को सन्तुष्ट करते रहों (श्रीर) वे देवता (वपा त्रादि से) तुम्हें सन्तुष्ट करते रहें। (इस प्रकार) परस्पर एक दूसरे को सन्तुष्ट हरते हुए (दोनों) परम श्रेय श्रर्थात् कल्याण प्राप्त करलो।

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यञ्जभाविताः । तैर्दचानपदायैभ्यो यो भ्रुंके स्तेन एव सः ॥

(गां० अ० ३ स्ट्रो॰ १२)

क्यों कि यह से सन्तुष्ट होकर देवता लोग तुम्हारे इन्छित (सव) भोग तुन्हें देंगे। उन्हीं का दिया हुआ उन्हें (वापिस) न देकर जो (केवल स्वयं) उपभोग करता है, अर्थाम् देवताश्चों से दिये गये अन्न आदि से पश्चमहायज्ञ आदि द्वारा उन देवताओं का पूजन किये विना जो व्यक्ति खाता पीता है वह सच्युच चार है।

> यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो ग्रुच्यन्ते सर्वेकिन्विषै: । भ्रुद्धते ते त्वद्यं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ (गी० अ०३ क्षो० ३३)

यज्ञ (पश्चमहायज्ञ खादि) करके शेष बचे हुए भाग को घ्रहरण करने वाले सञ्जन सब पापों से मुक्त हो जाते हैं। परन्तु (यज्ञ न करके केबल) व्रपने ही लिए जो (अन्न) पकाते हैं. वे पापी लोग पापभन्नरण करते हैं।

> श्चन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः । यज्ञाद्भवति पर्जन्योः यज्ञः कर्मसम्बद्धवः ॥

> > (गी० अ०३ श्री १४)

श्रन्न से प्राणिमात्र की उत्पत्ति होती है, श्रन्न पर्जन्य से उत्पन्न होता है, पर्जन्य यज्ञ से उत्पन्न होता है श्रौर यज्ञ की उत्पत्ति (वैदिक) कर्म से होती है।

> कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्मात्तरसम्रद्भवम्। तस्मात् सर्वगतं ब्रह्मा नित्यं यहे पतिष्ठितम्।।

्री० अ०३ को छो। १५) उस कमें को तू वेद से उत्पन्न ज्ञान श्रीर वेद श्रावनाशी परमात्मा से उत्पन्न हका

है। इससे सर्वेच्यापी परम अत्तर परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

यहाँ तीसरे चेतनतत्त्व अर्थात् ईश्वर को व्यष्टि रूप से प्रत्येक यज्ञ का अधिष्ठातु-देव माना गया है, जिसकी उस विशेष यज्ञ द्वारा उपासना की जाती है। यथा—

> ''तद् यदिदमाहु: 'श्रमुं यजामुं यज' इत्येकैकं देवम्, एतस्येव सा विस्रष्टिः एष उद्योव सर्वे देवाः॥ (जड० १ । ४ । ६)

अर्थ—जो यह कहते हैं कि उसका याग करो, उसका याग करो, इस प्रकार एक एक देवता का याग बतलाते हैं, वह इसीकी विसृष्टि : बिखरा हुआ अर्थात् व्यष्टि रूप है, निसन्देह यह ही सारे देवता हैं।

अर्थात् अपिन उस मझ से उत्पन्न हुआ, उसी का प्रकाशक है। इसी प्रकार दूसरे देवता भी उसी के प्रकाशक हैं। इसलिए यज्ञों में जो आग्नि, इन्द्र आदि भिन्न भिन्न देवताओं की उपासना पाई जाती है वह वास्तव में उसी एक नक्ष की उपासना है। पुनश्च—

तदेवाग्निस्तदादिन्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शक्रं तद्व ब्रह्म ता श्रापः समजापतिः ॥

(यज्ञ० अ० ३२ मं॰ १)

वह ही श्रिप्त है, वह सूर्य है, वह वायु है, वह चन्द्रमा है, वह शुक्र श्रर्थात् चमकता हुआ नत्त्र है, वह ब्रह्म (हिरएयराभे) है, वह जल (इन्द्र) है, वह प्रजापति (विराट्) है।

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छित्रम्। (अ॰ वेद १६।४।६) सोऽर्यमा स वरुण: स रुद्र: स महादेव:। (अ॰ वेद १६।४।४) सोग्रिय:स उसर्य:स उएव महायम:। (अ॰ वेद १६।४।५)

ऋर्थ: - वह (ईश्वर) धाता है, वह विधाता है, वही वायु, वही खाकाश में उठा मेघ है । वही खर्म्ममा, वही वरुण, रुद्र और महादेव है । वही खिम, सूर्य और महायम है ।

स वरुणः सायम त्रिभेवति स मित्रो भवति मातरुखन्। स सबिता भूत्वाऽन्तरिचेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्। (अथवेवेद १३।)

ऋथं: — वह सायंकाल अग्नि श्लीर वरुण होता है श्लीर प्रातःकाल उदय होता हुआ वह मित्र होता है, वह सविता होकर अन्तरित्त से चलता है, वह इन्द्र होकर मध्य से थुलोक को तपाता है।

यास्क ने निरुक्त के दैवत काएड (सप्तम श्रध्याय) में स्पष्ट शब्दों में विवेचना की है कि इस जगन के मृल में एक महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है, जो निरतिशय ऐश्वर्य शालिनी होने से ईश्वर कहलाती है। वह एक श्रिडितीय है, उसी एक देवता की बहुत रूपों से स्तुति की जाती है। यथा:

> महाभाग्यात् देवताया एक एव श्रान्मा बहुधा स्तूयते । एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यक्वानि भवन्ति । (७ १ ४ । ८, ९)

हानोपाय—इसी प्रकार जहां उत्तर मीमांसा में "हानोपाय" श्रर्थात् मुक्ति का साधन,-ज्ञानियों तथा संन्यासियों के लिये, ज्ञान द्वारा तीसरे तत्त्व श्रर्थात् परमात्मा की उपासना बतलाई गई है, वहां पूर्व मीमांसा में कर्मकायडी गृहस्थियों के लिये यज्ञों द्वारा व्यष्टि रूप से उसी ब्रह्म की उपासना बतलाई गई है।

हान—किन्तु ''हान'' श्रर्थान् मुक्ति के सम्बन्ध में जैमिनि श्रीर व्यास भगवान् में कोई विशेष मतभेद नहीं है तथा श्रन्य दर्शनकारों से भी श्रविरोध है। यथाः

ब्राह्मेण जैमिन रुपन्यासादिभ्य: । (वेदान्त दर्शन । ४ । ४ । ५)

जैमिनि श्राचार्य का मत है कि मुक्त पुरुष (श्रपर) ब्रह्म रूप से स्थित होता है। क्योंकि श्रुति में उसी रूप का उपन्यास (उद्देश्य) है।

चिति तन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलौमिः ॥ (वेदान्त दर्शन ४ । ४ । ६)

श्रीडुलोभि श्राचार्य मानते हैं कि मुक्त पुरुष चितिमात्र खरूप से क्षित होता है क्योंकि यही उसका श्रपना खरूप है।

प्वमप्ययन्यासात्पूर्वभावाद्विरोधं वादरायणः ॥ (वे॰ व॰ ४।४।७)

कर्ध—इस प्रकार भी उपन्यास (उदेश्य) हैं त्रौर पूर्व कहे हुए धर्म भी उसमें पाय जाते हैं इसलिये उन दोनों में कोई विरोध नहीं है । यह वादरायण (सूत्रकार व्यासदेवजी) मानते हैं ।

अर्थात् प्रवृत्ति मागै वाले सगु.ण् ब्रह्म के उपासक शबल (सगु.ण्) स्वरूप से मुक्ति में शबल ब्रह्म (अपर ब्रह्म) के ऐश्वर्य्य को भोगते हैं जो जैमिनजी को अभिमत है और निवृत्ति मार्ग वाले निर्गुण् शुद्ध ब्रह्म के उपासक शुद्ध निर्गुण स्वरूप से शुद्ध निर्गुण ब्रह्म (परब्रह्म) को प्राप्त होते हैं जैसा कि औडुलोमि आचार्य्य को अभिमत है। व्यासजी दोनों विचारों को यथार्थ मानते हैं क्योंकि शुति में दोनों प्रकार की मुक्ति का वर्णन है।

मीमांसकों के मोज्ञ की परिभाषा इन शब्दों में है "प्रपञ्च-सम्बन्ध-विलयों मोज्ञ:। त्रेषाहि प्रपञ्च: पुरुषं वध्नाति तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य श्रात्यन्तिको विलयों मोज्ञ:"। (शाक्त दीपिका) इस जगत् के साथ श्रात्मा के शरीर इन्द्रिय श्रीर विषय इन तीन प्रकार के सम्बन्ध के विनाश का नाम मोज्ञ है। क्योंकि इन तीन बन्धनों ने ही पुरुष को जकड़ रक्खा है। इस त्रिविध बन्ध के श्रात्यन्तिक नाश की संज्ञा-मोज्ञ है। सांख्य श्रीर योग के श्रनुसार यह सम्प्रज्ञात समाधि का श्रन्तिम ध्येय है।

जैमिनि ईश्वरवादी थे

पूर्व मीमांसा का मुख्य विषय यज्ञ और महायज्ञ है। इसलिय जैमिनि मुनि ने प्रसंग प्राप्त उसमें कर्मकाएड का ही निरूपण किया है। ईश्वर के विस्तार पूर्वक वर्णन की जो उत्तर मीमांसा का विषय है अपने दर्शन में आवश्यकता नहीं देखी। इसलिय कहीं कहीं (वैशेषिक और सांख्य के सटश) इस दर्शन के सम्बन्ध में भी अनीश्वर वादी होने की शंका उठाई गई है। उसके समाधान के लिये उपर्युक्त स्पृतीकरण पर्याप्त है। अनेक व्यास सूत्रों से जैमिनि जी का ईश्वर वादी होना सिद्ध होता है। यथा:

साज्ञादप्यविरोधं-जैमिनि: ॥ (वेदान्त० द० १। २। २८)

अर्थ: जैमिनि श्राचार्य्य सात्तात् ही वैश्वानर पद के ईश्वरार्थक होने में अविरोध कथन करते हैं। तथा अध्याय १ पाद २ सूत्र ३१, अध्याय १ पाद ४ सूत्र १८, अध्याय ४ । पाद ३ सूत्र ११ से १४ तक अध्याय ४ पाद ४ सूत्र ५ जैमिनि के ईश्वरवादी होने में प्रमाण हैं।

पूर्व मीपांसा में पशु मांस की विलक्ता निषेध

9र्व मीमांसा में जो कहीं २ पशुत्रों के मांस की आहुति देने का विधान पाया जाता है। वह पीछे की मिलावट माद्म होती है (अथवा उसको हिंसक मांसाहारी मनुष्यों के लिये यह के अतिरिक्त मांस भन्नण में प्रतिवन्धरूप समभना चाहिये) मूल सूत्रों में यह में मांस मात्र का निपेध है। यथा: "भांस-पाक-प्रतिषेधः" मांसपकाना श्रुति से निषिद्ध है। और सम अपिमन्थों में हिंसावर्जित है। यथा:—

सुरा मत्स्याः पशोर्मासं द्विजातीनां विलस्तया । भूतेंः पवर्तितं यक्षे नैतद्ग वेदेषु कथ्यते ॥

(महाभारतज्ञान्तिपर्व)

ऋर्ध – मग मञ्जली श्रीर पशुत्रों का मांस तथा यह में द्विजाति श्रादि मनुष्यों का बिलदान धूर्तों से यह में प्रवर्तित हुआ है। अर्थान् दुष्ट राज्ञस मांसाहारियों ने यह में जलाया है। वेदों में मांस का विधान नहीं है।

श्रन्थ सब दर्शनों के सदश हम पूर्वमीमोसा के भी विशेष रूप को दिखलाना चाहते थे किन्तु यह विचार करके कि उसके यज्ञादि सम्बन्धी गृढ़ विषय और पारिभाषिक शब्द योग मार्ग वालों के लिये श्रधिक रूचिकर न हो सकेंगे, हमने उसका केवल वह सामान्यरूप ही जिसका हमारे पड़दरीन समन्वय से सम्बन्ध है श्रीर जो इस मन्थ के पाठकों को लाभदायक हो सकता है दे दिया है।

मीमांसा प्रन्थ सब दर्शनों में सबसे बड़ा है इसके सूत्रों की संख्या २६४४ तथा श्रिष्ठिकराएों की ९०९ है। ये सूत्र श्रन्य सब दर्शनों के सूत्रों की सिम्मिलित संख्या के बराबर हैं। इाद्दा श्रष्ट्यायों में धर्म के विषय में ही विस्तृत विचार किया गया है। पहिले श्रध्याय का विषय है—धर्म विषयकप्रमाए, दूसरे का—भेद (एक धर्म से दूसरे धर्म का पार्थक्य) तीसरे का—श्रक्तल, चौथे का—प्रयोज्य प्रयोजकभाव, पांचवें का कम (श्रार्थात्) कर्मों में आगे पीछं होने का निर्देश, छठे का श्राधिकार (यह करने वाले पुरुष की योग्यता), सातवें तथा श्राठवें का श्रतिदेश (एक कर्म की समानता पर श्रन्य कर्म का विनियोग) नवें का 'कह' दसवें का बाध, ग्यारवें का तन्त्र, तथा बाहरवें का विषय प्रसङ्ग है। पृर्व मीमांसापर सब से प्राचीन वृत्ति श्राचार्य उपवर्ष की है।

उत्तर मीमांसा

उत्तर मीमांसा को ब्रह्मसूत्र, शारीरिक सूत्र, ब्रह्म मीमांसा तथा वेद का श्रास्तिम तात्मर्थ बतलामें से वेदान्त दर्शन और वेदान्त मीमांसा भी कहते हैं। इस दर्शन के चक्क अध्याय हैं, और प्रत्येक श्रध्याय चार पादों में विभक्त है।

- (१) पहिले अध्याय का नाम समन्वय अध्याय है क्योंकि इसमें सारे वेदान्त वाक्यों का एक मुख्य तास्पर्य ब्रह्म में दिखाया गया है। इसके पहिले पाद में उन वाक्यों पर विचार है जिनमें ब्रह्म का चिन्ह सर्वेइतादि स्पर्ट हैं। दूसरे में उन पर विचार है जिनमें ब्रह्म का चिन्ह अस्पर्ट है और तास्पर्य उपासना में है। तीसरे में उन पर विचार है जिनमें ब्रह्म का चिन्ह स्पष्ट है और तास्पर्य ज्ञान में है। चौथे में सन्दिग्ध पदों पर विचार है।
- (२) दूसरे अध्याय का नाम अविरोध अध्याय है। क्योंकि इसमें इस दर्शन के विषय का तर्क से श्रु नियों का परस्पर अविरोध दिखाया गया है। इसके पहिले पाद में इस दर्शन के विषय का स्मृति और तर्क से अविरोध; दूसरे में विरोधी तर्कों के दोष; तीसरे में पश्च महाभूतक वाक्यों का परस्पर अविरोध; और चौथे में लिझ शरीर विषयक वाक्यों का परस्पर अविरोध दिखाया गया है।
- (३) तीसरे श्रध्याय का नाम साधन श्रध्याय है। क्योंकि इसमें विद्या के साधनों का निर्माय किया गया है। इसके पहिले पाद में मुक्ति से नीचे के फलों में त्रुटि दिखलाकर उनसे वैराग्य; दूसरे में जीव श्रीर ईश्वर में भेद दिखलाकर ईश्वर को जीव के लिये फल दाता होना; तीसरे में उपासना का स्वरूप श्रीर चौथे पाद में ब्रह्मदर्शन के विहरङ्ग तथा श्रन्तरङ्ग माधनों का वर्णन है।
- (४) चौथे श्रध्याय में विद्या के फल का निर्णय दिखलाया है। इसलिये इस का नाम फलाध्याय है। इसके पहिले पाद में जीवन्मुक्ति, दूसरे में जीवन्मुक्त की मृत्यु, तीसरे में उत्तर गति और चौथे में ब्रह्मप्राति और ब्रह्मलोक का वर्णन है।

ऋधिकरण्—पादों में जिन २ अवान्तर विषय पर विचार किया गया है उनका नाम ऋधिकरण है।

अधिकरणों के विषय-श्रिधकरणों में निम्न लिखित विषयों पर विचार किया गया है।

१. ईश्वर २. प्रकृति, ३. जीवात्मा ४. पुनजन्म ५. मरने के पींड्रे की श्रवस्थाएँ ६. कर्म ७. उपासना ८. ज्ञान ९. बन्ध १०. मोज्ञ ।

श्रद्धा सूत्र में व्यासदेवजी ने जहां दूसरे श्राचाय्यों के मत दिखलाकर श्रपना सिद्धान्त बतलाया है वहां श्रपने को बादरायण नाम से बोधन किया है इस दर्शन के श्रनुसार:—

- १. 'हेय'-त्याज्य जो दुःख है उसका मृल जड़तत्त्व है अर्थात् दुःख जड़तत्त्व का धर्म है।
- २. 'हेय हेतु' त्याज्य जो दु:ख है उसका कारण श्रज्ञान श्रयांत् जड़तत्त्व में श्रात्मतत्त्व का श्रध्यास श्रयांत् जड़तत्त्व को भूल से चेतनतत्त्व मान लेना है। वारों श्रन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, श्रद्धार और इन्द्रियों तथा शरीर में श्रहम्भाव और उनके विषय में ममत्त्व पैदा कर लेना ही दु:खों में फंसना है।
- 'हान'—दुःख के निर्वान्त खभाव की खबश्चा 'खरूप ख्यित' खर्यात् जङ्बत्त्व से खपने को सर्वथा भित्र करके निर्विकार निर्लेष शृद्ध परमात्मखरूप में खब्छित होता है।
- . 'हानोपाय'—स्वरूप स्थिति का उपाय 'परमात्मतत्त्व का ज्ञान है' जहाँ दु:ख, श्रक्कान, भ्रम श्रादि लेहामात्र भी नहीं हैं श्रीर जो प्रश्कान श्रीर हाकि का भराडार है।

द्वैत-श्रद्धैत सिद्धान्त के भेद

श्रास्मतत्त्व के सम्बन्ध में द्वैत-श्रद्धेत श्रादि मतावलिश्वयों ने शब्दों के श्रार्थ निकालने में खासी खींचातानी की है। श्रद्धैतवादी 'हान' श्रार्थात् खरूपिश्चिति, मोत्त की श्रवस्था में श्रास्मतत्त्व श्रीर परमात्मतत्त्व की भिन्नता नहीं मानते। उनके मतानुसार, व्यवहार दशा में श्रास्मतत्त्व के रूप में परमात्मतत्त्व का ही व्यवहार होता है। मुक्ति की श्रवस्था में, श्रास्मतत्त्व परमात्मतत्त्व में, जो इसका ही श्रपना वास्तविक खरूप है, श्रवस्थित रहता है। द्वैतवादी श्रास्मतत्त्व श्रीर परमात्मतत्त्व में जहतत्त्व से विजातीय भेद मानते हैं, श्रीर श्रास्मतत्त्व में परस्पर सजातीय भेद मानते हैं। श्रार्थात् श्रास्मा तथा परमात्मा परस्पर जहतत्त्व के सदश भिन्न नहीं हैं किन्तु एकजातीय होते हुए भी श्रपनी श्रपनी श्रवण सत्ता रखते हैं। मुक्ति की श्रवस्था में श्रात्मा परमात्मा को प्राप्त होकर उसके सदश, दृश्वों को त्यागकर, ज्ञान श्रीर श्रानन्द को प्राप्त होता है।

इसी प्रकार जड़तरव के सम्बन्ध में भी उनका मतभेद हैं, अद्वैतवादी जड़तरव की सत्ता परमास्मतरव से भिन्न, नहीं मानते, उसी में चारोपित मानते हैं, जैसे रस्सी में साँप त्रीर सीप में चांदी की सत्ता चारोपित है, वाम्नविक नहीं। इस प्रकार अद्वैतवादी जड़तत्त्व को 'अनिर्वचनीय माया' अथवा 'अविदाा' मानते हैं जो न सत् है न असत्। सत् इस कारण नहीं कि मुक्ति अर्थात् स्वरूपिशति की अवस्था में उसका नितानत अभाव होजाता है; और असत् इमलिए नहीं कि सारा व्यवहार इसी में चल रहा है किन्तु जगन् का अभिन्नेपादन-कारण बन्ना या चेतनतत्त्व ही है। क्योंकि माया बन्ना से अलग कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखती, वह बन्ना ही की विरोप शिक्त अथवा सत्ता है। बन्ना में कोई परिणाम नहीं होता, वह सदा एकरस है। जगन् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय माया का परिणाम है; यह केवल चेतन सत्ता में अम से भासता है। यह सिद्धान्त विवर्त्तवा कहलाता है जिसमें बन्ना को जगन् का विवर्ती उपादान कारण माना गया है, अर्थान् बन्ना अपने स्वरूप को किचिन्मात्र भी नहीं बदलता है परन्तु भ्रम से वदला-सा प्रतीत होता है।

नासद्दल्या न सद्दल्या माया नैवोभयात्मिका । सदसद्दभयामनिर्वाच्या मिथ्माभूता सनातनी ॥

अर्थः—माया न ऋसद्रूप है न सद्प श्रोर नहीं उभयास्मिका । सत् श्रसत् दोनों से श्रानिश्चनीय मिध्यारूपा श्रोर सनातन (नित्य) है ।

यहाँ केवल शब्दों का उलटफेर हैं। वास्तव में तो इससे जगत् का उपादान कारण माया ही सिद्ध होती है। माया को चाहे सत् कहो, चाहे श्रसन्, **चाहे सत् श्रीर श्र**सत् दोनों से विलक्तण ! यथा:—

> मायामेघो जगन्नीरं वर्षत्वेष यतस्ततः। चिदाकाशस्य नो हानिर्ने च लाभ इति स्थितिः॥

अर्थ:--मायारूपी मेघ से जगतरूपी नीर धरस रहा है और आकाश के समान निर्लेप चेतन की कुछ हानि नहीं, नाहीं वह आकाशरूपी ब्रह्म भीगता या गीला होता है।

छन्टांसि यज्ञ: क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच वेदा बद्दित । अस्मान्भायी सुनते विश्वमेतत् तस्मिश्रान्यो मायया सनिरुद्धः॥ मायां त प्रकृति विद्यान्यायिनं त महेरवरम् ।

त्रस्यावयवभतेस्त व्याप्तं सर्विमदं जगत ॥

(इवेता० ४। ६। १०.)

अर्थ-छन्द, यज्ञ (हविर्यज्ञ), कतु (ज्योतिष्टोमादि), व्रत, भूत, भविष्यत् श्रीर जो कल ख़ौर बेट बतलात हैं इस सबको माया का खामी (मायी) इससे रचता है और उसमें दूसरा (पुरुष) माया से रुका (वॅघा) है। प्रकृति को माया जानो श्रीर महेश्वर को मायी, सारा विश्व उस (मायी माया शबल) के अंगों से व्याप्त है।

नामरूप विनिर्मक्तं यस्मिन्सन्तिष्ठते जगत । तमाहः प्रकृतिं केचित् मायामन्येपरेत्वणुन् ॥ (बृहद्वासिष्ठ)

अर्थ:--नाम श्रीर रूप से रहित यह जरात् जिसमें ठहरता है उसको कोई (जगत का उपादान होने से) श्रकृति कहते हैं, दूसरे (जगत की मोहक होने से) माया बोलते हैं स्प्रीर कुछ लोग परमाण नाम लेते हैं।

द्वैतवाद में इस जड़तत्त्व को एक स्वतन्त्र तत्त्व 'प्रकृति' नाम से मानते हैं। मुक्ति की श्रवस्था में इसका नाश केवल मुक्ति वालों के लिए होता है। इसका श्रपने स्वरूप से श्रामाव नहीं होता, क्योंकि जो मुक्ति अवस्था को प्राप्त नहीं हुए हैं उनके लिए यह बनी रहती है। यथा--

"कृतार्थे प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात ।"

(योगदर्शन २। २२)

अर्थ-जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिए नष्ट हुआ भी (वह अपने स्वरूप से) नष्ट नहीं होता, क्योंकि वह दूसरों के सामे की वस्तु है। यहीं प्रकृति जगत का उपादान कारण है। जगत इसका कार्य है। जिस प्रकार घट (घड़ा) कार्य है, मिट्टी उसका उपादान कारण है, कुम्हार निमित्त कारण है और इसका प्रयोजन पाकादि काय्यों में लाना है. इसी प्रकार प्रकृति जगत् का उपादान कारण, ब्रह्म निमित्त कारण और प्रकृषों का भोग-श्चपवर्ग इसका प्रयोजन है।

द्वेत-श्रद्वेत सिद्धान्त के भेट में श्रविरोध

जड तथा चेतनतत्त्व के सम्बन्ध में द्वेत-श्रद्धेतवादियों के सिद्धान्त में जो भेद दिख-लाया गया है वास्तव में वह कोई भेद नहीं है। किसी साधारण दृश्य का यदि कई लेखक वर्णन करें तो वे सब एक जैसे नहीं हो सकते । लेखकों के विचार, उनकी रुचि, दृष्टिकोस् जीर सेस्तनरीली के ज्युसार भिश्ता का होना आवश्यक है। ये तीनों तस्त्व केवल ज्युअव-गम्य हैं, बुद्धि से अधिक सूक्ष्म होने के कारण वर्णन में ठीक-ठीक नहीं आ सकते। इस कारण तस्त्ववैत्ताओं की वर्णनशैली में भिश्ता का होना स्वाभाविक है। बाह्य रिट्वालों को भले ही यह भिश्ता वास्तविक प्रतीत हो, किन्तु सूक्ष्म टिप्ट से देखने वालों के लिए इसमें कोई भिश्ता नहीं। इस प्रकार—

'हान' — दुःख की अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् स्वरूपिस्थिति वेदान्त के द्वैत-अद्वैत दोनों ही सिद्धान्तों का श्रन्तिम लक्ष्य है। वह स्वरूपिस्थिति 'ब्रह्मसहरः' होना हो अथवा 'ब्रह्मसहरूप होना हो, यह केवल शन्दों का उलट-फेर ही है। इसी प्रकार 'हैय हेतु' :दुःख का कारण ज़क्तस्व है, इसका आत्मतस्व से संयोग हटाना दोनों सिद्धान्त वालों का ध्येय है। अद्वैत-वाहियों ने इसका रुउ में सर्प के सहश, परमात्मतस्व में आरोपित एक कल्पितवस्तु बतलाकर आत्मतस्व से इसका संयोग छुड़ाया है। दैतवाहियों ने इसको आत्मतस्व से सर्वथा भित्र एक अलग तस्व दिखलाकर उसमें से आत्मतस्व का अध्यास हटाया है।

'हानोपाय'— दुःख की निवृत्ति का साधन परमात्मतस्व का झान दोनों सिद्धान्त वालों के लिए समानरूप से माननीय है। यही बेदान्त का मुख्य विषय है।

हमने केवल ढैत और अदैत सिखान्तों का वर्शन किया है । अन्य सम्प्रदायों के "विशिष्टाहैत" "शुद्धाढेत" "हैताढेत" इत्यादि सव सिद्धान्त जिन का इसी प्रकरण के अन्त में वर्शन किया जावेगा, इन्हीं दो सुख्य सिद्धान्तों के अन्तर्गत हैं।

यहां इतना बतला देना आवश्यक है कि परिणामबाद सांख्य और योग का सिद्धान्त जिसका वर्णन चौथे प्रकरण में किया जावेगा एक अंश में अदैतवाद से मिलता है अर्थात् 'खिरणावरियति'' 'परममुक्ति'' की अवस्था में आस्मतत्व और परमात्मतत्व की अभिन्नता होती है। ज्यवहार दशा में आस्मतत्व के रूप में परमात्मतत्व का ही ज्यवहार होता है। और दूसरे अंश में दैतवादियों से मिलता है। अर्थात् जड़ तत्त्व एक स्वतन्त्रतत्व त्रिगुरणमय प्रकृति नाम से है। परम मुक्ति की अवस्था में इसका नाश केवल मुक्ति वालों के लिये हो जाता है। दूसरों के लिये स्वरूप से इसका अथाव नहीं होता।

वेदान्तदर्शन का प्रथम सूत्र है-

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा'

अर्थ---'श्वव ब्रह्म के विषय में विचार त्रारम्भ होता है'। दृसरा सूत्र है---

'जन्पाद्यस्ययतः'

अर्थ—इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति श्रौर प्रलय जिससे होती है झर्थात् जो जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, श्रौर प्रलय का निमित्त कारण है। वह ब्रह्म है, जैसा कि श्रुति बतलाती है—

यसे वा इपानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति

यस्ययन्स्यभिसंविशन्ति, तद्विजिज्ञासस्य तद्ववसः॥ (ते॰ ३ । १)

अर्थ--जिससे ये भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जीते हैं और मरते हुए जिसमें लीन होते हैं, उसकी जिज्ञासा कर, वह सत्य अद्य है।

वेदान्त दर्शन का तीसरा सूत्र है-

'शास्त्रयोनित्वातु" (१।१।३)

अर्थ-नहा शास्त्र प्रमाणक है। बहा इन्द्रियों की पहुंच से परे है, इसलिये वह प्रत्यस्त का विषय नहीं, अनुमान भी उसकी मतलकमात्र देता है। पर शास्त्र उसका दिव्य खरूप दर्शाता है, जिससे अनुमान इधर ही रह जाता है। अतएव कहा है—

" येन सूर्यस्तपति तेजसेहढः नावेदिवन्मनुते तं बृहन्तम् " (तै॰ झ॰ ३। १२) अर्थ—जिस तेज से प्रदीप्त होकर सूर्य तपता है, उस महान् (प्रभु) को वह नहीं जानता जो वेद को नहीं जानता है।

वेदान्त-दर्शन का चौथा सूत्र है-

" तत् तु समन्वयात् " (१।१।४)

अर्थ—वह ब्रह्म का शास्त्र प्रमाणक होनो, एक तात्पर्य से है। सारे शास्त्र का एक तात्पर्य ब्रज्ज के प्रतिपादन में है, अतएव कहा है—

'' सर्वे वेदा यत्पदमामनित '' (कठ० २ । १५)

अर्थ—सारे वेद जिस पद का अभ्यास करते हैं। इसलिये श्रुति का तात्वर्य एक ब्रह्म के प्रतिपादन में है, कहीं शुद्धस्त्ररूप से, कहीं शबल स्तरूप अथवा उपलक्षण से।

वेदान्त दर्शन के आदि के ये चारों सूत्र वेदान्त की चतुःसूत्री कहलाती है। इसमें सामान्य रूप से वेदान्त का विचार कर दिया है। विशेष रूप से आगे किया है।

वेदान्त में परमात्मतत्व (ब्रह्म) का दो प्रकार से वर्णन है—एक उसके शुद्ध स्वरूप का जो प्रकृति से प्रथक् अपना निर्जा निर्जाण केवल शुद्ध स्वरूप है।यह "सर्व तस्योधिश्च स्म्" सारे तत्वों से निखरा हुआ (श्वे०२'१५)है। स्वरूप-मात्र होने से उसे शुद्ध कहते हैं। दूसरा, प्रकृति के सम्बन्ध से जो उसका शवल अपर अथवा सगुण रूप है, वह है।

- ्र इस शंबल स्वरूप को भी, समष्टि-व्यष्टि भेद से, दो प्रकार का वर्णन किया गया है। अर्थात् सारे विश्व में उसकी महिमा का एक साथ देखना उसके समष्टि रूप का दर्शन है और उसके साथ उसका वर्णन समष्टि रूप का वर्णन है। इसके तीनों शेख:-
 - १. विराट् (चेतनतत्व + स्थूल जगन्),
 - २. हिरएष गर्भ (चेतन तक्ष्त्र + सूक्ष्म जगत्) श्रीर
 - ३. ईश्वर (चेतन तत्व + कारण जगन्),

बोग-दर्शन समाधिपाद सूत्र २८ पर 'विशेष विचार' में विस्तारपूर्वक दिसालां

गए हैं। शबल स्वरूप को भिन्न भिन्न शक्तियों में देखना उसके व्यष्टि रूप का दर्शन है श्रीर उनके द्वारा वर्णन उसके व्यष्टिरूप का वर्णन है।

वेदान्त (उपनिषदों) में शबल ब्रह्म की उपासना समष्टि और व्यष्टि दोनों प्रकार से बतलाई गई है। वेदान्त दर्शन में इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वेदों और उपनिपदों में जहाँ जहाँ इन्द्र, सिवता, वैश्वानर, अग्नि श्वाकाश तथा प्राणाहि की उपासना बतलाई गई हैं वह उन दिव्य शक्तियों की नहीं है किन्तु व्यष्टि हप से ब्रह्म की ही उपासना है।

पूर्व मीमांसा में व्यष्टि रूप से सगुण बहा की यहां द्वारा उपासना बताई गई है इसिलयं कई एक तार्किकों को इसके बहु ईश्वर तथा अनीश्वरवादी होने की शंका हुई है। इसके अनुसार उपासक मुक्ति में अपने सगुण सहस्य अर्थान् जीवरूप से अपने सगुणापास्य ईश्वर अर्थान् अपर बहा के साथ उसके ऐश्वयं और आनन्द को भोगता है। अन्य चार दशैनकारों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग) को परब्रह्म अर्थान् गुद्धरूपेण परमात्मा की उपासना अभिमत है इसलियं कईएक तार्किकों को उनके अनीश्वरवादी होने की शङ्का हुई है। इनके अनुसार उपासक कैवल्य में अपने गुद्ध आत्मस्वरूप से परब्रह्म निर्मुण बहा, अर्थान् गुद्ध परमात्म तत्त्व में एकी भाव से लीन हो जाता है।

वेदान्त में ब्रह्म का वर्णन कहीं कहीं श्रन्य श्रादेश से जैसे 'तत्त्वमसि', कहीं 'श्रहङ्कारा-देश' से जैसे 'श्रहं ब्रह्मास्मि' श्रीर कहीं 'श्रात्मादेश' से जैसे 'श्रयमात्मा ब्रह्म' से किया गया

है। अद्वेतवादी इन वाक्यों को अद्वेत-परक सममकर महावाक्य कहते हैं।

प्राचीन वेदान्त सांख्य और योग के अनुसार इन महावाक्यों का अभिप्राय शरीर में भासने वाले आत्मा के शुद्ध खरूप की परमक्ष परमात्मा के शुद्ध खरूप के साथ अभिन्नता की प्रतीति कराना है। इनमें 'त्वं', 'श्रहम्', 'अयमात्मा', आत्मा के शुद्ध खरूप के सूचक हैं और ''तत, बहा, परमहा' परमात्मा के शुद्ध खरूप का निर्देश करते हैं।

उपलक्षण से ब्रह्म का वर्णन

जहाँ बाह्य पदार्थ के द्वारा उसके श्रन्तरात्मा पर दृष्टि लेजाना श्रामिन्नेत होता है, वहाँ वह बाह्य पदार्थ उसके श्रन्दर स्थित परमात्मा के जानने का उपलक्षण होता है, जैसे—

यः पृथिव्यां तिष्ठम् पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शारीरस्, यः पृथिवीमन्तरोयमयत्येष त आत्मान्तर्योष्टयमृतः (१६०३।०।३)

अर्थ-जा पृथिवी में रहता हुआ पृथिवी से खलग है; जिसको पृथिवी नहीं जानती, जिसका पृथिवी शरीर है, जो पृथिवी के खन्दर रह कर नियम में रखता है, यह तेरा खाला खन्तर्यामी असत है (वेदान्त दर्शन १।२।१८ से २० तक खन्तर्याम्यधिकरण्)।

शवल रूप में और उपलक्ष्य में यह भेद है कि शवल रूप में बाध शक्ति से विशिष्ट रूप कहा हुआ। होता है और उपलक्ष्य में उसके द्वारा उसमें शक्ति देता हुआ। केवल आरुप, होता है।

चेतन तस्त्र का शुद्ध खरूप

तद्वयक्तमाह हि (वेदान्त शश्र)

अर्थ-मूर्त अमूर्त से परे बहा का अव्यक्त शुद्ध खरूप है, जैसा कि श्रुति कहती है -ग्रुद्धमपापविद्धम् (ईश॰ ८)

अर्थ-वह शुद्ध श्रीर पाप से न बीधा हुश्रा है। शुद्ध चेतन-तत्त्व ज्ञान वाला नहीं है, किन्तु ज्ञान-स्वरूप है-

व झान वाला नहा है, किन्तु झान-स्वरूप ६— सत्यं **झानगनन्तं ब्रह्म** (तै॰ २ । १ । १)

अर्थ-(ग्रुद्ध) ब्रह्म, सत्य, ज्ञान श्रीर श्रनन्त है।

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः (मुण्ड॰)

अर्थ-वह शुभ्र ज्योतियों का ज्योति है।

ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप प्रायः नेति नेति निपेधमुख शब्दों से वर्णन किया गया है। क्योंकि उसका खरूप क्या है, यह बात तो आत्मानुभव से ही जानी जा सकती है; उपदेश केवल यही हो सकता है कि झात वस्तुओं से उसका परे होना जँचा दिया जावे, जैसा कि महर्षि याझवल्क्य ने देवी गार्गी को उपदेश किया है—

एतद्वै तदत्तरं गागि ! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूल्यमनएवहस्वभदीर्घमलोहि-तमस्नेहमच्छायमतभोऽवाय्वनाकाशमसंगमरसमगन्यमच्छुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेज-स्कमपाणग्रुख्यमात्रमनन्तरमबाह्यं. न तदशाति किञ्चन न तदशाति कश्चन। (प्रत्य १।८।८)

अर्थ—हे गार्गि ! इसको बाइयण अत्तर कहते हैं, वह न मोटा है, न पतला है, न होटा है, न लम्बा है, न लाल है, (उसमें कोई रह्न नहीं है), बिना स्नेह के है, बिना छाया के है, बिना अन्धेर के है, वह वायु नहीं है, आकाश नहीं है, वह असङ्ग है, रस से रहित है, गन्ध से रहित है, उसके नेत्र नहीं, श्रोत नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, उसके तेज (जीवन की गर्मी) नहीं, प्राण् नहीं, मुख नहीं, परिमाण नहीं, उसके कुछ अन्दर नहीं, न वह कुछ भोगता है, न कोई उसके उपभोग करता है।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्ममगोत्रमवर्णमचत्तुः श्रोत्रंतदपाणिपादं निस्यं विश्वं सर्वगतं सुस्रच्मं तद्वययं तद्भवयेनि परिपश्यन्ति धीराः । (सुण्डको० १।१।६।)

जो श्रॉखों से दिखलाई देने वाला नहीं है, जो हाथों से प्रहण नहीं किया जा सकता, जिसका कोई गोत्र नहीं है, जिसकी न (भौतिक) चक्षु है, न श्रोत है, जिसके न हाथ हैं, न पैर हैं, जो नित्य है, विश्व है, सर्वेच्यापक है, स्ट्र्स से स्ट्र्स है, जो नाश रहित है, उसको जो सब भूतों का योनि है धीर लोग देखते हैं। न तत्र चत्तुर्गच्छिति न वाग्गच्छिति नो मनो न विद्यो न विज्ञानीमो यथै-तद्तुशिष्यात्, अन्यदेव तद् विदिताद्यो अविदिताद्यि, इति सुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्वच्याचचित्तरे (केन १ । ३)

अर्थ—न वहाँ नेत्र पहुँचता है, न वार्गी पहुँचती है, न ही मन (पहुँचता है), नहीं सममत हैं, नहीं जानत हैं, जैसे उसका उपदेश करें, वह जाने हुए से निराजा है (श्रीर) न जाने हुए से श्रलग, यह सुना है पूर्वजों से जिन्होंने हमारे लिये उसकी व्याख्या की है।

यदाऽतमस्त्रम दिवा न रात्रिनेसन्नचा सच्छित एव केवलः।

अर्थ — जब ब्रह्मज्ञान का प्रकाश उदय होता है, तब वहाँ न दिन हे न रात है, न सनु है न अपसन् (न ज्यक है न अज्यक है) वहाँ केवल शिव है।

हमारा सारा व्यवहार जड़तत्त्व अथवा शवल चेतनतत्त्व में चल रहा है। शुद्ध चेतनतत्त्व जड़तत्त्व से विलद्दारा है। बहु वैशेषिक दर्शन में बतलाये हुए द्रव्या के सदश किसी गुर्ग, कर्भ अथवा समवाय की अपेदा नहीं रखता। उपनिषदों में महत्त्व से उसकी विचित्र व्यापकता और अग्यत्व से विचित्र स्क्ष्मता का, न कि परिन्छि ता का निर्देश किया गया है, जैसे—

अणोरणीयान महतो महीयान

(इवे० ३ । २०, कठ० २ । २०, तै० आ० १० । १२ । १)

अर्थ —श्रण् से श्रणु (सूक्ष्म से सूक्ष्मतर) श्रीर महान से महत्तर ।

महान्तं विभ्रुमात्मानं मत्वा थीरो न शौचित (कड० २।२२)

अर्थ — उस महान विभु आत्मा को जानकर धीर पुरुष शोक से परे होजाता है। शुद्ध चेतनतत्त्व अपरिणामी, निर्विकार, निष्क्रिय (केवल ज्ञान-स्वरूप) क्रूटस्थ निस्य है, जड़तत्त्व विकारी, सिक्रय और परिणामी निस्य है, जड़तत्त्व में ज्ञान, नियम और व्यवस्था-पूर्वक क्रिया चेतनतत्त्व की सिक्षिय-मात्र से है। यह सिद्धान्त सांस्य और योग के समान वेदान्त को भी अभिमत है। जैसे—

निष्कर्त्तं निष्कियं शान्तं निरवद्यं निरक्षनम् (१वे०६। १९) अर्थ – वह निरवयव है, निश्चल है, शान्त, निर्दोष श्रीर निर्लेष है।

अने जदेकं मनसो जवीयो (ईश० ४)

अर्थ—श्वडोल, एक, मन से बढ़कर वेगवाला (सर्वत्र व्यापक होने के कारण) है। गीता में इसका विस्तार के साथ वर्णन है। जैसे—

> श्रच्छेचोऽयभदासोऽयमक्नेचोऽशोष्य एव च । नित्यः सर्वगतः स्थाणु रचलोऽयं सनातनः ॥ २४॥ २ ४०

अर्थ:—यह आत्मा अच्छेय हैं, यह आत्मा अदाह्य, अङ्ग्य और अशोष्य है तथा यह आत्मा निःसन्देह नित्य, सर्वव्यापक, अचल क्षिर रहने वाला और सनातन है।

> प्रकृतेः क्रियामाणानि ग्रुणैः कर्माणि सर्वशः। ऋहंकारविमृदात्मा कर्ताहमिति मन्यते॥ २७॥ ३ अ०

(वास्तव में) सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुये हैं; तो भी श्रहङ्कार से मोहित हुए श्रन्तःकरण वाला पुरुष में कर्त्ता हूँ ऐसा मान लेता है।

तस्ववित्तु महाबाही गुणकर्मविभागयोः।

गुणा गुणेषु वर्तेन्ते इति मत्वा न सज्जते ॥ ॥ २८ ॥ ३ ४०

परन्तु हे महाबादु ! गुरा विभाग श्रीर कर्म विभाग के तत्त्वों का जानने वाला झानी पुरुष 'सम्पूर्ण गुरा गुरा में बरत रहे हैं' ऐसा मान कर श्रासक्त नहीं होता।

मधाऽध्यक्षेण मकृतिः स्यते सचराच्यम् ।

हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ॥ १०॥ ९ अ०

हं कौन्तेय, मेरी (परमात्मतस्व की) अध्यक्तता से प्रकृति चराचर जगत् को रचती है। इस हेतु से जगत् सदा परिवर्तित होता रहता है।

पकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥ १६ ४०

श्रीर जो पुरुष समस्त कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये हुए देखता है तथा श्रात्मा को श्रकर्ता देखता है, वहीं देखता है, अर्थाम् वहीं तत्त्वज्ञानी है।

सन्वं र जस्तम इति ग्रुणाः मक्कतिसम्भवाः ।

निवध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनपञ्ययम् ॥ ५ ॥ १४ अ०

है महाबाहो, सत्, रज और तम यह प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुरा श्रविनाशी श्रात्मा को [श्रविवेक से] इरीर में बाँबत हैं।

नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति ।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १६॥ १४ अ०

जब पुरुष गुणों [त्रिगुणात्मक प्रकृति] के सिवाय किसी दूसरे को कर्त्ता नहीं देखता है श्रीर तीनों गुणों से श्रतीत परम [ग्रुद्ध श्रात्मतत्त्व] को तत्त्व से जान लेताहै वहीं मेरे खरूप [परमात्मतत्त्व] को प्राप्त होता है।

> ग्रुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसम्बद्धवान् । जन्ममृत्युजरादुःवैर्विद्यक्तोऽमृतमश्रुते ॥ २०॥ ३५ ॥ ॥

देह की स्वामी [पुरुष] इन स्थूल, सूक्ष्म श्रीर कारण शरीर की उत्पत्ति के कारण तीनों गुणों को उक्षंघन करके जन्म, मृत्यु श्रीर बुदाप के दुःस्तों की [भ्रान्ति से] सुक्त होकर श्रमृत को प्राप्त होता है।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचान्यते ।

गुणा वतेन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥ २३॥ १४ ७०

जो उदासीन के समान [सान्ती भाव से] स्थित हुन्ना [जीवन यात्रा करता हुन्ना] गुर्ह्यों से विचलित नहीं किया जा सकता है जौर जो गुर्ह्या ग्रेह्यों में वर्तते हैं ऐसा समभ कर स्थिर [शान्त] रहता है, [उस स्थिति से] चलायमान नहीं होता है [वह गुर्ह्या नीत कहलाता है]।

ब्रह्मसूत्र में योग साधन की शिचा

आसीनः सम्भवात् ॥ (ब्रह्मसूत्र ४। १। ७) ॥ रांका—उपासना के मानसिक हाने से शरीर स्थिति का श्रानियम है। इस पर बतलाते हैं कि उत्तर—उपासना किसी श्रासन से बैठकर करनी चाहिये क्योंकि एक प्रत्यय का प्रवाह करना उपासना है श्रीर उसका चलते या दौड़ते हुए पुरुष में सम्भव नहीं है क्योंकि गित श्रादि चित्त में वित्तप करने वाले हैं। खड़े रहने वाले का भी मन देह के धारण करने में व्यय रहता है। इसलिये वह सूक्ष्म वस्तु के निरीत्त्रण करने में समर्थ नहीं होता, लेटे हुए का मन भी सम्भव है कि श्रकस्मात् ही निद्रा से विवश हो जाए किन्तु बैटा हुश्रा पुरुष इस प्रकार के बहुत से दोषों का परिहार भली भान्ति कर सकता है। इस लिये उस उपासना का होना सम्भव है (शांकरभाषाथे)

भ्यानाच्च (ब्रह्मसूत्र ४। १। ८) ॥ श्रीर एक प्रत्यय का प्रवाह करना ही 'ध्यायति' (ध्ये धातु) का श्रथे है श्रीर 'ध्यायित' शब्द, जिनकी श्रङ्ग चेटाएं शिथिल हो दृष्टि शिथिल हो श्रीर चिन् एक ही विषय में श्रासक हो उनमें उपचार से योजित होना दिखाई देता है। जैसे कि बगुला ध्यान करता है, जिसका प्रिय विदेश में गया है वह श्री ध्यान करती है। वैठा दुश्रा पुरुष श्रायास रहित होता है इससे भी उपासना बैठे हुए का कमे है। (शांकरभाषार्थ)

अचलरवं चापेच्य ।। (ब्रह्मसूत्र ४। १। ९)।। और 'ध्यायतीव पृथिवी' (पृथिवी मानो ध्यान करती है) इस श्रुति में पृथिवी स्वादि में स्रचलत्व की स्वपेत्ता से ही 'ध्यायति' शब्द का प्रयोग होता है और वह उपासना बैठे हुए का काम है इसमें लिङ्ग है (शांकरभाषार्थ)

स्मरन्ति च ॥ (ब्रह्मसूत्र ४। १। १०)॥ 'शुचौदेशे प्रतिष्ठाप्य क्षिरमासनमात्मनः' (पित्र देश में श्रपना क्षिर स्त्रासन स्थापित करके, इत्यादि स्पृति वचन से शिष्ट लोग उपासना के श्रङ्गरूप से श्रासन का विधान करते हैं। इसीसे योग शास्त्र में पद्मक श्रादि आसनों का उपदेश है। (शाङ्करभाषार्थ)

यत्रैकाप्रता तत्रा ऽविदोषात् ॥ (ब्रह्मसूत्र २। १। ११) ॥ विशेषता न पाए जाने से जहां चित्त एकाप्र होसके उसी देश में बैठ कर समाधि लगावे स्रथवा उपासना करे अर्थात् समाधि अथवा उपासना का सम्बन्ध चित्तवृति निरोध से है। किसी दिशा, काल और देश विशेष से नहीं।

जिस दिशा, देश या कालमें उपासक का मन सहज में ही एकाम हो उसी दिशा श्रादि में उपासना (ध्यान) करना चाहिये। क्योंकि पूर्व दिशा, पूर्वाङ्ग, पूर्व देश की तरफ, निम्न स्थान श्रादि के समान यहां विशेष का श्रवण नहीं है, क्योंकि श्रभीष्ट एकामता सर्वत्र तुल्य है। परन्तु कितने ही विशेष भी कहते हैं। यथा—

समेशुचौ शर्कराविहन बालुका विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः । मनोऽनु-कुले नतुचल्लपीडने ग्रुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेतु ॥ २० । २ । १० ॥

अर्थ:—सम और पिवत्र, सूक्ष्म पाषाण, विह और रेती से वर्जित शब्द और जलाशय आदि से वर्जित, मनके अनुकूल और नेत्रों को पीड़ा न देने वाले निर्वात या एकान्त प्रदेश में बैठ कर योग साधन करें।

इस पर कहते हैं - ठीक है, इस प्रकार का नियम है, परन्तु ऐसे नियम के रहने पर भी विशेष में नियम नहीं है, ऐसा सुहद् होकर आचार्य्य कहते हैं । 'मनोऽनुकूले' 'मनके अनुकूल' यह श्रुति जहां एकाप्रता है, वहीं, ऐसा इतना ही दिखलाती है । (शांकरभाषार्थ)

श्रिप च संराधने मत्यत्तानुगानाभ्याम् ॥ (१० स्०३। २। २४) ॥

अर्थः—उक्त परमात्मा को कोई धीर पुरुष समाधि दशा में जान सकता है। यह "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैत्तदावृत्त चक्षुरमृतत्त्वमिच्छन्"। (क०४।१) "ज्ञानप्रसादेन विद्युद्धसन्वस्तरस्तुतं पश्यते निष्कतं ध्यायमानः"। (सु०३।१।८) यं विनिद्रा जिनश्वासाः सन्तवः संयतेन्द्रयाः।

ज्योतिः पश्यन्ति युक्तानास्तरमै योगात्मने नमः॥ इत्यादि श्रुति श्रीर समृति से

जाना जाता है।

अर्थात् समस्त प्रपश्च से शून्य और अव्यक्त इस आत्मा को योगी लोग संराधन समय में देखते हैं। संराधन समय में योगी लोग परमात्मा को देखते हैं, यह कैसे समभा जाता है? प्रत्यत्व और अनुमान से, श्रुति और स्मृति से जाना जाता है, क्योंकि 'कश्चिद्धीर'० (जिसकी नेत्रादि इन्द्रियां विषयों से ज्यावृत होगई हैं ऐसा अमृत को चाहने वाला कोई विवेकी पुरुष प्रत्यात्मा को देखता है) 'झानप्रसादेन विशुद्धसल०' (ज्ञान की निर्मलता से जिसका अन्तःकरण विशुद्ध हुआ है वह ध्यान करता हुआ सब अवयव भेद से वर्जित आत्मा को देखता है।) इत्यादि श्रुतियां हैं। उसी प्रकार—

''यं विनिद्रा जितश्वासाः'' (निद्रा रहित श्वास को जीते हुए मनुष्य, जिसकी इन्द्रियां संयम में है भ्यान करते हुए जिस ज्याति को देखते हैं, उस योग लभ्य खात्मा को नमस्कार है, उस सनातन भगवान् को योगी सम्यक् रूप से देखते हैं इस प्रकार की स्यृतियां भी हैं। (शांकरभाषार्थ)

होनों मीमांसाओं के ग्रन्थकार आचार्यों का समय और उन से पूर्व श्राचार्यों के नाम—

उत्तर मीमांसा अर्थात ब्रह्म सत्रों के कत्ती महर्षि बादरायण हैं। इनके सम्बन्ध में ऐसा निश्चय प्रसिद्ध और अचलित है कि यही पराशर ऋषि के पत्र ऋष्ण द्वेपायन वेद व्यास हैं जो महाभारत के समय में हुए हैं। जिन्होंने कुरुत्तेत्र में होने वाले युद्ध की सारी घटनात्र्यों से धतराष्ट्र को जानकारी करात रहने के लिय सञ्जय को दिव्य दृष्टि दी थी श्रीर जो स्वयं महाभारत श्रीर गीता के रचयिता बतलाय जाते हैं। कपिल मुनि, श्रासरि, पञ्चशिख, जैगीशच्या वार्षगर्या जनक और पराशर इन सब प्राचीन श्राचीयों ने क्रमशः सांख्यज्ञान में निष्ठा प्राप्त करके जगत में उसका प्रचार किया था। वारूव में सांख्य ही अपने व्यापक रूप में उपनिषदों की प्राचीन वेदान्त फिलास्फी है। श्रीर जिसको पिछले काल के साम्प्रदा-यिक आचार्या ने जिनका हम आगे वरान करेगे अपने सम्प्रदाय की संकीराता में संक्रचित करके दर्शाया है वह सब नवान वेदान्त विचार हैं। बादरायण के आर्थ बादिर का पत्र हैं। इससे सिद्ध होता है कि पराशर ऋषि का दूसरा नाम बादरि था। बादिर श्राचाय्ये को नाम ब्रह्मसूत्रों में चार वार (१।२।३०,३।१।११,४।३।७,४।४।१०) श्राया है श्रोर जैमिनि के मीमांसा सूत्रों में भी चार स्थानों (३।१।३,६।१।२७,८। ३। ६, ९। २। ३०) में त्र्याया है। इससे सिद्ध होता है कि बादरि ऋषि ने कर्म मीमांसा श्रीर ज्ञान मीमांसा दानों पर सूत्र प्रन्थ बनाए थे। इन के मत में वैदिक कर्म में सबका श्रिधकार है। उसमें जन्म से जात भेद को कोई खान नहीं दिया गया है।

बादरायण के ब्रह्म सूत्र में जैमिनि का नाम (१।२।२८, १।२।३१,१।३। ३१,१।४। १८,३।२।४०,३।४।२०,३।४।१८,३।४।१८,३।१।१८,३।४।१८,३।१।१८,३।४।१८,३।४।१८,३।१।१८,१।१८।१८) ग्यारह वार आया है। औहलोमि आचार्य्य का नाम (ब्रह्म १।४।१४,३।४।४४,४।४।६) में तीन वार आया है और काश क्रस्त आचार्य्य का नाम (ब्रह्म १।४।१४) में श्रीर जैमिनिदरोन में (४।३।१८,६।४।२६) दो वार आया है। आचार्य्य आश्रमरध्य का नाम (ब्रह्म १०३४) में और जैमिनिदरोन में (४।३।१८,६।४।२६) वी वार आया है। आचार्य्य आश्रमरध्य का नाम (ब्रह्म १००,६।४।१६) में आया है। आचार्य्य कार्ष्य कार्ष्य जिनित्त का नाम (ब्रह्म १।४।१६) में आया है। आचार्य्य कार्ष्य कार्ष्य कार्ष्य कार्यों के नाम (ब्रह्म सिद्ध होता है कि जैमिन सूत्र और वादरायण सूत्रों से पूर्व दोनों पूर्व मीमोसा और उत्तर मीमोसा पर बहुत से प्राचीन आचार्थों के सूत्र विद्यमान थे और परस्पर विचारों में मतभेद भी

पांत्रों अक्षमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनम्द्रमय कोशों का विस्तारपूर्वक वर्णन बोगदर्शन समा॰ पा॰ स्॰ १७ वि॰ व॰ में, तीनों स्थूल, सुक्षम, कारण शारीरों का समाधिपाद सूच १८ के विशेष वक्षम्य में, पुनर्जन्म का साधनपाद सूत्र १३ के, विशेष वक्षक्ये में, और देवयान पितृयाण आदि का वि॰ पा॰ स्॰ ३९ वि॰ त्र॰ में देखें।

था, क्योंकि ऐसे गृह विषयों में विचारों की भिन्नता का होना स्वाभाविक ही है। किन्तु उन सूत्रों के भाष्यकार नवीन साम्प्रदायिक आचार्यों की कटान (Controversy) की रौली के विकद्ध वे अपने विचारों से भिन्नता रखने वाले आचार्यों के मत को आदर और संमान से दिखलाते थे।

वेदान्त पर भाष्यकार स्त्राचार्यों के नवीन सम्प्रदायः—

प्राचीन समय में उपनिषद् वेदान्त कहलाते थे। किन्तु वे भिन्न भिन्न समय में भिन्नभिन्न ऋषियों द्वारा प्रचार किये गये तथा बनाए गए थे। इसलिये उनकी विचार भिन्नता को
जिसका होजाना खाभाविक था जब बादरायाए ज्याचार्य्य ने ज्यपने नन्न सूनों में सब उपनिषदों की विचारैकता सिद्ध कर दी तब यह निष्म सून्न भी उपनिषदों के समान ही प्रामाणिक
माना जाने लगा । इन्हीं बादरायाए ज्याचार्य्य द्वारा व्यास नाम से भगबद्गीता में सारे
उपनिषदों का सार ज्यति निपुणता से समफाया गया है। इस लिये ज्यन्त में उपनिषद्
निष्म सून्न और भगवद्गीता यह तीनों प्रधानत्रयी नाम से वैदान्त के मुख्य प्रामाणिक
प्रस्थ माने जाने लगे। बौद्ध धर्म के पतन के पश्चात् प्रत्येक नवीन सम्प्रदाय के प्रवर्तक
ज्याचार्य्य को वेदान्त के प्रधानत्रयी के इन तीनों भागों पर ज्यपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त
के ज्याधार पर भाष्य लिख कर यह सिद्ध करने की ज्यावश्यकता हुई कि उस का सम्प्रदाय
वेदान्त के जनुसार है और जन्य सम्प्रदाय इसके विषद्ध हैं। साम्प्रदायिक दृष्टि से प्रधान
त्रयी पर भाष्य लिखने की रीति चल पड़ने पर भिन्न २ पिछत ज्यपने २ सम्प्रदायों के
भाष्यों के ज्याधार पर टीकाएँ लिखने लगे। इसके परिणाम स्वरूप नवीन वेदान्त के पांच
सम्प्रदाय ज्येत, विशिष्यद्वेत, हैंत, हुद्धाहैत, द्वैताहैत के सिद्धान्तों के आधार पर
लगभग पांच दृष्टि कोण् से नद्य सुत्रों पर भाष्य किये गए हैं।

ब्रह्ममूत्र पर भाष्यकार श्री० स्वामी शङ्कराचार्य्य का सद्दीत सिद्धान्तः—

अद्वैत सिद्धान्त—१. ऑखों से दिखलाई देने वाले सारे जगत् अथात् सृष्टि के पदार्थों की अनेकता सत्य नहीं है। वास्तव में यह सब एक ही शुद्ध चैतन्य सत्ता (तत्त्व) है जो निर्मुण, निंवरोप, शुद्ध ज्ञान स्वरूप है जिसको परमद्भा वा परमात्मा कहते हैं। २. पर-मात्मा के साथ अनादि से एक विरोप शक्ति है जिसको माया अथवा अविद्या कहते हैं जो न सत् हें और न असन् अर्थान् आंतर्वचनीय है। ब्रह्म इस सारे अनेक विध्य जहचेतन सृष्टि के प्रपठ्च को इसी अविद्या अथवा माया द्वारा रचता है जिस प्रकार मायाची मदारी अपनी माया शक्ति से नाना प्रकार के जड़ चेतन पदार्थों को प्रकट करके दिखलाता है जो अपनी वास्तविक सत्ता नहीं, रखते हैं, केवल आनित मात्र होते हैं। ३. इसलिये माया सम्बद्ध ब्रह्म ही इस जगत् का अभिन्न निमित्त उपादान कारण है। माया के सम्बन्ध से ब्रह्म को ईश्वर कहते हैं, और अविद्या के सम्बन्ध से जीव। ४. जीव अविद्या के कारण अपने ब्रह्म स्वरूप अर्थान् शुद्ध ज्ञान स्वरूर को भूत कर युद्धि, अहंकार, मन, इन्द्रियों और शरीर आदि की ज्यपना वास्तविक स्वरूप समम्म कर उनकी अवस्थाओं को अपनी अवस्था मान लेता है। इस अध्यास के कारण अस्पन्नता, अस्पनिस्तनता और

परिद्विन्नता की सीमा में श्राकर कर्ता श्रीर भोग्ता वन जाता है श्रीर सकाम कर्मों द्वारा पुराय श्रीर पाप को सक्चय करता हुआ श्रावागमन के चक्र में फंसकर उनके फलों को भोगता है। ५, श्रात्मा श्रीर परमात्मा श्रथवा जीव श्रीर ब्रह्म की एकता के श्रमुभव सिद्ध पूर्य ज्ञान से श्रविद्या का नाश हो जाने पर शरीर, इन्द्रियों, मन, श्राहंकार श्रीर बुद्धि श्रादि उपाधियों में से श्रात्मभाव मिट जाता है, जिसके उपरान्त कर्ता भोक्ता का श्रीभमान निवृत्त हो जाने पर कर्म, उनके फलों श्रीर श्रावागमन से मुक्ति पाकर परिश्चिन्नता श्रीर श्रव्यक्ता की सीमा को तोड़ कर श्रपने श्रवन्त शुद्ध ज्ञान खरूप में श्रविद्यात हो जाता है। यह श्रद्ध ते सिद्धान्त कडलाता है इसको निर्विशेषाद्ध ते भी कहते हैं। इस सम्प्रदाय के श्रावाण्य श्री० खामी शङ्कराचार्य्य हुए है जिनके सम्बन्ध में कई इतिहास लेखकों द्वारा यह निश्चित किया गया है कि इन्हों ने विक्रमी सम्बन् ८४५ तदनुसार ७८८ ई० सन् में जन्म मह्या किया था श्रीर २२ वीं वर्ष में वि० सं० ८७८, ई० सन् ८२० में शरीर त्याग किया था। किन्तु श्री खामी द्यानन्दजी महाराज ने खामी इंकराचार्य्य का समय श्राज से २२०० वर्ष पूर्व माना है।

श्री स्वामी शंकराचार्थ्यजी श्रपने समय के श्राह्मिताय विद्वान् थे । ब्रह्म सूत्रों के संस्कृत में जितने भाष्य हुए हैं उनमें सब से श्रिधक प्रचित्त श्रीर प्रसिद्ध श्री स्वामी शंकराचार्य्य का है और शंकर प्रतिपादित मत ही सामान्य रूप से वेदान्त सममा जाने लगा है। किन्तु बहुत से विद्वानों का विचार है कि स्वामी शंकराचार्य्यजी ने श्रपनी स्वालीकिक बुद्धि श्रीर विगा को वादरायण सूत्रों के श्राश्य को स्पष्ट करने की श्रपेचा श्रपने प्रवर्तित सम्प्रदाय के मण्डन श्रीर श्रपने से भिन्नता रखने वाले मतों के खण्डन में श्रिधक प्रयोग किया है।

डाक्टर घाटे ने 'वेदांत' नामक अप्रेजी पुस्तक में शंकर, रामानुज, निम्बार्क, मध्य तथा बक्षम के व्याख्यानों का तारतस्य अनुशीलन कर मूल सूत्रों के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों को खोज निकालने का यत्र किया है। उनकी सम्मति में शंकराचार्य्य के अनेक सिद्धान्तों की पुष्टि सूत्रों से नहीं की जा सकती। कार्य कारण के सम्बन्ध में सूत्रकार 'परिखामवाद' के पन्नपाती प्रतीत होते हैं न कि 'विवर्तवाद' के। 'आत्मकृत: परिखामान्' (न० सू० १। ४। २६) में सूत्रकार ने परिखाम शब्द का स्पष्ट निर्देश किया है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य पिएडत थीवां ने शंकराचार्ध्य कृत भाष्य के स्वरचित अनुवाद की भूमिका में शंकराचार्ध्य की व्याख्या के सम्बन्ध में लिखा है कि "वादरायण का दार्शनिक सिद्धान्त शंकराचार्ध्य के व्याख्या के सम्बन्ध मिन्न था । किन्तु शंकराचार्ध्य ने अपने शुष्क निर्विशेष अद्भैत सिद्धान्त का प्रचार करने के लिये वादरायण के अपर अपने मत का आरोप किया है, इसलिये बद्धासूत्र के शांकर भाष्य को पढ़ने से सूत्रकार का वास्तविक सिद्धान्त नहीं मान्द्रम हो सकता"। इनकी समालोचना के अनुसार ही पूर्ववर्ती बहुत से समालोचकों ने स्वामी शंकराचार्थ्य के विषय में ऐसा ही मत प्रकट किया है। प्राचीन काल के रामानुजाचार्थ्य ने भी ब्रह्मसूत्र के व्याख्यान के प्रसंग में स्वामी शंकराचार्थ्य

के व्याख्यान के उत्पर विभिन्न स्थलों पर दोष दिखलाए हैं। रामानुजाचार्व्य के पूर्ववर्ती श्राचार्व्य भास्कर ने श्रपने भाष्य के श्रारम्भ में लिखा है कि "शंकराचार्य्य ने सूत्रकार के श्रभिपाय को गुप्त करके श्रपना सिद्धान्त ब्रह्म सूत्र के भाष्य के बहाने प्रकट किया है।"

सम्भव है उपरोक्त समालोचनाओं में बहु उक्ति से काम लिया गया हो, क्योंकि ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों में अपने सम्प्रदाय से भिन्न विचार वालों के प्रति प्रायः ऐसी ही शैली चल निकर्ला है। किन्तु वादरायण के मूल सूत्रों पर साम्प्रदायिक पच्चपत से रहित हो कर स्वतन्त्र विचार से हिंदे डालने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि अन्य सब दर्शनकारों (न्याय, वैशेषिक, विशेषकर सांस्य और योग) के सहश उनमें भी सांस्य और योग के दें ते सिद्धान्त का हो प्रतिपादन किया गया है जो स्वामी शङ्कराचार्य की अद्भुत विद्वत्ता द्वारा निर्विशेष अद्वेत सिद्धान्त के रूप में दिखलाया गया है।

ह्य सूत्र में वैदिक दर्शनों का खराडन नहीं प्रत्युत श्रुतियों के साथ उनका समन्वय है और बादरायण से लगभग अदाई हजार वर्ष पश्चान् भगवान बुद्ध का जन्म हुआ है; जिनके सम्प्रदायों का ह्या सूत्र के शाङ्कर भाष्य में खराडन किया गया है।

वास्तव में यह बात प्रतीत होती है कि स्वामी शङ्कराचार्य के समय में सारे भारक्व भी में नास्तिकता फैल रही थी श्रीर श्रवैदिक मतमतान्तरों का सब श्रीर प्रचार था। तान्त्रिक सम्प्रदाय, पाशुपत श्रीर पाश्वरात्र तथा शाक्तमत वालों की नास्तिकता बढ़ रही थी। बौद्ध धर्म जो एक प्रकार से सांख्य श्रीर योग का ही रूपान्तर है जिसके निष्ठृति मार्ग में भगवान हुद्ध ने श्रन्वय व्यक्तिक करते हुए समाधि द्वारा नेति नेति रूप (सर्व श्रुत्ति निरोध रूप) खरूप श्रवह्म श्रवह्म तरा सिखलाया था सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार माध्यमिक श्रादि सम्प्रदायों में विभक्त होकर श्रपने उब श्रास श्रीर चैतन्यवाद से विच्युत होकर जड़वाद की श्रोर सुक रहा था श्रीर बहुत सम्भव है कि इस जड़वाद के प्रभाव में उस समय के कोई २ दाशेनिक विश्वान भी वैदिक दर्शनों से श्रनीश्वर वाद को सिद्ध करने में प्रश्न हो रहे हों। इसलिय इस सारे श्रवैदिक श्रीर नास्तिक वातावरण को वैदिक धर्म में परिवर्तित करने के लिये खामी शंकराचार्य्य को पाशुपत पाश्वरात्र श्रीर श्रवत सम्प्रदायों के साथ २ वैदिक दर्शनों के भी खएडन की श्रावश्यकता हुई हो श्रीर जड़वाद के खान में श्रदैत चैतन्यवाद खापन करना श्रावश्यक सममा हो। यहाँ वैदिक दर्शनों विशेषकर सांख्य श्रीर योग के द्वैत सिद्धान्त को संत्रेप से बतलाकर उसकी श्रद्धर के श्रदैत सिद्धान्त से सामान्यरूप से तुलना दिखला रेना पाठकों की जान कारी के लिये उचित प्रतीत होता है:—

संख्य योग का द्वेत सिद्धान्त:—चेतन श्रीर जड़ दो श्रनादि तत्त्व हैं। चेतन तत्त्व (पुरुष) श्रपरिणामी, निष्किय, निर्विकार, ज्ञान स्वरूप क्रूटस्थ नित्य है। जड़ तत्त्व (मुलप्रकृति) त्रिगुणास्मक सिक्तय श्रीर परिणामी नित्य है। चेतन तत्त्व की सिन्निधि से जड़ तत्त्व में एक प्रकार का ज्ञान नियम श्रीर व्यवस्था पूर्वक विरूप श्र्यांत् विषम परिणाम हो रहा है। सत्त्व में क्रिया मात्र रज श्रीर उस क्रिया को रोकने मात्र तम का सब से पहिला विषम परिणाम महत्तत्त्व कहलाता है। यही महत्तत्त्व सत्त्व की विश्वद्धता से श्रपने

समाष्ट्र रूप में विश्वाद सत्त्वमय चित्त कहलाता है जिसमें समाप्टि श्रहंकार बीज रूप से रहता है। यह ईश्वर का चित्त है और श्रपने व्यष्टि रूप में सत्त्वचित्त कहलाते हैं जो संख्या में श्चनन्त हैं जिनमें व्यष्टि श्रहंकार बीज रूप से रहते हैं। ये जीवों के चित्त हैं। चेतन तत्त्व में अपने ज्ञान के प्रकाश डालने की और महत्तत्त्व में उस को प्रहण करने की योग्यता अनादि चली श्रारही है। पुरुष से प्रकाशित श्रथवा प्रतिविभिन्नत समृद्धि चित्त समृद्धि श्रास्मिता श्रीर व्यप्ति चित्त व्यप्ति व्यक्ष्मिता कहलाते हैं। पुरुष निष्क्रिय होता हुआ। भी अपने चित्त का दृश है श्रर्थात चित्त में उसके ज्ञान के प्रकाश में जो कुछ भी हो गहा है वह उसे स्वयं ज्ञात रहता है। व्यप्ति चित्त के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व का नाम जीव है जो संख्या में अनन्त श्रीर श्रहपूज हैं श्रीर समृष्टि चित्त के सम्बन्ध से चेतनतत्त्व का नाम ईश्वर श्रपर ब्रह्म, सगरा बहा और शबल बहा है जो एक और सर्वज्ञ है। अपने शुद्ध स्वरूप से चेतन तत्त्व का नाम परमात्मा, निर्माण ब्रह्म, शुद्ध, ब्रह्म श्रीर परब्रह्म है। पुरुष शब्द का प्रयोग जीव र्दश्चर ख़ौर परमात्मा तीनों अर्थों में होता है। दसरा विषम परिणाम छहंकार है अर्थात परुष से प्रकाशित अथवा प्रतिविभियत सहत्तत्त्व ही रज श्रीर तम की अधिकता से विकृत होकर श्रहंकार रूप से व्यक्त भाव में बहिगेख हो रहा है। यह श्रहंकार हा श्रहंभाव से एकत्त्व, बहत्त्व, व्यष्टि और समिटि रूप सर्वे प्रकार की भिन्नता का उत्पन्न करने वाला है। विभाजक श्रहंकार से प्रहण और प्राह्म रूप दो प्रकार के विषम परिणाम हो रहे हैं। अर्थात विभाजक ऋहंकार सत्व में रज और तम की अधिकता से विकृत हो ३ र महरण रूप ग्यारह इन्द्रियाँ (पांच ज्ञान इन्द्रियां पांच कर्म इन्द्रियां ग्यारहवां इनका नियन्ता मन) श्रीर सत्त्व में रजतम की कुछ विशेषता के साथ श्रधिकता से विकृत होकर परस्पर भेद वाली पांच तन्मात्रात्रों में विकृत होकर बहिमेख होरहा है। पांचवां विषम परिगाम पांच स्थूल भूत हैं अर्थात् अहंकार से व्याप्त पांची तन्मात्राएं ही सत्त्व में रज और तम की श्रिधिकता से विकृत होकर पांचों सदम श्रीर स्थल भतों में व्यक्त भाव से बहिर्मेख हो रही हैं। इस प्रकार विहम्खता में महत्तत्त्व की श्रपेक्षा श्रहेकार में, श्रहंकार की श्रपेक्षा ग्यारह इन्द्रियों और पांचों तन्मात्रात्रों में और तन्मात्रात्रों की ऋपेता पांचों सक्ष्म और स्थल भतों में क्रमश रज तथा तम की मात्रा बढ़ती जाती है श्रीर सत्त्व की मात्रा कम होती जाती है यहां तक कि स्थल जगत और स्थल शरीर में रज तम का ही व्यवहार चल रहा है। सत्त्व केवल प्रकाश मात्र ही है श्रीर महत्तत्त्व में प्रकाशित श्रथवा प्रतिविम्बित चेतन तत्त्व भी उपरोक्त राजसी तामसी त्रावरणों में त्राच्छादित होता हुत्रा स्थल शरीर श्रीर भौतिक जगत में केवल भलक मात्र ही दिखलाई दे रहा है। यह सब अवरोह क्रम (Descent) है । इससे उल्टे श्रारोह कम (Ascent) में जितनी श्रन्त भेखता बढती जावेगी उतना ही रज तथा तम का विद्येप आवर्ण हट कर सत्त्व का प्रकाश बढता जावेगा श्रीर उस प्रकाश में चेतन तत्त्व की श्रिधिक स्पष्टता से प्रतीति बढ़ती जावेगी। इस प्रकार अन्त में गुणों के सब से प्रथम विषम परिणाम रूप चित्त की भी सर्व वृत्ति निरोध द्वारा श्रपने कारण में लीन करके शुद्ध चेतन खरूप में श्रवस्थित प्राप्त की जा सकती है।

व्यष्टि चित्तों में जो लेश मात्र तम है उस लेश मात्र तम में बीज रूप से श्रावद्या विद्यमान है। इस श्रावद्या क्लेश से कमशः श्रास्मता, राग, द्वेष, श्राभिनवेश क्लेश और उससे सकाम कमें, सकाम कमों से उन्हीं के श्रानुसार कमोशय के श्रानुसार जन्म श्रायु और भोग तथा उनमें सुख और दुःख उत्पन्न होता है। सम्प्रज्ञात समाथि की चारों भूमियों वितर्क, विचार, श्रानन्द और अस्मिता श्रानुगत में ये सब क्लेश तनु श्रार्थात् शिथिल होजाते हैं और उसकी उचतम श्रावस्था विवेक स्थाति में सत्त्व की विशुद्धता से सारे क्लेश श्राप्ती जननी श्रविद्या सिहत दग्ध बीज तुत्य हो जाते हैं। श्राव वही तम श्राप्त श्रावस्था के श्राप्त श्राप्त से सहायक होता है। सर्व वृत्ति को स्थिर रखने में सहायक होता है। सर्व वृत्ति निराध रूप श्राप्त कारण्) चित के श्रपने कारण् में लीन होने के साथ दग्ध बीज रूप श्रविद्या होरा का भी लय हो जाता है। तब द्रष्टा की शुद्ध परमात्म स्वरूप में श्रवस्थित होती है।

शंकर के निर्विशेष श्रद्धैत सिद्धान्त श्रीर सांख्य योग के द्वैत सिद्धान्त में तुलनाः —

वैदिक दर्शनकारों ने जहां चेतन तत्त्व को निमित्त कारण श्रौर जड़ तत्त्व को इस जगत का उपादान कारण बतलाया है वहां शंकर ने चेतन तत्त्व को ही जगत का अभिन्न निमित्त उपादान कारण माना है। शहर ने ब्रह्म सत्र के भाष्य में एक स्थान पर सांख्य के इस श्राह्मेप को कि चेतन तस्व से जड़ तस्व कैसे उत्पन्न हो सकता है (श्रर्थात् चेतन तस्व जड तन्त्र का उपादान कारण नहीं हो सकता) इस प्रकार निवारण किया है कि उसे तुम्हारे श्रव्यक्त मूल प्रकृति से व्यक्त महत्तत्त्व श्रहंकारादि उत्पन्न होते हैं वैसे ही चेतन तत्त्व से जड़ तत्त्व उत्पन्न हो सकता है । किन्तु सांख्य योग का जड़ तत्त्व मल प्रकृति त्रिगुए।त्मक है। सत्व में रज श्रीर तम जितना बढता जाता है उतनी ही स्थलता श्रीर जितना रज श्रीर तम कम होता जाता है उतनी ही सक्ष्मता बढती जाती है। स्थलता के कम को व्यक्त होना और सक्ष्मता के कम को अव्यक्त होना कहते हैं । इसलिये सारा सक्ष्म और स्थल श्रर्थात् श्रज्यका श्रीर ज्यक्त संसार तीनों गुणों का ही परिणाम है। किन्त एक अपरिएामी निर्विकार कृटस्थ नित्य ब्रह्म में इन नाना प्रकार के विकारों और परिगामों का होना कैसे सम्भव हो सकता है। इसलिये शंकर को भी जगत के उपादान कारण त्रिगुरणात्मक प्रकृति के स्थान में ब्रह्म के साथ एक अनादि तत्त्व माया अधान श्रविद्या का मानना श्रनिवार्थ्य हो गया, जिस के द्वारा ब्रह्म खर्य श्रपरिगामी श्रीर निर्वि-कार रहता हुआ भी इस सारे संसार की रचना कर सकता है । जैसा कि शंकर भाव्य उपसंहार दर्शन श्रधिकरण सूत्र २४ में बतलाया है :-

श्रद्धेतं तत्वतो ब्रह्म तचाऽविद्या सहायवत्। नाना कार्यकरं कार्यक्रमोऽविद्यास्य शक्तिभिः॥

(ब्रह्म॰ स॰ अ॰ २ पा॰ १ अधि॰ ८ शांकर भाव्य)

श्रर्थ:- "यद्यपि परमार्थतः ब्रह्म एक ही है, तथापि वह श्रविद्या की सहायता से अनेक विचित्र कार्यों को उत्पन्न कर सकता है। श्रीर श्रविद्या की शक्तियों से कार्य-क्रम की व्यवस्था हो सकती है।" इस माया अर्थात अविद्या की अलग सत्ता मानने में अद्वैत सिद्धान्त खिएडत होता था और असन् मानने में इसके अन्तर्गत सारा संसार अति स्पृति श्रीर खबं श्रपना श्रद्धेत सिद्धान्त श्रसत श्रीर मिध्या सिद्ध होता था इसलिय इसको श्रनिर्वचनीय नाम दिया गया जिसको न सत कह सकते हैं श्रीर न श्रसत् । इस प्रकार शक्रर की त्रिगुणात्मक माया अर्थात अविद्या सांख्य की त्रिगुणात्मक प्रकृति है । अनिर्व-चनीय अथवा सत् और असत् दोनों से विलवण कह देना केवल शब्दों का ही रूपान्तर है। रोनों सिद्धान्तों का इससे परे होकर श्रपने शद्ध चेतन स्वरूप में श्रविधत होना श्रन्तिम ध्येय है। एक श्रीर मुख्य भेद इन दोनों सिद्धान्तों में यह है कि जहाँ सांख्य चेतन तत्त्व की सन्निधि से त्रिगुणात्मक जड तत्त्व में खाभाविक ज्ञान नियम श्रीर ब्यवस्था पर्वक क्रिया का होना इस संसार की रचना का कारण बतलाता है वहां शंकर को बद्धा की स्वतन्त्रता स्वेच्छाचारिता श्रोर महिमा दिखलाने के लिये यह मानना पड़ा कि ब्रह्म श्रपनी इच्छा से श्रीर श्रपनी महिमा दिखलाने के लिये शोबदेबाज मदारी के सहश श्रपनी श्रनादि माया श्रर्थात श्रविद्या से इस जगत की रचना करता है। इसमें नाना प्रकार के दोष श्राते हैं जिनका यक्ति द्वारा सन्तोष जनक उत्तर नहीं मिल सकता श्रर्थान: - (१) ब्रह्म को क्यों ऐसे जगत् केरचने की इच्छा होती है जिसमें दुःखही दुःख है और फिर स्वयं ही उससे मुक्ति पान के लिये श्रांत स्मृति द्वारा उपदेश दिलवाता है। (२) यदि यह कहा जाय कि जगन श्रीर उसके अन्तर्गत सुख दु:ख सब मिथ्या और भ्रम रूप ही हैं केवल एक ज्ञान खरूप बहा ही सत्य है तो बहा ने इस भ्रम को क्यों फैताया श्रीर निर्भान्त ब्रह्म में भ्रम कैसा ? (३) श्रविद्या से ब्रह्म जगत की रचना करना है और अविद्या ब्रह्म से अभिन्न है फिर अविद्या और जगत से छटकार। कैसे सम्भव हा सकता है ? (४) ब्रह्म की शक्ति रूप अविद्या से जगन की उत्पति है इस-लिये विद्या श्रर्थात ज्ञान द्वारा ही इससे मुक्ति हो सकती है; किन्तु श्रविद्या के श्रन्तर्गत होने के कारण सारे साधन श्रुति और समृति भी अविद्या रूप ही होंगे। विद्या और ज्ञान ब्रह्म से बाहिर कहां से लाया जा सकता है (५) सर्वेज्ञ ज्ञान स्वरूप ब्रह्म की शक्ति माया श्रर्थाम् श्रविद्या न होनी चाहिये। प्रत्युत निर्धान्त विद्या और सत्य ज्ञान होना चाहिये। (६) और यदि उसमें संसार के रचने की इच्छा भी हो तो वह निर्धान्त विद्या और सत्य ज्ञान के साथ हो न कि माया श्रौर श्रविद्या के साथ। (७) मदारी पैसा कमाने श्रथवा श्रपने से बड़े श्रादमियों को खुश करने के प्रयोजन से शोबदे और तमाशे दिखलाता है। आप्त काम ब्रह्म को इस माया जाल फैलाने में क्या प्रयाजन है (८) यदि अपनी महिमा और प्रभुता दिखलाने के लिये, तो यह किसको दिखलाना ? जब कि एक ब्रह्म के सिवा दूसरा कोई है ही नहीं (९) यदि आपनी प्रभुता श्रीर महिमा दिखलाने के लिये जीवों को उत्त्यन्न करता है तो इस प्रकार की महिमा भौर प्रभुता दिखलाने की श्रभिलाषा होना ही महिमा श्रौर प्रभुता के श्रभाव को सिद्ध करता

है (१०) यदि बिना किसी अपने विशेष प्रयोजन के ब्रह्म द्वारा संसार की रचना केवल जीवों के कल्यागा अर्थात् भोग और अपवर्ग के लिये खाभाविक मानी जावे तो यह सांख्य और योग का ही सिद्धान्त आ गया।

इस प्रकार जहां द्वैतवादी सांख्य योग सारे दोषों विकारों और परिणामों आदि को त्रिगुणात्मक प्रकृति में डालकर ब्रह्म का अद्वैत, निर्दोष, निर्विकार अपरिणामी, निष्काम, निष्किय, कूटस्थ, नित्य, शुद्ध ज्ञान स्वरूप सिद्ध करता है और उस शुद्ध ज्ञानस्वरूप में अविश्वित अपना अन्तिम ध्येय ठहराता है वहां यह निर्विशेष अद्वैतवाद इन सारे दोषों का ब्रद्ध में आरोप करके ब्रह्म को सदोष, विकारी, परिणामी, सिक्रय, सकाम और अपनी महिमा दिखलाने और प्रतिष्ठा पाने का अभिलाषी, प्रसवधर्मी, अज्ञान, अविद्या और अम युक्त सिद्ध करता है। किन्तु यद्यपि यह निर्विशेष अद्वैत सिद्धान्त व्यवहार दशा में इस प्रकार दोषपुक्त और युक्ति हीन है, तथापि यह भावना कि यह सारा द्रष्टव्य संसार मिथ्या अविद्या और अमरूप है केवल एक ब्रह्म ही सत्य है साथकों को साधन रूप से शुद्ध चेतन स्वरूप में अवश्वित आप्ता कराने में रोचक और सहायक प्रतीत होता है। इसीलिय बहुत से महात्माओं ने इस सिद्धान्त को अपनाया है और अपना रहे हैं। इसलिये सांख्य योग के द्वैत वाद सौर शंकर के निर्विशेष अदैत वाद में अनिस्म लक्ष्य की प्राप्ति में कोई वास्त्विक अम्तर नहीं है।

२ ब्रह्म सूत्र के भाष्यकार श्री० रामानुजाचार्य्य का विशिष्टाद्वेत सिद्धान्त:---

शंकर से लगभग २५० वर्ष पश्चात् (जन्म विक्रम सं० १०७३ तद् नुसार ई० सन्० १०१६) श्री रामानुजाचार्य्य ने विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय चलाया। इनका ब्रह्म सूत्र पर भाष्य 'श्री भाष्य' कहलाता है। प्रसिद्ध है कि ब्रह्म सूत्र पर एक श्रांत प्राचीन च्याख्या 'धृत्ति' अथवा 'कृतकोटि', नाम से बौधायन ऋषि की बनाई हुई थी किन्तु वह लुप्त हो चुकी थी, उसको टंक इमिई, गुहदेव श्रादि पूर्व श्राचार्यों ने संचेष किया था उसके श्राधार पर श्री रामानुजन्श्राचार्य्य अपने श्री भाष्य को लिखा जाना श्रपने वेदार्थ संग्रह में बतलाते हैं 'भगवान् बौधायन की विस्तीर्ण वृत्ति का जो पूर्व श्राचार्थ्यों ने संचेष किया है उनके मत श्रनुसार सूत्रों का व्याख्यान किया जाता है"।

श्री स्वामी रामानुजाचार्य्य का विशि शहैत सिद्धान्त—इस सम्प्रदाय का मत है कि शंकराचार्य्य का माया मिथ्यात्ववाद श्रीर श्रहैत सिद्धान्त दोनों मूठे हैं। चित अर्थात् जीव श्रीर श्रचित श्र्यात् विश्व श्रीर श्रचित श्र्यात् तीव श्रीर श्रचित श्र्यात् तिक जात् और श्रचित श्र्यात् तिक जात् और श्रव ये तीनों यद्यपि भिन्न हैं तथापि चित श्र्यात् जीव श्रीर श्रचित श्र्यात् जड़ जात् ये दोनों एक ही बद्धा के शरीर हैं जैसा कि श्रन्तर्यामी ब्राह्मण् (बृह्व उप० ३। ७) में कहा है कि यह सारा बाह्म जगत् शरीर इत्यादि श्रीर जीवात्मा ब्रह्म का शरीर है और बह्द इनका श्रन्तर्यामी श्रात्मा है। इस प्रकार से विशिष्ट क्य एक ही है। इस प्रकार से विशिष्ट रूप से ब्रह्म को श्रदेत मानने से यह सिद्धान्त विशिष्ट श्रदेत कहलाता है। इस सिद्धान्त के श्रनुसार मोज में जीवात्मा ब्रह्म को प्राप्त होकर ब्रह्म के सद्द्या हो जाता है न कि ब्रह्म रूप। पुरुषोत्तम, नारायण, वासुदेव श्रीर परमेश्वर ब्रह्म के पर्याय वाचक हैं। वपरोक्त सारी

बातों से सिद्ध होता है कि इस सम्प्रदाय में सगुण ब्रह्म श्रर्थात् श्रपर ब्रह्म = शबल ब्रह्म की प्राप्ति ही श्रपना लक्ष्य माना है जो योग की सम्प्रज्ञात समाधि का श्रन्तिम ध्येय हो सकता है।

३ ब्रह्म सूत्र के भाष्यकार श्री मध्याचार्य्य का द्वेत सिद्धान्तः —

श्री रामानुजानार्थ्य के १८२ वर्ष पश्चात् विक्रमी सं० १२५४ तद्नुसार ई० सन् ११९७ में श्रमदानन्द तीर्थ का, जो मध्वाचार्थ्य के नाम से प्रसिद्ध हैं, जन्म हुआ। ८६ वर्ष की अवश्या में विक्रमी सं० १२३५ तद्नुसार ई० सन् १२८६ में इनका शरीर त्याग हुआ। इनका ब्रह्म सूत्र पर भाष्य 'पूर्णश्रह्म भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। यह द्वैत सम्प्रदाय के प्रवतेक हुए हैं। इनका मत है कि ब्रह्म श्रीर जीव को कुछ श्रंशों में एक श्रीर कुछ श्रंशों में भित्र मानना परस्पर विरुद्ध श्रीर श्रह्मस्बद्ध बात है। इस लिये दोनों को सदा ही भित्र मानना चाहिये। क्योंकि इन दोनों में पूर्ण श्रथवा श्रपृष्णे रीति से भी एकता नहीं हो सकर्ता। लक्ष्मी ब्रह्म की शक्ति ब्रह्म के ही श्राधीन रहती है किन्तु उससे भित्र है।

श्चार्त्य समाज के प्रवर्तक श्री खामी दयान दजी महाराज का सिद्धान्त भी द्वैत वाद कहलाता है किन्तु इन दोनों में अन्तर यह है कि जहाँ श्री मध्वाचार्य्यजी ने अधिकतर परागों का आश्रय लिया है वहाँ श्री० स्वामी दयानन्दजी ने वेदों उपनिषदों वैदिक दर्शनों स्त्रीर प्रामाणिक स्मृतियों का उसके साथ समन्त्रय दिखलाया है। श्री खामी दयानन का द्वैत बाद सब वैदिक दर्शनों के समन्वय के साथ सांख्य योग का ही सर्वाश में हैत बाद है किन्त लेखक का यह व्यक्तिगत खतन्त्र विचार है कि:--उन्होंने चैतन्य तत्त्व का शद्ध खरूप श्रथात परबड़ा को न दिखला कर केवल ईश्वर जीव और प्रकृति का ही वर्एन किया है जो इस सृष्टि की सारी बाह्य रचना में पाय जा रहे हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार पुनरावर्तनी रूप अपर ब्रह्म की प्राप्ति ही मुक्ति की सीमा हो सकती है जो योग की सम्प्रज्ञात समाधि का अन्तिम ध्येय हो सकता है 🖟 किन्तु स्वामीजी का योग साधन पर पूरा जोर देने श्रीर उसको ही परमात्मा प्राप्ति का साधन बतलाने तथा पात जल योग को योग का मुख्य प्रामाणिक प्रन्थ मानने से योग की अन्तिम सीमा श्रसम्प्रज्ञात समाधि श्रीर उसका श्रन्तिम ध्येय शुद्ध परमात्म स्वरूप में अविश्विति रूप कैवल्य भी आजाता है। स्वामी द्यानन्दजी ने ईश्वर जीव और प्रकृति इन तीनों का जो विशेष रूप से वर्णन किया है इससे सामान्यतया इनका सिद्धान्त जैतवाद समका जाता है। किन्त चेतन तत्त्व का समष्टि ब्रह्मागड के सम्बन्य से ईश्वर नाम है श्रीर व्यक्ति पिराडों के सम्बन्ध से जीव । ये दोनों चेतन तत्त्व के शबल ऋशीत निश्चित रूप हैं इस लिये लेखक के व्यक्तिगत विचार अनुसार खामी दयानन्द का सिद्धान्त द्वेत वाद ही है। म्बामी वयानन्दजी ने शद्ध चेतन तत्त्व आर्थात् परब्रह्म का वर्णन विशेष रूप से इस कारण नहीं किया कि उस समय का जनसमूह उसके समम्तने में श्रयोग्य था श्रीर उनका मुख्य उद्देश्य समाज सुवार श्रीर धर्मरत्ता था। स्वामी दयानन्दजी के समय में हिन्द समाज श्रीर वैदिक धर्म जैसा विकट परिस्थिति में मृत्यु की श्रोर जा रहा था उसका उदाहरण किसी भी पूर्वाचार्र्य के समय में न मिल सकेगा। स्वामी द्यानन्दजी का हिन्दू धर्म श्रीर समाज की निस्न प्रकार की दर्दशा को हटाना मुख्य उद्देश्य था:-

- ?—वैदिक धर्म्म का नाना प्रकार के मतमतान्तर श्रौर सम्प्रदायों में विभक्त होकर परस्पर एक दूसरे का विरोध करना।
- २---एक ईश्वर उपासना के स्थान में न केवल अनेक देवी देवताओं किन्तु भून, भ्रेत, पीर, पैरान्वर, क्रम, मजार, आदि को सांसारिक कामनाओं के लिये पूजना।
- ३— मृर्तिपृजा का दुरुपयोग श्रौर मन्दिर तीर्थ श्रादि पवित्र स्थानों में नाना प्रकार के दुर्व्यवहार।
- ४ गुग कर्म स्वभाव को छोड़ कर जन्म से जात पात की व्यवस्था मानने के कारण ऊंची कहलाने वाली जातियों की प्रमाद के कारण श्रवनित श्रीर नीची कहलाने वाली जातियों की उन्नति के मार्ग में रुकावट इसका परिणाम रूप सारे हिन्दू समाज की श्रधोगित ।
- ५—स्वयं अपने गुए। कर्म और स्वभाव को ऊंचा बनाने की अपेना एक दूसरे को नीचा, छोटा, मृठा और अपूर्ण बतलाकर अपने को ऊंचा, बड़ा, सम्रा और पूर्ण सिद्ध करने की आसुरी चेंग। इस प्रकार हिन्दुओं में परस्पर आह भाव, समानता, आदर और सत्कार का अभाव।
- ६— उंचे सवर्ण कहलाने वाले सङ्कीर्ण हृदय मनुष्यों का नीची कहलाने वाली निर्धन जातियों का न केवल धार्मिक सामाजिक श्रीर नागरिक श्रयिव।रों का हररण करना किन्तु उनके प्रति पिशाचवत् श्रत्याचार करके उनको दूसरे मजहबों के जाल में फंसने के लिये मजबूर करना।
- ७—बाल विवाह, युद्ध विवाह आदि नाना प्रकार की कुरीतियां। क्रियों को झूदा बतला कर उनको जन्म-सिद्ध धार्मिक अधिकारों से विञ्चत रखना, विधव।श्रों के साथ अन्याय पूर्वक दुर्व्यवहार।
- ८— हिन्दुओं के सामाजिक धार्मिक राष्ट्रीय, नागरिक और वैयक्तिक आदि सारे अर्झो में खार्थमय जीवन ।
- ९—सार्वभौम वैदिक धर्म को मूर्खता और श्रज्ञानता से संकीर्ए करके न केवल श्रन्य मतावलिन्वयों के लिये उसमें अवेश का द्वार बन्द कर देना किन्तु श्रपनी मूठी स्वार्थ सिद्धि के लिये श्रपन वैदिक धर्मी भाइयों को छोटी २ बातों में श्रपने से पृथक् करके विधर्मियों के जाल में फंसने में सहायक होना ।
- १०—उपरोक्त सारे दोषों से अनुचित लाभ उठाकर दो विदेशीय मजहबां का न केवल विद्याहीन छोटी जात वाले गाँवों, पहाड़ों और जङ्गलों में रहने वाले अनपढ़ हिन्दुओं को किन्तु नीलकएठ जैसे बड़े बड़े अंग्रेजी पढ़े हुए विद्वानों को पौराणिक कथाओं में अग्रुक्ति और दोष दिखता कर अपने मजहब के जाल में फंसाना।
- ११—राष्ट्र का परतन्त्र होना; विदेशी राज के कारण देशभक्ति, प्राचीन सभ्यता और धर्म भाषा के प्रति प्रेम का व्यभाव, दासता के विचार, विदेशी भाषा, संस्कृति और सभ्यता की क्षोर प्रवृत्ति इत्यादि २।

४ - ब्रह्म सूत्र के भाष्यकार श्री बल्लभाचार्य्य का शुद्धाद्वीत सिद्धान्त

श्री० बहुभाचार्य्य का जन्म १५३६ विक्रमी सम्वत् तदनुसार १४७९ सन् ई० में हुआ। इनका बद्ध सूत्र पर भाष्य "अणुभाष्य" कहलाता है। उनका मत निर्विशेष अद्वैत, विशिष्ट अद्वैत श्रीर हैत तीनों सिद्धान्तों से भिन्न है। यह शंकराचार्य के समान इस बात को नहीं मानते कि जी। श्रीर बद्धा एक हैं श्रीर न मायात्मक जगत् को मिथ्या मानते हैं बल्कि माया को ईश्वर की इच्छा से विभक्त हुई एक शिक्त बत्ततों हैं। माया आधीन जीव को बिना ईश्वर की इप्ण के मोन्नझान नहीं होसकता इसलिये मोन्न का मुख्य साधन ईश्वर भक्ति है। माया रहित श्रुद्ध जीव श्रीर पर ब्रह्म (श्रुद्ध ब्रह्म) एक वस्तु ही है दो नहीं हैं। इसलिये इस को श्रुद्ध श्रद्ध जीव सम्वदाय कहते हैं। इस श्रद्ध में यह सिद्धान्त सांख्य योग के सदश है किन्तु पीराण्यिक रंग में इसकी दाशनिकता छिप गई है।

५--- ब्रह्म सुत्र के भाष्यकार श्री निम्बार्काचार्य्य का द्वेत श्रद्धेत सिद्धान्तः---

श्री निम्बार्काचार्य्य लगभग १२९९ विक० सं० तद्तुसार ११६२ सन् ई० में हुए हैं। इन्होंने ''वेदान्त पारिजात'' नाम से बन्ना सूत्र पर भाष्य लिखा है। जीव, जगत् श्रीर ईश्वर के सम्बन्ध में इनका मत है कि यद्यपि ये तीनों परस्पर भिन्न हैं तथापि जीव श्रीर जगत् का व्यवहार तथा श्रीतत्त्व ईश्वर की इन्छा पर श्रावलियत है खतन्त्र नहीं है और ईश्वर में ही जीव श्रीर जगत् के सूक्ष्म तत्त्व रहते हैं। विशिष्ट श्रीत से श्रालग करने के लिये इस का नाम द्वैत श्रीत सम्प्रदाय रखा गया है।

ऊपरोक्त सम्प्रदाय शंकर के मायावाद को खीकृत न करके ही उत्तवन हुए हैं और झान की ऋपेज्ञा भक्ति प्रधान हैं। वैष्णुव सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिये जहां खा० शंकराचार्य्य का भाष्य उपनिषदों पर निर्भर है वहां इन सम्प्रदायों के भाष्य में पुराणों और विशेष कर विष्णु पुराण् को ऋधिक उद्भुत किया गया है।

ब्रह्म सूत्र पर विज्ञान भिक्षु का भाष्य नए ढंग का 'विज्ञान।मृत' नाम से है जिसमें श्रुतिः स्मृति श्रीर दर्शनों की एक तात्पर्य्य में संगति दिखलाई गई है किन्तु वह किसी भी साम्प्रदायिक रूप में नहीं है।

ब्रह्म सूत्रों में अन्य वैदिक दर्शनों का लएडन नहीं है

बहा सूत्रों में किसी वैदिक दर्शन का खएडन नहीं है बहिक श्री व्यासजी ने तो जिन सिद्धान्तों में श्रन्य विद्वानों का उनसे मत भेद था उनको भी श्रादर पूर्वक दिखलाया है, किन्तु साम्प्रदायिक शाचार्यों ने जहां सूत्रों के शब्दों से श्रपने सम्प्रदाय के पन्न में श्रीर श्रपने से भिन्न सम्प्रदाय के पन्न में श्रीर श्रपने से भिन्न सम्प्रदाय के पन्न में श्रीर श्रपने से भिन्न सम्प्रदायों के विपन्न में श्रथ निकालने में खेंचातानी की है वहां प्राचीन वत्त्ववेता ऋषियों के दर्शनों को भी जो वेदों के उपाङ्ग रूप हैं दृषित ठहराने में पूरा जोर लगाया है। इसी कारण क्रणाद मुनि प्रणीत वैरोषिक श्रीर कपिल मुनि के सांख्य का ब्रह्म सूत्रों में खएडन होने का भ्रम हुश्चा है।

जन्माद्यस्य यतः (म० सू० १।१।२) के अर्थ जो तैत्तिरीय उपनिषद् के "यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्य भिसंविद्यन्ति, तद्विजिज्ञासस्य तद ब्रह्म" के प्रतीक में है, तीन प्रकार से हो सकते हैं। १. जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का अभिन्न उपादान निमित्त कारण जड़ तत्त्व (सांख्य की प्रकृति, वैशेषिक के परमाणु अथवा चार्वाक के चार भूत) हैं। २. जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का अभिन्न निमित्त उपादान कारण चेतन तत्त्व है। ३. जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का निमित्त कारण चेतनतत्त्व अर्थान् आरमसत्ता और उपादान कारण जड़तत्त्व (प्रकृति अथवा परमाणु) अनात्मसत्ता है। इस प्रकार मुख्य तीन वाद अथवा सिद्धान्त हो सकते हैं।

१--जड़ श्रद्धैत वाद (चार्वाक वालों का जड़ वाद)

२-चेतन श्रद्धेत वाद (नबीन वेदान्तियों का श्रद्धेत वाद)

२—चेतन जड़ अर्थात आत्म श्रानात्म द्वेत वाद (वैदिक दर्शनों का द्वेत वाद) सिद्धान्त रूप में तो यह द्वेत वाद है किन्तु ज्यवहार दशा में त्रेत वाद होजाता है स्पर्धान्

(१) ईश्वर (सगरा ब्रह्म = शवल ब्रह्म = श्वपर ब्रह्म) जो ब्रह्मार्ड श्रधीत समष्टि रुपेरा जड़ तत्त्व के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व ऋर्थात् परमात्म सत्ता का नाम है। (२) जीव जो पिएड अर्थात व्यष्टि रूपेगा जड तत्व के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व अर्थात आत्मसत्ता का नाम है और (३), प्रकृति (जड तत्त्व) जो श्रनात्मसत्ता है। श्रीर केवल कैवल्य श्रवाधा में ही जब हुए। की शद्ध चैतन्य (परमात्मा = पर ब्रह्म = निगुर्ण ब्रह्म = श्रद्ध ब्रह्म) स्वरूप में श्रवस्थिति होती है तब उस कैवल्य प्राप्त किये हुए जीव की ऋपेजा से ऋहैत कहा जासकता है। न कि सांसा-रिक जीवों की ऋषेता से । यह द्वैतवाद सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक चारों दर्जनों का सिद्धान्त है। दु:ख निवृति के उद्देश्य से इन प्राचीन दर्शनकारों ने खोज की है। दु:ख प्रतीति श्रीर उसकी निवृति का प्रयत्न चेतन तत्त्व (श्रात्मसत्ता) के श्रस्तित्व को सिद्ध करता है। इसलिये पहिला जड़ श्रद्धैत वाद दूषित ठहरता है। यदि दु:ख चेतन तत्त्व (श्राहरसत्ता) का ही धर्म होता तो उसकी प्रतीति न होती श्रीर यदि दु:ख की प्रतीति भी श्रात्मा का धर्म्म माना जावे तो दुःख और उस की प्रतीति दोनों चेतन तत्त्व (श्राहमसत्ता) का स्वाभाविक गण होने से उस की त्रिकाल में भी निवृति असम्भव होती। इस लिये दूसरा सिद्धान्त चैतन चार में इनको सन्तुष्ट न कर सका । इस लिये यह तत्त्व वेत्ता ऋषि इसी परिगाम पर पहुँचे हैं कि एक तो चेतन तत्त्व (श्रात्मसत्ता) है जो हमारा वास्तविक स्वरूप है श्रीर इससे भिन्न एक कोई दूसरा जड़ तत्त्व (श्रनात्म सत्ता) है, जिसके खाभाविक धर्म दु:साहि हैं. जिनके हटाने का प्रयत्न किया जाता है। इसके श्रतिरिक्त सिद्धान्त सं०१ तथा सं०२ के पक्त में न तो कोई श्रुति मिलती है न युक्ति श्रीर न संसार में कोई उदाहरण परन्त सिखान्त संव 3 को सारी श्रुतियां, स्मृतियां, युक्ति श्रीर उदाहरण सिद्ध करते हैं।

शङ्काः —जैसे सुवर्ण के आर्पण नाना प्रकार की आकृति रखते हुए भी सुवर्ण रूप ही हैं, जैसे तरङ्गें, बुल्बुलें, नदी, तालाब आदि सब जल रूप ही हैं वैसे ही सारा जगत् केवल एक अदितीय बद्धा रूप ही है। समाधान:—ये उदाहरण तो द्वैत सिद्धान्त की ही पुष्टि करते हैं, क्योंकि सुवर्ण के आभृषणों के आकारों में एक दूसरा तत्त्व आकाश, जल के तरङ्ग बुल्बुले आदि में वायु और नदी तालाब आदि में पृथिवी भेदक है।

शंकाः--'पयोर्णनामिः सुजते गृह्णते .च तथात्तरात् सम्भवतीह विश्वम् ॥

मु०१। ख०१। मं०७।

श्रर्थ:—जिस प्रकार चेतन मकड़ी जड़ तन्तुश्रों की श्रमित्र निमित्त उपादान कारण है इसी प्रकार चेतन ब्रह्म इस जड़ जगत् का श्रमित्र निमित्त उपादान कारण है। " इससे चेतन श्रद्धैत वाद सिद्ध होता है।

समाधान:—यह श्रुति द्वेत सिद्धान्त को ही सिद्ध करती है। श्रर्थात् जिस प्रकार जब् तन्तु की उत्पत्ति का चेतन मकड़ी निमित कारण है श्रीर उसके मुंह का जड़ लेप उपादान कारण है, इसी प्रकार जड़ जगत् का उपादान कारण त्रिगुर्णात्मक जड़ प्रकृति है श्रीर निमित्त कारण चेतन ब्रह्म है।

इसलिय सब दर्शनकारों का सिद्धान्त जड़ चेतन हैंत वाद है। जड़ तत्त्व (श्रनात्मसत्ता) को चेतन तत्त्व (श्रात्म सत्ता) से भिन्न करने के उद्देश्य से जड़ तत्त्व के श्रवान्तर भेद करण, माप श्रीर वर्णन शैली में भेद होने के कारण बाह्य दृष्टि रखने वालों को इनमें परस्पर भेद होने का भ्रम होता है।

दार्शनिक दृष्टिकोण् से जानना श्रपने से भिन्न वस्तु जड़ तत्त्व (श्रमात्मसत्ता) का ही हो सकता है। श्रपने को श्रर्थान् चेतन तत्त्व (परमात्म सत्ता) श्रर्थान् पर मझ को जानने का शब्द प्रयोग करना श्रयुक्त है। यथा "विज्ञातारमरे केन विज्ञानीयन्" सब के जानने वाले विज्ञाता को किस से जाना जा सकता है। श्र्यान् किसी से भी नहीं जाना जा सकता है। थेने इंसवे विजानाति ते केन विज्ञानीयान्"।। इह० ६१४। जिस से यह सब जाना जाता है उसको किससे जानें ? सम्प्राज्ञात समाधि की सारी भूभियां वितर्क, विचार, श्रामन्द, श्रास्मता श्रीर विवेकख्याति में श्रिगुण्यात्मक प्रकृति के ही सारे कार्यों को सान्नान् करते हुए इनसे श्रासक्ति हटा कर विरक्त होना होता है। श्रसम्प्रज्ञात समाधि में कुछ जानना शेष न रहने पर केवल शुद्ध चैतन्यस्तरूप (परमात्म चपत्रक्र) में स्वरूप श्रविधित होती हैं। इसी प्रकार जहां जहां परमात्मा श्रयवा परहृत्व के जानने का वर्णन श्राया है जैसे "श्रास्मा वा श्ररे द्रष्टच्यः श्रोतच्यो मन्तःयो निद्धिया सित्वयः।" वहां श्रनास्म ज्ञय पदार्थों को (चाहे उन्हें प्रकृति कहा चाहे माया चाहे श्रविद्या श्रोर चाहे श्रम) जानकर "नितिनेति" द्वारा पृथक् करते हुए श्रन्त में सारे ज्ञेय पदार्थों की समाप्ति पर शेष जानने योग्य कुछ न रहने पर शुद्ध परमात्म स्रवरूप में ही श्रविधित होती है। यथा:—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसासह।

बुद्धिश्व न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ (कड६। १०)

क्रर्थ:--- अब पांचों ज्ञान इन्द्रियां मन के साथ रुक जाती हैं श्रीर बुद्धि भी चेष्टा रहित हो आती है उसको परम गति श्रर्थान् परमात्म स्वरूप में श्रवस्थिति कहते हैं। इसलिये इन तत्त्ववेत्ता प्राचीन दर्शनकारों का ऋतम्यरा प्रक्षा द्वारा साज्ञात्कार पर-प्रत्यज्ञ है, जो शब्द और अनुमान का बीज है अर्थात् जिसके आश्रय शब्द और अनुमान होते हैं।

"श्रतानुमान प्रज्ञाभ्यामन्य विषया विशेषार्थत्वात्" । बो॰ द॰ १ । ४९,

शब्द और अनुमान की प्रज्ञा से ऋतम्भराप्रज्ञा का विषय अलग है विशेष रूप से अथं का सालात्कार कराने से। केवल शब्द और अनुमान का आश्रय लेने वाले आचाय्यों और उनके आधार पर पाश्चात्य विद्वानों ने उन के वालविक सार को न समक्ष कर इन प्राचीन दर्शन कारों के कहीं सनीश्वर वादी और कहीं बहु ईश्वर वादी होने का धोका खायाहै।

अब उत्तर मीमांसा के जिन सूत्रों में अन्य दर्शनों के खराडन होने का भ्रम हुआ है

उनका स्पष्टीकरण किया जाता है।

ईस्तेर्नाशब्दम् । (ब्रह्मः स्०अ० १ । पा० । १ । ५)

शब्द अर्थ:—(ईचते:)ईच्छा से (अशब्दम्) शब्द प्रमाण रहित (न) नहीं है। अर्थात् ब्रह्म को जगत् की उत्पत्ति आदि में निमित्त कारण मानना शब्द प्रमाण रहित नहीं है क्योंकि उसमें यह शब्द प्रमाण है। ''तदैच्चत वहस्यां प्रजायेयेति''। उसने ईच्चण किया मैं बहुत होऊं प्रजा वाला होऊं।

वि० व०:—कई साम्प्रदायिक भाष्यकारों ने 'श्रशब्दम्' के श्रर्थ प्रमाण रहित प्रकृति लगाकर कर सांख्य दर्शन का खएडन किया है जो सर्वथा श्रनुचित श्रीर श्रन्यायपूर्ण है क्योंकि सांख्य की त्रिगुर्णात्मक प्रकृति श्रनेक धृतियों श्रीर स्पृतियों से प्रमाणित है यथा:—

''मार्था तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्''। (क्षेता०४ । १०)

श्रथ:-- प्रकृति को माया जानो श्रीर महेश्वर को माया वाला"।

''श्र नामेकां लोहित गुक्र कृष्णां वहवीः प्रजाः स्रजमानां सरूपाम्''।(श्वेता ०४।५)

अथं: - एक अजा (अनादि प्रकृति) है जो लाल श्वेत और काली (रजस्, सत्त्व और तमस इन तीन गुणोंबाली) है वह अपने समानरूपवाली (तीन गुणों वाली) बहुत-सी प्रजाओं को उत्त्वन्न कर रही है।

"महतः प्रमध्यक्तमञ्यकात् पुरुषः परः" (कड० १ । ११)
श्रर्थः — महत्तत्व से परे अञ्चक्त (मूल प्रकृति) और अञ्चक्त से परे पुरुष (ब्रद्ध) है।
तिम्न वेद मन्त्रों में कितनी उत्तम रीति से प्रकृति का वर्णन किया गया है:—
द्वा सुपर्णा सयुना सखाया समानं वृत्तं परिषस्वजाते।
तयो रन्यः पिष्पत्तं स्वादृत्यनश्रक्षन्यो अभिचाकशीति॥ ६॥
समाने वृत्ते पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोखति सुस्नमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यपीशमस्य महिमान मिति वीतशोकः॥ ७॥
(क्वेता० व्यव क्ष्म्याय ४)

डित्तर मीमांसा

अर्थ:— (पुरूष और पुरुष विशेष अर्थान् जीव और ईश्वर रूप) दो पत्ती जो साथ रहने वाले और मित्र हैं, वे दोनों एक ही त्रिगुराहमक प्रकृति रूप वृत्त को आलिंगन किये हुए हैं। उन दोनों में से एक जीवरूपी पत्ती (जन्म आयु और भोग रूपी सुख दुःख) स्वाद वाले फल को खाता है और दूसरा ईश्वर रूपी पत्ती फल न खाता हुआ केवल साची रूप से रहता है।। ह।। उसी प्रकृति रूप वृत्त पर जीवरूपी पत्ती आसक होकर असमर्थता से धोग्या खाता हुआ शोक करता है (किन्तु) अत्र योग युक्त होकर अपने दूसरे साथी ईश और उसकी महिमा को देखता है तब शोक से पार हो जाता है।

इस प्रकृति रूप वृत्त की पृथ्वी में छियी हुई जड़ 'अव्यक्त मूल प्रकृति' है और दिखलाई देने वाला वृत्त का आधार तना 'व्यक्त महत्तव' है, तने में अंकुर ''अहंकार'' है, शाखें 'तन्मा-त्रायें हैं पतली शाखें सूक्ष्म मृत और उनसे पतली शाखें पत्तों सहित सोलह विकृतियां हैं, फल जन्म, आयु और भोग हैं। उसका स्वाद सुख और दुःख है। जीव रूपी पत्ती का असमर्थता से धोखा खाना कमशः अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेप और अभिनिवेश हुंश, उनसे सकाम कर्म, सकाम कर्म से कमीशय, कर्माशय से जन्म, आयु और भोग के लिये स्थूल शरीर रूपी अनन्त अस्थिर पत्तों में वृमना है। योगयुक्त होकर जीव रूपी पत्ती का ईश रूपी पत्ती और उसकी महिमा को देखना ईश्वर प्रिण्धान (योग द्शेन सना० पा० सू० २३, मा० पा० सू० १, ३२) है।

"मकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्नाण वर्षशः, । (गाता ३ । २०)

श्रर्थ:-सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुर्णो द्वारा किये हुए हैं।

'मयाऽध्यक्षेण मकृति: स्रयते सचराचरम्' ।(गोता॰ । ९ । ९०)

श्रर्थ:—हे कौन्तेय मेरी (ईश्वर की) श्रध्यक्षता के रहते हुये प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है।

'मक्रत्यैव च कर्माण क्रियमाणानि सर्वशः'॥

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ (गीता १३ । २९)

अर्थ:—जो पुरुष समस्त कर्मी को सब प्रकार से प्रकृति से ही किये हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्त्ता देखता है वही तत्त्वज्ञानी है।

सत्त्वं रनस्तम इति गुणाः पकृतिसम्भवाः ।

निवध्नन्ति महावाहो देहे देहिनमञ्ययम् ॥ (गीता० १४। ५)

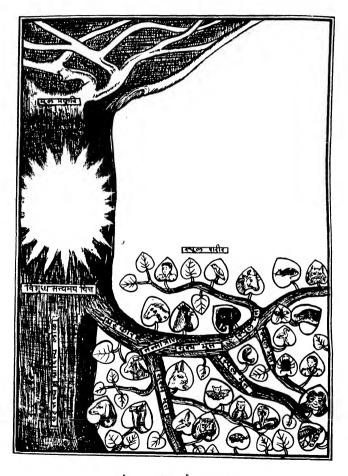
अर्थ:—हे महावाहो सत्त्व रज और तम ये प्रकृति से उत्पन्न हुए तीनों गुगा अवि-नाशी आत्माको (अविवेक से) शरीर मं बान्धते हैं।

मकृति पुरुषं चैव विद्ययनादी सभावि ।

विकारांश्र गुणांश्रेव विद्धि प्रकृति संभवान् ॥ १३ । १९

अर्थ:--प्रकृति और पुरुष इन दोनों को ही तू अनादि जान और विकारों को तथा त्रिगुरणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से उत्पन्न हुए जान।

पड्दर्शन समन्वय प्रष्ठ ३६



हासुपर्णा सयुजा मंत्रों के अर्थ का चौतक चित्र

जब स्वयं व्यासजी महाराज श्रपने स्वरचित गीता में इस प्रकार प्रकृति का स्पष्टरूप से वर्णन कर रहे हैं तो इन्हीं के सूत्रों में 'श्रशब्दम्' के श्रयं 'प्रमाण रहित' प्रकृति निकालना कितना घोर पत्तपात और श्रत्याचार हैं। यह पाठक स्वयं समय्सकते हैं।

श्रुति और स्मृति द्वारा तो सांख्य श्रीर योग ही प्राचीन वेदान्त श्रीर ब्रह्म प्राप्ति का साधन सिद्ध होता है। यथा:—

'तत्कारणं सांख्य योगधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै:।

(श्रेता०६। १६)

त्रर्थ:—उस देव को जो जगत् की उत्पत्ति श्रादि का निमित्त कारण है श्रीर जो सांख्य योग द्वारा ही जाना जा सकता है जानकर मनुष्य सारे फांसों से छूट जाता है।

लोकेऽस्मिन्द्विधानिष्ठा पुरा मोक्ता मयानथ । ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्म योगेन योगिनाम् ॥ (गोता २ । ३)

श्रर्थः — हे निष्पाप श्रर्जुनः इस मनुष्य लोक में भैंने पुरातन काल में (कपिल सुनि श्रीर हिरएयगर्भे रूप से) दो निष्ठाएं बतलाई है। (कपिल सुनि द्वारा बतलाई हुई) सांख्य योग की निष्ठा ज्ञान योग से होती है श्रीर (हिरएयगर्भ रूप से बतलाई हुई) योगियों की निष्ठा निष्काम कर्भयोग से ।

सांख्यस्यवक्ता कविताः परमर्षि स उच्यते ।

हिरएयगर्भी योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ॥ (म॰ मा॰)

खर्थ: - सांख्य के वत्ता परमर्षि कपिल हैं और योग के वक्ता हिरस्यगभे हैं इन से पुरातन इनका वक्ता और कोई नहीं है।

इस प्रकार श्री० व्यासजी महाराज ने स्वरचित गीता श्रीर महाभारत में कपिल ऋषि के सांख्य को महिमा बतलाई है। न केवल कपिल मुनि का सांख्य श्रीर उसकी प्रकृति ही श्रुतियों श्रीर स्मृतियों से प्रमाणित है किन्तु कपिल मुनि को ऋषियों में सर्वोच्च श्रीर श्रेष्ठ ख़ान दिया गया है। यथा:—

'ऋषिः प्रस्तं कपिलं यस्तमध्रे झानै विंमर्ति'। (श्येता०) श्रर्थः—जो पहिले उत्त्पन्न हुए कपिल मुनि को झान से भर देता है।

'सिद्धानां किपलो मुनिः' (गीता॰ १०। २६) सिद्धों में में किपल्ल मुनि हूँ। श्री गोड़ पादाचर्यजी ने भी सांख्य के २५ तत्त्वों के ज्ञान द्वारा मुक्ति का होना बत-लाया है। यथा:—

पञ्चविंशति तत्त्वक्षो यत्र तत्राश्रमे वसेत् । जवी मुख्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥

अर्थ:—जिसको (सांख्य में बतलाये हुये) २५ तत्त्वों का झान हो गया है वह चाहे

किसी श्राश्रम में स्थित हो, चाहे वह गृहस्थ हो चाहे सन्यासी हो, वह श्रवश्य मुक्त हो जाता है, इसमें संशय नहीं है ।

उपरोक्त प्रमाणों से पूर्णतया सिद्ध होता है कि श्री० व्यासजी का 'श्रशब्दव्' से

प्रकृति को प्रमाण रहित सिद्ध करना अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता।

'अहान्द्रम्' को 'अन्यक' मूल प्रकृति अथवा मायावादियों की 'अनिवेचनीय' माया का पर्याय वाचक मान लेने पर भी (यद्यपि श्री० व्यासजी को मायावाद का सिद्धान्त ... , किसी सूत्र में भी अभिमत नहीं है) सांख्य के साथ समन्वर में ही सूत्र के अर्थ होते हैं न कि निराकारण (खगडन) में ॥ अर्थात् सांख्य की अब्यक्त मूल प्रकृति अथवा माया वादियों की श्रुनिर्वचनीय माया जगन् की उत्त्पत्ति श्रादि का निमित्त कारण नहीं हो सकती।वह केवल उपादान कारण हो सकती है। क्योंकि 'तदेक्षत यहस्यां प्रजायेयेति'। द्वारा चेतन ब्रह्म ही जगत् की उत्त्पत्ति त्र्यादि का निमित्त कारण हो सकता है।

इसी घ्यध्याय के चौथे पार के सूत्रों के ऋर्थ भी इन त्र्याचार्थ्यों ने प्रकृति के श्रप्रमा-िएक सिद्ध करने और सांख्य के निराकरण में निकालने का यत्र किया है। इस लिये इनका

भी संदोप से स्पटीकरण कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

भ्रानुमानिकमप्येकेपामितिचेन्न शरीर रूपक विन्यस्त गृहीतेर्दर्शयति च ।

(ब्रह्म॰ सु॰ १।४।१)

श्चर्ध:—(एकेषाप्) कई शाखाव।लों की शाखांत्रों में (श्रतुमानिकम्) श्रागम श्रौर श्चनुमान गम्य स्वतन्त्र प्रकृति का भी वर्णन पाया जाता है । यथा:—"महतः परम व्यक्तम ब्यक्तात् पुरुषः परः''। श्रर्थः - महत्तत्त्व से परे श्रन्थक्त (मृल प्रकृति) है श्रीर उससे परे पुरुष है। (इति चेत्) यदि ऐसा कहां ते। (न) यह ठीक नहीं है क्योंकि (शरीर रूपक विन्यस्त गृहीते:) शरीर के तौर पर रूपक से बतलाई हुई का प्रहण होने से अर्थात् जिस प्रकार शरीर श्रात्मा के श्रधीन है इसी प्रकार प्रकृति को ब्रह्म के श्रधीन बतलाया गया है। (दर्शयित च) श्रीर श्रति वाक से भी एसा ही पाया जाता है।

यथाः— 'भ्रात्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथेमवत् ।

म्रर्थः—त्रात्मा को रथ का स्वामी जाने श्रीर शरीर को रथ।

वि० व० योगियों को केवल तीनों गुर्णों के प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व तक ही समाधि द्वारा सानात्कार हो सकता है उससे उसके कारण आगम गम्य गुणों की साम्य श्रवस्था ''मूलप्रकृति'' का श्रतुमान किया जाता है। इसलिये गुणों की साम्य श्रवस्था मूल प्रकृति को श्रागम श्रीर श्रनुमान गम्य कहा जाता है।

सृत्तमंतुतदई च्वात्। (बशः० सः० १।४।२)

पदाथे:—(तु) किन्तु (तत्), वह प्रकृति इसी स्थल जगत् का (सूक्ष्मं) सूक्ष्मत्तत्त्व है (श्रहत्त्वोत्) योग्य होने से अर्थात् सृष्टि का सूक्ष्म तत्त्व ही अन्यक्त शब्द के योग्य है जिस प्रकर यृत्त अपने बीज में अञ्यक्त रूप से स्थित रहता है इसी प्रकार यह सृष्टि अपने बीज सक्स तत्त्व में श्रव्यक्त रूप से स्थित रहती है।

'तदधीनत्वादथर्वत' (बक्ष॰ स्॰ १।४।३)

श्रर्थ: - (तदधीनस्वात्) उपरोक्त प्रकृति का ईश्वर के श्रधीन होने से श्रीर जगत् की उत्पत्ति श्रादि में ईश्वर के सहायक होने से श्रर्थवत्, सार्थक श्रर्थात् प्रशेजन वाला होना सिद्ध होता है। प्रकृति का मुख्य प्रयोजन पुरुष का भोग श्रीर श्रपवर्ग है। यथा:—

'मकाश क्रिया स्थिति शीलं भूतोन्द्रियात्मकं भोगापवगार्थे दृश्यम्'

(यो॰ द॰ २, १८)

ऋर्थ:---प्रकाश क्रिया श्रौर स्थिति जिसका स्वभाव है भूत श्रौर इन्द्रिय जिसका स्वरूप है भोग श्रौर श्रपवर्ग जिसका प्रयोजन है वह दृश्य है।

'ह्रोयत्वावचनाच्च' (१।४।४ वस० स्०)

अर्थः—(ज्ञेयरत्ववचनात्) ज्ञेयता के न कहे जाने से मी प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है, ब्रह्माधीन ही है। अर्थात् पुरुष का श्रान्तिम ध्यये प्रकृति की प्राप्ति नहीं बल्कि ब्रह्म की प्राप्ति बतलाई गई है।

(च) इसलिये भी प्रकृति ईश्वर के आधीन ही सिद्ध होती है, न कि उससे स्वतन्त्र ।

वदतीतिचेन माझोहि मकरणात् । (वहार सूर १।४।५)

र्क्यः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो कि (वदति) श्रुति श्रव्यक्त मूल प्रकृति को भी क्षेय बतलाती है । यथाः—

''श्रशब्दमस्पर्शेमरूपमन्पयं तथाऽरसं नित्यमगन्धवश्चयत् ॥ ''श्रनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचायतं मृत्यु मुखान्ममुरूयते ॥''

(881 \$ 1 5 0 54

अर्थ:—वह जो शब्द स्पश, रूप रस गन्ध से शून्य अध्यय है तित्य है अनादि अनन्त है महत्तत्त्व से परे हैं अटल है उस को जानकर पुरुष मृत्यु के मुख से छूट जाता है" (न) तो यह ठीक नहीं है। (हि) क्योंकि (प्रकरणात्) प्रकरण से यहां (प्राज्ञः) चेतन है अर्थात् यहां चेतन ब्रह्म का प्रकरण ऊपर से चला आ रहा है न कि जड़ प्रकृति का

''त्रयाणामेव चैवग्रुपन्यासः प्रश्नश्च । (व्रवः स्॰। १ । ४ । ६)

ऋथे: - (च) और (एवं) इस प्रकार (त्रयाणाम्) तीन पदार्थी हा (एवं) ही (उपन्यास:) का वर्णन उत्तर (च) और (प्रश्तः) प्रश्त भी है। इसलिये यहां अञ्यक्त मूल प्रकृति का प्रसंग से वर्णन है न कि मुख्यतया क्षेय होने से।

त्रधीत् मृत्यु श्रौर निवकेता के सम्वाद में निवकेता के तीन ही प्रश्न हैं। श्रीम, जीवात्मा श्रौर परमात्मा उन के नीन ही उत्तर हैं। तीसरे परमात्मा विषयक प्रश्न का यह उत्तर है जो "श्रशब्दमस्पर्शम्" इत्यादि वचन में दिया गया है। प्रधान श्रथवा प्रकृति विषयक क न तो प्रश्न है श्रौर न ही उत्तर। इसलिय इस वचन में प्रधान वा प्रकृति के कारणवाद की शंका नहीं होसकती।

'भइट्रच्च । (प्रहा॰ स्॰ १।४।७)

श्रर्थः—(महद्वत्) महत् राध्य के समान (च) भी। श्रर्थात् जैसे महत् राध्य महत्तत्त्व का वाचक है परन्तु "महान्तांविभुमान्मानम्"। (इट॰ २।२२) में श्राया हुश्रा महत् राध्य महत्तत्त्व का वाचक नहीं है इसी प्रकार श्राव्यक्त श्रादि पद भी श्रपने प्रकरण में प्रकृति वाचक हैं परमात्मा के प्रकरण में उनको प्रकृति वाचक मान कर श्रर्थ करना ठीक नहीं है।

"चमसवद विशेषात"। (बहर्गा ४।८)

श्रर्थ:--(श्रविशेषात) विशेष के न कहने से (चमसवत्) चमस के समान।

जैसे चमस नाम चमसे का है और इह० १।२।३ में चमस का लक्ष्ण इस प्रकार किया है। "अर्वाग्विक्ठण चमस ऊर्ध्ववुष्तः" अर्थात् जिसमें नीचे बिल हो और उपर बुध्न पैन्दा हो वह चमस कहाता है। चमस के इस लक्ष्ण से जहां पर्वत की गुहा में अथवा अन्यत्र कहीं नीचे बिल और उपर बुध्न व्यर्थात् पैन्दा होता उसका चमस नहीं कह सकते इसी प्रकार अञ्चल का अर्थ इन्द्रियातीत होने से मृल भक्कति को अञ्चल कहते हैं। किन्तु परमास्म प्रकरण में आए हुए ऐसे शब्दों से मृल प्रकृति का प्रहण नहीं किया जा सकता। प्रकरणानुसार परमास्मा के ही अर्थ हो सकते हैं।

ज्योतिरुपक्रमा तुतथा हाथीयत एके ॥ (बहार स्र १ । ४ । ६)॥

अर्थः—(जयोति रुपक्रमा) आरम्भ जिसका ज्योति है (तु) निश्चय करके (एके) कई श्राचार्त्य (तथाहि) वैसा ही (अर्धायते) पाठ करते हैं ।

श्रजामेकां लोहित शुक्तल कृष्णां बह्वीः प्रजाः सृज्यानां सरूपाः ।

श्रजोहोको जुपमामो नुशेते नहान्येनां भुर भोगामजोन्यः ॥ (भेता ०४। ५)

यहां जीवात्मा ईश्वर श्रीर प्रकृति तीनों को श्रज = श्रजन्मा श्रर्थात् श्रनादि कहा है। तो क्या कहीं श्रन विशेषण से जीवात्मा के प्रकरण में ईश्वर का तथा ईश्वर के प्रकरण में प्रकृति का प्रहण् कोई कर सकता है ? नहीं क्योंकि कई श्राचार्यों ने श्रपने पाठ में क्योंति से उपक्रम श्रथात् श्रारम्भ करके स्पष्ट पढ़ा है जैसे कि छ,न्देग्य ६। ४। १ में तंज, श्रप श्रीर श्रप्न का खहुत स्पट्ट करने को कहा है कि

'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तइ रूपं, यच्छुक्नं तद्दपां, यत्कृष्णं तदमस्य'।

श्रश्री: - श्रप्ति की लपट में लाल रंग तेजस् तत्त्व का, श्रेत श्रप् तत्त्व का श्रीर काला श्रन्न का रूप है। इसी को सत्त्व, रज, तम का शुक्र, रक्त, कृष्णरूप मोन कर त्रिगुणास्मक प्रकृति का वर्णन 'श्रजांमेकां लोहित' इत्यादि वाक्य में हो जाता है। श्रजा शब्द के प्रयोग मात्र से प्रकृति को स्वतन्त्र जगत् का कारण नहीं माना जासकता।

कम्पनोपदेशाच्च मध्वादिवद्विगोधः । (ब्रह्म०स्०१।४।१०) मर्थः—(कल्पनोपदेशात्) कल्पना पूर्वक उपदेश होने से (च) भी (मध्वादिवत्) मधु आदि किल्पत उपदेश के समान (अविरोध:) विरोध नहीं है। अर्थात् इन तीनों के विषय में 'अजा' शब्द न आकृति निमिक्तक है न यौगिक है किन्तु कल्पना से यह उपदेश है। अर्थात् तेज, जल, अन्न (रज, सत्त्व, तम्) रूप प्रकृति को अजा कल्पना किया गया है। अपैत कोई बकरी लोहित शुक्त कृष्णा हो और अपने जैसी बहुत सी सन्तान वाली हो, कोई अज (बकरा) इसके भोग में आसक्त नहों कोई भोग रहा हो। इस प्रकार की वह है। यह ऐसी कल्पना है जैसे खुन्दोन्य ३। १ में आदित्य को जो मिठाई नहीं है मधु (शह्द) कल्पना किया है। तथा इहु ५। ८ में वाणी को जो गी नहीं है धेनु रूपक में कहा है

न संख्योपसंग्रहाद्पि नाना भावाद्तिरेकाच्च ॥ (महा॰ स्॰ ११४।११)

श्रर्थ:—(नाना भावात्) श्रनेक होने से (च) श्रोर (श्रितिरेकात्) वच रहने के कारण (संख्योपसंप्रहात्) संख्या के साथ कथन करने से (श्रिपि) भी (न) नहीं कह सकते [कि प्रकृति स्वतन्त्र कत्ती है]

जिस परमात्मारूप श्राथार में प्रकृति रहती है उसी श्राधार में कहीं एक प्रकृति के बदले श्रन्य पांच संख्या बाले पदार्था की भी स्थिति कही गई है। इससे एक प्रकृति के बदले पांच संख्या के उपसंप्रह से विरोध श्रावगा। इसका उत्तर यह है कि यह विरोध नहीं है क्योंकि (नाना भावात्) एक प्रकृति के श्रनेक हो जाने से श्रनेक कथन करना विरूद्ध नहीं है तथा पांच संख्या मी श्रदल नहीं है।

यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशञ्च प्रतिष्ठितः।

तमेव पन्य आत्मानं विद्वानब्रह्माऽमृतोऽमृतम् ॥ वृहवा० ४। ४। १७

अर्थः — जिस में पांच पंञ्चजन और आकाश ठैरा हुआ है उसी को मैं आत्मा, ब्रह्म अपृत मानता हैं, उस को जान कर में अपृत हुआ हुं

इसमें पश्चजन शब्द से पांच मनुष्य नहीं लेना है किन्तु व्याले सूत्र में बतलाएंगे कि प्राग्त, चक्षु, श्रोत्र, ब्रात्र ब्यौर मन इन पांच की यहां षचजन कहा है। परन्तु पश्च पश्चजन कहने से भी आधेय रूप से ५ ही पदार्थी को नहीं कहा, किन्तु [ब्यतिरेकात्] आत्मा और आकाश भी पांच के ब्यतिरिक्त पढे हैं तथा एक प्रवृति के नाना रूप होने से एक के पांच कहना भी विरुद्ध नहीं हैं।

संगति:--तो फिर "पश्वजनः" से क्या श्रमिप्रेत है ? उत्तर

प्राणादयो वात्र्यशेषात् । (बद्ध ॰ सू॰ १।४।११)

त्रार्थ:—(प्रार्णादय:) पांच पश्चजन यहां प्रार्णादि पांच हैं। (वाक्यरोषात्) क्योंकि वाक्य रोष में उनका महर्ण है। 'यस्मिन् पश्च पश्चजनाः' से उत्तर वाक्य में ब्रह्म का स्वरूप निरूपण करने के लिये प्रार्णादि पांच कहे हैं।

"पाणस्यपाणम् त चतुषरचतुष्ठत श्रोत्रस्यश्रोत्रमझस्यामं मनसो ये मनो विदुः" इस्यः ४। ४। १८ द्यर्थः.-'जो प्राण् के प्राण्, नेत्र के नेत्र, श्रोत्र के श्रोत्र, श्रन्न के श्रन्न और मनके मनको जानते हैं, इस वाक्य शेष से १. प्राण्. २. चक्षु ३. श्रोत्र ४. श्रन्न ५. मन. इन पांच का नाम प्रविक्त वाक्य में पंच्वजन है।

सङ्गति:--यदि यह कहो कि जिन के पाठ में श्रन की गणना नहीं हैं। उनके पाठ में

पञ्जजन किससे पूरे होंगे ? तो इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं।

क्योतिषैकेषामसत्यके ॥ (बन्नः स्॰ १।४। १३)

ऋर्थः—(एकेपाम्) कई शाखाऋों के (ऋन्ने) अन्न,पद (असिति) न होने पर (ज्योतिषा) ज्योति पद से पांच की संख्या पूरी की जाती है।

श्रर्थात् 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादि पूर्वोक्त माध्यन्दिन पाठ में तो प्राणादि पांच पढ़े हैं। पर 'प्राणस्य प्राणमृत चक्षुपश्चक्षुरुत श्रेश्वरूय श्रोत्रं मनसोये मनोविदुः' बृहबा० ॥॥१८। इस कारव पाठ में श्रन्न नहीं पढ़ा है। इनकी पांच संख्या ''ज्योतिषां ज्योतिः'' ॥।॥१६ इस पूर्व ऋोक में पठित ज्योति से पूरी करनी चाहिये।

इन सांप्रदायिक भाष्यों में दूसरे ऋष्याय के प्रथम दो पादों के लगभग सभी सूत्रों के ऋर्य सांख्य, योग और वैशेषिक के खएडन में लगाये गये हैं। जो वास्तव में उनके साथ समन्त्रय में हैं। इस बात को दर्शाने के उदेश्य से यहां दूसरे पाद के प्रथम दश सूत्रों को उनके पदार्थ सिहत उद्भृत कर देना पड् दर्शन समन्वय के इस छोटे से प्रकरण के लिए स्थाली पुलाक न्याय से पर्याप्त होगा।

रचनानुपपत्तेश्व नानुपानम्॥ (ब॰ स॰ २।१।१)॥

पदच्छेदः — रचनानुपपत्तेः, च, न, अनुमानम्,

पटार्थ:—(च) पहले पादमें शन्द प्रमाण से सिडकर आये हैं कि जड़ प्रकृति जगत का निमित्त कारण नहीं हो सकती वह केवल उपादान कारण है, निमित्त कारण चेतन ब्रह्म हैं और श्रव उसी बात को यहां गुक्ति से सिद्ध करते हैं। (रचनानुपपत्ते:) वर्षमान सृष्टिकी सुगुक्तिक रचना के श्रसिद्ध होने से (श्रतुमानम्) श्रागम और श्रतुमान सिद्ध प्रकृति (न) श्रचेतन होने से जगत् का निमित्त कारण नहीं होसकती। वह केवल उपादान कारण है। जगत का निमित्त कारण चेतन होने से केवल ब्रह्म ही हो सकता है।

पद्रतेश्व ॥ (ब॰ स्॰ २।२।२)॥

पटच्छेट:--- प्रवृत्तः, च

पदार्थ:—(च) श्रीर (प्रष्टुत्तेः) श्रप्रवृत्त जड़ प्रकृति विना किसी चेतन निमित्त कारण के स्वयं प्रवृत्त भी नहीं होसकती।

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि । (ब॰ स्॰ २।२।३)

पद्रब्लेदः-पयोम्युवत्, चेत, तत्र, अपि,

पदार्थ:—(चेत्) यदि यह कहा जावे कि (पयोम्बुधत्) दूध ऋौर जल के सदृश

जड़ प्रकृति की स्वतः प्रशृति होती है तो (तत्र, श्रिप) वहां भी जड़ प्रशृति गाय और बछड़े श्रादि चेतन के श्राधीन ही होती हैं।

व्यतिरेकानवस्थितेश्वानपेत्तत्वात् ॥ (म॰ स्॰ २ । २ । ४) ॥ पदेच्छेदः—व्यतिरेकानवस्थितेः, च. अनपेत्तत्वात

पदार्थः — (व्यतिरंकानवस्थितेः) प्रकृति के प्रथक भाव से व्यवस्थित न होने से (च) त्रीर (त्रानपेक्तवात्) व्यपेका रहित होने से भी प्रकृति नहीं किन्तु ब्रह्म ही जगत का निमित्त कारण होसकता है ।

अम्यत्राभावाच न तृणादिवत् ॥ (व॰ स्०२।२।५)॥

पदच्छेदः - भन्यत्रभावात्, च, न, तृशादिवत्,

पदार्थ:—(त्रणादिवत) जिस प्रकार गी के पेट में जाकर जड़ त्रणादि स्वभाव से ही दूध बन जाते हैं इसी प्रकार जड़ प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति होसकती है ? उत्तर—(न) नहीं हो सकती क्योंकि (अन्यत्र अभावात्) गी से अतिरिक्त बैल आदि के पेट में त्रणादि दुध नहीं बनते हैं । इसलिए इस प्रवृत्ति का निमित्त कारण चेतृन गो है ।

अभ्युपगमेऽप्यर्थभावात् ॥ (व॰ स्॰ २। २। १)॥

पद्च्छेदः-अभ्युपगमे अपि, अर्थाभावात्।

पदार्थ:—(ऋभ्युपरामे, ऋपि) यदि प्रकृति में विना किसी चेतन के खतः प्रवृत्ति मान भी ली जाय तो भी (ऋथीभावात्) सृष्टि बनाने में जड़ प्रकृति का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता।

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ (व॰ स्॰ रारा७)

पदच्छेदः — पुरुषाश्ववत्, इति, चेत्, तथापि ।

पदार्थ: - (पुरुपाश्मवत्) जिस प्रकार अन्धा किसी से पूछकर मार्ग चल सकता है वा लोहे में चुम्बक की समीपतासे गित आजाती है उसी प्रकार अचेतन प्रकृति स्वतः जगत को रच सकती है (इतिचेत्) यदि ऐसा मानो (तथापि) तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि जैसे अन्धे को मार्ग दिखलाने वाले और लोहे को चुम्बक की अपेत्ता होती है, इसी प्रकार जड़ प्रकृति को प्रवृत्त कराने में किसी चेतन की अपेत्ता होगी।

श्रक्तित्वानुपपत्तेश्र ॥ (व० स्०२।२।८)

मदच्छेदः—श्रङ्गित्वानुपपत्तेः, च।

पहार्थ--(च) और (अङ्गित्वानुपपत्ते:) प्रकृति के तीन गुण सत्त्व, रजस् और तमस् जङ्ग होने के कारण विना किसी चेतन के खयं अङ्ग और अङ्गी भाव से प्रकृत्त नहीं हो सकते इसलिए उनमें इस जोभ का निमित्त कारण चेतन ब्रह्म ही हो सकता है।

भन्यथानुमिनौ च इशिक्ति वियोगात् ॥ (त-। स्-। २। २। २) ॥ पदच्छेदः — भन्यथा, अनुमितौ, च इशिक्त वियोगात्

पदार्थः—(अन्यथा) अन्यप्रकारसे (अनुमितौ) अनुमान करने में (च) भी (क्ष शक्तिवयोगात्) चेतन शक्ति के वियोग होने से । यदि प्रकृति के तीनों गुणों का स्वभाव अन्यथा अर्थात् कभी संयोग और कभी वियोग भी अनुमान कर लिया जावे तो भी उनके क्षान रहित होने के कारण विना किसी चेतन के उनमें ज्ञान पूर्वक क्रिया न हो सकेगी, इस लिए चेतन ब्रग्न ही जगत् की उत्पत्ति आदि में निमित्त कारण है ।

विमतिषेधाचासमञ्जसम् ॥ (ब॰ स्॰ २।२।१०)॥

पदच्छेदः — विनितिषेशात्, च, श्रासमञ्जसम् ।

पदार्थ:—(विश्रतिषेधात्) परस्पर विरोध से (च) भी (श्रसमश्वसम्) श्रानिय-मिकता होती है ।

विना चेतन ब्रह्म के श्रस्तित्व को माने हुए तीनों गुर्गों के परस्पर विरुद्ध उत्पादन श्रौर नाझन धर्म मान लेने से भी श्रनियमिकता होती हैं।

इसी प्रकार ग्यारह से सजह तक सात सृज वैशेषिक के साथ समन्वय में हैं न कि श्री कणाद मुनि को नास्तिक सिद्ध करके उनके दरीन के निराकरण में । इस पाद के अन्त के चार स्त्रों में सांख्य और वैशेषिक का सेश्वर मानकर भी इन भाष्यकारों हारा इन दर्शनों को दृषित ठहराने का प्रयत्न किया गया है। जिसका मृलस्त्रों में नाम निशान भी नहीं है। असस्त्र २। १। १ में यांग शब्द देखकर कई साम्प्रदायक आचाय्यों ने इस सृज का अर्थ योग के निराकरण में लगाने का यत्न किया है। इस आन्ति को मिटाने के लिये दूसरे अध्याय के पहिले पद के प्रथम तीन सृजों को उनके सरल और स्पष्ट अर्थ सहित उद्धृत कर देना आवश्यक है।

''स्मृत्यनवकाश दोष मसंग इति चेन्नान्य स्मृत्यनवकाश दोष मसंगात्॥''

श्रर्थः—(चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जाय कि (स्मृत्यनवकाशदोष प्रसंगः) स्मृति के अनवकाश रूपदोष श्रर्थात् असङ्गति का प्रसंग होगा तो (न) नहीं क्योंकि (अन्यस्मृत्यनवकाश रूपदोष श्रर्थात् अस्य स्मृतियों के अनवकाश रूप दोष का प्रसंग होगा। यहां सूत्र के पूर्वार्थ में यह शंका उठाई गई है कि यदि ब्रह्म को निमित्त कारण माना जावे और प्रकृति को उसके आधीन उपादान कारण, तो किसी २ स्मृति में जो केवल प्रकृति को स्वतन्त्र उपादान कारण, माना है उन स्मृतियों का अनवकाश रूप दोष होगा। यथाः—

इत्येष प्रकृति कृतो महदादिविशेष भूत पर्यन्तः।

मित पुरुष विमोत्तार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भ: ॥ (सांख्य कारिका ५६) ॥ अर्थः—इस प्रकार यह प्रकृति से किया हुआ महत्तत्व से लेकर विशेष अर्थात् स्थूल भृतों तक का आरम्भ प्रत्येक पुरुष के मोत्त के लिये स्वार्थ की तरह परार्थ है ।

अञ्चक्ताद्वय्क्तयः सर्वाः मभवन्त्यहरागमे । राज्यागमे मजीयन्ते तत्रैवाच्यक्तः संज्ञके ॥ (गीता ८०१८)॥ अर्थ:—सम्पूर्ण विश्वमात्र भूतगण् ब्रह्मा के दिन के प्रवेश काल में अञ्चल (मूल प्रकृति) से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेश काल में उस अञ्चल नामक मूल प्रकृति में ही लय होते हैं।

पकृतेः क्रियामाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः (गीता ३। २७)॥

अर्थ: - (वास्तव में) सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किये हुये हैं।

सूत्र के उत्तरार्ध में इस शंका का यह समाधान किया गया है कि यदि इन स्पृतियों के अनवकाश दोष का डर है तो श्रन्य स्पृतियों में जहां ब्रह्म को निमित्त कारण श्रीर प्रकृति को तदाधीन उपादान कारण बतलाया गया है उन को भी तो श्रनवकाश दोष की प्राप्ति होगी।

यथा:---

"निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः पवर्तते ।

सत्तामात्रेण देवेन तथा चार्य जगडजनः ॥'' (सां प्रवस्त माण्य ९७)॥

अर्थ:—जैसे विना इच्छा वाले चुम्बक के स्थित रहने मात्र में लोहा गतिशील होता है वैसे ही सत्ता मात्र ब्रह्म से जगत् की उत्त्पति आदि होती है।

"मयाध्यन्तेण पकृतिः स्यते सचराचरम्।

हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते[?] ॥ (मीता ९। १०)॥

त्रर्थ: — हे ऋर्जुन ! मेरी (ब्रह्म की) ऋध्यत्तता में प्रकृति चराचर सिहत सब जगत् को रचती है। इस हेतु से ही यह संसार रूप चक्र घूमता है।

"इतरेषाश्चानुपत्तब्धेः ॥" (।ब्रह्म० सू० २ । १ । २) ॥

पदार्थ:—(च) श्रौर (इतरेषाम्) श्रन्थों के (श्रनुपलच्धेः) न पाए जाने से। श्रिथात् कई वेद विरुद्ध चार्वाक श्रादि स्पृति को छोड़कर श्रन्थ स्पृतियों के श्रनबकाश का दोष पाया भी नहीं जाता जैसा कि पहिले सूत्र में सांख्य श्रौर गीता दोनों स्पृतियों में स्पृष्ट रूप से दिखला दिया गया है। इसिलिये प्रश्रुति उपादान कारण श्रौर ब्रह्म निमित्त कारण इत दोनों की ही व्यवस्था ठीक है।

'एतेन योगः पत्युक्तः' ॥ (ब्रह्म॰ स्॰ रे। १। १) n

पदार्थ: - (एतन) इस कथन से (योग:) संयोग के (प्रस्युक्त:) प्रतिवाद का खगड़न होगया स्त्रर्थात् जैसे बिना ब्रह्म के खतन्त्ररूपेण केवल प्रकृति जगत् का कारण नहीं बन सकती इसी प्रकार बिना ब्रह्म के केवल संयोग खतन्त्ररूपेण जगत् का कारण नहीं बन सकता। इसी बात को श्वेताश्वतर उपनिषद् में दर्शाया है।

"कालः स्वभावो नियतियेष्टच्छा भूतानि योनिः पुश्च इति चिन्त्यम्। संयोग एषां नानात्मभावादारमाध्यनीशाः सुख दुःख हेतोः" ॥(वनेताः ११२) श्रर्थः—क्या काल, वा स्वभाव वा नियति (होनी) वा यहच्छा (इतिकाक़) वा स्थूलभूत कारण हैं श्रथवा जीवात्मा कारण हैं। यह विचारणीय है। इनका संयोग भी कारण नहीं हो सकता क्योंकि वे श्रनात्म (जड़) पदार्थ हैं श्रीर जीवात्मा भी समर्थ नहीं क्योंकि वह स्वयं सुख दुःख में पड़ा है।

''तेष्ट्यानयोगानुगता श्रपश्यन् देवात्मशक्ति स्वग्रुणैर्नगृदाम् । यः कारणानि निस्विज्ञानि तानि काजात्मयुक्तान्यधितष्टरयेकः''॥

श्रर्थ: — उन्होंने ध्यान योग में लगकर उस परमात्मा की निज शक्ति को जो कार्य्यों के श्रन्दर श्चिपी हुई है प्रत्यत्त देखा जो देव श्रकेला काल श्रीर जीवात्मा समेत इन सारे कारणों का श्रिपिष्ठाता है।

जिसयोग को ब्रह्म के साचात्कार का श्रुति स्पष्टरूपमें प्रसंशा के साथ मुख्य साधन बतलाती है उसी योग की ब्रह्मसूत्र द्वारा निराकरण किये जाने की सम्भावना कितनी आक्ष्मर्त्य जनक हैं।

योगशिखोपनिषद्, ऋध्याय एक में बतलाया है— ज्ञानिनष्ठो विरक्तोऽपि धर्मक्को विजितेन्द्रियः। विना देहेऽप्योगेन न मोर्च लभते विधे॥ २४॥

अर्थ-हे विधे ? साधक चाहे ज्ञानितष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ, और जितेन्द्रय क्यों न होने, तौ भी योग विना इस देह से मुक्ति लाभ न कर सकेगा।



तीसरा प्रकरशा

न्याय और वैशेषिक दर्शन

करणाद मुनि प्रवर्तित वैशेषिकदर्शन श्रीर गौतम मुनि प्रवर्तित न्यायदर्शन के सिद्धान्त एक जैसे हैं। न्यायदर्शन एक प्रकार से वैशेषिक सिद्धान्त की ही विस्टत ब्याख्या है, या यों कहिये कि इन दोनों दशेनों में एक ही फिलासफी है जिसका पूर्वाङ्ग वैशेषिक है श्रीर

उत्तराङ्ग न्याय ।

इस दोनों दर्शन कारों का ठीक २ समय निश्चय करना श्रांति कठिन है, किन्तु यह सिद्ध है कि ये दोनों भगवान किपल श्रीर पत जिल सुनि के पीछे हुए हैं क्योंकि इन्होंने श्रातीन्त्रिय पदार्थों के वास्तविक स्वरूप जानने के लिये योग का ही सहारा लिया है। श्रीर स्यास तथा जैमिनि से पूर्वकाल में हुए हैं क्योंकि ब्रह्म सूत्र में उनके सिद्धान्तों का वर्णन श्राया है। इन दोनों में कणाद गौतम से पहले हुए हैं। क्योंकि वैशेषिक दर्शन न्याय दर्शन की श्रपेता श्रिषक प्राचीन समय का है।

वैशेषिक दर्शन

नामकरण्—इस दर्शन का नाम वैशेषिक, काणाद तथा श्रौॡक्य है। विशेष नामक पदार्थ की विशिष्ट करुपना करने के कारण इस को वैशेषिक संज्ञा प्राप्त हुई है। श्रौर क्रणाद तथा उनके पिता उल्कुक ऋषि के नाम पर इसे काणाद श्रौर श्रौॡक्य कहते हैं। काणाद का कहीं २ काश्यप श्रर्थात् कश्यप मुनि का पुत्र श्रथवा कश्यप गोत्र वाला नाम भी मिलता है।

वैशेषिक सूत्रों की संख्या ३७० है जो १० अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में दो आिहक हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम आिहक में द्रव्य, गुरूप, तथा कर्म के लक्ष्ण तथा बिभाग का और दूसरे में 'सामान्य' का, दूसरे तथा तीसरे अध्याय में नव द्रव्यां का, चौथे अध्याय के प्रथम आिहक में परमाणु वाद का तथा दितीय में अनित्य द्रव्य विभाग का, पांचवे अध्याय में कर्म का, छटे अध्याय में वेद प्रामाएय के विचार के बाद धर्म अधर्म का ७ वें तथा ८ वें अध्याय में कत्त्वप गुरूपों का ९ वें अध्याय में अभाव तथा ज्ञान का धीर १० वें में सुख दु:ख विभेद तथा विविध कारणों का वर्णन किया गया है।

वैशेषिक का व्यर्थ है पदार्थों के भेदों का बोधक। पदार्थ, जो प्रतीति से सिद्ध हो उसे कहते हैं। वैशेषिक दक्षेन में हेय, हेय-हेलु, हान और हानोपाय इस चारों प्रतिपाद्य विक्यों के समफने के लिये छ: पदार्थ-१-द्रव्य, २-गुण, ३-कर्म, ४-सामान्य, ५-विशेष श्रौर ६-समवाय का निरूपण किया है, तथा उनके सामान्य धर्म श्रौर विशेष धर्म के तत्त्व ज्ञान से निःश्रेयस श्रर्थात् मोज बतलाया है।

यथा--

धर्मविशेषमस्ताद् द्रव्यगुणकर्म सामान्य विशेष सम्बायनां - पदार्थानां सार्धम्यवैधम्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्त्रः श्रेयसम् ॥ (वै॰ ११९१४)

ऋथे:—धर्म विशेष से उत्पन्न हुऋा जो द्रव्य, गु.ण, कर्म, सामान्य, विशेष, और समवाय (इतने) पदार्थों का साधर्म्य श्रीर वैधर्म से तत्त्व ज्ञान, उससे मोत्त होती है।

इन पदार्थी में केवल धर्मी तो द्रव्य है, ज्यन्य पांच पदार्थ धर्म हैं। ज्यर्थात् गुण और कर्म, द्रव्य के धर्म हैं; सामान्य और विशेष द्रव्य, गुण और कर्म-तीनों के धर्म हैं; और समवाय पाँचों का धर्म हैं। इन छः में से पहले तीन द्रव्य गुण और कर्म मुख्य पदार्थ हैं क्योंकि इन्हीं से ज्यर्थ किया (प्रयोजन) सिद्ध होती है और यही धर्म अधर्म के निमित्त होते हैं। शेष तीन उप पदार्थ हैं क्योंकि उनसे कोई अर्थ किया सिद्ध नहीं होती वे केवल शब्द व्यवन्हार ही के उपयोगी हैं।

नौ द्रव्य

द्रव्य नौ हैं:--

ृष्णिच्यापस्तेजो वायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि (३० ११५०५) इयथे—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य हें—

१—पृथिवी के कारण रूप निरवयन सूक्ष्म परमाणु नित्य हैं और उनका कार्य्य रूप स्थूल भूमि अनित्य है। पृथिवी में गन्ध, रस, रूप, स्पर्श चार गुण हैं, उनमें से मुख्य गन्ध है।

२—जल की पहुंचान शीत स्पर्श है। उप्ण जल में जो उप्णना प्रतीत होती है वह श्राम्न की है। कारण रूप निरवयन जल के सूक्ष्म परमाणु नित्य हैं श्रीर कार्य रूप साधारण जल श्रानत्य है। जल में रस, रूप श्रार स्पर्श तीन गु.ण हैं; उनमें से मुख्य रस है।

३—श्रमिन की पहचान उष्ण स्पर्श है। जहाँ उष्ण स्वर्श है वहाँ अवस्य किसी न किसी रूप में श्रीम है। कारण रूप निरवयव श्रीम के सुक्ष्म परमाणु नित्य हैं श्रीर कार्य्य रूप साधारण श्रीम श्रीनत्य है। श्रीम में रूप श्रीर स्पर्श दो गुरण हैं; उनमें से रूप मुख्य है।

४—वायु की पहचान एक विलक्षण स्पर्श है। कारण रूप निर्वयव वायु के परमाणु नित्य हैं और कार्य रूप साधारण वायु श्रनित्य हैं।

इन चारों द्रव्यों से तीन प्रकार की वस्तुएं बनी हैं: शरीर, इन्द्रिय और विषय । मनुष्य, पर्यु, पची खादि के शरीर तथा वृत्त खादि पृथिवी के हैं, बागोन्द्रिय पृथिवी की है; शरीर और इन्द्रिय के सिवाय जितनी मिट्टी, पत्थर खादि रूप पृथिवी है, वह सब पार्थिव विषय है । इसी प्रकार जल-मराइलस्थ जीवों के ईारीर जलीय हैं, रसना (रम श्रानुभव करने वाली इन्द्रिय) जलीय है, नदी, समुद्र वर्फ, त्रोले श्रादि जलीय विषय हैं। तेजोमराइलस्थ जीवों का हारीर तैनस है। नेत्रेन्द्रिय तैजस है, श्राप्ति, सूर्य श्रीर जठराग्नि श्रादि तैजस विषयहैं। वायु-मराइलस्थ जीवों का हारीर वायवीय है, त्वचा इन्द्रिय वायवीय है, श्रीर बाहर जो वृत्त श्रादि को कॅपाने वाला वायु है तथा श्रन्दर जो ग्रास् रूप वायु है, यह वायवीय विषय हैं।

५— खाकाश की पहचान शब्द है। जहाँ शब्द है वहाँ खाकाश है। शब्द सर्वत्र है, खतएव खकाश विभु (ब्यापक) है। विभु निरवयव होने से नित्य होता है, खतएव खाकाश नित्य और एक है। खाकाश का शरीर कोई नहीं, पर उसका इन्द्रिय श्रोत्र है; कर्ण-छिद्र के खन्दर का खाकाश श्रोत्र है।

पृथिवीं, जल, तेज, वायु श्रीर श्राकाश ये पाँचों द्रव्य पश्चभूत कहलाते हैं। इनके, कम से, ग्रन्थ, रस, रूप, स्पर्श श्रीर शब्द ये पाँच गुण हैं। ब्राण, रसना, नेत्र, त्वचा श्रीर श्रीत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं जिनके कम से ग्रन्थ, रस, रूप, स्पर्श श्रीर शब्द ये पाँच विषय हैं। ब्राण नासिका के श्रमवर्ती है श्रीर पार्थिव होने से पृथिवी के गुण ग्रन्थ की ही माहक है। रसना जिह्नामवर्ती है श्रीर जलीय होने से जल के गुण रस की ही माहक है। नेत्र काली पुतली के श्रमवर्ती है श्रीर जलीय होने से रूप का ही माहक है। त्वचा सर्व शरीर-गत है श्रीर वायवीय होने से स्पर्श की ही माहक है।

६ काल—'यह उससे आयु में छोटा है, वह इससे आयु में बड़ा है; यह जस्दी हागया है और वह देर से हुआ है' इत्यादि जो विलक्षण प्रतीतियाँ होती हैं, उनका निमित्त काल है। काल सारें कार्यों की (अनित्यों की) उत्पत्ति, स्थिति और विनाश में निमित्त होता है। काल नित्य, विभु और एक है; किन्तु ज्यवहार के लिये पल, घड़ी, दिन, रात, महीना, बरस और युग तथा भूत, भविष्यत् और वत्तेमान आदि उसके अनेक भेद कल्पना से कर लिये जाते हैं।

नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालास्येति।(२ । २ । ६)

अर्थ—ितस्यों में न होने से और ऋतित्यों में होने से कारण में काल संज्ञा है। यहाँ कारण में काल को भी (गना है।

७ दिशा—'यह इससे पूर्वे है, दिल्ला है, पश्चिम है, पूर्वदिल्ला है, दिल्लावश्चिम है, उत्तरपंश्चिम है, उत्तरपूर्वे हैं; नीचे है, ऊपर हैं' श्चादि ये दश प्रतीतियें जिससे होती हैं वह दिशा है।

इतइदमिति यतस्ति इश्यं लिंगम् । (२।२।1०)

अर्थ-'यहाँ से यह, पर है व व्यपर' यह प्रतीति जिससे होती है वह दिशा का लिङ्ग है। सारे कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति ब्यौर विनाश में कालवत् दिशा भी निमित्त होती है। कालवत् दिशा भी विभू है ब्यौर एक है, किन्तु व्यवहार के लिये उसके भी पूर्वादि भेद कर लिये जाते हैं। ८ श्रात्मा—श्राहमा की पहचान चैतन्य (ज्ञान) है। ज्ञान, शरीर का धर्म नहीं हो सकता. क्योंकि शरीर के कारण जो प्रथिवी श्रादि भूत हैं उनमें ज्ञान नहीं। यदि उनमें ज्ञान होता तो उनसे वने हुए घटादि में भी ज्ञान होता। ज्ञान, इन्द्रियों का भी;गुण नहीं है, क्योंकि किसी इन्द्रिय के नट हाजाने पर भी उसके पहले श्रनुभव किये हुए विषय की स्पृति रहती है श्रोर स्पृति उसीको होती है जिसने श्रनुभव किया हो, इसलिये यह श्रनुभव करने वाला इन्द्रियों से भिन्न है। ज्ञान, मन का गुण भी नहीं, क्योंकि मन जानने का साधन है, ज्ञाता नहीं। इसलिय परिशेष से ज्ञान श्राहमा का गुण सिद्ध होता है। इससे श्राहमा का श्रनुमान होता है। इसी प्रकार इच्छा, द्वेष, प्रयन्न, सुख, दुःख भी शरीर से भिन्न श्राहमा का श्रनुमान कराते हैं। हित की प्राप्ति श्रोर श्रहत के परिहार के लिये शरीर की चेष्टा भी इस बात को प्रकट करती है कि रथ में रथ के सारिथ के सटश श्रपने हित-श्रहित को जानकर शरीर को चलाने वाला। शरीर से पृथक उसका श्रिधिशाता श्राहमा है।

त्राकाशवत् त्रात्मा भी विभु (व्यापक) त्रीर नित्य है—

विभवान्पद्वानाकाशस्त्रथा चात्पा।(७।१।२२)

अर्थ-विभु धर्मवान् महान् है त्राकाश, वैसे (ज्ञान खरूप) त्रात्मा है।

९ मन — जिस प्रकार बाह्य रूपादि ज्ञान के साधन नेत्रादि इन्द्रियें हैं उसी प्रकार सुख दु:खादि के ज्ञान का साधन जो इन्द्रिय है वह मन है। मन ऋणु है—

तदभावादणुमनः।(७।१।२३)

श्रर्थ-उसके श्रर्थात् विभुत्व के श्रभाव से मन श्रणु है।

इस प्रकार प्रव्य नौ ही हैं। यद्यपि तम (श्रन्थकार, श्रन्थेरा) काले रङ्ग का श्रौर चलता हुआ प्रतीत होता है, तथांप वस्तुतः वह कोई द्रव्य नहीं। प्रकाश का श्रभाव ही तम है, प्रकाश के न होने से न दीखना ही उसमें कालापन है। यदि वास्तव में उसका कोई अपना रङ्ग होता तो प्रकाश के साथ दीखता। जो चतला हुआ प्रतीत होता है वास्तव में बह श्रन्थेरा नहीं चलता किन्तु प्रकाश के श्रागे श्रागे चलने से श्रन्थेरा चलता हुआ प्रतीत होता है, जैसे पुरुष के चलने से छाया चलती हुई प्रतीत होती है।

चौबीस गुण

गुण २४ हैं: रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सँख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, श्रपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयन्न, धर्म, श्रधर्म और संस्कार।

१ रूप—रूप श्वेत, नीला, पीला व्यादि कई प्रकार का है। यह नेत्र से प्राद्य है; पृथिवी, जल व्योर व्यक्ति में द्वव्यादि का प्रत्यत्त कराने वाला है।

२ रस-रस मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय भेद से छ: प्रकार का है; यह रसनेन्द्रिय से प्राष्ट्र है।

३ गंध—गन्ध सुगन्ध स्त्रीर दुर्गन्ध भेद से दो प्रकार की है, स्त्रीर बास्मेन्द्रिय से प्राह्म है। यह केवल प्रथिवी में रहती है। ४ स्पर्श-स्पर्श तीन प्रकार का है: शीत, उष्ण, अनुष्णाशीत (न ठण्डा न गर्म) यह त्विगिन्द्रिय से पाछा है; और पृथिवी, जल, तेज और वायु में रहता है।

हप, रस, गन्ध और स्पर्श—पृथिवी में ये चारों गुण हैं, जल में गन्थ नहीं रोष

तीनों हैं; अप्रि में रस नहीं शेष दो हैं और वायु में रूप भी नहीं केवल स्पर्श है।

4 संख्या—'वह एक है, दो हैं' इत्यादि व्यवहार का हेतु संख्या है। संख्या एक द्रव्य के त्राक्षय भी है, जैसे 'यह एक वृत्त है'; और श्रानेक दव्यों के भी, जैसे 'ये दो वृत्त हैं'। एकत्व,संख्या नित्य दव्यों में नित्य है, क्योंकि नित्य दव्यों के सदा बने रहने से एकत्व संख्या भी सदा बनी रहने है। श्रानित्य द्रव्यों में एकत्व संख्या श्रानित्य है, क्योंकि उनके उत्पन्न होने के साथ उत्पन्न होती है।

एक में एकत्व संख्या तो सदा ही होती है किन्तु द्वित्व, त्रित्वादि संख्या सदा नहीं होती । वह तब उत्पन्न होती है जब हम अलग २ दो अथवा दो से अधिक वस्तुओं को इकट्ठा मिलाकर कहना चाहते हैं कि ये दो हैं अथवा तीन हैं इत्यादि । द्वित्व, त्रित्वादि संख्या अपेचा बुद्धि से उत्पन्न होती है और अपेचा बुद्धि के नाश होने पर नाश हो जाती है, इसलिये यह अनित्य होती है । यह द्वित्वादि संख्या व्यासञ्ययृत्ति कहलाती हैं, क्योंकि वह अपने आश्रयभूत वस्तुओं में सब में एक ही हैं, अलग अलग नहीं । संख्या नित्य, अनित्य, मूर्त, अमूर्त सारे प्रक्यों में रहती है ।

६ परिमाण—'यह इतना है' इस व्यवहार का हेतु परिमाण है। परिमाण चार प्रकार का होता हैं: अणुत्व, महत्व, दीर्घत्व और इस्तत्व। ये परिमाण एक दूसरे की अपेदा से कहे जाते हैं। एक वस्तु को उससे बड़ी वस्तु की अपेदा से अणु या इस्त कहा जाता है, और छोटी की अपेदा से महत् या दीर्घ। परमाणुओं में अणुत्व और इस्तत्व, और आकाश आदि विसु हर्ट्यों में महत्त्व और दीर्घत्व मुख्य हैं। परिमाण भी नित्य, अनित्य, मूर्त, अमूर्त सब द्रट्यों का धर्म है।

ं पृथक्त्व — 'यह इससे पृथक है' इस व्यवहार का हेतु पृथक्त्व है। यह भी सब द्रव्यों का धर्म है। संख्यावत् एक पृथक्त्व नित्य द्रव्यों में नित्य होता है और भनित्यों में अनित्य, क्योंकि आश्रय के नाहा से उसका नाहा आवश्यक है।

८ संयोग—'यह संयुक्त है' इस प्रतीति का निमित्त संयोग है। यह तीन प्रकार का होता है: (क) अन्यतर कर्मज अथात् संयुक्त होने वाले दो पदार्थों में से एक के कर्म से उत्पन्न होनेवाला, जैसे रथेन पत्ती और पर्वत का संयोग; (ख) उभयकर्मज अर्थात् दोनों के कर्म से उत्पन्न होने वाला, जैसे दो मेट्रों का संयोग; (ग) संयोगज अर्थात् संयोग से उत्पन्न होनेवाला, जैसे हाथ और पुस्तक के संयोग से इरीर और पुस्तक का संयोग।

इनमें अन्यतर कर्मज और उभय कर्मज संयोग भी दो प्रकार का होता है: (अ) 'अभिघात' शब्द का हेतु संयोग और (ब) 'नोदन' अहेतु संयोग ।

संयोग सब द्रव्यों में रहता है और श्रतित्य होता है क्योंकि परमाणु श्रादि नित्य द्रव्यों में भी नया ही उत्पन्न होता है। हर एक संयोग श्रव्याप्यवृत्ति होता है, श्रश्चीन जो संयुक्त हैं उनके सारे स्वरूप में संयोग नहीं होता, किन्तु किसी एक वा किन्हीं एक प्रदेशों के साथ होता है।

९ विभाग — संयोग का नाशक गुग्ग विभाग है। संयोगवत् यह भी तीन प्रकार का है— (क) अन्यतर कर्मज जैसे श्येन पत्ती के उड़ जाने से श्येन और पर्वत का विभाग (ख) उभय कर्मज, जैसे दो मेड़ों के परस्पर पींछे हटने से मेड़ों का विभाग और (ग) विभागज, जैसे हाथ और पुस्तक के अलग हो जाने से शरीर और पुस्तक का विभाग।

१०, ११ परन्य, अपरत्य — 'यह परे है, यह वरे हैं' इस व्यवहार के निमित्त गुण परल और अपरत्व हैं। ये दो प्रकार के हैं: दैशिक श्रीर कालिक। दैशिक, दिशा से कियं हुए अर्थात् दूर निकट की अपेला से, जैसे वह वस्तु इससे परे हैं (दूर हैं) यह वरे हैं (निकट हैं); और कालिक, काल से किये हुए अर्थात् आयु की अपेला से, जैसे वह पर है, बड़ा है, बड़ा है, और यह अपर है, छोटा है। दैशिक और कालिक, सारे परत्व और अपरत्व अपेला बुद्धि से उत्पन्न होते हैं और अपेला बुद्धि के नाश से नट होते हैं। कालिक परत्व और अपरत्व अपिता बुद्धि से उत्पन्न होते हैं और अपेला कुद्धि के नाश से नट होते हैं। कालिक परत्व और अपरत्व अपिता के धर्म हैं, नित्यों के नहीं; दैशिक परत्व और अपरत्व प्रथिवी, जल, अपित, वायु और मन के धर्म हैं, विमु के नहीं होते।

१२ गुरुत्व —िगरने का निमित्त गुरुत्व (भाग) है। यह जल श्रौर पृथिवी में रहता है। वायु में गुरुत्व की प्रतीति पार्थिक श्रौर जलीय रेणुओं के संयोग से होती है। गुरुत्व

नित्यों में नित्य और अनित्यों में अनित्य है।

१३ द्रचरच — बहने में निमित्त (बहने का धर्म) है। वह दो प्रकार का है: (क) खाभाविक जैसे जल में, और ख) नैमित्तिक जैसे छृत आदि पार्थिव वस्तुओं में अग्नि के संयोग से उत्पन्न होता है। द्रवत्व भी नित्यों में नित्य और अनित्यों में अनित्य होता है।

१४ म्नेह-स्नेह जल का विशेष गुण है, बिखरे हुए कर्णों का मिलाने का हेत है।

यह नित्यों में नित्य श्रीर श्रनित्यों में श्रनित्य होता है।

१५ राष्ट्र - यह आकाश का गुए है, श्रोत्र-माद्य है और दो प्रकार का है— (क) ध्वति-खरूप जैसा मृदंग आदि में होता है और (ख) वर्ण-खरूप जैसा मनुष्यों की भाषा में।

१६ बुद्धि - ज्ञान का नाम है, यह केवल जीवात्मा का गुण है, इसके दो भेद हैं -

(क) बानुभव, नया ज्ञान श्रौर (ख) स्पृति, पिछले जाने हुए का स्मरण ।

श्रनुभव दो प्रकार का होता है: (श्र) यथार्थ, सच्चा, जिसको प्रमा वा विद्या कहते हैं। इसके तीन भेद प्रत्यक्त, श्रनुमान श्रौर श्रागम प्रमाण के प्रसंग में बतलाए जावेंगे। (ब) श्रयथाथ, मिथ्या, जिसको श्रप्रमा वा श्रविद्या कहते हैं। इनके दो भेद: संशय श्रौर विपर्यय को भी श्रत्या बतलाया जावेगा।

सांख्य और योग ने आत्मा को ज्ञानस्त्ररूप तथा बुद्धि को तीनों गुणों का प्रथम विषम परिणाम माना है, जो सत्त्व में रज केवल कियामात्र और तम उस किया को केवल रोकने मात्र है। सत्त्व के प्रकाश और आत्मा के ज्ञान के प्रकाश में आत्यन्त विलद्मणता है, फिर भी बुद्धि में सत्त्व की खच्छता एवं निर्मलता के कारण आत्मा के ज्ञान के प्रकाश को प्रह्मण करने की अनादि योग्यता है। यह आत्मा के झान से प्रकाशित हुई बुद्धि किसी न किसी झानेन्द्रिय द्वारा विह्मुंख होकर नाना प्रकार के यथार्थ और अयथार्थ आकारों में परिग्रित होती रहती है। यह जान तथा अझान का परिग्राम बुद्धि में ही होता है। इसलिये झान और अझान दोनों बुद्धि हो के धर्म माने गये हैं। किन्तु बुद्धि जड़ है। इसलिये उसको इस झान और अझान का बाध नहीं होता। इसका बोध आत्मा को होता है। क्योंकि बुद्धि में बुद्धिरूप से यह नाना प्रकार का झान और अझान का परिग्राम उसी के झान के प्रकाश में हो रहा है। इसलिये आत्मा को बुद्धि की वृत्तियों का साची होता हुआ भी कृटस्थ नित्त्य ही माना जाता है। बुद्धि को आत्मा के साथ सम्मिलित करने से शवल अर्थात् मिश्रित आत्मा की संझा जीव होती है, इसलिये बुद्धि के धर्मझान आदिक वैशेषिक में जीवात्मा के ग्राम बतलाये गये हैं। कई समालोच को को बुद्धि को आत्मा में विवेकपूर्ण झान न होने के कारण यह अम हुआ है कि बुद्धि के अलग हो जाने से वैशेषिक का आत्मा एक जड़ द्रव्य रह जाता है। उन को जानना चाहिये कि बुद्धि का साची न रहते हुए भी आत्मा अपने बुद्ध झान सक्रप से च्युत नहीं होता है, किन्तु बुद्धि के जो विकारादि उसमें आरोपित किये जाते हैं, उनका भी बाध होजाता है।

१७ सुख—इष्ट विषय की प्राप्ति से उत्पन्न होता है और सदा श्रानुकूल स्वभाव होता है। श्रातीत विषयों में उनकी स्मृति से श्रीर श्रानागत विषयों में उनके संकल्प से होता है। सुख में मुख श्रीर नेत्र खिल जाते हैं। विज्ञानियों को जो विषय श्रीर उसकी स्मृति तथा संकल्प के विना सुख होता है, वह विद्या, शान्ति, सन्तोष श्रीर धर्म-विशेष से होता है।

१८ दुःख—इंट के वियोग वा श्रांतिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होता है श्रौर सदा प्रतिकृत स्वभाव होता है। श्रांति विषयों में स्मृति-जन्य श्रौर श्रांतात विषयों में संकल्प-जन्य होता है। दुःख में मुख सुरक्षा जाता है श्रौर दीनता श्राजाती है।

१९ इच्छा—श्रपने लिये वा दूसरों के लिये किसी श्रप्राप्त वस्तु की प्रार्थना (चाहना) इच्छा है। किसी वस्तु को इट-साधक वा श्रानिष्ट-निवारक जानकर उसमें इच्छा होती है। इच्छा दो प्रकार की होती है: फल की इच्छा और उपाय की इच्छा। फल, सुख की प्राप्ति और दुःख की निष्टृत्ति है, और सब उसके साज्ञात् और परम्परा से उपाय हैं।

. २० द्वेष — प्रज्वलन स्वरूप द्वेष है; यह प्रयत्न, स्मृति, धर्म और अधर्म का हेतु है अर्थात् द्वेष से मारने वा जीतने का प्रयत्न होता है, जिससे द्वेष होता है उसकी बार २ स्मृति होती है, दुष्टों से द्वेष में धर्म और श्रेष्टों में द्वेष से अधर्म होता है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अन्नमा और अमर्प ये द्वेष के भेद हैं।

२१ प्रयत्न—उद्योग, उत्साह प्रयत्न है। यह दो प्रकार का होता है—(क) जीवन-पूर्वक जो सोये हुए के प्राया, अपानादि को चलाता है और जामत काल में अन्तःकरण का इन्द्रियों के साथ संयोग कराता है; (ख) इच्छा-द्वेष-पूर्वक हित के साधनों के प्रहण में इच्छा पूर्वक प्रयत्न होता है और दुःख के साधनों के परित्याग में द्वेष पूर्वक। २२, २३ धर्म, अधर्म — वेद-विहित कर्मों से धर्म उत्पन्न होता है, यह पुरुष का गुग्रा है, कर्त्ता के प्रिय हित और मोच का हेतु होता है। इसके विपरीत प्रतिषिद्ध कर्मों से अधर्म उत्पन्न होता है, यह कर्त्ता के अहित और दुःख का हेतु होता है। धर्म और अधर्म को अहुए कहते हैं।

२४ संस्कार—तीन अकार का होता है—(क) वैगः यह पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन इन पॉच द्रव्यों में कर्म से उत्पन्न होता है और जगले कर्म का हेतु होता है। (ख) भाषना: यह अनुभव से उत्पन्न होता है, स्मृति और पहचान का हेतु है। विद्या, शिल्प, व्यायाम आदि में बार २ के अभ्यास से इस संस्कार का अतिशय होता है। उसके बल से उस २ विषय में निपुण्ता आती है। (ग) श्वितिश्वापकः अन्यथा किये हुए को फिर उसी अबश्या में लाने वाला संस्कार श्वितिश्वापक कहलाता है। जिससे टेढ़ी की हुई शाखा छोड़ने से फिर सीधी होजाती है। संस्कार स्थरी वाले द्रव्यों में रहता है।

इन चौबीस गुणों में से रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह सांसिद्धिक द्रवत्न, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेप, प्रयत्न, धर्म, श्राधर्म, भावना, संस्कार श्रौर शब्द ये विशेष गुण हैं क्योंकि ये एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य से निखरते हैं। श्रौर संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, श्रपरत्व गुक्तव नैमित्तिक द्रवत्व श्रौर वेग संस्कार, ये सामान्य गुण हैं क्योंकि ये एक क्रुव्य को दूसरे द्रव्य से नहीं निखेरते।

३ कर्म-चलना (हरकत) रूप कर्म है; यह पाँच प्रकार का है-

उत्त्वेपणमवत्त्रेणमाकंचनं प्रसारणं गमनमिति कर्माण । (१।१) ।

१ उत्त्रेपरग—ऊपर फेंकना

२ श्रवद्वेपण्—नीचे गिराना ४ प्रसारण्—फैलाना श्रीर

३ श्राकुश्वन-सिकोड़ना

५ गमन-श्रन्य सब प्रकार की किया। ये पांच कर्म हैं।

मनुष्य के कर्म पुष्य-पाप-रूप होते हैं, महाभूतों के नहीं। ये कर्मभी नौ द्रव्यों में से किसीन किसी दव्य के धर्म हैं।

४ सामान्य —िकसी अर्थ की जो जाति (किस्म) है वह सामान्य है, जैसे दृत्त की वृत्तत्व और मनुष्य की मनुष्यत्व जाति है। जाति वहुतों में एक होती है, जैसे सारे दृत्तों में वृत्तत्व जाति एक है। जो एक ही हो अथवा जो विभु हो उसमें जाति नहीं रहती, जैसे दिशा, काल, आकाश और आत्मा में।

सामान्य के दो भेद हैं: पर श्रीर श्रपर । एक व्यापक जाति, जिसकी श्रवान्तर जातियाँ श्रीर भी हों, जैसे वृत्तल, पर-सामान्य कहलाती है, उसकी श्रवान्तर जाति, जैसे श्राम्नल, अपर-सामान्य कहलाती है। श्रपर-सामान्य को सामान्य-विशेष भी कहते हैं, क्योंकि वह सामान्य भी है श्रीर विशेष भी । जैसे श्राम्नल सारे श्राम्नों में सामान्य है किन्तु दूसरे वृत्तों से श्राम्नों को विशेष (श्रलग) करती है, इसलिये विशेष भी है।

सामान्य विशेष (पर, श्रपर) सापेत हैं । श्राम्नतादि की श्रपेत्ता से वृत्तत्व पर (सामान्य) है श्रीर वृत्तत्व की श्रपेता से श्राम्नत श्रपर (विशेष) है । किन्तु वृत्तत्व भी

विशेषिक दर्शन

पश्चितित्व की अपेता से अपर है और आमृत्व भी अपनी अवान्तर जातियों की अपेता से पर है। जिसकी आगे कोई अवान्तर जाति न हो, वह केवल अपर होता है, जैसे घटत्वादि। श्रीर जिसकी व्यापक जाति न हो वह केवल पर ही होता है। ऐसी जाति केवल सत्ता है, जो सारे द्रव्यों, सारे गुगों और सारे कमों में होती है । सत्ता वह है जिससे सत सत इस प्रकार की प्रतीति होती है, अर्थात् द्रव्य सत् है, गुए सत् है, कर्म सत् है। और सारी (द्वयत्विद) जातियाँ सामान्य-विशेष हैं। किन्तु इन द्रव्यत्वादि जातियों में से हर एक जाति श्रनंक व्यक्तियों में रहती है, इसलिये अधानतया वह सामान्य ही हैं, किन्तु श्रपने श्राश्रय (द्रव्यादि) को दूसरे पदार्थों से श्रलग भी करती हैं. इसलिये गौणतया विशेष शब्द से कही जाती हैं, किन्त जो विशेष पदार्थ है वह इनसे अलग ही है।

५ विशेष-जैसे घोड़े से गौ में विलव्हण प्रतीति जाति-निमित्तक होती है श्रीर एक गौ से दसरी गौ में विलव्या प्रतीति का निमित्त रूपादि वा श्रवयवों की बनावट श्रादि का भेद है। इसी प्रकार योगियों को एक ही जाति, गुण श्रीर कर्म वाले परमाणुश्रों में जो एक दूसरे से विलज्ञण प्रतीति होती है उसका भी कोई निमित्त होना चाहिये, परमाणुत्रों में श्रीर कोई भेद (बनावट आदि का भेद) असम्भव होने से, जो वहाँ भेदक धर्म है वही विशेष पदार्थ है। यह विशेष सारे नित्य द्रव्यों में रहता हैं, क्योंकि श्रानित्य द्रव्यों में श्रीर गुण, कर्माद में तो आश्रय के भेद से भेद कहा जा सकता हैं किन्तु नित्य द्रव्यों में नहीं। इसलिए हर एक नित्य दव्य में एक २ विशेष होता है, जिससे वे एक दूसरे से विलन्न ए प्रतीत होते है, ऋौर देश काल के भेद में भी, यह वहीं परमाण है, यह पहचान जो योगियों की होती है इसका निमित्त भी विशेष पदार्थ है। श्रयोत पहचान और विलन्नग प्रतीति किसी निमित्त से होती है, जैसे गौ में गोत्व जाति से और ग्रुङ में ग्रुङ्ख ग्रुण से: और वह निमित्त पर-माणुओं में कोई और न होने से उनमें भी अवस्य कोई अलग ऐसा पदार्थ है जो पहचान श्रीर विलक्षण प्रतीति का निमिक्त है, वही विशेष पदार्थ है। इस विशेष पदार्थ का पता इसी दर्शन ने लगाया है, इसी लिये इसको वैशेषिक कहते हैं।

६ समवाय-सम्बन्ध सदा दो में होता है, जैसे कृग्डे श्रीर दही का सम्बन्ध है। इन में से दहीं कूरडे से और कूरडा दहीं से अलग भी रहता है। ऐसे सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। किन्त जो ऐसा घना सम्बन्ध है कि सम्बन्धी न श्रलग २ थे श्रीर न हो सकते हैं जैसे गुरा गुरा का सम्बन्ध, वहाँ सम्बन्ध को समवाय कहते हैं। अथोत गुरा में गुरा समवाय सम्बन्ध से रहता है। इसी प्रकार श्रवयवों में श्रवयवी, क्रियावालों में क्रिया, व्यक्ति में जाति श्रीर नित्य दुव्यों में विशेष समवाय सम्बन्ध से रहता है।

अभाव पदार्थ-पिछले वैशेषिक आचार्यों ने उपर्युक्त छ: भाव पदार्थों के अतिरिक्त 'स्रभाव' भी एक स्रलग पदार्थ निरूपण किया है। स्रभाव चार प्रकार का है। प्रागमांब. प्रध्वंसाभाव, श्रत्यन्ताभाव, श्रीर श्रन्योऽन्याभाव । किसी वस्त की उत्पन्ति से पहले उसका श्रभाव प्रागभाव श्रीर नाश के पीछे उसका श्रभाव प्रध्वंसाभाव है। किसी बस्तु का नितान्त अभाव अत्यन्ताभाव है श्रीर एक वस्तु में दूसरी वस्तु का अभाव अन्योऽन्यऽभाव है।

न्याय-दर्शन

न्याय सूत्र के रचियता का गोत्र नाम गौतम या गोतम है और व्यक्ति गत नाम स्रज्ञपाद है।

प्रमाणों से ऋर्थ का परीक्षण ऋर्थात् विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तु तत्त्व

की परीचा न्याय है।

प्रत्यत्त और आगम के आश्रित श्रनुमान (न्याय) है। अनुमान में परीचा करके श्रर्थ की सिद्धि की जाती है। परीचा प्रत्यत्त श्रादि प्रमाणों से होती है, जैसे श्रिप्त की सिद्धि में जब यह प्रतिज्ञा की 'कि पर्वत में श्रिप्त है' तो यह शब्द प्रमाण हुआ; जब रसोई का उदाहरण दिया तो वह प्रत्यत्त प्रमाण हुआ; जब 'जैसे रसोई धूमवाली है, वैसे यह पर्वत धूमवाला है' ऐसा उपनय कहा, तो यह उपमान हुआ। इस प्रकार प्रत्यत्त, उपमान श्रीर शब्द, इन सब प्रमाणों से परीचा करके श्रिप्त की सिद्धि की गई। इस प्रकार समस्त प्रमाणों के ज्यापार से श्रर्थ का निश्रय करना न्याय है।

न्याय सूत्र पांच ऋश्यायों में विभक्त हैं, और प्रत्येक ऋश्याय दो ऋाह्विकों में । इनमें पोडक पदार्थों के उदेश (नाम कथन) तथा लक्ष्मण (परिभाषा) परीक्षण किये गये हैं।

प्रमाण प्रमेय संशय प्रयोजन दृष्टान्त सिद्धान्ताऽवयव तर्क निर्णयवाइ जन्म वितरहाहेस्वाभाम छल जाति निग्रह स्थानानां तत्त्व ज्ञानान्निःश्रेय साधिममः। (स्याय १।१)

श्चथे—प्रमाण, प्रमेष, संशय, प्रयोजन, दशन्त, सिद्धान्त, श्ववयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वित्तराडा, हेत्वाभाम, छल, जाति, श्चौर निष्मह स्थान, इनके तत्त्व झान से मोच की प्राप्ति होती है। इन में से प्रमेथ के तत्त्वझान से मोच मिलता है श्चौर प्रमाण श्चांद पदार्थ उस तत्त्व झान के साधन हैं।

यथार्थ झान का साधन प्रमास है, जानने वाला प्रमाता, झान प्रमिति श्रीर जिस वस्तु को जानना है वह प्रमेय कहलाती है।

न्याय-दर्शन के अनुसार चार मुख्य प्रमाण हैं: १ प्रत्यज्ञ, २ अनुमान, ३ उपमान, ४ आगम ।

१ प्रत्यक्ष प्रमाण — इन्द्रियों श्रोर अर्थ के सम्यन्ध से उत्पन्न हुआ झान जो अशब्द (नाम मात्र से न कहा हुआ), अञ्यमिचारी (न बदलने वाला), श्रोर निश्चयात्मक हो, वह प्रत्यत्न प्रमाण है।

प्रत्यत्त के दो भेद हैं: निर्विकल्पक और सिवकल्पक। वस्तु का श्रालोचन-मात्र ज्ञान, जिसमें सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती है, निर्विकल्पक है, और जिसमें सम्बन्ध की प्रतीति होती है, वह सिवकल्पक है। निर्विकल्पक पहले होता है श्रीर सिवकल्पक पींछ। जैसे गौ को देखकर 'यह ज्ञान पहले-पहल नहीं होता। क्योंकि 'गौ' इस ज्ञान में केवल व्यक्ति का ज्ञान नहीं, किन्तु एक विशेष व्यक्ति एक विशेष जाति (गोत्व) से सम्बन्ध रखने वाली प्रतीति हो

रही है। यह सम्बन्ध का ज्ञान सम्बन्धियों को पहिले पहिल व्यलग जाने बिना नहीं हो सकता। इससे व्यनुमान होता है कि पहिले दोनों सम्बन्धियों (जाति, व्यक्ति) का सम्बन्ध-रिहत ज्ञान व्यलग २ हुआ है, पीछे 'यह गी है' यह ज्ञान हुआ है। इनमें से पहिला निर्विकत्यक है; पीछे जो सम्बन्ध को प्रकट करनेवाला ज्ञान हुआ है, वह सविकत्यक है। निर्विकत्यक कहने में नहीं आता। वह ऐसा ही प्रत्यन्त है जैसे बालक वा गूंगे को होता है। इसके विपरीत सविकत्यक कहने-सुनने में आता है।

अनुमान प्रमाण —साधन-साध्य, लिङ्ग-लिङ्गी श्रथवा कार्य-कारण के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न हो, उसे श्रनुमान कहते हैं।

जहाँ 'ज्याप्ति' अर्थात् साह चर्य (साथ रहने) का नियम पाया जाता है, वहीं अनुमान होता है। धूम अप्रि के बिना नहीं होता इसिलये धूम से अप्रि का अनुमान होता है। पर अप्रि बिना धूम के भी होती है, इसिलये अप्रि से धूम का अनुमान नहीं होता। जिसके द्वारा अनुमान करते हैं उसको लिङ्ग (चिङ्ग) कहते हैं और जिसका अनुमान होता है, उसको लिङ्ग। इस अकार धूम लिङ्ग (चिङ्ग) कहते हैं और जिसका अनुमान होता है, उसको लिङ्ग। इस अकार धूम लिङ्ग है और अप्रि लिङ्ग। लिङ्गी वह होता है, जो ज्यापक हो। जहाँ धूम है वहाँ अप्रि अवश्य है, धूम में अप्रि की ज्यापकता है, ऐसा होने से ही अनुमान हो सकता है। यदि बिना अप्रि के भी धूम होता, तो उससे अप्रि का अनुमान नहीं हो सकता। इसिलये जहाँ ज्यापित है वहीं अनुमान होता है। चाहे वह सम-ज्याप्ति हो चाहे विषम-ज्याप्ति हो। सम-ज्याप्ति, जैसे गन्ध और पृथवीत्व है और जहाँ गन्ध है वहीं पृथवीत्व है और जहाँ पृथवीत्व है वहीं अगिन है, यह ही नियम है, पर जहाँ अगिन और धूम की है: क्योंकि जहाँ धूम है वहीं आगि है, यह ही नियम है, पर जहाँ अगिन है वहाँ धूम भी हो, यह नियम नहीं है।

श्रनुमान तीन प्रकार का है-पूर्ववत्, शेषवत् श्रौर सामान्यतोदृष्ट ।

पूर्ववत्—जहाँ प्रत्यनभूत लिङ्ग लिङ्गी में से एक के देखने से दूसरे का श्रनुमान हो। जैसे धूम से श्रांन का। यहाँ दोनों प्रत्यत्त का विषय हैं। श्रार्थान् यहाँ श्रनुमेय (लिङ्गी) जो श्राप्त है, वह भी रसोई श्रादि में विशेष रूप से प्रत्यत्त हो जुका है।

शेषवत्—जहाँ २ प्रसंग जा सकता है, वहाँ वहाँ से हटाकर शेष बचे हुए का अनुमान शेषवत् है जैसे 'शब्द किसका गु.ण है' इस विचार में सारे द्रव्यों का प्रसङ्ग आता है। उनमें से किसी का भी गु.ण न होने से परिशेष से यह आकाश का लिङ्ग (गु.ण) है (बै॰ २।१।२०)। यही परिशेषानुमान शेषवत् कहलाता है।

सामान्यतोद्द — जो सामान्य रूप से देखा गया हो पर विशेष रूप से न देखा गया हो। यह वहाँ होता है जहाँ तिङ्गी को पहिले प्रत्यत्त देखा हुआ न हो, जैसे देखने, युनने आदि क्रियाओं से इन्द्रियों का अनुमान। क्रिया का कोई साधन (करण) अवश्य होता है, जैसे छेदने का कुल्हाड़ा। इसी प्रकार देखना, युनना आदि क्रिया हैं, उनका भी कोई करण अवश्य होना चाहिये। यहाँ जो करण हैं वही इन्द्रिय हैं। यदाप सामान्य रूप से यह देखां

गया है कि जो क्रिया होती है, उसका कोई करण श्रवश्य होता है, जैसे छेदने श्रादि में कुरहाड़ा, पर जैसे करण का यहाँ श्रनुमान करना है, श्राथीत इन्द्रिय रूप, वैसा करण कभी भी देखा नहीं गया, इसिलये यह श्रनुमान सामान्यतोष्ट है। इसी प्रकार जगत् की रचना से इसको रचने वाले का ज्ञान सामान्यतोष्ट है। पूर्ववत् वहाँ होता है, जहाँ पहिले श्रनुमेय को भी देखा हुश्चा है, श्रीर सामान्यतोष्ट वहाँ होता है, जहाँ श्रनुमेय को कभी देखा नहीं है। इसी श्रनुमान से जो श्रतीन्द्रिय पदार्थ है, उनका ज्ञान होता है।

३ उपमान प्रमाण—प्रसिद्ध सादृश्य से संज्ञा संज्ञी के सम्बन्ध का ज्ञान उपमान है, यथा जो गवय (नीलगाय) को नहीं जानता वह यह सुनकर कि 'जैसी गौ वैसी गवय' बन में जाय और गौ सदृश व्यक्ति को देखे तो उसको यह ज्ञान होगा कि यह गवय है। यहाँ गवय व्यक्ति प्रत्यत्त है, पर यह ज्ञान कि 'इसका नाम गवय है' प्रत्यत्त नहीं। यदि यह भी प्रत्यत्त होता तो सभी को प्रतीत हो जाता। यह ज्ञान श्रनुमान से भी नहीं हुश्चा, क्योंकि संज्ञा का कोई लिङ्ग नहीं होता। शब्द से भी नहीं हुश्चा, क्योंकि यह किसी ने बतलाया नहीं। इसलिये जिससे यह ज्ञान हुशा है वह एक श्रलग ही उपमान प्रमाण है।

४ आगम प्रमाण—ज्यात के उपदेश को शब्द-प्रमाण कहते हैं। अर्थ के साचात् करने वाले और यथा-रृष्ट का उपदेश करने वाले का नाम श्राप्त है। शब्द-प्रमाण दो प्रकार का है: रृष्ट अर्थ और अरृष्ट अर्थ। जिस श्राप्त उपदेश का अर्थ यहाँ देखा जाता है वह रृष्ट अर्थ है; जिसका अर्थ यहाँ नहीं देखा जाता, जैसे स्वर्गादि, वह अरृष्ट अर्थ है। लौकिक बाक्य रृष्टार्थ हैं, वैदिक वाक्य प्रायः अरृष्टार्थ।

न्यायदर्शन में ऐसे पदार्थों को जिनके न्याय-द्वारा तत्त्व-ज्ञान से निःश्रेयस हो सकता है सोलह की संख्या में विभक्त किया गया है:—

१ प्रमाण-चार हैं, इनका वर्णन ऊपर कर दिया गया है।

२ प्रमेय - बारह हैं, इनका वर्णन आगे किया जायेगा।

३ संदाय—समान धर्म की प्रतीति से, अनेकों के धर्म की प्रतीति से, विप्रतिपत्ति [परस्पर विरोधी पदार्थी के सहभाव] से, उपलब्धि की अव्यवस्था से और अनुपलब्धि की अव्यवस्था से और अनुपलब्धि की अव्यवस्था से विशेष की आकांचा वाला विचार संशय है। संशय का साधारण लच्चण एक धर्मी में विरुद्ध नाना धर्मों का ज्ञान सममन्ता चाहिये।

ध प्रयोजन-जिस अर्थ को लक्ष्य में रखकर किसी विषय में प्रयुत्त होना है, वह प्रयोजन है।

५ इप्रान्त—लौकिक और परीचकों की बुद्धि की जिस ऋथे में समता हो, वह रप्टान्त है। जैसे श्रप्ति के श्रनुमान में रसोई। रप्टान्त के विरोध से ही पर-पच खरडनीय होता है, और रप्टान्त के समाधान से ही खपच स्थापनीय होता है।

६ सिद्धान्त — शाका के आधार पर अर्थों के मानने की व्यवस्था सिद्धान्त है। सिद्धान्त चार प्रकार का है:---

- (क) सर्वतन्त्र सिद्धान्त—जो सारे शाखों का सिद्धान्त हो, अर्थात् जिसमें किसी शाख का विरोध न हो;
 - (ख) प्रतितन्त्र सिद्धान्त-जो अपने-अपने शास्त्र का अलग-अलग सिद्धान्त हो;
 - (ग) अधिकरण सिद्धान्त—जिसंकी सिद्धि दूसरे अर्थों की सिद्धि पर निर्भर हो;
- (प) अभ्युपगम सिद्धान्त—बादी की मानी हुई बात को ही मानकर उस पर विचार करना।
- ७ अचयच—प्रतिक्का, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन, ये पाँच अवयब हैं। जैसे 'घट अनित्य हैं' यह प्रतिक्का है; 'उत्पत्ति बाला होने से' यह हेतु है; 'उत्पत्ति धर्म वाले पट आदि द्रव्य अनित्य देखने में आते हैं' यह उदाहरण है; 'ऐसा ही घट भी उत्पत्ति धर्म वाला है' इसको उपनय कहते हैं; 'इसलिये उत्पत्ति धर्म वाला होने से घट अनित्य सिद्ध हुआ? इसका नाम निगमन (उपसंहार) है। यहाँ यह समभ लेना आवश्यक है कि पूर्व प्रमाणों में जो अनुमान कहा है, यह दो प्रकार का होता है—स्वार्थानुमान अर्थात् अपने लिये अनुमान; और परार्थानुमान अर्थात् दूसरे के लिये अनुमान। स्वार्थानुमान-कर्ता जब उस ज्ञान को दूसरे को निश्चय कराना चाहता है, तब उसकी सिद्धि के लिये अपने मुख से उसे जो वाक्य कहना पड़ता है, उसके ये पाँच अवयव होते हैं। और वहीं अनुमान परार्थानुमान कहलाता है।
- ८ तर्क—जिसका तत्त्व झात न हो उसको जानना चाहते हुए उसमें कारण के सम्भव से तत्त्व-झान के लिये जो युक्ति हैं, वह तर्क हैं।
 - ९ निर्णय—संशय उठाकर पत्त-प्रतिपत्त द्वारा श्रर्थ का श्रवधारण (निश्चय) निर्णय है।
- १० वाद —ैपन श्रौर प्रतिपन्न का वह श्रङ्गीकार जिसमें प्रमाणों से श्रौर तर्क से साधन श्रौर प्रतिपेध हो, जो सिद्धान्त से विरुद्ध न हो श्रौर पाँचों श्रवयवों से युक्त हो वाद कहलाता है।
- ११ जल्प—जो वाद के विरोषगों से युक्त हो, किन्तु जिसमें छल, जाति श्रौर निम्नह स्थानों से भी साधन श्रौर प्रतिषेध हो, वह जल्प है।
 - १२ वितण्डा—जल्प जब प्रतिपन्न स्थापना से हो तो वितण्डा होता है।

इस प्रकार किसी अर्थ के निर्णय के लिये वादी-प्रतिवादी की जो बातचीत होती है उसका नाम कथा है, और वह तीन प्रकार की होती हैं तस्व निर्णय के लिये बाद होता है, दूसरों को परास्त करने के लिये वा सिद्धान्त की रहा के लिये जल्म होता है, और जहाँ विजिगीषु (जीतने की इच्छा वाला) छल-जाति आदि का भी प्रयोग करता है और अपने पत्त स्थापना से हीन केवल दूसरे के पत्त पर प्रमाण, हकी, छल, जाति आदि से सब प्रकार आहेप करता है वह वितयहा है।

- १२ द्वेत्याभास—हेत्वाभास वे हैं जो हेतु लक्त्य के न होने से हैं तो अहेतु, किन्तु हेतु के समान हेतुवत् भासते हैं। ये पाँच प्रकार के होते हैं—
- (क) सन्यभिचार हेत्वाभास—जो एक में ऋर्थात् केवल साध्य में ही नियत न हो अर्थात् अर्व्यवस्था में हो। जैसे किसी ने कहा 'शन्द्र' नित्य है स्पर्शवान् न होने से, स्पर्शवाला 'घट'

श्रांतित्य खा जाता है, 'इाट्स' वैसा स्पर्शत्राला नहीं, इसलिये शब्द नित्य है। यहाँ दृष्टान्त में स्पर्शत्व श्रौर श्रानित्यत्व-रूप धर्म साध्य-साधन-भूत नहीं है क्योंकि परमाणु स्पर्शवान है, किन्तु श्रानित्य नहीं,नित्य है। ऐसे ही यदि कहें कि जो स्पर्शवान नहीं वह नित्य है जैसे 'श्रात्मा' तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि बुद्धि स्पर्शवाली नहीं किन्तु नित्य नहीं, श्रानित्य है। इस कारण दोंनों दृष्टान्तों में व्यभिचार श्राने से स्पर्शत्व न होना हेतु-सव्यभिचार हुश्रा।

- (ख) विरुद्ध हेत्वाभास—सिद्धान्त को श्रङ्गीकार करके उसी का विरोधी जो हेतु है वह विरुद्ध हेतु है। जैसे शब्द नित्य है क्योंकि कार्य है। यह कार्य होना नित्यता का विरोधी है, न कि साधक ।
- (त) प्रकरणसम हेत्वाभास—विचार के आश्रय अनिश्चित पद्म और प्रतिपद्म को प्रकरण कहते हैं। उसकी चिन्ता संशय से लेकर निर्णय तक जिस कारण की गई है वही निर्णय के लिये काम में लाया जावे तो दोनों पत्तों की समता से प्रकरण से आगे नहीं बढ़ता, इसलिये प्रकरणसम हुआ। जैसे किसी ने कहा कि 'शब्द अनित्य है' तो नित्य धर्म के ज्ञान न होने से यह हेतु प्रकरणसम है। इससे दो पद्मों में से किसी एक पद्म का निर्णय नहीं हो सकता क्योंकि यदि शब्द में नित्यत्व धर्म का प्रह्मण होता तो प्रकरण ही नहीं बनता, अथवा अनिस्त्रव धर्म का बान शब्द में होता तो भी प्रकरण सिद्ध न होता। अर्थान् यदि दो धर्मों में से एक का भी ज्ञान होता तो 'शब्द अनित्य है कि नित्य'—यह विचार ही क्यों प्रवृत्त होता।
- (व) साध्यसम हेत्वाभास—स्वयं साधनीय होने के कारण जो साध्य से कोई विशेषता नहीं रखता वह साध्यसम है। जैसे 'छाया द्रव्य है' यह साध्य है, 'गतिवाजा' होने से यह हेतु है, क्योंकि छाया का गतिवान होना स्वयं साध्य कोटी में है, इसलिये यह हेतु साध्य से विशेष नहीं, इसलिये 'साध्य' के 'सम' हुआ। क्योंकि छाया में जैसे द्रव्यत्व साध्य है वैसे ही गति भी साध्य है।
- (इ) कालातीत हेत्वाभास—जिस ऋषे का वर्णन समय चूक कर किया गया हो उसे कालातीत कहते हैं। हेतु का काल वह है जब ऋषे सन्दिग्ध हो; किन्तु जब ऋषे किसी प्रवल प्रमाण से निश्चित हो, तो वहाँ हेतु उसे उलट कर कुछ सिद्ध नहीं कर सकता। जैसे कोई कहे कि 'ऋषि उच्छा नहीं है क्योंकि द्रव्य है' तो यह हेतु कालातीत है। क्योंकि जब ऋषि का उच्छा होना प्रत्यक्त से निश्चित है तो यहाँ उच्छा न होना सिद्ध करने के लिये हेतु का काल ही नहीं। क्योंकि ऋषिन का उच्छा न होना प्रत्यक्त से वाधित है। ऋतएव नवीन नैयायिक कालातीत को वाधित भी कहते हैं।

१४ छळ—अर्थ को बदल देने से वादी के वचन का विधात करना छल है। अर्थात् वादी के कहने का जो अभिप्राय है उससे विरुद्ध अभिप्राय लेकर उस पर आन्तेप करना छल है। यह छल तीन प्रकार का है:—

(क) वाक् छल — साधारण रूप से कहे हुए ऋथे में वक्ता के ऋभिप्राय से विरुद्ध अन्य ऋथे की कल्पना को वाक्छल कहते हैं। उसे किसी ने कहा कि 'यह बालक नव कम्बलवान हैं' कहनेवाले का यहां आशय यह हैं कि 'इस बालक का कम्बल नया है'; पर छलवादी वक्ता के अभिपाय से विश्व कहता है कि 'इस लड़के के पास तो केवल एक कम्बल है नौ कहाँ हैं'— नव शब्द के नवीन और नौ—ये दो अर्थ हैं। इस छलवादी की रोक यह है कि नवकम्बल शब्द जो दो विशेष अर्थों का एक सामान्य शब्द है, उसमें जो तुमने एक अर्थ की कल्पना करली है, इसका क्या हेतु है। क्योंकि बिना निश्चय किये अर्थ विशेष का निश्चय नहीं हो सकता है कि यह अर्थ इसको अभिनेत है और वह विशेष तुम्हार अर्थ में नहीं है, इस लिये यह तुम्हारा दृषण् नहीं सिद्ध होता।

(ख) सामान्य छल — जो बात यन सकती है उसके स्थान में त्र्यति समानता को लेकर एक बनती बात की कल्पना सामान्य छल है। जैसे किसी ने कहा 'यह ब्रह्मचारी विद्या-वित्य सम्पन्न है,' इस वचन का खंडन ऋर्थ विकल्प से प्रहण तथा त्र्यसम्भव ऋर्थ की कल्पना से बरना कि जैसे ब्रह्मचारी में विद्या-वितय-सम्पत्ति सम्भव है वैसा ब्रात्य (यद्योपवीत के संस्कार से हीन) में भी है तो ब्रात्य भी ब्रह्मचारी है क्योंकि वहे भी विद्या-नियम-सम्पन्न है। इसका खंडन यह है कि यह वाक्य प्रशंसार्थक है इसलिये इससे क्रसम्भव ऋर्थ की कल्पना

नहीं हो सकती: ब्रह्मचारी सम्पत्ति का विषय है उसका हेत् नहीं है।

(त) उपचार छल — धर्म के अमुख्य प्रयोग में मुख्य छर्थ से प्रतिषेध उपचार छल है। यहाँ 'धर्म' से श्रामियाय 'धृत्ति' का है। शब्द की धृत्ति दो प्रकार की है—मुख्य और श्रमुख्य। मुख्य श्रथे में मुख्य धृत्ति होती हैं, जैसे गंगायां स्ताति'—यहाँ गंगा शब्द मुख्य धृत्ति से प्रवाह का बोधक है। मुख्य धृत्ति को 'शिक्त' कहते हैं। और 'गंगायां घोषः' यहाँ गंगा शब्द श्रमुख्य धृत्ति से गंगातीर का बोधक है। श्रमुख्य धृत्ति को 'लक्त्य' कहते हैं। जब लक्त्य धृत्ति से गंगातीर का बोधक है। श्रमुख्य धृत्ति को 'लक्त्य' कहते हैं। जब लक्त्य धृत्ति से प्रयोग किगा गया हो और मुख्य धृत्ति को लेकर कोई निषेध करें, जैसे कहाँ हैं गंगा में घोष, घोष तो उसके किनारे पर हैं,' तो यह उपचार छल है। श्रथवा जैसे किसी ने कहा 'मचान चिछा रहे हैं। इसका दूसरा खरडन करता है कि मचानों पर बैठे हुए पुरुष चिल्ला रहे हैं न कि मचान। मचान शब्द के मुख्य श्रथे लक्ष्ट्रियों से बनी ऊँची बैठक के हैं जो किसान खेत की रखवाली के लिये बना लेते हैं श्रीर उसमें शब्द बक्ता का श्रमिप्राय है। वार्दा इसके श्रमिप्राय को न लेकर शंका करता है कि मच्च पर बैठे पुरुष बोलते हैं न कि मच्च। यह उपचार छल है। इसका खंडन यह है कि यहां मचान शब्द मुख्य नहीं, गौए है, मध्वस्थ पुरुषों के श्रथे में ही प्रयुक्त हुआ है। प्रधान और गौए शब्द का प्रयोग वक्ता की इन्छा पर होता है, और अर्थ उत्ती के श्रमिप्राय से लिया जाता है।

१५ जाति—साधर्म्य श्रीर वैधर्म्य से प्रतिषेध (खंडन) करने को जाति कहते हैं। श्रसत् उत्तर जाति है, जब कोई सच्चा उत्तर न सुभे तो साधर्म्य-वैधर्म्य को लेकर ही जो समय टाला जाता है वह जात्युत्तर होता है। जाति के चौवीस भेद हैं जो स्थानाभाव से यहाँ नहीं दिये जाते हैं।

निम्नहस्थान (हार की जगह)—विम्नतिपत्ति ऋषीत् उतटा समभना वा ऋप्रतिपत्ति ऋषीत् प्रकरण के खज्ञान को निम्नहस्थान कहते हैं, ऋषीत् विम्नतिपत्ति वा अमृतिपत्ति करने से पराजय होती है। प्रतिपत्ति का ऋर्य प्रवृत्ति है; विपरीत ऋथवा निन्दित प्रवृत्ति को विप्रति-पत्ति कहते हैं और दूसरे से सिद्ध किये पत्त का खरण्डन न करना ऋथवा ऋपने पत्त पर दिये हुए दोष का समाधान न करना ऋप्रतिपत्ति है। निष्रहस्थान बाईस प्रकार का है। स्थानाभावें से उन भेदों का यहाँ वर्णन नहीं किया जा सकता। निष्रहस्थान का साधारण लग्नण उत्तर का न फुरना वा उलटा फुरना समक लेना चाहिये।

वैशेपिकदर्शन के नौ द्रव्यों के सदश न्यायदर्शन के इन सोलह पदार्थों में से वास्तव में मुख्य, बारह प्रमेय ही हैं जो प्रमाण द्वारा जानने योग्य हैं। श्रन्य सब पदार्थ प्रमेय का प्रमाण द्वारा ज्ञान कराने में सहायक हैं।

प्रमेय

१ आन्मा—जिसके पहचान के लिये इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान व्यौर प्रयत्न लिङ्ग हैं । यही भोगता है ।

२ शरीर-जो चेटा, इन्द्रियों श्रीर श्रथों का श्राश्य श्रीर भोग का स्थान है।

३ इन्द्रियें — घ्राण, रसना, चक्षु, त्वचा, श्रोत्र, — जिनके उपादान कारण क्रम से पृथ्वी, जज्ञ, ऋग्नि, वायु ऋौर ऋाकाश हैं। ये भोग के साधन (करण) हैं।

४ अर्थ-गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द जो पांचों इन्द्रियों के यथाक्रम भोगने योग्य विषय और पांचों भूतों के यथायोग्य गुण हैं।

५ बुद्धि, भ्रान, उपलब्धि - ये तीनों पर्याय शब्द हैं। ऋथों का भोगना अर्थात् अञ्चयन करना वृद्धि है।

६ मन — जिसका लिङ्ग एक से श्राधिक ज्ञानिन्द्रयों से एक समय में ज्ञान न होना है, जो सारी इन्द्रियों का सहायक श्रीर सुख-दु:खादि का श्रानुभव कराने वाला है।

७ प्रवृत्ति—मन, वाणी श्रौर शरीर से कार्य का श्रारम्भ होना प्रवृत्ति है।

८ दोष-प्रवृत्त कराना जिनका लक्त्म है वे राग, द्वेष श्रौर मोह तीन दोष हैं।

९ प्रेतमाव - पुनर्जन्म अर्थात् सृक्ष्म शरीर का एक स्थूल शरीर छोड़कर दूसरा धारण करना प्रेतमाव है।

१० फल — प्रवृत्ति और दोष से जो अर्थ उत्पन्न हो उसे फल कहते हैं। फल दो प्रकार का होता है: मुख्य और गौण। मुख्य फल सुख-दु:ख का अनुभव है और सुख-दुख के साधन शरीर, इन्द्रियें, विषय आदि गौण फल हैं। यहाँ दोनों फलों के प्रह्ण करने के लिये अर्थ कहा है। राग, द्वेष और मोह जो दोष हैं उनमें से मोह राग-द्वेष का कारण है, और प्रवृत्ति फल की उत्पादक है।

११ दुःख—जिसका लज्ञ्ण पीड़ा है। सुख भी दुःख के श्रम्तर्गत है क्योंकि सुख बिना दुःख के नहीं रह सकता।

१२ अपवर्ग — दुःख की अत्यन्त निवृत्ति त्रर्थात् ब्रह्मप्राप्ति अपवर्ग है। इन दोनों दर्शनों के श्रनुसार आत्मा, आकाश, काल, दिशा, मन और (वाय, श्राप्त, जल और पृथिवी के) परमाणु नित्य हैं; श्रीर शरीर, इन्द्रियें, चारों स्थूल भूत श्रथीत् पृथिवी, जल, अप्रि, वाय और इनसे बनी हुई सारी सृष्टि अनित्य है।

नित्य द्रव्य निरवयव होना चाहिय । श्रात्मा, श्राकाश, काल श्रीर दिशा विभ श्रर्थात व्यापक होने के कारण श्रीर मन तथा चारों भूतों के परमाणु जो श्रणु हैं; ऋति सूक्ष्म होने के कारण निरवयव होने से नित्य हैं। इस श्रंश में विभ श्रीर श्रण द्रव्य समान हैं किन्त श्रण परिचिछन्न, एकदेशीय होने से सिक्रय होते है और विभ ज्यापक होने से निष्किय । इस अंश में अणु और विस एक दूसरे से विरोधी धर्म वाले हैं।

पृथिवी, जल, श्रीम, वाय, शरीर, इन्द्रियें तथा भूमग्डल श्रादि समस्त मूर्तिमान पदार्थ अवयव वाले, सिक्रय और अनित्य हैं। इन दोनों दर्शनों ने सांख्य के सदश परमात्म-तत्त्व को त्र्यात्म-तत्त्व में सम्मिलित कर दिया है अर्थात् उसको अलग वर्णन नहीं किया है। इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि इन्होंने उसके अस्तित्व को अखीकार किया है। ईश्वरीय ज्ञान वेद को दोनों दर्शनों ने श्रागम (शब्द) प्रमाण माना है ।

इस प्रकार परमात्म-तत्त्व को अलग वर्णन न करने का कारण यह है कि इन दोनों दर्शनों ने वेदान्त के समान 'हेयहेत' श्रर्थात दुःख का कारण श्रविद्या, मिथ्या-ज्ञान या अविवेक माना है। 'हान' अर्थात् दुख का अत्यन्त अभाव खरूप-अवस्थिति, अपवर्ग, निःश्रेय या ब्रह्म-प्राप्ति बतलाया है। किन्तु 'हानोपाय' अर्थात् दुःख-निवृत्ति का साधन जहाँ वैदान्त ने बहाजान बतलाया है वहाँ इन दोनों दर्शनों ने जड़ श्रीर चेतन तत्त्व का विवेक स्थर्धन तत्त्व-ज्ञान माना है।

दःखजन्ममृहत्तिदोषमिथ्याह्मानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः ।

अर्थ-सोलंह पदार्थी के तत्त्वज्ञान से मिध्या-ज्ञान अथात् अविद्या का नाश होता है। मिध्या-ज्ञान के नाश से दोषों (राग, द्वेष, मोह) का नाश होता है। दोषों के नाश से प्रवित्त का नाश होता है। प्रवृत्ति के नाश से जन्म का न मिलना और जन्म के न मिलने से सब दुखों का अभाव होता है। सब दुखों का अभाव ही अपवर्ग है।

आत्मेन्द्रिय मनोर्थ सिक्षकर्पात् सुख दुःखे । (पारावप वैशेषिक) अर्थ-जात्मा, इन्द्रिय, मन श्रीर श्रर्थ के सम्बन्ध से सुख दु:ख होते हैं।

तदनारम्भ श्रात्मस्थे मनिस शरीरस्य दुःखाभावः स योगः । (पारां १ वैक्रे०) अर्थ-मन का श्रात्मा में स्थित होने पर उसका (मन के कार्य का) जो श्रनारम्भ (कार्य का बन्द कर देना) है वह योग है जो शरीर के दु:ख के अभाव का हेत है।

अवसर्परामप्रसर्परामशितपीत संयोगाः कार्यान्तर संयोगाश्चेत्य रहकारितानि । (पारा१७ वैद्ये०)

अर्थ-(यह जो मरने के समय मन का पूर्व देह से) निकलना और (दसरे देह में)

प्रवेश करना है तथा (जन्म से ही) जो खाने पीने की वस्तुओं के संयोग हैं तथा दूसरे शरीर का जो संयोग है ये (सब मनुष्य के) श्रदृष्ट से कराये जाते हैं।

यहां ऋहु (धर्म ऋधर्म) मीमांसकों के ऋपूर्व और सांख्य योग के कमीशय के ऋर्थ में

प्रयोग हुआ है ।

तदभावे संयोगाभावोऽमादुर्भावश्च मोत्तः। (५/२/१८ वंशे०)

अर्थ-(तत्त्वज्ञान से) उसे (ऋट्ट) का स्त्रभाव हो जाने पर (पूर्व शरीर से) संयोग का स्रभाव और नये का प्रकट न होना मोच है।

न्याय मध्तरी में मुक्ति के स्वरूप का इस प्रकार का वर्णन किया गया है।

स्वरूपैक प्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽत्विलैर्गुणैः । कर्मिपट्कातिगंरूपं तदस्याहुर्मनीषिणः ॥ संसारवन्धनाधीनं दुःखक्कोशाद्य दृषितम् ।

अर्थात-मूक दशा में आत्मा अपने विशुद्ध (ज्ञान) स्वरूप में प्रतिष्टित, और श्रिखिल गुलां से विरहित रहता है। ऊर्मिका ऋषे छेश विशेष है। भूख प्यास प्राण के, लाभ मोह चित्तके शीत श्रीर तप शरीर के छेशदायक होने से ऊर्मि कहे जाते हैं। मुक्त श्रात्मा इन छ: उर्मियों के प्रभाव को पार कर लेता है श्रीर दु:ख छेशादि सांसारिक बन्धनों से विमुक्त होता है। मुक्त श्रवस्था में बुद्धिः, सुख, दुःख, इन्छा, द्वेष, ज्ञान, प्रयत्न, धर्म, श्रधर्म, तथा संस्कार का मुलान्छंद हो जाता है। श्रात्मा के इस शुद्ध स्वरूप को वैदान्त में बतलायां गया है ''सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म' (तै॰ २।१।१।) परब्रह्म सत्य ज्ञान खरूप और अनन्त है। यही सांख्य श्रीर यांग का कैवल्य है। श्रीर वेदान्त की शुद्ध, निर्शुण, निर्विशेषब्रह्म के स्वरूप में श्रवस्थिति है। सख, द:ख, ज्ञान, प्रयत्न, धर्म श्रधर्म, श्रादि सांख्य में बुद्धि के धर्म बतलाये गये हैं। किन्तु न्याय (सत्र १।१०) श्रीर वैरोपिक (सत्र ३।२।८) में बुद्धि को श्रात्मा में सम्मिलित करके आत्मा के शवल खरूप को जडपदार्थों से भिन्न पहचान करने के लिये ... उसके लिक्क (चिन्ह) के रूप में वर्णन किये गये हैं। यह भ्रममृलक शंका नहीं होनी चाहिये कि मक्त श्रवस्था में ज्ञान के न रहने से आत्मा एक जड़पदार्थ रह जावेगा। क्योंकि बुद्धि का धर्म रूप ज्ञान तो त्रिगुर्णात्मक जड़प्रकृति के तीनों गुर्णों में सत्त्वगुर्ण के सात्विक प्रकाशरूप है। श्रीर श्रात्मा का ज्ञान उससे श्राति विलवण चेतनरूप है। क्योंकि श्रात्मा खयं चैतन्य स्वरूप है। उससे प्रकाशित होने के कारण बुद्धि में चेतनता की प्रतीति होती है। मुक्त श्रवस्था में दःख सुख दोनों का श्रभाव होता है क्योंकि दुःख निवृत्ति ही का नाम सुख है। सख के साथ राग लगा रहता है और वह वन्धन का साधन है। तथा "परिणाम ताप-संस्कार दः वैर्गणवृत्तिविरोधीच दः खमेवसर्विविवेकिनः" (यो॰ सा॰ पा॰ १५) अर्थः--क्योंकि (विषय सुख के भोग काल में भी) परिणामदु:ख, तापदु:ख, श्रौर संस्कारदुख:, बना रहता है और गुगों के खभाव में भी विरोध है इसलिये विवेकी पुरुष के लिये सब कुछ (सुख भी जो विषयजन्य है) दुःख ही है। त्रिगुणात्मक प्रकृति के रजसमें दःख है

श्रीर सत्त्वमें सल है। इसलिये सुख के बने रहने में गुणातीत श्रवस्था नहीं रह सकती। सख विषय और विषयभोक्ता दोनों की अपेन्ना रखता है। इस कारण मुक्त अवस्था में सख

के मानने से निविशेष, निर्गुण, ग्रद्ध श्रद्धैत की सिद्धि न हो सकेगी।

उपनिषदों में जहां बहा के साथ आनन्द का शब्द आया है वह हान के अर्थ में है। अथवा वे श्रतियें शबल बहा अर्थात् अपर बहा की सूचक हैं। और वह मुक्ति की अवस्था-शबल ब्रह्म की प्राप्ति है जो पुनरावर्तिनी है श्रीर ब्रह्म लोकतक सूक्ष्म लोकों के श्रानन्द को भोगना है। श्रीर जो सांख्य श्रीर योग के श्रनसार सम्प्रज्ञातसमाधि का श्रन्तिम ध्येय है। इसलिये कैवल्यरूप और पुनरावर्तिनी रूप दो प्रकार की मुक्ति है जो जिसको अभिमत हो वह उसकी इच्छा करे और उसकी प्राप्ति के लिये यत्र करे।

कार्य-कारण

प्रत्येक संहत्यकारी त्रर्थात् किसी प्रयोजन के लिये बनी हुई वस्तु, जैसे वस्न कार्य कह-लाता है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता। यह कारण तीन प्रकार के होते हैं:-

(१) उपादान कारण-जिससे वह वस्तु बनी हो, जैसे तन्त जिससे वह वस्त बना

है, यहाँ तन्त वस्त्र का उपादान कारण है।

(२) निमित्त कारण-तन्तुत्रों का संयोग विशेष करने वाला जलाहा निमित्त कारण है।

(३) साधारण कारण--तन्तुत्रों का स्रोतप्रोत रूप में संयोग विशेष तथा कर्घा श्रादि साधारण कारण हैं।

न्याय और वैशेषिक का सिद्धान्त

इन दोनों दर्शनों का सिद्धान्त आरम्भिक उपादान कारण अर्थात् परमाणु बाद है। इनके सिद्धान्तानुसार सारे स्थल पदार्थों के मूल उपादान कारण निरवयव सूक्ष्म परमाणु है। ऐसे दो परमाणुत्रों के त्रापस में संयुक्त हो जाने से द्वर्यणुक की उपित्त होती है जो ऋण परमाणु विशिष्ट होने से खर्य अतिन्द्रिय होते हैं। ऐसे तीन द्वर्णपुकों के संयोग से ज्यणक (त्रसरेण या ब्रुटि) की उत्पत्ति होती है जो महत्परमाणु से संयुक्त होने से जन्य पदार्थों का उत्पादक तथा इन्द्रिय गोचर होता है। घर के छत के छेद से जब सूर्य किरणें प्रवेश करती हैं तब उनमें नाचते हुए जो छोटे २ कण नेत्र गोचर होते हैं वेही त्रसरेणुः हैं। यथा:--

जालांतर गतेभानी यत् सूचमं दृश्यतेरजः। तस्य षष्टतमौ भागः परमाणु स उच्यते ॥

त्रयणक का महत्त्व द्वयणुकों की संख्यां के कारण उत्पन्न हुन्ना माना जाता है, न कि उनके अर्ण परमाण से। चार त्रसरेणुओं के योग से चतुरणुक की उत्पत्ति होती है। फिर स्थल पदार्थी की इत्यादि । इस प्रकार पृथ्वी, जल, अप्रि, वायु और उनके सारे स्थल पदार्थों की उत्पत्ति होती है। ये परमाणु उपादान कारण हैं और इनका विशेष रूप से संयोग होना साधारण कारण है; श्रीर ईश्वर, जिसके झान श्रीर प्रेरणा से यह परमाणु विशेष रूप से संयुक्त हो रहे हैं, वह और अटप्ट (पुरुष का भाग और अपवर्ग अथवा कमाशय) इनका निमित्त कारण हैं। इस प्रकार न्याय और वैशेषिक ने सांख्य की प्रकृति और महत्तत्त्व को जड़तत्व के साथ वर्णन करने की आवश्यकता न देखी। जिस प्रकार सांख्य ने पांच तन्मात्राओं और अहंकार को स्थूलभूतों और इन्द्रियों आदि का प्रकृति (उपादान कारण) माना है इसी प्रकार न्याय और वैशेषिक ने परमाणुओं को स्थूल भूत, शरीर और इन्द्रियों का उपादान कारण माना है। किन्तु जहाँ सांख्य ने आहंकार और तन्मात्राओं को महत्तत्व की विकृति (कार्य) माना है वहां न्याय और वैशेषिक ने मन और परमाणुओं को निरवयव होने के कारण इनके अतिरक्त इनके अन्य किसी कारण (प्रकृति) को खोज करने की आवश्यकता न समम्ती।

जिस प्रकार सांख्य और योग ने स्थूलभूत और इन्द्रियों को केवल विकृति (विकार) माना है वैसे ही इन दोनों दर्शनकारों ने स्थूलभूत और इन्द्रियों को मध्यम परिमाणवाला और अनित्य माना है।

सांख्य के तीनो गुणों के परिणाम के स्थान पर इन्होंने परमाणुओं का विशेष रूप से संयोग ही साधारण (श्रसमवार्था) कारण माना है। तीसरा निमित्त कारण ईश्वर, चारों दशेनकारों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य श्रीर योग) को समान-रूप से श्रीमत है यद्यपि उसको विशेष रूप से वर्णन करने की श्रावश्यकता नहीं मानी है—जिस प्रकार सुवर्ण से वने दृए श्राक्ष्यण की परीचा के समय सुवर्णकार की परीचा करना बुद्धिमत्ता नहीं है। किन्तु इंश्वर के श्रान्त्व को तो सभी दर्शनकारों ने माना है।

यथा- 'चित्र्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात् घटवतु'

त्रर्थ—जिस प्रकार कुम्हार घट का बनाने वाला है उसी प्रकार ईश्वर जगत् का बनाने वाला है।

'ईश्वरः कारणं पुरुषकर्भाष्ट्रच्य दर्शनात्' (पा०४।९।१९) श्रर्थ—मनुष्यों के कर्भों के फल जिसके हाथ में हैं वही ईश्वर है।

'संज्ञा कमें त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गस् ।। प्रत्यचा पट्टत्तस्वात् संज्ञा कर्रेणः' । (वैशेषिक० २ । ३ । १८)

इन सूत्रों की शंकर मिश्र ने इस प्रकार व्याख्या की है।

संज्ञा नाम कर्भ कार्य्य चित्यादि तदुभयम् अस्मिद्विशिष्टानां ईश्वर महर्पीणाम् सन्वऽपि लिक्कम् । घट पदादिसंज्ञा निवेशनमिप ईश्वर संकैताधीनमेव । यः शब्दो यत्र ईश्वरेण संकेतितः सतत्रसाधुः । तथा च सिद्धं संज्ञाया ईश्वर लिक्क्व्यम् । एवं कमीपि ईश्वरे लिक्कम् । तथा दिचित्यादिकं सकर्तृकं कार्य्यत्वात् घटवत् इति ।

अधोत्—संज्ञा अर्थात् नाम और कर्म अर्थात् पृथ्वी आदि कार्य्य ये दो चीजें हम से बढ़ कर एक विशिष्ट ईश्वर और महर्षि आदि के अस्तित्व को प्रमाणित करती हैं। घट पट, आदिनाम से वे ही पदार्थ किस प्रकार समभें जाते हैं? ईश्वर के संकेत से। पृथ्वी जल जब कार्थ हैं, तब इनका कर्ता भी अवश्य होना चाहिये; वहीं ईश्वर है।

तद्भवनादास्रायस्य प्रामाण्यम्। (वै०१।१।३) में तद् शब्द ईश्वर का बोधक है। इन सक्ष्म परमाणुत्रों को श्रवकाश देने वाला एक व्यापक जड़तत्व चाहिए था। उसके लिये न्याय और वैशेषिक ने आकाश महान् परिमाणवाला मल प्रकृति (प्रधान) के स्थान पर माना है। स्त्राकाश से ऋतिरिक्त इन दोनों दर्शनकारों ने परमाणुत्रों के संयोगक्रम तथा परत्व-श्चपरत्व दिखलाने के लिये दिशा श्रीर काल को भी महत परिमाणवाला माना है जिनको सांख्य श्रीर योग ने बुद्धि का निमाण किया हुआ मानकर चौबीस तत्त्वों में सम्मिलित नहीं किया है।

सांख्य तथा योग के सहश ये दोनों दर्शन भी आत्मा को विभ और शरीर, इन्द्रिय तथा मन से प्रथक चेतन तत्त्व मानते हैं। ऋात्मा को जड-तत्त्व से भिन्न दिखलाने वाले चिह्न निम्न प्रकार बतलाये हैं-

पाणपान निमेषोन्मेष जीवन मनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छा-द्वेषपयत्नाथात्मनो लिंगानि । (३२।४ वैशे०)

श्रर्थ -प्राण, श्रपान, पलक मीचना-खोलना, जीवन, मन की गति, एक इन्द्रिय के प्रत्यत्त से दूसरे इन्द्रिय में विकार उत्पन्न होना, सुख, दु:ख, इन्छा, द्वेष श्रीर प्रयत्न श्रात्मा के लिङ्ग (चिह्न) हैं।

इच्छाद्रेषमयत्रसुखदुःज्ञानान्यात्मनोत्तिगम् । (१। १० म्याय)

त्रर्थ-इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख श्रीर ज्ञान श्रात्मा के लिङ्ग (चिह्न, साधक) हैं। श्रात्मा शरीर से भिन्न एक चेतन तत्त्व है। क्योंकि श्वास को बाहर निकालना, श्रन्दर लेजाना, पलक भपकाना आदि कियायें उसी समय तक रहती हैं जब तक उसका आत्मा से संयोग रहता है। श्रात्मा से संयोग छटने पर मृतक शरीर में कियायें नहीं होतीं। इसलिये जहाँ यह कियायें हों वहाँ श्रात्मा का होना सिद्ध होता है।

योग और सांख्य ने बुद्धि अर्थात चित्त को पृथक तत्त्व माना है। किन्तु न्याय और वैशेषिक ने इसको आत्मा में ही सम्मिलित करके आत्मा के शबल स्वरूप के धर्म, ज्ञान. प्रयत्न श्रादि बतलाये हैं। इसलिये जहाँ सांख्य श्रीर योग ने श्रात्मा को ज्ञान श्रथवा चेतन खरूप माना है वहाँ न्याय श्रीर वैशेषिक ने ज्ञान श्रीर प्रयत्न श्रादि धर्मवाला माना है। क्योंकि ज्ञान और प्रयत्न त्रादि को त्रात्मा का धर्म माने बिना वैशेषिक के लच्चागुनुसार (शुद्ध) त्रात्मा का त्रास्तित्व इनके प्रमाण और लन्नण से सिद्ध नहीं हो सकता था। क्योंकि उनके लच्चणानुसार द्रव्य या तो समवायीकारण हो, जैसे परमाणु स्थूल भूतों के, या क्रिया-वाला हो जैसे मन तथा परमाणु, श्रीर या गुणवाला हो जैसे श्राकाश शब्द-गुण वाला है।

चेतन खरूप आत्मा में ये तीनों धर्म न होने से वैशेषिक और न्याय के लक्षणानुसार जो केवल भौतिक पदार्थों के वास्तविक स्वरूप को बतलाते हैं, आत्मा का वास्तविक स्वरूप नहीं सिद्ध हो सकता था। इसलिये इन्होंने बुद्धि (चित्त) को आत्मा में सम्मिलित करके उसके (बुद्धि के) धर्म, ज्ञान, प्रयत्न आदि से आत्मा के शवल खरूप का अस्तित्व बुद्धि के साथ सिद्ध किया है।

वैशेषिक सूत्र (१।१।४) और न्याय सूत्र (१।१०) में बतलाये हुए लिक्ष आत्मा के धर्म नहीं हैं और न इनका आत्मा के साथ समवाय सम्बन्ध है। यह आत्मा का शरीर के साथ अतित्व बतलाने के लिये केवल चिह्न मात्र हैं। जैसे राम के मकान को निर्देश करने के लिये यह कहा जाय "जिस स्कान में आम का बृत्त हैं वही राम का मकान है" इन दोनों सूत्रों में आर्था के सगुण आर्थात् शवल खरूप को बताया है। जिसकी संझा जीव है। क्योंकि प्राण, अपान, पलक मींचना पलक खोलना, जीवन, यह सब प्राण के धर्म हैं। मन की गति मन का धर्म हैं। इन्द्रियों का विकार इन्द्रियों का धर्म है। इच्छा, हेष, दुःख, सुख प्रयत्न, और झान बुद्धि के धर्म है। ये सब तीनों गुणों के काय्यों के धर्म गुण रूप ही हैं। इसी बात को गीता अध्याय ५ के ८ वें ९ वें ऋोक में बताया गया है।

नैव किश्चित् करोमीति युक्तोगन्यैत तत्त्ववित् । पश्य न्श्रृणवन्स्पृशिक्षघन्नभन् गच्छन्खपन्भसत् ॥ = ॥ मलपन् विग्रमन् गृहन्तुन्मिषन्निमिषन्नपि । इन्द्रिपाणीन्द्रियोर्थेषु वर्तन्त इतिधारयन् ॥ ६ ॥

चर्थ—तत्त्व को जानने वाला सांख्य योगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्वरा करता हुआ, सूंचता हुआ, भोजन करता हुआ, गामन करता हुआ, सोता हुआ, श्रास लेता हुआ, बोलता हुआ, प्रहण करता हुआ, आँखों को खोलता हुआ और मीचता हुआ भी सब इन्द्रियाँ आपने २ अर्थों में वर्त रही हैं इस प्रकार समक्तता हुआ निःसंदेह ऐसे माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

मात्मा का शुद्ध स्वरूप वैशेषिक के मुत्र (७।१।१२) में बताया गया है। विभवान्महानाकाशस्त्रथाचात्मा (वै०७।१।२२)

क्रथे—विभू धर्मवान् महान् है आकाश वैसे (ज्ञानस्वरूप) आत्मा है। वैरोपिक के इस सूत्र के अनुसार ही श्रुति स्मृतियों में आत्मा के शुद्ध ज्ञान स्वरूप को ज्यापक और निष्क्रिय ही माना है (यथा)—आकाशवन् सर्वगृतश्चनित्त्यः। (बन्दोग्य ३ : 1४ : ३)

श्चर्य—त्राकाश के समान श्रात्मा व्यापक श्चौर नित्य है। नित्य: सर्वगत: स्थागुरचलोऽयं सनातनः। गीता अ०। २। २४।

अर्थ—यह त्रात्मा नित्त्य व्यापक स्थाण तथा निष्किय श्रीर सनातन है।

मनादित्वासिर्गुणत्वात् परमात्मायमञ्ययः।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

यथा सर्वगतं सौचम्यादाकाशंनोपलिप्यते ।

सर्वेत्रा बस्थितो देहे तथास्मानो पिलप्यते ॥ (गीता १६ । ३२ । ३३)

अर्थ-जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त हुआ आकाश (भी) सूक्ष्म होने से लिपायमान

नहीं होता है, वैसे ही सर्वत्र देह में खित हुआ (भी) आत्मा गुणातीत होने के कारण देह के गुणों से लिपायमान नहीं होता है। ३१।

-हे अर्जुन जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्माएड को प्रकाशित करता है उसी

प्रकार एक ही आत्मा सम्पूर्ण तेत्र को प्रकाशित करता है।

श्रात्मा के शबल खरूप की पिंड रूप व्यष्टि शरीरों में सिद्धि से सामान्यतोदृष्ट प्रमाण द्वारा परमात्मा की ब्रह्मांडरूप समष्टि में सिद्धि होती है।

वैशेषिक श्रीर न्याय में योग साधन की शिता।

श्रात्मा तथा परमात्मा का ऋस्तित्त्व प्रमाण श्रीर लच्चण से सिद्ध करने के पश्चात इन दोनों दर्शनकारों ने न केवल आत्मा श्रौर परमात्मा का, किन्तु श्रतीन्द्रिय जड़ पदार्थों का भी वास्तविक स्वरूप जानने के लिये योग-साधन का ही सहारा वतलाया है। यथा:-

श्चात्मन्यात्म मनसोः संयोगविशेषादात्म प्रत्यत्तम् । (९।९।९१ वैशे०)

अर्थ - आत्मा में आत्मा और मन के संयोग विशेष से आत्मा का प्रत्यच होता है। श्चर्यात् श्चात्मा श्रीर मन का योग-समाधि द्वारा जब संयोग प्रत्यत्त होता है तो उस संयोग विशेष से आत्मा का प्रत्यच होता है।

तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यत्तम् । (९।१।१२ वैशे०)

अर्थ--इसी प्रकार अन्य (सुक्ष्म अतीन्द्रिय) द्रव्यों का प्रत्यक्त होता है।

श्रसमाहितान्तः करणा उपसंहतसमाध्यस्तेषां च। (१।।।१३ वैशे०)

अर्थ--- यक्त योगी जो समाधि को समाप्त कर चुके हैं उनके लिये (श्रतीन्द्रिय द्रव्यों का) बिना समाधि के भी प्रत्यत्त होता है।

तत्समवायात् कर्मग्रुणेषु । (११११४ वैशे॰) अर्थ—उन (द्रव्यों) में समवेत होने से कर्म गुणों में (युक्त और युक्तान दोनों प्रकार के योगियों को प्रत्यन्त होता है)।

श्चात्मसमनायादात्मगुणेषु । (९।१।१५ वैशे०) अर्थ-स्थात्मा में समवेत होने से स्थात्मा के गुणों का प्रत्यन्न होता है।

समाधि विशेषाभ्यासात् । (४।२।३८ म्याव) अर्थ-समाधि विशेष के ऋभ्यास से (तत्त्व ज्ञान उत्पन्न होता है)।

श्ररायगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेश: । (४।२।४२ न्याय)

अर्थ-वन गुका और नदी-तीर श्रादि स्थानों में योगाभ्यास का उपदेश (किया जाता है)। तदभावश्चापवर्गे । (शश्य स्याय)

अर्थ-श्रीर मोत्र में उसका (इन्द्रिय श्रीर अर्थ के श्राश्रयभूत शरीर का) श्रभाव होता है। तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः । (४।२।४९म्बाय)

अर्थ-जस मोत्त के लिये यम और नियमों से तथा अभ्यास विधि के उपायों द्वारा योग से आत्मा का संस्कार करना चाहिये। अर्थात् योग के प्रतिबन्धक मल विश्लेष ध्रीर श्रावरण को हटाना चाहिये।

चौथा प्रकरगा

सांख्य और योग-दर्शन

सांख्य त्रौर योग भारतवर्ष की प्राचीन प्रसिद्ध वैदिक तथा वेदान्त किलास्की है, जिसने सारे भुमगडल के विद्वानों को विस्मित कर दिया है।

परमात्मा (चेतन तत्व) के निर्भुष गुद्ध स्वरूप का वर्णन उपनिपदों में विस्तार पूर्वक किया गया है इसलिये उपनिपदों को वेदान्त कहते हैं। ज्ञान का अन्त अर्थातू जिसके जानने के पश्चात् कुछ जानना रोप न रहे। योग और सांख्य में उसके जानने के साधन विरोष रूप से बतलाये गये हैं इसलिये सांख्य और योग ही प्राचीन वेदान्त किलासकी है। यथा—

नित्यो नित्यानां चेतनश्वेतनानामेको बहूनां यो विद्धाति कामान् । तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वे पाशैः (श्वेता० १।)६)

नित्यों का नित्य चेतनों का चेतन जो श्रकेला ही बहुतों की कामनाश्रों को पूरा करता है। उस देव को जो (सृष्टि श्रादि का निमित्त) कारण है श्रीर जो सांख्य श्रीर योग द्वारा ही जाना जा सकता है, जानकर (मनुष्य) सारी फांसों से छूट जाता है।

वेतान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः सन्यास योगाइ यतयः शुद्ध सत्त्वाः । ते ब्रह्म लोकेषु परान्तकाले परामृताः परिसुच्यन्ति सर्वे । (स॰३ ख॰२ सं०६)

वेदान्त के विज्ञान का उद्देश्य जिन्होंने ठीक २ निश्चय कर लिया है और जो यित जन सन्यास (सांख्य) श्रीर योग से शुद्ध श्रन्तःकरण वाले हैं, वे सारे सबसे उत्तम श्रमृत को भोगते हुए मरने के समय ब्रद्ध लोकों में स्वतन्त्र हो जाते हैं।

तथा:- नास्ति सांख्यसमं ज्ञानं नास्ति योग समं बलम् ।

सांख्य के समान श्रीर कोई दूसरा ज्ञान नहीं है श्रीर योग के समान श्रीर कोई दूसरा बल नहीं है।

द्वो क्रभौ चित्तनाशाय योगो ज्ञानं च राघद । योगोद्वत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेत्तरणम् ॥ **असाध्यः कस्यचिद्योगो ज्ञानं कस्यचिदेव च**ा

मकारी द्वौततः सात्ताज्जगाइ परमः शिवः ॥ (योग वक्षिष्ट)

अर्थ—हे राम ! चित्त के नाश करने के लिये केवल दो निष्ठायें वतलाई गई हैं— योग और सॉंख्य । योग चित्त यृत्ति निरोध से प्राप्त किया जाता है और सांख्य सम्यग् ज्ञान से । किसी २ के लिये योग कठिन होता है और किसी २ को सांख्य । इस कारण परम् शिव ने योग और सांख्य दोनों ही मार्गों को वतलाया है ।

लोके ऽस्मिन्द्रिविधा निष्ठा पुरा मोक्ता मयानघ।

ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्पयोगेन योगिनाम् ॥ (श्रीमद्भगवद्धगीता अ०३।३)

हे निष्पाप ऋर्जुन । इस मनुष्य लोक में मैंने पुरातन काल में (कपिल मुनि श्रौर हिर्एयगर्भरूप से) दो निष्ठायें बतलाई हैं। (कपिल मुनि द्वारा बतलाई हुई) सांख्य योगियों की निष्ठा ज्ञान योग से होती है श्रौर (हिरएयगर्भ रूप से बतलाई हुई) योगियों की निष्ठा निष्काम कमेयोग से होती है। यथा--

सांख्यस्य वक्ता कषिताः परमर्षिः स उच्यते ।

हिरएयगर्भी योगस्य वक्ता नान्यो पुरातनः ॥ (महाभारत)

सांख्य के वक्ता परम् ऋषि कपिल हैं और योग के वक्ता हिरययगर्भ हैं। इन से पुरातन इन का वक्ता श्रीर कोई नहीं। यद्यपि ये दोनों किलासकी श्रलग २ नाम से वर्यान की गई हैं। किन्तु, वास्तव में दोनों एक ही हैं। यथा:—

सांख्योगो प्रथम्बालाः प्रवदन्ति न परिहताः।

एकमप्यास्थितः सम्यग्रभयोविंन्दते फलम् ॥

यत्सां ख्यैः पाष्यतं स्थानं तद्यागैरप्य गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति सः पश्यति ॥ (गीता अ॰ पा४,प)

सांख्य और योग को पृथक पृथक अविवेकी लोग ही जानते हैं न कि पंडित लोग। इन दोनों में से एक का भी ठीक अनुष्ठान कर लेने पर दोनों का फल मिल जाता है। सांख्य योगी जिस शुद्ध परमात्मखरूप का लाभ करते हैं योगी भी उसी को पात हैं। जो सांख्य और योग को एक जानता है वहीं तत्त्व वेत्ता है। किन्तु इन दोनों में सांख्य किंचिन् कठिन है। यथा:—

सन्यासस्तु महाबाह्ये दुःखमाप्तुमयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म निवरेणाधिगच्छति ॥ गीता ५। ६

किन्तु हे ऋजु न ! विना योग के सांख्य साधन रूप में कठिन है । योग से युक्त होकर सुनि शीघ ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं ।

जिस प्रकार सत्त्व, रजस श्रीर तमस इन तीनों मं से प्रत्येक गुगा बिना श्रन्य दो

की सहायता के अपना कोई भी कार्य स्वतन्त्ररूप से प्रारन्भ नहीं कर सकते उसी प्रकार ज्ञान, कर्म और उपासना भी अपने २ कार्य में परस्पर एक दूसरे के सहयोग की अपेचा रखते हैं। सांख्य में ज्ञान प्रधान हैं और कर्म और उपासना गीए। और योग में कर्म और उपासना की प्रधानता है।

सांख्य श्रीर योग दोनों खारम्भ में एक ही खान से चलते हैं श्रीर श्रन्त में एक ही खान पर मिल जाते हैं किन्तु योग बीच में थोड़े से मार्ग से घुमाव बाली पकी सड़क से चलता है श्रीर सांख्य सीधा कठिन राख्ते से जाता है।

सांख्य और योग में विहिमुंख होकर संसार चक्र में घूमने के कारण श्रविद्या, श्रिमता राग, देव श्रीर श्रिमिनिवेश क्लेश तथा सकाम कमें बतलाये गये हैं श्रीर इसी क्रमानुसार श्रन्तमुंख होने के साधन श्रदाङ्ग योग श्रर्थात् यम, नियम, श्रासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान श्रीर समाधि है।

योग द्वारा अन्तर्मुख होना—यम, नियमासन, प्राणायाम, प्रत्याहार ये पांच बहिरङ्ग साधन हैं और धारणा, ध्यान, समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं। ये तीनों घारणा, ध्यान, समाधि भी असम्प्रज्ञान समाधि (स्वरूपावस्थिति) के बहिरङ्ग साधन हैं उसका अन्तरङ्ग साधन नेति नेति रूप पर-वैराग्य है, जिसके द्वारा चित्त से अलग आत्मा को साज्ञात्कार कराने वाली विवेक ख्याति रूप साल्विक वृत्ति का भी निरोध होकर (शुद्ध जैतन्य) स्वरूपावस्विति का लाभ होता है।

संख्य द्वारा अन्तर्मुख होना — अष्टाङ्ग योग के पहिले पांच वहिरङ्ग साधन सांख्य और योग में समान है किन्तु जहाँ योग में सालम्बन अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा किसी विषय को ध्येय बना कर अन्तमुखे होते हैं। वहां सांख्य में निरालम्ब अर्थात् विना किसी विषय को ध्येय बना कर अन्तमुखे होते हैं। उसमें धारणा, ध्यान और समाधि के स्थान में चित्त और उसकी वृत्तियां दोनों हां त्रिगुणात्मक हैं इसलिये "गु.ण ही गु.णों में वर्त्त रहें हैं" इस भावना से आत्मा को चित्त से पृथक अर्क्ता केवल शुद्ध स्वरूप में देखना होता है। "यह आत्म-साज्ञात्कार कराने वाली विवेक ख्याति रूप एक गु.णों की ही सात्मिक पृत्ति हैं"। इस प्रकार पर वैराग्य द्वारा इस वृत्ति के निरोध होने पर (शुद्ध चैतन्य) स्वरूपाविशित को प्राप्त होते हैं।

योग में उत्तम अधिकारियों के लिये असम्प्रज्ञात समाधि लाभ का विशेष उपाय ईश्वर प्रणिधान—यह ओश्म की मात्राओं द्वारा उपासना है अर्थात् श्रोश्म के अर्थों की भावना करते हुए वाणी से जाप करना एक मात्रावाले श्रकार की उपासना है। इस में स्थूल शरीर का श्रामिन रहता है इसलिय स्थूल शरीर के सम्बन्ध से जो श्रास्मा की संज्ञा विश्व है वह उपासक होता है श्रीर स्थूल जगत् के सम्बन्ध से जो प्रसास्मा की संज्ञा विराट है वह उपास्म होता है।

श्रोश्म के मानसिक जाप में श्रकार, उकार दो मात्रा वाले श्रोश्म की उपासना होती है। इसमें सूक्ष्म शरीर का श्रभिमान रहता है इसीलिये सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से जो श्रात्मा की संज्ञा तैजस है वह उपासक होता है और सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध से जो परमात्मा की संज्ञा हिरएयगर्भ है वह उपास्य होता है। जब मानसिक जाप भी सूक्ष्म होकर केवल की श्रम् का ध्यान (ध्विन) ही रह जावे तो यह व्यकार, उकार, मकार तीनों मात्रा वाले पूरे ब्योश्म की उपासना है। इसमें कारण शरीर का व्यासना है। इसमें कारण शरीर के सम्बन्ध से व्यात्मा की जो संज्ञा प्राज्ञ है वह उपासक होता है और कारण जगत् के सम्बन्ध से जो परमात्मा की संज्ञा ईश्वर है वह उपास्य होता है। जब यह तीन मात्रा वाली ध्यान हप वृचि भी सूक्ष्म होते होते निकद्ध हो जावे तो व्यमात्र विराम रह जाता है। यह कारण शरीर कौर कारण जगत दोनों से पर शुद्ध परमात्मप्राप्ति रूप स्वरूपार्वाक्षित्रति है जो प्राणिमात्र का व्यक्तिम ध्येय है।

सांस्य में उत्तम अधिकारियों के लिये असम्प्रकात समाधि लाभ का विशेष उपाय "ध्यानं निर्विषयं मनः"—इस के द्वारा जो वृत्ति आवे उस को इटाना होता है। अन्त में सब वृत्तियां रुक जाने पर निरोध करने वाली वृत्ति का भी निरोध करके खरूपाविधिति को प्राप्त करना होता है। योग का भक्ति का लम्बा मार्ग सुगम है। यह सांख्य का ज्ञान का छोटा मार्ग उससे कठिन है।

कार्यक्षेत्र में सांख्य और योग का व्यवहार—"कर्मा शुक्ला कृष्णं योगिनास्त्र-विधमितरेषाम्" (योग॰ द॰ ४। ७) योगियों का कर्म न पापमय होता है न पुएयमय; क्योंकि योगी के लिये तो पाप कर्म सर्वथा त्याच्य ही है, और कर्त्तन्य रूप पुएय कर्म वह आसक्ति, लगाव, ममता और श्रहंता को छोड़ कर निष्काम भाव से करता है। इस लिये वन्धन रूप न होने से श्रक्तमं रूप ही है। साधारण श्रयोगी लोगों के कर्म पाप, पुरुव और पापपुरुव से मिश्रित तीन प्रकार के होते हैं। यह सूत्र सांख्य और योग दोनों के लिये समान है किन्तु योगी कर्म और उसके फल को ईश्वर के समर्पण करके श्रासक्ति को त्यागते हैं श्रीर सांख्य योगी गुण गुणों में वर्त्त रहे हैं आत्मा श्रक्तों है इस प्रकार इसके लगाव से मुक्त रहते हैं। योग का उपासना श्रयोत् भिक्त का मार्ग लम्बा किन्तु सुगम है सांख्य का ज्ञान का मार्ग छोटा किन्तु कठिन है।

योगियों का कार्यक्षेत्र में व्यवहार-

ब्रह्मस्याथाय कर्पासि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्म पत्र मिवास्थसा ॥
कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियेरिय ।
योगिनः कर्म कुवैन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मग्रुद्धये ॥
युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेस फले सक्तो निवध्यते ॥

(गाता अ० ५।१०,११,१२)

अर्थ—कर्मों को ईश्वर के समर्पण करके और आसक्ति को छोड़ कर जो कर्म करता है वह पानी में पद्म के पत्ते के सदश पाप से लिप्त नहीं होता ॥१०॥ योगी फल की कामना और कत्तीपन के अभिमान को छोड़ कर अन्त:करण की शुद्धि के लिये केवल शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियों से कर्म करते हैं ॥११॥ योगी कर्म के फल को त्याग कर परमात्म प्राप्ति रूप शान्ति को लाभ करते हैं। अयोगी कामना के अधीन होकर फल में आसक्त हुआ बंधता है ॥१२॥

सांख्य योगियों का कार्यक्षेत्र में ज्यबहारः—

तस्त वित्तु महावाही ग्राणकर्म विभागयोः ।
ग्राणा ग्राणेषु वर्तन्त इति मत्वानसज्जते ॥ गोता १।२८
नैव किंचिरकरोपीति युक्तो मन्येत तस्त्ववित् ।
पश्यम्श्राप्यनस्पृशास्त्रिप्रस्नश्चन्यस्वपम्यसन् ॥
मलपन्विष्ट्रजन्यक्वन्तुन्मिष्टनिमिषन्निष ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ गीता पा८,९

हे महाबाहो । गुण्विभाग (अर्थात, सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों के जो बुद्धि, अहंकार, इद्विन्यादि प्रह्म्ण और पांचों विषयादि प्राह्म रूप हैं) और कर्मविभाग (अर्थात् उन की परस्पर की चेटायें) को तस्त्व से जानने वाला गुण् गुणों में वर्त रहे हैं (अर्थात् प्रह्मण और प्राह्म रूप तीनों गुणों के परिणामों में ही व्यवहार हो रहा है, आत्मा इकर्त्तर हैं) ऐसा जानकर कर्म और उनके फलों में असक नहीं होता ॥२८॥ तस्त्व वेता सांख्य योगी देखता, सुनता, छूता हुआ, स्ंचता हुआ, खाता हुआ, खाता हुआ, सांता हुआ, सांस लेता हुआ, बोलता हुआ, कोइता हुआ, पकड़ता हुआ, आंद सीचता हुआ भी ऐसा ही सममता है कि मैं कुछ भी नहीं करता। सब चेटाओं में केवल इन्ट्रियें ही अपने अपने विषयों में प्रवृत्त हो रही हैं। (आत्मा इनका द्रष्टा, इनसे प्रथक निर्लेप हैं)॥ ८,९॥

संख्य और योग की उपासना—परमात्मा का शुद्ध स्वरूप तीनों पुरुषों चौर तीनों लिक्कों से परे है। किन्तु ज्यवहार दशा में उस का सङ्केत किसी न किसी लिक्क चौर पुरुष द्वारा ही हो सकता है।

योग द्वारा उपासना—योग द्वारा उस की उपासना श्रन्य श्रादेश श्रर्थात् प्रथम श्रीर मध्यम पुरुष द्वारा की जाती है। यथाः—

प्रथम पुरुष द्वारा-

ईशानास्यमिद् थं सर्वे यत्किञ्च जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन प्रुडीया मा ग्रुघः कस्यस्विद्नम्॥ यह जो कुछ स्थावर और जङ्गम जगत है वह ईश्वर से आच्छादनीय है अर्थात् सब में ईश्वर को व्यापक सममना चाहिये। उसका त्याग भाव से भोग करना चाहिये। अर्थात् ईश्वर समर्पण करके व्यवहार करें। लालच न करो, अर्थात् आसिक न होने दो। धन किसका है ? अर्थात् किसी का नहीं।

मध्यम पुरुष द्वारा --

ं उत वात पिताऽसि न उत भ्रातीत नः सखा सनो जीवात वे कृषि । (ऋष्वेद १० । १८६)

अर्थ:—हे परमात्मन् ! तू हमारा पिता है तू भाता है त्ही सखा है। हे प्रभो ! हमारा श्रायुष्य बढ़ाओ।

स्वमेव माता च पिता त्वमेव । त्वमेव बन्धुरच सखा त्वमेव । त्वमेव विद्या द्रविर्ण त्वमेव । त्वमेव सर्व मम देव देव ॥

आप ही माता हैं, आप ही पिता हैं और आप ही सखा है। आप ही बिद्या हैं, आप ही द्रव्य हैं। हे देवों के देव आप ही मेरे सब कुछ हैं।

सांख्य द्वारा उपासना - सांख्य द्वारा उसकी उपासना श्रहंकारादेश द्यर्थात् उत्तम पुरुष द्वारा और आत्मादेश श्रर्थात् श्रात्मा द्वारा की जाती है। यथा:—

उत्तम पुरुष द्वारा-

भद्रगत्मा गुडाकेश सर्व भूताशय स्थितः ।

श्रहमादिश्र मध्यं च भूतानामन्तएव च ॥ गीताः १० । २०

हे अर्जुन। मैं सब भूतों के हृदय में स्थित आक्षाबूं। मैं ही सब भूतों की उत्पत्ति, स्थिति और संहार रूप हूं।

आत्मा द्वारा--

मित्रियेथैको भुवनं प्रविष्टी रूपं रूपं प्रति रूपो वभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति रूपो विश्वि ॥६॥
बागुर्यथैको भुवनं प्रविष्टी रूपं रूपं प्रति रूपो वभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रति रूपो विश्वि ॥१०॥
सूर्यो यथा सर्वजोकस्य चर्चुर्ने जिप्यते चाजुर्वेर्वास दोषैः ।
एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा न जिप्यते जोक दुःखेन बाह्यः ॥११॥
क्वो० १० १ व० ५॥

जिस प्रकार एक ही श्रिघ्र नाना भुवनों में प्रविष्ट होकर उनके प्रतिरूप (उन जैसा रूप वाला) हो रही है इसी प्रकार एक ही सब भूतों का श्रन्तरात्मा नाना प्रकार के रूपों में उन जैसा रूप वाला हो रहा है श्रीर उनसे बाहर भी है। जिस प्रकार एक ही वाय नाना भुवनों में प्रविष्ट होकर उनके प्रतिरूप त्रार्थात् उन जैसा रूप वाला हो रहा है उसी प्रकार एक ही सब भूतों का अन्तरात्मा नाना प्रकार के रूपों में प्रतिरूप (उन जैसा रूप वाला) हो रहा है और उन से बाहर भी है। जिस प्रकार सूर्य सब लोकों का चश्च होकर भी खांखों के बाह्य दोष से लिस नहीं होता। इसी प्रकार एक ही सब भूतों का अन्तरात्मा लोक के बाह्य दुःखों से लिम नहीं होता क्योंकि वह उनसे बाहर है।

प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष श्रीर श्राहमा क्रमशः एक दूसरों से श्रिषिक समीपता के सूचक हैं किन्तु कमें श्रीर भक्ति अधान योग साधारण मनुष्यों को ज्ञान प्रधान सांख्य से श्रिषक श्राक्षक श्रीर सुगम प्रतीत होता है। पर भक्ति श्रीर कर्म भी श्रपनी श्रीन्तम सीमा पर पहुंच कर ज्ञान का रूप ही धारण कर लेते हैं। यथ:—

यदग्ने स्थामहं त्वं त्वं वाघास्या अहम् ।

स्युष्टे सत्या इहाशिषा ॥ ऋ०६।३ अ०। ४० वर्ग २३

अर्थ:—हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन यदि मैं तू हो जाऊं और तू मैं हो जाये तो तेरा आर्शीवाद संसार में सन् हो जावे।

इस प्रकार सांख्य और योग में बीच के मार्ग में थोड़ा सा ही अन्तर है।

सांख्य दर्शन

गीता में सांख्य को ज्ञानयोग तथा सन्यासयोग के नाम से भी वर्णन किया गया है। सांख्य नाम रखने का यह भी कारण हो सकता है कि इस में गिने हुए पच्चीस तत्त्व-मान गये हैं।

सांख्य नामकरण का रहस्य इसके एक विशिष्ट सिद्धान्त 'प्रकृति पुरुषान्यसाख्यासि' में भी छिपा हुन्ना है। क्योंकि 'प्रकृति पुरुपान्यताख्यासि' या 'प्रकृति पुरुष विवेक', का ही दूसरा नाम 'संख्या = सम्यक ख्याति = सम्यक् ज्ञान = विवेकज्ञान' है। किसी वस्तु के विषय में तग्दत दोपों तथा गुणों की छानधीन करना भी 'संख्या' कहलाता है। यथा:—

दोषाणां च गुणानां च प्रमाणं प्रविभागतः।

कश्चिद्रश्मे भिनेत्य सासंख्येत्युपधार्यताम् ॥ (महाभारत)

संख्या का श्रर्थ श्रात्मा के विशुद्ध रूप का ज्ञान भी किया गया है। यथा--श्रद्धारम तस्व विज्ञानं सांख्य मिस्यभिषीयते।

—शङ्कर विष्णु सहस्रनाम भाष्य

सांख्य मवर्चक-किपल मनि

सांख्य के प्रवर्त्तक श्री किपल सुनि हुए हैं, खीर योगदर्शन के निर्माता श्री पतश्विति मुनि । किपल सुनि खादि-विद्वान खीर प्रथम दर्शनकार हैं । यथा—

सिद्धानां कपिलो मुनिः (१०।२६ मी०)।

अर्थ-सिद्धों में कपिल मुनि हूं। ऋषि प्रस्तं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभर्ति । (बवेता॰ उप॰)

अर्थ —जो पहले उत्पन्न हुए कपिल मुनि को ज्ञान से भर देता है। तथाः—

भादिविद्वान् निर्माणिचित्तमिषष्ठाय कारुएयाड् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच । (पंचिशिखावार्य)

अर्थ—श्रादि-विद्वान् (पहिले दर्शनकार) भगवान् परम ऋषि (कपिल) ने निर्माण चिरा (सांसारिक संस्कारों से शून्य) के श्रिधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए श्रासुरि को दया भाव से (सांख्य) शास्त्र का उपदेश दिया।

सर्गीदाबादि विद्वान् अत्र भगवान् किपत्तो महाम्रुनिर्धमेझानवैराग्यैश्वर्थ

सम्पद्गः मादुवंभूव । (वाचस्पति मिश्र)

. अर्थ-सृष्टि के आदि में आदि-विद्वान पूजनीय महामुनि कपिल धर्म ज्ञान-वैराग्य श्रीर ऐश्वर्य से सम्पन्न प्रकट हए ।

सांख्य के प्रसिद्ध पाचीन त्राचार्य

श्रादि विद्वान् भगवान् कपिल मुनि के पश्चात् विज्ञान भिक्षु के समय तक सांख्य के निम्नलिखित प्रसिद्ध त्राचर्य हुये हैं:-

त्रासुरिमुनि, पंच शिखाचार्य, पतःजलि, जैगीशब्याचार्य, वार्षगययाचार्य, विन्ध्यवासी (रुद्रिल), जनक, पराहार (बादरी), व्यास, ईश्वर कृष्णश्चार्य । कई लेखकों ने निम्नलिखित

नामों को भी सांख्य श्राचार्यों में सम्मिलित किया है:—

भार्गव, उल्लुक, वाल्मीकि, हारीत, देवल (माठर वृत्ति का० ७१), बाद्धलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पश्चाधिकरण, कौण्डिन्य, मूक (युक्ति दीपिका का० ७१) गर्ग, गौतम, (जय मङ्गला)

सांख्य के प्रख्य ग्रन्थ

सांख्य के बहत से प्राचीन प्रंथ इस समय छुत्र हैं। कई एक के केवल नाम ही मिलते हैं। (१) परम ऋषि कपिल मनि प्रणीत 'तत्त्व समास':-इसके वर्तमान समय में केवल २२ सत्र मिलते हैं। वास्तव में इसी को सांख्य दरीन कहना चाहिये। इसका उपदेश भगवान कविल ने आसरि जिज्ञास को किया था, और भगवान किपल जैसे आदि विद्वान द्वारा आसरि जैसे जिज्ञास के लिये साचात्कार पर्यन्त इन्हीं सूत्रों का उपदेश परमार्थक हो सकता है। आसरि के बनाये हुये किसी विशेष प्रनथ का तो पता नहीं चलता, किन्त उनके सिद्धान्त का वर्णन प्राचीन प्रन्थों में उपलब्ध होता है। स्माद वाद मध्वरी में आसूरि का एक ऋषेक (१५ वां ऋोक) उद्धत किया गया है।

तत्त्व समास पर विज्ञान भिक्षके शिष्य भावागनेश कृत "सांख्य तत्त्व याथार्थ्य दीपन" टीका प्रसिद्ध है। तथा शिवानन्द कृत "सांख्य तत्त्व विवेचन", "सर्वापकारिग्री टीका".

"सांख्य सत्र विवरण" श्रादि टीकायें भी हैं।

- (२) पंच शिखाचार्य के सूत्र:—श्रासुरि ने कपिल मुनि से प्राप्त की हुई सांख्य की शिज्ञा का पश्वशिखाचार्य को उपदेश किया, जिसने इस शास्त्र का विस्तार किया। इस प्रकार का वर्णन सांख्य कारिका में श्वाता है। इन सूत्रों का प्रन्थ छप्त है। व्यासजी ने श्रपने योग दर्शन के भाष्य में लगभग २१ सूत्रों को कई स्थानों में उद्धत किया है।
- (३) वार्षगण्याचार्य प्रणीत पष्टि-तन्त्र:—यह प्रन्थ भी नहीं मिलता है। साठ प्रधान बिषयों की व्याख्या होने के कारण अथवा साठ परिच्छेद होने के कारण इसका नाम षष्टितन्त्र रखा गया था। ईश्वर कुष्ण आये ने अपनी सांरच्य सप्तित को षष्टितन्त्र के आधार पर ही बनाया है। वे बहत्तरवीं कारिका में लिखते हैं कि षष्टि तन्त्र के सविस्तर विषय को सांख्य सप्तित में संत्रिम किया गया है और उसकी आख्यायिकांयें आदि छोड़ ही गई हैं। श्री व्यासजी महाराज ने योग दर्शन के भाष्य में वाषगण्यायार्थ के बचनों को कई स्थानों में लिखा है।
- (४) सांख्य सप्तति:—सांख्य सप्ति श्रथवा सांख्य कारिका 'षष्टि तन्त्र' के श्राधार पर श्रायं मुनि ईश्वर कृष्ण द्वारा लिखा गया है। इसमें मुख्य सत्तर कारिकायें हैं, इस कारण इसका नाम सांख्य सप्तित रखा गया है। इस पर वाचस्पति मिश्र द्वारा की हुई टीका (१) 'सांख्य तत्त्व कोमुर्ना' कहलाती है (२) 'गौड़ पाद भाष्य' भी प्राचीन और प्रामाणिक है किन्तु (३) 'माठर वृत्ति' सब से प्राचीन मानी जाती है। (४) 'युक्ति दीपिका', (५) 'जयमङ्गला (६) 'चिन्द्रका' भी प्रसिद्ध टीकायें हैं।
- (५) सांख्य सुनः ये ५२७ सांख्य सूत्र ६ अध्यायों में विभक्त हैं। पहिले अध्याय में विषय का प्रतिपादन,दूसरे में प्रधान के कार्यों का निरुप्ण, तीसरे में वैराग्य, चौथे में सांख्य तक्त्वों के सुगम बांध के लिये राचक आख्यायिकायें, पांचवें में पर पक्त का निरास और छठे में सिद्धान्तों का संवित्त परिचय हैं। इस पर विज्ञान भिक्क ने 'सांख्य प्रत्यचन भाष्य' लिखा है। सामान्यतया ये कपिल मुनि के बनाये हुये सूत्र माने जाते हैं और पड़च्यायी सांख्य दशेन के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके सम्बन्ध में कई आधुनिक विद्वानों का विचार हैं कि ''यें सांख्य सप्ति' के आधार पर लिखा हुआ उसके पिछले समय का प्रन्थ है, क्योंकि—''इसमें बहुत से सूत्र सांख्य कारिका से लिये हुये प्रतीत होते हैं। श्री शंकराचार्थ ने सांख्य कारिका के अतिरिक्त इस के सूत्रों को कहीं भी प्रमाण में उद्गृत नहीं किया है। वाचस्पति मिश्र ने जिन्होंने अन्य सब दर्शनों और सांख्य कारिका की भी टीका की है इस प्रन्थ में से एक भी सूत्र को प्रनाण रूप में नहीं दिया है। इससे सिद्ध होता है कि इन सूत्रों के संग्रहक्त्रों विज्ञान भिक्क हैं और सम्भव है उनमें से बहुत से शुत्र ख्वयं उनके बनाये हुये हों जैसा कि 'सांख्य प्रवचन भाष्य' की भूमिका से प्रतीत होता है।

तत्व समास पर उपरोक्त सब टीकार्ये चौखन्मा सीरीज़ बनारस से सांख्य संप्रष्ट नामक पुस्तक में प्रकाशित हुई हैं इनमें से 'सांख्य तत्त्व यायार्थ्य दीपन' का भाषानुवाद हो गया है जिसका प्रकाशन इस प्रम्थके प्रमात् किया जायेगा। अन्य टीकाओं के भाषानुवाद के छिपे भी यह किया का रहा है। कालार्क भित्ततं सांख्य शास्त्रं ज्ञान सुधाकरम् । कलावशिष्टं भूयोऽपिपूरिय-च्ये वचोऽभृतैः ॥ (सा॰ प्र॰ भा॰ प्र॰ ५)

अर्थ—सांख्य ज्ञान चन्द्रमा को काल रूपी राहु ने निगल लिया है। उसकी एक कला शेष रह गई है, उसको फिर मैं अमृत रूपी वचन से पूरा करूँगा। ख्यं विज्ञान भिक्षु ने भी तत्त्व समास को ही श्रपने सांख्य प्रवचन भाष्य का श्राधार माना है जैसा कि उन्होंने श्रपनी भूमि का में लिखा है—

तस्व समासाख्यं हियत् संनिप्तं सांख्य दर्शनम् । तस्यैव प्रकर्षेणास्यां निर्वेचनम् ॥

अर्थ — तत्त्व समास नामी जो संनिप्त सांख्य दर्शन है उसीको इस (षड्ध्यायी दर्शन) में खोल कर बतलाया गया है।"

किन्तु स्वामी दयानन्त तथा अन्य कई विद्वानों ने इसको प्रामाणिक और प्राचीन सांख्य दर्शन माना है। सांख्य सप्तित से इसमें सूत्र लिये गये हों इस सम्बन्ध में कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता। हो सकता है कि इसी सांख्य सप्तित से वे सूत्र लिये गये हों— अथवा किसी अन्य सांख्य प्रन्थ से इन दोनों में लिये गये हों। सांख्य सप्तित को इनकी अपेचा अधिक प्रसिद्धि और लोक-प्रियता प्राप्त होने का कारण इसके सरल और आयों छन्दों में श्लोक बद्ध होना हो सकता है। इन सूत्रों पर 'अनिकद्ध वृत्ति' विज्ञान भिक्षु से पूर्व समय की मानी जाती है। सां० प्र० भा० भू० ५ से अभिप्राय इन सूत्रों पर 'प्रवचन भाष्य' लिखना ही हो सकता है जिनका संकेत उनके शिष्य भावा गनेश ने अपने 'तत्त्वयाथार्थ्य दीपन' में स्थान २ पर किया है। वैसे भी विज्ञान भिक्षु को सांख्य योग को पुनः प्रतिष्ठित करने का सुव्य प्राप्त है। योग दर्शन व्यास-भाष्य पर 'योग कार्त्तिक' और सांख्य योग के आधार पर श्रद्ध सूत्र पर 'विज्ञानामृत' भाष्य अति उत्तम और प्रसिद्ध मन्य हैं। इनके अविरिक्त इन्होंने 'सांख्य सार' तथा 'योग सार' में इन दर्शनों के सिद्धान्तों को मेंचिस और सरल इंग से प्रतिपादन किया है।

श्रतः इन सूत्रों को भी प्राचीन श्रौर प्रामािएक मानने में कोई श्रापित्त नहीं हो सकती–हाँ इनको कपिल मुनि प्रणीत कहना उचित नहीं हो सकता। कपिल मुनि के बनाये हुये सूत्र 'तत्त्व समास' ही हो सकते हैं।

(६) श्रेताश्रेतर उपनिषद् श्रौर श्रीमद् भगवद्गीता भी सांख्य श्रौर योग के ही प्रन्य हैं। श्रेताश्रेतर में उसके आध्यन्तर रूप श्रौर सिद्धान्तों के अतिरिक्त कार्य चेत्र में ज्यवहारिक रूप को विशेषता के सांध दर्शाया है। गीता में योग श्रौर सांख्य इन ही दो निष्ठाओं का विशेष रूप से वर्णन है। योग की निष्ठा में गुर्णों का किसी न किसी श्री में सम्बन्ध रहता है। सांख्य की निष्ठा तों गुर्णों के सर्वेथा परित्याग पूर्वक होती

^{&#}x27;अनिरुद्ध वृति' का भाषानुवाद लगभग समाप्त होगया है, इस पुस्तक के पश्चात् उसके प्रकाशन का प्रवच्य किया जायेगा।

है। यथा निष्काम कर्म योग में योग निष्ठा में सारे कर्मों और उनके फलों को ईश्वर (जो त्रिगुणात्मक ब्रह्माएड के सम्बन्ध से ब्रह्म की संज्ञा है) के समर्पण करके फलों की वासनाओं से मुक्त कराया जाता है, और सांख्य निष्ठा में "तीनों गुण ही प्रहण और प्राष्ट्रा रूप से वर्त रहे हैं आत्मा अकत्ता है"। इस भावना से कर्तापने का अभिमान हटाया जाता है। तथा योग निष्ठा में अन्यादेश से और सांख्य निष्ठा में अहंकारादेश तथा आत्मादेश से ब्रह्म का निर्देश किया जाता है हत्यादि।

श्रीमद् भागवत के तीसरे स्कन्ध में जो भगवान कपिल ने श्रपनी माता को उपदेश

दिया है वह भी सांख्य की उनकोटि की शिना है।

कपिल मुनि प्रणीत तत्त्व समास (प्राचीन सांख्य दर्शन) की व्याख्या।

श्रधातस्तत्त्वसमासः ॥ १॥

अर्थ-च्यव (दु:खों की निवृत्ति का साधन तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान है) इसलिये तत्त्वां को संनेप से वर्णन करते हैं।

ब्याख्या — संसार में प्रत्येक प्राणी की यह प्रवल इच्छा पाई जाति है कि ''मैं सुखी होऊं, दुःखी कभी न होऊं''। किन्तु सुख की प्राप्ति बिना दुःख की निवृत्ति के असम्भव है, क्योंकि दुःख की निवृत्ति का नाम ही सुख हैं। इसलिये सुख के अभिलापियों को दुःख की जड़ काट देना चाहिये। दुःख की जड़ अज्ञान है। जितना अधिक अज्ञान होगा, उतना ही अधिक दुःख होगा। जितना कम अज्ञान होगा, उतना ही कम दुःख होगा। जान और अज्ञान तत्त्वों के सम्बन्ध से है। जिस तत्त्व का अज्ञान होगा, उसी से दुःख होगा। जान और अज्ञान तत्त्वों के सम्बन्ध से है। जिस तत्त्व का जितना यथार्थ ज्ञान होता जानेगी। जब सारे तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान हो जानेगा तो सारे तत्त्वों से अभय रूप सुख का लाभ होगा। इसलिये सारे तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान ही सारे दुःखों की जड़ का काटना है। अतः सारे तत्त्वों का संचेप से विचार आरम्भ किया जाता है।

जड़ तस्व

संगति:-दु:ख निग्रुत्ति की इच्छा श्रौर प्रयन्न करने वाले का दु:ख खाभाविक धम नहीं होसकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह उसकी निग्रुत्ति का यन्न ही नहीं करता । इससे सिद्ध होता है कि दु:ख निरित्त की इच्छा करने वाले से भिन्न उससे विपरीत धर्म वाला कोई दूसरा तत्त्व हैं, जिसका खाभाविक धर्म दु:ख श्रौर जड़ता है। यदि यह कहा जाय 'कि दु:ख निग्नुत्ति की इच्छा श्रौर प्रयन्न करने वाला ही एक श्रकेला चेतन तत्त्व है। उससे भिन्न कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। दु:ख की प्रतीति श्रविद्या, श्रज्ञान, श्रम, श्रथवा माया से होती है तो ये श्रविद्या, श्रज्ञान, श्रम, श्रौर माया भी खर्य किसी भिन्न तत्त्व के श्रसित्व को सिद्ध करते हैं जिसके ये खाभाविक धर्म है।

यदि यह कहा जाय कि यह चेतन तत्त्व से श्रतिरिक्त और कुछ नहीं हैं, तो यह स्वाभाविक धर्म होने से दु:स्व की कभी भी निष्ठित्त नहीं हो सकेगी। और उसके लिये किसी भी प्रकार ष्ट्दर्शन समन्वय-पृष्ठ ७९

पंक्ति ११-"किन्तु" के स्थान में "इस के विपरीत"

पंक्ति २४, २५, २६ के ख्यान में — किन्तु इन सूत्रों को किपल मुनि प्रग्रीत कहना अत्यन्त भूल है। क्योंकि "आधेयशक्तियोग इति पश्चा-शिखः" (अ० ५ सूत्र २२) इन का पश्चशिखाचार्य के पश्चात् तथा अ० ५ सूत्र ७९ में बौद्धों का शून्यवाद, अ० ५ सूत्र ८५ में वैशेषिकों के ६ पदार्थ और अ० ५ सूत्र ८६ में न्याय के १६ पदार्थों का वर्णन होने से इन का वैशेषिक, न्याय और बौद्ध धर्म के पील्ले बनाया जाना सिद्ध होता है। और यदि ईश्वरसम्बन्धी सूत्रों के अर्थ अनिश्वरवाद में लिये जावें तब तो नि:-सन्देह यह कहना पड़ेगा कि ये उस समय बनाये गये हैं जब प्राचीन सांख्य में अनीश्वरवादी विचार फैल गये थे और इस लिये इन की प्राचीनता तथा प्रामाणिकता सन्दिग्ध ठहरेगी।

पृष्ठ २३ पंक्ति १८ के अन्त में — वास्तव में तो विद्युद्ध सत्त्वमय चित्त की अपेत्ता से ईश्वर अर्थात् अपर ब्रद्धा को ही साची कहना चाहिये, क्योंकि साचित्व किसी दूसरी वस्तु की अपेत्ता रखता है, जो शुद्ध चेतन अर्थात् पर-ब्रद्धा परमात्मा में नहीं घट सकता ।

पृष्ठ ९८ के श्रन्त में—कई टीकाकारों ने हुम्भक-वाचक 'विधारण' पद से पूरक का भी प्रहण करके रेचक-पूरक कुम्भक प्राणायाम के अर्थ किये हैं जिन का विस्तारपूर्वक वर्णन साधन पाद के ५० वें सूत्र में किया गया है। इस के श्रनुसार उपर्युक्त प्रक्रिया नं० २ में बतलाये हुये तीन प्राणायामों में से बीच के प्राणायाम में श्राभ्यन्तर कुम्भक करें।

पृष्ठ ४८५ पंक्ति २४ के पश्चात्—श्रथवा सिनेमा के साधारण श्वेत रङ्ग की चादर (पर्दा) के सदृश चित्त का श्रपना प्रह्णाकार रूप है। विद्युत् से प्रकाशित चादर के समान उसकी श्रात्मा से प्रकाशित टब्टू उपरक्त रूप है और चित्रों से युक्त चादर जैसा विषय सिहत चित्त का प्राश्चाकार दृश्य उपरक्त रूप है। इस प्रकार चित्त सर्वार्थ है।



का यह करना व्यर्थ होगा। यदि ऐसा माना जाय कि उस चेतन तस्व को ठीक २ न जानने से यह भ्रम इत्त्यादि हो रहा है। यथार्थ रूप जानने से सब भ्रम और दु:खों की निवृत्ति हो जाती है, तो इससे भी किसी भिन्न तस्व की सिद्धि होती है। क्योंकि जानना किसी दूसरी वस्तु का होता है। सब के जानने वाले को किस से जाना जा सकता है।

यथा 'विज्ञातारंरे केन विजानीयात्'।

इससे सिद्ध होता है कि चेतन तत्त्व से भिन्न एक जड़ तत्त्व है। उसका यथार्थ रूप समम्ताने के लिये श्वगले दो सूत्रों में उसको २४ श्रवान्तर भेदों में विभक्त करके दिखलाते हैं।

ब्रष्टौ प्रकृतयः ॥ २ ॥ षोडश विकाराः ॥ ३ ॥

अर्थ—(जड़ तस्त्व के प्रथम दो भेद प्रकृति श्रौर विकृति हैं, उनमें से) श्राठ प्रकृतियाँ हैं—प्रधान श्रथांत् मूल प्रकृति, महत्तस्त, श्रहंकार श्रौर पाँच तन्मात्रायें श्रथांत् राब्द तन्मात्रा, स्पर्श तन्मात्रा, रूप तन्मात्रा, रस तन्मात्रा श्रौर गंध तन्मात्रा; श्रौर सोलह विकृतियाँ हैं—पाँच स्थूल भूत श्राकारा, वायु, श्राप्त, जल श्रौर एथ्वी, श्रौर ग्यारह इन्द्रियाँ श्रोण, त्वचा, नेत्र, रसना श्रौर प्राण, श्रौर पाँच कर्मेन्द्रियाँ वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ श्रौर गुदा, श्रौर ग्यारहवाँ मन।

्रव्याख्या—जिसके आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न हो उसको प्रकृति कहते हैं, अर्थात् जो किसी नये तत्त्व का उपादान कारण हो। और जिसके आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न न हो उसको विकृति—विकार अर्थात् कार्य कहते हैं। जड़ तत्त्व के चौबीस विभागों में से जो आठ प्रकृतियाँ बतलाई हैं उनमें से प्रधान अर्थात् मृत् प्रकृति ही एक केवल प्रकृति हैं, अन्य सात तो प्रकृति और विकृति दोनों हैं। अर्थात् महत्तव्य (चित्त) प्रधान (मृत् प्रकृति) की विकृति) और अहंकार की प्रकृति है। अर्वना महत्तव्य की विकृति और पाँच तन्मात्राओं और ग्यारह इन्द्रियों का प्रकृति है। अहंकार महत्तव्य की विकृति और पाँच तन्मात्राओं और ग्यारह इन्द्रियों का प्रकृति है। पाँच तन्मात्राएं अहंकार की विकृति और पाँच स्थूल-भूतों की प्रकृति हैं। ग्यारह इन्द्रियों अहंकार की विकृतियों हैं। इनके आगे नया कोई तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। इसलिये ये स्वयं किसी की प्रकृति नहीं। अतः ये केवल विकृतियें हैं। इसी प्रकार पाँच स्थूल भूत पाँच तन्मात्राओं की विकृतियें हैं। इतमें आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं होता। इसलिए ये स्वयं किसी की प्रकृतियें नहीं हैं। अतः ये केवल विकृतियें हैं। यह चौबीसों भेद वास्तव में एक जड़ तत्त्व "प्रधान" अर्थात् मृत्वप्रकृति ही के हैं जो सिकृय और चेतना-रहित है।

जड़ तत्त्व के इन २४ भेदों को सालात् कराने के पश्चात् ही भगवान् कपिल ने इन दोनों सूत्रों का जिज्ञासु आसुरि को उपदेश किया है। जिससे कोई नया तत्त्व उत्पन्न हो उसे प्रकृति और जिमसे आगे कोई नया तत्त्व उत्पन्न न हो उसे विकृति कहते हैं। विकृतिरूप से अव्यापि और व्यक्त अर्थात प्रगट होती है उससे उसकी प्रकृति अनुमानगम्य होती है जो उसमें व्यापि होने से उसकी अपेना विभु होती है और उसमें अव्यक्त होने के कारण् उसकी अपेना सुक्ष्म होती है।

८१

11

ग्यारह इन्द्रियां और पांच स्थूल भूत श्रव्यापी श्रीर व्यक्त (प्रगट-प्रत्यक्त) हैं। इनसे श्रामे कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं होता इसलिये ये केवल विकृति हैं। इनकी प्रकृति श्रनुमान गम्य है जो इनमें व्यापि श्रीर श्रव्यक्त (श्रप्रगट) है। स्थूल शरीर से श्रन्तमुंख होने पर ध्यान की पहिली परिषक श्रवस्था में दिव्य निर्मलशन्द, स्र्रेश, रूप, रस, श्रीर गन्ध का साचारकार होता है। यही पांचों तन्मात्राएं पांचों स्थूल भूतों की प्रकृति हैं। किन्तु व्यक्त (प्रगट) हो जाने से ये प्रकृति नहीं रहीं विकृति हो गई। इसलिये इनकी श्रव्यक्त प्रकृति नहीं रहीं विकृति हो गई। इसलिये इनकी श्रव्यक्त प्रकृति श्रामानगम्य माननी पड़ेगी। इन तन्मात्राश्रों से भी श्रन्तमुंख होने पर ध्यान की परिषक श्रवस्था में केवल 'श्रहमस्मि' वृत्ति रह जाती है। ये ग्यारह इन्द्रियों श्रीर पांचों तन्मात्राश्रों की प्रकृति 'श्रहंकार' का साचारकार है; किन्तु श्रवच्यक (प्रगट) हो जाने से यह विकृतिरूप हो गई, इसलिये इसकी श्रव्यक्त प्रकृति भी श्रम्ता वृत्ति' रह जाती है। यह 'महत्त्व्य' श्रहंकार की प्रकृति है किन्तु श्रव वह महत्तत्त्व भी श्रम्ता वृत्ति' रह जाती है। यह 'महत्त्व्य' श्रहंकार की प्रकृति है किन्तु श्रव वह महत्तत्त्व भी व्यक्त होने पर श्रहंकार से रहित केवल 'श्रहंमता वृत्ति' रह जाती है। यह 'महत्त्व्य' श्रहंकार की प्रकृति है किन्तु श्रव वह महत्तत्त्व भी व्यक्त होने से प्रकृति न रहा विकृति हो गया इसलिय इमकी भी कोई प्रकृति श्रतुमानगम्य माननी पड़ती है। इससे श्रामे किसी त्ये जड़तत्त्व का साचारकार नहीं होता, केवल चेतन तत्त्व रह जाता है। इसलिये यह श्रतुमान गम्य प्रकृति ही श्रव्यक प्रथान श्रथवा मृल प्रकृति है। इस प्रकार किपल मुनि के बतलाये हुए जड़तत्त्व के ये चौवीसों श्रवान्तर भेद केवल बुद्धि श्रथवा तर्क की उपज नहीं दे सिन्तु श्रनुमय सिद्ध हैं।

संगति—उपरोक्त रीति से जड़तत्त्व के श्रवान्तर भेदों का श्रव्यभव करने के प्रधात जो चेतन तत्त्व शेष रह जाता है उसका वर्णन श्रगले चौथे सूत्र में करते हैं। उसके दो भेद हैं। एक जड़ तत्त्व से मिला हुश्या श्रार्थात् मिश्रित = श्रवल = श्रपर = सगुणस्वरूप, दूसरा श्रुद्ध = पर = निर्गुण स्वरूप। मिश्रित के भी दो भेद हैं।

एक व्यप्टि ह्रप से श्रमन्त शरीरों (पिएडों) के सम्बन्ध से, दूसरा समष्टिह्य से सारे ब्रह्मागड के सम्बन्ध से। इन तीनों भेदों का वर्णन एक पुरुषशब्द से श्रगले सूत्र में करते हैं।

चेतन तस्य = पुरुष पुरुषः ॥४।

पुरुष के अर्थों का स्पष्टीकरण्—पधीसवां चेतन तत्त्व पुरुष है जो तीन अर्थों का बाधक है। अ

^{*} कई एक टीकाकारों ने पुरुष शब्द के अर्थ (१) जीव (२) हिश्यमार्भ अर्थात् ईश्वर, अपरश्कक्ष और (३) परमात्मा अर्थात् परश्रक्ष तो किये हैं किन्तु पहिले अर्थ जीव के अतिरिक्त अन्य योगी अर्थी को विशेष रूप से नहीं खोका है, बल्कि उनको किन्चित अस्पष्ट और दृषितरूप में विख्काया है। अर्थात् "जन्म मरण करणानां,—प्रतिनियमाद्रगुगपत् प्रकृत्वेदच। पुरुष बहुत्वं सिद्धं न्रिगुण्य विषयं याध्येय"॥ (सां० का १८) तथा "जन्मादि व्यवस्थातः पुरुष बहुत्वस् "। (सां० का १८) तथा "जन्मादि व्यवस्थातः पुरुष बहुत्वस् "। (सां० द० १। १४९) के अनुसार व्यष्टि अन्तः करणों के धर्मों अथवा स्थूल सुक्त और काश्ण

(१) चेतन तत्त्व व्यष्टि (पिएड) शरीरों से मिश्रित यथा-

स य एषो उन्तर्हदय आकाश: । तस्मित्रयं पुरुषो मनोमय:। अमृतोहिरएयमयः ॥

अर्थ:—यह जो हृदय के अन्दर आकाश है उसमें यह पुरुष है जो मन का मालिक अमृत और ज्योतिर्मय है। अन्त:करएों के अनन्त और परिच्छन होने से यह पुरुष अनन्त और परिच्छन कहलाते हैं। और परिच्छिनता के कारण अल्पज्ञ हैं। इनकी संज्ञा जीव भी है। इनकी अपेदा से चेतन तत्त्व आत्मा कहलाता है।

(२) चेतन तत्त्व (ब्रह्माग्ड) समष्टि जगत् से मिश्रित यथा—

सहस्र शीर्षा पुरुष: सहस्राचाः सहस्र पात् ।

सभूमि विश्वतो हत्त्वा अन्यतिष्टदशाङ्गुलम् ॥ (भेता ३।१४)

श्रथं—वह पुरुष हजारों सिर हजारों नेत्र श्रीर हजारों पावों वाला है। वह इस ब्रह्माएड को चारों श्रोर से घेर कर भी दस श्रंगुल परे खड़ा है। समि श्रु श्रन्तः करण के एक श्रीर विभु होने से वह एक श्रीर सर्वव्यापक है। श्रीर सर्वव्यापकता के कारण सर्वे है। इस की संबा ईश्रर = पुरुष विशेष = सगुरण ब्रह्म = अपरब्रह्म, श्रीर शबल ब्रह्म है। इसकी श्रोप से चेतन तत्त्व परमात्मा कहलाता है।

शार रों की कियाओं के भेर से इन करिए अन्तः करणों अथवा ध्यष्टि शारीरों की अपेक्षा ये जीव अर्थ पुरुष में बहुत्व दिखलाया है और (२) समष्टि अन्तः करणों की अपेक्षा से समष्टि रुपेण ईश्वर अर्थ पुरुष में एकत्व इस प्रकार दिखलाया है—जैसे हुआों के समूद की वन-रूप एक संज्ञा होती है और (१) पर ब्रह्म के शुद्ध निर्विशेष स्वरूप पुरुष अर्थ में आत्माओं के अन्तःकरणों अथवा स्यूल, सुक्षम, और कारण शरीर से परे केवली अवस्था में एक जाति के सदश एकत्व दिखलाया है। यथाः—

"एकमेव यथा सूत्रं सुवर्णो धर्त्तते पुनः ।
मुक्तामणि प्रवाहेषु मृण्मये रजते तथा" ॥
"तद्वत् पशु मनुष्येषु तद्वद्धस्ति मृणादिषु ।
एकोऽयमातमा विश्वेयः सर्वेत्रैव व्यवस्थितः" ॥
"एक एव नु भूतातमा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दश्यते जल चन्द्रवत्" ॥
"यथा द्ययं ज्योतिरात्मा विवश्वान्
अपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन्" ॥
"उपाधिना क्रियते भेद रुपो देवः चेत्रष्वेवमजोऽप्यात्मा" ॥
"वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रुपं रुपं प्रतिरुपो वसूब ।
एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रुपं-रुपं प्रतिरुपो बहुश्व" ॥

वास्तव में ईश्वर के अर्थ में दुरुष वा स्वरूप इस प्रकार है कि व्यष्टि सश्व विजों में सश्व की विश्वद्धता, सर्वज्ञता का बीज, तथा ज्ञान, धर्म, वैराग्य, और प्रेश्वर्यांदि सातिशय हैं। जहाँ पर ये पराकाडा को पहुंच कर निरिक्षियता को प्राप्त धोते हे वह विश्वद्ध सश्व मय विक्र समष्टि विक्र (३) शुद्ध चेतन तत्त्व जड़तस्त्र से निखरा हुत्रा केवल शुद्धज्ञान खरूप है। यथा— एतावानस्यमहिमातोज्यायाँशपुरुषः।

पादोऽस्यविश्वाभूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि ॥ (ऋग १०१९०।३)

श्रथं:—यह इतनी बड़ी तो उसकी महिमा है। पुरुष (परमात्म = शुद्धचेतन तत्त्व) इससे कहीं बड़ा है। सारे भूत इसका एकपाद हैं। उसके तीन पाद अमृत स्वरूप श्रपने प्रकाश में हैं। इसकी संज्ञा शुद्ध बड़ा = निर्गुण बड़ा = परब्रज्ञ, श्रोर परमात्मा है। यह जड़तत्त्व की सारी उपाधियों समिष्टि, व्यप्टि, एकरव, बहुत्त्व, इत्यादि से परे केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप है जिसका वर्णन दूसरे प्रकरण में किया गया है।

व्यष्टि श्रन्त:करणों के समष्टि श्रन्त:करण के साथ सम्बन्धित होने से जीव ईश्वर

का ही श्रंश है। रूप भिन्न २ स्थानों में बतलाया गया है यथा:--

यश्चिन्नात्र रसोऽपि नित्यविमलोपापेगुणै गीश्वरोहेयैः क्लेशमुखेर्गुणैर्विरहिती-म्रक्तः सदा निग्रणः।

सोऽस्मान् बुद्धि गुर्णैः स्वयं निगडितान् स्वंशान् क्रुपासागरो दीनान्मोचयतु मभुगणामयं पाशं दहन्तीलया ॥ (योगवानिक पार्शः स १)

है। उसकी अपेक्षा से चेतनतत्त्व की संज्ञा ईश्वर, ज्ञाबल ब्रद्धा और अपर ब्रद्धा है। उसमें प्रकर्व है। ग्रद्धां पूक्ष का उदाहरण त्रीक नहीं है। आकाल का उदाहरण उपशुक्त हैं। और व्यष्टि पिण्डों अथवा चिक्तों और समष्टि ब्रह्माण्ड अथवा विशुद्ध तत्त्व मंग्र चिक्त से परेजो चेतन तत्त्व का अपना शुद्ध केवली स्वरूप हैं ऐसे अर्थ वाले पुरूप की संज्ञा परमारमा, निर्मुण ब्रद्धा, शुद्ध ब्रह्म तथा पर ब्रह्म हैं।

स्रोख्य ने आत्मा के शुद्ध स्वरूप की सर्व ब्यापक, निर्मुण, गुणातीत, निष्क्रिय, निविकार, अपरिणामी कूटस्थ ित्य माना है। जो सांख्य प्रंथों के इन टीकाकारों की भी अभिमत है। इसके अनुसार आत्मा में आति नहीं रह सकती, स्थोकि जो विशु है उसमें जाति नहीं रहती जैसे आकाश। इसके अतिरिक्त एक जाति में जो व्यक्तियें होती हैं उन व्यक्तियों में परस्पर भेद अथवा विखक्षणता के निमित्त कारण रूप, अवयवों की बनावट, गुण, कर्म, देश, काल, दिशा आदि होते हैं। उपयुक्त बतलाये हये आरमा के लक्षण में इनमें से किसी भी निमित्त की सम्भावना नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त जब त्रिगुणात्मक जड्, अग्नि, वायुआदि के ग्रुद ज्ञान खरूप में एकत्व है तो गुणातीत आत्मा के द्वाद ज्ञान स्वरूप में बहत्व कैसे सम्भव हो सकता है ? कपिल जैसे आदि विद्वान और सांख्य जैसी विशास प्राचीन फिलास्की के साथ पुरुष अर्थ, ईसर और पुरुष अर्थ, पर बहा के इस प्रकार के सक्षण का कोई मेल नहीं बैठ सकता । बहत सम्भव है कि नवीन वेदान्तियों के कटाक्ष के विरोध में नवीन सांतय वाहियों ने भी अद्वेत के खण्डन और द्वेत के समर्थन में इस प्रकार की युक्तियों को प्रयोग करने में कोई दोव न समक्षा हो । फिर भी प्राचीन सांख्य और इन नवीन सांख्य वादियों में भारमा का शब केवली स्वरूप एक ही प्रकार का है। ध्येय वस्तु के स्वरूप, अथवा लक्षण में कोई भेद नहीं है, केवल कहने मात्र एकस्व और बहुत्व में भेद है। जाति से अभिप्राय सत्ता मात्र ज्ञान स्वरूप मानने में कोई दोष नहीं भाता है। तत्व समास की न्याख्या के पश्चात इसी प्रकरण में इस निषय पर अधिक प्रकाश हासा जावेगा ।

श्रथं:— जो चिन्मात्र रस होकर भी नित्य विमल उपाधि के गुणों से ईश्वर है, जो है अप्रमुख हुए गुणों से रहित, सदा मुक्त श्रीर निर्गुण है वह छपासागर प्रमु, स्वयं बुद्धि गुणों से वन्धे हुये अपने अंश हम दीनों को लीला के तौर पर गुणमय फन्दों को जलाते हुये मुक्त करे। तथा—''ईश्वर अंश जीवअविनाशी''। इसलिये यद्यपि पूर्ण श्रंश में जीव ईश्वर नहीं हो सकता किन्तु उसकी उपासना द्वारा (जिन गुणों द्वारा उसकी उपासना की जावे) उसके तदूप होकर उसके अनन्तज्ञान, धर्म, ऐश्वर्य, वैराग्य इत्यादि गुणों को ब्रह्मलोंक में उपभाग करता है। इस अवश्या के लिये भी वैक्वतिक बन्ध श्र्यात् मनुष्य लोक के बन्धनों की अपेश्वा से मुक्ति का शब्द श्योग किया गया है। इस मुक्ति की श्रवस्था में जीव संकल्पमय होता है। यथा—

शृषवन्श्रोत्रं भवति · · · · · · ऽहङ्कारोभवति'' (शतपय कां० १थाधाराग०) ''स यदि पितृलोक कामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः सम्रुत्तिष्टिन्ति · · · · तेन सम्पन्नो महीयते'' ॥ (छान्दोग्य० ८।राग से १० तक) संकल्पादेव तु तच्छुतेः ॥८॥ ''श्रतएवचानन्याधिपतिः ॥६॥ (शक्कस्त्रधाध)

इसका श्रमुभव विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की ऊँची श्रवस्था में होता है। श्राहमा श्रीर परमाहमा में श्रामिकता है। दोनों ग्रुद्धज्ञान स्वरूप चेतनतत्त्व के सूचक हैं। श्राहमाणिएड की श्रपेना से श्रीर परमाहमा ब्रह्माएड की। श्रसम्प्रज्ञात समाधि में सवे शृतियों का निरोध इस दूसरे प्रकार की मुक्ति का श्रमुभव है। श्रसम्प्रज्ञातसमाधि में सवे शृतियों के निरोध होने से ग्रुद्धचेतन स्वरूप में श्रवस्थिति होती है; किन्तु चित्त में संस्कार शेष रहने के कारण पुनः व्युत्थान श्रवस्था में श्राना होता है। चित्त में संस्कार शेष की निश्चित पर चित्त के श्रपने कारण में लीन हो जाने पर जो पुनः व्युत्थान में न श्राने वाली ग्रुद्धचेतनस्वरूप में श्रवस्थिति है वही दूसरा सर्वोत्तममुक्ति है। यथा:—

गताः कलाः पश्चदशमतिष्ठा देवाश्वसर्वे श्रतिदेवतास् । कर्माणि विज्ञानमयश्च श्चारमा परेऽन्यये सर्वेएकी भवन्ति ॥७॥ यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विद्याय ।

तथा विद्वान्नामरूपाद् विभ्रुक्तः परात्परं पुरुषप्वपैति दिञ्यम् ।।८॥ (छण्डक ३।२)
उनकी पन्द्रह कलाएँ अपने अपने कारणों में चली जाती हैं। और उनकी सारी
इन्द्रियां अपने सदश देवताओं में चली जाती हैं। उनके कर्म और विज्ञानमय आस्मा सब
उस परले अञ्यय ब्रह्म में एक हो जाते हैं। जिस प्रकार बहती हुई निर्देयां समुद्र में अस्त
हो जाती हैं और अपना नाम और रूप खो देती हैं इसी प्रकार शुद्धनिर्गुण ब्रह्म का जानने,
वाला नामरूप से अलग होकर परं से परं जो दिज्य पुरुष है उसको प्राप्त होता है।

योऽकामो निष्काम आत्मकामश्राप्तकामो न तस्य माणा उत्क्रामन्ति अहीव-सन् अह्माप्येति ॥ (वृह० थाथार) अर्थ:—जो कामनाओं से रहित है जो कामनाओं से बाहर निकल गया है, जिसकी कामनाएँ पूरी हो गई हैं, या जिसको केवल आत्मा की कामना है उसके प्राण नहीं निकलते हैं। वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को पहुँचता है। इस प्रकार की मुक्ति ही सांख्य और योग का कैवल्य है। ब्रह्म के शवल स्वरूप की उपासना और उसका साचात्कार कारणशरीर (चित्त), से होता है। शुद्धचेतनतत्त्व में कारणशरीर तथा कारण जगत् परे रह जाता है। यहां न हैत रह जाता है। यथा:—

श्रद्वेतंकेचिदिच्छन्ति द्वैतिमिच्छन्ति चापरे । मम तत्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥

श्रर्थ— कोई २ श्रद्धैत की इच्छा करते हैं श्रीर कोई द्वैत की। ये दोनों मेरे हाद्ध परमात्म तत्त्व को नहीं जानते। वह द्वैत श्रद्धैत दोनों से परे हैं। उसमें न द्वैत है न श्रद्धैत।

यहां पर यह भी बता देना आवश्यक है कि खरूप अविश्वित में पहुँचकर चित्त से सारे संस्कारों के नाश कर लेने पर भी जो योगी सब प्राणियों के कस्याण का संकर्ण अपने चित्त में बनाए रखते हैं, इनके चित्तों के बनाने वाले गु.ण अपने कारण में लीन नहीं होते, किन्तु ये चित्त अपने विशाल सात्त्विक शुद्ध खरूप से ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में जिसमें वेदों का ज्ञान और सारे प्राणियों के कस्याण का संकल्पविद्यमान है (समान संकर्ण होने से) लीन रहते हैं और वे असम्प्रज्ञातसमाधि की अवस्था के सदश शुद्धचैतन्य प्रमास्म खरूप में अवस्थित रहते हैं। ईश्वरीय नियमानुसार संसार के कस्याण में जब जब उनकी आवश्यकता होती है तब तब वे अपने शुद्ध खरूप से इस भौतिक जगत् में अवतीर्ण होते हैं। दूसरे शब्दों में अवनार लेते हैं। यथा—

यदायदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवनि भारत । ऋभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यद्वम् ॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥

श्रर्थ—हे भारत ! जब जब धर्म की हानि श्रीर श्रधमें की दृद्धि होती हैं, तब तब मैं श्रपने श्रापको प्रकट करता हूं। (श्रपने ग्रुद्ध स्वरूप से शबल स्वरूप में श्रवतश्या करता हूँ श्रर्थात् भौतिक जगन् में श्रवतश्य लेता हूँ)। सक्ष्मों की रह्मा के लिये श्रीर दृषित कार्य्य करने वाले मनुष्यों का संहार करने के लिये तथा धर्म स्थापन करने के लिये थुग युग में प्रकट होता हूँ।

साँख्य श्रीर योग को कैवल्य जिसमें संसार का बीज मात्र भी न रहे श्रीम-प्रत है। इसलिये उन्होंने पुरुष सं० १ अर्थात् जीवातमा जो अनन्त अन्तः करणों के सम्बन्ध से अनन्त है; जड़तत्त्व अर्थात् ज्ञान रहित सिक्रय त्रिगुणात्मक प्रकृति श्रीर पुरुष सं० २ अर्थात् परमात्मतत्त्व जो शुद्धचेतन निष्क्रिय ज्ञान खरूप है, इन तीनों का ही विशेष रूप से वर्णन किया है। सांख्य, पुरुष (सं० १) अर्थात् जीवों को जो संख्या में अनन्त है। ज्ञान श्रीर संन्यास (त्याग) द्वारा जड़तत्त्व त्रर्थात् त्रिगुएत्सक प्रकृति से पूर्णतया भिन्न करके पुरुष सं० ३ स्त्रर्थात् परमात्मतत्त्व तक ले जाता है। इसलिये उसमें पुरुष सं० १ स्त्रर्थात् जीवों को बहुत्व (स्त्रनन्त संख्यावाला) त्रौर पुरुष सं० ३ स्त्रर्थीत् परमात्म तत्त्व को क्रिया रहित ग्रुद्धज्ञान स्वरूप के विशेषएा के साथ वर्णन किया गया है।

योग पुरुष सं० १ अर्थात् जीवों को पुरुष सं० २ अर्थात् पुरुष विशेष = ईश्वर प्रिएषान हारा पुरुष सं० ३ अर्थात् परमाखतत्त्व तक पहुँचाता हैं। इसलिय उसमें पुरुप सं० २ अर्थात् ईश्वर की जड़तत्त्व के साथ महिमा को विशेष रूप से दर्शाया है।

ब्याख्या—इस चेतन तत्त्व का शुद्ध स्वरूप जड़ तत्त्व से सर्वथा विलक्षण है, श्रर्थात् ज्ञान स्वरूप और निक्तिय है। चुम्बक और लोहे के सदश इस चेतन तत्त्व की सिन्निधि से ही जड़ तत्त्व में ज्ञान, नियम और व्यवस्था-पूर्वक क्रिया हो रही है। इस चेतन तत्त्व की सिन्निधि के कारण पूर्वोक्त जड़ तत्त्व में एक प्रकार का होभ हो रहा है जिससे प्रधान में महतत्त्व, महतत्त्व में श्रद्धकार, श्रहंकार में तन्मात्राश्रों और इन्द्रियों का, श्रीर तन्मात्राश्रों में सूक्ष्म भूतों से लेकर पाँचों स्थूल भूतों तक का परिणाय हो रहा है।

इसी आशय को उपनिषद् में दूसरे शब्दों में बतलाया है।

यस्तन्तुनाभइव तन्तुभिः प्रशानजैः स्वभावतो देव एकः स्वमाष्ट्रणोत् स नो द्धात् व्यक्षाप्ययम् ॥ (क्षेत ६११०)

ऋर्थ – वह एक अखराड परमेश्वर जो मकड़ी के सददा प्रधान (मृल प्रकृति) से उत्पन्न होने वाले तन्तुओं (कार्क्यों) से अपने आपको स्वभावतः आन्छ।दित कर लेता है वह हमें ब्रह्म में लय (समाधि = स्वरूप में) स्थिति देवे ।

चेतन तत्त्व में जड़ तत्त्व जैसा कोई परिएगम तथा श्रवान्तर भेद नहीं है। श्रवः शुद्ध चेतन तत्त्व देश, काल, जाित तथा संख्या की सीमा से भी परे हैं। जड़ तत्त्व की उपाधि से उसमें संख्या का श्रारोप कर लिया जाता है। इसलिय विकल्प से पुरुष में बहुत्व कहा जाता है। श्रधीन ध्यष्टि चित्तों में प्रतिविभ्वित चेतन में, चित्त के श्रन्य धर्मों के समान बहुत्व (संख्या) को भी श्रारोप कर लिया जाता है, श्रीर खरूप श्रविश्वित श्रथवा कैवल्य की श्रवस्था में चित्त के श्रन्य सव धर्मों के श्रभाव के साथ बहुत्व (संख्या) की भी निवृत्ति हो जाती है। चेतन से प्रतिविभ्वित महत्तत्त्व में जब समष्टि श्रहंकार बीज रूप से श्रिपा हुश्चा हो तो उसको समष्टि श्रहंकार बीज रूप से श्रिपा हुश्चा हो तो उसको समष्टि श्रहंकार की वृत्ति (मैं हूं) समष्टि श्रहंकार है। इस समष्टि श्रहंकार का चोभ रूप परिएगम पाँच तन्मात्रायें श्रधीत् किसी दृसरे तत्त्व से न मिला हुश्चा शब्द-द्रव्य, स्परी-द्रव्य, रूप-द्रव्य, रस-द्रव्य श्रीर गंध-द्रव्य हैं।

इसी प्रकार श्रहंकार से ही ग्यारह इन्द्रियें उत्पन्न होती हैं श्रर्थात् जब ''मैं हूं' की वृत्ति का उत्पादक सामान्य द्रव्य उत्पन्न हुश्चा तो ''वहीं मैं देखता हूं'' ''वहीं मैं सुनताहूं'' इत्यादि विशेष वृत्ति के उत्पादक विशेष द्रव्य में परिणत हुश्चा। उपरोक्त महत्तत्त्व (समष्टि

चित्त) में प्रतिबिन्त्रित चेतन, हिरएयगर्भ पुरुष का वर्णन हुन्ना। इसी प्रकार व्यष्टि चित्तों में प्रतिबिन्त्रित चेतन, श्रन्य पुरुषों (जीवों) को समम लैना चाहिए।

श्रहंकार में विशुद्ध तत्त्व को समिष्टि श्रहंकार श्रीर रजस् तथा तमस से मिश्रित सत्व को व्यप्टि श्रहंकार समभ्मना चाहिए। श्रतः समिष्टि चित्त विशुद्ध सत्वमय चित्त श्रीर व्यष्टि चित्त केवल सत्त्वचित्त कहलाते हैं। चित्तों में समिष्ट, व्यप्टि श्रीर श्रनेकल श्रहंकार की श्रपेता से समभना चाहिये। (विशुद्ध सत्त्वमय चित्त का विस्तार पूर्वक वर्णन समाधिपाद के चौवीसवें सूत्र की व्याख्या में दिया है)।

तन्मात्राओं के मेल से स्थूल भूत (महाभूत) उत्पन्न होते हैं। शब्द-तन्मात्रा के साथ किष्टित दूसरे तन्मात्राओं के मेल से शब्द गुणवाला त्राकाश उत्पन्न होता है। इसी प्रकार सर्वा-तन्मात्रा की त्राधिकता से स्पर्श गुणवाला वायु, रूप तन्मात्रा की त्राधिकता से रूप रूणवाला त्राप्ति, रस-तन्मात्रा की त्राधिकता से रस गुणवाला जल, त्रीर गंध-तनमात्रा की त्राधिकता से गन्ध गुणवाली पृथ्वी उत्पन्न होती है।

तन्मात्रात्रों और स्थूल भूतों के बीच में एक खबस्या सूक्ष्मभूतों की है जिनकी सुक्ष्मता का तारतम्य स्थुलभूतों से लेकर तन्मात्राच्यों तक चला गया है।

इन पांचों स्थल भूतों से खागे कोई नया तत्त्व उत्पन्न नहीं होता । मनुष्य, पछ, पत्ती, युत्त, धातु, दूध, दही खादि सब इन्हीं के रूपान्तर हैं। इसलिये ये निरे विकार अर्थात् विकृति हैं।

जब तस्व में सब प्रकार के परिस्तामों का निमित्त कारस पुरुष है श्रीर इन सारे परिस्तामों का प्रयोजन भी पुरुष का भोग श्रीर श्रपका ही है। चेतन तस्व, जड़तस्व, जड़तस्व की चेतन तस्व से सिश्रिप, उस सिश्रिप से लोभ को प्राप्त होते हुए जड़तस्व का चौबीस तस्वों में विभक्त होना तथा पुरुष का प्रयोजन, भोग श्रीर श्रपवरी—ये सब श्रनादि श्रर्थात् काल की सीमा से परे हैं।

संगित होंका जैसे खट्यक प्रधान, व्यक्त महत्तत्त्वादि का उपादान कारण हो सकता है वैसे हां ज्ञान स्वरूप चेतन तत्त्व जड़ तत्त्व का उपादान कारण हो सकता है। इस लिये जड़ तत्त्व का चेतन तत्त्व, से प्रथक मानना ठीक नहीं।

समाधान:—जड़ तस्व प्रधान श्रव्यक्त श्रर्थात् मृल् प्रकृति त्रिगु.ण्।स्मक है । सत्त्व रजस श्रौर तमस् इन तीन गु.णों की न्यूनाधिकता से विषमता को प्राप्त होती हुई वह चौबीस श्रवान्तर भेदों में विभक्त हो रही है किन्तु चेतन तत्त्व निर्गुण शुद्ध ज्ञान स्वरूप है, जिस में न कोई विषमता हो सकती है न परिग्राम ।

शंका:- उसकी त्रिगुणात्मक माया से जगत की उत्पत्ति हो सकती है।

समाधान:—यह केवल शब्दों का श्रदल बदल है श्रर्थात् ऐसा मानने में श्रकृति के स्थान में माया शुद्ध चेतन तत्त्व से भिन्न जगन् का उपादान कारण ठहरेगी। यदि माया को शुद्ध चेतन तत्त्व (निर्गुण निगकार शुद्ध ब्रह्म) से श्रभिन्न उसकी ही एक श्रनिर्वचनीय शक्ति मान ली जावे तो परब्रह्म में द्वैत की सिद्धि होगी श्रीर यह द्वैत उस का स्वभाविक गुण होने से किसी प्रकार भी प्रथक नहीं हो सकेगा और श्रद्धेत परक महा वाक्य तथा वैद शास्त्र सब ट्यर्थ हो जावेंगे। इसलिये तीन गुए का, जिन की विषमता के कारए। प्रधान मूल प्रकृति चौबीस श्रवान्तर भेदों में विभक्त हो रही है, श्रगले सूत्र में वर्णन करते हैं।

प्रकृति के तीन गुण त्रेगुएयम् ॥ ४ ॥

अर्थ—(चौबीसों जड़तस्व सस्त, रजस् श्रौर तमस्) तीन गुण वाले हैं।

ह्याख्या—सस्त का खभाव प्रकाश, रजस् का क्रिया, श्रौर तमस् का खिति है।

ये तीनों सभाव प्रत्येक वस्तु में पाये जाते हैं। जो वश्तु खिर है उसमें क्रिया उत्पन्न हो जाती

है और वेगवाली क्रिया के पीछ उसमें प्रकाश प्रकट हो जाता है। जो प्रकाश वाली है वह
समयान्तर में प्रकाशहीन हो जाती है और अन्त में क्रियाहीन भी हो जाती है। जब एक
वस्तु खिर होती है तो उसमें तमस् प्रधान होता है, रजस् और सस्त गौण रूप से रहते हैं।
श्रीर अपने समय पर उसमें प्रकट हो जाते हैं। जब वह वस्तु क्रियावाली होती है तो उसमें
रजस् प्रधान होता है, सस्त और तमस् गौण होते हैं। फिर वही वस्तु जब प्रकाश वाली हो
जाती है तो उसमें सस्त्व प्रधान हो जाता है, रजम् और तमस् गौण । इस प्रकार सब
वस्तुओं में तीनों गुण प्रधान या गौण रूप से विद्यमान रहते हैं। पुरुष से श्रुतिरिक्त जो कुछ
भी है यह सब त्रिगुणात्मक ही है।

किन्तु ये सब तीनों गुणों के विकृत रूप ही हैं

यथाः--

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपयमृच्छति । यत्त दृष्टिपथं पाप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम् ॥

(वार्षगण्याचार्य वष्टांतन्त्र)

अर्थ:--गुर्लो का असली रूप अर्थात् साम्य परिलाम दृष्टि गोचर नही होता, जो (विषम परिलाम) दृष्टि गोचर होता है वह माया जैसा है और विनाशी है।

गुणों का परिणामः— गुण परिणाम झील हैं। परिणाम सांख्य का पारिभाषिक शब्द है। परिणाम के अर्थ हैं तबदीली अर्थात् पहिले धर्म को छोड़ कर किसी दूसरे धर्म को प्रह्मण करना। परिणाम दो प्रकार का होता है एक साम्य अर्थात् स्वरूप परिणाम जैसे दूध में दूध के निर्विकार बने रहने की अवस्था में होता है। दूसरा विषम अर्थात् विरूप परिणाम, जैसे दूध में एक निश्चित्त समय के पश्चात् खटास आदि विकार के आने से होता है। विषम अर्थात् विरूप परिणाम का ही प्रत्यत्त होता है। उस प्रत्यत्त से साम्य परिणाम का अनुमान किया जाता है। तीनों गुणों का साम्य परिणाम ही अनुमानगम्य अञ्चल अर्थात् प्रधान मूल प्रकृति अथवा केवल प्रकृति है।

गुणों का प्रथम विषम परिणाभ महत्त्व—चेतन तत्त्व से इस मूल प्रकृति में एक प्रकार का चोभ होकर सत्त्व में क्रियामात्र रज का और उस क्रिया को रॉकने मात्र तमका प्रथम विषम परिणाम हो रहा है जो महत्तत्व (समष्टि रूप में एक विशुद्ध सत्त्व मय-चित्त और व्यष्टि रूप में अनन्त सत्त्व-चित्त) है। जिसमें कर्त्तापने का अहंकार बीज रूप से द्धिपा हुआ है। महत्तत्त्व में निर्मल सत्त्व के ज्ञान के प्रकाश को महण् करने की अनादि योग्यता है और चेतन तत्त्व में महत्तत्त्व में अपने ज्ञान के प्रकाश को डालने की अनादि योग्यता है। महत्तत्त्व के ज्ञान सक्तप चेतन तत्त्व से प्रकाशित होने को गीता में अति सुन्दर शब्दों में वर्णन किया गया है:—

मयाऽध्यत्तेशा मकृतिः स्यते सनराचरम् । हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते॥ (६११०) मम योनिर्महद्वक्षा तस्मिन् गर्भे दथाम्यहम् । सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥ (१४११) सर्वयोनिषु कौन्तेय सूर्चयः सम्भवन्ति याः। तासाम् ब्रह्म यहद्व योनिरहं बीजपदः पिता॥ (१४१४)

अर्थः—हे श्रर्जुन ! मेरा श्राश्रय करके प्रकृति चराचर सिहत सब जगत को रचती है इसी कारण जगत परिवर्तित हो रहा है । (९ । १०)

हे अर्जुन मेरी योनि (गर्भ रखने का स्थान) महत्तत्त्व है उसी में मैं गर्भ रखता हूं (अपने झान का प्रकाश डालता हूं) और उसी (जड़ चेतन के संयोग) से सब भूतों की उत्पत्ति होती है। (३।१४)

हे श्रुर्जुन ! सब योनियों में जो झरीर उत्पन्न होते हैं उन सब की योनि महत्तत्त्व है श्रीर उन में बीज को डालने वाला मैं चेतन तत्त्व पिता हं। (४। १४)

इसी लिये हिरएयगर्भ के लिये जो चेतन तत्त्व की महत्तत्त्व के सम्बन्ध से संज्ञा है वेदों में इस प्रकार कहा गया है

हिरखयगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक मासीत

अर्थ:—हिरएय गमें ही पहले उत्पन्न हुए जो समस्त भूतों के एक पति थे। जिस प्रकार महत्तत्व ज्ञान स्वरूप चेतन तत्त्व के ज्ञान के प्रकाश को प्रह्ए। कर रहा है उसको यथाथे रूप से समफाने के जिये इस स्थूल जगत् में न तो कोई शब्द मिल सकता है और न कोई सर्वाश में ठीक २ घटने वाला उदाहरए, फिर भी इस को तीन प्रकार से बतलाया गया है। (१) जैसे वायु भुवनों में व्यापक है इसी प्रकार चेतन तत्त्व महत्तत्त्व में व्यापक हो रहा है

वायुर्यथेको भ्रुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो वभूव । एकस्तया सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्र ॥ (कड०२।५१३०) अर्था—जिस प्रकार एक वायु तत्त्व सारे सुवनों में प्रविष्ट होकर रूप रूप में प्रतिरूप (उन जैसा रूप वाला) हो रहा है इसी प्रकार एक खात्मा जो सब का खन्तरात्मा है रूप २ में प्रतिरूप होरहा है खौर खपने शुद्ध चेतन खरूप से बाहर भी है।

(२) जैसे सूर्य जलाशयों में प्रतिविभ्यित हो रहा है इसी प्रकार ज्ञान स्वरूप चेतन तत्त्व महत्तत्व (विशुद्ध सत्वमय संगष्टि चित तथा श्रमन्त व्यष्टि सत्वचित्तों) में प्रतिविभ्यित हो रहा है। यथा:—

एक एव त भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।

एकथा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्॥ (ब्रह्म बिन्दु उप० २२)

अर्थ: एक ही भूतात्मा भूत भूत में विराजमान है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा जल में अनेक हो कर दीखता हैं इसी प्रकार एक ही बात्सा अनेक रूप में (समष्टि विद्युद्ध सत्त्व मय चित्त में एकत्व भाव से और व्यष्टि सत्त्व चितों में बहुत्व भाव से) प्रति रूप हो रहा है।

(३) जैसे चुम्बक पत्थर की सिन्निधि से लोहे में किया उत्पन्न होती है इसी प्रकार चेतन तत्व के झान से प्रकाशित होने के कारण महत्तत्त्व में झान नियम और व्यवस्था पर्वक किया होरही है। यथा:—

निरिच्छे संस्थिते रतने यथा लोहः प्रवर्तते।

सत्ता भात्रेगा देवेन तथा चार्य जगज्जनः ॥ (साक्य प्रवचन भाष्य १ । १७) अर्थः—जैसे बिना इच्छा वाले चुम्बक के स्थित रहने मात्र से लोहा प्रवृत होता है वैसे ही सत्ता मात्र देव (परमात्मा) से जगत की उत्पत्ति च्यादि होती है । आभ्यान्तर दृष्टि रखने वाले तत्व वैत्ताचों के लिए ये तीनों एकार्थक चौर पर्य्यायवाचक राज्द हैं। चेतन तत्त्व के महत्तत्व में प्रतिविभ्वित होने चौर बीजक्ष्य से छिपे हुये विशुद्ध सत्त्वमय चित में समिष्टि आहंकार के जौर सत्त्व चितों में व्यष्टि आहंकार के होभ पाकर आहंभाव से प्रकट होने को उपनिवदों में अनेक प्रकार में वर्णन किया है। यथाः—

स्रोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति स तपोऽतप्यत सतपस्तप्त्वा । इदेंसवैषस्त्रजत यदिदं किञ्च । तत्स्रष्टवा । तदेवानु पाविशत ॥

(तैतिरेय । इ० अनु० ६)

उसने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊं। मैं प्रजा वाला होऊं। उसने तप तपा। तप तपने से पीछे उस ने इस सब को रचा जो इुछ यह है। इस को रचकर वह इस में प्रविष्ट हुआ। यह स्पष्ट है कि अपने को अपने आप रचना और अपने में अपने आपको प्रवेश करना ये दोनों वातें असम्भव हैं क्योंकि ये दोनों क्रियायें कर्ता से भिन्न किसी दूसरी वस्तु की अपेना रखती है। और यह त्रिगुगात्मक प्रकृति ही है।

(२) महत्तत्व का विषम परिणाम श्रहंकार:—पुरुष (चेतन तत्त्व) से प्रतिविभिन्नत महत्तत्त्व ही सत्त्व में रजस् और तमस् की श्रधिकता से विकृत्त होकर श्रहंकार रूप से व्यक्त भाव में विहेर्स खहो रहा है। इस श्रहंकार से ही कर्त्तापने का भाव श्रारंम्भ होता है यथा:—

श्रहंकारः कर्ता न पुरुषः ॥ (सांस्य ६। ५४)

'कत्तीपना अधंकार में है न कि पुहुष में'। महत्तत्व का विषम परिणाम अधंकार ही अंहभाव से एकत्व, बहुत्व, व्यष्ठि, समष्टि रूप सर्व प्रकार की भिकता उत्पन्न करने वाला है। विभाजक अहंकार ही से प्रहण और प्राग्न रूप वो प्रकार के विषम परिणाम हो रहे हैं।

- (३) अहंकार का विषम परिणाम प्रहण रूप ग्यारह इन्द्रियें:—महत्तत्व से व्याप्य विभाजक अहंकारही सत्त्व में रज और तम की अधिकता से विकृत होकर परस्पर भेद वाली प्रहण रूप पांच ज्ञानेन्द्रियों पांच कर्मेन्द्रियों और ग्यारहवें इनके नियन्ता मन के रूप से व्यक्त होकर विह्यु ख होरहा है।
- (४) आहंकार के विषम परिणाम प्राद्य रूप पांच तन्मात्रायें:—महत्तत्त्व से व्याप्य विभाजक आहंकार ही सक्त्व में रज और तम की अधिकता से विकृत होकर परस्पर भेद वाली प्राद्य रूप पांच तन्मात्राओं के रूप में व्यक्त भाव से विहर्मु ख होरहा है।
- (५) तन्मात्रात्रों के विषम परिग्णाम प्राह्मरूप पांच स्थूल भूत:—विभाजक ऋहंकार से व्याप्य पाचों तन्मात्रायें ही सत्त्व में रज और तम की ऋधिकता से विकृत हो कर परस्पर भेद वाले पांच स्थूल भूतों में व्यक्त भाव से विह्मुख हो रही हैं।

स्थूल भूत श्रीर तन्मात्राश्रों के बीच में एक श्रवस्था सूक्ष्म भूतों की है जिनकी सुक्ष्मता का तारतम्य स्थूल भूतों से लेकर तन्मात्राश्रों तक चला गया है।

इस प्रकार महत्तत्त्व की अपेता आहंकार में, आहंकार की अपेता पांचों तन्मात्राओं में, और ग्यारह इन्द्रियों में, और तन्मात्राओं की अपेता स्थूल भूतों में क्रमशः रज तथा तम की मात्रा बढ़ती जाती है और सत्त्व की मात्रा कम होती जाती है। यहां तक िक स्थूल जगत् और स्थूल शरीर में रज तथा तम का ही व्यवहार चल रहा है सत्त्व केवल प्रकाश मात्र ही रह रहा है। यहां यह भी बतला देना आवश्यक है कि महत्तत्त्व में शितविवित चेतन तव (आत्मा—परमात्मा) भी इन राजसी, तामसी आवर्यों से ढका हुआ भौतिक शरीर तथा भौतिक जगत् में केवल मलक मात्र ही दिखाई देता है। इसलिये उपनिषदों में पुरुष का निवास स्थान चित्त में जिस का विशेष स्थान आतुमानिक अंगुष्ठ मात्र हहत्व है, बतलाया गया है और सांख्य तथा योग द्वारा उस की प्राप्ति का उपाय स्थूल भूत, तन्मात्रायें, आईकार और महत्तत्त्व से क्रमशः अंतमुंख होते हुये स्वरूपासस्थित होना बतलाया है।

जिस प्रकार उत्तर मीमांसा के प्रथम चार सूत्र वेदान्त की चतु:सूत्री कहलाती है इसी प्रकार तत्त्व समास के "काष्टी प्रकृतयः"। "पोडश विकाराः"। "पुरुषः"। "त्रैगुरुषम्" ये चार सूत्र सांख्य की चतु:सूत्री है, जिन का कपिल मुनि ने सारे हो य पदार्थी का जिज्ञाधु आसुरि को समाधि अवस्था में अनुभव करा के उपदेश किया है।

संगति-तीनों गुणों का कार्य अगले सूत्र में बतलाते हैं।

सृष्टि और प्रसय

संचरः प्रतिसंचरः ॥ ६॥

अर्थ-सृष्टि और प्रलय (इन तीनों गुर्णों की व्यवस्था विशेष है)।

ट्याख्या:— ग्यारह इन्द्रियां और पाँच स्थूल भूत, इन सोलहों केवल-विकृतियों का, जो तीनों गुणों के केवल-विकार हैं, रज पर तम के अधिक प्रभाव से वर्तमान स्थूल रूप को छोड़कर अपने कारण अहंकार, और पाँचों तन्मात्राओं में कम से लीन हो जाने का नाम प्रलय हैं। और अपने अकृतियों से, इनका तम पर रजके अधिक प्रभाव के कारण फिर विकृति रूप में प्रकट होने का नाम सृष्टि है। सृष्टि के पीछे प्रलय, प्रलय के पीछे सृष्टि— यह कम प्रवाह से अनादि चला आ रहा है। जिस प्रकार ठीक रात के १२ बजे से दिन आरम्भ होकर रात के १२ बजे समाप्त होती है, यद्यपि सूर्योदय ते सूर्यास्त तक दिन और सूर्यास्त से सूर्योदय तक रात्रि कहने में आती है, इसी प्रकार सृष्टि-उन्मुख और प्रलय-उन्मुख अवस्था परिणाम निरन्तर चलता रहता है, यद्यपि स्थूल भूतों में जब से व्यवहार खलाने की योग्यता का आविर्माव होता है तब से प्रलय और जब इसका प्रादुर्भाव होता है तब से सृष्टि का आरम्भ होना कहा जाता है।

प्रलय में सातों प्रकृतियों का, सुषुप्ति में अन्तर्मुख होने के सहरा, केवल वृत्तिहप से ही लय होना बन सकता है, निक स्वरूप से, क्योंकि अविद्यादि क्लेश, कर्मों के विपाक और वासनाओं के संस्कारों की निवृत्ति होने पर चित्त का स्वरूप से (अर्थात चित्त को बनाने वाले सत्त्व, रजस् और तमस का) अपने कारण में लीन होना तो केवल कैवस्यरूप मुक्ति ही में हो सकता है।

(ब्रह्म सूत्र में भी ऋष्याय ४ पाद २ सूत्र १ से ५ तक इस बात को दर्शाया है। देखो शंकरभाष्य)

यहाँ यह भी बतला देना बावश्यक है कि स्थूल भूतों की सूक्ष्मता के तारतम्य को लिये हुये तन्मात्राओं तक एक सूक्ष्मावस्था होती है जिसके ब्यन्तर्गत सारे सूक्ष्म लोकलोकान्तर हैं। प्रलय में केवल पृथिवी जल और श्रिमिका स्वरूप से लय और सृष्टि में स्वरूप से उत्पन्न होना होता है। यथा:—

तदैचत बहुस्यां प्रजायेयेति । तत्ते जोऽग्छजत । तत्ते न ऐचान्त बहुस्यां प्रजायेयेति । तद्योऽग्छजत । तस्माद् यत्र इच शोचित स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तद्य्यायो जायन्ते ॥ ३ ॥ ता आप ऐचान्त बहुयः स्याम मजायेमहीति ।

ता अञ्चयस्य जन्त तस्पाद् यत्रकच वर्षति तदेव भूथिष्ठमञ् भवत्यद्वच एव तदध्यञ्चाद्यं जायते ॥ ४ ॥ (खान्दोय । ६ । २ ।

उसने ईच्चण किया में बहुत हो जाऊं प्रजावाला होऊं। उसने तेज को रचा। उस तंज ने ईच्चण किया में बहुत होऊं प्रजा वाला होऊं। उसने जल को रचा इसलिये जहां कहीं पुरुष गमे होता है और उसे पसीना स्राता है वहां तेज से ही जल उत्पन्न होते हैं। ३।

उस जल ने ईत्तरा किया में बहुत होऊं, में प्रजा वाला होऊं। उसने पृथिवी को रचा। इस लिये जहाँ कहीं वर्षा होती है वहीं बहुत स्वन्न स्रार्थात पार्थिव पदार्थ उत्पन्न होते हैं॥ ४॥

न्याय और वैरोषिक भी यहीं से सृष्टि को स्नारम्भ करते हैं। श्री कृष्ण महाराज ने गीता स्रभ्याय ८ में सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय का क्रम इसी प्रकार बतलाया है। यथा —

मा ब्रह्मभुवनाक्लोकाः पुनरावतिनोऽर्जुन ।
मामुपेत्य तु कीन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥
सहस्र युग पर्यन्तमहर्यद्वसणो विदुः।
रात्रि युग सद्ध्यान्तां ते ऽहेरात्रं विदो जनाः ॥ १७ ॥
श्रव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वा पभवन्त्यहरागमे ।
राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंक्रके ॥ १८ ॥
भूतप्रामः स प्वार्य भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
राज्यागमेऽवशः पार्थे पभवत्यदरागमे ॥ १६ ॥

स्रर्थ—हे श्रर्जुन ब्रह्म लोक से लेकर सब लोक पुनरावर्ति स्वभाव वाले हैं । परन्तु हे कुन्ती पुत्र मुफ्तको (परब्रह्मको) प्राप्त हो कर पुनर्जन्म नहीं होता है ॥ १६ ॥

ब्रह्म का जो एक दिन है उसको हजार चौकड़ी युगतक व्यवधि वाला श्रौर रात्रि को भी हजार चौकड़ी युगतक श्रवधि वाली जो पुरुष तत्त्व से जानते हैं। श्रर्थात जो श्रानित्य जानते हैं वे योगी जन काल के तत्त्व को जानने वाले है।। १७।।

सम्पूर्ण दृश्य मात्र भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेश काल में श्रव्यक्त मूल प्रकृति से उत्पन्न होते हैं श्रीर ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेश काल में उस श्रव्यक्त मूल प्रकृति में ही लय होते हैं ॥ ९८॥

हे अर्जुन वहीं यह भूत समुदाय उत्पन्न हो होकर प्रकृति के वश में हुआ। रात्रि के प्रवेशकाल में लय होता है और दिन के प्रवेश काल में फिर उत्पन्न होता है।

संगति - अब सृष्टि के अवान्तर भेद बतलाते हैं।

सृष्टि के तीन भेद

श्रध्यात्ममधिभूतमधिदैवं च ॥ ७ ॥

अर्थ-(सृष्टि के तीन आवान्तर भेद हें) अध्यात्म, अधिमूत और अधिदेव ।

(१) अध्यातम—जो सीधे अपने साथ सम्बन्ध रखने वाले हैं, जैसे बुद्धि अहंकार, मन, इन्द्रिय और शरीर।

(२) अधिभूत-जो अन्य प्राणियों की भिन्न २ सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले

हैं, जैसे गौ, अश्व, पशु-पत्ती श्रादि ।

(३) ऋधिरैव – जो दिच्य शक्तियों की सृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले हैं, जैसे

पृथ्वी, सूर्य आदि ।

व्याख्या—अध्यात्म, ऋधिभूत और ऋधिदैव सृष्टि के सम्बन्ध से तीन ही प्रकार का सुख दुःख होता है: आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। आध्यात्मिक सुख-दुःख दो प्रकार का है: शारीरिक और मानसिक।

हारीर का बलवान् , फुर्तीला स्त्रीर स्वस्थ होना शारीरिक सुख है, शरीर का दुर्बल, स्राहम्य स्त्रीर रोगी होना शारीरिक दुःख है। इसी प्रकार शुभ संकल्प, शांति, वैराग्य

श्रादि मानसिक सुख है, ईर्ध्या, तृष्णा, शोक, राग, द्वेष श्रादि मानसिक दु:ख है।

आधिमौतिक मुख वह है जो दूसरे प्राणियों से मिलता है, जैसे गो आदि से दूध वृत का, घोड़े आदि से सवारी का, और आधिमौतिक दु:ख जैसे सर्प, बिच्छू आदि के काटने से होता है। आधिदैविक मुख प्रकाश, वृष्टि आदि से होता है, आधिदैविक दु:क अति वृष्टि और बिजली आदि के गिरने से होता है।

्संगति – मोत्त की उपयोगिनी अध्यात्म सृष्टि का अगले सूत्रों में सविस्तर वर्णन

करते हैं।

र्पाच वृत्तियां

पंचाभिबुद्धयः ॥ 🖛 ॥

अर्थ-बुद्धि की वृत्तियें पांच हैं।

ब्याख्या—बृत्तियें पाँच प्रकार की हैं : प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निन्द्रा और स्पृति । प्रमाण यथार्थ झान को कहते हैं । यह तीन प्रकार का है:—प्रत्यज्ञ; श्रजुमान और श्रागम । विपर्यय मिथ्या झान को कहते हैं, जो वस्तु के श्रसती रूप में प्रतिष्ठित न हो;

भावागणेश आदि ने आठवें सूत्र के अर्थ इस प्रकार किये हैं:--

अभिवृद्धि, अभिमान, इच्छा, कर्त्तस्यता, किया ये पांच अभिवृद्धि हैं। इनमें अभिवृद्धि अभिग्रुखी बुद्धि है अर्थात् यह अवस्य करना है इस खप वाली बुद्धि का नाम अभिवृद्धि है। मैं करता हूँ—यह वृत्ति अभिमान है। इच्छा, चाह को कहते हैं। यह संकल्प मानसी वृत्ति है। कर्त्त क्या, ब्रानेन्द्रियों की शब्दादि विषयों में वृत्ति का नाम है। क्रिया वचन आदि छक्षण वाली कर्मों निद्यों की वृत्ति है।

जैसे रस्सी में सर्प और सीप में चांदी की भ्रांति । विकल्प, भेद में अभेद और अभेद में भेद वाले ज्ञान को कहते हैं, जैसे 'पानी से हाथ जल गया'—यहाँ आग्नि और पानी के भेद में अभेद का ज्ञान है, और 'काठ की पुतली'—यहाँ काठ और पुतली के अभेद में भेद का ज्ञान है। निद्रा अभाव की प्रतीति का आलक्ष्यन करने वाली वृत्ति का नाम है। और स्वृति उन पाँचों वृत्तियों द्वारा अनुभूत ज्ञान का स्मरण होना है। इनका विस्तार-पूर्वक वर्णन आगो स० पा० सू० ५ से ११ तक देखें)।

पांच ज्ञानेन्द्रियें पंच दृग्योनयः ॥ ६ ॥

अर्थ — पाँच ज्ञान के स्रोत (ज्ञानेन्द्रिय-नेत्र, श्रोत्र, प्राण, रसना श्रीर त्वचा है) व्याख्या — नेत्र, श्रोत्र, प्राण, रसना श्रीर त्वचा, ये पाँच ज्ञान के स्रोत हैं। ये ज्ञान के प्रवाह बुद्धि के लिये श्रंदर वहते रहते हैं। नेत्र रूप-ज्ञान का, श्रोत्र शब्द-ज्ञान का प्राण, गंध-ज्ञान का, रसना रस-ज्ञान का, त्वचा स्परी-ज्ञान का प्रवाह श्रन्दर बहाती है।

पांच प्राण पंच वायवः ॥ १०॥

अर्थ-पाँच वायु (प्राण्) हैं।

स्यास्या—वायु पाँच हैं: प्राण, श्रापान, समान, व्यान, उदान, इन पाँचों को प्राण भी कहते हैं।

प्राण-वायु का निवासस्थान हदय है। यह शरीर के ऊपरी भाग में रहता हुआ ऊपर की इन्द्रियों का काम संचालन करता है। श्रपान-वायु का निवासस्थान गुदा के निकट है और शरीर के निचले भाग में संचार करता है, निचली इन्द्रियों मल-मूत्र के त्यागादि का काम उसके आश्रित है। समान-वायु शरीर के भध्य भाग नाभि में रहता

'संबिप तथा विजेवन' और 'तथवायायं दीपम' आदि में मुझे का पाठ ''पन्वकमें योगयः'' विषा है जिस के अर्थ हुस मकार किये हैं,—कम जन्य और कम जनक होने से एति, अदा, सुखा, अविविविषा और विविविषा ये पांच कम योगि कहछाती हैं। इन के कम से छक्षण हुस मकार हैं:—प्राणी, कर्ग, और संकल्प में जो प्रतिष्ठित हो वह एति है। अनस्या, क्रमुचवं, यज्ञन, याजन, तप, दान, प्रतिमह और होम यह अदा का छक्षण है। जो अर्थायों का विधा, कर्ग, और तप का आवरण करना, निस्य प्रावित्रत परायण होना (भूछों का शोधन करना) है इसको सुखा कहते हैं। वेद ज्ञान की इच्छा में प्रतिबन्धक किया अविविविषा है। वह अचेतन एक्टव है, प्रथक्त है, निस्य है, स्वस्त दें सरकार्य है, अक्षोम्य है यह जानने की इच्छा विविविचा है। इनमें बार चित, अदा, सुखा, अविविदिचा वन्ध के कारण हैं केवक आरमा के विषय में एक्टब और प्रथक्त्य आदि विचय वाली विविविद्या मोक्ष का हेतु है, क्योंकि यह झान और मोक्ष के प्रतिबन्ध को जाक करने वाले कर्मों से हरपन्न होती है और इन कर्मों की जनक भी है हुआ हृदय से गुदा तक संचार करता है। खाये-पिये अन्न, जल आदि के रस को सब श्रङ्गों में बराबर बांटना उसका काम है। व्यान-वायु सारी स्थूल, सूक्ष्म श्रीर श्रति सूक्ष्म नाड़ियों में घूमता हुआ शरीर के प्रत्येक भाग में रुधिर का संचार करता है। उदान-वाय सक्ष्म शरीर को शरीरान्तर वा लोकान्तर में ले जाता है।

प्राण का विस्तार पूर्वक वर्णन समाधि पा० सू० ३४ के वि० पी० में देखें।

पाँच कर्मेन्डियाँ

पंच कर्मात्मानः ॥ ११ ॥

अर्थ - पाँच कर्म की शक्तियाँ (कर्मेन्द्रियां) हैं।

ब्याख्या—बोलना, पकड़ना, चलना, मूत्र-त्याग श्रौर मल-त्याग, ये पाँच शारीरिक कर्म हैं। इन पाँचों कर्मों के करने वाली वाणी, हस्त, पाद, उपस्थत और गुदा, ये पाँच शक्तियाँ कर्मेन्द्रिय कहलाती हैं।

पाँच गाँठवाली सविद्या पंचपर्वा ऋविद्या ॥ १२ ॥

अर्थ --पाँच गाँठों वाली श्रविद्या है ।

व्याख्या - अविद्या पाँच प्रकार की है : अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । श्रनित्य में नित्य, श्रपवित्र में पवित्र, दुःख में सुख श्रीर श्रनात्मा में श्रात्मा का ज्ञान श्रविद्या है। बुद्धि में श्रात्म-बुद्धि श्रक्तिता है। सुख की इच्छा श्रभीतृ लोभ की वृत्ति का नाम राग है । सुख-साधन में विष्न डालनेवालों के प्रति घृणा अथवा द्वेषवृत्ति द्वेष है। श्रीर मृत्य से भय की वृत्ति का नाम श्रभिनिवेश है। इनको कम से तमस, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धनामिस्र कहते हैं।

डनकी विस्तार पूर्वक व्याख्या योगदुशैन समा० पा० प्रथम नौ सूत्रों में देखें।

अबाईस अशक्तियाँ

अष्टविंशतिथाऽशक्तिः ॥ १३ ॥

अर्थ -श्रद्वाईस प्रकार की श्रद्राक्ति है।

एकादशेन्द्रियवधाः सहबुद्धिवधैरशक्तिविष्टा ।

सप्तदशबधा बुद्धे विषयेयात् तृष्टि सिद्धानाम् ॥ सं० का० ४६ ॥

अर्थ—इन्द्रियों के जो ग्यारह बध हैं, वे बुद्धि के वधों के साथ मिलकर (ग्यारह) श्रक्षाक्ति बतलाई गई हैं । (नी) तुष्टि श्रीर (श्राठ) सिद्धि से उलटी (नी श्रतुष्टियां श्रीर त्राठ असिद्धि) ये सत्तर बुद्धि के वध (सत्तरह त्रशक्ति) हैं। (इस मांति अट्टाईस प्रकार की अशक्ति हैं)।

ग्यारवें सुत्र में भावा गणेश आदि ने "पश्चकर्मास्मानः" में कर्मास्मा के अर्थ वैकारिक, तैजस भूतादि सानुमान और निरनुमान किये हैं। 90

11

व्याक्या—मनुष्य के पास बुद्धि ही ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वह भोग-व्यावर्ग का प्रयोजन सिद्ध कर सकता है, यदि उसमें पूर्ण शक्ति हो व्यर्थात् यदि उसकी शक्ति का किसी प्रकार भी हास न हुआ हो । जितनी भी बुटि होती है वह सब बुद्धि की अशक्ति से ही होती है। बुद्धि की अशक्ति अहाईस प्रकार की है। ग्यारह अशक्तियाँ ग्यारह इन्द्रियों के मारे जाने से होती हैं; जैसे नेत्र से अन्धा होना, कान से बहिरा हाना, प्राण से गन्ध न झात होना, रसना से रस का खाद न आना, त्वचा से कुष्ट होना, वाणी से गूंगा होना, हाथों से उत्ता व पावों से पड़गू होना, उपश्च से नपुंसक और गुद्दा से गुद्दावर्त (मलबन्ध) होना मन से उन्माद होना—ये ग्यारह इन्द्रियों की अशक्ति स्वारह प्रकार की है। बुद्धि की साचात् अशक्ति स्वाह प्रकार की है। बुद्धि की साचात् अशक्ति स्वाह प्रकार की है। नी तुष्टियाँ व आठ सिद्धियाँ जो अगले दो सूत्रों में बतलाई जायेंगी उनसे उत्तरी नौ अनुष्टियाँ बौर आठ असिद्धियाँ मिलकर बुद्धि की सन्नह अशक्तियाँ हैं। ये तुष्टियों ख्य अपने रूप से तो आत्म उन्नति में सहायक और उपादेय हैं। इसलिये शक्ति रूप हैं। केवल इनमें आसक्ति अर्थात् इनमें सन्तुष्ट होकर आत्म उन्नति के लिये यन्न करना छोड़ देना हेय कोटि में है। इस कारण इन से उत्तरी नौ अनुष्टियें नौ अशक्ति रूप हैं।

नौ तुष्टियाँ

नवघा तृष्टिः ॥ १४ ॥

अर्थ -तृष्टियाँ नौ प्रकार की हैं।

भाध्यात्मिकाश्रतस्तः पक्रत्युपादान-काल-भाग्याख्याः।

बाह्या विषयोपरमात् पश्च नव द्रष्ट्योऽभिमताः ॥ सां० का० ५०॥

अर्थ—तुष्टियाँ नौ मानी गई हैं उन में से चार श्राध्यात्मिक हैं, जिनके नाम प्रकृति, उपादान, काल, श्रीर भाग्य हैं। श्रीर पाश्व बाह्य हैं जो (श्रात्म सान्नात्कार से पूर्व ही उसके साधन रूप) विषयों में वैराग्य से होती हैं।

ज्यास्या—तुष्टि, उपरित अथवा उपरामता हटे रहने को कहते हैं, अर्थात् मोझ-प्राप्ति से पहले ही उसके साधनों को छोड़कर सन्तुष्ट हो जाने का नाम तुष्टि है। यह दो प्रकार की होती है: बाह्य-तुष्टि और अध्यात्मक-तुष्टि।

बाह्य-तुष्टि अन्तरात्मा को सममें बिना केवल बाहर के विषयों से उपरित को कहते हैं। वह पाँच प्रकार की है: इग्द्र-तुष्टि, स्पर्श-तुष्टि, रूप-तुष्टि रस-तुष्टि और गन्ध-तुष्टि। इन इग्द्र-पर्शादि पाँचों विषयों से पाँच प्रकार के दुःख होते हैं। अर्थात् (१) इनके प्राप्त करने में दुःख (२) रचा में दुःख (३) नाश में दुःख (४) भोग में दुःख—क्योंकि भोग के अभ्यास से कामना बदती है और कामना की अपूर्ति में दुःख होता है— और (५) दूसरों की हिंसा का दुःख, क्योंकि बिना किसी की हिंसा के भोग की प्राप्ति नहीं हो सकती।

आध्यात्मिक तृष्टियाँ चार प्रकार की हैं: प्रकृति तृष्टि, उपादान तृष्टि, काल तृष्टि और भाग्य तृष्टि। ये तृष्टियाँ उनको होती हैं जो यह जानते हुए भी कि जड़-तत्त्व और चेतन-तत्त्व सर्वथा भिन्न हैं, किसी भूँठे भरोसे पर स्वरूपावस्थिति के लिये यन नहीं करते। इन तृष्टियों के क्रम से (१) पार (२) सुपार (३) परावार (४) अनुत्तमाभ्यः

श्रीर (५) उत्तमाभ्यः नाम हैं।

र प्रकृति तृष्टि—यह जातकर भी कि खात्मा प्रकृति से अलग है आत्मा के साचात्कार के लिए इस भरोसे पर धारणा-ध्यान-समाधि का खभ्यास न करना कि प्रकृति पुरुष के भोग-अपवर्ग के लिए स्वयं प्रवृत्त हो रही है इसलिये भोग के सदश अपवर्ग भी आप ही प्राप्त हो जावेगा—यह प्रकृति के भरोसे पर प्रकृति तृष्टि है। यह भरोसा इसलिये मूँदा है कि प्रकृति पुरुष की इच्छा के आधीन चल रही है, जब वह स्वयं सन्तुष्ट होकर मोज़ के साधन से उपराम हो रहा है तो प्रकृति उसके लिये क्या कर सकती है।

२ उपादान तुष्टि—इस भरोसे पर कि सन्यास प्रहण करने से श्रपवर्ग खयं मिल जावेगा, उसके लिए उपाय न करना उपादान तुष्टि है। यह भरोसा इस लिये फूँठा है कि सन्यास एक चिन्ह-मात्र है उसमें भी धारणा, ध्यान श्रीर समाधि

ही श्रात्म-साज्ञात्कार का हेतु है।

३ काळ तुष्टि—इस विश्वास पर कि समय पाकर स्वयं मुक्ति प्राप्त हो जावेगी, उसके लिये कोई यत्न न करना कालतुष्टि है। यह काल का भरोसा इसलिये मूठा है कि काल सब कार्यों का समान हेतु है: उन्नति के सटश वह व्यवनित का भी हेतु है। इसलिये उन्नति के लिये यत्न ही व्ययेक्ति है।

४ भाग्य तृष्टि—इस भरोसे पर कि यदि भाग्य में होगा तो खयं तत्त्वज्ञान प्राप्त होकर मुक्ति हो जावेगी, उसके लिये कोई यत्न न करना भाग्य तुष्टि कहलाती है। यह भरोसा इसलिये मृंठा है कि भाग्य भी श्रपने पुरुषार्थ का ही बनाया हुश्चा होता है।

भाठ सिद्धियां

अष्ट्रधा सिद्धिः ॥ १४ ॥

अर्थ-सिद्धि आठ प्रकार की है।

ब्याश्या—सिद्धियां श्राठ हैं : उद्द, शब्द, श्रध्ययन, सुहस्राप्ति, दान, श्राध्यात्मिक दु:स्वहान, श्राधिभौतिक दु:स्वहान. और श्राधिदैविक दु:स्वहान।

ऊह सिद्धि-- पूर्व जन्म के संस्कारों से खयं इस सृष्टि को देख भाल कर नित्य

श्रनित्य, चित् श्रचित्, के निर्णय से चौबीस तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान होना।

शब्द सिद्धि - विवेकी गुरु के उपदेश से ज्ञान होना ।

अध्ययन सिद्धि – वेद आदि शास्त्रों के अध्ययन से ज्ञान होना।

सुहत्प्राप्ति सिद्धि—वे सिद्ध पुरुष जो स्वयं मनुष्यों का श्रज्ञान मिटाने के लिये घूम रहे हैं उनमें से किसी दयालु के मिल जाने से ज्ञान का प्राप्त होना। दानसिद्धि— वे योगी जो अपने खाने पीने की आवश्यकताओं से निरपेव हो कर आत्म-साचात्कार में लगे हुये हैं, उनकी भोजन आदि सब प्रकार की आवश्यकताओं को श्रद्धा भक्ति के साथ पुरा करने से उनके प्रसाद से ज्ञान लाभ करना।

गीता श्रध्याय १७ में सात्त्विक, राजस्, श्रौर तामस, मनोवृत्ति के भेद से तीन प्रकार

का दान बतलाया गया है। यथाः---

दातच्य मितियहानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तहानं सात्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥
यचु मस्युपकारार्थं फल मुहिश्य वा पुनः ।
दीयते च परिक्रिष्टं तहानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥
अदेश काले यहानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवद्गातंत्तामसम्भदाहृतम् ॥ २२ ॥

अर्थ — दान देना ही कर्तव्य है एसे भाव से जो दान देश, काल स्नौर पात्र के प्राप्त होने पर प्रस्थुपकार न करने वाले के लिये दिया जाता है वह दान सास्विक कहा गया है ॥२०॥ स्नौर जो दान हेश पूर्वक तथा प्रस्युपकार के प्रयोजन से स्रथवा फल को उद्देश्य रखकर फिर दिया जाता है वह दान राजस कहा गया है ॥२१॥ स्नौर जो दान विना सत्कार किये स्रथवा तिरस्कार पूर्वक स्रयोग्य देश काल में कुपात्रों (मद्य मांसादि स्त्रभक्ष्य वस्तुओं का सेवन करने वाले हिंसक, दुराचारी, पाप कर्म करने वाले) के लिये दिया जाता है, वह दान तामस कहा गया है ॥२२॥ दान देने वाले तथा दान लेने वाले दोनों के लिये सास्विक दान ही इष्ट है । राजस् तथा तामस् दान देने वाले तथा लेने वाले दोनों के लिये राजसी तथा तामसी वृक्तियों का उत्पन्न करने वाला होता है।

उपरोक्त पाँच सिद्धियाँ तत्त्वज्ञान का उपाय हैं, श्रोर निम्न तीन सिद्धियाँ उनका

फल हैं।

आभ्यात्मिक दु:ख हान—सब आध्यात्मिक दु:खों का मिट जाना। आधिभौतिक दु:ख हान—सब आधिभौतिक दुखों का मिट जाना। आधिदैविक दु:ख हान—सब आधिदैविक दु:खों का मिट जाना। इन से उलटी आठ प्रकार की असिद्धियां बुद्धि की आठ प्रकार की अशक्तियां है। संगति--अध्यात्मिक विषयों का वर्णन करके अब अगले सूत्र में मूल तस्वों का धर्म

बतलाते हैं। दश मूल धम

दश मौलिकार्याः ॥ १६ ॥

अर्थ-दश मूल-भूत धर्म हैं (श्रस्तित्व, संयोग, वियोग, शेषवृत्तित्व, एकत्व, श्रर्थवत्व, पराध्ये, श्रन्यता, श्रकर्तृत्व और बहुत्व)।

व्याख्या-श्रव्यक्त और पुरुष के संयोग से सृष्टि रचना हुई है। पुरुष तो सदा ही श्रपने वास्तविक शुद्ध झान खरूप से श्रसंग, निर्लेप, श्रीर निर्विकार ही रहता है, यह जड़ श्रव्यक्त का धर्म संयोग उस में विकल्प से कहा जाता है। सृष्टि में जो धर्म पाये जाते हैं वे कार्य-जगत के धर्म हैं। उससे पहिले मुल भूत अव्यक्त और पुरुष में जो धर्म पाये जाते हैं वे मौलिक धर्म हैं।

श्रस्तित्व, संयोग, वियोग श्रीर शेषवृत्तित्व ये चार धर्म पुरुष श्रीर श्रव्यक्त दोनों के हैं। संयोग और वियोग परिशामी अव्यक्त के स्वाभाविक और वास्तविक धर्म हैं। किन्त कुटस्थ नित्य पुरुष में विकल्प से कहे गये हैं। श्रव्यक्त और पुरुष दोनों में अस्तित्व है। दोनों परस्पर संयक्त होते हैं जिससे सृष्टि—रचना होती है। दोनों वियक्त होते हैं जब मोच होता है। दोनों विद्यमान रहते हैं जब प्रलय होती है। (भावागरोशादि ने जीवन मुक्त के संस्कार मात्र से 'चक्र भूमिवत' शरीर की जो स्थिति है उसको 'शेष वृत्ति' मानकर केवल परुष का धर्म बतलाया हैं)।

एकत्व, अर्थवत्व और पराध्ये- ये तीन धर्म अव्यक्त में हैं। अव्यक्त एक है, प्रयोजन वाला है, पुरुष (जीव) को भोग और अपवर्ग देना इसका अयोजन है और परार्थ है क्योंकि पुरुष के लिये काम करता है अपने लिये नहीं। (भावागरोशादि ने 'अर्थवत्व' को परुषार्थ

वत्व मानकर परुष का धर्म कहा है)।

एकत्त्व-यह धर्म पुरुष अर्थात् शुद्ध चेतन तत्त्व का तथा समष्टि अन्त:करण

(विश्रद्ध-सत्त्वमय चित्त) की श्रपेचा से उसके शबल स्वरूप ईश्वर का भी है।

श्रन्यता श्रीर बहत्त्व-ज़ड़ वर्ग से भिन्न होने से श्रन्यत्व धर्म पुरुष का है। श्रीर व्याष्ट्र अन्त:करणों के सन्बन्ध से जीव अर्थ पुरुष का बहत्व धर्म है जो व्याष्ट्र अन्त:करणों (सत्त्व चित्तों) की अपेका से परस्पर भिन्न और संख्या में बहुत (अनन्त) हैं।

श्रकर्तृत्व-यह धर्म पुरुष (शुद्ध चेतन तत्व) का है। पुरुष श्रपने शुद्ध चेतन स्वरूप से कत्ती नहीं हैं किन्तु दृष्टा है। कर्तृत्व-यह धर्म गुर्णों में है।

संगति-अगले सूत्र में सृष्टि-रचना का प्रयोजन बताते हैं।

सृष्टिका रूप श्रनुब्रहः सर्गः ॥ १७ ॥

अर्थ – अनुप्रह सृष्टि है। इत्येष प्रकृतिकृतो महदादि विशेषभूत पर्यन्तः ।

पति पुरुषविमोत्तार्थे स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥ सा॰ का॰ ५६॥

अर्थ-इस प्रकार यह प्रकृति से किया हुआ। महत्तत्त्व से लेकर विशेष अर्थात पाचों स्थल भूतों श्रीर इन्द्रियों तक का श्रारंग्भ प्रत्येक पुरुष के मोच के लिये खार्थ के सहज्ञ पढार्थ है। जिस प्रकार एक मित्र अपने मित्र के कार्य में प्रवृत्त हुआ उसे अपने स्वार्थ के सहज साधता है, इसी प्रकार यह प्रकृति पुरुष के प्रयोजन को स्वार्थ की भांति साधती है जब तक वह मोज नहीं पालेता। मोज्ञ पालेने पर फिर उसके लिये रचना नहीं रचती, यद्यिप दूसरों के लिये रचती है। (क्योंकि मुक्त को श्रव उसकी रचना से कोई प्रयोजन नहीं है।

भौत्सुक्य निष्टरपर्थं यथा क्रियासु प्रवर्तते लोक: । पुरुषस्य विभोत्तार्थं प्रवर्तते तद्वदृद्यक्तम् ॥ सा॰ का॰ ५८ ॥

अर्थ:—जरकरहा के मिटाने के लिये जैसे लोक (दुनिया) कामों में प्रवृत्त होता है (भूख मिटाने के लिये भोजन में प्रवृत्त होते हैं) इसी प्रकार पुरुष के मोल के लिये प्रधान अर्थात प्रकृति प्रवृत्त हो रही है।

च्याख्या—अध्यक्त की पुरुष के अनुकूल प्रवृत्ति सृष्टि है। क्योंकि अध्यक्त सृष्टि रचना में पुरुष के लिये बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियें, शरीर और विषय आदि रचता है। उसकी सारी रचना पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिये ही है। क्योंकि पुरुष की सिन्निधि में पुरुष के ही ज्ञान से पुरुष के लिए ही उसमें सारी क्रियायें ज्ञान, नियम और व्यवस्था पूर्वक हो रहीं हैं। संगति—अगले सुत्र में प्राणियों की सृष्टि बतलाते हैं।

> चौदह प्रकार की प्राणिसृष्टि चतुर्दश्विधो भूत सर्गः॥ १८॥

चतुद्दशावधा भूत सगः॥ १८॥ अर्थ—चोदह प्रकार की प्राणियों की सृष्टि है। अष्टि विकल्पो देवस्तैर्यग्योनश्च पश्चधा भवति। मानुष्यश्चेकविधः समासतो भौतिकः सर्गः॥ सा॰ का॰ ५३॥ उद्धर्वे सत्त्व विशालस्तमो विशालश्चमृत्ततः सर्गः॥ सा॰ का॰ ५३॥ प्रध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्ब पर्यन्तः॥ सा० का॰ ५३॥

अर्थ—स्त्राठ प्रकार की दैवी सृष्टि है। पांच प्रकार की तिर्यक योनियों की है। मनुष्य की एक प्रकार की है। ये संदोप से प्राणियों की सृष्टि है।। ५३।। उपराली सृष्टि सत्त्व प्रधान है, निचली तम प्रधान है और मध्य की रज प्रधान है। ये ब्रह्मा से लेकर रोवाल तक सृष्टि है।

ब्यास्या — चीदह प्रकार की प्राणियों की सृष्टि इस प्रकार है : ब्राह्म, प्राजापत्य, ऐन्द्र, दैव, गान्धर्व, पित्र्य, विदेह और प्रकृतिलय — ये खाठ प्रकार का दैव-सर्ग है, जो भिन्न-भिन्न कर्मोपासना का फल है । इसके बाद नवां मानुष-सर्ग खर्थात् मानुषी सृष्टि है। खीर खन्त में, मनुष्य से नीचे, पशु, पत्ती, सरीसृष खर्थात् रेंगनेवाले जन्तु, कीट और खादर — इन पाँच का तिर्थक सर्ग है।

उपरोक्त १४ प्रकार की सृष्टि में से मनुष्य से नीचे ५ प्रकार के तिर्पक् सर्ग का तो प्रत्यत्त होता है किन्तु मनुष्य से ऊंचे ८ प्रकार के दैव सर्ग का मनुष्यों से सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यत्त नहीं हो सकता। वितर्कानुगत से ऊँची प्रकाशमय विचारानुगत सम्प्रकात समाधि में सूक्ष्मता के तारतम्य से जो खानन्द में खन्तर है इसी प्रकार इनमें से पहिले

६ सर्गों में परस्पर अन्तर है। इन छहों में भी सुक्ष्मता के तार-तम्य से आनन्द में परस्पर और कई अवान्तर भेद हो सकते हैं। इसी कारण बृहद्मारण्यक उपनिषद्, शतपथ ब्राह्मण और तैत्तरायउपनिषदादि में इनके नामों में कुछ अन्तर प्रतीत होता है। किन्त जिस प्रकार प्रकाशमय बिचारानगत संकल्पमयी अवस्था समानरूप से होती है, यद्यपि इसमें समाधि श्रवधा के सक्ष्मता के श्रतसार श्रन्तर होता हैं। इसी प्रकार इन सब सर्गों में जीव संकल्प-मय होता है, यद्यपि संकल्पों में परस्पर सूक्ष्मता और श्रानन्द के तारतम्य से श्रन्तर होता है। विदेह और प्रकृतिलयों का त्रानन्द और सुक्ष्मता पहिले ६ सर्गों की अपेना अधिक है और उनको श्रवधि भी इनसे श्रधिक हैं। क्योंकि विदेह विचारानगत से ऊँची श्रानन्दा-नगत सन्प्रज्ञातसमाधि की भीम तक पहुँचे हुए हैं, श्रीर शरीर से श्रामिमान छोड़े हुए हैं। श्रीर प्रकृतिलय इससे भी ऊँची श्रास्मितानुगत भूमि में श्रहद्कार का भी श्राभिमान छोड़े हुए हैं। ये दोनों अवस्थाएँ केवल योगियों को ही प्राप्त होती हैं। इसलिये तैत्तरीय, उपनिषद्, वृहदारएयक उपनिषद् और शतपथ बाह्मए। में इनका वर्णन नहीं है (श्री व्यासजी महाराज विभूति पाद सूत्र २६ के भाष्य में इनके सम्बन्ध में लिखते हैं ''विदेह श्रीर प्रकृतिलय नामक योगी कैवल्य के तुल्य श्यित में हैं, इसलिये वे किसी (दिव्य) लोक में निवास करने वालों के साथ नहीं उपन्यास किये गये" श्रवान्तर भेदों को लेकर ही उपरोक्त प्रथम छ: सर्गों का कई प्रकार से वर्णन किया गया है। यथा:-

तैत्तिरीय उपनिषद् शित्ता बल्ली अनुवान्य 🗷 ।

- मतुष्य के श्रानन्द की काष्टा का सौगुना श्रानन्द मतुष्य गन्धर्व लोक वालों को।
- मनुष्य गन्धवं का सौगुना श्रानन्द दैव गन्धवं लोक वालों को ।
- दैव गन्धवं का सौगुना श्रानन्द पितर लोक वालों को।
- पितर का सौगुना त्रानन्द त्राजानजदैव लोक वालों को ।
- श्रानानज देवतात्रों का सौगुना श्रानन्द कर्म देव लोक वालों को ।
- कर्म देव का सीग्रना आनन्द दैव लोक वालों को।
- दैव का सौगुना श्रानन्द इन्द्र लोक वालों को ।
- इन्द्र का सौग्रना त्रानन्द ब्रहस्पति लोक वालों को ।
- वहस्पति लोक वालों का सौगुना श्रानन्द प्रजापति खोक वालों को ।
- प्रजापित का सौगना श्रानन्द ब्रह्मा के लोक वालों को ।

ब्रह्मारणयक उपनिषद् ४।३।२।

- मत्त्रच के त्रानन्द की पराकाष्ठा का सौगुना त्रानन्द पितर लोक वालों को । ٧.
- पितर का सौगुना श्रानन्द गन्धर्व लोक वालों को ।
- गन्धर्व का सौगुना श्रानन्द श्रजानज देव लोक वालों को ।
- ४, आजानज देव का सीगुना आनन्द प्रजापित लोक कालों की ।
- प्रजापति लोक वालों का सौगुना आनन्द ब्रह्मा के लोक वालों को ।

शतपथ १४ । ७ । १ । ३१ ।

- १. मनुष्य का सौगुना श्रानन्द क्विर लोक वालों को ।
- २. पितर का सौगुना त्रानन्द कर्मदेव लोक वालों को ।
- कर्मदेव का सौगुना श्रानन्द श्राजानज देव लोक वालों को ।
- श्राजानजदेव का सौगुना श्रानन्द देव लोक वालों को ।
- ५. देव का सौगुना श्रानन्द गन्धर्व लोक वालों को ।
- ६. गन्धर्व का सौगुना श्रानन्द प्रजापति लोक वालों को ।
- ७. प्रजापित लोक वाले का सौराना आनन्द ब्रह्मा के लोक वालों को ।

जिस प्रकार व्युक्त्थान की ख्रपेता सम्प्रज्ञान समाधि योग है—किन्तु स्रसम्प्रज्ञान समाधि की ख्रपेता सम्प्रज्ञान समाधि व्युक्त्थान है इसी प्रकार मनुष्य के मृत्यु लोक की स्रपेता यह सब स्रमर लोक स्त्रौर मनुष्य के बन्धन की ख्रपेत्ता से यह पुनराष्ट्रित्त मुक्ति की स्रवस्थाएँ हैं, किन्तु श्रपुनराष्ट्रित्त मुक्ति (कैबल्य) की ख्रपेता से यह सब बन्धन है। यथा:—

श्रा ब्रह्म भ्रुवनाल्लोकाः पुनरावतिनोऽर्जुन । मामुपेत्यतु कीन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥ गीता ८ । १६ ॥

अर्थ—ब्रह्म लोक से लेकर सब लोक पुनरावर्ती खभाव वाले हैं, किन्तु है अर्जुन !

मुफ (शुद्ध चेतन तत्त्व, परब्रह्म, परमात्मा) को प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता ।

स्स पुनर्जन्म न होने वाली मुक्ति के भी दो भेद हो सकते हैं। (१) वे योगो जो श्रसम्प्रज्ञात
समाधि द्वारा चिक्त के सर्व संस्कार श्रीर श्रविद्यादि छेश नाश कर चुके हैं किन्तु उनके चिक्त
में केवल संसार के प्राण्यों के कल्याण का संकल्प शेष रह गया है इसलिये यह संकल्प
ईश्वर के प्राण्यों के कल्याण के नित्य संकल्प के तदाकार होने के कारण, इनके चिक्त
ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वमय चिक्त में लीन होकर पुन: न श्वाने वाली मुक्ति का लाभ करते हैं।
श्रीर समय पर उसके नियमानुसार प्राण्मात्र के कल्याण के लिये संसार में श्ववतरण
करते हैं अर्थात् श्ववतार लेते हैं। यथा:—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । स्रभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं स्रजाम्यहस् ॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतास् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ तीताः अ० ४-७।८

अर्थ-हे भारत जब जब धर्म की हानि श्रौर श्रधर्म की बृद्धि होती है तब तब मैं श्रपने श्रापको प्रकट करता हूँ। सज्जनों की रज्ञा करने के लिये श्रौर दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिये तथा धर्मस्थापन करने के लिये युगयुग में प्रकट होता हूँ।

(२) जो योगी श्रसमप्रज्ञात समाधि द्वारा सारे संस्कार श्रीर श्रविद्यादि हेश नाश कर चुके हैं तथा उपर्युक्त सकल्प शेष भी निवृत्त कर चुके हैं उनके चित बनाने वाले गुण अपने कारण में लीन होजाते हैं और आतमा (चेतन तत्त्व) अपने शुद्ध कैवल्य खरूप में अवस्थित हो जाता है। पहिली अवस्था वाले योगी इस संकट्प को हटाकर चित्त के बनाने वाले गुणों को अपने कारण में लीनकरने का हर समय अधिकार रखते हैं। तथा कहीं २ कलाओं की न्यून अधिकता दिखल।कर अवतारों के कई अवान्तर भेद बतलाये हैं।

ैं इसी प्रकार कहीं कहीं इन चित्तों को सिद्ध चित्त तथा निर्माण चित्त के नाम से

वर्णन किया गया है।

संगति - अगले सूत्र में उनका बन्ध और मोच बतलाते हैं।

बन्ध और मोच के तीन प्रकार

त्रिविधो बन्धः ॥ १६ ॥ त्रिविधो मोत्तः ॥ २० ॥

अर्थ- तीन प्रकार का बन्ध (बैकृतिक, दािचिएिक और प्राकृतिक) होता है ॥१९॥

तीन प्रकार का मोच (वैकृतिक, दाचि शिक, श्रीर प्राकृतिक) होता है ॥ २० ॥

व्याख्या—वन्ध तीन प्रकार का है, वैकृतिक (वा वैकारिक) दान्तिणिक श्रीर प्राकृतिक। जो योगी वितर्कानुगत वाली प्रथमभूमिमें श्रात्म सान्नात्कार से शून्य केवल भूत इन्द्रिय, मन, श्रादि १६ विकारों में ही श्रासक्त हो रहे हैं श्रथवा राजसी प्रवृत्ति वाले मनुष्य जिनके कमें सतोगुण तमोगुण दोनों से मिश्रित हैं, वे इन वैकृतिक वासनाश्रों के श्रधीन

उसी भूमि में मनुष्य लोक में जन्म लेते हैं।

इनका यह बन्ध वैकृतिक वा वैकारिक कहलाता है। जो विचारानुगतवाली दसरी भूति में आत्मसानात्कार से शून्य रह कर केवल सूक्ष्म विषयों में ही आसक्त होरहे हैं तथा जो आत्मसाचात्कार से शून्य रहकर फल कामना के अधीन होकर केवल सकाम इष्ट पर्त श्रादि परोपकार श्रीर श्रदिसात्मक सात्त्विक कर्मों में लगे हुए हैं, वे इन सात्त्विक वासनाश्री के आधीन होकर दिवसमार्ग से चन्द्र लोक अर्थात् सात्त्विकता के तारतम्यानुसार सूत्र १८ में बतलाई हुई ६ दैव सर्गों में सात्त्विक वासनात्रों का फल भोगकर आत्म सात्तात्कार के लिये अपनी पिछली भूमि की योग्यता को लिये हुए मनुष्य लोक में फिर जन्म लेते हैं। इन का यह बन्ध दान्ति शिक कहलाता है। (देखो विभृति पाद सूत्र ३९ का विशेष वक्तव्य)। सम्प्रज्ञात समाधि की उबतर श्रीर उबतम भूमि श्रानन्दानुगत श्रीर श्रस्मितानगत को प्राप्त किये हुए योगी जो आत्मसाचात्कार से रान्य रह कर केवल इन भूमियों के आनन्द में आसक्त रहते हैं श्रीर विवेक ख्याति द्वारा स्वरूपाविश्वित का यत्न नहीं करते हैं, वे शरीर त्यागने के पश्चात इन वासनाओं के आधीन लम्बे समय तक विदेह और (अस्मिता) प्रकृतिलय अवस्था में कैवल्य पर जैसी स्थित में रहकर आत्म साज्ञात्कार के लिये पानी में इबकी लगाने वाले पुरुष के सदश फिर उठते हैं अर्थात् उन कुल वाले योगियों के घर में अपनी पिछली भूमि की योग्यता को प्राप्त किये हुए फिर जन्म लेते हैं (देखो समाधि पाद० सन्न ०१८,१९) इनका यह वन्ध प्राकृतिक वन्ध है। अर्थात् आत्म साहात्कार से शून्य रहरूर वितर्कानुगत भूमि में त्रासक्त हुए योगियों का वन्ध वैकृतिक, विचारानुगत में त्रासक्त हुए योगियों का बन्ध दान्तिणिक, और त्रानन्दानुगत तथा अस्मितानुगत भूमियों में त्रासक हुए योगियों का बन्ध प्राकृतिक कहलाता है।

इन तीनों वन्धों से छूटना तीन प्रकार का मोन है। स्थूल विषयों से आसिक हटाना तथा राजसी तामसी वासनाओं का छोड़ना वैज्ञानिक वन्ध से मोन्न है। सूक्ष्म विषयों से आसिक हटाना तथा सात्त्विक कार्यों में निष्काम भाव होना दान्तिगिक वन्ध से मोन्न है। आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत भूमि के आनन्द में आसिक से पर वैराग्य द्वारा चित्त को हटाकर —स्वरूपावस्थिति का लाभ प्राप्त करना प्राकृतिक वन्ध से मोन्न है।

तोन प्रमाण

त्रिविधं प्रमाणम् ॥ २१ ॥

अर्थ--- प्रमाण तीन प्रकार का है (प्रत्यज्ञे, अनुमान आर्थेर आगम आर्थात् आप्त वचन)

व्याख्या प्रत्यत्त प्रमाण : जो किसी।इन्द्रिय से जाना जाय; अनुमान : जो किसी चिह्न से समका जाय और आप्त-वचन : किसी आप्त का उपदेश—आप्त उसे कहते हैं जिसने पदार्थ को साज्ञान् किया हो और सत्यवक्ता हो। इसकी विस्तार पूर्वक व्याख्या यो० समा० पा० सू० ७ में की गई है विशेष वहां देखे।

संगति - तत्त्वज्ञान का फल कहते हुए अगले सूत्र में प्रनथ को समाप्त करते हैं।

एतत् सम्यम् ज्ञात्वा कृत्यकृत्यः स्यात् ।

न प्रविविधेन दुखे:नाभिष्यते॥ २२॥

अर्थ यह ठीक-ठीक जानकर पुरुष कृतकृत्य हो जाता है श्रीर फिर तीन प्रकार के हु:खों से नहीं दवाया जाता।

सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारण माप्ती । तिष्ठति संस्कारवशाचकश्चिमवद्गं धृतशरीरः ॥ ६७ ॥ माप्ते शरीर भेदे चरितार्थस्यात् मधान विनिवृत्तौ । ऐकान्तिकमात्यन्तिकस्रभयं कैवन्यमामोति ॥ ६८ ॥

अर्थ - यथार्थ ज्ञान (विनेक ज्ञान) की प्राप्ति से जब कि धर्मादि अकारण बन गये तो पुरुष संस्कार के वहा से चक्र के पूमने के सदश शारीर की धारण किये हुए ठहरा रहता है। अर्थान् जिस प्रकार कुम्हार के चक्र को चलाना बन्द करने पर भी कुछ देर तक चाक पहिले के वेग से चलता रहता है। इसी प्रकार यथार्थ ज्ञान (विवेकज्ञान) की प्राप्ति पर भी पहिले संस्कारों के आधीन कुछ समय तक हारीर चलता रहता है। यह अवस्था जीवनमुक्ति कहलाती है।। ६७।। शरीर के छूट जाने पर और चिरतार्थ होने से प्रधान की निवृत्ति होने पर ऐकान्तिक (अवश्य होने वाले) और आत्यन्तिक (सदा रहने वाले) कैवल्य को प्राप्त होता है आर्थान् परमात्म स्वरूप में पूर्णतया अवस्थित होजाता है।। ६८।।

पश्च विंशति तस्वक्को यत्र तत्राश्रमे वसेत्। जटी प्रुएडी शिखी वापि प्रुच्यते नात्रसंशयः॥ (गौइपादाचार्यः)

अर्थ—जिसको (सांख्य में बतलाये हुए) २५ तत्त्वों का (सम्यक) ज्ञान हो गया है, वह चाहे किसी आश्रम में स्थित हो चाहे गृहस्थ में ही हो चाहे संन्यास में वह अवश्य मुक्त हो जाता है। इसमें कोई भी संशय नहीं है।

दर्शनों के चार प्रतिपाद्य विषयों पर सांख्य के मुख्य सिद्धान्त

हेय—त्याज्य जो दुःख है वह तीन प्रकार की चोट पहुँचाता रहता है: १ आध्यात्मिक अथात् अपने अन्दर से शारीरिक चोट, जैसे ज्वर आदि, वा मानसिक चोट, जैसे राग-देष आदि की वेदना। २ आधिभौतिक अर्थात् किसी अन्य प्राणि द्वारा पीड़ा पहुँचना और ३ आधिदैविक अर्थान् किसी दिव्य शिक जैसे बिजली आदि से पीड़ा पहुँचना।

इनके दूर करने के साधन यद्यपि वर्तमान हैं श्रीर श्रीत कमों से इनका प्रतिकार हो जाता है, किन्तु इनका नितान्त श्रमाव नहीं होता; क्योंकि इनका बीज बना ही

रहता है।

हेय-हेतु-इस दु:ख की जड़ श्रज्ञान, श्रविद्या, श्रविवेक है। जितना श्रज्ञान दूर

होता जाता है उतना ही दु:ख का श्रभाव होता जाता है। इसलिए-

हान—दुःख का नितान्त अभाव अज्ञान अर्थात् त्रविद्या का सर्वथा नाश होजाना है। उपनिषदों का भी यही सिद्धान्त है, यथाः—श्रविद्याया अपाय एव हि परप्राप्तिर्नार्थान्तरम्॥ अर्थात् श्रविद्या की निष्टत्ति ही परमात्मा की प्राप्ति है इससे भिन्न कोई अन्य वस्तु नहीं॥ मुख्डक (१।१।५॥ शंकरभाष्य)

हानोपाय—सारे तत्त्वों का विवेक-पूर्ण यथार्थ ज्ञान है। जिस-जिस तत्त्व का यथार्थ ज्ञान होता जावेगा उस-उस तत्त्व के दुःख की निवृत्ति होती जावेगी। सारे तत्त्वों के विवेक-पूर्ण ज्ञान होने से सारे दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। (तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान-समाधि द्वारा ही अपनी २ भूमियों में हो सकता है न कि व्युत्त्थान दशा में)

मुख्य तस्व

मुख्य तस्व दो हैं-जड़ झौर चेतन।

जड़-तरन के चौबीस मुख्य विभाग हो सकते हैं; और, चेतन तरन पुरुष जड़तरन के सम्बन्ध से जीव तथा ईश्वर श्रीर श्रपने शुद्ध स्तरूप से परमात्म तरन कहलाता है। परमात्म तरन श्रान्तिम ध्येय श्रथवा 'हान' है। सारे तरनों के विवेक-पूर्ण यथार्थ ज्ञान के पश्चात् वहीं पहुँचना है। इसलिये सांख्य ने उसकी परीक्षा करने की श्रावश्यकता नहीं समभी श्रन्य परुचीस तस्नों को इस प्रकार बतलाया है'—

अष्टी मकुलयः, षोदश विकासः, पुरुषः । अर्थ--आठ मकुतियं, सोलह विकार और पुरुष । ये इस प्रकार हैं:-- मुलप्रकृति रविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न

मकतिर्ने विकृतिः प्ररुपः । सां॰ का॰ ३)

अर्थ — (आठ प्रकृतियों में से) मूल प्रकृति विकृति नहीं है अर्थात् कारस-द्रव्य खयं किसी का विकार — विकृत परिएाम — कार्य नहीं है। रोष सात महत्तरव आदि (महत्तर्त्त, आहंकार और पाँच तन्मात्राएँ) प्रकृति विकृति दोनों हैं। अर्थात् महत्तर्त्व मूल प्रकृति की विकृति और पाँच तन्मात्राएँ । अर्हात विकृति और आहंकार की विकृति और पाँच तन्मात्राओं तथा ग्यारह इन्द्रियों की विकृति है, और पाँच तन्मात्राएँ आहंकार की विकृति और पाँच स्थूल-भूतों की प्रकृति हैं।

अन्य सोलइ विक्रतियाँ (पांच स्थूल-भूत और ग्यारइ इन्द्रियां) केवल विक्रति हैं, किसी की प्रकृति नहीं हैं। यग्नपि सारी स्थूल वस्तुएँ इन्हीं पांचों स्थूल-भूतों के कार्य हैं किन्तु के अपने विकृत परिणाम से श्रागे कोई नया तस्व कारण रूप होकर नहीं बनाते।

पुरुप न प्रकृति है न विकृति, श्रर्थात् न वह किसी का स्वयं विकृत परिग्णाम है. न उससे कोई विकृत परिग्णाम उत्पन्न होता है।

स्ष्रि-क्रम

मकृतेमेद्दांस्ततोऽहंकारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः। तस्मादिप षोदृशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि। (साँ॰ का॰ २२)

अर्थ — मूल प्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से श्रहंकार, श्रहंकार से सोलह का समृह् अर्थात् पाँच तन्मात्राएँ श्रीर ग्यारह इन्द्रियें, इन सोलह में से जो पांच तन्मात्राएँ हैं उनसे पांच स्थूल-भूत उत्पन्न होते हैं।

न्याय वैशेषिक तथा सांख्य और योग के सिद्धान्तों में तुलना

इस प्रकार जहां न्याय और वैशिषिक ने जड़ द्रव्यों में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के परमाणु तथा मन का अणु (अति सृक्ष्म) और आकाश, दिशा तथा काल को विभु व्यापक रूप से निरवयव और नित्य माना है; सांख्य और योग ने उनमें से काल और दिशा को जड़-तत्त्व में सिम्मिलित नहीं किया है क्योंकि ये वास्तविक तत्त्व नहीं हैं—न प्रकृति हैं निविश्वति, और न पुरुष के सदश प्रकृति और विश्वति दोनों से भिन्न कोई चेतन पदार्थ ही। सांख्य और योग के मत में ये दोनों एक क्रम से दूसरे कम में और एक खान से दूसरे खान में एरत्व अपरत्व (आगे-पींछ, निकटता और दूरी) बतलाने के लिये केवल बुद्धि की निर्माण की हुई वस्तुएँ हैं; खयं अपना कोई अस्तित्व नहीं रखते।

मन के स्थान पर श्रहंकार, और पृथ्वी, जल, श्रमि तथा वायु के परमाणुश्रों के स्थान पर तन्मात्राएँ, और उनको श्रवकाश देनेवाले श्राकाश के स्थान पर महत्तस्व हो सकता है। ऐसी श्रवस्था में मूल प्रकृति को मानने की श्रावश्यकता नहीं रहती, क्योंकि तन्मात्राएँ श्रणु होने से और महत्तस्व विभु होने से श्रन्य किसी समवायी श्रर्थात् उपादान कारण की श्रपेता नहीं रखते; किन्तु जहां से न्याय-वैशेषिक ने स्थूल सृष्टि का क्रम दिखलाया है वहीं से सांख्य

मूल जड़-तत्त्व की खोज में सूक्ष्मतर व सूक्ष्मतम सृष्टि के क्रम की खोर गया है। जिस जड़-तत्त्व के अन्तर्गत विभु और अणु दोनों प्रकार के जड़ पदार्थ हैं, वह सबसे प्रथम जड़-तत्त्व तीन गुरा है; सत्त्व, रजस श्रीर तमस्। इसलिये कपिल मुनि बतलाते हैं:

त्रेगुएयम् ॥४॥

अर्थ—श्राठों प्रकृतियें स्रोर सोलह विकृतियें सत्त्व-रजस् तमस् गुगा रूप ही हैं। न्याय त्रीर वैरोषिक में जिस प्रकार द्रव्यों के चौवीस ग्रेण (धर्म) बतलाए हैं, उस प्रकार ये तीनों गुण किसी द्रव्य के गुण (धर्म) नहीं हैं, किन्तुस्त्रयं द्रव्य (धर्मी) हैं, जिनके संयोग-वियोग से सारी सृष्टि की: उत्पत्ति, स्थिति श्रीर प्रलय होती है। इनको गुरा इसलिय कहा गया है कि चेतन श्रीर जड़-तत्त्व में शुरुष चेतन तत्त्व तो मुख्य है श्रीर ये जड़-तत्त्व गौरा हैं; अथवा जिस प्रकार तीन लपेट की ऐंठ से रस्सी बटी हुई होती है, उसी प्रकार जब-तत्त्व तीन गुरा त्रर्थात् तीन लपेटवाला है जिससे सारी सृष्टि बना हुई है।

त्रीत्यमीति विषादात्मकाः मकाशमष्टतिनियमार्थाः । सन्योऽन्याभिभवाश्रय-

जननमिथुनदृत्तपश्च गुणाः ।(सां का॰ १२)

अर्थ-गुण सुल-दुःल श्रीर मोह-स्वरूप हैं; प्रकाश, प्रश्नृत्ति श्रीर रोकने की सामर्थ्य वाले हैं; एक दूसरे को दबाने, सहारा देने, अकट करने और साथ रहने के कर्मवाले हैं।

ग्रणों का खरूप

सत्त्वगुण सुख-खरूप है, रजोगुण दु:ख-खरूप है, श्रीर तमोगुण मोइ-खरूप है। ग्रणों की सामध्ये

सत्त्व प्रकाश करने में समर्थ है, रजस् प्रवृत्त करने में, श्रीर तमस् रोकने में।

ग्रणों का काम

गुण एक दूसरे को दबाते हैं। जब सत्त्वगुण प्रधान होता है तब रजस् और तसस् को दबाकर सुख-प्रकाशादि अपने धर्मों से शान्त पृत्ति उत्पन्न करता है। जब रेजस् प्रधान होता है तब सच्व और तमस्को दवाकर दुःख प्रवृत्ति आदि से घोर वृत्ति को उत्पन्न करता है। इसी प्रकार तमस प्रधान होकर सत्त्व और रजस को दबाकर आलस्य सुस्ती आदि से मोह वृत्ति को उत्पन्न करता है।

ये तीनों गुण एक दूसरे के आश्रय हैं। सत्त्व, रजस् और तमस् के सहारे पर प्रकाश को प्रकट करता है और प्रकाश द्वारा रजस्-तमस् का उपकार भी करता है। इसी प्रकार

रजस्तमस् भी अन्य दो का सहारा लेते हैं और उपकार भी करते हैं।

तीनों गुरा एक-दूसरे को प्रकट करते हैं । स्थित वस्तु क्रियावाली, खौर क्रियावाली प्रकाशवाली हो जाती है। इस प्रकार तमस् रजस् को, श्रीर रजस् तमस् को प्रकट करता है।

एक गुण अन्य दो के साथ रहता है; कभी अलग नहीं होता; सब एक-दूसरे के जोड़े हैं; सब सर्वत्र हैं; विसु हैं। रजस् का जोड़ा सत्त्व है, सत्त्व का रजस् ; इसी प्रकार तमस के सत्त्व और रजस् जोड़े हैं; और दोनों सत्त्व और रजस् का तमस् जोड़ा (साथी) है। इनका स्वरूप से कोई पहिला संयोग उपलब्ध नहीं होता है और न कभी वियोग उपलब्ध होता है।

सत्त्वं ताषुपकाशकिपष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। ग्रुरु वरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो हत्तिः। (सा॰ का॰ १३)

अर्थ सत्त्व हल्का और प्रकाशक माना गया है; रजस् उत्तेजक त्रौर चल; श्रीर तमस भारी त्रौर रोकनेवाला है दीपक के सहश (एक) उद्देश्य से इनका काम है ।

गुणों के धर्म

सस्त हरका और प्रकाशक है, इसलिये सस्व-प्रधान पदार्थ हरके होते हैं। जैसे हरकी होने के कारण अग्नि उपर को जला करती है, वायु तिरखी चलती है, इन्द्रियाँ शीम्रता से काम करती हैं। सस्त्व की प्रधानता से अग्नि में प्रकाश है; इसी प्रकार इन्द्रिय और मन प्रकाश-शील हैं। सस्त्व और तमस् ख़र्य अक्तिय हैं, इसिलये अपना-अपना काम करने में अपनार्थ हैं। रजस् कियावाला होने से उनको उत्तेजना देता है और अपने-अपने काम में प्रवृत्त कराता है। जब शरीर में रजस् प्रधान होता है तो उन्नेजना और चश्चलता बढ़ जाती है। रजस् चल-खभाव होने से इस्त्व को प्रवृत्त करता है किन्तु तमस् भारी होने से रजस् को रोकता है। जब शरीर में तमस् प्रधान होता है तब शरीर भारी होता है और काम में प्रवृत्ति नहीं होती।

गुणों के परस्पर विरोधी होने पर भी सबका एक ही उद्देश्य है। सस्व हस्का है, समस् भारी है। तमस् क्षिर करता है, रजस् उत्तेजित करता है। इस प्रकार तीनों गुण परस्पर विरोधी है, किन्तु दीपक के सहश इनकी प्रवृत्ति एक ही प्रयोजन से है। जिस प्रकार बत्ती श्रीर तेल श्रिप्त से विरोधी होते हुए भी श्रीप्त के साथ मिले हुए प्रकाश का प्रयोजन सिद्ध करते हैं, इसी प्रकार सस्व, रजस् श्रीर तमस्परस्पर विरोधी होते हुए भी एक-दूसरे के श्रातुकूल कार्य करते हैं।

प्रत्येक पदार्थ में तीनों गुए पाये जाते हैं। हरएक पदार्थ सुख, दु:ख और मोह का उत्पादक है। इससे सिद्ध होता है कि उसमें सुख, दु:ख और मोह को उत्पन्न करने वाला तीन प्रकार का द्रव्य विद्यमान है। वहीं सत्त्व, रजस और तमस है। हस्कापन, प्रीति, तितिचा, सन्तोष, प्रकाश आदि सुख के साथ उदय होते हैं, इसलिये सत्त्वगुए के परिणाम हैं। इसी प्रकार दु:ख के साथ चश्चलता, उत्तेजकता आदि, और मोह के साथ निद्रा, भारीपन आदि रहते हैं। इसलिये ये क्रमशः रजस् और तमस के परिणाम हैं।

ग्रणों का परिणाम

चेतन तस्त्र कृदस्य नित्य है और जड़ तस्त्र 'गुण' परिणामी नित्य है; एक त्रण भी बिना परिणाम के नहीं रहते। परिणाम सांख्य और योग का पारिभाषिक शब्य है, जो परि-बर्तन अर्थाम् तब्दीली के अर्थ में प्रयुक्त होता है। परिणाम का लक्षण एक धर्म को छोड़कर

दसरा धर्म धारण करना है। यह परिणाम दो प्रकार का होता है। एक सरूप अर्थात सहज परिणाम: दसरा विरूप अर्थात् विसदृश परिणाम । जैसे जब दूध दूध ही की अवस्था में बना रहता है तब भी उसके परमाणु स्थिर नहीं रहते, चलते ही रहते हैं: इस श्रवस्था में दघ में दुध ही बने रहने का परिशाम हो रहा है। यह सटश अर्थान् सरूप परिशाम है। दुध में जामन पढ़ने के पश्चात जब दही बनने का परिगाम होता है, अथवा एक निश्चित समय के पश्चात् जब दूध में दूध के बिगड़ने छार्थात् खट्टा होने का परिशाम होता है तब वह विरूप अर्थात् विसदृश परिणाम है। विरूप अर्थात् विसदृश परिणाम का तो प्रत्यन्न होता है, किन्त उस प्रत्यन्न से सरूप श्रथीत सदश परिग्राम श्रनमान से जाना जाता है। इसी प्रकार तीनों गुणों का पृथक-पृथक अपने सरूप में अर्थात् सत्त्व का सत्त्व रूप से, रजस् का रजस् रूप से, तमसु का तमसु रूप से प्रवृत्त होना, अर्थात् सत्त्व का सत्त्व में, रजस का रजस में और तमस का तमस में जो परिणाम है वह सदश परिणाम है। यह गुर्णो की साम्य अवस्था है इसी को मूल प्रकृति, प्रधान, श्राञ्यक्त कहते हैं - जो सारे जड़-तत्त्वों का मूल कारण है। जब तीनों इकटठे होकर एक दसरे को दबाकर परिणाम में प्रवृत्त होते हैं तो वह विरूप परि-णाम है। इसको गुणों का विषम परिणाम करते हैं। महत्तत्त्व से लेकर पाँचों स्थल-भक्त पर्यन्त तेईसों तत्त्व तीनों गुणों के विषम परिणाम ही हैं: जो सब प्रकृति के कार्य हैं। उसकी श्रपेद्या ये सब विकृति श्रीर व्यक्त हैं।

ययपि अपनी अपनी विक्वितेयों की अपेता महत्तत्त्व, अहंकार व पौँचों तन्मात्राएँ अव्यक्त और प्रकृतियों हैं किन्तु ग्ल प्रकृति की अपेता से सब व्यक्त और विक्वितयों हैं। यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि जिस-जिस बिकृति का प्रत्यत्त होता जाता है उस उस प्रत्यत्त से उसकी प्रकृति का अनुमान किया जाता है। समाधि द्वारा सबसे अन्त में गुगों का सबसे प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व का विवेक-ख्याति द्वारा सात्तात्कार होता है। उस सात्तात्कार से गुगों की सबसे प्रथम साम्य परिणाम वाली अवस्था का अनुमान से झान होता है। गुगों का साम्य तथा विषम परिणाम, दोनों अनादि हैं। सांख्य का यह सिद्धान्त परिणाम-बाद कहलाता है, अर्थात् यह सारी स्रष्टि गुगों का ही परिणाम है।

न्याय और वैशेषिक से विपरित सांख्य और योग में सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेप, ज्ञान, प्रयत्न, बुद्धि [वित्त अर्थात् अन्तःकरण्] के धर्म माने गए हैं, और यह बुद्धि पुरुष से पृथक् एक जड़-तत्त्व हैं। पुरुष केवल चेतन स्वरूप हैं। बुद्धि (चित्त अथवा अन्तःकरण्) उसका गुण् नहीं हैं। किन्तु उपसे पृथक् उसका रूप अथवा (स्व'हैं। वह उसका द्रष्टा अथवा स्वामी हैं, उसका पुरुष के साथ आसक्ति तथा अविवेक-पूर्ण संयोग होने के कारण उसके गुण् पुरुष में अविवेक से आरोप कर लिये जाते हैं।

सृष्टि-उत्पत्ति

गुण सारी सृष्टि की उत्पत्ति के समवायी व्यर्थात् उपादान कारण हैं। गुण का विशेष परिणाम, जिससे तत्त्व में पृथकता होती है, साधारण व्यसमवायी कारण है। चेतन-स्वरूप पुरुष व्यष्टि रूप से खौर पुरुष-विशेष समष्टि रूप से खपनी सिन्निध से चुम्बक के सहश ज्ञान, व्यवस्था तथा नियमपूर्वक जड़-गुर्गों के विषम परिग्राम में निमित्त कारण हैं।

इस विषम परिग्णाम का प्रयोजन पुरुष का भोग और अपवर्ग है। क्योंकि यह पुरुष की ही सिक्रिधि, से पुरुष के ही ज्ञान में परार्थ अर्थात पुरुष के ही अर्थ, ज्ञान, नियम और

व्यवस्थापूर्वक होरहा है।

त्रिगुणात्मक जब-तत्त्व और पुरुष दोनों अनादि हैं; इसलिये इनका पुरुष के साथ सिक्षिय-मात्र संयोग, साम्य परिणाम, विषम परिणाम तथा पुरुष का भोग और अपवर्ग का प्रयोजन भी अनादि हैं। अनादि का अभिप्राय काल की सीमा से परे होना है और काल कोई वास्तविक वस्तु नहीं है; विषम परिणाम के पीछे क्रमों के परत्व और अपरत्व बतलाने के लिये केवल बुद्धि का निर्माण किया हुआ पदार्थ है।

पुरुष का बहुत्व

सांख्य ने जहां पुरुष को अनेक माना है वहां केवल व्यष्टि अस्मिता की अपैचा से है। चेतन तत्त्व से प्रतिविन्वित व्यष्टि चित्त (महत्तत्त्व) जिनमें श्रहंकार बीज रूप से छिपा रहता है, उसकी संज्ञा व्यप्टि श्रस्मिता है। वास्तव में श्रव्यक्त प्रधान प्रकृति के सदश पुरुष भी संख्या-रहित है। जिस प्रकार बुद्धि (चित्त अर्थात अन्तःकरण) के धर्म सुख-दुख, प्रेत-भाव, किया श्रादि पुरुष में श्रारोपित कर लिये गए हैं, इसी प्रकार श्रह्मता का बहुत्व पुरुष में केवल आरोप-मात्र है; क्योंकि बुद्धि (चित्त अर्थात अन्त:करण) चेतन से प्रतिबिन्वित होकर ही चैतन-जैसी प्रतीत होती है। जैसे एक ही सूर्य अनेक जलाशयों में प्रतिबिम्बत होकर उन जलाशयों के प्रतिबिम्ब की अपेसा से अनेक कहा जाता है, इसी प्रकार एक ही चेतन-तत्त्व श्रानेक चित्त-रूपी जलाशयों में उनकी संख्या की श्रापेता से श्रानेक कहा जाता है। जब त्रिगुणात्मक, परिणामी, सक्रिय जड-तत्त्व अपने अञ्चक्त रूप में संख्या-रहित है तब गुणातीत, श्रपरिणामी, निष्क्रिय चेतन तत्त्व के शद्धज्ञान खरूप में जो श्रव्यक्त से भी सक्ष्मतर है, संख्या की संभावना कैसे हो सकती है। पुरुष में अनेकत्व का आरोप अस्मिता क्लेश की अहंबृत्ति के साथ श्रारम्भ होता है और विवेकख्याति द्वारा इस श्रहंबृत्ति के श्रभाव से निवृत्त हो जाता है। क्योंकि श्रहंकार ही श्रहम भाव से भिन्नता का सुचक है। भाव यह है कि स्वरूप-स्थिति श्रथवा कैवल्य की श्रवस्था में बुद्धि (चित्त श्रयीत श्रन्त:करण) का संयोग न रहने पर उसके धर्म, सुख-दु:ख, किया श्रादि के सटश बहुत्व (संख्या) का भी श्रभाव हो जाता है।

जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् पहत्तेश्च ।

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रेगुएयविपर्ययाच्चैव ॥ (सा० का० १८)

अर्थ-जन्म, मरण और करणों (अन्तःकरण, इन्द्रियों) के अलग-अलग नियमों से, एक साथ प्रवृत्त न होने से, और तीनों गुणों के भेद से 9ुरुप का अनेक होना सिद्ध है ।

अर्थात् सब पुरुष न एक साथ जन्म लेते हैं, न एक साथ मरते हैं, उनका अलग-अलग जन्म-मरण होता है। इसी प्रकार करणों में भी भेद है: कोई अन्धा है, कोई बहिरा है, कोई खुला है, सब एक-जैसे नहीं हैं, सब में एक-जैसी प्रवृत्ति भी नहीं है अर्थात् एक समय में सब एक ही कमें नहीं करत । जब एक सोता है, तब दूसरा जागता है, तीसरा चलता है, इत्यादि । सब के ग्रुए। भी एक-जैसे नहीं होते, कोई सत्त्व ग्रुएवाला है, तो कोई रजोगुणी और कोई तमोगुणी।

किन्तु यह श्रनेकत्व (संख्या) बद्ध पुरुषों की श्रपेता से होता है, निक मुक्त पुरुषों की श्रपेता से; क्योंकि जन्म-मरण, इन्द्रिय-दोष श्रीर सत्त्वगुणी, रजोगुणी श्रीर तमोगुणी होना इत्यादि जो पुरुष के श्रनेकत्व के साधन हैं, श्रन्तःकरण श्रादि के धर्म हैं, निक शुद्ध चेतन तत्त्व के । यथा:—

वायुर्घथैको भ्रुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रति रूपो बभूव । एकस्तथा सर्वे भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्व ॥ (इड० ४ । १०)

अर्थ—जिस प्रकार एक ही वायु नानाभुवनों 'में प्रविष्ट होकर उनके प्रति रूप (उनके रूपवाला) होरहा है इसी प्रकार एक ही सब भूतों का अन्तरात्मा (चेतनतत्त्व) नाना प्रकार के रूपों में प्रतिरूप (उनके रूप जैसा) होरहा है और उनसे बाहर भी है।

उपद्रष्टातुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन पुरुषः परः॥ (मी० १६। २२।)

अर्थ-पुरुष (चेतन तत्त्व) इस देह से स्थित हुआ भी पर अर्थात् त्रिगु.णात्मक प्रकृति से सर्वथा अतीत ही हैं (केवल) यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता (एवं) सब को धारण करने वाला होने से भर्ता, जीवरूप से भोत्ता, (तथा) ब्रह्मादिकों का भी खामी होने से महेश्वर और अपने शुद्ध चेतन ज्ञान स्वरूप से परमात्मा है ऐसा कहा गया हैं।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृति च ग्रुगैः सह। सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।(गी० १३। २३)

अर्थ — इस प्रकार पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जो मनुष्य तस्य से (समाधि द्वारा अन्तर्भु ख होकर अर्थात् विवेक ज्याति द्वारा) जान लेता है वह सब प्रकार से वर्तता हुआ भी फिर पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होता है।

अन्तःकरण् अनेक हैं; इसलिये अन्तःकरणों की अपेत्ता से पुरुष में भी अनेकता विकल्प से मानी गई है। पुरुष और अन्तःकरण् आदि में विवेक भेद झान न होने के कारण जैसे उनके अन्य सब धर्म पुरुष में अझान से आरोपित होते हैं वैसे ही उनका धर्म अनेकत्व (संख्या) भी अझान से पुरुष में आरोपित होता है।

विवेक ज्ञान के पश्चात् स्वरूप-स्थिति की श्रवस्था में जहाँ चित्त के निरोध होने के साथ उसके सारे धर्म : क्रिया श्रादि का श्रभाव होजाता है, वैसे ही श्रनेकत्व (संख्या) का भी श्रभाव होजाता है।

पुरुष-्बन्ध श्रीर मोत्त

यह बन्ध और मोझ भी वास्तव में प्रकृति के कार्य चित्त में ही होते हैं। पुरुष स्वयं स्वरूप से सदा श्रसङ्ग है; वह न बद्ध होता है न मुक्त । जैसे —

तस्मान वध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।

संसरित बध्यते ग्रुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः। (सा॰ का॰ ६२)

अर्थ – इसलिये सानात् न कोई बद्ध होता है, न कोई छूटता है, न कोई जन्मान्यर में घूमता है। प्रकृति ही नाना (देव, मनुष्य, पशु श्रादि शरीरों में) श्राश्रयवाली हुई घूमती, बंधती और छूटती है।

मकुतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः॥

चाहङ्कार विभृदात्मा कर्ताहमिति मन्यते । तन्ववित्त महावाहो गुरणकर्मविभागयोः ।

ग्रणा ग्रणेषु पर्तन्त इतिमस्वा न सङ्जते । (मो० ६ । २७ । २८)

अर्थ—सन्पूर्ण कमे प्रकृति के गुर्ला द्वारा किये हुए हैं (तोभी) श्रहङ्कार से मोहित हुए श्वन्तःकरण वाला पुरुष में करता हूं ऐसा मान लेता है। २०॥ परन्तु हे महाबाहो गुर्जावभाग (५ स्थूल भूत, ५ तन्मात्राएँ, ५ कर्मेन्द्रियां, ५ ज्ञानेन्द्रियां, ५ राज्यादि विषय, मन, श्रहङ्कार, बुद्धि, चित्त,) श्रीर कर्भ विभाग (इनकी परस्पर की चेष्टाएँ) के तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी ५४प सम्पूर्ण गुर्ण गुर्णों में वर्त रहे हैं ऐसा जानकर श्रासक्त नहीं होता॥ २८॥

श्रज्ञान जो बन्य का कारण, श्रीर ज्ञान जो मोत्त का कारण है तथा धर्म-श्रथमें जो संसार के कारण हैं—यं सब दुद्धि के धर्म हैं। इनका सात्तान् सम्बन्ध दुद्धि से है, क्योंकि परिणाम दुद्धि में होता है, निक श्रपरिणामी पुरुष में। इसिलिये इनका फल बन्ध, मोत्त और संसार में भी एक स्थार का भी सात्तान् सम्बन्ध दुद्धि से हैं। पुरुष सदा बन्ध, मोत्त और संसार में भी एक रस रहता है। दुद्धि में भेद होता है। श्रज्ञान में जो श्रवश्या दुद्धि को होती है, ज्ञान में उससे भिन्न होजाती है। पुरुष दुद्धि का द्रष्टा होने से दुद्धि के श्राकार से श्रपमे को भिन्न न सममन्ते के कारण उन श्रवश्याओं को श्रपनी श्रवश्याएँ समम् लेता है; किन्तु बास्तव में वे श्रवश्याएँ उसकी नहीं, दुद्धि को हैं। इसिलिये बन्ध, मोत्त और संसार का सम्बन्ध दुद्धि से है, जो प्रकृति का रूपान्तर है। श्रात्मा से परम्परा सम्बन्ध है, जैसे योद्धाओं की जीत-हार राजा की जीत-हार सममन्नी जाती है।

प्रकृति जिस प्रकार श्रपने को बांधती श्रौर छुड़ाती हैं कारिकाकार उसको निस्नप्रकार बतलाते हैं:---

रूपै: सप्तमिरेव द्व वध्नात्यात्मानमात्मना मकृति:। सैव च पुरुषार्थे मति विमोचयत्येकरूपेण।(सां-का-१३)

सांख्य दर्शन में पुरुष का बहुत्व

सांख्य दर्शन में जहाँ इस विषय का वर्ग्यन किया गया है, ध्यव उस पर प्रकाश डालते हैं।

जन्भादिक्यवस्थातः पुरुष बहुत्वम् । (सा॰ द० १ । १४९)

अधे—जन्म आदि व्यवस्था से पुरुष बहुत हैं। अर्थात् जन्म, मरण, सुख, दु:ख, सब अन्त:करण (सत्त्वचित्) के धर्म हैं। और अन्त:करण अनन्त हैं। इसलिये अन्त:करणों की अपेदा से पुरुष में बहुत्व माना जाता है। यह उपाधि भेद हैं, जैसा कि अगले सूत्र में बतलाते हैं।

उपाधि भेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः।

(सां०।१।१५०।)

उपाधि भेद में भी एक का नाना प्रकार का प्रतीत होना होता है आकाश के सदश घटादियों के साथ। अर्थात् एक ही आकाश नाना प्रकार के घटादिकों के साथ उपाधि भेद से उन घटादिकों उसा भिन्न २ प्रकार का प्रतीत होता है। इसी प्रकार एक चेतन तस्व अन्तःकरणों की उपाधि से बहुत धर्म वाजा प्रतीत होता है।

"डपाधिर्भिद्यते नत् तद्वान्" (सा १ १ १५१)

अर्थ—उपाधि का भेद होता है परन्तु उपाधि वाले का भेद नहीं होता है। अर्थात् बहुक्त केवल उपाधि रूप अन्तःकरणों में है, न कि पुरुष के वास्तविक शुद्ध चेतन स्वरूप में। (विज्ञान भिक्षु ने सूत्र १५० को पूर्वपक्ष में और सूत्र १५१ को उत्तर पत्त में रखकर अन्तःकरणों के उपाधि भेद से पुरुष में बहुत्त्व सिद्ध किया हैं जो हमारी तक्त्व समास के चौथे सूत्र "पुरुषः" की व्याख्या से अविरुद्ध हैं, जिसमें व्यष्टि अन्तःकरणों के सम्बन्ध से जो पुरुष की संज्ञा जीव है इसमें बहुत्त्व बतलाया गया है।)

"प्वमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विबद्ध धर्माध्यासः (सा० १ / १५३)

अर्थ — इस प्रकार एक श्रात्मा (चेतनतत्त्व) मानने से उपाधि वाले का विकद्ध धर्म बाला भान न होगा। नाना प्रकार के धर्मी अर्थात् सुख दुःख आदि का भान होना केवल अन्तःकरणों की उपाधि में घट सकता है, न कि निर्विकार शुद्ध चेतन खरूप में।

"अन्य धर्मत्वेऽपि नारोपात् तिसिद्धिरेकत्वात् ।"(सां० १ । १५३ ।)

अर्थ-अन्य के भर्म होने पर भी एक होने के कारण आरोप करने से पसकी सिद्धि

नहीं है। जम्म मरण सुख दुःखादि आत्मा के धर्म नहीं हैं। अन्तःकरणों के धर्म उसमें आरोप किये गये हैं। इससे आत्मा के वास्तविक शुद्ध स्वरूप में बहुत्त्व नहीं सिद्ध होता है।

यदि कहो कि पुरुषों को बहुत मानने में अद्वैत श्रुतियों से विरोध आवेगा तो उसका समाधान इस प्रकार है—

नाऽद्वेत श्रुति विरोधो जाति परत्वात् । (सा० द० १। १५४)

अर्थ—ये श्रुतियें जाति परक हैं (अर्थात् शुद्ध चेतन-तत्त्व अर्थ पुरुष के सत्ता मात्र आत्म खरूप का निर्देश करती हैं) इसलिए (जीव अर्थ) पुरुष को (अन्त:करणों की अपेना से) जन्म।दि व्यवस्था से बहुत मानने में उन से विरोध नहीं हो सकता।

यहाँ जाति से मनुत्य, पशु श्रादि जैसी जाति, जिसके श्रान्तर्गत बहुत सी व्यक्तियं होती हैं, श्रभिप्राय नहीं है किन्तु सत्तामात्र शुद्ध चेतन तत्त्व से, जो सदा एकरस श्रीर समान-रूप है, श्रभिप्राय है: जो व्यक्तियों के भेदक दिशा, काल, नाम, रूप, श्राकार श्रीर गुःगों के परिणाम से परे हैं। जिस प्रकार बेदान्त (उपनिषदों) में चेतन तत्त्व दो प्रकार शुद्ध (पर, निर्गुण) श्रीर शवल (श्रपर, सगुण) रूप से वर्णन किया गया है—शवल स्वरूप की व्यष्टि रूप से विश्व, तैजस श्रीर प्राञ्च; श्रीर समष्टि रूप से विशाद हिरण्यगर्भ श्रीर ईश्वर संज्ञा की है; इसी प्रकार सांख्य श्रीर योग में प्रतिविभ्वत चेतन तत्त्व की व्यष्टि रूप से पुरुष संज्ञा है श्रीर समष्टि रूप से हिरण्यगर्भ, पुरुष विशेष, श्रीर ईश्वर संज्ञा है। इस व्यष्टिरूपेण प्रतिविभ्वत पुरुष संज्ञक चेतन में बहुत्व (संख्या) है, न कि शुद्ध चेतन तत्त्व में जो कि तदाकार (एक समान रूप) है। इसी को श्रगले सूत्र में श्रीर स्वष्ट करते हैं।

विदित बन्ध्कारणस्य दृष्ट्या तद्रक्षम् । (सां द १ १५५)

अर्थ-जिसने बन्ध का कारण (श्राविवेक) जान लिया उसकी दृष्टि में (सब पुरुषों की) तद्रहपता (समान रूपता) है।

सर्व भूतस्य गात्मानं सर्व भूतानि चात्मिन । ईत्तते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ २६ ॥ भ्रात्मोपप्येन स[े]त्र समंपश्यति योऽजुन ।

सुर्खं वा यदि वा दु:खं स योगी परमोवत: ॥ ३२ ॥ (_{गीता॰ भ॰ ६})

अर्थ — सर्व व्यापी श्रनन्त चेतन में एक ही भाव से श्विति रूपयोग से युक्त हुए श्वात्मवाला तथा सब में समभाव से देखूने वाला योगी श्वार न को सम्पूर्ण भूतों में व्यापक देखता है श्रीर सम्पूर्ण भूतों को श्वात्मा में देखता है। हे श्वर्जुन ! जो योगी श्रपनी सहस्यता से सम्पूर्ण भूतों में सम देखता है, श्रीर सुख श्रथवा दुःख को भी सब में सम देखता है वही योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।

यदि यह कहा जाये कि समानरूपता है तो सबको क्यों नहीं श्तीत होती, तो उसका समाधान इस प्रकार है—

नान्धाऽहृष्ट्या चत्तुष्पतामनुषत्तम्भः । (सा॰ ६० १५६)

अर्थ-अन्धों के न देखने से समाखों को अनुपलब्धि नहीं होती ऐसा नहीं अर्थान् यदि विवैक-चक्षुहीन अविवेकियों को पुरुषों की समान-रूपता नहीं दीखती तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि विवेक की आंखों वाले समाखों को भी समान-रूपता की उपलब्धि न हो।

गीता श्रध्याय १८ में इस ज्ञान के सात्त्विक, राजसी, श्रीर तामसी, तीन भेद दिख-

लाये हैं। यथाः—

क्षानं कमें च कर्ता च त्रियेंच ग्रापभेदतः।

शोच्यते ग्राण संख्याने यथावच्छ्रणु तान्यि ॥ १६ ॥
सर्वभूतेषु येनैकं भाव मञ्यय मीत्तते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सान्विकम् ॥ २० ॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नाना भावानपृथग्विषान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥
यत्तुकुतस्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहेतुकम् ।
अतन्वार्थवदन्पंच तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

अर्थ — ज्ञान और कर्म तथा कर्ता भी गुर्गों के भेद से सांख्य शास्त्र में तीन २ प्रकार से कहे गये हैं। उनको भी तू भली प्रकार से सुन ॥ १९ ॥ जिस ज्ञान से मनुष्य पृथक २ सब भूतों में एक श्रविनाशी परमात्म भावको विभाग रहित सम भाग से स्थित देखता हैं, उस भाव को तू सास्त्रिक जान ॥ २० ॥ और जो ज्ञान श्रर्थात् जिस ज्ञान के द्वारा मनुष्य सम्पूर्ण भूतों में भित्र २ प्रकार के श्रनेक भावों को न्यारा २ करके जानना है उस ज्ञान को तू राजस् ज्ञान सम ॥ २१ ॥ श्रीर जो ज्ञान सब कार्य्य रूप शरीर में ही सम्पूर्णता के सहश श्रासक है तथा जो विना युक्ति वाला तस्त्र श्रथं से रहित और तुच्छ है वह ज्ञान तामस् कहा गया है ॥ २२ ॥

विज्ञान भिक्षुने जो उपर्युक सूत्रों तथा "वामदेवादि सुको नाइद्वेतस्" (१५७) 'वास-देवादि सुक हुए उससे अद्वेत नहीं रहा' से जो अन्तः करणों के धर्मों को साथ छेकर पुरुष में बहुस्व बतछाया है इससे हमारा कोई विरोध नहीं है।

इसने तस्व समास के चौथे सूत्र की ब्याक्या में तथा अन्य कई स्थानों में पुरुष के केवछ

नोट—यहां यह भी बता देना आवषयक है कि जिस प्रकार कुछ पक्षपाती अविधा अथवा माथा-वादी नवीन नेदान्तियों ने सांख्य के जब तस्व प्रधान अर्थात् त्रिगुणात्मक मुळ प्रकृति के अस्तित्व के खण्डन करने और केवल अद्वेत चेतन वाद सिद्ध करने में श्रुति और स्पृतियों के अर्थ निकास्त्र में अर्थों की खेंवा तानी की है। इसी प्रकार कई एक नवीन सांख्यवादियों ने भी उनके विरोध में श्रुति और स्पृतियों द्वारा शुद्ध चेतन तस्व में बहुष्य सिद्ध करने का यस्न किया है। परश्तु यह उनका अविधावादी नवीन वेदान्तियों के सहरा केवल पक्षपात है जो श्रुतिस्पृति और श्रुक्ति के विकद्ध है और सांख्य वेदान्त को उसके उच्चतम सिद्धान्त से गिराता है।

सांख्य भीर ईश्वरवाद

सांख्य ने पुरुष की सिनिधि को विषम-परिग्राम में निर्मित्त कारग्र माना है, पुरुष-विरोष का बर्गान नहीं किया। किन्तु सामान्यतोदृष्ट प्रमाग्य से उसकी सिद्धि होती है। क्योंकि जिस प्रकार व्यष्टि रूप से पुरुष की सिनिधि गुर्गों के व्यष्टि परिग्राम में निमित्त कारण है इसी प्रकार समष्टि रूप से पुरुष-विशेष की सिनिधि गुर्गों के व्यव्यक्त साम्य परिग्राम तथा समष्टि व्यक्त गुर्गों के विषम परिग्राम में निमित्त कारग्र है।

कई साम्प्रदायिक पत्तपातियों ने कपिल मुनि पर नास्तिकता स्त्रीर उनके दर्शन पर स्रतिकातवाद का दोषारोपण किया है। इसके कई कारण हो सकते हैं:—

उनके विचार में (१) सांख्य ने प्रधान (मूल प्रकृति) को जगत् का खतन्त्र कारण् माना है, ईश्वर का वर्णन नहीं किया है। वास्तव में मूल प्रकृति को सांख्य ने जगत् का उपादान कारण् माना है, उसको उसके उपादान कार्यों की अपेना से खतन्त्र बतलाया है, क्योंकि वह गुरों की साम्य अवस्था है जो पुरुष के लिये निष्प्रयोजन है। इस साम्य परिणाम तथा विषम परिणाम में निमित्त कारण् ईश्वर ही है जिसकी सिश्रिध से परिणाम हो रहा है। (२) सांख्य ने ईश्वद को २५ तत्त्वों में अलग वर्णन नहीं किया है। इसके सम्बन्ध में अपर बतला आये हैं कि पुरुष में पुरुष-विशेष ईश्वर को सम्मिलित कर दिया गया है।

केवल वेदान्त (उपिनपद् और ब्रह्मसूत्र) ने ब्रह्म को "हान" और ब्रह्महान को "हानोपाय" अर्थान् साध्य और साधन दोनों माना है। इसिलिएं उनमें ब्रह्म का ही विशेष रूप से विस्तार पूर्वक वर्णन हैं; अन्य चारों दर्शन — न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग ने परमात्म तत्त्व को केवल "ान" अर्थान् साध्य माना है। "हानोपाय" अर्थान् साध्य माना है। "हानोपाय" अर्थान् साधन जड़ और चेतन तत्त्व का विवेक पूर्ण ज्ञान बतलाया है। इसिलिए इन्हें उसको विशेष रूपसे अला वर्णन करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई क्योंकि जानना तो केवल अपने से भिन्न वस्तु का होता हैं जो दश्य कहलाता है। और वह त्रिगुणात्मक जड़ तत्त्व है। जिसके वास्तविक स्वरूप को विवेकपूर्ण जानकर आत्मा से भिन्न करने के लिय दर्शनकारों ने अर्थ केवन स्वरूप में एकस्व क्यिय उसके व्यक्ति के साथ मिश्रित स्वरूप में जिसकी संज्ञा की है। ब्रह्म विस्वरूप से साथ स्वरूप में प्रकृत्व कि सुन्न और मोक्ष प्रकृति में ही माने है। यथा:—

रूपैः सप्तमि रेवतु वध्नास्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।

सैव च पुरुषार्थ प्रति विमोचयत्त्रेकरूपेण ॥ (सां० का॰ ६६१)

अर्थ—(धर्म, अधर्म, अज्ञान, वैराग्य, अवेराग्य, ऐसर्थ्य, और अनैधर्य्य।) इन सात कर्यों ये प्रकृति अपने आपको बान्धती है वही किर पुरुषार्थ के लिये एक कप (ज्ञान) से अपने आपको खुदाती है। इसलिये प्रकृति के कार्यों को साथ लेकर जीव संज्ञक पुरुष में बन्ध मोक्ष्र संख्या आदि सब कुछ सिद्ध होते हैं। सांख्य के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिये इस बात का विवेक होना अति आवष्यक हैं, कि कहां पुरुष का शह जीव अर्थ में प्रयोग हुआ है कहां ईचर अर्थ में कीर कहां खुद जैतन परमात्मा स्वरूप के अर्थ में।

श्रपने २ माप और वर्णन शैली अनुसार अवान्तर भेदों में विभक्त करके दिखलाया है। अपने शुद्ध परमात्म खरूप का जानना नहीं होता उसमें तो खरूपावस्थिति होती है।

"देनेदं सर्वे विजानाति तं केन विजानीयात्"। (१६० ६। ४।)

जिससे यह सब जाना जाता है उसको किससे जाने ?

विज्ञातारं रे केन विजानीयात !

तथा—सबके जानने वाले विद्वाता को किससे जाना जासकता है अर्थात् किसी से भी नहीं जाना जासकता है! योग दर्शन ने इन्धर प्रिएधान को भी एक ''हानोपाय'' अर्थात् साधन रूप में वर्णन किया है। सांख्य तीनों गुर्गों के सर्वथा परित्याग पूर्वक सीधा एक साथ परम्बा की ओर जाता है जैसा कि हमने उसी प्रकरण में दो स्थानों में सांख्य की निष्ठा में बतलाया है।

''ईश्वरासिद्धेः'' का समाधान ईश्वरासिद्धेः । (सार्वका ११)

खपरोक्त सूत्र से सांख्य पर अनीश्वरवादी होने का दोष लंगाया जाता है। यह सूत्र पहिले अध्याय के प्रत्यक्त प्रमाण के प्रसंग में आया है। अब उसे स्पष्ट किये देते हैं।

यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोज्लेखि विज्ञानं तत्नत्यत्तम् । (ato द० १।८९)

अर्थ—इस सूत्र में प्रत्यत्त का लत्त् ण बतलाया है। अर्थात् इंद्रियों के सिक्षकों रूप सम्बन्ध को प्राप्त हुआ जो उस विषय के आकार का चित्र खींचने वाला विज्ञान (चित्र की वृत्ति) है वह प्रत्यत्त कहलाता है। इस पर यह शंका होती है कि योगियों को बिना इंद्रियों के सिन्नकर्ष के चित्त वृत्ति का वस्तु के तदाकार होकर प्रत्यत्त ज्ञान होता है; इसलिए उपरेक्त लत्त्रण में अञ्याति दोष आजाता है। इसका समाधान अगले सूत्र में करते हैं:

योगिनामबाह्य प्रत्यश्वत्वास्त्र दोषः। (सां द० १।९०)

योगियों का बाह्य प्रत्यत्त न होने से उपरोक्त लत्त्या में अञ्याप्ति दोष नहीं आता; अर्थात उपरोक्त लत्त्या केवल बाह्य प्रत्यत्त होन का है, योगियों का इस प्रकार का ज्ञान वाह्य प्रत्यत्त नहीं है, वह आभ्यन्तर प्रत्यत्त है। इसलिए सूत्र में बतलाये हुए लत्त्र्या में अन्याप्ति दोष नहीं आता। अथवा,

लीनवस्तुलन्धातिशयसम्बन्धाद्वा ऽदोषः । (सां द० ११६१)

अर्थ—योगियों को लीन वस्तुष्टों (सूक्ष्म, व्ययहित, विप्रकृष्ट) में व्यतिशय सम्बन्ध होने से श्रव्याप्ति दोष नहीं श्राता ।

दूसरी शंका इस प्रकार उत्पन्न होती है कि योगियों को ईश्वर का प्रत्यक्ष होता है इसिलए सूत्र में बतलाये हुए लच्च में अन्याप्ति दोष आता है। इसका उत्तर सूत्रकार निम्न सुत्र में बेते हैं—

ईश्वरासिद्धेः । (सा॰ १० ११९२) अर्थ—ईश्वर की जसिद्धि से (जन्यासिदोष नहीं जाता है)। ११९ यह सूत्र ईश्वर के अस्तित्व के अभाव को नहीं बतलाता है किन्तु इससे ईश्वर के ग्रुद्ध स्वरूप का प्रत्यक्त अन्तः करण द्वारा नहीं होता अर्थात् चित्तवृत्ति ईश्वर के ग्रुद्ध स्वरूप के तदाकार होकर उसका ज्ञान नहीं प्राप्त करा सकती है। इसलिये इस सूत्र से ईश्वर के अस्तित्व की असिद्धि नहीं बतलाई गई है किन्तु जिस प्रकार भौतिक पदार्थों का साधारण मनुख्यों को बाह्य प्रत्यक्त से श्रीर योगियों को सूक्ष्म पदार्थों का आध्यन्तर प्रत्यक्त से ज्ञान नहीं होता।

सांख्य ने ईश्वर को ऐसा खेच्छाचारी सम्राट नहीं माना है, जो श्रपने मनोर जन के लिये सृष्टि की रचना करता है और स्वार्थ-सिद्धि के लिये सर्विहतकारी नियमों का भी वल्लंघन कर सकता है; किन्तु सर्वज्ञ, सर्वेशितमान और ज्ञान-खरूप माना है, जिसकी ज्ञान-शिक्त से जड़ प्रकृति में सारे पुरुषों के कल्याणार्थ सृष्टि, उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय की ज्ञान, नियम और व्यवस्था-पूर्वक क्रिया हो रही है। जैसा स्वयं विज्ञान-भिक्षु ने सूत्र सत्तानवें के प्रवचन भाष्य में लिखा है।

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः पनर्तते । सत्तामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः ॥ अत आत्मनि कत्तेत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम् । निरिच्छत्वादकर्ताऽसो कर्ता सन्निधिमात्रतः ॥

(सांख्य-प्रवचन भाष्य १।९०)

क्रथं—जैसे बिना इच्छावाले रत्न (मिए चुम्बक) के स्थित रहने मात्र में लोहा (श्रापसे-आप) प्रवृत्त होता है, वैसे ही सत्ता-मात्र देव (ईश्वर) से जगन् की उत्पत्ति श्रादि होती है। इस कारण ईश्वर में कर्तृत्व और अकर्तृत्व भी अच्छे प्रकार सिद्ध है। वह निरिच्छ होने से अकर्ता और सामीप्य-मात्र से कर्ता है।

इसी बात को गीता के पांचवें श्रन्याय में निम्नलिखित ऋतेकों में दर्शाया है।

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य स्जिति प्रश्नः । न कर्मकलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवतेते ॥१४॥ नादत्ते कस्यचित्पावं न चैव सुकृतं विश्वः । मज्ञानेनाद्वतं ज्ञानं तेन सुक्षन्ति जन्तवः ॥१५॥ ज्ञानेन तु तद्ज्ञानं येषां नाशितपात्यनः । तेषामोदित्यवण्डानं प्रकाशयित तत्त्वस्म् ॥१६॥

अर्थ — ईश्वर भूत प्राणियों के न कर्तापन को छोरे न कर्मों तथा कर्मों के फल के संयोग को (वास्तव) में रचता है। किन्तु परमात्मा के सान्निय से प्रकृति ही वर्तती है। कर्मा गुण हा गुणों में वर्त रहे है।।१४॥

सर्वच्यापी ईश्वर न किसी के पाप को और न किसी के छुभ कर्म को भी महस्य करता है (किन्तु) श्रविद्या से ज्ञान (विवेक ज्ञान) ढका हुश्रा है इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं ॥१५॥

परन्तु जिनका अन्तःकरण का अज्ञान विवेक ज्ञान द्वारा नाश हो गया है उनका वह्र ज्ञान सूर्य के सदश उस पर बद्ध परमात्मा के खरूप को हृदय में प्रकाशित करता है

श्रर्थात् सादात् कराता है।

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा । (सां॰ द॰ ३। ५७)

उपरोक्त सूत्र से ईश्वर की सिद्धि स्पष्ट शब्दों में बतलाई गई है।

विज्ञानिभिक्षु ने यहाँ अपने सांख्य-प्रवचन भाष्य में ईश्वर को प्रकृतिलय का वाचक बतलाया है। इसलिये पाठकों के स्वतन्त्रता-पूर्वक विचार करने के लिये प्रकृतिलय के प्रसङ्ग के साथ इस सूत्र को बतलाए देते हैं—

न कारणलयात् कृतकृत्यतामग्रवदुत्थानात् । (सी॰ द॰ ३। ५४)

अर्थ—कारण में लीन होने से पुरुष को इतकृत्यता नहीं हो सकती, क्योंकि डुबकी लगाने वाले के समान फिर ऊपर उठना होता है। इस विषय में योगदर्शन १।१९ की व्याख्या देखिये।

द्यर्थात् प्रकृतिलय होना भी मुक्ति नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार डुक्की लगाने वाले को श्वास लेने के लिये ऊपर उठना दोता है, इसी प्रकार प्रकृतिलयों को भी एक नियत समय के परचात् विवेक-ज्ञान द्वारा स्वरूपावस्थिति प्राप्त करने के लिये प्रकृति-लीनता से निकल कर फिर जन्म लेना होता है।

श्रकार्यत्वेऽपि तद्योगः पार्वश्यातः । (साँ॰ द॰ ३। ५५)

अर्थ — यदापि प्रकृति कार्य नहीं है, तो भी परतन्त्रता से उसका योग होता है। अर्थात् यदापि प्रकृति कार्य पदार्थ नहीं है, कारण है, फिर भी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर के नियमों के आधीन पुरुष के अपवर्ग (स्वरूपावस्थिति) कराने के लिये प्रवृत्त हो रही है। प्रकृतिलय पुरुष स्वरूपावस्थिति को प्राप्त किये हुए नहीं होते हैं। इसलिये प्रकृति ईश्वरीय नियमों से परतन्त्र हुई, उनको अपवर्ग दिलाने के लिये प्रकृति-लीनता से निकाल कर ऊँचे योगियों के कुल में जन्म दिलाती है।

स हि सर्ववित सर्वेकर्ता । (सं० द० ३। ५६)

अर्थ-वही सर्वज्ञ और सबका कर्ता है।

श्रर्थात् वह चेतन तत्त्व ईश्वर, प्रश्चित जिसके श्राधीन ज्ञान, व्यवस्था श्रीर नियम-पूर्वक पुरुष के श्रपवर्ग के लिये प्रवृत्त हो रही है, सर्वज्ञ श्रीर सर्वकाक्तमान् है।

ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा । (सां॰ द॰ ३। ५७)

अर्थ-इस प्रकार की ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है।

अर्थात् प्रथम अध्याय के वानवें सूत्र में ईश्वर के बद्ध तथा मुक्त दोनों प्रकार १६

[ईरशेश्वर सिद्धिः सिद्धा

का न होने से असिद्धि बतलाई थी; पर इस प्रकार सर्वे सृष्टि का नियन्ता, सर्वेज्ञ, सर्वेज्ञािकमान् ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है।

यहाँ प्रसङ्ग तथा युक्ति से प्रकृतिलय पुरुष जिनमें न पूरा विवेक ज्ञान है, और जो न स्वरूपावस्थित को प्राप्त किये हुए हैं, वे सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर नहीं हो सकते। यदि प्रकृतिलय से सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान ईश्वर के ही श्वर्थ लिये जाँव तो समिष्ट प्रकृति के श्विष्ठाता समिष्ट-रूपेण चेतन-तत्त्व ईश्वर के ही हो सकते हैं जिसका योगदर्शन १।२८ की ज्याख्या तथा वि० वि० में विस्तार-पूर्वक वर्णन किया गया है, जो उसका शुद्ध स्वरूप नहीं है किन्तु शबल श्वर्थात् प्रकृति के संयोग से है।

सम्भव है विज्ञानिभक्ष ने प्रकृतिलय से सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् ईश्वर के अर्थ इस अभिप्राय से किये हों कि योगियों को समाधि द्वारा केवल महत्तत्त्व तक ही साज्ञान्कार होता है इससे अव्यक्तमृल प्रकृति अनुमानगम्य होती है। इसलिये अनुमानगम्य अव्यक्त कारण प्रकृति के अधिष्ठाता ईश्वर भी महत्तत्त्व के अधिष्ठाता हिर्एयगर्भ रूप से ही व्यक्त (प्रगट प्रत्यच्) हो सकते हैं। अतः डुवकी लगानेवाले के सदश प्रकृति से बाहर निकलने से अभिप्राय महत्तत्त्व अर्थान् समष्टि सूक्ष्म जगन् के अधिष्ठाता हिरएयगर्भ रूप से पुरुष को अपवर्ग दिलाने के लिये सृष्टि-उत्पत्ति के समय प्रकट होना है।

साभिध्यमात्रेणेश्वरस्य सिद्धिस्तु श्रुतिस्मृतिषु सर्वसम्मतेत्यर्थः । श्रंग्रष्ठमात्रः पुरुषो मध्य श्रात्मनि तिष्ठति । ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विज्ञग्रुष्सते एतद्वैतद् ॥ स्प्रजते च ग्रुणान् सर्वान् क्षेत्रह्नस्त्वनुपश्यति । ग्रुणान् विक्रयते सर्वानुदासीनवदीश्वरः ॥

(सांख्य-प्रवचन भाष्य ३।५७)

अर्थ—अङ्गुष्ठ परिमाण हृदय-देश है, उस हृदयाकाश में वर्तमान पुरुष को हृदय की उपाधि के कारण श्रङ्गुष्ठमात्र कहा है। वह श्रङ्गुष्ठमात्र पुरुष शरीर के भीतर रहता है (व्यापक होने पर भी चूंकि हृदयादेश में उपलिध्य होती है श्रतः हृदयोपिहत निर्देश किया है) जो उस भूत और भविष्यत् के स्वामी श्रात्मा को जानकर फिर कुछ भी छिपाना नहीं चाहता, वही यह श्रात्मतत्त्व है। और (वह) सब गुणों को उत्पन्न करता है, पीछ चेन्नज्ञ तो देखता है (गुणों का द्रष्टा रहता है) ईश्वर उदासीन की सहश सब गुणों को कार्य रूप में परिणत करता है।

गीता के अध्याय १३ के निम्नलिखित ऋोकों का भी यही आशय है।

मनादित्वाकार्रुणत्वात् परमात्मायमन्ययः । शरीरस्थोऽपिकौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥ यथा सर्वगतं सौचम्यादाकाशं नोपलिप्यते । सर्वभावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥ यथा प्रकाशयत्येकः कत्स्नलोकिमिर्ग रविः।

क्षेत्रं क्षेत्रो तथा कृत्स्तं प्रकाशयति भारत ॥३३॥

अर्थ-हे अर्जुन ! अनादि होने से और गुणातीत होने से वह अविनाशी परमात्मा शरीर में क्षित हुआ भी (वास्तव में) न कत्ती है श्रीर न लेपायमान होता है ॥३१॥

जिस प्रकार सर्वत्र ज्याप्त हुन्ना भी त्राकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं रहता है वैसे ही सर्वत्र देह में स्थित हुआ भी आत्मा (गुणातीत होने के कारण देह के गुणों से) लिप्त नहीं रहता है ॥३२॥

हे अर्जुन ! जिस प्रकार एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण ब्रह्मागड को प्रकाशित करता है उसी प्रकार एक ही आत्मा सम्पर्श चेत्र को प्रकाशित करता है।

कविल मुनि श्रास्तिक थे: श्रन्य युक्तियाँ

यदि कपिल मुनि नास्तिक होते तो श्वेताश्वतरादि उपनिषद् तथा गीप्ता में उनकी इतनी प्रशंसा नहीं को जाती जैसा कि इस प्रकरण के श्रारम्भ में दिखलाया गया है। सांख्य तथा योग सबसे प्राचीन वैदिक दर्शन हैं। योग कर्मयोग, श्रीर सांख्य ज्ञानयोग के नाम से प्रसिद्ध हैं जिनका गीता में बारबार वर्णन श्राता है।

श्रीमद्भागवत् के तीसरे स्कन्ध में जहां भगवान् कपिल ने श्रपनी माता को श्राध्यास्मिक उपदेश दिया है वहां उनको स्वयं ईश्वर का श्रवतार माना गया है।

श्री व्यासजी महाराज ने योगदर्शन के भाष्य में पश्चिशिखाचार्य के सांख्यसत्रों को श्रनेक स्थानों पर उद्वृत किया है।

सांख्य ने वेदों को अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान और आप्त प्रमाण माना है।

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात् । (सां॰ द॰ पा४६)

अर्थ-उन (वेदों) का बनाने वाला कोई पुरुष नहीं (दिखलाई देता है), इसिलिये उनका पौरुषेयत्व नहीं बन सकता।

न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात् । (सां॰ द॰ पान्)

अर्थ-मुक्त और अमुक्त (बद्ध) के अयोग्य होने से (वेदों की) पौरुषेयता नहीं बन सकती।

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाएयम् । (सां॰ द॰५५१)

अर्थ-अपनी खाभाविक निज शक्ति द्वारा उत्पन्न होने से वेदों को खत: प्रभाशक्ता है। सांख्य ने अपने सारे सिद्धान्तों को वेद के आधार पर माना है और उनका अतियों से अविरोध सिद्ध किया है। जैसे-

निग्रं पादि श्रुतिविरोधेश्रेति । (सा॰ द॰ ११५४)

अर्थ-निगुंगादि श्रुतियों से भी विरोध है i

पारम्पर्येख तत्सदी बिम्नुक्ति श्रुति: । (सं॰ द॰ ६।५८)

अर्थ-परम्परा से उस मोत्त की सिद्धि में मुक्ति प्रतिपादक श्रुति है।

समाधि सुवृप्ति मोक्षेषु ब्रह्मरूपता । (सा॰ द॰ पाँ११६)

अर्थ-समाधि, सुपुप्ति तथा मोत्त में ब्रह्मरूपता हो जाती है।

दृयोः सबीजमन्यत्र तद्धतिः । (सा॰ द॰ ५।११७)

अर्थ—दो में सबीज श्रीर श्रन्यत्र (तीसरे में) उस (बीज) का नाझ हो जाता है। श्रर्थात् सुपुप्ति में बन्धन के बीज पाँचों क्लेश संस्काररूप से बने रहते हैं, श्रीर (श्रसम्प्रज्ञात) समाधि में ज्युत्थान के संस्कार चित्त भूमि में बीज रूप से द्वे रहते हैं, किन्तु (तीसरे) तीसरे मोच में चित्त के नाझ के साथ उस बीज का नाझ होजाता है।

द्वयोरिव त्रयस्यापि दृष्टस्वाकत द्वी। (सं॰ द॰ पा११८)

अर्थ-दो के समान तीनों के दृष्ट होने से केवल दो ही नहीं मान सकते।

अर्थात् सुपुप्ति को सब ने अनुभव किया है और समाधि को कुछ लोगों ने; इसलिये इन दोनों से मोन्न की अवस्था भी सिद्ध होता है।

बासनयानर्थेख्यापनं दोषयोगेऽपि न निमित्तस्य प्रधानबाधकत्वम् (सी॰ द॰ पा११९)

अर्थ—दोव के योग्य होते हुए भी वासना से अनर्थ की ख्याति नहीं हो सकती, और मिमित्त को मुख्य बाधकता है।

अर्थान् यद्यपि सुपुष्ति में तमागुण् दोष का योग है तो भी वासना से कोई अनर्थ (क्लेपादि) प्रकट नहीं हो सकता और सुपुत्ति का निमित्त तमोगुण सुख्यतया दुःख आदि को रोके रहता है। इसलिये सुपुत्ति में भी ब्रह्मरूपता अवश्य है।

इससे बदकर सांख्य में ईश्वर-सिद्धि को और किस प्रमाण की आवश्यकता रह जाती है।

घोग-द्शंन योग का महस्त

योग सांख्य का ही कियात्मक रूप हैं। योग सारे सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों के पत्तपात और वाद-विवाद से रहित सार्वभौमिक धर्म है जो तत्त्व का झान खयं अनुभव द्वारा प्राप्त करना सिखलाता है और मनुष्य को उसके अन्तिम ध्येय तक पहुँचाता है। सारी श्रुति-स्वृति योग की महिमा गान कर रही हैं।

योग का वास्तविक खरूप

योग के सम्बन्ध में नाना प्रकार की फैली हुई भ्रान्तियों के निवारणाथ उसके वास्तविक खरूप को समका देना श्रन्यावश्यक है। मोटे शब्दों में योग स्थूलता से सूक्ष्मता की श्रोर जाना श्र्यात् वाहर से श्रन्तर्भुख होना है। चित्त की बुक्तियों द्वारा हम स्थूलता की श्रोर जाते हैं श्रर्थात् बहिर्मुख होते हैं (श्रात्म तस्त्व से प्रकाशित चित्त, खहंकार रूप वृत्ति द्वारा, खहंकार, इन्द्रियों और तन्मात्रात्रों रूप वृत्तियों द्वारा, तन्मात्रायों सूक्ष्म और स्थूल भूत, और इन्द्रियों विषयों की वृत्तियों द्वारा बिहुर्मुख हो रही हैं। जितनी वृत्तियों बिहुर्मुख होती जावेगीं उत्तनी हीं उनमें रज और तम की मात्रा बढ़ती जावेगी और जितना वृत्तियों का निरोध होता जावेगा उत्तना ही रज और तम के तिरोभाव पूर्वक सत्त्व का प्रकाश बढ़ता जावेगा। जब कोई भी वृत्ति न रहे तब शुद्ध परमात्म स्वरूप शेष रह जाता है। इसको यों सममत्ता चाहिये कि जिस प्रकार जल के सर्वत्र भूमि में न्यापक रहते हुए भी उसकी शुद्ध धारा को किसी स्थान विशेष के खोदने पर निकाला जाता है। इसी प्रकार परमात्म तत्त्व के सर्वत्र न्यापक रहते हुए भी उसके शुद्ध स्वरूप को किसी स्थान विशेष देश राम करना है। यह जो चित्त को किसी स्थान विशेष देश (विषय-स्थय-लक्ष्य) पर ठहरा कर शुद्ध परमात्म स्वरूप को प्राप्त करने का यक्ष किया जाता है, इसको एकामता, सम्प्रज्ञात योग तथा सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं और उसके प्रथात जो सर्व वृत्तियों के निरोध होने पर शुद्ध परमात्म स्वरूप की प्राप्ति है वह निरुद्ध खबसा, असम्प्रज्ञात योग तथा असम्प्रज्ञात समाधि कहताती है।

योग के तीन अन्तर्विभाग—उपासना, कर्म और हानः—

इसमें परमात्म प्राप्ति के लिये जो चित्त को एक लक्ष्य विशेष पर ठहराना है यह उपा-सना या भक्ति योग है। किन्त चित्त अन्य विषयों में राग होने के कारन उनकी ओर डीडता है। विषयों में राग सकाम कमों से होता है। इस लिए वैराग्य के हेत कमों में निष्कामता आवश्यक होती है। अर्थात् पाप रूप अधर्म कर्म तो त्याज्य होते ही हैं। पुरुष रूप धर्म अर्थात कर्राच्य कमी को भी उनकी फलों की इच्छा को छोड़ कर करना चाहिए। यह दो प्रकार से होता है एक तो कमीं के कारण अर्थात शरीर इन्द्रियों आदि से होने वाले सारे कर्म और उनके फल आदि सब को ईश्वर के समर्पण करके कर्राव्य कर्मी का करना । उसरा कर्त्तेच्य कर्मों को इस भावना से करना कि शरीर इन्द्रियों आदि तथा उनके विषय भी तीनों गुणों से बने हुए हैं इसलिये गुण ही गुणों में वर्त रहे हैं । श्रात्मा उनका द्रष्टा सदा श्रकत्ती, निर्विकार, निर्लेप और असंग है। इस प्रकार कमों के फलों से निष्कामता प्राप्त करने को कर्म योग कहते हैं। इन दोनों योगों से जो परमात्मा की प्राप्ति है वह ज्ञान ऋथवा सांख्य योग है। उपासना. कर्म और ज्ञान-इन तीनों योगों का अपना अपना स्वतंत्र स्वरूपः ये तीनों योग स्वतन्त्र रूप से भी अलग अलग वर्णन किये जाते हैं। अर्थात् जहाँ परमात्म प्राप्ति के लिये चित्त को किसी विशेष लक्ष्य पर ठहराने के लिये अधिक जोर दिया जाय बह उपासना या भक्ति योग है। जहां परमात्म प्राप्ति के लिए निष्काम कर्म को प्रधानता दी जावे वह कमें योग हैं। श्रीर जहां इन दोनों की उपेत्ता करते हुए परमात्म ज्ञान को ही मुख्य माना जावे वह झान या सांख्य योग है। किन्तु जिस प्रकार संसार की कोई भी वस्तु, सत्त्व, रजस् और तमस इन तीनों गुणों के संमिश्रण के बिना अपना अस्तित्त्व नहीं रख सकती, केवल इतना भेद होता है कि कहीं सत्त्व की प्रधानता होती है, कहीं रज की

श्रीर कहीं तम की इसी प्रकार इन तीनों योगों में भी तम रूप भक्ति चित्त को एक लक्ष्य पर ठहराने वाली, रज रूप निष्काम कर्मता, और सत्त्व रूप झान, ये तीनों किसी न किसी श्रंश में बने ही रहते हैं, यह श्रवश्य होता है कि उपासनाया भक्तियोग में उपासना प्रधान रूप से होती है कर्म श्रीर झान गौण रूप से। कर्म योग में कर्म की प्रधानता झान श्रीर उपासना की गौणता श्रीर झान योग में झान की प्रधानता श्रीर कर्म तथा भक्ति की गौणता होती हैं।

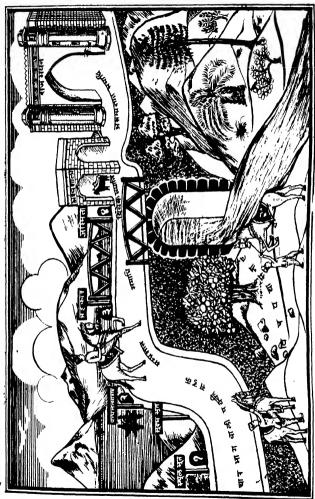
तीनों योगों के दो मुख्य भेद-सांख्य और योग-

इन तीनों योगों के दो मुख्य भेद सांख्य और योग नाम से किये गये हैं। जहां भक्ति योग और कर्म योग पर अधिक जोर दिया गया हो वह योग निष्ठा कहलाती है और जहां झान को प्रधानता दी जाती है वह सांख्य निष्ठा। इन दोनों निष्ठाओं का वर्शन सांख्य प्रकरण के आरम्भ में विस्तारपूर्वक कर दिया गया है।

रूपक द्वारा योग का खरूप:--

योग का दार्शनिक महत्त्व बतलाकर अब एक रोचक रूपक द्वारा उसके अशंग खरूप को दिखलाने का यत्र किया जाता है-चित्त और पुरुष का जो अनादि ख खामी भाव सम्बन्ध चला श्रा रहा है उसके श्रनुसार ख रूप चित्त को श्रश्र श्रीर स्वामी रूप परुष को सवार समम्मना चाहिए। इस ऋश्व का मुख्य प्रयोजन ऋपने स्वामी को भोग (इष्ट) रूप मार्ग को पूरा कराकर अपवर्ग रूप लक्ष्य तक पहुँचा देना है। यह मार्ग एक पछी सडक वाला चार भागों में विभक्त है-पहला स्थूल भूत दूसरा सूक्ष्म भूतों से तन्मात्रास्त्रों तक, तीसरा अहंकार, और चौथा अस्मिता। अन्तिम किनारे पर भेद ज्ञानकृषी एक अश्वशाला है। यहाँ इस घोड़े का छोड़ देना पड़ता दै, श्रीर श्रन्तिम लक्ष्य श्रपवर्ग परमात्म स्वरूप एक विशाल सन्दर राज भवन है जहाँ इस सवार को पहुँचा देना घोड़े का मुख्य उद्देश्य है। सकाम कमें रूप श्रसावधानी से पुरुष घोड़े की पीठ पर स नीचे गिर कर बाग पकड़े हुए घोडे की इच्छातसार श्रसमर्थता से उसके पीछं घूम रहा है। इस श्रश्न की श्रसंख्य चालें हैं जो वृत्तियां कहलाती हैं। ये दो प्रकार की हैं—एक क्लिप्ट जो पुरुष के लिए श्रहितकारी है। दूसरी अक्लिप्ट जो पुरूष के लिये हितकर है। वह पाँच अवस्थाओं में रहती है--मुद्र, क्षिप्त, पिक्षिप्त, एकाम श्रीर निरुद्ध, इनमें पहली तीन श्रवस्थायें पुरुष के प्रतिकृत हैं। केवल श्रन्तिम दो श्रनुकूल हैं। यह घोड़ा पहली तीन श्रवस्थाश्रों में श्रपनी श्रनन्त क्लिप्ट चालों से मंमार रूपी घोर भयदूर वन में विषय वासना रूप हरियाली की श्रोर भाग रहा हैं श्रीर सवार जन्म. आय और भोग (अनिष्ट) रूपी नदी नालों, खाई खन्दक, कांटें श्रीर पत्थरों में असमर्थता से धिसटता हुआ उसके पीछे चला जा रहा है और सुख दु:ख रूपी चोटों से पीड़ित हो रहा है। एक अपरिमित समय से उस अवस्था में रहते हुए पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप को सर्वधा भूल गया है और घोड़े के साथ एकात्मभाव करके उसके ही विषयों को श्रपना मानने लगा है। ईश्वर अनुप्रह से जब अध्यात्म विषयक सत्त्वाकों श्रीर निःस्वार्थ श्राप्तकाम योगी गुरुश्रों के उपदेश मे उसको अपने और इस घोड़े के बास्तविक स्तरुप का तथा अपने अन्तिम लक्ष्य का पता लगता है तब वह यम नियम के साधनों से थोड़े की क्लिप्ट चालों को अक्लिप्ट बनाता है।





जासन का सद्दारा लेकर घोड़े की रकाद पर पैर रखने का यक्न करता है। प्राणायाम की सहायता से रकाव पर पैर जमाने में रामर्थ होता है प्रत्याहार द्वारा वशीकार करके उसकी पीठ पर सवार होने में सफलता प्राप्त करता है। भोग (इष्ट) रूपी पक्की सड़क की ओर घोड़े का गुख फेरना थारणा है। घोड़े को उस ओर चलाना आरम्भ कर देना ध्यान है और सड़क के निकट पहुँच जाना समाधि है। वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता अनुगत रूप एकाव्रता की अवस्थाओं से क्रमानुसार भोग रूपी मार्ग के स्थूल, सुद्भ, अहंकार और अस्मिता रूपी भागों को समाप्त करता है, विवेक ख्याति द्वारा घोड़े को अश्वशाला में छोड़ कर सर्व वृत्ति निरोध अपवर्ग नामक शुद्ध परमात्म स्वरुप रूपी विशाल राज भवन में पहुंचता है।

योग के आदि आचार्य

योग के खादि आचार्य हिर्य्यगर्भ हैं। हिर्य्यगर्भ सूत्रों के आधार पर (जो इस समय छुप्त हैं) पतञ्जलि मुनि ने योग दर्शन का निर्माण किया है। इसको विस्तार पूर्वक समाधिपाद के प्रथम सूत्र में दर्शाया जावेगा। पतःश्वलि मुनि की जीवनी तथा योग दर्शन के भाष्यकारों का वर्णन इस प्रकरण के खंत में किया जावेगा।

योग-दर्शन के चार पाद

योगदर्शन के चार पाद हैं खौर १९५ सुत्र हैं। समाधिपाद में ५१, साधनपाद में ५५, विभूतिपाद में ५५ और कैवत्यपाद में ३४।

ै समाधिपाद — जिस प्रकार एक निपुण चेत्रज्ञ सबसे प्रथम सबसे श्रधिक उपजाऊ भूमि को तैयार करके उसमें श्रेष्ठतम बीज बोता है, इसी प्रकार श्री पतश्विल महाराज ने समाहित चित्त बाले सबसे उत्तम श्रीधकारियों के लिये सबसे प्रथम समाधिपाद को श्रारम्भ करके उसमें विस्तार-पूर्वक योग के स्वरूप को वर्णन किया है।

सारा समाधिपाद एक प्रकार से निम्न तीन सूत्रों की विस्तृत व्याख्या है:---

योगश्चित्तवृत्ति निरोबः ॥ २ ॥

अर्थ-योग चित्त की वृत्तियों का रोकना है।

तदा द्रव्दुः खरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

अर्थ-तब वृत्तियों के निरोध होने पर) द्रष्टा की स्वरूप में अविश्विति होती है।

वृत्ति-सारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥

अर्थ—दूसरी (खरूपाविश्वित से श्रितिरिक्त) श्रवस्था में द्रष्टा द्यक्ति के समान रूप वाला प्रतीत होता है।

चित्त, बुद्धि: मन, श्रान्तःकरण लगभग पर्याय-वाचक समानार्थक शब्द हैं, जिन का भिन्न-भिन्न दर्शनकारों ने श्रपनी-श्रपनी परिभाषा में प्रयोग किया है। मन की चञ्चलता प्रसिद्ध है। सृष्टि के सारे कार्यों में मन की स्थिरता ही सफलता का कारण होती है। सृष्टि के सारे कार्यों में मन की स्थिरता ही सफलता का कारण होती है। सृष्टि के सारे महान पुरुषों की श्रद्धुत शक्तियों में उनके मन की एकामता का रहस्य हिए। हुआ होता है। नैपोलियन के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह इतना एकामचित्त था कि रामभूमि में भी शान्तिपूर्वक शयन कर सकता था। किन्तु ये सब एकामता के बाह्य रूप हैं।

योग के अन्तर्गत मन को दो प्रकार से रोकना होता है: एक तो केवल एक विषय में लगातार इस प्रकार लगाये रखना कि दूसरा विचार न आने पावे, इसको एकाप्रता अथवा सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं इसके चार भेद हैं (१) वितर्क—किसी स्थूल विषय में चित्तवृत्ति की एकाप्रता (२) विचार—किसी स्कूम विषय में चित्त वृत्ति की एकाप्रता (३) आस्मता—अहंकार विषय में चित्त वृत्ति की एकाप्रता (४) आस्मता—अहंकार रहित अस्मिता विषय में चित्त वृत्ति की एकाप्रता । इसकी सबसे ऊँची अवस्था विवेक-ख्याति है, जिसमें चित्त का आत्म-अध्यास छूट जाता है और उसके द्वारा आत्मस्वरूप का उससे पृथक् रूप में साज्ञातकार होता है। किन्तु योगदर्शन इसको वास्तविक आत्मस्थिति नहीं बतलाता है। यह भी चित्त ही को एक वृत्ति अथवा मन का ही एक विषय है। किन्तु इसका निरन्तर अध्यास वास्तविक स्वरूपावस्थिति में सहायक होता है।

उपर्युक्त विवेक ख्याति भी चित्त ही की एक उच्चतम सात्त्विक वृत्ति है। इसको 'नित नित'' (यह वास्तविक स्वरुपावस्थिति नहीं है यह आत्मस्थिति नहीं है इत्यादि) रूप पर-वैराग्य द्वारा हटाना मन का दूसरी प्रकार से रोकना है: इसके भी हट जाने पर चित्त में कोई भी वृत्ति न रहना अथवा मन का किसी विषय की और न जाना, सर्व-वृत्ति-निरोध असम्प्रज्ञात समाधि है। इसकी विस्तारपूर्वक व्याख्या योग दुरीन में यथास्थान की जावेगी।

निरोध श्रपने स्वरूप का सर्वथा नाश होजाना नहीं है, किन्तु जड़तत्त्व के श्रविवेकपूर्ण संयोग का चेतन तत्त्व से सर्वथा नाश हो जाना है। इस संयोग के न रहने पर द्रष्टा की (शुद्ध परमात्म) स्वरूप में श्रविक्षिति होती है। इसको तीसरे सूत्र में बतलाया गया है। 'स्वरूपावस्थिति'' इतना ज्यापक शब्द है कि सारे सम्भ्रदाय श्रीर मत-मतान्तर वाले इसके अपने श्रामित श्रथं ले सकते हैं, किन्तु योग क्रियात्मिक रूप से श्रन्तिम लच्च पर पहुंचा कर यथार्थ स्वरूप श्रमुभव कराकर शब्दों के वाद-विवाद में नहीं पड़ा है। स्वरूपावस्थिति से श्रातिरक्त भिन्न श्रवस्थाश्रों में यद्यपि द्रष्टा के स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है, तथापि जैसी चिक्त की दृत्ति सुख-दु:स श्रीर मोह-रूप होती है, वैसा ही द्रष्टा भी प्रतीत होता है। जैसे जल में प्रतिविभिन्नत चन्द्रमा जल के हिलने से चलायमान, श्रीर स्थिर होने से शान्त प्रतीत होता है।

त्रधासूत्र तथा सांख्य सूत्र के सहश योग दर्शन के भी प्रथम चार सूत्र योग दर्शन की चतुः सूची हैं, जिसमें सारा योग दर्शन सामान्य रूप से बतला दिया है। शेष सब सूत्र इन्हों की विशेष व्याख्या रूप हैं।

२ साधनपाद—दूसरे पाद में विक्तिः चित्त वाले मध्यम अधिकारियों के लिये योग का साधन बतलाया गया है—

सर्व बन्धनों और दु:खों के मूल कारण पाँच क्लेश हैं : अविद्या, अस्मिता, राग, देव और अभिनिवेश ।

ष्ठविद्या—ष्ठानित्य में नित्य, षशुद्ध में शुद्ध, दु:ख में शुख, ष्रनात्म में ष्रात्म सममन्ता ष्ठविद्या है। इस श्रविद्या-रूपी चेत्र में ही श्रन्य चारों क्लेश दरला होते हैं। चेतन पुरुष, चिति में भेदज्ञान नहीं रहता । यह श्रविद्या से उत्पन्न हुश्चा चित्त और चिति में श्रविवेक अस्मिता क्लेश कहलाता है ।

राग—िचत्त श्रौर चिति में विवेक न रहने से जड़तत्त्व में सुख की वासना उत्पन्न होती है। श्रास्मता क्लेश से उत्पन्न हुई चित्त में सुख की इस वासना का नाम राग है।

द्वेष — इस राग से सुख में विज्ञ पड़ने पर दुःखं के संस्कार उत्पन्न होते हैं। राग से उत्पन्न हुए दुःख के संस्कारों का नाम द्वेष है।

अभिनिवेश —दुःख पाने के भय से भौतिक शरीर को बचाये रखने की वासना उत्पन्न होती है, इसका नाम अभिनिवेश क्लेश है।

क्लेशों से कर्म की वासनाएं उत्पन्न होती हैं। कर्म वासनाओं से जन्म रूपी वृत्त उत्पन्न होता है। उस वृत्त में जाति, आयु और भोग रूपी तीन प्रकार के फल लगते है। इन तीनों फलों में सुख-दुख रूपी दो प्रकार का स्वाद होता है।

जो पुरुष-कर्म स्त्रथोत् हिंसा-रहित दूसरे के कल्यागार्थ कर्म किये जाते हैं उनसे जाति, स्त्रायु श्रीर भोग में सुख मिलता है, स्त्रीर जो पाप कर्म स्त्रथीत् हिंसात्मक दूसरों को दुःख पहुँचाने के लिए कर्म किये जाते हैं उनसे जाति, स्त्रायु स्त्रीर भोग में दुःख पहुंचता है।

किन्तु यह सुख भी तत्त्ववेत्ता की दृष्टि में दुःखरूप ही है। क्योंकि विषयों में परिग्णाम-दुःख, ताप-दुःख श्रीर संस्कार-दुःख मिला हुन्ना होता है; श्रीर तीनों गुणों के सदा श्रीक्षर रहने के कारण उनकी सुख दुःख श्रीर मोह-रूपी वृत्तियों भी बदलती रहती हैं। इस-लिए सुख के पीछे दुःख का होना आवश्यक है।

१ हेय-त्याज्य : दुःख क्या है ?

हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥

अर्थ-श्वाने वाला दुःख हेर्यः त्यागने योग्य है। २ हेयहेतु-त्याज्यदुःख का कारण क्या है?

द्रष्ट्रस्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

अर्थ-द्रष्टा श्रीर दश्य का संयोग हेयहेतु : दु:ख का कारण है ।

दृश्य को खरूप

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थे हश्यम् ॥ १८ ॥

अर्थ – सारा दृश्य त्रिगुणात्मक है; सत्त्व का खभाव प्रकाश है, रजस् का क्रिया और तमस् का श्यिति है। इनका खरूप पांच स्थृतभूत —पृथ्वी, जल, श्राग्नि, वायु और आकाश, और इन्द्रियें हैं। इनका प्रयोजन पुरुष को भोग और अपवर्ग दिलाना है।

विशेषाविशेषिंगमात्रालिंगानि ग्रेथपर्वायि ॥ १६ ॥

अधे—गुर्णो की चार श्रवस्थाएँ हैं:--१ विशेष : पांचों स्थूलभूत, और म्यारहों

इन्द्रियें; २ त्राविशेष : पाँच तन्मात्राथें श्रौर श्रहंकार; ३ लिङ्गमात्र : महत्तत्त्व; श्रौर ४ त्रालिङ्गः प्रधान श्रथीत् श्रान्यक्त, मूलप्रकृति ।

द्रष्टा का सक्ष

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि पत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

अर्थ—द्रष्टा यद्यपि देखने की शक्ति-मात्र निर्मल और निर्विकार है, फिर भी उसे चित्त की वृत्तियों का ज्ञान रहता है।

दृश्य का प्रयोजन

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

अर्थ-यह सारा दृश्य दृष्टा पुरुष के अपवर्ग (खरूपाविश्विति) कराने के लिए हैं। यह दृश्य मुक्त पुरुषों का प्रयोजन सिद्ध करके अन्य पुरुषों के लिए ईसी प्रयोजन के सिद्ध कराने में लगा रहता है।

कुतार्थे प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्य साधारणत्वात् ॥ २२ ॥

अर्थ — जिनका प्रयोजन सिद्ध होगया है, उनके लिए यह दश्य नष्ट हुआ भी श्रपने खरूप से नष्ट नहीं होता क्योंकि वह दूसरों की सांभा वस्तु है अर्थात् दूसरों के भोग श्रपवर्ग के साधन में लगा रहता है।

द्रष्टा और दृश्य के संयोग के वियोग का कारण अगले सूत्र में बतलाते हैं:--

खखामिशक्तचोः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः॥ २३ ॥

अर्थ — खशक्ति श्रौर खामिशक्ति के खहर की उपलब्धि का कारण संयोग है। अर्थात् संयोग हटाने के लिये खशक्ति श्रौर खामि शक्ति के खरूप की उपलब्धि की जाती है। खशक्ति श्रथंत् दश्य के खरूप की उपलब्धि जो भोग हप है सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा श्रौर खामि शक्ति श्रथंत् पुरुष के खरूप की उपलब्धि जो श्रपवर्गहप है असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा की जाती है। दश्य श्रौर द्रष्टा श्रथंत् चित्त श्रौर पुरुष का जो श्रासक्ति पूर्वक ख खामि श्रथंत् भोग्यत्व श्रौर भोक्त्व भाव सम्यन्ध है वह संयोग है।

संयोग की उत्पत्ति का कारण अगले सूत्र में बतलाते हैं।

तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

अर्थ-द्रष्टा और दश्य के अविवेक-पूर्ण संयोग का कारण अविद्या है। ३ हान-दुःख का नितान्त अभाव क्या है ?

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृहशेः कैवन्यम् ॥ २५ ॥

अर्थ--- अविद्या के अभाव से संयोग का अभाव होता है--यही 'हान' है। यह चेतत-खरूप पुरुष का कैवल्य है।

४ हानोपाय-दु:खं के नितान्त श्रभाव का साधन क्या है ?

विवेक्रख्यातिरविष्तवा हानोपायः ॥ २६॥

अर्थ — निर्मल खडोल विवेक-ख्याति हान का उपाय है। विवेकख्याति की सबसे ऊँची श्रवस्थावाली प्रज्ञा श्रगले सूत्र में बतलाई गई है:

तस्य सप्तथा मान्तभूमिः मन्ना ॥ २७ ॥

अर्थ — उस विवेक-ख्याति की सात प्रकार की सबसे ऊँची श्रवस्थावाली प्रज्ञा होती हैं। —

१ जो कुछ जानना था जान लिया, अर्थात् जितना गुणमय दृश्य है वह सब परि-णाम, ताप, और संस्कार दुःखों तथा गुणवृत्ति-विरोध से दुःख रूप ही है। इसलिये 'हेय' है। अब कुछ जानने योग्य नहीं रहा;

२ जो कुछ, दूर करनाथा दूर कर दिया, व्यर्थात् द्रष्टा व्यौर दृश्य का संयोग जो 'हेय-हेतु' है वह दर कर दिया। व्यव कुछ दर करने योग्य नहीं रहा;

र जो कुछ साह्मान् करना था साह्मान् कर लिया, खर्थान् निरोध-समाधि द्वारा 'क्षान' को साह्मान् कर लिया। श्रव कुछ साह्मान् करने योग्य नहीं रहा;

४ जो कुछ करना था कर लिया, ऋर्थात् 'हान' का उपाय 'ऋविप्लव विवेक-ख्यति' सम्पादन कर लिया । ऋव कुछ करने योग्य नहीं रहा;

५ चित्त ने अपने भोग अपवर्ग दिलाने का अधिकार पूरा कर दिया, अब कोई अधिकार शेष नहीं रहा:

६ चित्त के गुण् अपने भोग अपवर्ग का प्रयोजन सिद्ध करके अपने कारण में लीन हो रहे हैं:

गुणों से परे होकर गुद्ध परमात्म खरूप में श्रविश्वित हो रही है।

निर्मेल विवेक-ख्याति, जिसे हान का उपाय बतलायु है, अब उसकी उत्पत्ति का साधन बतलाते हैं:—

योगांगानुष्ठानादशुद्धिचयेशानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥

अर्थ—योग के छङ्गों के छनुष्ठान से छातुद्धि के सम होने पर ज्ञान की दीप्ति (प्रकाश) विवेक-स्माति पर्य्यन्त बढ़ जाती है।

योग के आड़ श्रंग

योग के त्राठ श्रङ्ग : यम, नियम, श्रासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं। इन का विस्तार पूर्वक वर्णन योग दर्शन में यथास्थान किया जावेगा।

३ विभृतिपाद

धारणा, ध्यान और समाधि, तीनों मिलकर संयम कहलाते हैं। यह तीनों अन्य पाँच अङ्गों की अपेदा सबीज समाधि के अन्तरङ्ग साधन हैं। किन्तु निर्वीज समाधि के यह भी बहिरङ्ग साधन हैं, क्योंकि उसका अन्तरङ्ग साधन पर-वैराग्य है। इस संयम के विनियोग से नाना प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो सकती हैं जिनका तीसरे पाद में वर्णन है। यह सिद्धियाँ यद्यपि अश्रद्धालुत्रों को योग में श्रद्धा बढ़ाने और असनाहित (वित्तिप्त) चित्त वालों के चित्त को एकाप्र करने,में सहायक होती हैं, किन्तु इनमें आसिक्त नहीं होनी चाहिये। इसकी कई सूत्रों से चेतावनी दी गई है; जैसे —

तेसमाधाञ्जपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ॥ ३७ ॥

अर्थ-ऊपर बतलाई हुई प्रातिभ ष्रादि सिद्धियें ब्युत्थान में सिद्धियें हैं किन्तु समाधि में विक्त हैं।

योगमार्ग पर चलने वाले के लिये नाना शकार के प्रलोभन आते हैं। अभ्यासी को उनसे सावधान रहना चाहिये, उनमें फँसने से और घमगड़ से बचे रहना चाहिये। इस सम्बन्ध में निम्न सुत्र हैं:—

स्थान्युपनिमन्त्रयो संगस्पयाकरणं पुनरनिष्टपसंगात् ॥ ५१ ॥

अर्थ—स्थान वालों के आदरभाव करने पर लगाव और अभिमान नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से फिर अनिष्ट के प्रसंग का भय है।

सन्वयुक्षान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ॥४६॥

अर्थ-चित्त और पुरुष के भेद जाननेवाल। सारे भावों के श्रधिष्टातृत्व और सर्वज्ञा-तृत्व को प्राप्त होता है।

किन्तु योगी को उससे भी श्रनासक्त रहकर श्रपने श्रमली ध्येय की श्रोर बढ़ना चाहिये, जैसा कि श्रगले सत्र में बतलाया है:—

तद्वैराग्याद्पि दोषबीजत्तये कैवल्यम् ॥ ५० ॥

अर्थ-उससे भी वैराग्य होने पर, दोषों का बीज चय होने पर कैवल्य होता है।

४ कैवल्यपाद

इसमें कैवल्य के उपयोगी चित्त तथा वित्त के सम्बन्ध में जो जो शङ्कार्ये हो सकती हैं, उनका युक्तिपूर्वक निवारण किया है।

चितरमतिसंक्रभायास्तदाकारापत्ती खबुद्धि संवेदनम् ॥ २२ ॥

अर्थ-पुरुष को, जो किया अथवा परिणाम-रहित है, खप्रतिबिम्बत चित्त के आकार

की तरह आकार को प्राप्ति हाने पर अपने विषयभूत चित्त का ज्ञान होता है।

श्रर्थात् निर्विकार पुरुष में दर्शन-कर्तृत्व, ज्ञातृत्व खाभाविक नहीं है, किन्तु जैसे निर्मल जल में प्रतिविभ्वित हुए चन्द्रमा में श्रपनी चश्वलता के बिना ही जलरूपी उपाधि की चश्वलता से चश्वलता भासती है वैसे ही चित्त में प्रतिविभ्वित जो चेतन है, वह भी खाभा-विक ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व के बिना ही केवल प्रतिबिभ्वाधार चित्त के विषयाकार होने से सद्दाकार भासता है।

वह सदा अपरिगामी, क्रिया-रहित और झान-खरूप रहता हुआ इसका साची बना रहता है।

ध्याला सूत्र चित्त के सम्बन्ध में है : -

द्रष्ट्रयोपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

अर्थ-द्रष्टा श्रौर दृश्य से रॅगा हुआ चित्त सारे श्राकार वाला होता है।

अर्थात् एक तो चित्त का अपना खरूप है, दूसरा पुरुष से प्रतिबिन्नित होकर चेतन अर्थात् ज्ञानवाला प्रतीत होता है। यह उसका द्रष्टा से उपरक्त हुआ गृहीता खरूप है।तीसरा बाह्य विषयों से प्रतिबिन्नित होकर उन-जैसा भासता खरूप है। यह उसका हश्य उपरक्त प्राह्य खरूप है।

इस प्रकार चित्त को एक ऐसा दर्पण समकता चाहिये जिसमें सूर्य का प्रकाश पड़ रहा हो और अन्य विषयों का प्रतिबिध्व आ रहा हो। इस शङ्का के निवारणार्थ कि जब चित्त से ही सब व्यवहार चल रहे हैं और उसी में सब वासनाएँ रहती हैं तो द्रष्टा प्रमाण-सून्य होकर चित्त ही भोक्ता सिद्ध हो जावेगा श्रगता सूत्र है।

तदसंख्येय वासनाभिश्चित्रपि परार्थं संहत्यकारित्वात् ॥ २४ ॥

अर्थ—यद्यपि चित्त श्रनिगनती वासनाश्रों से चित्रित है तथापि वह पुरुष के लिये है क्योंकि वह संहरकारी है।

्रहाँ तक चित्त खोर पुरुष का भेद युक्ति द्वारा बतलाकर श्रब श्रमाले सूत्र में यह बतलाते हैं कि इसका वास्तविक झान तो श्रनुभव-गम्य है।

विशेषदर्शिन आत्मभाव भावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥

अर्थ—समःधि द्वारा जब योगी को पुरुष और चित्त के भेद का साझास्कार हो जाता है तब उसकी आस्मभाव-भावना कि ''में कौन हूं, क्या हूं, कैसा हूं"—इस्यादि निष्ठत्त हो जाती है।

अब इस पाद के अन्तिम सूत्र में कैवल्य का खरूप बतलाते हैं।

पुरुषार्थेशून्यानां ग्रुणानां प्रतिपत्तवः कैवन्यं खरूपपतिष्ठा वा चितिः शक्तिरिति ॥ ३४ ॥

अर्थ-पुरुषाथे से शून्य हुए गुर्णों का श्रपने कारण में लीन होजाना कैवल्य है; श्रथवा चिति-शक्ति का श्रपने स्ररूप में श्रवस्थित होजाना कैवल्य है।

गुणों की प्रश्नि पुरुष के भोग श्रीर अपवर्ग के लिये है। जब यह प्रयोजन सिद्ध हो जाता है तब उस पुरुष के प्रांत उनका कोई कर्तान्य रोष नहीं रहता। इसिलये वे अपने कारण में लीन हो जाते हैं। इस प्रकार पुरुष का श्रन्तिम लक्ष्य अपवर्ग सम्पादन करने के प्रश्नात् गुणों का अपने कारण में लीन हो जाने का नाम कैवल्य है। श्रथवा यों सममना चाहिये कि धर्मी वित्त के परिणाम क्रम बनाने वाले गुणों का अपने कारण में लीन हो जाने पर चिति-शक्ति (पुरुष) का चित्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने पर (शुद्ध परमात्म) स्वरूप में अवक्षित हो जाने का नाम कैवल्य है।

चित्त की नौ अवस्थाओं का संचिप्त वर्णन

सांख्य और योग फिलासफी में चित्त का विषय महत्त्व पूर्ण है। उसके वास्तविक स्वरूप को समम्मान की दृष्टि से चित्त की नी ।वरोष श्रवस्थाओं को यहां समन्वय के श्रन्त में संदोष से वर्णन कर देना आवश्यक समभत हैं। इसको चित्त की दिस विद्यिष्ट आदि पांच भूमियों के विषय से जिसका समाधि पाद में वर्णन हुआ है 2थक् समभना चाहिये।

१ जाग्रत्अवस्था — "सत्त्व चित्त" में सत्त्वराण गौण रूप से दवा रहता है, तम सत्त्व का वृत्ति के यथाथे रूप के दिखलाने से रांके रखता है, परन्तु रज प्रधान होकर चित्त को इन्द्रियों द्वारा बाह्य विपयों में उपरक्त करने में समये होता है। प्रमाण, विपयेय, विकल्प और स्मृति वृत्तियों का उदय होता है। इन्द्रियें बहिमुख हाकर स्थूल शरीर द्वारा कार्य करती है। चित्त में न्युस्थान संस्कार तथा न्युस्थान का परिणाम होता है। पुरुष वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है।

२ स्वप्लावस्था—सत्त्वगुण गौणतर रूप से दबा रहता है। तम रज को इतना दबा लेता है कि वह चित्त को इन्द्रियों द्वारा बाझ विषयों में उपरक्त नहीं कर सकता है, किन्तु रज का क्रिया सूक्ष्म रूप से हाता रहती है, जिससे वह चित्त को मन द्वारा स्मृति के संस्कारों में उपरक्त करने में समथे रहता है। इसमें भावित स्मृतेच्य स्मृति वृत्ति रहती है। मन इन्द्रियों के अन्तु सु होने से सूक्ष्म-शरार में खब्द का कार्य करता है। चित्त में ब्युत्थान के संस्कार तथा ब्युत्थान का परिणाम हाता है। पुरुष वृत्तिसारूच्य प्रतात होता है।

3 सुप्रीत अवशा—सत्त्वगुण गोंणतम रूप सं दत्र जाता है। तमोगुण रजोगुण को स्वप्नावश्या वाला कियाओं का भी राक कर प्रधान रूप से चित्त पर फैल जाता है। इसलियं किसी विषय का किसा प्रकार का भा ज्ञान नहीं रहता है। किन्तु रज का नितान्त अभाव नहीं होता, वह कुछ अंश में बना ही रहता है जिसके कारण किसी विषय के ज्ञान न होन की अथोत् अभाव की प्रतात होती रहता है। सूक्ष्म-शरीर में कार्य बन्द होकर कारण-शरार में निद्रा-वृत्त बनी रहती है। पुरुष वृत्ति-सारूष्य प्रतात होता है।

४ प्रख्यावस्था —प्रलय में चित्त की श्रवस्था सुपुप्ति जैसी होती है केवल इतना भेद है कि यह व्यष्टि-चित्त की सुपुप्ति है श्रीर प्रलय समष्टि-चित्ता की, जिससे सबे बद्ध जीव गाढ़ निद्रा-जैसी श्रवस्था में रहत है।

५ समाधि प्रारम्भ अवस्था—तमागुण गौण रूप से रहता है। रजोगुण की चिरा का चलायमान करने की किया निवेल होती जाती है। सत्त्वगुण प्रधान होकर चिरा को एकाम करने श्रौर उसमें वस्तु के यथाथे रूप को दिखलाने में समर्थ होता जाता है। इसमें सबार्थता का दवना श्रौर एकाम दृत्ति का उदय होना प्रारम्भ होता है। पुरुष दृत्ति-सारूप्य व्रतीत होता है।

६ सम्प्रकात समाधि (एकाव्रता)—तमोगुण गौणतर रूप से दवा रहता है। सत्त्वगुण रजोगुण को दवाकर प्रधान रूप से श्रपना प्रकाश करता है, जिससे चित्त वस्तु के तदाकार होकर उसका यथार्थ रूप दिखलाने में समर्थ होता है। स्थल-शरीर में कार्य बन्द होकर सूक्ष्म-शरीर में एकाप्र पृत्ति रहती है। खप्नावस्था से इसमें यह विलच्चणता है कि तम के स्थान पर इसमें सत्त्व की प्रधानता हो जाती है, चित्त में समाधि परिणाम होता है। पुरुष एकाप्रता

वृत्ति-सारूप्य प्रतीत होता है।

सम्प्रज्ञात समाधि (विवेकस्थाति)—तमोगुण गौणतम रूप से नाम-मात्र रहता है। चित्त से रजोगुण-तमोगुण का आवरण इटकर सत्त्वगुण का पृणतया प्रकाश फैल जाता है। चित्त से रजोगुण-तमोगुण का आवरण इटकर सत्त्वगुण का पृणतया प्रकाश फैल जाता है। रजोगुण केवल इतनी मात्रा में रहता है कि जिससे पुरुष को चित्त से भिन्न दिखलाने की क्रिया हो सके और तम इस वृत्ति को रोकने-मात्र रह जाता है। सुषुप्ति से इसमें यह विलच्चणता है कि तम के स्थान पर इसमें सत्त्व प्रथान रूप से रहता है। सुषुप्ति में कारण-इरिंग अभाव की प्रतिति के स्थान पर इसमें कारण-इरिंग में चित्त हारा पुरुष का साचात्कार (विवेक-ख्याति) होता है।

्ट असम्प्रकात समाधि (स्वरूपावास्थिति)—"सत्त्व चित्ता" में बाहर से तीनों गुणों का (बृत्तिरूप) परिणाम होना बन्द हो जाता है। तीनों गुणों का नितान्त श्रभाव होने से विवेक-च्याति श्रथांत पुरुष को चित्त से भिन्न प्रतीत कराने वाली वृत्ति भी रुक जाती है। सर्व वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर चित्त श्रपने वास्तविक सत्त्व स्वरूप से पुरुष में श्रविश्वत रहता है श्रीर पुरुष की शुद्ध परमात्म स्वरूप में श्रविश्वति होती है। चित्त में केवल निरोध परिणाम श्रथांत् संस्कार शेष रहते हैं, जिनके दुर्वल होने पर उसे फिर व्युत्थान दशा में श्राना होता है।

९ कैंबल्य : मुक्ति (स्वरूपार्वास्थिति)—िचत्ता में निरोध परिणाम श्रर्थात् संस्कार शेष भी निवृत्ता हो जाते हैं। चित्त को बनाने वाले गुण पुरुष का भोग-श्रपवर्ग का प्रयोजन पूरा करके श्रपने कारण में लीन हो जाते हैं श्रीर पुरुष शुद्ध कैवल्य परमाल्प स्वरूप में श्रव-

स्थित हो जाता है।

पुरुषार्थश्चरन्यानां ग्रुणानां प्रति प्रसवः कैवन्यं खरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः रिति । (३ । ३४)

अर्थ—पुरुषार्थ से छून्य हुए गुर्णों का ऋपने कारण में लीन हो जाना कैवल्य है; अथवा चिति-शक्ति की स्वरूपावस्थिति कैवल्य है।

पतंजित मुनि का परिचय

योगदर्शन के सूत्रकार श्री पतःश्वलि मुनि की जीवनी का ठीक ठीक पता नहीं चलता किन्तु यह वात निःसंदेह सिद्ध है कि श्री पतःश्वलि मुनि भगवान कपिल के पश्चात् श्रीर अन्य चारों दर्शनकारों से बहुत पूबे हुए हैं। किसी-किसी का मत है कि पाणिनि व्याकरण का महाभाष्य तथा वैशक की चरक-संहिता, ये दोनों जो अपने-अपने विषय के श्रद्धितीय प्रन्य हैं, इन्हीं के रचे हुए हैं। जैसा कि कहा गया है:—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शारीरस्य च वैद्यकेन । योऽपाकरोत्तं मवरं[धुनीनां, पतंजलि मांजलिसानतोऽस्मि ॥ अर्थ—मैं उस मुनियों में श्रेष्ठ पत अलि को बद्धा अलि (हाथ जोड़कर) नमस्कार करता हूँ, जिसने कि योग से अन्त:करण के, पद, (व्याकरण महाभाष्य) से वाणी के और वैशक (चरक प्रन्थ के द्वारा) से शरीर के मल को दूर किया है (घोया है)।

चीर योगदर्शन के प्रथमसूत्र ''श्रथ योगानुशासन'' के सदश महाभाष्य को भी प्रथम सूत्र ''श्रथ शब्दानुशासन'' से आरम्भ किया गया है तथा चरक में भी सांख्य योग फिलासकी

को ही वैद्यक का आधार शिला बनाया गया है। यथा:-

सत्त्वपात्मा शरीरं च त्रयमेतत्त्रिद्गडवत् । लोकस्तिष्ठति संयोगाचत्र सर्वे प्रतिष्ठितम् ॥ स पुर्गेरिचेतनं तच तचाधिकरणं स्पृतम् ।

वेदस्यास्य तदर्थे हि वेदोऽयं सम्पकाशतः ॥ चरका २ । ४५ । ४६ ।

अर्थ--िचत्त श्रात्मा श्रीर शरीर इन तीनों का तीन दराडों के समान परस्पर सम्बन्ध है। इन तीनों के सम्बन्ध से संसार ठैहरा हुआ है। उसी में सब कुछ प्रतिष्ठित है।। ४५॥ इन तीनों के सभ्यन्ध को ही पुमान (पुरुष) चेतन श्रोर (आयुर्वेद का) श्रिधिकरण माना गया है। इस पुरुष के लिये ही इस श्रायुर्वेद का प्रकाश किया गया है।। ४६॥

निर्विकारः परस्त्वात्मा सत्त्व भूत गुणेन्द्रियैः । चेतने कारणं नित्यो द्रष्टा परयति हि क्रियाः ॥ ४५ ॥

अर्थ-श्रात्मा निर्विकार है, पर है, चित्त, रृत गण (शरीर) श्रीर इन्द्रियों के चैतन्य में कारण है। नित्य है, द्रष्टा है, (क्रिया रहित होता हुआ भी) सर्वे चित्त की क्रियाओं को

देखने वाला है ॥ ५५ ॥

किन्तु इन दोनों प्रन्थों के साथ पत्रजलि मुनि का नाम केवल इन प्रन्थों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिय लगाया गया है। जन्यथा दोनों प्रन्थ योग दर्शन की अपेना बढ़त पिछले समय के यन हुए हैं। वैशक अनुभव सिद्ध विषय है। इसलिय सांख्य योग फिलासफी के साथ इसका समन्वय होना खाभाविक ही है। पाणिनि मुनि प्रणीत अष्ठाध्यायों पर यह महाभाष्य लिखा गया है इस कारण अनुशासन का शब्द प्रयोग किया गया है। प्राचीन काल के पत जलि मुनि का महाभाष्य का रचयिता होना भी एक विचित्र रूप में दिखलाया गया है। जानीन काल के पत जलि मुनि का महाभाष्य का रचयिता होना भी एक विचित्र रूप में दिखलाया गया है। जिसके अनुसार पत्रज्जलि मुनि को शेष नाग का अवतार मानकर काशी में एक वावड़ी पर पिणिनिमुनि के समन्त सर्प रूप में प्रकट होना बतलाया गया है। पाणिनिमुनि चवराकर "को भवान" के खान पर "को भवान" बोलते हैं। सर्प उत्तर देता है सपोऽहम् पाणिनिमुनि पूछते हैं "रेफ: कुतो गतः" सर्प उत्तर देता है "तव मुखे" इसके पश्चान सर्प के आदेश अनुसार एक चादर की आड़ लगादी गई। उसके अन्दर से शेष नाग पत्रज्जलि मुनि अपने हजारों मुखों से एक साथ सब प्रश्नकर्ताओं को उत्तर देने लगे। इस प्रकार सारा महाभाष्य तैय्यार हो गया। किन्तु सर्प की इस आजा के कि कोई पुरुष चादर उठाकर अन्दर न देखे

एक व्यक्ति द्वारा उलाङघन किये जाने पर शेष नाग की फुंकार से ब्राह्मणों के सारे कागज जल गए। ब्राह्मणों की दुःखी श्ववशा को देखकर एक यत्त ने जो वृत्त पर बैठा पत्तों पर भाष्य को लिखता जाता था, वे पत्ते उनके पास फैंक (दये। उन पत्तों में से कुछ को बकरी खा गई। इसी लिये कुछ स्थानों में महाभाष्य में श्वसंगति सी पाई जाती है।

पाराशर्यशिलालिभ्याम् भिद्धं नदस्त्रयोः । (४१३१९१०)

श्रष्टाध्यायी के उपरोक्त सूत्र से व्यासजी का पिणिनिमुनि से पूर्व होना सिद्ध होता है। फिर पाणिनिमुनि प्रणीत श्रष्टाच्यायी पर महाभाष्य कर्त्ता पतः जलि योगदर्शन के सूत्रकार पतः जलि किस प्रकार हो सकते हैं।

यह सम्भव है कि पतञ्जलि नाम के कोई अन्य व्यक्ति इन दोनों उद्य कोटि के प्रन्थों के रचयिता हुए हों।

योग दर्शन पर भाष्य तथा वृक्ति आदि

योगदर्शन के उपर श्रनेक भाष्य, वृत्तियां और टीकाएं रची गई हैं। उनमें सबसे श्रिषिक प्रामाणिक, प्रसिद्ध और अचीन व्यास भाष्य है। व्यास भाष्य म्त्रयं बहुत ही गृद्धार्थ है। उसके श्रमे को सममाने के लिये वाचरपति मिश्रने तत्त्व वैद्यार भाष्य म्त्रयं बहुत ही गृद्धार्थ है। उसके श्रमे को सममाने के लिये वाचरपति मिश्रने तत्त्व वैद्यारदीं और विज्ञान भिश्र ने योगवार्तिक की रचना की है। विज्ञान भिश्र ने एक श्रलग पुस्तक योगसार में योग के सिद्धान्तों का सांत्रांश उपस्थित किया है। वृत्तियों में "राजमार्त्राव्ह" जिसका प्रसिद्ध नाम "भोजवृत्ति" है, श्रम्यन्त लोक प्रिय और प्रामाणिक है। ग्रोश्च मह की एक बड़ी वृत्ति योगवार्तिक के श्राधार पर निर्मित हुई है। योग दर्शन के भाष्यकार व्यास का ठीक ठीक समय निश्चय करना कठिन है। कई एक विद्यानों का मत है कि ब्रह्मसूत्रकार व्यास ही योगदर्शन के भाष्य कार व्यास हैं। योग दर्शन के प्रथम वार्त्तिक में विज्ञान भिश्र ने भी ब्रह्मसूत्रकार बादरायण को ही योग दर्शन का भाष्यकार व्यास बतलाया है। श्रम्य कई विद्यान ऐसा मानते हैं कि योगदर्शन के भाष्यकार व्यास सत्ताया है। श्रम्य कई विद्यान ऐसा मानते हैं कि योगदर्शन के भाष्यकार व्यास स्वताया है। श्रम्य कई विद्यान ऐसा मानते हैं वियास भाष्य में भिन्न भिन्न स्थानों में लगभग इक्कीस सूत्र पश्च दिखाचाय्ये के, कुछ वचन जैगीशव्य और बार्ष-गण्याचार्य्य के तथा एक दो घटनाएँ रामायण को भी उद्दत्त की गई हैं। इससे सिद्ध होता है, कि सांत्य के प्राचीन प्रन्थ (श्रिक्षाचार्य्य के सूत्र और बार्ष-गण्याचार्य्य प्रणीत षष्टी तन्त्र जो इस समय लुझ हैं तथा बार्स्मिकीय रामायण व्यास भाष्य के समय विद्यमान थे।

श्रीमद्भगवद्गीता और महाभारत श्रादि प्रन्थ तथा ब्रह्म सूत्र उसके पश्चात् बनाए गये हैं।

ब्यास भाष्य सहित 'योग वार्तिक' का भाषानुवाद समास्र हो गया है उसके प्रकाशन का व किया बारहा है। १२७

ओ३म्

पूज्यपाद १०८ श्री स्वामी सोमतीर्थजी महाराज वणीत

षड्दर्शन सदुपयोग समन्वय सूत्र

१-अथ पट्दर्शन सदुपयोग समन्वय सूत्रम् ।

श्चर्थः--- श्रव पूर्वमीमांसा श्चादि छश्चों दर्शनों के सदुपयोग का समन्वय करने वाले सूत्रों को प्रारंभ करते हैं।

२-गर्भाषान-संस्कारादि-वेदारम्भ-पर्य्यन्त-संस्कारैः संस्कृतो वेदं पटेत् । व्यर्थः--गर्भाषान से लेकर वेदारम्भ पर्यन्त दस संस्कारों से व्यपने शरीर, मन ब्यौर श्वन्त:करण को पवित्र बना ब्रह्मचारी वेद को पढ़े।

३-अथ धर्म-जिज्ञासा ।

श्चर्यः -- वेदाध्ययन के पश्चात् धर्म की जिज्ञासा श्चर्यात् उसके जानने का प्रयत्न करें ।

४-तत्र मथातो धर्मे जिह्नासा इत्यस्योपयोगः ।

श्रर्थ:-धर्म को जानकर उसका निम्नप्रकार से उपयोग करे।

४-इत-धर्मानुष्टान-शुद्धान्तः करणः साधन चद्दृष्ट्यं सम्पादयेत् ।

अर्थ: —यथार्थ स्वरूप से जाने हुए धर्म के अनुष्ठान द्वारा अपने अन्तः करण को निर्मल बना कर विवेक, वैराग्य, शमदमादिसम्पत् और मुमुता इन चार साधनों का सम्पादन करें।

६-संजात मुमुत्तः बद्य-जिज्ञासुः स्यात् ।

ऋर्थः — जब मुमुत्त ऋर्थात् जन्म मरण के बन्धन से छूटने की प्रवल ऋभिलाषा मन में उत्पन्न हो जाए तब ब्रह्म को जानने की इच्छा करें।

७-श्रयातो ब्रह्म-जिज्ञासा इत्यस्यात्रोपयोगः ।

ष्पर्थ:-- अब ब्रह्म के जानने का उपयोग अर्थात् उपाय निम्न है।

= -श्रस्त्यत्रांश-त्रयम् ।

चर्थ:-- ब्रह्म प्राप्ति के उपाय के तीन भाग हैं।

६-श्रवणम्, मननम् निदिध्यासनं च।

श्चर्थ:--श्रवण, मनन श्रौर निदिध्यासन ।

१०-श्रवणे सर्वे वेदान्ता उपयुक्ताः।

अर्थ:-- श्रवण के लिए सभी वैदान्त प्रन्थ उपयोगी हैं।

११-मनने न्याय वैशेषिकयोः सहकारिता।

श्रथं:---मनन के लिए न्याय श्रीर वैशेषिक के सिद्धान्तों को मिलाकर उनका चिन्तन करना उपयोगी हैं।

१२-१३-कचित् पूर्वे पत्तत्वेन । कचित् सिद्धान्त सपर्थनात् ।

अथे:—इन दोनों शास्त्रों का कहीं पूर्व पत्त और कहीं सिद्धान्त कप से चिन्तन करना चाहिए।

१४-निधिध्यासने सांख्य योगयोद्वपयोगः।

श्रर्थ:-निर्दिध्यासन में सांख्य श्रीर योग का उपयोग करना उचित है।

१५-तत्र तस्य सम्यग् विधानात्।

श्रथ:-क्योंकि निधिष्यासन का वर्णन इन दोनों शास्त्रों में भली प्रकार से है।

१६-इति षद् दर्शन-सदुपयोग-समन्वयःसूत्रम् ।

भर्थ: - श्रव पड दर्शन के सदुपयोग को समन्वय करने वाले सूत्र समाप्त हुए।

पातंजल योग प्रदीप

समाधिपाद

निपुण चेत्रज्ञ जिस प्रकार सबसे प्रथम श्रधिक उपजाऊ भूमि को तैयार करके उसमें श्रेष्टतम बीज बोता है, इसी प्रकार महर्षि पतःज्ञलि समाहित चित्त वाले उत्तम श्रिधिकारियों के लिये सबसे प्रथम ममाधिपाद श्रारम्भ करते हैं।

भय योगानुशासनम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ-अथ = अव आरम्भ करते हैं। योग+अनुशासनम् = योग की शिज्ञा देने वाले प्रन्य को।

अन्वयार्थ-अब योग की शिज्ञा देने वाले प्रन्थ को आरम्भ करते हैं।

व्याख्या-"अथ" यह शब्द अधिकार अर्थात आरम्भ वाचक और मङ्गलार्थक है। जिसके द्वारा लक्ष्ण, भेद, उपाय श्रीर फलों-सहित शिला दी जावे श्रर्थात् व्याख्या की जावे उसको श्रमुशासन कहते हैं । इसलिये "श्रथ योगानुशासनम्" के श्रर्थ हुए 'श्रव लन्ना. भेद. उपाय और फलों सहित योग की शिना देनेव ले शास्त्र की आरम्भ करते हैं योग समाधि को कहते हैं; और समाधि सारी भूमियों में (अवधात्रों में) चित्त काधर्म है। जो तीन भूमियों (श्रवधात्रों) में द्वारहता है श्रीर केवल दो भूमियों में प्रकट होता है। चित्त की पांच समियाँ हैं: विमास मदा विज्ञित एकाम श्रीर निरुद्ध। इनका विलार-पूर्वक वर्णन दूसरे सूत्र में किया जायगा। इनमें से श्रत्यन्त चक्रज चित्त को जिप्त और निद्रा, तन्द्रा, आलक्ष्यादि वाले चित्त को मृद्र कहते हैं। जिप्त से जो श्रेष्ठ चित्त है अर्थात जिसमें कभी कभी शिरता होती रहती है, उसे विक्तिप्त कहते हैं। जिप्त और मृद् चित्त में तो योग का गन्ध भी नहीं होता, श्रीर विज्ञिप्त चित्त में जो कभी-कभी ज्ञिष्क िधरता होती है उसकी भी योग-पन्न में गिनती नहीं है, क्योंकि यह शिरता दीर्घ काल तक स्थिर नहीं रहने पाती, शीघ ही प्रवल चश्वलता से नष्ट हो जाती है। इस लिये विक्तिप्त भूमि भी योगरूप नहीं है। जिसका एक ही अन्न विषय हो अर्थात एक ही विषय में विलन्न सुवृत्ति के व्यवधान से (बीच-बीच में आ जाने से) रहित सहज्ञ वृत्तियों के प्रवाहवाले चित्त को एकाप्र कहते हैं। यह पदार्थ के सत्-स्वरूप को प्रकाश, क्लेश को नाश, बन्यन को ढीला और निरोध के अभिमुख करता है। यह सम्प्रज्ञात समाधि श्रीर सम्प्रज्ञात योग कहलाता है । इसके चार भेद : वितर्कानुगत, विचारानुगत, श्रानन्दानगत श्रीर श्रास्मितानुगत सत्रहवें सूत्र में बतलाये जावेंगे। पुनः सर्वे वृत्तियों के निरोध वाले जित्त को निरुद्ध कहते हैं। उस निरुद्ध वित्त में असम्प्रज्ञात समाधि होती है, उसी को असम्प्रज्ञात योग कहते हैं।

उसके लज्ञण को प्रकाशित करने की इच्छा से खगला सूत्र बना है।

विशेष विचार

अनुवन्ध-चनुष्ट्य – शास्त्रकार अपने शास्त्र के आरम्भ में निम्न चार बातों का वर्णन कर दिया करते हैं:--

- १ विषय इस शास्त्र का विषय क्या है १
- २ प्रयोजन इसका प्रयोजन क्या है ?
- ३ अधिकारी-इसका अधिकारी कैन है ?
- ४ सम्बन्ध इनके साथ शास्त्र का सम्बन्ध क्या है ?

इनको अनुबन्ध-चतुष्टय कहते हैं । महर्षि पतलालि ने 'अथ = अब आरम्भ करते हैं' इससे इन चारों बातों को बतला दिया है कि:--

१ इस पातक्षल योगदर्शन का विषय योग है, जिसमें योग के ऋवान्तर भेद, साधन और फल का प्रतिपादन किया गया है।

२ योग द्वारा स्वरूप-स्थिति (श्रपवर्ग = निःश्रेय = मोज्ञ = कैवस्य = श्रात्मस्थिति = परमात्म-प्राप्ति) कराना इस शास्त्र का प्रयोजन है ।

३ स्वरूप-क्षिति एवं परमात्म-प्राप्ति का जिज्ञासु एवं मुमुक्षु-साधक इसका व्यधिकारी है।

४ यह दुर्शन योगका प्रतिपादक है, इसिलये इसका योग से प्रतिपाद-प्रतिपादक भाव सम्बन्ध है। योग साधन है; स्वरूप-स्थिति साध्य है। खतः स्वरूप-स्थिति और योग का साध्य-साधन भाव सम्बन्ध हैं। स्वरूप-स्थिति का जिज्ञासु योग का श्रिधकारी है। इसिलये स्वरूप-श्रिति और श्रिधकारी में प्राप्य-प्रपाक भाव सम्बन्ध है। श्रिधकारी और योग का कर्त्-कर्त्तन्य भाव सम्बन्ध है।

धात्वर्ध—योग शब्द युक्ति त्रर्थान् मेल, तथा 'युज् समाधी' इस (धातु) से समिषि के त्रर्थ में प्रयुक्त होता है। श्री ब्यासजी महाराज ने इस दर्शन में योग का सर्वत्र ही समाधि के त्रर्थ ही में प्रयोग किया है।

यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयो उष्टावंगानि । (२।२९) में समाधि और योग में खङ्गाङ्गि-भाव सम्बन्ध बतलाया गया है, परन्तु समाधि जिसके दो भेदः सम्प्रज्ञात और खसम्प्रज्ञाद बतज्ञाधेंगे, योग का मुख्य खङ्ग तथा साधन होने के कारण योग के खर्थ में इस दर्शन में प्रयुक्त हुखा है।

योग की प्राचीन परम्परा—'शासन' उपदेश अथवा शिक्षा को वहते हैं। अनु + शासन = जिस विषय का शासन पहिले से विद्यमान हो। इसलिये अनुशासन शब्द से श्री पतःकालि महाराज ने योगशिचा का प्राचीन परम्परा से चला श्राना बतलाया है, जिसका वर्णन श्रुति श्रीर स्मृति में पांधा जाता है।

हिरएयगर्भी योगस्य वक्ता नान्य: पुरातनः (याज्ञवन्क)

अर्थ — हिरएयगर्भ ही योग के वक्ता हैं, इससे पुरातन श्रीर कोई वक्ता नहीं है। इत्यादि वचनों से श्री याज्ञवल्क्य ने हिरएयगर्भ को योग का श्रादि-वक्ता श्रर्थात् गुरु माना है। इसी प्रकार:—

सांख्यस्य बक्ता किपताः परमर्षि स उच्यते । हिरएयगर्भी योगस्य बक्ता नान्यः पुरातनः ॥

महाभार १२। १४६। १५
ं अर्ध—सांख्य के बक्ता किपलाचार्य परर्माच कहलाते हैं श्रीर योग के बक्ता हिरएय-गर्भ हैं जिनसे प्राना श्रीर कोई बक्ता इनका नहीं है। इसी प्रकार:—

इटं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरएयगर्भो भगवान् जगाद यत ।

श्रीमञ्जा० ५। १९। १३

अर्थ — हे योगेश्वर, यह योग कौशल वही है जिसे भगवान् हिरएयगर्भ ने कहाथा । हिरएयगर्भ किसी भौतिक मनुष्य का नाम नहीं है, बल्कि महत्तत्त्व के सम्बन्ध से शबल ब्रह्म का वाचक है (वि॰ वि सूत्र २), जैसा कि:—

हिरएयगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पितरेक श्रासीत् । स दाधार पृथिवीं चाम्रुतेमां कस्मै देवाय इविषा विधेम ॥ ऋ॰ १०।१२१।१, यत्रु० प्र०१३ सम्बर्धः

अर्थ - हिरएगर्भ ही पहले उत्पन्न हुये जो समस्त भूतों के एक पति थे। उन्हीं ने इन पृथिवी श्रीर स्वर्गलोक को धारण किया। उस सुखस्वरूप देव की हम पूजा करते हैं।

अथ य प्रवोऽन्तरादित्ये हिरएमयः पुरुषो दृश्यते हिरएपश्मश्रुहिरएपकेश आमणासात सर्वे एव सुवर्णः । अन्त्र १०१६

अर्थ — अब यह सुनहर पुरुष जो सूर्य के अन्दर दीखा है, जिसकी सुनहरी वादी श्रीर सुनहरे बाल हैं। नखों से अप्र तक जो सारा ही सुवर्णमय है।

हिर्णयगर्भो द्युतिभान् य एपच्छन्दसि स्तुतः । योगैः सम्पूच्यते नित्यं स च लोके विभ्रुः स्मृतः ॥

अर्थ---यह द्युतिमान हिरएयगर्भ वही हैं जिनकी वेद में स्तुर्ति की गई है। इनकी योगी-लोग नित्य पूजा किया करते हैं और संसार में इन्हें त्रिभु कहते हैं।

हिरएयगर्भो भगवानेष बुद्धिरितिस्मृतः । महानिति योगेषु विरंचीति चाप्यनः ॥ अर्थ—इन हिरएयगर्भ भगवान् को (समष्टि) बुद्धि कहते हैं। इन्हीं को योगी-लोग महान् (महत्तत्त्व = समष्टि चित्त = समष्टि बुद्धि) तथा विरश्चि श्रीर श्रज (श्रजन्मा) भी कहते हैं।

हिरएयगर्भी जगदन्तरात्मा। अद्भुत रामा॰ १५।६

अर्थ - हिरएयगर्भ जगत् के अन्तरात्मा हैं।

इसके श्रांतिरक्त श्रुति और स्मृतियों में जहाँ योग का वर्णन किया गया है उसके कुछ उदाहरण दिये जाते हैं:—

श्वेताश्वतर उपनिषद् श्रध्याय २

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शारीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निवेश्य ।

ब्रह्मोड्रपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥ = ॥

अर्थ – इरिंर के तीन श्रङ्कों (छाती, गर्दन श्रौर शिर) को सीधा रखकर इन्द्रियों को मन के साथ दृदय में प्रवेश करके, श्रोङ्कार की नौका पर सवार होकर भय के लाने वाले सारे प्रवाहों से पार उतर जाए।

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः ज्ञीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।

दुष्टाश्व युक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमक्तः ॥ ६ ॥

अर्थ—(शरीर की) सारी चेटाचां को वश में करके प्राणों को रोके, और प्राण के हीता होने पर नासिका से स्वास ले, सचेत सारिथ जैसे घोड़ों की चश्वलता को रोकता है, इस प्रकार अप्रमत्त होकर मन को रोके।

समे शुची शर्करा वन्हिबालुका विवर्जिते शब्द जलाश्रयादिभिः।

मनोऽनुकूले न तु चत्तुः पीदने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ १० ॥

अर्थ — ऐसे स्थान पर याग का अध्यास करे जो सम है, शुद्ध है, कंकर, बालू स्त्रीर अग्रिन से रहित है, जो शब्द, जलाशय और लता आदि से मन के अनुकूल है, आँखां का पीड़ा देने वाला नहीं है, एकान्त है और वायु के फोंकों से रहित है।

नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योत विद्युत् स्फटिक शशीनाम्।

एतानि रूपाणि पुरः सराणि बह्मएपभिन्यक्तिकराणि योगे ॥११॥ अर्थ—जब श्रभ्यास का प्रभाव होने लगता है, तब पहले यह रूप दीखते हैं:— कुहर, धुवाँ, सूर्य, वायु, श्रिप्त, जुगन्, विद्युत्त, बिह्मैर, श्रीर चन्द्र; यह सब रूप दीखकर जब शान्त हो जाते हैं तब बह्म का प्रकाश होता है।

पृथिन्याप्यतेनोऽनिलाले सम्रुत्थिते पंचात्मके योग ग्रुगो प्रवृत्ते । न सस्य रोगो न जरा न दुःखं पाप्तस्य योगान्निमयं शरीरम् ॥१२॥ अर्थ-जन प्रथिनी, जल, तेज, वायु और स्नाकाश प्रकट होते हैं, स्रयां पांचों तत्त्वों का जय हो जाता है तब फिर योगी के लिए तरोग है, न दुःख है, क्योंकि उसने वह शरीर पालिया है जो योग की ऋषिन से बना है।

लपुत्वमारोग्यमलोलुपरवं वर्णमसादः स्वरसौष्टवं च । गन्धः श्रुभोमृत्रपुरीषमन्षं योगमृत्वति प्रथमां बदन्ति ॥१३॥

अर्थ-योग का पहला फल यह कहते हैं : शरीर हल्का हो जाता है, श्रारोग्य रहता है, विषयों की लालसा भिट जाती है, कान्ति धढ़ जाती है, स्वर मधुर हो जाता है, गन्य ग्रुद्ध होता है और मल-मूत्र थोड़ा होता है ।

यथैव विस्वं मृदयापित्रप्तं तेजोमयं भ्राजते तत् सुधान्तम् । तद्वाऽत्मतत्त्वं मसमीच्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ॥१४॥

क्रर्थ—इसके पीझे उसे आत्मा के शुद्ध स्वरूपका सालात् होता है। जैसे वह रक्ष जो मिट्टी से लिथड़ा हुआ होता है, जब घोया जाता है तो किर तेजोमय होकर चमकता है, इस प्रकार देही (पुरूष) किर आत्म-तत्त्व (आत्मा के असली स्वरूप) की देखकर शोक से पार हुआ कृतार्थ हा जाता है।

> यदाऽऽत्पतस्वेल तु ब्रह्मतस्वं दीपोपमेनेह युक्तः पपरयेत्। स्रजं ध्रुवं सर्वतस्वेविद्यद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥१५॥

अर्थ — फिर जब योग युक्त होकर दीपक के तुल्य ब्यात्मतत्व से ब्रह्मतत्व को देखता है जो श्रजन्मा श्रटल (कूटस्थ) श्रीर सब तत्त्वों से विशुद्ध है तव उस देव (शुद्ध परमात्मतत्त्व) को जानकर सब फासों से छूट जाता है।

कंड वर्षानपद् श्र० २ वन्ती ६ यदा पंचावतिष्टन्ते ज्ञानानि मनसा सह। सुद्धीश्र न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।।१०॥ तां योगिमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियथारणाम्। स्थममनस्तदा भवति योगो हि मभवाष्ययौ॥११॥

अर्थ—जब पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ स्थिर हो जाती हैं (प्रत्यहार द्वारा अन्तर्भुत्न हो जाती हैं) और बुद्धि भी चेष्टा रहित हो जाती है (चित्त की सब वृत्तियों का विरोध हो जाता है) उसको परम गित (सबसे ऊंची अवस्था) कहते हैं। उसी को योग मानते हैं, जो इन्द्रियों की निश्चत धारणा है। उस समय वह (योगी) प्रमाद से (अपने स्वरूप को भूला हुआ जो वृत्ति सारुष्य प्रतीत हो रहा था उससे) रहित होता है। अर्थात शुद्ध परमास्म स्वरूप में अवस्थित होता है क्योंकि योग प्रभव और अध्य (निरोध के संस्कारों के प्रादुर्भाव, अर्थात् प्रकट होने और ब्युत्थान के संस्कारों के, अभिभव अर्थात् स्वने का स्थान) है।

नैव बाचा न मनसा पाष्तुं शक्यो न चन्नुषा । अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपत्तभ्यते ॥१२॥ अस्तीत्येवोषत्तव्यवस्तत्त्वभावेन चोभयोः । अस्तीत्येवोषत्तव्यस्य तत्त्वभावः मसीदति ॥१३॥

अर्थ - वह (श्रात्मा) न वाण्मि से, न मन से, न श्रॉख से पाया जा सकता है। 'बह है' ऐसा कहने के सिवाय उसे कैसे उपलब्ध करें। 'वह है' इस रूप से श्रीर तत्त्व स्वरूप से उसको जानना चाहिये। जब 'वह है' इस प्रकार श्रनुभव करिलया है तो उसका तत्त्व-स्वरूप स्पष्ट हो जाता है।

विशिष्ट रूप से उसका 'वह है' करके त्रौर शुद्ध स्वरूप में उसका तत्त्वाभाव श्रनुभव

करते हैं।

गीता अध्याय ६

योगी युंजति सततपात्यानं रहिस स्थितः ।

एकाकी यतचित्रोतमा निराशीरपरिग्रह ॥१०॥

अर्थ-योगी अकेला एकान्त स्थान में बैठकर, एकाप्र चित्त होकर, आशा और संप्रह को त्याग कर निरन्तर आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़े ।

श्चनौ देशो मितष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छितं नाति नीचं चैजाजिन कुशोत्तरम् ॥११॥ तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यत् चित्तेन्द्रियक्रियः।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥

अर्थ-वह योगी पवित्र स्थान में, जो न श्रवि ऊँचा हो श्रौर न श्रवि नीचा, कुरा, ऊन का श्रासन ग्रौर वस्त्र को बिछाकर उस श्रासन पर एक।प्रन्मन से बैठकर, इन्द्रियों श्रौर चित्त को वश करके श्रास्मशुद्धि के लिये योगाभ्यास करें।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नवलं स्थिरः।

सम्बेच्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥

अर्थ-शिर, गर्दन श्रीर धड़ एक सीध में श्रचल रखकर, श्रिर रहकर, इधर-उधर न देखता हुआ, नासिका के श्रमभाग में दृष्टि रखे।

प्रशान्तात्मा विगतभी ब्रें सचारि ब्रते स्थितः।

मनः संयम्यम चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥

अर्थ-- और शान्त-चित्त, निभय, ब्रह्मचर्य-व्रत में श्थित, मन का संयम कर मुक्स (परमास्मा) में परायण हुआ योग युक्त होवे।

युंजन्नेवं सदात्मानं योगी तियतमानसः। शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥ १५॥

अर्थ--इस प्रकार निरन्तर स्त्रपने स्त्राप को योग में लगाये हुए तथा मन को निम्रह किये योगी मुक्तमें (परमात्मा में) खित रहने वाली तथा परम निवास को देने वाली शान्ति को प्राप्त होता है।

> तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोधिकः । कर्षिभ्यश्राधिको योगी तस्माद्योगी भवाऽर्जुन॥ ४६॥

अर्थ—योगी तपिखयों में श्रेष्ठ है और (शास्त्र के जानने वाले) ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ माना गया है तथा कर्मकारिखयों से भी श्रेष्ठ हैं। इसलिये हे ऋर्जुन, तूयोगी वन।

मयाण काले पनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योग बलेन चैता अत्रोदेश्ये पाणमावेश्य सम्यक् सतंवरं पुरुषप्रीति दिन्यम् ॥

गीसा अ० ८। १०

अर्थ—वह भक्ति युक्त पुरुष श्रन्तकाल में भी योगवल से भुकुश के मध्य में प्राण् को श्रच्छी प्रकार स्थापन करके किर निश्चल मन से स्मरण करता हुआ उस दिव्य स्वरुप परम पुरुष परमात्मा को ही प्राप्त होता है।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध च।

मृध्न्यीयायात्मनः पाणपास्थितो यांग धारणाम् ॥ गीता अ ८ । १२

अर्थ — हे अज़ेन ! सब इन्द्रियों के ढारों को रोक कर अर्थात् इन्द्रियों को विषयों से हटाकर तथा मन को हहे दा में श्रिर करके और अपने प्राण को श्र्म रन्ध्र में श्र्यापन करके योग धारणा में श्रित हुआ।

श्रोमित्येकात्तरं ब्रह्म व्योइरन्मावनुस्परत्।

यः प्रयाति त्यजन्देई स याति परमां गतिम् ॥ गीता, अ॰ ८ । १३

अर्थ — जो पुरुष ॐ ऐसे इस एक अत्तर रूप ब्रह्म को उबारण करता हुआ और उसके अर्थ स्वरुप मेरे को (परमात्मा को) चिन्तन करता हुआ द्यारा को त्याग कर जाता है वह पुरुष परमगति को प्राप्त होता है।

योग-दर्शन की विशेषता — योगदर्शन का प्रयोजन जो स्वरूप स्थिति, अनुबन्ध-चतुष्टय में बतलाया है, जिसके पर्यायशाचक भिन्न-भिन्न दर्शनों की परिभाषा में कैवस्य, अप-वगे, भोत्त, निःश्रेय, इत्यादि हैं, इसी को लक्ष्य में रखकर सर्व दशेन : न्याय, वैशेषिक, मीमांसा मझसूत्र आदि की रचना हुई है। पर योगदर्शन ने इसको अति सुगमता, सरलता, नियम तथा झान-पूर्वक और क्रियात्मक रूप से बतलाया है। योग के भेद — साधनों के भेद से योग को १ राज-योग अर्थात् ध्वान-योग; २ ज्ञान-योग अर्थात् सांख्ययोग; ३ कर्मयोग अर्थात् निष्काम-कर्म अनासक्ति-योग; ४ भक्तियोग; ५ हटयोग आदि श्रे णियों में विभक्त किया गया है।

१ इस दर्शन का मुख्य विषय राजयोग श्रर्थात् ध्यानयोग है। पर उपर्युक्त सब प्रकार के बोग इसके श्रन्दर्गत हैं।

२ ज्ञानयोग अर्थात् सांख्ययोग—सारे ज्ञेयतत्त्व का ज्ञान इस योगदर्शन में ऋति इत्तमता से कराया गया है। सिद्धान्तरूप में इसकी सांख्य योग से ऋभिन्नता है।

३ कर्मयोग अर्थात् अनासक्ति निष्काम कर्मयोग ।

क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः (१।२४)

उपायना में उपासक अपने अन्दर उपास्य के गुरा धारण करता है। इसलिये इससे निकाम-कर्म अनासक्ति योग की शिचा मिलती है।

कर्माग्रुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेपाम् । (४।७) यह भी िष्काम-कर्म की शित्ता-परक है। ४ भक्तियोग —

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिपज्ञापूर्वक इतरेपाम् । (१।२०)

यह श्रद्धा, भक्ति का मुख्याङ्ग है इसलिये इस सूत्र से तथा 'ईश्वरप्राणिधानाद्वा' (११२३) से भक्ति की शिला योगदरा न के अन्तर्गत है। इसी श्रकार 'तज्जपरतद्रथभावनम्' (११२८), 'स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः' (२। ४४) से जप और मन्त्रयोग भी इसमें सिम्मिलित हैं। यथाभिमत ध्याना द्वा' (स॰ १। ३६) यह योग दर्शन की ज्यापकता का सचक है।

५ हठयोग का सम्बन्ध दारीर और प्राण से है, जो योग के आठ अहों : यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रध्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि में से आसन और प्राणायाम के अन्दर आजात हैं। हठयोग राजयोग का साधन-मात्र ही है। जैसा कि हठयोग के श्लोक २ से विदित है:

केवलं राजयोगाय इठविद्योपदिश्यते

अर्थ—केवल राजयोग के लिये हठयोग की विद्या का उपदेश किया जाता है। राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा। राजयोगं विना ग्रद्रा विचित्राऽपि न शोभते॥

हठ योग प्रशिविका ३ । १२६

अर्थ-राज योग के विना पृथ्वी (श्रासन) नहीं शोभित होती है । राज योग के विना निशा (कुम्भक प्राणायाम) नहीं शोभित होती है श्रीर राजयोग के विना विचित्र सुद्रा भी शोभित नहीं होती है ।

"ह" का चर्थ सूर्थ (पिङ्गला नाड़ी) "ठ" का चर्थ चन्द्रमा (इड़ा नाड़ी) है, इनके बोग को हठ योग कहते हैं।

यथाः--

इकारः कीर्तितः स्थ्रेष्टकारश्रन्द्र उच्यते ।

सूर्याचन्द्रमसीर्योगाद्धेवयांगी निगद्यते ॥ (बिद्धावदान्त वदति)

अर्थ—सूर्य (पिङ्गला नाड़ी अथवा प्राण वायु) को इकार और चन्द्र (इड़ानाइने अथवा अपानवायु) को ठकार कहते हैं। इन सूर्य और चन्द्र (अर्थात् पिङ्गला और इड़ा नाड़ियों में वहने वाले प्राण प्रवाहों अथवा प्राण और अपान वायुओं) के मिलने को हठ-योग कहते हैं।

६ लययोग और कुएडलिनी योग तो राजयोग ही है, जो सूत्र ३६ समा० पा० के

अन्तर्गत है।

७ पाश्चात्य देशों में हृष्टिबन्ध, (Sightism) अन्तरावेश, (Spritulism) सम्मोदन (Mesmerism) और वशीकरण, (Hipnotism) जो मनोयोग के नाम से पुकारे जात है वे भा प्रत्याद्दार और धारणा के अन्तर्गत हैं। ये सब भारतवर्ष में प्राचीन सनय सं चले आ रहे हैं।

८ यम और नियम न केवल न्यक्तिगत रूप से विशेषतया योगियों के लिये बल्कि सामान्य रूप से सब वर्णो, श्राश्रमा, मत-मतान्तरों, जातियों, देशों और समस्त मनुष्य-समाज के लिये माननीय मुख्य कर्त्ताच्य तथा परम धमें हैं।

इस प्रकार इस पात जल दशेन में सब प्रकार के योगों का समावेश हो गया है।

संगति-याग किसका कहत हैं ?

योगश्चित्तवृत्तिनिरोषः ॥२॥

शब्दार्थ-योगः = योग । चित्तवृत्तिः।नरोध = चित्त की वृत्तियों का रोकना (है)।

अन्वयार्थ-चित्त की वृत्तियों का राकना योग है।

व्याख्या - योग का खरूप बतलात है: निर्मल सस्वन्धान चित्त की जो अक्षाक्षि भाव से परिएत बृत्तियाँ है उनका निरोध, अर्थात् जा बाहर की चित्त की बृत्तियाँ जातों हैं उन बिंद्युख बृत्तियों को सांसारिक विषयों से हटाकर उससे उल्टा अर्थात् अन्त्रमुख करके अपने कारण-चित्त में लीन कर देना योग है। ऐसा निरोध (चित्त की धृत्तियां का रोकना) सब चित्त की भूमियों में सब प्राणियों का धर्म है, जो कभी किसी चित्त में प्रकट हो जाता है, प्राय: चित्तों में खिपा हुआ हा रहता है।

सूत्र मं केवल 'चित्तवृत्तिः निराध' शब्द है 'सर्वे ।चराष्ट्राचा निरोध' नहीं है। इससे सूत्र कार न सम्प्रज्ञात और श्रसम्प्रज्ञात दानों प्रकार की सन्।।धयों को योग वसलाया है। कथात् श्रसम्प्रज्ञात-समाधि जिसमें सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है, वह (नहज्ज जबक्षा हो बोग है ही, किन्त सम्प्रज्ञात-समाधि भी जिसमें साल्यक एकाम-वृत्ति बनो

रहती है वह एकाम अवस्था भी योग के लत्त्रण के अन्तर्गत है। अर्थात् जब विश्व से तम का मल-रूप आवरण, और रजसू की वित्तेप रूप चश्चलता निष्ठश होकर सस्त्र के

प्रकाश में जा एकाप्र वृत्ति रहे, उसको भी योग समकता चाहिये।

सारी सृष्टि सस्त, रजस् और तमस्, इन तीन गुणों का ही परिणाम रूप है। एक धमे, आकार अथवा रूप को छोड़कर धमीन्तर के महण् अर्थात् दूसरे धमे, आकार अथवा रूप करने को परिणाम कहते हैं। चित्त इन गुणों का सबसे प्रथम सस्वप्रधान परिणाम है। इकी लिय इसको चित्तसस्व भी कहते हैं। यह इसका अपना व्यापक स्वरूप है। यह सारा स्थूल जगत् जिसमें हमारा व्यवहार चल रहा है, रज तथा तम-प्रधान गुणों का परिणाम है।

इसके बाह्य अथवा आभ्यन्तर संसर्ग से जो चित्तसस्व में त्रण-त्रण गुणों का

परिणाम हो रहा है उसको चित्तावृत्ति कहते हैं।

विषय को और स्पष्ट रूप से सममता चाहिये। मानो चित्त ऋगाध परिपूर्ण सागर का जल है। जिस प्रकार वह पृथिवी के सम्बन्ध से खाड़ी, कील आदि के आन्तरिक तदाकार परिस्माम को प्राप्त होता है, इसी प्रकार चित्त स्नान्तर राग द्वेष, काम-क्रोय, लोभ-माह, भयादि रूप आकार से परिएत होता रहता है। तथा जिस प्रकार वायु आदि के बेग स जलरूपी तरंग उठती रहती हैं, इसी प्रकार चित्त इन्द्रियों द्वारा बाह्य विवयों से आकर्षित हांकर उन जैसे आकारों में परिएत होता रहता है । यह सब चित्ता को वृत्तियें कहलातों हैं, जो श्वनद्भ हैं श्रीर प्रति च्या उदय होती रहती हैं। इनका विस्तार पूर्वक वर्णन श्रमले सूत्रों से किया जावेगा। जैसे जल, वायु श्रादि के अभाव में तरङ्ग आकारादि परिशामों को त्यागकर स्वरूप में अवश्वित हो जाता है वैसे ही जब चित्त बाह्य तथा आभ्यन्तर विषयाकार परिणाम को त्यागकर अपने स्वरूप में अवश्वित हो जाता है तो उसको चित्तवृत्तिनिरोध कहते हैं । उपरोक्त परिणाम-रूप श्रुतियें चित्त में इन्हीं तीनों के प्रभाव से उदय होती रहती हैं। चित्तसत्त्व ज्ञानस्वभाव न बाला है। जब उसमें रजोगुण, तमोगुण, दोनों का मेल होता है तो ऐश्वर्य विषय प्रिय होत है; जब यह तमोगुण से युक्त होता है तो अधर्म, अज्ञान अवैराग्य और अनैधर्य को प्राप्त होता है। वहीं चित्त जब तमीगुए के नष्ट होने पर रजीगुए के अंश से यक्त होता है तो धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य को प्राप्त होता है। वही चित्त जब रजोगुरा के लेश-मात्र मल से भी रहित होता है तो स्वरूपप्रतिष्ठ कहलाता है। तब चित्त सत्त और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान होता है, जिसको विवेक-स्याति अर्थात भेद ज्ञान कहते हैं (२।२६; ३।४९)। विवेक ख्याति के परिपक्व होने पर धर्ममेघ समाधि की अवस्था मास होती है (४।२९)। जिसको परम संख्यान भी कहते हैं । चिति-शक्ति (पुरुष) अपरिगामी और अप्रतिसंक्रमा अर्थात् परिगाम, क्रिया और संयोग आदि से रहित सथा चित्त के सारे विषयों की द्रष्टा, शुद्ध श्रीर अनन्त है। सरवगुगातिमक चित्त इस पुरुष से विपरीत है अर्थात् परिणामी श्रीर कियादि वाला, विषयों का स्वयं द्रष्टा नहीं किन्तु पुरुष को दर्शने वाला धौर जड़ होने के कारण पुरुष की अपेना अगुद्ध अन्त वाला है। इस प्रकार वित्त से पुरुष का भित्र देखना विवेक-स्थाति कहलाती है। जब वित्त की इस विवेक-स्थाति से भी वैराग्य प्राप्त हो जाता है (१।१६), तब उस विवेक-स्थाति का भी निरोध हो जाता है (१।१८); यह निर्वीज-समाधि है। इसको असम्प्रज्ञात इस लिये कहते हैं: क्योंकि इसमें कोई सांसारिक विषय नहीं जाना जाता है । इस प्रकार सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात भेद से चित्तवृत्ति-निरोध रूप योग दो प्रकार का है।

यह सार्वभौम सन्प्रज्ञात श्रीर श्रसम्प्रज्ञात समाधि चित्त का धर्म है जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, तथापि केवल श्रन्त की दो ऊँची श्रवस्थाश्रों में उसका प्रादुर्भोव होता है। प्रथम तीन निचली श्रवस्थाश्रों में रज तथा तम की प्रधानता से वित्तेप तथा

मल के आवरण से दबा रहता है।

चित्त की पाँच अवस्थाएँ निम्न शकार हैं :-

१ मूड़ावस्था—इस अवस्था में तम प्रधान होता है, रज तथा सत्त्व दवे दुए गौण रूप से रहते हैं। यह अवस्था काम, कोध, लोभ और मोह के कारण होती है। जब चित्त की ऐसी अवस्था होती है तब मनुष्य की प्रवृक्षि अज्ञान, अधर्म, राग और अनैधर्य में होती है। यह अवस्था नीच मनुष्यों की है।

२ क्षितावस्था—इसमें रजोगुण को प्रधानता होती है, तम और सस्त्र दबे हुए गौण रूप से रहते हैं, इसका कारण राग द्वेषादिक होते हैं। इस अवस्था में धर्म-अधर्म राग वैराग, ज्ञान अज्ञान, ऐश्रर्य और अनैश्वयं में प्रवृत्ति होती है। अर्थात् जब तमोगुण सस्त्रगुण को दवा लेता है तब अधर्म, अज्ञानादि में, और जब सस्त्र तन को दवा लेता है तब धर्म, ज्ञानादि में प्रवृत्ति होती है। यह अवस्था साधारण सांसारिक मनुष्यों की है।

३ विक्तिसाव स्था — इस अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होता है, रज तथा तम दबे हुए गौण रूप से रहते हैं। यह निष्काम कर्म करने तथा राग-३ेष, काम-क्रोध, लोभ और मोहादि के छोड़ने से उत्पन्न होती है। इस अवस्था में क्योंकि सत्त्व-गुण किसी मात्रा में बना रहता है, इस कारण मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य में होती है। परन्तु रजोगुण चित्ता को विज्ञिप्त करता रहता है। यह अवस्था ऊँचे मनुःयों तथा जिज्ञासुओं की है। यह तीनों अवस्थाएँ चित्ता की अपनी स्वभाविक नहीं हैं और न योग की है, क्योंकि बाहर के दिषयों के गुर्णों से चित्ता पर उनका प्रभाव पढ़ता रहता है।

४ एकान्नावस्था—जब एक ही विषय में सदश पृश्चियों का प्रवाह चिश्च में निरन्तर बहता रहे तब उसको एकान्नता कहते हैं। यह चिश्च की स्वाभाविक अवस्था है, अर्थान् जब चित्त में बाह्य विषयों के रज तथा तम का प्रभाव न रहे तब वह निर्मल चमकते हुए स्कटिक के सदश ख़क्छ होता है। उस समय उसमें परमाणुओं से लेकर महत्तत्त्व पर्यन्त प्राह्म, प्रह्मणु और प्रहीत्, विषयों का यथार्थ साज्ञान् हो सकता है। इसी अनितम ख्यित विवेक-ख्याति है जिसकी ऊपर ज्याख्या कर आये हैं। एकामता को

चित्त की पाँच अवस्थाएँ

			बृत्तियों का भभाव				संस्कार शेष ।	
प्रष्टा को सक्त पियस्थि	पर वैशास्त	अने योजियों की	वित्त की स्वरूप प्रतिष्ठिति; ऽत्वे योक्तियों भस्तामाविक और स्वामाविक	सर्व हाति- निरोध	योग; भसम्प्रज्ञात समाधि	क स्प स्थात	गुणों का बाहर से परिणाम कन्द्र, किस्ताव में निरोध परिणाम,	भवस्था
बस्तु का यथाय ज्ञान	भपर वैराज्य	योगियों की	खाभाषिक	एकामता	योग; सम्प्रज्ञात समाभि	ततस्थता	स्त प्रधान; रज, तम शृतिमात्र	भ एकाम भवस्था
ज्ञान, धम्मे वैरास्य, देवक्ष	अनासिक निष्काम क्रम	उने मनुक्यों बिज्ञासुआं की	अस्त्रामाविक	सुवीधता; एक:मता आरम्भ	ब्युत्थान; समाधि आरम्भ	सुख, प्रसक्ता, क्षमा श्रदा, पैयं, चेतन्यता, रुसाह, धीयं दान, दया आदि।	सष्य प्रधार, रज, तम गीण।	१ विक्रिस भवन्या
अज्ञान, अध्या राग, अनैक्य ज्ञान, धर्म तैरास, देख	राग, द्वेष	साधारण संसारी मनुष्यों की	भस्तामाविक	सर्वायता	ब युरथा न	दुःख, चश्रखता, चिता, बोक, संसार के कामों में प्रवृत्ति ।	रज प्रधान; नम, सख गीग।	र क्षित्र भवस्या
मज्ञान, मध्य शाग, अमैचबै	काम, क्रोच, लोभ, मोइ	मीच मनुष्यों की	असामाधिक	सर्वायंता	ड गुत्यान	निदा, तन्दा, मोड, भय, आरुस्य, दीनता भ्रमादि।	तम प्रधान; रज, सन्त गीण।	मृद् अवस्था
प्रशृति	क्षिति-गति निमित्त धर्म		युत्ति का स्वरूप	श्रीत	दशा	गुणशृति	ुए का परिसाम	नाम श्रवस्था

........ समाधि भी कक्षेते हैं। इसमें प्रकृति के सर्व कार्थों (गुणों के परिणामों)

का पर्यातया साचात् हो जाता है।

५ निरुद्धावस्था— जब विवेक-ख्याति द्वारा चिल्त और एरुष का भैद सालात्कार हो जाता है तब उस ख्याति से भी वैराग्य (पर-वैराग्य) उदय होता है । क्योंकि विवेक-ध्याति भी चिल्त की ही एक वृत्ति है । इस वृत्ति के भी निरुंद्ध होने पर सर्व वृत्तियों के निरोध होने से चिल्त की निरोधावस्था होती है । इस निरोधावस्था में अन्य सब संस्कारों के तिरोभाव-पूर्वक पर-वैराग्य के संस्कार-मात्र शेष रहते हैं । निरोधावस्था में किसी प्रकार का भी वृत्ति न रहने के कारण कोई पदार्थ भी जानने में नशें आता, तथा श्रविद्यादि पाँचों क्लोश सित कर्माशय-रूप जन्मादिकों के बीज नहीं रहते । इसलिये इसको असम्प्रज्ञात तथा निर्वाज-समाधि भी कहते हैं । इस शङ्का के निवारणार्थ कि सर्व वृतियों के निरोध होने पर क्या पुरुष का भी निरोध हो जाता है ? अथवा क्या वह शून्य अवस्था है ? अगले सूत्र में बृद्धकाया है कि सर्व वृत्तियों के निरुद्ध होने पर पुरुष (शुद्ध परमात्म) स्वरूप में अवस्थित होता है ।

विशोष विचार —योग के विषय को समझने के लिये चित्त के स्वरूप तथा सृष्टिक्रम का ज्ञान श्रीत श्रावश्यक है। इसलिये इसका कुछ विजार-पूर्वक वर्णन कर देना उचित

समभते हैं।

मूल प्रकृति जड़, अलिङ्ग, परिणामिनी तथा त्रिगुणमयी अर्थात प्रकाश, क्रिया, (प्रवृत्ति) श्रीर श्रितिशील है। प्रकाश सत्त्व का, क्रिया रज का, श्रीर श्रिति (रोकना. दबाना) तम का धर्म है। गुण अपने स्वरूप से ही परिणाम-स्वभाव वाले हैं। इसलिये इनका सत्तामात्र साम्य-परिणाम अर्थान सत्त्व से सत्त्व में, रत्त से रज में, और तम से तम में परिणाम, इनके विषम परिणामों के प्रत्यत्त होने से अनुमानगम्य और आगमगम्य है। गुर्शों की साम्य-परिणाम वाली श्रवस्था का नाम ही प्रधान श्रथवा मल-प्रकृति है। यह परोच अर्थान प्रत्यच न होने योग्य अञ्यक्त गुर्ह्यों का परिग्राम पुरुष के लिए निष्प्रयोजन है। पुरुष का श्रयोजन भोग और अपवर्ग है। भोग गुर्शों के परिशा में का यथार्थ रूप से साचात्कार, और अपवर्ग, पुरुष की स्वरूपाविश्वित है। बिना गुर्गों के साचात्कार किये हुए खरूपावस्थित दुर्लभ है। चेतन-तत्त्व का शद्ध स्वरूप जड तत्त्व से सर्वथा विलक्षण है। जड़ तत्त्व के सम्बन्ध से उसकी ईश्वर तथा 'जीव' संज्ञा है। जड़तत्त्व परिणामी नित्य श्रीर चेतन-तत्त्व कृटस्थ नित्य है। जड़तत्त्व विकारी श्रीर चेतन-तत्त्व निर्विकार है। जडतत्त्व सिकय श्रीर चेतन-तत्त्व निष्क्रिय, केवल ज्ञानस्वरूप है। जड़तत्त्व, में ज्ञान, नियम तथा व्यवस्था-वर्षक किया चेतन-तत्त्व की सन्निधि-मात्र से है। ऋथीत चेतनतत्त्व किया का निमित्त-कारण और जड़तत्त्व समवायी अथवा उपादान कारण भहीसमृह जडतत्त्व के सम्बन्ध से चेतन-तत्त्व की संज्ञा पुरुष-विशेष अथवा ईश्वर है। वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्व-शक्तिमान है। उसके खाभाविक ज्ञान द्वारा पुरुषों के कल्याणार्थ गुरुषों में विषम परिग्राम हो रहा है. जिससे सारी स्टिंट की रचना हो रही है जो इस प्रकार है:--

१ प्रथम विषम-परिशास सहत्तस्य — सस्व-गुर्ण में रजोगुरण का क्रियामात्र तथा तमोगुरण का स्थितिमात्र विषम-परिशास प्रथात सस्वगुरण-प्रधान रजोगुरण तथा तमोगुरण का स्थितिमात्र विषम-परिशास प्रथात सस्वगुरण-प्रधान रजोगुरण तथा तमोगुरण का लिङ्गमात्र प्रथम विषम-परिशास महत्तस्व है। यह योगदर्शन के अनुसार समि तथा व्यष्टि चित्त, और सांख्य के अनुसार समि तथा व्यष्टि बुद्धि है। वैदान्त में चेतन-तत्त्व की महत्तस्व (समि चित्त) के सम्बन्ध से 'हिरग्यगर्भ' और व्यष्टि-चित्त के सम्बन्ध से 'तैज्ञस्' संज्ञा है। यह चित्त व्यष्टि-क्रय से पुरुष के लिये गुर्णों के साचास्कार कराने का करण (साधन) है। कहीं-कहीं मन, जुद्धि, अहहूहार और चित्त को एकार्थक, और कहीं-कहीं चार प्रकार की वृत्तिभेद से इनको अन्तःकरण-चतुत्र्य कहा गया है। अर्थात् संकल्प विकल्प करने से मन, अहंभाव प्रकट करने से अहहूहार, निर्णय तथा निश्चय करने से बुद्धि, और स्पृति तथा संस्कारों से चित्रत होने से चित्त

सांख्य में महत्तत्त्व के लिये 'बुद्धि' और योग में 'चित्ता' शब्द प्रयोग हुए हैं। सांख्य में बुद्धि में चित्त को, और योग में चित्ता में बुद्धि को सम्मिलित कर लिया गया है। सिद्धान्तात्मक होने से सांख्य में बुद्धि द्वारा सब पदार्थों का विवेकपूर्ण निर्णय करना और क्रियात्मक होने से योग में चित्त द्वारा अनुभव अर्थात् सालात्कार करना बताया गया है। क्रीटो लेने के प्लेट के सहश प्राह्म तथा प्रहस्स सब प्रकार के विषयों को पुरुष को प्रत्यक्त कराने के लिये चित्त दर्गणरूप है। चित्त ही में सुख, दुःख, मोहादि रूप सन्त्व, रजस तथा तमस के परिणाम होने हैं। चित्त ही का बृत्तिमात्र से सूक्ष्म शरीर के साथ, एक स्थूल शरीर को होइकर दूसरे शरीर में जाना (आवागमन) होता है। असङ्ग, निर्लेप पुरुष केवल इसका रह्या है। इस चित्त में ही अहंकार वीजरूप से रहता है।

२ डितीय निपम-परिएाम ऋहंकार ऋहंभाव से एकल-बहुत्व, व्यक्तिसमिष्ट आदि सर्वे प्रकार की भिन्नता उपन्न करने वाला, महत्तत्त्व का निषम-परिएाम आहंकार है। आहंकार ही से ब्राह्म और ब्रह्मण भेद वाले दो प्रकार के निषम-परिएाम उत्पन्न होते हैं।

३ ग्यारह इन्द्रिये प्रह्मण विषम-परिमाल-मपरस्पर भेदवाली पाँच ज्ञानेन्द्रियें शक्तिरूपः श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना, घाण; इसी प्रकार परस्पर भेदवाली पाँच कर्नेन्द्रियें शक्तिरूपः इस्त, पाद, वाकः बायु (गुदा), उपस्थ (मूत्रत्याग की इन्द्रिय), और ग्यारहवाँ मन। यह विभाजक श्रदंकार के प्रह्मण विषम-परिमाम हैं।

४ विवम-परिणाम पश्च-तन्मात्राऍ—परस्पर भेदवाली शब्दतन्मात्रा, स्पर्ध-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा, गन्ध-तन्मात्रा इस विभाजक भेदभाव उत्पन्न करने वाले शहकार के प्राष्ट्र विषम-परिणाम हैं।

५ प्राह्य स्थूल विषम-परिणाम अर्थात् पाँच स्थूलद्भूत : पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश, पाँच तन्मात्राओं के प्राह्य स्थल विषम-परिणाम हैं।

इन विषम परिणामों में, सत्त्व में रजस तथा तमस का प्रभाव क्रम से बढ़ता जाता है। अर्थान् महत्तत्त्व की अपेजा अहंकार में, अहंकार की अपेजा पश्चन्तन्मात्राओं और ग्यारह इन्द्रियों में, और पाँच तन्मात्राओं की अप्रेता पाँचों स्थूल हतों में रजस् तथा तमस् की मात्रा क्रमशः बढ़ती जाती है, यहाँ तक कि पाँचों स्थूज हतों में रजस् तथा तमस् की मात्रा इतनी (प्रधान रूप से) बढ़ जाती है कि वे उसके कारण स्थूल रूप में इमारी धृष्टि-गोचर हो रहे हैं |

मक्कतेर्रहांस्ततोऽहंकारस्तरमाद्गणश्च पोडशकः।

तस्पाद्वि षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि ॥२२॥ (सां॰ का॰)

अर्थ—प्रकृति से महत् ; उससे ऋहंकार उससे सोलह (पाँच तन्मात्राएँ, ग्यारह इन्द्रियें) का समृद; उस सोलह में जो पाँच (तन्मात्राएँ) हैं, उनसे पाँच (स्थूल) भूत उत्पन्न होते हैं।

मृत्रमकृतिरविकृतिर्भेह्दाद्याः मकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशकस्त विकारो न मकृतिन विकृतिः पुरुषः ॥३॥ (सां० का०)

अर्थ—मूल प्रकृति विकृति नहीं है (केवल प्रकृति है), महत् आदि सात (महत्तात्व, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ) प्रकृति विकृतियाँ हैं, सांलह (पाँच स्थूलभूत, ग्यारह इन्द्रियें) केवल विकृतियाँ हीं हैं (प्रकृतियाँ नहीं हैं)। पुरुष न प्रकृति हैं न विकृति । पुरुष, उसका प्रयोजन—भोग और अपवर्ग, गुणों का साम्य-परिणाम— मूल प्रकृति, तथा उनके (गुणों के) विषम-परिणाम—सात प्रकृतिये-विकृतियें अर्थात् महत्तत्व अहंकार व पश्च-तन्नात्राएँ, अनादि अर्थात् आरम्भ-रहित हैं। सालह केवल विकृतियाँ अर्थात् ग्यारह इन्द्रियाँ और पाँच स्थूलभूत (और उनसे रचा हुआ यह सारा विश्व) सादि माने गए हैं, पर यह भी स्वरूप से ही सादि हैं। क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में अपने कारण से कार्यरूप में प्रकृत होते हैं। प्रवाह से तो ये भी अनादि हैं, क्योंकि प्रलय में अपने कारण से कार्यरूप में प्रकृत कृतियाँ के सारम्भ में क्रम से होता वह लिया आरहा है। इसलिये ये प्रवाह से अनादि हैं।

स्याचिन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकन्ययत्। (ऋग्० १०।१३०।३)

अर्थ—उस ईश्वर ने इस सूर्य खौर चन्द्र को पहिले कल्पों के अनुसार बनाया। अब एक शंका यह उलक्ष होती है कि चित्त जड़ है; उसमें वस्तु का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है और पुरुष असङ्ग, निर्लेष और क्रिया-रहितहै; उसमें जानने की किया किस प्रकार हो सकती है ?

इसका समाधान इस प्रकार है चित्त-सत्त्व जड़ होते हुए भी ज्ञानस्वरूप पूड्ष से प्रतिबिध्यित अर्थात् प्रकाशित है। इसलिए इसमें (चित्त में) ज्ञान दिलाने की योद्गैता है बौर पुरुष को चित्ता में अपने प्रतिबिध्य अर्थात् प्रकाश जैसी चेतना से उसका (चित्त का) तथा उसके सारे विषयों का स्वतः ज्ञान रहता है। इसीलिये इस दर्शन में चित्ता को टश्य बौर पुरुष को द्रष्टा कहा गया है।

प्राध-प्रहण रूप, स्थूलभूतों से लेकर महत्तत्त्व पर्य्यन्त ग्रणों के सारे परिणामों को पद्य का साचारकार कराने का चित्त ही एक करण (साधन) है।

इस प्रकार दुखों के परिखामों का यथा दे रूप से साज्ञातकार करना भोग है। यही सम्प्रज्ञात समाधि है अथवा सम्प्रज्ञात योग है। श्रीर गुर्गा-परिगाम के साचात्कार के पश्चात् खरूपावस्थित अपवर्ग है अथात् असम्प्रज्ञात-समाधि अथवा असम्प्रज्ञात-योग है। यह समाधि सब श्रवशात्रों में चित्त का धर्म है। इस धर्म के छिपे रहने श्रीर प्रकट न हाने का कारण यह है कि हमारा सारा व्यवहार स्थूल-जगत् अर्थात् सोलह (केवल) विकृतियों में पाद्ध-प्रहण रूप से चल रहा है। इनमें तम तथा रज की प्रधानता है और संदर्भ गौएरूप से है। इसलिये इस व्यवहार में आसिक हो जाने के कारण तमस तथा रजस के परिणाम : राग, द्वेष श्रोर श्रमिनिवेश के संस्काररूप श्रावरण, श्रौर श्रहंकार में जो रजसे तथा तमस की मात्रा है; उससे श्राह्मता क्लेश के संस्कार-रूपी आवरण, श्रीर चित्तासत्त्र में जो सत्तामात्र तमस् तथा रजस् का परिणाम है; उससे अविद्या क्लेश अर्थात् जड़ चेतन और चित्त पुरुष में श्रविवेक के संस्कारों का आवरण, चित्त सत्त्व पर चढ़ जाता है। इस प्रकार इन आवरणों से मलिन और विद्यात हुए चित्तासत्त्व पर प्रति-द्याण इन संस्कारों से नाना रूप के आन्तरिक तथा बाह्य परिणाम होत रहते हैं जो वृत्ति कहलात हैं।

मुद्रावस्था में जब तम प्रधान होता है तो निद्रा, श्रालस्य प्रमाद श्रादि तामसी वृत्तियाँ उदय होती हैं: चितावस्था में जब रज प्रधान होता है तब चन्बल श्रस्थिर करने बाली राजसी वृत्तियाँ उदय होती हैं; श्रीर विज्ञिप्तावस्था में वस्तु के यथार्थ खरूप की प्रकाशक मास्विक विरायाँ उदय होतो है किन्त यह सारिवक विराये राजसी वृत्तियों से श्रक्षिर श्रीर

चलायमान होती रहती हैं। इस प्रकार इस सर्वार्थता (मन के सब विषयों की स्रोर जाने की प्रवृत्ति) में यथार्थ तस्य का प्रकाशक, चित्ता का एकामता धर्म द्वा रहता है। श्रभ्यास श्रीर वैशाय द्वारा जब सर्वायेता का निरोध होता है तब तमस तथा रजस के दबन से सत्त्र के प्रकाश में वस्तु का यथाथे ज्ञान प्राप्त कराने वाली एकावतो (सम्प्रज्ञात समाधि) का खदय होता है जिसकी पराकाष्ठा गुण-परिणाम साज्ञारकार पर्यन्त पुरुष श्रीर चित्रा में विवेक झान है। इस यूचि से भी पर-वैराग्य द्वारा श्रासिक निवृत्त होने पर सब वृत्तियों का निराधरूप श्रसम्प्रज्ञात-समाधि अर्थात् द्रष्टा को खरूपावारेयति हाती है। उस समय चित्ता में केवल निराध के संस्कार शेष रहत हैं, य निरोध के संस्कार अपनी दुबेल अवस्था में निरोध से पुनः व्युत्थान में लेजाने के कारण हात हैं। निरन्तर अभ्यास व वैराग्य से निराध-संस्कारों की दढ़ भूमि होने पर अन्य सब ब्युस्थान के संस्कारों को सर्वथा निवृत करने के पश्चात ये संस्कार रोष भी स्वयं निवुत्त हो जाते हैं तब पुन; व्युत्थान अवस्था में न आने वाली स्वरूपानास्थित कैनल्य कहलातां है।

नोड-प्रथम धर्म (रूप) को छोड़कर दूसरे धर्म को धारण करना परिणाम कह-लाता है। सारा संसार गुणों का ही सिश्रवेश-मात्र है। इसलिये प्रत्येक वस्तु में प्रति इया परियाम हो रहा है। परियाम दो प्रकार से होता है; एक सान्य अथवा स्नरूप-

परिखाम, जैसे दूध के बने रहने तक जो दूध से दूध में परिखाम हो रहा है उसको साम्य अथवा स्वरूप-परिखाम कहेंगे, दूसरा दूध से वहीं बनते समय अथवा उसमें और कोई अन्य विकार आते समय जो परिखाम होता हैं, उस दूध से ही वहीं इत्यादि में होने वाले परिखाम को विषम अथवा विरूप-परिखाम कहेंगे। विषम-परिखाम ही प्रत्यत्त होता है, उस प्रत्यत्त से साम्य-परिखाम का अतुमान किया जाता है इसकी विस्तार-पूर्वक व्याख्या विभूतिपाद सूत्र ९ की सङ्गति, सूत्र तेरह से सोलह तक और कैवस्यपाद सूत्र चीदह में की गई है।

सृष्टि-उत्पत्ति क्रम

१ चेतन-तत्त्व, निष्कय, कूटस्य नित्य = श्रात्मा तथा परमात्मा (जड़ तत्त्व के सम्बन्ध से ब्यष्टि रूप में जीव तथा समष्टि रूप में ईश्वर)

२ जड़तत्त्व, सिक्रय, परिणामिनी नित्य, श्रव्यक्त, श्रलिङ्ग, प्रधान, त्रिगुणात्मक मूल-ऽकृति, श्रविकृति, गुणों की साम्यावक्षा ।

३ लिङ्गमात्र, गुणों का प्रथम विषम परिणाम, प्रकृति-विकृति, समष्टि चित्त तथा व्यष्टि चित्त)

४ महत्तत्त्व का काय-श्रहंकार, प्रकृति-विकृति, गुर्खो का द्वितीय विषम-परिखाम ।

५ श्रहंकार के प्रहरण्डप कार्य-ग्यारह इन्द्रियें।

६ ऋहङ्कार के प्राह्मरूप कार्य-पाँच तन्मात्राएँ (पाँच सूक्ष्ममूत) ऋर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्को, शब्द; गुर्णो का उतीय विषम-परिणाम, प्रकृति-विकृति ।

पाँच तन्मात्रात्रों के प्राद्यरूप कार्य पाँच स्थूलभूत, केवल विक्वतियाँ,
 संगोत—सव वृत्तियों के निरोध होने पर पुरुप की क्या श्रवस्था होती है ?

तदा द्रव्दुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—तदा = तव (वृत्तियों के निरोध होने पर) द्रष्टुः = द्रष्टा की । स्वरूपे = खरूप में । खबश्चानव् = खबश्चित (होती है) ।

अन्वयार्थ---तब द्रष्टा की (शुद्ध परमात्म) खरूप में श्रवस्थित (होती है)।

ब्याख्या—द्रष्टा (पुरुष) की चित्तवृत्ति निरुद्ध-काल में वैसी ही चेतनमात्र (शुद्ध परमात्म) खरूप में खिति होती है जैसी कैवल्य में होती है। चित्त की ब्युत्थान (निरुद्धा-विश्वा से इतर) श्रवस्था में भी पुरुष श्रपने स्वाभाविक श्रसङ्ग चेतन रूप में खित होता है। पर चित्त की उपाधि से चित्त-वृत्ति जैसा शान्त, घोर श्रीर मृद्दादि प्रतीत होता है। वृत्ति-निरोधावक्षा में वृत्तियों के निरोध से पुरुष का निरोध नहीं होता, किन्तु चित्तरुप उपाधि की वृत्ति के श्रभाव से जब श्रीपधिक शान्त, घोरादि रूप का श्रभाव हो जाता है तब पुरुष अपने उपाधि-रहित रूप में श्रविश्वत होता है। श्रभिप्राय यह है कि विवेकख्याति उत्पन्न होने पर वस्तु श्राकार में परिणाम से रहित चित्रा में कर्षापन का श्रभिमान निवृत्त हो जाता है। श्रथीत् भी स्वता हैं। श्रभिमान की निवृत्ति हो जाती है।

चौर बुद्धि (चन्तःकरण्) में वृत्ति-रूप परिणाम होना भी रुक जाता है; तब आत्मा की (शुद्ध परमात्म) खरूप में चवस्थिति होती है ।

चितिराक्ति कूटस्थ नित्य होने से स्तरूप से कभी प्रच्युत नहीं होती है। जैसा निरोध-काल में पुरुष का स्वभाव है वैसा ही व्युत्थान काल में है, किन्तु श्रविवेक से वैसा प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार जब श्रम से शुक्ति (सीप) में रजत (बाँदी) का भान होता है तो उस श्रम-काल में उस श्रम से न सीप का श्रमाव और न बाँदी की ही उत्पत्ति होती है, और फिर श्रम दूर होने पर जब यह ज्ञान होता है कि यह बाँदी नहीं किन्तु सीप है तो इस ज्ञान से सीप की उत्पत्ति श्रीर बाँदी का श्रमाव नहीं होता; केवल श्रक्ति-नास्ति श्राद का (भाव-श्रमाव का) व्यवदार होता है। वैसे ही चिति शक्ति सर्वदा एक-रस ही है किन्तु ज्युत्थान-काल में श्रविवेक के कारण श्रम्य रूप से भान होती है और निरोध-काल में कैवल्य के सहश निज शान्त-रूप से भान हाती है। यह निरोध और व्युत्थान में भेद है!

द्रष्टा, पुरुष, चिति शक्ति, दक्शक्ति, चेतन, आत्मा एकार्थक शब्द हैं। तथा अध्यास,

उपाधि, श्राराप, भ्रम एकाथेक हैं।

संगति—निरोध से भिन्न न्युत्थान अवस्था में पुरुष का क्या खरूप होता है ?

वृतिसारूप्यमितरत्र॥ ४॥

शब्दार्थ - वृत्तिसारूप्यम=वृत्ति की समानरूपता; इतरत्र=दूसरी अर्थात् निरोध से . भिन्न व्यस्थान श्रवस्था में (पुरुव की होती है)।

अन्वयार्थ-दूसरी अर्थात् निराध से भिन्न व्युत्थान अवस्था में द्रष्टा की वृत्तियों के

समान रूपता होती है अर्थात् द्रष्टा वृत्तियां के समान रूपवाला प्रतीत होता है।

ब्याख्या— दूसरी अर्थात् (नरोध से उठने पर न्युत्थान-काल में द्रष्टा, वृत्तियों के जो आगे लज्ञ्या सहित कह जावेगे समान रूपवाला प्रतीत होता है । जैसा पश्चकिखाचार्य ने कहा है:—

एकमेवदर्शनं ख्यातिरेवदर्शनम्

- अर्थ — एक ही दर्शन हैं, ख्याति (यूत्ति) ही दर्शन है अर्थात् पुरुष वैसा ही दीखता है जैसी यूत्ति होती है। इसलियं सुख-दुख, मोहरूप सत्त्व-गुण वाली, रजोगुणी अथवा तमांगुणी जैसी वित्त की यूत्तियें हाती हैं वैसा ही व्यवहार-दशा में पुरुष का खरूप जाता जाता है अथात् यह सुखी है, यह दुखी है, यह मोह में है; ऐसा लोग सममते हैं। जब वित्त एकामता से परिणत होता है तब चितिशक्ति भी उस रूप में प्रतिष्ठित होती है। जब वित्त इन्द्रिय-युद्धि के साथ विषयाकार से परिणत होता है तब पुरुष भी उस युत्ति के रूपाकार ही जान पड़ता है।

खर्थान् यद्यपि परमाथतः पुरुष असङ्ग और निर्लेष है तथापि अयस्कान्त मिणु (चुम्बक-पत्थर) के समान असंयुक्त रहते हुए, भी केवल सिश्रिधमात्र से उपकार करण्डील चित्तरूप इत्रय का दश्यत्व रूप से पुरुष के साथ भोग-अपवर्ग सम्पादनार्थ अनादि ख-खामि-भाव सम्बन्ध है। इसलिये ज्ञान्त, घोर, मुद्राकार दृत्ति विशिष्ट चित्त की सिश्रिध से पुरुष अपने को चित्त से भिन्न न जानकर 'मैं शान्त (सुखी) हैं', 'मैं दुखी हैं' 'मैं मृद हैं ' इत्यादि; इस प्रकार अपने में चित्त के धर्मों का आरोप कर लेता है इसी बात को बृहदारण्यक उपनिषद में निम्न शब्दों में दर्शाया है:—

"स समानः सन् ध्यायतीव लेलायतीव" वह आत्मा बुद्धि के समान होकर अर्थात् बुद्धि

के साथ तादात्म्याध्यास को प्राप्त होकर मानो ध्यान करता है मानो चलता है।

श्रथवा मिलन दर्पण में प्रतिविभ्वित मुख में मलीनता का श्रारोप करके श्रविवेकी जन 'मेरा मुख मिलन है, इस प्रकार शोक करता है, वैसे ही पुरुप भी वित्रा के उपाधि-धम्मों का श्रपने में श्रारोपण करके 'मैं सुखी हूँ' 'में दुखी हूँ' इत्यादि; इस प्रकार श्रमजाल में फैंस कर शोकप्रता हो जाता है। यह वृश्तिसारूय पर का श्रथ है।

यद्यपि पुरुष असङ्ग है तथापि उसकी चित्त के साथ योग्यता-लत्त्रण-सिन्निधि है अर्थात् पुरुष में भोक्द्रल-शिक्त और द्रष्ट्रल-शिक्त है और चित्त में टरयल-शिक्त और प्रोच्यल-शिक्त है। यही इन दोनों की प्रस्पर योग्यता है। इस योग्यता-लत्त्रण-सिन्निधि से ही चित्त सुख-दु:ख, मोहकार रूप परिणाम से भोग्य और टरय हुआ स्व कहा जाता है, और पुरुष भोक्ता और द्रष्टा हुआ स्वामी कहा जाता है। यह जो पुरुष के भोग का हेतु स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध है, यह भी चित्त से ही अपने निज-रूप के अविवेक प्रयुक्त है। और अविवेक तथा वासना का प्रवाह, बीज और अंकुर के सहश अनादि है। इस प्रकार चित्तवृत्ति विषयक उपभोग में जो चेतन का अनादि स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध है, वह वृत्ति-सारूप्य में कारण है।

जैसे जलाशय (नर्दा अथवा तालाव) में जब नाना प्रकार की तरंगें उछलती होती हैं तब गगनस्थ चन्द्रमण्डल का प्रतिविध्य उस जलाशय में स्थिर निज यथार्थ रूप से नहीं भान होता है। श्रीर जब तरंगें उठना बन्द हो जाती हैं तब स्वच्छ निम्नल-रूप से प्रकाशमान होकर चन्द्र-प्रतिविध्य प्रतीत होता है। वैसे ही जब चित्र की दृतियाँ विषयाकार होने से चञ्चल रहती हैं तब चेतन भी चन्द्रमण्डल की भांति चित्र में प्रतिविध्याकार होने से चञ्चल रहती हैं तब चेतन भी चन्द्रमण्डल की भांति चित्र में प्रतिविध्याकार होने से निज-रूप में नहीं भासता है। जब चित्रादृतियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तब चन्द्रमण्डल के सहश चेतन निज स्थिर रूप में स्थित हो जाता है। यह तीसरे और चौथे सूत्र का फिलतार्थ है।

संगति—चित्त की वृत्तियां बहुत होने पर भी निरोध करने योग्य हैं। उनको ऋगले सूत्र में पांच श्रे खियों में विभक्त करके बतलाते हैं।

वृत्तयः पंचतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ — गृत्तयः = गृत्तियं। पश्चतय्यः = पाँच प्रकार (की होती हैं)। क्लिष्टाः = क्लिष्ट (राग-द्वेषादि क्लेशों की हेतु और)। अक्लिष्टाः = अक्लिष्ट (राग-द्वेष आदि क्लेशों की नाश करने वालीं)।

अम्बयार्थ — वृत्तियें पाँच प्रकार की होती हैं। क्लिप्ट व्यर्धात् राग-द्वेषादि क्लेशों की हेतु, और अक्लिप्ट व्यर्थात् राग-द्वेषादि क्लेशों की नाश करने वालीं। व्याख्या—बाह्य पदार्थ असंख्य होने के कारण उनसे उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ भी असंख्य हैं। इन सबका सुगमता से झान हो सके इसलिये उन सब निरोद्धव्य वृत्तियों को पाँच श्रीणियों में विभक्त किया गया है जिनके नाम अगले सूत्र में दिये जायेंगे। इन पाँच प्रकार की वृत्तियों में से कोई क्लिएरूप होती हैं और कोई अक्लिएरूप। सत्त्व-श्रधान वृत्तियें अक्लिए रूप और तमस् प्रधान वृत्तियें क्लिए रूप है अर्थात् जिन वृत्तियों के हेतु अबिया आदि पाँच क्लेश (२।३) हैं जो कर्माशय (२।१) के समृह की उत्पत्ति की भूमियाँ हैं वे क्लिए क्लिए क्लिए ब्रांच आदि पाँच क्लेश त्रियाँ अविया आदि प्रका के समृह का के रूप वृत्तियाँ होती हैं वे क्लिए वृत्तियाँ कहलाती है। और जो अविया आदि पाँचों क्लेशों की नाशक और गुगाधिकार की विरोधी विवेकख्याति-रूप वृत्ति होती है वह अक्लिए कहलाती है। फिर पर-वैराग्य से उस अक्लिए वृत्ति का भी निरोध हो जाता है।

यद्यपि क्लिष्ट युत्तियों के संस्कार बहुत गहरे जमे हुए होते हैं तथापि उनके छिट्टों में सन्-शाम्न और गुरुजतों के उपदेश से श्रभ्यास और वैराग्य रूप श्रक्लिष्ट युत्तियाँ वर्तमान रहती हैं। श्रध्यान उनके द्वारा श्रक्लिष्ट युत्तियां उत्पन्न हो सकती हैं। युत्तियां का यह स्वभाव है कि वे श्रपने सहश संस्कारों को उत्पन्न करती हैं—िक्लिष्ट युत्तियाँ क्लिष्ट संस्कारों को । इस प्रकार छिपी हुई श्रक्लिष्ट युत्तियाँ उत्पन्न होकर श्रक्लिष्ट युत्तियाँ श्रक्लिष्ट संस्कारों को । इस प्रकार छिपी हुई श्रक्लिष्ट युत्तियां उत्पन्न होकर श्रक्लिष्ट संस्कारों को और श्रक्लिष्ट युत्तियों का निरोध होत्ता है। पर इनके संस्कार सुक्ष्मरूप से श्रक्लिष्ट युत्तियों के छिट्टों (बीच) में बने रहते हैं (४।२६) उनका नाश निर्वीज समाधि के श्रभ्यास से होता है (२।१०) उपरोक्त विधि के श्रमुसार जब हिष्ट युत्तियों सर्वथा दब जाती हैं तब श्रक्लिष्ट युत्तियों का भी निरोध पर-वैराग्य से हो जाता है। इस सब युत्तियों का निरोध श्रसम्प्रज्ञात योग है।

संगति-पांचों वृत्तियों के नाम बतलाते हैं:-

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६॥

द्यार्थ — प्रमाण, विपर्थय विकल्प, निद्रा, स्मृति; ये पांच प्रकार की वृत्तियें हैं जिनका लच्चण श्रमले सूत्र में बतलायेंगे।

संगात-प्रमाण-वृत्ति के तीन भेद दिखलाते हैं:-

प्रत्यत्तानुपानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥

इाव्दार्थ—प्रत्यत्त∙श्रनुमान-श्रागमाः = प्रत्यत्त्, श्रनुमान श्रौर श्रागम । प्रमाणानि = प्रमाण हैं ।

अन्वयार्थ -- प्रत्यत्त, अनुमान श्रीर श्रागम भेद से तीन प्रकार की प्रमाण-वृत्ति हैं। व्यास्या-- प्रमा (यथार्थ ज्ञान) के करण (साधना) को प्रमाण कहते हैं। मैं देखता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं दुखी हूँ, मैं यह श्रनुमान से जानता हूँ, मैं यह वेद-शास्त्र से जानता हूं, इस प्रकार के ज्ञान का नाम बोध है। यह बोध यदि यथार्थ हो तो प्रमा कह्ताता है, अयथार्थ हो तो अप्रमा। जस पृत्ति से प्रमा (यथार्थ बोध) उत्पन्न होता है असका नाम प्रमाशा है।

प्रमा का स्टक्षण— इप्निपात (स्ट्रित-भिन्न) अवाधित (रस्सी में सर्प की तरह जो नाशवाम् न हो) इर्घ्य को विषय करने वाले पौरुषेय झान (पुरुषनिष्ट झान) को प्रमा कहते हैं। इसी को यथार्थ अनुभव वा सत्य झान भी कहते हैं। यह प्रमा चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा वा लिङ्ग-झान द्वारा अथवा आप्त-वाक्य अवस्य द्वारा चित्तवृत्ति से उत्पन्न होती है। इसलिये उस चित्तवृत्ति को प्रमा का करण होने से प्रमाण कहा जाता है। वह भ्रमाण-चित्तवृत्ति तीन प्रकार की है:—

१ जो चक्षु त्रादि इन्द्रियों द्वारा विषयाकार चित्र की दृत्ति उदय होती है वह प्रत्यज्ञ-

प्रमाण कहलाती है।

१ जो लिझ-द्वारा उत्पन्न होती है वह अनुमान-प्रमाण कहलाती है।

३ चौर जो स्नाप्त-वाक्य श्रवण द्वारा उत्पन्न होती है वह शब्द-प्रमाण वा स्नागम-

प्रमाण कहलाती है।

इन प्रमाणों से जो पुरुष को झान होता है वह फलश्मा कहलाता है। वह फलश्मा भी चित्तवृत्ति-रूप प्रमाणों के तीन प्रकार के होने से प्रत्यत्त-प्रमा, श्रनुमिति-प्रमा, श्रीर झाब्दी-प्रमा भेद से तीन प्रकार का है।

प्रत्यत्त प्रमाण व प्रत्यत्त प्रमा - प्रह्ण-रूप प्रत्येक झग्नेन्ट्रिय (नासिका, रसना, चिक्क, त्वचा और श्रोज) और प्राह्मरूप उनके विषय (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और ज्ञार होते हैं, इसलिये इन दोनों में एक-दूसरे को आकर्षण करने की शक्ति होती हैं। उदाहरणार्थ जब किसी रूप वाले घटादिक विषय का आँख से आकर्षण होता है तो ऑख की रिश्म उस पर पड़ती है। चित्त का उस विषय में उपराग होने से वह इस नेत्र-प्रणाली द्वारा विषय-देश पर पहुँच कर उस विशेष घटादि के आकार वाला हो जाता है। चित्त के ऐसे घटादिक आकार-विशिष्ट परिणाम को प्रत्यत्त-प्रमाण-पृत्ति कहते हैं। और उसमें जो 'आई घट जानामि' 'में घट-विषयक ज्ञान वाला हैं', इस आकार वाला जो विषय सहित चित्तश्विम् उपर्यान-प्रमाण-पृत्ति का जो विषय सहित चित्तश्विम् उपर्यान-प्रमाण का प्रतिविम्च उस प्रत्यत्त-प्रमाण पृत्ति द्वारा उस पृत्ति जैसा विषय।कार होना है वह प्रत्यत्त-प्रमा कहलाता है। प्रमाण पृत्ति का फल होने से उसको फलप्रमा भी कहते हैं। बही पौरुषेय-बोध अथवा पौरुपेय-ज्ञान है। इस प्रकार व्यक्ति एत्र वशेष आर्थ को विषय करने वाली पृत्ति प्रत्यत्त-प्रमाण है। और उस पृत्ति के अनुसार जो प्रतिविम्ब-रूप पौरुषेय ज्ञान है वह प्रत्यत्त-प्रमाण है। और उस पृत्ति के अनुसार जो प्रतिविम्ब-रूप पौरुषेय ज्ञान है वह प्रत्यत्त-प्रमा है। और वत्त्व में प्रतिविम्बत जो चेतनात्मा (चितिशक्ति) है वह प्रमाता है।

अनुमान प्रमाण च अनुमान प्रमा अर्थात् अनुमिति—लिङ्ग से लिङ्गी का सम्बन्ध सामान्य-रूप से निश्चय करके जो यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो उसको श्रनुमान कहते हैं। उदाहरएा: जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ श्राप्त होती है। जैसे रसोईघर में; श्रीर जहाँ-जहाँ श्राप्त नहीं होती वहाँ-वहाँ धूम नहीं होता, जैसे तालाब में। इस प्रकार धूम से श्राप्त का सम्बन्ध सामान्य-रूप से निश्चित करके पर्वत में धूम को देखकर श्राप्त के होने का जो यथार्थ ह्मान प्राप्त हो, इसको अनुमान-प्रमाण कहते हैं। इस अनुमान-प्रमाण से जो चित्त में परिणाम होता है, उसको अनुमान वृत्ति कहते हैं। उस अनुमान-वृत्ति द्वारा जो चिदात्मा (चिति- शक्ति) का प्रतिबिन्बि-रूप जो पौरुषेय ज्ञान (पौरुषेय बोध) है, वह अनुमिति-प्रमा कहलाता है।

आगम-प्रमाण व आगम-प्रमा—वैद, सत्शास्त्र तथा चाप्त-पुरुष, जो भ्रम, विप्रलिप्सा चादि दोषों से रहित यथार्थवक्ता हों, उनके वचनों को खागम-प्रमाण कहते हैं। वेदों व सत्शास्त्रों को पढ़कर वा सुनकर तथा चाप्त-पुरुषों के वचनों को सुनकर श्रोता के चिक्त में जो परिणाम होता है उसे खागम अथवा शब्दश्रमाण वृत्ति कहते हैं। उस वृत्ति द्वारा जो चिदात्मा (चित्रशक्ति) का प्रतिबिम्ब-रूप पौरुषेय-ज्ञान (पौरुषेय बोध) होता है वह फलप्रमा, शब्दश्रमा कहलाता है।

विशेष वक्तव्य

१ इस सूत्र की व्याख्या में विज्ञान भिक्षु श्रपने योग वार्तिक में प्रत्यन्न प्रमास के सम्बन्ध में लिखते हैं:---

प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाणं हत्तिरेव च ।
प्रमाऽर्थाकार हत्तीनां चेतने पति विम्बनम् ॥
प्रतिविम्बितहत्तीनां विषयो मेय उच्चते ।
हत्तयः सान्तिभास्यः स्युः कारणस्यानपेन्नणात् ॥
सान्नाद्व दर्शनरूपं च सान्तित्वं सांख्य-मूत्रितम् ।
प्रविकारेण द्रष्टृत्वं सान्तित्वं चापरे ज्ञग्रः ॥

अर्थ — शुद्ध चेतन को प्रमाता, बृत्ति को प्रमास, और चेतन में प्रतिविश्चित तदाकार बृत्ति प्रमा कही जाती है। प्रतिविश्चित बृत्तियों के विषय को मेय अर्थात् प्रमेय कहते हैं। करमा अर्थात् इन्ट्रियों की अपेता से रहित बृत्तियें सान्तिभास्य होती हैं। सांख्य सूत्र में सान्नात् दर्शन रूप को सान्ती कहा गया है। किन्तु कोई अविकारी द्रष्टा को हो सान्ती रूप भानते हैं।

शुद्ध चेतन को प्रमाता मानना अधुक्त और श्रुति विरुद्ध है क्योंकि शुद्ध नाम सर्व धर्म रहित का है और प्रमाता नाम प्रमारूप धर्म विशिष्ट का है। इसलिये चिक्त में प्रतिविध्वित चेतन (जीवात्मा) ही प्रमा का आधार होने से प्रमाता है। प्रमारूप बोध शुद्ध चेतन का मुख्य धर्म नहीं है।

अर्थ — ज्ञान, आत्मा (शुद्ध चेतन) का धर्म वा गुण नहीं है। किन्तु यह नित्य सकेंब्यापक शिव चात्मा ज्ञान स्वरूप ही है। "असङ्गोद्धयं पुरुषः" यह (सब का चात्मभूत) पुरुष श्रासङ्ग है "सान्तीचेता केवलो निर्गुएश्व" चेतन पुरुष निर्गुए होने से केवल सान्ती ही है। एवं सांख्य प्रवचन भाष्य में विज्ञान भिक्षु ने भी ऐसा हां लिखा है "पुरुषस्तु प्रमा-साक्ष्येव न प्रमाता"। (साख्य सू० ८७) पुरुष प्रमाका सान्ती ही है प्रमाता नहीं।

तथा--- "कन्निपतं दर्शन कर्तृत्वं वस्तुतस्तु बुद्धः साच्येव पुरुषः" (सा० २।२०)

अर्थ—पुरुष में दर्शन कर्तृत्व कल्पित् है और सावित्व वास्तव है।

इसलिये इसकी व्यवस्था निम्न रूप से समकता चाहिये।

प्रत्यक्ष-प्रमाण-प्रत्यत्त-प्रमाण के सम्बन्ध में: प्रमाण, प्रमेय प्रमा, प्रमाता, श्रीर सात्ती भेद से पांच पदार्थ माने जाते हैं:-

१ जिस प्रकार तालाब आदि का जल प्रणाली द्वारा चेत्र में जाकर चेत्राकार हो जाता है उसी प्रकार चित्त का नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा बाह्य विषय घटादि से सम्बद्ध होकर उस घट श्रादि श्राकार रूप परिणाम को प्राप्त होने पर जो 'श्रयं घटः' 'यह घट है' इस घटादि आकार वाली चित्तावृत्ति होती है वह बौद्धप्रमा कही जाती है। इस प्रमा का विषय-सम्बन्ध नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न होता है, इसिलिये इसको 'प्रमाण' कहते हैं।

२ उरोक्त घटादि आकार वाली चित्तवृत्ति का विषय घटादि 'प्रमेय' कहलाता है।

३ पुरुषनिष्ट बोध फल होने से किसी का करण नहीं है इसलिय वह केवल 'प्रमा' कहलाता है।

४ बुद्धि-प्रतिबिम्बित चेतन जो इस प्रमा का श्राश्रय है वह प्रमाता कहा जाता है।

५ श्रीर बुद्धि-बृत्ति उपिहत जो शुद्ध चेतन है वह साची है।

अनुमान प्रमाण — लिङ्ग-लिङ्गी, साधन-साध्य ध्रथवा काये-कारण के सम्बन्ध से जो यथाये झान उत्पन्न हो, उसे अनुमान कहते हैं। अनुमान तीन प्रकार का होता है: पूर्वेबत्, रोषवत् श्रोर सामान्यतोदृष्ट ।

े र पूर्ववत्—जहाँ कारण को देखकर कार्य का अनुमान हो, जैसे बादली को देख कर होने वाली वर्षा का अनुमान।

२ शेषवत्—कार्य से कारण का अनुमान, जैसे नदी के मटीले पानी को देखकर प्रथम हुई वर्षा का अनुमान।

३ सामान्यतोद्ध—जो सामान्य रूप से देखा गया हो परन्तु विशेष रूप से न देखा गया हो, जैसे घट (बनी हुई मिट्टी का पड़ा) को देखकर उसके बनाने वाले कुम्हार का श्रमुमान । क्योंकि प्रत्येक बनी हुई वस्तु का कोई चेतन निमित्त-कारण सामान्य-रूप से देखा जाता है।

श्रतुमान के सम्बन्ध में इतना जान लेना श्रावश्यक है कि लिङ्ग-लिङ्गी श्रधीत् साधन-

साध्य का जिस धर्म-विरोष के साथ सम्बन्ध होता है वह व्याप्ति कहलाता है। त्रोर ऐसे सम्बन्ध होने के ज्ञान को व्याप्ति-ज्ञान कहते हैं। लिङ्ग के प्रत्यन्त होने पर अप्रत्यन्त लिङ्गी का इस व्याप्ति-ज्ञान से अनुमान किया जाता है। जैसे धूम व त्राप्ति के सम्बन्ध होने कं ज्ञान से विरोषरूप से धूम को देखकर यह निश्चय करना कि जहां ऐसा पूम होता है वह बिना अभि के नहीं होता, इस व्याप्ति ज्ञान से धूम के प्रत्यत्त होने से श्रप्रत्यत्त अभिका जानना अञ्चलन है।

श्रातुमान का मूल प्रत्यन्त ही है, क्योंकि पूर्वप्रत्यन्त द्वारा श्रातुमान होता है। यदि प्रत्यन्त विकार दोष-संयुक्त हो तो श्रातुमान भी मिथ्या हो जाता है। इन्द्रिय व श्रर्थ के सिंभकर्ष से उत्पन्न भ्रान्ति-दोष से रहित झान प्रत्यन्त कहलाता है। भ्रान्ति-दोष के निम्न कारण होते हैं:—

१ विषयदोष - पदार्थ इतनी दूर हो जिससे यथार्थ ज्ञान में भ्रम उत्पन्न हो; पदाथ ऐसी अवस्था में रक्खा हो जिससे यथार्थ ज्ञान में भ्रान्ति उत्पन्न हो। द्रश और दृश्य के मध्य में शीशा श्रादि कोई ऐसी वस्तु श्रा जावे जिससे दृश्य श्रपने वास्तविक रूप में न दिखलाई सके।

२ इन्द्रिय-दोष — जैसे काम्ल (पीलियां) रोग वाले को सब वस्तुएँ पीली दीखर्ती हैं। ३ मनोदोष—मन के श्रसावधान तथा श्रस्थिर होने से पदार्थ का ठीक-ठीक ज्ञान

नहीं होता है।

हाय्यु-प्रमाण — अलौकिक विषय में वेद ही प्रमाण हो सकते हैं, इसीलिये इस प्रमाण का नाम आगम प्रमाण है। वेद के आश्रित जो ऋषि, सुनि और आषायों के वचन हैं वे भी इसी प्रमाण के अन्तर्गत हैं। लौकिक विषय में भी आप्तपुरुष ही प्रमाण हो सकते हैं। आप्त-पुरुष तत्त्ववेत्ता होते हैं, जिनके जानने और कहने में (ज्ञान और क्रिया में) कोई दोष नहीं होता, अर्थात् जिनका ज्ञान आन्ति-दोष (जिसका अनुमान-प्रमाण के सम्बन्ध में वर्णन कर दिया है) से युक्त न हो तथा जिनमें विप्रलिप्सा (धोखे में डालने का) दोष न हो।

कई त्राचार्यों ने उपमान, त्रार्थापित, सम्भव, श्रभाव, ऐतिह्य और संकंत को श्रलग प्रमाण माना है, जैसे मीमांसा ने प्रत्यस्, श्रनुमान, श्रागम, उपमान, श्रनुपलिय (श्रभाव) और श्रर्थापित ये छः प्रमाण माने हैं; न्याय ने प्रत्यस्, श्रनुमान, श्रागम और उपमान ये बार प्रमाण माने हैं। किन्तु दर्शनकारों में प्रमाण के सम्बन्ध में यह कोई विशेष मतभेद नहीं है। केवल स्थूल बुद्धिवालों को वर्णन शैली की बाह्य प्रणाली को देखकर श्रविवेक के कारण परस्पर विरोध होने का अक होता है क्योंकि यह सब इन तीनों प्रमाणों के श्रन्दर ही बा जाते हैं। जैसे प्रसिद्ध पदार्थ के साहश्य से साध्य के साधने को 'उपमान'' कहते हैं; वह श्रनुमान के श्रन्दर श्राजाता है। जो बात अर्थ से निकल आवे उसे 'श्रर्थापत्ति' कहते हैं; जैसे राम के घर पर यदि उसे पुकारें और उत्तर मिले कि 'वह घर नहीं हैं', तो यहाँ 'ख्रार्थान् बाहर हैं', यह श्रपने-श्राप झात हो जाता है। यह भी श्रनुमान के श्रन्दर आ जाता है। एक बात से दूसरी बात का जहाँ सिद्ध होना सम्भव हो उसे 'सम्भव' कहते हैं। जैसे 'राम करोइपति है' इससे लखपित होना सिद्ध है। यह भी श्रनुमाम के श्रन्तर्भत हैं। पर वस्तुतः यह प्रत्यक्त हो होना है। पर वस्तुतः यह प्रत्यक्त हो है, क्योंकि जिस वस्तु का झान जिस इन्द्रिय से प्रत्यक्त होता है। एक वसका श्रमाव भी उसी से प्रत्यक्त हो लोता है। इसलिय 'श्रभाव' प्रत्यक्त होता है उसका श्रमाव भी उसी से प्रत्यक्त हो जाता है। इसलिय 'श्रमाव' प्रत्यक्त समाव की अन्तर्भत है 'ऐतिह्यू'—

'जो परम्परा से कहते चले आते हों'। इनमें कहने वाले का निश्चय न होने से यह झान संशय वाला होता है, इसलिये यह प्रमाण नहीं। और यदि कहने वाले का आस-पुरुष होना निश्चय हो जावे तो शब्द-प्रमाण के अन्दर आ जाता है। नियत इशारों से अपने अभिप्रायों के एक-दूसरे पर प्रकट करने को 'संकेत' कहत हैं। यह भी अनुमान के अन्दर आजाता है, क्योंकि संकेत नियत किया हुआ चिह्न हैं। इस प्रकार तान ही प्रमाण सिद्ध होत हैं जो सांख्य तथा योग।चार्यों ने माने हें। अन्य सब इन्ही के अन्तरोत हो जाते हैं।

संगति-विपर्यय-वृत्ति का वर्णन करते हैं:-

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रस्पपतिष्ठम् ॥ = ॥

हाच्दार्थ — विपर्ययः = विपर्यय । सिध्याझानम् = मिध्या झान है । श्र-तद्-रूप-प्रति-श्वम् = जो उसके (पदार्थ के) रूप में प्रतिष्ठित नहीं है श्वर्थात् जं। उस पदार्थ के वास्तविक रूप को प्रकाशित नहीं करता है।

अन्वयार्थ - विषयेय मिथ्या-झान है जो उस पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठित नहीं है।

क्याख्या—सूत्र में 'विपयेय' लहा है, 'मिश्था ज्ञान' लहाए है और 'ऋतवृस्प प्रति-छुद् हेतु है। 'ऋतवृस्प प्रतिष्ठप्' विकल्प में भी हेतु (कारए) है। इसलिये विकल्प बूरिा में ऋतिक्याप्तिवोष के निवारणार्थ अर्थात् विकल्प सं विपर्यय में भिन्नता दिखलाने के लिये, विपर्यय वृत्ति के लहाएा मैं मिश्या ज्ञान पद दिया गया है।

विषय के समान आकार से परिगात चित्तवृत्ति को प्रभागः; और विषय से विलन्नगा

श्राकार से परिएत चिरावृत्ति को विपर्यय समभाना चाहिये।

मिध्या-ज्ञान छर्थान् जैसा छर्थ न हो वैसा उत्पन्न हुष्मा ज्ञान विपर्यय कहलाता है। जैसे सीप में चाँदा का ज्ञान, रुजु (रस्सी) में सर्प का छ्यथवा एक चन्द्र में ढिचन्द्र का ज्ञान । क्योंकि वह उसके रूप में प्रतिष्ठ (श्वित) नहीं होता। प्रश्नीत् उसके छ्यसती रूप को प्रकाशित नहीं करता। जो ज्ञान वस्तु के यथार्थ रूप से कभी भी न हटकर वस्तु के यथार्थ रूप को ही प्रकाशित करता है वह 'तद् रूप प्रतिष्ठित' वस्तु के रूप में प्रतिष्ठित (श्वित) होने के कारण सत्य-ज्ञान, यथार्थ ज्ञान छर्थान् प्रमाण कहलाता है। जहां वस्तु अन्य हो खौर चिरावृत्ति। छन्य प्रकार की हो वहाँ विरा की वृत्ति। उस वस्तु के यथार्थ रूप में प्रतिष्ठित (श्वित) नहीं होती है। इसलिये वह छतद् रूप प्रतिष्ठित होने के कारण विपर्यय-ज्ञान कहलाता है। मान यह है कि जिस प्रकार पिघली धातु किसी सौं में ढाल देने से वैसे ही छाकार को धारण कर लेती है, तैसे ही चिर्च भी बाह्य वस्तु से सम्बद्ध हुष्णा संयुक्त वस्तु के समान छाकार से परिणत हो तदाकार हो जाता है। यह चिर्च का विवयाकार परिणाम ही प्रमाण-ज्ञान वा प्रमाण-वृत्ति कहलाता है। यह विरा का विवयाकार परिणाम ही प्रमाण-ज्ञान वा प्रमाण-वृत्ति कहलाता है। यह विरा का विवयाकार परिणाम ही प्रमाण-ज्ञान वा प्रमाण-वृत्ति कहलाता है। यह विरा की वस्तु किसी दोष के कारण सौंचे के छाकार से विलक्षण प्रथवा विपरीत हो ज.वे तो वह वस्तु का आकार-दोष विशिष्ट होने से ख्यू प में ध्यक्त हुष्मा दृष्ति कहलाता है। इसी प्रकार सदि वस्तु के आकार से चिर्च किसी दोष के कारण स्वातिष्ठित हुष्टा दृष्ट किसी दोष के कारण स्वातिष्ठ हुष्णा दृष्ति किसी दोष के कारण

विलच् श्रथवा विपरीत अथवा भित्र प्रकार की हो जावे तो वह वृत्ति का आकार भी बस्तु के समानाकार न होने से स्वरूप में प्रतिष्ठित न होने के कारण दृषित, मिथ्या वा भ्रान्ति-क्वान कहा जाता है, जैसा कि सीप में चाँदी का ज्ञान, रस्सी में सर्प का ज्ञान अथवा एक चन्द्र में द्विचन्द्र का ज्ञान। किसी वस्तु से विलच्चण अथवा विपरीत चित्ता के आकार को ही विपर्यय-ज्ञान कहते हैं। अर्थात् विषय के समानाकार से परिणत चित्त्वश्ति को प्रनाण और विषय से विलच्चण अथवा विपरीत अथवा भिन्न आकार से परिणत चित्त्वश्ति को विपर्यय कहते हैं।

अथवा जो ज्ञान निज-रूप में प्रतिष्ठित नहीं है वह अतद्-रूप-प्रतिष्ठ कहा जाता है। अर्थात् सीप में जो सीप का ज्ञान, रज्जु में जो रज्जु का ज्ञान और चन्द्र में जो एकचन्द्र ज्ञान है वह निज-रूप में प्रतिष्ठित होने से प्रमाण-ज्ञान है, और जो सीप में चाँदी का ज्ञान, रज्जु में सपे का ज्ञान वा एक चन्द्र में द्विचन्द्र का ज्ञान है वह उत्तर (अगले) काल में होने वाले यथार्थ ज्ञान से वाधित होने के कारण निज-रूप में अप्रतिष्ठित है क्योंकि उत्तर-कालिक (आगे होने वाला) ज्ञान स्वरूप से प्रस्कुत कर उसकी प्रतिष्ठा को मङ्ग करने वाला है। इसलिए रज्जु-विषयक रज्जु-ज्ञान किसी ज्ञान से वाधित न होने से स्वरूप-प्रतिष्ठित होने के कारण विषयं ज्ञान हो। से स्वरूप-प्रतिष्ठित होने से स्वरूप में अप्रतिष्ठित होने के कारण विषयं ज्ञान है।

जिल प्रकार विश्यय-ज्ञान रूपाप्रतिष्ठित है वैसे ही संशय भी उत्तरकालिक ज्ञान से

षाधित होने से रूपाप्रतिष्ठित है। इसलिये संशय भी विषय्य के अन्तरोत है।

यह विपर्यय-संज्ञक (नामवाली) चित्त की युत्ति ही श्रविद्या कही जाती है। इस लिय श्रविद्या-संज्ञक विपर्यय ज्ञान, श्रविद्या, श्रास्तिता, राग, द्वेष श्रीर श्रमिनिवेश भेद से पाँच प्रकार का है जिनका पञ्चक्लेश के नाम से (२-३) में वर्षान किया जायगा। भेद फेवल इतना है कि यह विपर्यय चित्त की एक युत्ति रूप है श्रीर क्लेश युत्तियों के संस्कार रूप होते हैं।

टिप्पणी—श्रिवण, श्रिस्मता, राग, द्वेष श्रीर श्रिभिनिवेश क्लेशों के ही सांख्य-परिभाषा में क्रम से तमस् मोह, महामोह, तामिस्र श्रीर श्रन्थतामिस्र नामान्तर हैं।

तमो भोहो महामोहस्तामिस्रोह्मन्थसंह्रकः । अविद्या पंचपर्वेषा सांख्ययोगेषु कीर्तिता॥

अर्थ – तमस् (श्रविद्या), मोह (श्रिक्मता), महामोह (राग), तामिस्न (द्वेष) श्रौर श्रम्थनामिस्न (श्रभिनिवेश), यह सांख्य श्रौर योग में पंचपत्री श्रविद्या कही गई है। यह तमस् श्रादि श्रवान्तर भेद से बासठ पकार के हैं, जैसा कि सांख कारिका में बतलाया है।

भेदस्तमसोऽष्टविषो मोइस्य च दशकियो महामोइः । तामिस्रोऽष्टादशघा तथा भवत्यन्त्रतामिस्रः ॥ (सा॰ का॰ ४८) अर्थ-तमस् और मोह का आठ आठ प्रकार का भेद है। महामोह दश प्रकार का है। तामिस्र और अन्यतामिस्र अठारह अठारह प्रकार के हैं।

तमस् (अविद्या) — प्रधान, महत्तत्व, अहङ्कार, और पाँच तन्मात्राएँ; इन आठ अनात्म प्रकृतियों में आत्मश्चान्ति रूप अविद्या —संज्ञक तम आठ विषय वाला होने से आठ प्रकृति का है।

मोह (श्रस्मिता)—गौराफत रूप श्रामि —र्महिमा श्रादि श्राठ ऐश्रवों में जो परम पुरुषार्थ भ्रान्तिरूप झान है वह श्रस्मिता—संझक मोह कहलाता है। यह भी श्रामिमा श्रादि (२-४५) के श्राठ भेर से श्राठ प्रकार का है।

माहमाह (राग) — शब्द स्पर्श, रूप, रस, गन्ध संज्ञक लौकिक स्त्रौर दिव्य विषयों में जो अनुराग है वह राग संज्ञक महामोह कहा जाता है। यह भी दश विषय वाला होने

से दश प्रकार का है।

तामिस्न (द्वेष) उपरोक्त आठ ऐश्वयों और दश विषयों के भोगार्थ प्रवृत्त होने पर किसी प्रतिबन्धक से जो इन विषयों के भोगलाभ में विन्न पड़ने से जो प्रतिबन्धक विषयक द्वेष होता है वह तामिस्न कहलाता है। वह नामिस्न आठ ऐश्वयों और दिव्य खदिच्य दश विषयों के प्रतिबन्धक होने से अठारह प्रकार का है।

अन्धतामिस्न (अभिनिवेश)—बाठ प्रकार के ऐश्वर्य श्रीर दश प्रकार के विषय-भोगों के उपस्थित होने पर भी जो चित्त में यह भय रहता है कि यह सब प्रलयकाल में नष्ट हो जायेंगे; यह अभिनिवेश अन्धतामिस्न कहलाता है। अभिनिवेश-रूप अन्धता -मिस्न भी उपर्युक्त अठारह के नाश का भय-रूप होने से अठारह प्रकार का है।

यह सब अज्ञान-मूलक और दु:ख जनक होने से अज्ञान, श्रविद्या, विपर्यय-ज्ञान, भिथ्याज्ञान, भ्रान्तिज्ञान और क्लेश श्रादि नामों से कहे जाते हैं।

विशेष वक्तव्य — विषयेष वृत्ति किस प्रकार अविलय रूप हो सकती है ? इस शंका को बहुआ जिज्ञासुओं से सुना गया है । इसलिये उसके कुछ उदाहरणों को यहाँ दे देना आवश्यक प्रतीत होता है । यह सारा त्रिगुणात्मक जगत् 'अविद्या है' । 'माया है', 'खप्न है', 'शून्य है', 'विज्ञान है' इत्यादि करवनायें 'अविद्यावादी', 'मायावादी', 'स्वप्नवादी' 'शून्यवादी' 'विज्ञानवादी', इत्यादियों की अममृलक, अयथार्थ और विषयेय रूप है क्योंकि त्रिगुणात्मक जब्तत्व को 'अविद्या' 'माया' अथवा 'शून्य' मानने में उसी के अन्तर्गत होने के कारण सारे वेद शास्त्र, साधन, सम्पत्ति, पुरुपार्थ, योग अभ्यास और खयं ये सिद्धान्त और युक्तियां भी 'अविद्या' 'माया' स्वप्न अथवा शून्य रूप होकर विपर्यय सिद्ध होंगी और सारे सांसारिक तथा पारथार्मिक व्यवहार दृषित हो जायंगे । इसलिये त्रिगुणात्मक जब्तत्व को 'अविद्या' 'माया' स्वप्न अथवा शून्य मानना विपर्य वृत्ति है । वास्तव में इस त्रिगुणात्मक जब्तत्व को आत्मा से मिन्न अनात्मतत्त्व मानना ही प्रमाण वृत्ति है । इस अनात्मतत्त्व में आत्मा का मान होना अर्थात् वसमें आत्म अध्यास रूप विपर्यय वृत्ति है । इस अनात्मतत्त्व में आत्मा का मान होना अर्थात् वसमें आत्म अध्यास रूप विपर्यय वृत्ति हो सारे वन्धनों का कारण होने से अत्यन्त क्लाष्ट रूप है । इस अनात्म तत्त्व में आत्म कौर परम

पुरुषार्थ है । इसलिये छप्युक्त 'छविद्याषादी' 'मायावादी' स्वप्रवादी' और 'शून्यवादियों' की विपर्थय पृत्ति बाह्य वाद विदाद को छोदकर अन्तर्भेख होते समय जड़ तत्त्व से आत्म-अध्यास हटाने में साधन रूप से जब सहायक हो तो अक्लिप्ट रूप धारण कर लेती है । इसी प्रकार विज्ञान अर्थात् चित्त, आत्मा को बाह्य जगत दिखलाने के लिये त्रिगुणात्मक करण अर्थात् साधन रूप ही है । इसलिये अतिरिक्त बाह्य जगत को न मानना भी विपर्यय है । किन्तु अन्तर्भुख होते समय जब साधन रूप से जड़ तत्त्व से आत्म अध्यास हटाने में सहायक हो तब यह विपर्यय पूर्ति भी अक्लिप्ट रूप धारण कर लेती है ।

संगति विंकल्प-वृत्ति का लक्त्या बतलाते हैं:

शन्दाज्ञानानुपाती बस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—शब्द-झान-श्रजुपाती = शब्द से उत्पन्न जो झान; उसका श्रजुगामी अर्थात् उसके पीछे चलने का जिसका स्त्रभाव है (श्रीर जो); वस्तुगृत्यः = वस्तु से शृत्य है, वस्तु की सत्ता की श्रपेद्मा नहीं रखता है श्रर्थात् जो निर्विषय है (इस प्रकार का झान); विकल्प = विकल्प कहलाता है।

अन्वयार्थ—इध्द से जलक जो ज्ञान; उसके पीछे चलने का जिसका खभाव हो चौर जो वक्ष्य की सत्ता की चपैका न रखता हो चर्थात् जो निर्विषय हो; इस प्रकार का ज्ञान विकल्प कहलाता है।

द्याल्या-शब्द के ज्ञान के अनन्तर उदय होने वाला जो निर्विषयक चित्त का तदाकार परिगाम है वह विकल्प वृत्ति कहलाता है। यह वृत्तिनिर्विषयक होने के कारगा प्रमाणवृत्ति से भिन्न है, और यह विपर्यय वृत्ति भी नहीं है क्योंकि बोध होने पर भी इसका व्यवहार चलता रहता है। जैसे 'पुरुष का चैतन्यरूप है' ऐसे शब्द ज्ञान के अनन्तर जो 'पुरुष का चैतन्य रूप है, ऐसा चित्त का तदाकार परिणाम विकल्प वृत्ति है, क्योंकि इस प्रति में पुरुष विशेषण-रूप और चैतन्य विशेष्य-रूप भासता है। परन्तु जैसे 'अरव का घोडा' कहने से एक ही पदार्थ में विशेषण-विशेष्य-भाव सम्भव नहीं है. वैसे ही पुरुष में जो कि चैतन्य ही है विशेषए-विशेष्य-भाव नहीं है। इसलिये 'पुरुष का चैतन्य रूप हैं। यह ज्ञान निर्विषय होने से विकल्पवृत्ति-रूप है। 'चैतन्य ही पुरुष है। ऐसा बोध होने पर भी । पुरुष का चैतन्य रूप हैं ऐसा व्यवहार होता है। इस ने यह विपर्ययवृत्ति रूप नहीं है। इसी प्रकार 'अनुत्पत्तिधर्मा पुरुषः' इस शब्दज्ञान के अनुन्तर 'उत्पत्तिरूप धर्म के अभाव वाला परुष हैं' ऐसा जो ज्ञान उदय होता है वह भी विकल्प-वृत्ति है, क्योंकि भाव-पदार्थ से अन्य कोई अभाव-पदार्थ नहीं है। इसलिये पुरुष में उत्पत्ति-रूप धर्म के अभाव का जान निविषयक है। ऐसा बोध होने पर भी कि 'भाव-पदार्थ से श्रारिक्त कोई श्रभाव-पदार्थ नहीं हैं उक्त शब्द-इन के बल से 'अनुस्पत्तिधर्मा पुरुष:' ऐसा व्यवहार होता ही रहता है। इसलिये 'अनुत्यश्चिमी पुरुषः' 'उत्पत्ति-धर्म के अभाव वाला पुरुष है' यह विपर्ययरूप नहीं है किन्त विकल्पवृश्चि-रूप है।

इसी प्रकार 'राहु का शिर' 'काठ की पुतली' यह झान भी विकल्पवृत्ति है, क्योंकि 'राहु झीर शिर' 'काठ और पुतली' का भेद नहीं है। यह झान भी निर्विषयक होने से विकल्प है। प्रमाण, विपर्यय और विकल्प-वृत्ति के भेद को सरल शब्दों में यों सममना चाहिए कि प्रमाण वस्तु के यथार्थ झान को कहते हैं, जैसे सीप में सीप का झान। यह यथार्थ झान वस्तु के रूप में प्रतिष्ठित होता है जैसे सीप में सीप का झान प्रतिष्ठित है अर्थात् स्थिर है, ठहरा हुआ है, वाध अर्थात् स्थर हटने वाला नहीं। चित्ता में ऐसे तदाकार परिणाम को प्रमाणवृत्ति कहते हैं। विपर्यय वस्तु के मिध्या-झान को कहते हैं जैसे सीप में चाँदी का झान प्रतिष्ठित नहीं है, आरिथर है। सीप के यथार्थ झान हो जाने पर इसका वाध हो जाता है अर्थात् सीप में चांदी का मिध्मा-झान हट जाना है। चित्त में ऐसे तदाकार परिणाम को विपर्ययवृत्ति कहते हैं। विकल्प इन दोनों से विलत्त्त्त्य है। यह वस्तु का यथार्थ झान नहीं है, क्योंकि निर्विषय होता है, अर्थात् कोई वस्तु इस झान का विषय नहीं होती, किन्तु यह केवल शब्दझान के अनन्तर उदय होता है। यह इसमें प्रमाण से भिन्नता है। यह किवल शब्दझान भी नहीं है, क्योंकि जो लोग जानते हैं कि पुरुष और चैतन्य भिन्न-भिन्न नहीं हैं भी ऐसा ही व्यवहार करते हैं। यह इसमें विपर्यय से भेद है।

साधारण लोगों को जिसमें बाधबुद्धि उदय हे वह विपर्यय; और निपुण विद्वानों को विचार द्वारा जिसमें बाधब्द्धान हो वह विकल्प समम्मना चाहिये। यह विकल्पवृत्ति वहाँ होती है जहाँ अभेद में भेद वा भेद में अभेद आरोप किया जाता है। जैसे पुरुष और चैतन्य, राहु और किर, काठ और पुतली; दो दो वस्तु नहीं हैं तथापि इस अभेद में भेद आरोप किया जाता है। लोह और आग, अथवा पानी और आग दो दो वस्तु हैं, तथापि 'लोहे का गोला जलाने वाला हैं। अथवा 'पानी से हाथ जल गया' इस कथन से भेद में अभेद आरोप किया जाता है।

'छाई गृत्ति भी एक विकल्प-गृत्ति ही है, क्योंकि इसमें चेतन और अहङ्कार के भेव में अभेद आरोप किया जाता है, पता, घड़ी, दिन, मास आदि की ज्ञानरूप गृत्तियाँ भी विकल्प गृत्तियाँ हैं, क्योंकि चर्णों के भेद में अभेद का आरोप किया जाता है (३७२)।

गौ खादि शब्दों में शब्द, अर्थ और ज्ञान के भेद में अभेद से भासने वाली धृत्ति भी विकल्प-यृत्ति ही है जिसकी (१।४२) में 'सवितके समापत्ति' संज्ञा की है।

टिप्पणि विज्ञानभिक्ष ने इस सूत्र का ऋथे निम्न प्रकार किया है:--

शब्न झान-अनुपाती = शब्द और झान जिसके पीछे आते हैं। वश्नु-श्न्यः = और वस्तु से जो श्रन्य है। वित्पः = वह विकत्प है। अर्थात् यह झान वस्तु से श्र्न्य है: ऐसा जानने वाले विवेकी भी ऐसा ही कहते और समभते हैं।

संगति--निद्रा-वृत्ति का स्वरूप बतलाते हैं :--

श्रभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥१०॥

शप्दार्थ—स्थान-प्रत्यय-स्थावस्त्रना = (जामत तथा स्वाप्नावस्था की वृत्तियों के) स्थमाव की प्रतीति को स्थाश्य करने वाली । वृत्तिः = वृत्ति । निद्रा = निद्रा है । अन्वयार्थ—(जाप्रत तथा स्वव्नावस्था की वृत्तियों के) स्रभाव की प्रतीति को आश्रय करने वाली वृत्ति निद्रा है ।

व्याख्या - निद्रा 'वृत्ति' ही है; इसको सूचित करने के लिये सूत्र में वृत्ति प्रहरण है। कई श्राचार्य निद्रा को वृत्ति नहीं मानते हैं, किन्तु योग के आचार्य श्रात्मिक्षिति से श्रातिरिक्त चित्त की प्रत्येक श्रवस्था को वृत्ति ही मानते हैं।

'श्रभाव' शब्द से जाव्रत् श्रौर स्वप्नावस्था की वृत्तियों का श्रभाव, श्रथवा गाव्रत्

श्रीर स्वप्त की वृत्तियों के अभाव का हेतु तमोगुरण को जानना चाहिये।

रजोगुण का धर्म क्रिया श्रीर प्रश्नुति है। जायन श्रवस्था में चित्त में रजोगुण प्रधान होता है। इसलिय वह सत्त्वगुण को गौण-रूप से श्रपना सहकारी बनाकर श्रिक्षिर रूप से क्रिया में श्रयंत विपयों में प्रयुत्त करने में लगा रहता है। तमोगुण का धर्म स्थित, दवाना, रोकना श्रयंत प्रकाश श्रीर क्रिया को रोकना है। सुपुप्ति-श्रवस्था में तमोगुण रजस तथा सत्त्व को प्रधान-रूप से दवा लेता है। इसलिये चित्त में तमोगुण का ही परिणाम प्रधान-रूप से होता रहता है। उस समय चित्त में श्रभाव की ही प्रतीति होती है। जिस प्रकार एक श्रन्थेर कमरे में सब वस्तुष्टों क्रिय जाती हैं किन्तु सब वस्तुर्त्रों को छिपाने वाला श्रन्थकार दिखलाई देता है, जो वस्तुर्त्रों के श्रभाव की प्रतीति कराता है, इसी प्रकार तमोगुण सुपुप्ति श्रवस्था में चित्त की सब प्रतियों को दवाकर स्वयं स्थिर-रूप से प्रधान रहता है। किन्तु रजोगुण का नितान्त श्रभाव नहीं होता है, तितक मात्रा में रहता हुश्रा वह इस श्रभाव की भी प्रतीति कराता रहता है। चित्त के ऐसे परिशाम को निदा-उत्ति कहते हैं।

तव चित्त में तमोगुण वाली, 'मैं सोता हूँ' इस प्रकार की वृत्ति होती है। इस वृत्ति के संस्कार चित्त में उत्पन्न होते हैं, फिर उससे स्पृति होती है कि 'मैं सोया और मैंने कुछ नहीं जाना'। यहाँ पर इतना विशेष यह भी जान लेना कि जिस निद्रा में सत्त्वगुण के लेश सहित तमोगुण का प्रचार होता है, उस निद्रा से उठकर पुरुष को 'मैं सुख से सोया, मेरा मन प्रसन्न है और मेरी प्रज्ञा स्वच्छ है' इस प्रकार की स्पृति होती है, और जिस निद्रा में रजोगुण के लेश सहित तमोगुण का सन्धार होता है उससे उठने पर इस प्रकार की स्पृति होता है : 'मैं दुखपूर्वक सोया, मेरा मन श्राह्म इससे उठने पर इस प्रकार की स्पृति होता है : 'मैं उखपूर्वक सोया, मेरा मन श्राह्म उठने पर 'मैं बसुध सोया, मेरा जिस निद्रा में केवल तमोगुण का प्रावल्य होता है तो उससे उठने पर 'मैं बसुध सोया, मेरे शरीर के श्रद्ध भारी हो रहे हैं, मेरा चित्त व्वाकुल है' इस प्रकार की स्पृति होती है। यदि उस वृत्ति का प्रत्यन्त न हो तो उसके संस्कार भी न हों, और संस्कारों के न होने से स्पृति भी नहीं हो सकती। इसलिए निद्रा एक वृत्ति है, वृत्ति मात्र का श्रमाव नहीं है। श्रुति और स्पृतियों ने भी निद्रा को वृत्ति ही माना है।

जाप्रत् खप्न सुषुप्तंच गुणतो बुद्धि हत्तयः।

जाप्रत, स्वप्न श्रौर निद्रा ये गु.गों से बुद्धि की वृक्तियां हैं । एकाप्रता के तुल्य होते हुए भी निद्रा तमोमयी होने से सबीज तथा निर्वीज-समाधि की विरोधनी है इसलिए रोकने योग्यहै। नका तथा क्लोरोफार्म आदि से उत्पन्न हुई मूर्छित अवस्था भी निद्रा-यृत्ति के ही अन्तर्गत है।

विदोष विचार—सुषुप्ति तथा प्रलय-काल में तमागुण प्रधान श्रन्धकार में वित्त का लयहोता है; श्रीर श्रसम्प्रज्ञात समाधि की श्रवस्था मे श्रविद्या त्रादि क्लेशों से रहित पुरुष के निज-रूप में चित्त श्रवस्थित रहता है श्रीर पुरुष स्वरूप में श्रवस्थित होता है।

सुपुप्ति न्यप्टि-चित्तों की श्रवस्था है श्रीर प्रलय समष्टि-चित्त श्रथीत् महत्व की सप्ति है।

असम्प्रज्ञात-समाधि में चित्त में संस्कार-शेष अथात् निरोध के संस्कार रहते हैं जिनके दुर्बल होने पर व्युत्थान अवस्था में लौटना होता है। कैवल्य (मुक्ति) में संस्कार शेष भी निवृत्त हो जाते हैं इसलिय पुनः आवृत्ति नहीं होती।

टिप्पर्णा - 'प्रत्यय' पद का अर्थ ज्ञान, प्रतीति, वृत्ति तथा कारण के भी हैं। वाचस्पति मिश्र ने श्रत्यय पद का 'कारण्' रूप अर्थ मानकर सूत्र का निम्न प्रकार अर्थ किया है:— जामन् तथा स्वप्न की वृत्तियों के अभाव का श्रत्यय (कारण्) जो बुद्धिनिष्ठ सत्त्वगुण् का आच्छादक तमोगुण व अज्ञान है आलम्बन (विषय) जिस चित्तवृत्ति का, वह निद्रा कहलाती है।

संगति - कम से प्राप्त स्मृति का वर्णन करते हैं:-

श्रनुभूतविषयासम्ममोषः स्मृतिः ॥११॥

राव्दार्थ—अनुभूत = अनुभव किये हुए, जाने हुए। विषय = (किसी) विषय का। असम्प्रमोष: = जो जुराया हुआ न हो (फिर चित्त में) उससे श्रधिक का नहीं, किन्तु श्रारोह-पूर्वक तन्मात्र विषयक ज्ञान होना। स्पृतिः = स्पृति है।

अन्वयार्थ — अनुभव किये हुए विषय का फिर चित्त में आरोह-पूबेक उससे अधिक नहीं किन्तु तन्मात्र-विषयक झान होना स्मृति हैॐ।

व्याख्या—स्पृति से भिन्न ज्ञान का नाम अनुभव है अनुभव से ज्ञात (जानी हुई) वस्तु को अनुभूत कहते हैं। जब किसी दृष्ट अथवा श्रुत (देखी वा सुनी हुई) आदि वस्तु को ज्ञान होता है तब एक प्रकार का उस अनुभूत वस्तु का तदाकार संस्कार चित्त में अंकुरित हो जाता है। किर जब किसी समय में उद्बोधक सामग्री के उपस्थित होने पर वह चित्तवृत्ति, संस्कार-प्रफुद्धित हो जाती है तब वह अनुभूत पदार्थ के आकार से चित्त को रंगकर तदाकार ही चित्त का परिएगाम कर देती है। यह अनुभूत पदार्थ विषयक चित्त का तदाकार परिएगाम स्पृति-वृत्ति कहलाता है। प्रएगम, विपर्यय और विकल्प द्वारा जाग्रत अवस्था में जिस किसी वस्तु को अनुभव करते हैं तो उस अनुभव

ॐ विद असुस्प्रमोषः के अर्थ 'न स्त्रीया जाना' छ्यायं तब स्क्राके यह अर्थ होंगे "असुभव किये हुये विषय का न स्त्रीया जाना अर्थात् किसी अभिन्यंजक को पाकर संस्कार-अपुश्चित हो जाना स्मृति है"

से चित्त पर संस्कार पढ़ते हैं। उन संस्कारों से रष्टित होती है। अनुभव-सदश संस्कार होते हैं और संस्कार-सदश स्पृति होती है। निद्रा में अभाव का अनुभव होता है उसके संस्कार से भी उसके सदश स्पृति होती है। इसी प्रकार स्पृति के भी संस्कार पढ़ते हैं और उनसे भी उसके सदश स्पृति होती है। स्पृति का विषय अनुभूति से कम अथवा उसके बराबर हो सकता है, उसस अथवा उसके बराबर हो सकता है, उसस अथवा उसके बराबर हो सकता है, उसस अथवा के अनुभूत पदार्थों की स्पृति है। इसमें जाप्रत के स्मर्तव्य विषय भी उसका इं देते हैं किन्तु वे सब काल्पत होते हैं। इस स्पृति की स्पृति है। इसमें यह यथाथे झान नहीं होता कि इम स्मरण कर रहे हैं। इसको भावित-स्मर्तव्य-स्पृति कहते हैं। जाप्रत अवस्था में जो स्पृति होता है। उसमें स्मर्तव्य विषय नहीं दिखलाई देता; किन्तु हमको झान होता है कि इम स्मरण कर रहे हैं; यह वास्तविक स्पृति है। इसको अभावित-स्मर्तव्य-स्पृति कहते हैं। स्पृति को सब स अन्त में लिखने का कारण यह है कि यह शृत्त प्रमाण, विपर्वय, विकल्प, निद्रा और स्पृति के अनुभव-जन्य संस्कारों से उत्पन्न होती है।

सम्प्रमोष नाम "मुष स्तेय" धातु से तस्करता स्तेय अर्थात् चोरी का है इसिलये असम्प्रमोष का अर्थ तस्करता का अभाव है। जिस प्रकार लोक में पुत्र के लिये पिता से आई। हुई वस्तु का प्रहर्ण करना असम्प्रमोष, अस्तय अर्थात् चोरी नहीं है "कितु दूसरों की आई। हुई वस्तु महर्ण करना (चारी) है, इसी प्रकार अनुभन, स्मरण-ज्ञान का पिता है क्योंकि स्मरण-ज्ञान अनुभव से ही उत्पन्न होता है। अनुभृत विषय अनुभव द्वारा छोड़ी हुई सम्पत्ति के तुल्य है। इसलिय स्मरण-ज्ञान का अनुभृत विषय से अधिक प्रकाश करना सम्प्रमोप (पोरा) अर्थात् स्मरल नहीं है। कवल अनुभृत विषय को ही उसके बराबर अथवा उससे न्यून (कम) प्रकाश करना (अधिक नहीं) असम्प्रमोप है अर्थात् स्मृति है। इसलिये स्मृति का विषय अनुभृत विषय से कता।

यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होता है कि चित्त जो स्मरण करता है वह प्रत्यय-मात्र, (ज्ञानमात्र, प्रह्म्ण-मात्र) का स्मरण करता है वा प्राह्ममात्र (विषयमात्र) वा प्राह्म-प्रह्मण् (विषय और ज्ञान) इन दोनों का स्मरण करता है ? इसका समाधान यह है कि प्रद्यापि ज्ञान-विषयक अनुभन के अभाव से विषय का ही स्मरण होता सम्भव है तथापि यूवे अनुभव को प्राह्म-प्रहृण उभयाकार विशिष्ट होने से उनसे उत्पन्न हुआ संस्कार भी उन दोनों आकारों से संयुक्त होकर प्राह्म-प्रहृण दोनों स्वरूपवाली स्पृति को उत्पन्न करता है एक-विषयक को नहीं। इसलिय ज्ञाब-सम्बद्ध विषय का ही स्मरण होता है; न केवल विषय का अथान अनुभव, आकार, स्मरण; यह तीनों समान ही आकार से भान होते हैं विभिन्न आकार से नहीं। 'अहं घटं-जानामि' में पट-विषयक ज्ञानवाला हूँ, इस अनुभव में घट और ज्ञान दोनों का ही भान होता है। इससे अनुभव-जम्य संस्कार भी दोनों विषयों वाला मानना पड़ेगा। इसी प्रकार इस

संस्कार से उत्पन्न होने वाली स्मृति भी दोनों विषयवाली होगी, एक विषयवाली नहीं। इससे यह सिद्ध हुन्ना कि प्राद्ध और प्रहण इन दोनों का ही स्मृति प्रकाश करती है, एक का नहीं।

यह स्पृति दो प्रकार की हैं: एक भावित-स्मर्तव्य अर्थात् मिथ्या-पदार्थ-विषयक जो कि स्वप्न में होती हैं; और एक अभावित-स्मर्तव्य अर्थात् यथार्थ पदार्थ को विषय करनेवाली जो कि जामत्-काल में होती हैं, जैसा ऊपर व्याख्या में बतला आये हैं।

यह प्रमाणादि पाँचों भेदवाली उपर्शुक्त सूत्रों में बतलाई हुई वृत्तियाँ सात्त्विक, राजस श्रोर तामस होने से सुख, दुःख श्रोर मोहस्वरूप हैं; श्रोर सुख, दुःख श्रोर मोह क्लेशस्वरूप हैं। इसलिये यह सब वृत्तियाँ ही निरोध करने योग्य हैं। मोह स्वयं श्रविद्या रूप होने से सर्व दुःखों का मूल है। दुःख को वृत्तियाँ स्वयं दुःखरूप ही हैं। सुख की वृत्तियाँ सुख के विषयों श्रीर उनके साधनों में राग उत्पन्न कराती हैं। 'सुखानुशर्या रागः' (रा७) 'सुख-भोग के पश्चात् जो उसकी वासना रहती है वह राग हैं। उन सुख के विषयों श्रीर उनके साधनों में विश्व होने पर होता है 'दुःखानुशर्या हेषः' (रा८)। इसलिये क्लेश-जनक सुख, दुःख, मोहस्वरूप होने से सब प्रकार की वृत्तियाँ त्याज्य हैं इनके निरोध होने पर सम्प्र-झात योग सिद्ध होता है। तदनन्तर परवैराग्य के उदय होने से श्रसम्प्रज्ञात-योग सिद्ध होता है।

विशेष विचार:—स्वप्न जागने और सोने के बीच की श्रवस्था है। सूत्र की व्याख्या में स्वप्न में हमने भावित स्मतंत्र्य श्र्यांत् मिथ्या पदाथे विषयक स्मृति का होना बतलाया है। स्वप्न भी श्रन्तःकरण के गुण भेद से तीन प्रकार के हांत हैं। तामिसक स्वप्न राजसिक स्वप्न और सास्विक स्वप्न। जब स्वप्न में तमोगुण की प्रधानता होती है तब कुछ से कुछ विचित्र स्वप्न श्रिय सास्विक स्वप्न। जब स्वप्न में तमोगुण की प्रधानता होती है तब कुछ से कुछ विचित्र स्वप्न श्रिय सास्विक स्वप्न। जा स्वप्न स्वप्न सिक्त है। जिस समय स्वप्न श्रवस्था में रजोगुण श्रविक होता है उस समय जागृत दशा में देखे हुये पदार्थ ही कुछ रूपान्तर से टिष्टगोषर होते हैं और उनकी स्मृत जागने पर रहती है। यह स्वप्न की मध्यम श्रवस्था राजसिक है। ये दोनों प्रकार के स्वप्न भावित स्मतंत्र्य स्मृति वाले होते हैं। जो स्वप्न स्वे होते हैं श्रव्यांत्र जनका फल सवा होता है वे साखिक कहलाते हैं और यह स्वप्न की उत्तम श्रवस्था है। यह श्रविकतर योगियों को होती है और कभी २ सायारण लोगों को भी सत्त्व के उदय होने पर। तम के दवने और सत्त्व के प्रधान रूप से उदय होने के कारण यह स्वप्न की श्रवस्था श्रवस्था अवस्था श्रवस्थात ही एक प्रकार से वितर्कानुगत की भूभि वन जाती है और उस जैसा ही श्रनुभव होने लगता है। इसलिये इस को भावित स्मतंत्र्य स्मृति की कोटि में नहीं रखना चाहिये।

संगति—उपरोक्त सात सूत्रों में पाँचों प्रकार की वृत्तियों का निरूपण् करके स्त्रव भगले सूत्र में उनके निरोध का उपाय बतलाते हैं:—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ-- अध्यास-वैराग्याभ्यां = अध्यास और वैराग्य से । तत्-निरोधः = उनका (वृत्तियों का) निरोध होता है ।

अन्वयार्थ--- श्रभ्यास श्रौर वैराग्य से उन वृत्तियों का निरोध होता है।

व्याख्या—चित्तवृत्ति तिरुद्ध करने के दो उपाय हैं: अभ्यास श्रीर वैराग्य । चित्त का स्वाभाविक बहिर्मुख प्रवाह वैराग्य-द्वारा निवृत्त होता है । अभ्यास-द्वारा आत्मोन्मुख आन्त-रिक प्रवाह स्थिर हो जाता है ।

भगवान् व्यासदेवर्जा ने श्रभ्यास श्रौर वैराग्य को बड़े सुन्दर रूपक से वर्णन किया है जो इस प्रकार है:—

चित्ता एक नदी है, जिसमें वृत्तियों का प्रवाह बहता है। इसकी दो धाराएँ हैं: एक संसार-सागर की खोर, दूसरी कल्याए-सागर की खोर बहती है। जिसने पूर्व जन्म में सांसारिक विषयों के भोगार्थ कार्य किये हैं उसकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विषय-मार्ग से बहती हुई संसार-सागर में जा मिलती है खोर जिसने पूर्व जन्म में कैवल्यार्थ काम किये हैं उसकी वृत्तियों की धारा उन संस्कारों के कारण विवेक-मार्ग में बहती हुई कल्याए-सागर में जा मिलती है। संसारी लोगों की प्रायः पहली थारा तो जन्म से ही खुली होती हैं किन्तु दूसरी धारा को शास्त्र, गुरु, खाचार्य तथा ईश्वरचिन्तन खोलते हैं। पहिली धारा को बन्द करने के लिये विषयों के स्रोत पर वैराग्य का बन्ध लगाया जाता है और ख्रम्यास के बेलचे से दूसरी धारा का मार्ग गहरा खोदकर वृत्तियों के समस्त प्रवाह को विवेक-स्रोत में ढाल दिया जाता है। तब प्रवल वेग से वह सारा प्रवाह कल्याए-रूपी सागर में जाकर लीन हो जाता है। इस कारए ख्रम्यास तथा वैराग्य दोनों ही इक्ट्रे मिलकर चित्त की वृत्तियों के तरोध के साधन हैं।

जिस प्रकार पत्ती का त्राकाश में उड़ना दोनों ही पत्तों के त्राधीन है, न केवल एक पत्त के। इसी प्रकार समस्त वृत्तियों का निरोध न केवल अभ्यास से ही त्रौर न केवल वैराग्य से ही हो सकता है, किन्तु उसके लिये अभ्यास ख्रौर वैराग्य दोनों का ही समुचय होना आवश्यक है।

तमोगुण की अधिकता से चिरा में लय-रूप निद्रा, आलस्य, निरुत्साह आदि मूढ़ा-बस्था का दोष उत्पन्न होता है, और रजोगुण की अधिकता से चिरा में चश्वलतारूप विचेष दोष उत्पन्न होता है। अभ्यास से तमोगुण की निवृत्ति होती है, और वैराग्य से रजोगुण की।

सूत्र २१२८ में बतलाए हुए योग के खाठ खड़ों में से यम, नियम, खासन, प्राणा-णम, प्रत्याहार; जो पाँच बहिरङ्ग हैं उनकी सिद्धि में खभ्यास ऋषिक सहायक होता है खौर तीन खन्तरङ्गः धारणा, ध्यान खौर समाधि में वैराग्य।

गीता में श्रीकृष्णुजी ने भी अर्जुन को, मन को रोकने के श्रभ्यास, वैराग्य दोनों ही समुख्य रूप से साधन बतलाए हैं।

असंश्यं महाबाहो मनो दुनिग्रहं चलम् । अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृहाते ॥ (गीता १.१६५) असंयतात्मना योगो दुष्पाप इति मे मतिः। वश्यात्मना तु यतता शाखाऽबाप्तुमुपायतः॥ (गीता ६।३६)

अर्थ — हे महावाहो ! निस्सन्देह मन चश्चल और कठिनता से वश में होने वाल है; परन्त हे क़न्तीपुत्र अर्ज न ! अभ्यास और वैराम्य के द्वारा वश में हो जाता है !

मन को वश में न करने वाले पुरुष द्वारा योग प्राप्त होना कठिन है, यह मैं जानता हूं; किन्तु स्वाधीन मन वाले प्रयक्षशील पुरुष द्वारा साधन करने से प्राप्त हो सकता है।

संगति—वृत्तियों को रोकने के उपाय अभ्यास श्रौर वैराग्य में से प्रथम श्रभ्यास का स्वरूप और प्रयोजन अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥

दाव्दार्थ—तत्र = उन दोनों अभ्यास श्रीर वैराग्य में से । श्यिती = चित्त की श्रिति में । यत्रः = यत्र करना । अभ्यासः = अभ्यास है ।

अन्वयार्थ - उनमें से चित्त की स्थिति के विषय में यत्न करना श्रभ्यास है।

च्याख्या—चित्त के दुत्ति-रहित होकर ज्ञान्त प्रवाह में बहने को स्थिति कहते हैं। उस स्थिति के प्राप्त करने के लिये वीर्य (पूर्ण सामर्थ्य) और उत्साहबूर्वक यन्न करना रूभ्यास कहलाता है। यम, नियम खादि योग के खाठ खड़ों का बार-बार खनुष्ठान-हुप प्रयन्न ख्रभ्यास का स्क्हप हैं: और चित्तवृत्तियों का निरोध होना ख्रभ्यास का प्रयोजन हैं।

पठन-पाठन, लेखन, पाक, क्रय-विक्रय, सीवन, नृत्य-गायन त्र्यादि सर्व कार अध्यास से ही सिद्ध होते हैं। अध्यास के बल से रस्सी पर चढ़े हुए नट, तथा सरकस त्रादि में न केवल मनुष्य किन्तु सिह, त्रश्न आदि पशु अपनी प्रकृति के विक्रद्ध आध्यर्य-जनक कार्य करते हुए देखे जाते हैं। अध्यास के प्रभाव से श्राति दु:साध्य कार्य भी सिद्ध हो सकते हैं। इसलिये जब मुमुक्षु चित्त की स्थिरता के लिये त्रध्यास-निष्ठ होगा तो वह स्थिरता भी उसको श्रवस्य प्राप्त होकर चित्त वशीभृत हो जायगा; क्योंकि श्रध्यास के श्रागे कोई कार्य दुष्कर नहीं है।

संगति—राजस-तामस वृत्तियों के श्रनादि प्रबल संस्कार चित्त की एकामता के विरोधी हैं। उनसे प्रतिबद्ध (धिरा हुत्र्या) श्रभ्यास एकामता-रूप श्विति सम्पादन कराने में कैसे समर्थ होगा ? इस शङ्का की निवृत्ति श्रमले सूत्र में श्रभ्यास के हद-भूमि होने से बतलाते हैं।

स तु दीर्घकाल नैरन्तयं सत्कारासेवितो हुरूपृभिः ॥ १४ ॥

राष्ट्रार्थ-सः = वह (पूर्वोक्त अभ्यास)। तु = किन्तु। दीर्घकाल = बहुत काल पर्य-न्त। नैरन्तर्य = निरन्तर अर्थात् लगातार व्यवधान-रहित। सत्कार-आसेवितः = सत्कार से ठीक-ठीक सेवन किया हुआ अर्थात् श्रद्धा, वीर्य, भक्ति-पूर्वक अनुष्ठान किया हुआ । दृदुभूमिः = दृद् अवस्था वाला हो जाता है ।

अन्वयार्थ—किन्तु वह पूर्वोक्त अध्यास दीर्घ काल-पर्य्येन्त निरन्तर व्यवधान-रहित ठीक-ठीक श्रद्धा, वीर्य भक्ति-पूर्वक अनुष्ठान किया हुआ हट अवस्था वाला हो जाता है।

व्याख्या—विषयभाग-वासनाजन्य व्युत्यान के संस्कार मनुष्य के चित्त में श्रनादि जन्म-जन्मान्तरों से पड़े चले श्रा रहे हैं उनका थाड़े से ही समय में बीज-सिहत नष्ट कर देना श्रायन्त कठिन है। वे निरोध के संस्कारों को तिनक-सी भी श्रसावधानी होने पर दवा सकते हैं। इस कारण श्रभ्यास को टढ़भूमि बनाने के हेतु धैर्य के साथ दीर्घ काल-पर्य्यन्त लगातार श्रद्धा श्रीर उत्साह-पूर्वक प्रयत्न करते रहना चाहिये।

सूत्र में तीन विशेषण से किया हुआ अभ्यास इंडमूमि अर्थात हुढ अवस्था वाला बतलाया है। (१) पहिला विशेषण दीर्घ काल है। वहाँ दीर्घ-काल से दस-बीस श्रादि वर्षों का नियम नहीं है, क्योंकि योग के ऋधिकारी भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं । जिन्होंने पूर्व जनमों में अभ्यास के संस्कारों को हुदू कर लिया है और जिनका वैराग्य भी तीत्र है, उनको जीव वा श्रति जीव समाधि-लाभ प्राप्त होता है। इतर-जनों को जीव समाधि-लाभ प्राप्त नहीं होता । उन्हें निराश न होना चाहिये किन्तु धैर्थ के साथ चिरकाल तक एकाप्रता-निमित्त दृढ श्रवस्था के लिये श्रभ्यास का सेवन करते रहना चाहिये । (२) दुसरा विशेषण 'नैरन्तर्य' है त्रर्थात अभ्यास को लगातार निरन्तर व्यवधान-रहित करते रहना चाहिए । ऐसा न हो कि एक मास श्रभ्यास किया, फिर दस दिन के लिये छोड़ दिया, फिर तीन मास किया. पुनः एक मास बन्द कर दिया: इस प्रकार व्यवधान के साथ किया हुआ अभ्यास बहुत समय में भी दृद्भुमि नहीं होता। इसलिये बिना व्यवधान के श्रभ्यास को निरन्तर करते रहना चाहिये। (३) तीसरा विशेषण 'सत्कारासेवितः' है अर्थात् वह अभ्यास ठीक-ठीक सत्कार-पूर्वेक श्रद्धा, भक्ति, वीर्या, ब्रह्मचर्य श्रीर उत्साह-पूर्वेक श्रद्धा, भक्ति, वीर्या, ब्रह्मचर्य श्रीर उत्साह-पूर्वेक श्रद्धा, भक्ति, वीर्या, ब्रह्मचर्य श्रीर उत्साह-पूर्वेक तक निरन्तर सेवन किया हुआ अभ्यास भी बिना इस विशेषण के दृढ़ अवस्था वाला न हो सकेगा। इन तीनों विशेषणों से युक्त श्रभ्यास न केवल व्युत्थान-रूप राजस-तामस वृत्तियों के संस्कारों से प्रतिबद्ध न हो सकेगा, किन्तु इन संस्कारों को तिरोध्त करके चित्त की श्यिरता-रूप प्रयोजन के सिद्ध करने में समर्थ होगा।

अत: अभ्यासी जनों को थोड़े काल में ही अभ्यास से घवरा न जाना चाहिए, किन्तु दढभूमि-प्राप्ति के लिए दीर्घ काल निरन्तर सत्कार से अभ्यास करते रहना चाहिये।

विशेष बिचार—श्रद्धा तीन प्रकार की बतलाई गई है।

यथाः — त्रिविधा भवति श्रद्धा देहि-मक्रुति-भेदतः । सात्विकी राजसी चैत्र तामसीति बुशुत्सवः ॥ तासान्तु लक्षणं विभाः ! श्रृणुध्वं भक्तिभावनः । श्रद्धां सो साच्विकी होया विशुद्धहान-मृलिका ॥

मष्टतिम्-लिका चैव जिज्ञासामृत्तिकाऽपरा। विचार-हीन-संस्कार-मृत्तिका त्वन्तिमा मता॥

श्रधीत देह धारियों की प्रकृति भेदानुसार सात्त्विक, राजसिक श्रौर तामसिक तीन प्रकार की श्रद्धा होती है। विशुद्ध झान र लक श्रद्धा सात्त्विक है, प्रवृति श्रौर जिज्ञासा मूलक श्रद्धा राजसिक है श्रौर विचार हीन संस्कार मूलक श्रद्धा तामसिक है। इनमें से सात्त्विक श्रद्धा ही श्रेष्ठ है। सूत्र में इसी श्रद्धा का 'सत्कार' शब्द से श्रनुष्ठान करना बतलाया गया है।

संगति—वैराग्य दो प्रकार का है : अपर-वैराग्य श्रीर पर-वैराग्य । अगले सूत्र में प्रथम अपर-वैराग्य का खरूप बतलाते हैं:—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।। १५ ॥

राष्ट्रार्थ—हष्ट-आनुश्रविक-विषय-वितृष्णस्य = इट और आनुश्रविक विषयों में जिसको कोई तृष्णा नहीं है उसका । वशीकार-संज्ञा-वैराग्यम् = वशीक र नाम वाला वैराग्य है ।

्रअन्वयार्थ- हुए और आनुश्रविक विषयों में जिसको तृष्णा नहीं रही है उसका वैरा-

ग्य वर्शाकार नाम वाला अर्थात् अपर-वैराग्य है।

ब्याख्या — विषय दो प्रकार के हैं : दृष्ट और श्रानुश्रविक । दृष्ट वे हैं जो इस लोक में दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श, धन, सम्पत्ति, श्रन्न, खानपान; स्नी, राज, ऐश्वर्य, इत्यादि । श्रानुश्रविक वे हैं जो वेद श्रीर शास्त्रों द्वारा सुने गए हैं; ये भी दो प्रकार के होते हैं:—

(क) हारीरान्तर-वेद्य, जैसे देवलोक, स्वर्ग, वैदेख श्रौर प्रकृतिलय का श्रानन्द (१।१९) इत्यादि।

(ख) अवस्थान्तर-वेश, जैसे दिव्य-गन्ध-रस ऋदि (१।३५), ऋथवा तीसरे पाद

में वर्णन की हुई सिद्धियाँ आदि।

इन दोनों प्रकार के दिव्य ख्रौर ख्रिट्व्य विषयों की उपस्थिति में भी जब चित्त प्रसंख्यान झान के बल से इनके दोपां (२।१५) को देखता हुखा इनके सङ्ग-दोष से सर्ध्या रिहेत हो जाता है; न इनको प्रहुण करता है, न परे ही हटाता है। खर्थात् जब इनमें उसका प्रहुण कराने वाला राग खीर परे हटाने वाला द्वेष; दोनों निवृत्त हो जाते हैं। जैसा कि कहा गया है:—

सति विकारहेतौ न विक्रियन्ते येषां चेतांसि त एव धीराः।

अर्थ – विकार का कारण्-उपस्थित होने पर भी जिनके चित्तों में विकार उत्पन्न नहीं होता वे ही धीर हैं।

इस प्रकार चित्त एकरस बना रहता है। चित्त की ऐसी श्रवस्था का नाम वशीकार-संज्ञा वैराग्य है। इसी को श्रपर-वैराग्य कहते हैं जिसकी श्रपेत्त। से दूसरे सूत्र में परवैराग्य बतलाया है। किसी विषय के केवल त्यागने का नाम विराग्य नहीं है, क्योंकि रोग आदि के कारण भी विषयों से अरुचि हो जाती है जिससे उनका त्यागना होता है। किसी विषय के अप्राप्त होने पर भी उसका भोग नहीं किया जा सकता है। दिखावें के लिये तथा भय, लोभ और मोह से वशीभूत होकर, अथवा दूसरों के आप्रद से भी किसी विषय को त्यागा जा सकता है; परन्त उसकी तृष्णा सुक्ष्मरूप से मन में बनी रहती है।

विवेक-द्वारा विषयों को अनन्त दुःखरूप और बन्धन का कारण समक्त कर उनमें पूर्णतया अरुचि का हो जाना तथा उनमें सर्वथा सङ्ग-दोष से निवृत्त हो जाना ही वैराग्य कहा

जा सकता है।

न जातु कामः कामानाष्ठ्रपभोगेन शाम्यति । इविषा कृष्णवत्र्मेव भूय एवाभिऽवर्धते ॥

अर्थ—विपयों की कामना विषयों के भोग से कभी शान्त नहीं होती है, किन्तु हिंव डालने से र्झाम की खाला के सदश और खाधक बढ़ती है।

इसी प्रकार भर्तृहरि जी ने कहा है :---

भोगा न भ्रुक्ता वयमेव भ्रुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः। कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

अर्थ — अर्थात् भोग नहीं भोगे गए (भोगों को हमने नहीं भोगा) किन्तु हम ही भोगे गए; तप नहीं तपे, हम ही तप गए; समय नहीं बीता, किन्तु हम ही बीत गए; तृष्णा जीर्ण नहीं हुई, किन्तु हम ही जीर्ण होगए।

बैराग्य की चार संज्ञाएँ (नाम) हैं : यतमान, ज्यतिरेक, एकेन्द्रिय श्रौर वशीकार । यतमान — चित्त में स्थित चित्त के मल-रूप राग-द्वेष श्रादि दोष ही इन्द्रियों के श्रपने-श्रपने विषयों में प्रवर्तक हैं । उन राग-द्वेष श्रादि दोषों का बार-बार चिन्तन-रूप प्रयन्न जिससे इन्द्रियों को उन विषयों में प्रयुत्त न कर सकें, यतमान संज्ञा वैराग्य हैं ।

डयतिरक - फिर विषयों में दोषों के चिन्तन करते-करते निष्टुत्त और विद्यमान चित्त मल-रूप दोषों का व्यतिरेक निश्चय त्रर्थात् इतने मल निष्टुत्त हो गये हैं, इतने निष्टुत्त हो रहे हैं, इतने निष्टुत्त होनेवाले हैं, इस प्रकार जो निष्टुत्त और विद्यमान चित्तमलों का पृथक्-पृथक् रूप से ज्ञान है; वह व्यतिरेक-संज्ञक वैराग्य है।

एकेन्द्रिय — जब यह चित्तमल रूपी रागादि दोष बाह्य इन्द्रियों को तो विषयों में प्रयुत्त करने में श्रासमर्थ होगये हों किन्तु सुक्ष्म-रूप से मन में बने रहें, जिससे विषयों की सन्निधि से चित्त में फिर चोभ उत्पन्न कर सकें तब यह वैराग्य की श्रवस्था एकेन्द्रिय-संक्षक है।

वदाकार—सूक्ष्म-रूप से भी जब चित्त के मल रागादि दोषों की निवृत्ति हो जावे स्रोर दिब्य-स्वदिच्य विपयों के उपिश्चत होने पर भी उपेत्ता-बुद्धि रहे तब यह तीनों संज्ञाओं से परे वशीकार संज्ञा वैराग्य है। श्रर्थात् यह ज्ञान कि 'ममैते वश्या नाहमेतेषां वश्य इति' मेरे ये वशीभत हैं. मैं इनके वशीभत नहीं हैं'।

ये पहिली तीन भूमि वाले वैराग्य निरोध के सावात् हेतु नहीं हैं। निरोध का सावात् हेतु चौथी भूमि वाला वशीकार-संज्ञक वैराग्य ही है। इसलिये सूत्रकार ने इसी का वर्णन किया है। किन्तु यह भूमि पहिली तीन भूमियों को क्रम से लॉघ कर ही प्राप्त होती है। इसका दूसरा नाम अपर-वैराग्य है। इसका फल सम्प्रज्ञात-समाधि है जिसकी सबसे ऊँची भूमि पुरुष और चित्त की भिन्नता प्रतीत कराने वाली विवेक-ख्याति है। किन्तु यह भी त्रिगुणा-समक चित्त की ही एक वृत्ति है, इससे भी विरक्त होजाना परवैराग्य है जिसका फल असम्प्रज्ञात-समाधि है।

संगति—सम्प्रज्ञात-समाधि के साधन अपर-वैराग्य को बतलाकर अब श्रगले सूत्र में असम्प्रज्ञात-समाधि का साधन पर-वैराग्य का नर्णन करते हैं:—

तत्वरं पुरुषख्यातेर्गुरावीतृष्ययम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ – तत् = वह वैराग्य । परम = पर (सबसे ऊँचा) है जो । पुरुष-ख्याते: -प्रकृति-पुरुष-विषयक विवेकझान = सत्त्व-पुरुषान्यता-ख्याति = विवेकख्याति के उदय होने से । गुण-वैतृष्ण्यम् = गुणों में तृष्णा-रहित हो जाना है ।

अम्बयार्थ-विवेकस्याति द्वारा गुर्गो से तृष्णा-रहित हो जाना पर-वैराग्य है।

व्याख्या — अपर-वैराग्य दिव्य-श्रदिव्य आदि विषयों में एवणा-रहित हो जाना है। पर-वैराग्य जहाँ तक गुणों का अधिकार है उन सबमें उष्णा-रहित हो जाना है। अपर-वैराग्य द्वारा योगी दृष्ट-श्रानुअविक विषयों में दोष देखकर उनसे विरक्त होता है। जब चित्त से उनकी उष्णा-रहित हो जाती है तब चित्त एकाप्र हो जाता है। यही सम्प्रज्ञात-समाधि है। इसका उच्चतम अवस्था में चित्त और पुरुष के भेद का सालात्कार होता है। इसका नाम पुरुषख्याति, सत्त्वपुरुषान्यता-ख्याति तथा विवेकख्याति है। इस ख्याति में ज्यों-ज्यों अध्यास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों चित्त निर्मल होता जाता है और आत्मशुद्धि उत्तमोत्तम प्रतीत होती है। चित्त की अत्यन्त निर्मलता में यह पुरुषख्याति भी चित्त ही की एक सात्त्विक पृत्ति और गुणों का ही परिणाम प्रतीत होने लगती है। तब इस विवेकख्याति से भी वैराग्य उत्पन्न होने लगता है। इस प्रकार गुणों से भी उष्णा-रहित अर्थात् विरक्त होना पर-वैराग्य है। इस पर-वैराग्य को ही ज्ञानप्रसाद-मात्र कहते हैं, क्योंकि इसमें रजस-तमस गुण का गृन्यमात्र भी नहीं रहता।

इस वैराग्य के उदय होने से योगी धर्ममंघ समाधि-निष्ठ हुआ आपने मन में भाष्य-कार के शब्दानुसार यह मानता है कि जो प्राप्त करने योग्य था वह प्राप्त होगया, जो नाश करने योग्य पाँचों क्लोश थे वे नष्ट हो गये, अब संसार का वह संक्रम (चक्र, सिलसिला) दृट गया है, जिसके टुटे बिना मनुष्य उत्पन्न होकर मरता है और मर कर उत्पन्न होता है। यह पर-वैराग्य ही ज्ञान की पराकाष्टा (परम सीमा) है। इसी के निरन्तर अभ्यास से

कैवल्य होता है।

विशेष विचार सूत्र १६:— गुगावैतृष्ण्यम् = जो त्रिगुणात्मक बुद्धि श्रथवा चित्त का कार्य है वह सब योगी के लिये हेय-कोटि में है। विवेक-ख्याति भी सत्त्व-गुणात्मक श्रीर बुद्धि का कार्य है, इसलिये वह भी त्याज्य है।

त्यज धर्ममधर्मश्च उभे सत्यानृते त्यज ।

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजिस तत् त्यज्ञ ॥

श्रधर्म, धर्म और असत्य, सत्य (तामसी श्रीर सात्त्विकवृत्ति) दोनों का त्याग दे। दोनों तामसी और सात्त्विक वृत्तियों को त्यागकर जिस वृत्ति से इन दोनों को त्यागा है उसे भी त्याग दे। इसमें भी तृष्णा का अभाव होना पर-वैराग्य है अर्थात् मन को विषयों में प्रवृत्त कराने वाला उन विषयों में राग ही है। जब मन को एक ध्येय-विषय में लगाया जाता है तो वह स्त्रन्य विषयों में राग होने के कारण उनकी स्त्रोर भागता है स्त्रौर ध्येय-विषय में क्षिर नहीं रहता। इन अन्य सब विषयों से राग निवृत्त होने पर केवल एक ध्येय-विषय में राग का बना रहना अपर-वैराग्य है, जिसका फत एकागता अर्थान् सम्प्रज्ञात-समाधि है। इस सम्प्रज्ञात-समाधि की पराकाष्ट्रा विवेकख्याति है, जिसमें पुरुष श्रौर चित्त की भिन्नता का विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात चित्त-द्वारा आत्मा का साचात्कार होता है। किन्त यह भी सत्त्वगुणात्मक एक वृत्ति ही है और चित्त का ही कार्य है। इसमें भी राग का न रहना पर-वैराग्य है, जिसका फल असम्प्रज्ञात-समाधि है। श्रारम्भ में श्रसम्प्रज्ञात-समाधि में चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध अर्थात असम्प्रज्ञात-समाधि चािएक होती है किन्तु धीरे-धीरे इसके संस्कार बढ़ने श्रीर व्युत्थान के संस्कार दबने लगते हैं विवेकरुयाति (प्रसंख्यान) की स्थायी अवस्था का नाम धर्ममेघ समाधि (४।२९) है। धर्ममेघ समाधि की पराकाष्ठा ज्ञान-प्रसाद नामी पर-त्रैराग्य है जिसका फल असम्प्रज्ञात समाधि है और असम्प्रज्ञात समाधि की श्चन्तिम सोमा कैवल्य (४।३४) है।

संगति – इस प्रकार निरोध के उपायभूत अभ्यास-वैराग्य का लक्षण प्रतिपादन करके अब इन दोनों उपायों से सिद्ध होने वाली सम्प्रज्ञात-समाधि का उसके चार अवान्तर भेद सिंहत स्वरूप निरूपण करते हैं:—

वितर्कविचाराऽनन्दाऽस्पितारूपाऽनुगमात् सम्पन्नातः ॥ १७ ॥

द्यार्थ्य - वितर्क-विचार-त्रानन्द-त्रसितारूप-त्रानुमात = वितर्क, विचार त्रानन्द, त्रीर ग्रस्तिता नामक स्वरूपों के सम्यन्ध से (जो चित्त की वृत्तियों का निरोध है) वह । सम्प्रज्ञातः = सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

अन्वयार्थ-—वितके, विचार, आनन्द और अस्मिता नामक स्वरूपों के सम्बन्ध से जो चित्त की वृत्तियों का निरोध है वह सम्प्रज्ञात-समाधि कहलाता है अर्थात् वितक के सम्बन्ध से जो समाधि होती है उसका नाम वितर्कानुगतः विचार के सम्बन्ध से विचारा-नुगतः, आनन्द के सम्बन्ध से आनन्दानुगतः, और अस्मिता के सम्बन्ध से होने वाली समाधि का नाम अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि है।

व्याख्या-सूत्र के अन्त में समाधि शब्द शेष रहा है, उसे लगाना चाहिये।

जिसने ध्येय (जिसका ध्यान किया जावे) वस्तु का खरूप अच्छे प्रकार अर्थान् संज्ञय और विपयय (श्रविद्या) से रहित यथार्थ रूप से जाना जाता है उस भावना-विशेष का नाम सम्प्रज्ञात है। वह चार प्रकार का है: वितर्कानुगत, विचारानुगत, श्रानन्दानुगत और आस्मितानुगत।

इस भावनाविशेष को ही सम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं। अन्य विषयों को छोछकर केवल एक ध्येय वस्तु को बार-बार चित्त में रखने का नाम भावना है। इस भावना का विषयभूत जो भाव्य है (जिसकी भावना की जावे, ध्येय) है, वह माह्य, महर्ण और गृहील भेद से तीन प्रकार का है। इन तीनों में प्राह्म स्थूल-सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं: पाँच स्थूलभूत और स्थूल इन्द्रियें स्थूल विषय हैं; पाँच सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्राएँ और सूक्ष्म इन्द्रियें (केवल शक्तिरूप) सुक्ष्म विषय हैं।

जिस प्रकार निशाना लगाने वाला पहिले स्थूल लक्ष्य को वेधन करता है, फिर सूक्ष्म को, इसी प्रकार योगी भी पहिले स्थूल वस्तु का साचान करके फिर सूक्ष्म ध्येय की भावना में प्रवृत्त होता है। अर्थान् सुक्ष्म वस्तु को साचान् करता है।

(१) पाँचों स्थूलभूत-विषयक तथा स्थूल इन्द्रिय-विषयक प्राद्य भावना का नाम वितर्कातुगत सम्प्रज्ञात है।

(२) सूक्ष्मभूत-विषयक तथा सूक्ष्म इन्द्रिय-विषयक प्राष्ट-भावना का नाम विचारा-तुगत सम्प्रज्ञात है।

(३) तन्मात्राश्चों तथा इन्द्रियों के कारण सत्त्व-प्रधान श्रहङ्कार-विषयक केवल प्रहरण-भावना का नाम श्रानन्दानुगत सम्प्रज्ञात है।

(४) श्रारेमता श्रर्थान् चेतन से प्रतिबिध्तित चित्तसन्त्र बीज-रूप श्रहङ्कार सहित-विषयक गृहीतृ-भावना का नाम श्रारेमतातृगत सम्प्रकात है।

वितर्कानुगन ब्राह्म समाधि — जिस भावना द्वारा प्राह्म रूप किसी स्थूल विषय विराट, महाभूत, सूर्य, चन्द्र, शरीर स्थूल इन्द्रिय किसी स्थूल वस्तु पर चित्त को ठहराकर संशय विषयेय रित उसके यथार्थ खरूप को सारे विषयों सहित जो पहिले कभी न देखे, न सुने और न अनुमान किये थे, साचान किया जावे वह वितर्कानुगत समप्रज्ञात समाधि है।

इसके दो भेद : सवितर्क—शब्द, ऋर्य और ज्ञान की भावना सिहत, ऋौर निर्वितर्क—शब्द, ऋर्य और ज्ञान की भावना से रिहत केवल ऋर्य-मात्र, इसी पाद के बयालीस और तैंयालीस सूत्र में बतलाये हैं, जिनकी व्याख्या वहीं की जावेगी।

विचारानुगत प्राष्ट्र समाधि — वितर्क श्रनुगत द्वारा जब चित्त वस्तु के स्थूल श्राकार को साचान् कर लेता है तब उसकी दृष्टि श्रागे बढ़ती है। तब जिस भावना द्वारा प्राह्म-रूप स्थूलभूतों के कारण पाँचों सूक्ष्मभूतों का पाँचों तन्मात्राश्चों तक तथा शक्तिमात्र इन्द्रियों का यथार्थ रूप संशय-विपयंप-रहित सारे विषयों सहित साचान् किया जावे वह विश्वारानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहलावेगी।

इसके भी दो भेद : सविचार—देश-काल और धर्म की भावना सिंहत, और निर्विचार—देश-काल और धर्म की भावना से रहित केवल ऋध्मात्र धर्मी, इस पाद के चौवालीसर्वे सत्र में बतलाए हैं, जिनकी व्याख्या वहीं की जावेगी।

यहाँ यह बात स्मरण रखने की है कि वितर्क सम्प्रज्ञात द्वारा जहाँ स्थूल विषयों को सालान् किया जाता है। यदि योगी उस स्थूल विषय पर न रुककर आगे बढ़ना चाहे तो एकाप्रता की दढ़ता में उसका सुक्ष्म स्वरूप स्वयं सालान् होने लगता है, क्योंकि एकाप्रता की दृदता में वित्त के सत्त्वगुण का प्रकाश बढ़कर सुक्ष्म विषयों को सालान् कराने में समर्थ हो जाता है और यह भावना वितर्क से विचार हो जाता है और यह भावना वितर्क से विचार हो जाती है।

आनन्दानुगत (केवळ) ग्रहणरूप समाधि—विचारानुगत के निरन्तर अभ्यास से जब चित्त की एकाग्रता इतनी बढ़ जावे कि शक्तिमात्र इत्त्रियों तथा तृन्मात्रात्र्यों के कारण श्रहङ्कार की उसमें धारण करके साम्रात् किया जावे तो उसको आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि कहेंगे।

विचारानुगन-समाधि में जिस सुक्ष्म विषय का साज्ञान् किया जाता है, यदि योगी वहीं न रुककर आगे बढ़ना चाहे तो चित्त की एकाव्रता द्वारा सत्त्वगुण की अधिकता में आहङ्कार का स्वयं साज्ञान् होने लगता है।

भूजानन्द' नाम रखने का कारण यह है कि सत्त्वगुण-प्रधान श्रहङ्कार श्रानन्द-रूप है तथा सृक्ष्मता के तारतम्य को साझान् करते हुए योगी का चित्त सत्त्वगुण के बदने से श्रानन्द से भर जाता है। उस समय कोई भी विचार अथवा प्राह्म विषय, उसका विषय नहीं रहता, किन्तु श्रानन्द ही श्रानन्द उसका विषय बन जाता है श्रीर 'मैं सुखी हूँ, मैं सुखी हूँ' ऐसा श्रनुभव होता है। जो योगी इसी को श्रन्तिम ध्येय सममकर इसी में सन्तुष्ट हो जाते हैं श्रीर श्रागे नहीं बढ़ते हैं उनका देह से तो श्रभ्यास छूट जाता है परन्तु स्वरूपाविधित नहीं होती। शरीर त्यागने के पश्चात वे लम्बे समय तक कैवल्य पद जैसे श्रानन्द को भोगते रहते हैं। वे विदेह कहलाते हैं, जिनका इसी पाद के अनीसवें सूत्र में वर्णन किया जावगा।

अस्मितानुगत गृहीतु-रूप समाधि —चेतन से प्रतिविश्वित चित्त जिसमें बीजरूप से ऋहङ्कार रहता है अर्थान् चित्त, बीजरूप ऋहङ्कार और ऋहङ्कारोपाधित पुरुष, जहाँ से पुरुष और चित्त में अभिन्नता अरोप होती है उसका नाम अस्मिता है। अस्मिता ऋहङ्कार का कारण है, इसलिये उससे सूक्ष्मतर है। जब चित्त की एकाप्रता इतनी बढ़ जावे कि अस्मिता में धारणा करने से उसका यथाये रूप साज्ञात् होने लगे तो उसको अस्मितानुगत सम्प्रक्कात समाधि कहते हैं।

यदि आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात वाला थोगी वहाँ न रुककर आगे बढ़ना चाहे तो इस अवस्था में पहुँच जाता है। इसमें आनन्दानुगत वाली गृत्ति 'श्रहमस्मि' 'मैं मुखी हूँ, मैं मुखी हूँ' अधिक निर्मल होकर केवल 'श्रस्मि-श्रस्मि' यही ज्ञान रोष रह जाता है। इस गृत्ति वाली अवस्था बड़ी मनोर अक होती है। बहुधा योगी इसी को आत्मस्थिति सममक्कर इसी

समाधिपाद

में सन्तष्ट हो जाते हैं श्रीर श्रागे बढ़ने का यत्न नहीं करते उनका श्रात्म-श्रध्यास श्रहह्लार में तो छट जाता है किन्तु अस्मिता में बना रहता है। शरीरान्त होने पर विदेहों से अधिक लम्बे समय तक ये योगी कैवल्य पद जैसा आनन्द भोगत रहते हैं। उन्हें प्रकृतिलय कहते हैं, जिनका वर्णन उन्नीसवें सूत्र में किया जायगा। त्रानन्दांतुगत त्रीर त्रारमतातुगत भूमियों में वाँचों सक्स विषयों जैसा सानात्कार नहीं होता है। य केवल अनुभव गम्य है (अतः इतका वर्णन शब्द मात्र सममता चाहिये।

इन चारों समाधियों में वितके समाधि चतुष्टयानुगत श्रर्थात् वितके, विचार, श्रामन्द, श्वास्मता इन चारों से यक्त है, क्योंकि कार्य में कारण श्रातुगत रहता है। इस कारण स्थल मतों के तन्मात्रात्रों का कार्य होने से स्थूल भूतों में तन्मात्राएँ अनुगत हैं, श्रीर तन्मा-त्रात्रों के त्रहङ्कार का कार्य होने से तन्मात्रा द्वारा अहङ्कार अनुगत है। अहङ्कार अस्मिता का कार्य होने से श्रहद्वार द्वारा श्रास्मिता श्रानुगत है। इस प्रकार स्थूलभूता की भावना करने से फलतः सबकी भावना श्राप्त होती है। इसलिये स्थलभूत-विषयक भावना चतुष्टय-श्रनगत है ।

इसी प्रकार विचार-सम्प्रज्ञात त्रितयानुगत है। इस भावना में स्थूलभूतों का भान न होने से यह वितर्क से रहित है। कार्य में कारण अनुगत रहता है निक कारण में कार्य। इसलिये तन्मात्रात्रों की भावना में स्थलभूतों का भान नहीं होता। इसी प्रकार त्रानन्द-सम्प्रज्ञात द्वयानुगत है, क्योंकि इस भावना में स्थल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के मुतों का भान

न होने से यह वितर्क तथा विचार दोनों से रहित है।

श्रस्मिताऽनगत सम्प्रज्ञात एकानुगत है, क्योंकि इसमें श्रस्मिता-मात्र के श्राविदिक्त किसी श्रन्य का भान नहीं होता।

ये चारों प्रकार की समाधियाँ सालम्बन और सबीज भी कहलाती हैं। सालम्बन इसलिये कि ये किसी ध्येय का आलम्बन (सहारा) बनाकर की जाती हैं; और यह आल.

म्बन हां बीज है, इसलिये इनका नाम सबीज समाधि भी है।

जब योगी किसी स्थल ध्येय को आलम्बन बनाकर उसमें चित्त ठहराता है तो पहिले स्थल वस्तु को देखता है। ज्यों-ज्यों एकामता बढ़ती जाती है त्यों-त्यों उसके सूक्ष्म अवसव भासते जाते हैं, यहाँ तक कि स्थूलभूतों के कारण सूक्ष्मभूतों का भी साचात् होने लगता है। एकामता के श्रीर अधिक बढ़ने पर यह सूक्ष्ममूत-विषयक माह्य वृत्ति भी बन्द हो जाती है भीर तन्म।त्रात्रों के कारण प्रहेण-रूप सत्त्व-प्रधान श्रहङ्कार का उसकी श्रानन्द-रूप प्रिय. मोद, प्रमोद श्रादि वृत्तियों से साज्ञात् होता है। एकाप्रता की सूक्ष्मता श्रीर सत्त्वगुरा की वृद्धि के साथ-साथ यह त्रानन्द रूपवाली श्रहकार की वृत्ति भी सूक्ष्म होती जाती है. थहाँ तक कि आहंकार के कार ए आस्मिता का आहंकार से रहित उसकी वृत्ति 'आस्म-आस्म' से साचात होने लगता है अर्थात 'में हूँ' केवल यही ज्ञान रोष रह जाता है। इस वृत्ति की सक्ष्मता में प्रत्य और चित्त में भिन्नता उत्पन्न करने वाली विवेकख्याति-रूपी वृत्ति का उदय होता है। इस विवेकख्याति में भी आत्मिश्चिति का अभाव प्रतीत कराने वाली पर-वैराग्य

सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद

	P.	विषय	सम्बन्ध	अनुगत	रहित	श्रुति
वितकानुगत	표 교	५ स्थूल-भूत तथा स्थूल विषय शरीर, सूर्य, चन्द्र आदि श्रीर स्थूल इन्द्रियाँ	वितक	चतुष्टयातुगत— वितर्क, विचार, श्रानन्द्र श्रौर श्रास्मिता से अनुगत	·	स्थ्ल विषयाकार बुद्ति
क्ट २ विचारानुगत	माह	५ सूक्सभूत, तनमात्राञ्जों तक सूक्स इन्द्रियोँ (शांतिक्ए)	विचार	त्रितयानुगत— विचार श्रानन्ट् श्रौर श्रस्मिता से श्रनुगत	वितर्के-हित	सूक्ष्म विष्याकार दृत्ति
३ श्रानन्दानुगत	मह्त्या	श्रहंकार	श्रानन्द	द्रयानुगत— श्रानन्द और श्रासिता से श्रनुगत	वितर्के तथा विचार से रहित	श्रानन्द विषयाकार 'ऋहै' धृत्ति
४ श्रास्मितानुगत	गृहीत	श्राह्मता	श्रस्ति	एकानुगत— श्रम्मिता से श्रनुगत	वितकेः विचार और आक्त्द से रहित	अस्मिता विषयाकार 'अस्मि' द्यंच

की वृत्ति 'नेति-नेति' 'यह स्वरूपाविधिति नहीं है, यह त्र्यात्मिशिति नहीं है' के त्रभ्यास-पूर्वक त्र्यसम्प्रज्ञात-समाधि की सिद्धि होती है जिसका लच्चा त्र्याले सूत्र में बतलाया जावेगा।

विशेष वक्तव्य-सूत्र १७:- कोशों द्वारा श्रम्यास की प्रणाली:-

एक अभ्यास की प्रणाली कोशों द्वारा अन्तर्भुख होते हुए खरूप-स्थिति प्राप्ति की है, जिसका वर्णन उपनिषदों में इस प्रकार हैं:—

यच्छेद्वाङ्गनसी भाज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।

ब्रानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त श्राहमनि ॥ (कट ३ । १३)

अर्थ — बुद्धिमान वाणी को (ज्ञानेन्द्रिय को) मन में लय करें; उसको (मन को) ज्ञानात्मा (बुद्धि) में लय करें; बुद्धि को महानात्मा (महत्तत्व) में लय करें: और उस मह-त्तत्व को शान्तात्मा में लय करें। (यदि 'ज्ञान श्रात्मनि' के श्रर्थ 'श्रहंकार में' और 'महति' के श्रर्थ 'बुद्धि में' लिये जावें तो ये सूत्र गत-वारों भावनायें हो जाती हैं)

यह इस प्रकार है:---

(१) किसी भी सुखासन-पूर्वक स्थिर बैठकर श्राप्तमय कोश में श्रात्माध्यास छोड़कर प्रारामय कोश में घुसना।

. (२) प्रार्णों की गति को रोककर अथवा धीमा करके इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके प्रारामय कोश से आत्माध्यास हटाकर मनोमय कोश में प्रवेश करना।

(३) मनोमय कोश से श्रात्माध्यास हटाकर विज्ञानमय कोश में जाना।

(४) विज्ञानमय कोश से व्यास्माध्यास को छुड़ाकर व्यानन्दमय कोश में क्षित होना।

यह चारों सम्प्रज्ञात-समाधि के ही भेद हैं। क्योंकि जब आनन्दमय कोश को भी विजय कर लिया जाय तब खरूपावस्थिति होती है।

श्रन्नमय कोश से श्रात्माध्यास हटाना श्रथवा उसका विजय श्रासन श्रीर प्राणाध्याम की सिद्धि से (२।४६-४९), प्राणमय कोश का प्रत्याहार श्रीर धारणा की सिद्धि से (२।५४;२१), मनोमय कोश का वितर्क मावना द्वारा, विज्ञानमय कोश का विश्वार और उसकी ऊँची श्रवस्था श्रानन्दानुगत समापत्ति से, श्रीर श्रानन्दमय कोश का विजय निर्विचार की सबसे ऊँची श्रवस्था श्रास्मतानुगत श्रीर श्रवम्भरा प्रज्ञा श्रथीत् श्रम्प्रज्ञातसमाधि की सबसे ऊँची श्रवस्था विवेक-ख्याति से होता है। तत्यश्रात् स्वरूपावस्थिति का लाभ होता है।

सूत्र में चारों भावनाश्रों द्वारा किसी विषय को श्रालम्बन करके (भ्येय बनाकर) निरालम्ब (निर्वीज श्रयांत् श्रसम्प्रज्ञात) समाधि तक पहुँचने की प्रक्रिया बतलाई है। यहाँ कोशों द्वारा श्रारम्भ से श्रालम्बन का श्रमाब करते-करते श्रन्त में श्रभाव करने बाली बृत्ति का भी श्रभाव करके निरालम्ब-समाधि की सिद्धि करना बतलाया गया है। यही इन दोनों में भेद है। प्रथम प्रक्रिया योग की है श्रीर दूसरी सांख्य की।

कोद्यः — कोश खोल अथवा स्थान को कहते हैं। वे पाँच हैं: आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय।

इन पाँचों कोशों को पाँच रङ्गवाली चिमनियाँ समफनी चाहियें और शुद्ध चेनन तत्त्व (आत्मतत्त्व) को एक प्रकाश की ज्योति; जिसका प्रकाश इन भिन्न-भिन्न रङ्गवाली चिमनियों में से होकर बाहर आता हुआ उनके रङ्गों-जैसा प्रतीत होता है।

आनन्दमय कोश — ग्रुद्ध आत्मतत्त्व पर चित्त (महत्तत्त्व) श्रीर कारण-प्रकृति की पिहली चिमनी है। इसको श्रानन्दमय कोश कहते हैं। श्रानन्द का विकार-रूपी यह कोश श्रास्पत्वरूप को श्रान्द्द्व कर हैं। श्रानन्द का विकार-रूपी यह कोश श्रास्पत्वरूप को श्रान्द्र तित कर के (ढेंककर) प्रिय, मोद, प्रमोद-रहित श्रास्मा को निय, मोद, प्रमोद-वान तथा श्रपरिच्छित्र सुख-रहित श्रास्मा को परिच्छित्र सुख विशिष्ट रूप में प्रकट करता है। यह श्रानन्दमय कोश-रूप श्राह्मन का श्रावरण हो जीव का कारण-शरीर कहलाता है। इस कारण-शरीर सहित श्रास्मा को प्राह्म कहते हैं।

विज्ञानमय केश्च —इस आनन्दमय केश्च-रूपी चिमनी के ऊपर दूसरी चिमनी श्रहंकार श्रीर बुद्धि की है, इसको विज्ञानमय केश्च कहते हैं। यह विज्ञानमय केश्च श्रास-खरूप को श्राच्छादित करके श्रकत्तो श्रास्म को कत्तो, श्रविज्ञाता श्रास्म को विज्ञाता, निश्चय-रहित श्रास्मा को निश्चय-पुत्त, श्रीर जाति-श्रभिमान-रहित श्रास्मा को जाति-श्रभिमान युत्त-जैसा प्रकट करता है। इस विज्ञानमय कोश में श्रभिमान वर्तमान है। कर्तृत्व, मोक्तृत्व, सुखित्व श्रादि श्रभिमान ही इस विज्ञानमय कोश को गुण है।

मनोमय कोश—इस विज्ञानमय कोश-रूपी चिमनी पर तीसरी मन और ज्ञान-इन्द्रियों की रङ्गवाली चिमनी चढ़ी हुई है जिमको मनोमय कोश कहते हैं। मन और ज्ञान-न्द्रियों का विकार-रूपी यह कोश आत्म-खरूप को आच्छादित करके संशय-रहित आत्मा का संशय-युक्त, शोन-मोह राहत आत्मा को शोक-मोहादि युक्त, और दशेन-रहित आत्मा को दशेन आदि का कर्त्ता-रूप प्रकृट करता है। इस मनोमय कोश में इच्छाशक्ति वर्तमान है।

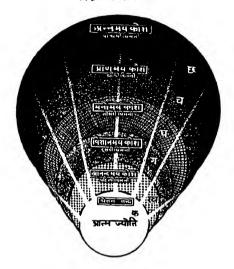
प्राणमय कारा — मनामय कारा-रूपी चिमनी पर चौथी चिमनी पाँच कर्मीन्द्रयों और पाँच प्राणों की चढ़ा हुई है जिसको प्राणमय कोरा कहते हैं । प्राण और कर्मीन्द्रयों का विकार रूपी यह प्राणमय कोरा त्यात्मा को आन्छादित करके वक्तृत्व-रहित आत्मा को वक्ता, दातृत्व-रहित आत्मा को दाता, गित रहित आत्मा को गितशील, क्षुधापिपासा-रहित आत्मा को क्षुधा-पिपासा युक्त आदि नाना प्रकार के विकारों से युक्त-जैसा प्रकट करता है। इस प्राणमय कोश में कियाशिक वर्तमान होने से यह कार्यरूप होता है।

ये तीनों विज्ञानमय, मनोमय और प्रारामय कोश मिलकर सूक्ष्म-शरीर कहलाते हैं। इस सूक्ष्म-शरीर सहित स्रात्मा का नाम तैजस है।

अन्नमय कोश—चौथी भाएमय कोश-रूपी चिमनी पर पाँचवीं-स्थृल शरीर की चिमनी है जो श्रश्नमय कोश कहलाता है। यह श्रन्न से बने हुए रज-त्रीय से उत्पन्न होता है श्रोर श्रन्न से ही बढ़ता है। इसलिये इसको श्रन्नमय कहते हैं। इस श्रन्नमय कोश के कारण

वृष्ठ सं० ४७

कोशसम्बन्धी चित्र.



- (१) शुद्ध आत्म तत्त्व = ज्ञान प्रकाश आत्म ज्योति ।
- (२) आनन्दमय कोश-चित्त, (महत्तत्त्व),=प्रथम चिमनी=कारण शरीर; कारण शरीर के सम्बन्ध से शबल स्वरूप आत्मा की संज्ञा-प्राज्ञ ।
- (३) विज्ञानमय कोश = बुद्धि-श्रहंकार = दूसरी चिमनी
- (४) मनोमयकोश = मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियां (शक्तिरूप) =) तीसरी चिमनी ।
- (4) प्रायामय कोश = पाँच कर्मेन्द्रियाँ (शक्तिरूप) पाँच प्राया = चौथी चिमनी

सूक्ष्म-इतीर, सूक्ष्म इतीर के सम्बन्ध से शवल स्वरूप ज्यात्मा की संज्ञा-तेजस ।

(६) अन्नमय कोश = पाँचों भूतों से बना हुआ स्थूल शरीर, स्थूल इन्द्रियाँ = पाँचवीं चिमनी = स्थूल शरीर, स्थूल शरीर के सम्बन्ध से शबल-स्वरूप आत्माकी संज्ञा-विश्व। अपरिच्छिन्न, श्रविभक्त श्रात्मा परिच्छिन्न तथा विभक्त; श्रीर ताप-रहित श्रात्मा तापगुक्त; श्रजर, श्रमर, श्रजन्मा श्रात्मा जरा, मृत्यु और जन्म से युक्त प्रतीत होता है। इस श्रन्नमय कोश को ही स्थल-शरीर कहते हैं; और स्थल-शरीर सहित श्रात्मा को विश्व।

कोश-सम्बन्धी चित्र

(१) शुद्ध श्रात्मतत्त्व = ज्ञान १ काश श्रात्म ज्योति ।

(२) खानन्दमय कोश = चित्त, (महत्तत्त्व), = प्रथम चिमनी = कारण-शरीर; कारण-शरीर के सम्बन्ध से शबल-स्वरूप खाल्मा की संशा—प्राह्म।

(३) विज्ञानमय कोश = बुद्धि-श्रहंकार = दूसरी चिमनी

- (४) मनोमय कोश = मन, पाँच झानेन्द्रिय (शक्तिरूप) = स्क्म-शरीर,स्क्म शरीर तीसरी चिमनी। के सम्बन्ध से शबल-
- (५) प्राणमय कोश = पाँच कर्मेन्द्रियें (शक्तिरूप), ब्रिक्षप श्रात्मा की संज्ञा-पाँच प्राण = चौथी चिमनी।
- (६) अन्नमय कोश = पाँचों भृतों से बना हवा स्थृत शरीर, स्थृत इन्द्रियें = पाँचवी चिमनी = स्थूत-शरीर, स्थृत शरीर के सम्बन्ध से शवत-स्वरूप आस्मा की संज्ञा—विश्व।

संगति — ऋपर-वैराग्य-जन्य सम्प्रज्ञात-समाधि का निरूपण करके श्रव पर-वैराग्य जन्य श्रसम्प्रज्ञात-समाधि का लज्ञ्ण कहते हैं:—

विरामप्रत्याभ्यासपूर्वः संश्कारशेषोऽन्यः॥ १८॥

शब्दार्थ—विराम = (सब) वृत्तियों के निरोध का । प्रत्यय = कारण् (जो परवैराग्य है उसके) । श्रभ्यास-पूर्व: = 9ुनः श्रुनः श्रुष्टान-रूप श्रभ्यास से । संस्कार-रोष: = जो (उसके) संस्कार रोष रह जाते हैं वह । श्रन्य: = दूसरी श्रर्थात् श्रसम्प्रज्ञात-समाधि है ।

अन्वयार्थ— सर्वे वृत्तियों के निरोध का कारण जो पर-वैराग्य है उसके पुनः पुनः अनुष्ठान-रूप अभ्यास से जो उसके संस्कार शेष रह जाते हैं वह असम्प्रज्ञात-समाधि है।

ब्यास्या — सूत्र में 'विराम-प्रत्यय', 'संस्कारशेषः' श्रौर 'श्रन्य' यह तीन पद हैं, इनमें से पहिले विशेषणा 'विराम-प्रत्यय' से श्रसन्प्रज्ञात-समाधि का उपाय, दूसरे विशेषणा 'संस्कारशेषः' से उसका लक्षण श्रौर तीसरे 'श्रन्यः' से लक्ष्य (श्रसम्प्रज्ञात-समाधि) का निर्देश किया है।

इससे पूर्व सूत्र में बतला श्राए हैं कि सम्प्रज्ञात-समाधि की पराकाष्ट्रा विवेकख्याति है, जिसमें चित्त द्वारा पुरुष का सालात्कार होता है, श्रथवा चित्त श्रौर पुरुष में भिन्नता का विवेकज्ञान उत्पन्न होता है। किन्तु यह भी एक चित्त ही की वृत्ति है श्रौर गुर्गों का ही परिणाम है। इस वृत्ति से भी तृष्णा-रहित हो जाना पर-वैराग्य है (सूत्र १६) पर-वैराग्य से विवेकख्याति-रूपी श्रान्तम वृत्ति का भी निरोध हो जाता है। इसलिये उसको सूत्र में 'विराम-प्रत्यय' 'सब वृत्तियों के निरोध का कारण' बतलाया गया है।

इस 'विराम-प्रत्यय' अर्थात् पर-वैराग्य का अभ्यास यह है कि इस वृत्ति को भी

'नेति-नेति' 'यह श्रात्म-स्थिति नहीं है, यह स्वरूपावस्थिति नहीं है' इस प्रकार हटाता रहे। इस प्रकार पुनः पुनः श्रनुष्ठान-रूप श्रन्यास से जब इस एकाप्र-वृत्ति का भी निरोध हो जाता है तब श्रसम्प्रज्ञात-समाधि होती है श्रर्थात उसमें कोई ज्ञेय सांसारिक वस्त जानने योग्य नहीं रहती । इसको निर्वीज-समाधि भी कहते हैं क्योंकि इसमें श्रविद्या श्रादि क्लेशरूप संसार का बीज नहीं रहता। श्रसम्प्रज्ञात-समाधि में कोई युत्ति नहीं रहती: केवल विराम प्रत्यय-रूप पर-वैराग्य के निरोध के संस्कार शेष रहते हैं। किन्तु यह कोई वृत्ति नहीं है। यह निरोध का परिणाम (३।९-१०) है । इस श्रवस्था में पुरुष की (ग्रुद्ध चेतन) खरूप में श्रवस्थिति होती है। निरोध के संस्कारों से ऋतिरिक्त एकाम्रता, समाधि-प्रारम्भ श्रीर व्यत्थान के संस्कारों में वृत्तियाँ बनी रहती हैं: इसलिये निरोध के संस्कारों के दुर्बल होते ही व्यत्थान के संस्कार प्रवल होने लगते हैं त्र्यीर श्रसम्प्रज्ञात समाधि भङ्ग होने लगती है।

चित्त का परिग्णाम (अवस्था-विशेष) चार प्रकार का होता है: व्थव्यान, समाधि-प्रारम्भ, एकाव्रता श्रौर निरोध ।

(१) मृद तथा जिप्त चित्त की भूमियों में जब तम तथा रज प्रधान-रूप से होते हैं तब व्यत्थान के संस्कारों का परिणाम होता है।

(२) विज्ञिप्त-भूमि में सत्त्व की प्रवलता से समाधि-प्रारम्भ के संस्कारों का परिखाम होता है।

(३) उसके पश्चात् सत्त्वगुण की वृद्धि से एकाप्रता-भूमि में एकाप्रता के संस्कारों का परिशाम होता है।

(४) निरोध-भूमि में निरोध के संस्कारों का परिणाम होता है।

व्यत्थान से उत्पन्न हुए संस्कार समाधि-प्रारम्भ से उत्पन्न होनेवाले संस्कारों से नष्ट हो जाते हैं। समाधि-प्रारम्भ से उत्पन्न हुए संस्कार एकाप्रता से उत्पन्न होनेवाले संस्कारों से, और एकामता से उत्पन्न होनेवाले संस्कार निरोध से उत्पन्न होनेवाले संस्कारों से नष्ट होते हैं। ये निरोध के संस्कार ही संस्कार-शेष हैं। श्रसम्प्रज्ञात-समाधि में निरोध के संस्कार ही शेष रहते हैं। जैसे श्रिप्त से सुवर्ण को तपाते हुए उसमें डाला हुआ सीसा सुवर्ण के मैल को जलाने के पश्चात श्रपने को भी जला देता है, वैसे ही जब निरोध से उत्पन्न हुए संस्कार एकाप्रता से उत्पन्न होनेवाले संस्कारों को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं तब इस संस्कार-शेष की निवृत्ति का नाम ही कैवल्य है। श्रसम्प्रज्ञात-समाधि और कैवल्य में इतना ही श्रन्तर है।

यहाँ इतना और जान लेना आवश्यक है कि सूत्रकार ने असम्प्रज्ञात-समाधि का साधन विराम-प्रत्यय अर्थात्-परवैराग्य का अभ्मास विशेषता के साथ बतलाया है क्योंकि सम्प्रज्ञात-समाधि मालम्ब्य होती है अर्थात् किसी प्राह्म-रूप वा प्रहण-रूप वा गृहीत-रूप ध्येय का त्र्यालम्बन दनाकर की जाती है त्र्यौर यह त्र्यलम्बन ही बीजरूप से उसमें रहता है, जिससे उसको सबीज भी कहते हैं। इसलिये उसका साधन अपर-वैराग्य भी उसकी अपेता से सालम्बय श्रीर सबीज होता है। श्रर्थात श्रपर-वैराग्य उस बीजरूप ध्येय विषय को आलम्बन करके होता है। किन्तु असम्प्रज्ञात-समाधि निरालम्ब्य और निर्वीज है, क्योंकि यह किसी ध्येय को बाजरूप आलम्बन बनाकर नहीं की जाती है; और कार्य के समान रूपवाला ही कारण होना चाहिये, इसलिये निरालम्बय निर्वीज पर-वैराग्य असम्प्रज्ञात-समाधि का साधन है। अतः सर्व वृत्ति-निरोध-रूप असम्प्रज्ञात-समाधि के निर्मित्त सर्व वृत्तियों के निरोध के कारण पर-वैराग्य का ही पुनः पुन अनुष्ठान-रूप अभ्यास करना चाहिये। अ

विशेष वक्तव्य—सूत्र १८:—सूत्र १७ की व्याख्या में हमने सम्प्रज्ञात समाधि की चारों भूमियों का सामान्यरूप से वर्णन कर दिया है। यहां इस सम्बन्ध में कुछ विशेष बातों का जिज्ञासुओं के हितार्थ वतला देना उचित प्रतीत होता है। ध्यान की परिपक अवस्था में जब कुएडिलिनी जागृत होती है अर्थात् सारे स्थूलप्राग्ण सुषुन्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाते हैं और स्थूल शरीर तथा स्थूल जगत् से परे होकर अन्तर्मुखता होती है तब उस प्रकाशमय अवस्था में इन भूमियों का वास्तविक अनुभव हो सकता है।

वितर्कातगत समाधि:-वितर्कातगतभूमि की प्रकाशमयी श्रवस्था में जिस स्थूल विषय की और वृति जाती है उसी का यथार्थरूप सालात्कार हो जाता है। सात्त्विकत्व और सक्सता के तारतम्य से इस भूमि के अन्तर्गत बहुत सी श्रेणियां हो सकती हैं। इसमें दो प्रकार का अनुभव होता है। एक तो पिछले तामस तथा सात्त्विक संस्कारों का वित्तरूप से उदय होना, दसरा वस्तु के वास्तविक खरूप का ज्ञान । जब पिछले तामस संस्कार उदय होते हैं ते चित्त किसी कल्पित भयद्भर हरावनी श्राकार वाली वृत्ति में श्रथवा श्रन्य तामसी गाजसी वस्तकों के खाकार में परिएत हो जाता है। यह तमस के कारए प्रकाशमय नहीं होती, अथवा इसमें धुन्धला सा प्रकाश होता है। जब सात्विक संस्कार उदय होते हैं तब चित्त किसी धार्मिक कल्पित आकार वाली मूर्त्ति अथवा किसी धर्मीत्मा के रूप बाली वृत्ति तथा अन्य सास्विक वस्तुओं के आकार में परिएत होने लगता है। बाम्तविक अनुभव में व्यवहित (व्यवधान वाली) विष्ठकृष्ट (दर वाली) वस्तुओं, स्थानों, मनुष्यों तथा महात्माओं का साधातकार होता है। इस वितर्क भूमि में जो कभी २ स्थूल शरीर सहित उड़ने की प्रतीति होती है वह प्राणों के उत्थान की अवस्था है। और जो कभी २ ऐसे भय की प्रतीति होती है कि मानो कोई हाथ पैर आदि अझों को बान्ध रहा है अथवा पकड रहा है वह उन म्थानों में से प्राणों के अन्तर्मुख होने की अवस्था है। इन सारे अनुभवों को द्रष्टा बन कर देखता रहे। इस भूमि में असक्ति का होना बन्धन का कारण है। कपिल मुनि ने तस्वसमास के उन्नीसवें सूत्र में इस को वैकारिक बन्ध बतलाया है, जो पांचों स्थल भूत (श्रीर उनसे बनी हर्ड वस्तएं) और ग्यारह इन्द्रियों अर्थात् इन सोलह विकृतियों में आसिक्त के कारण होता है।

विराम-प्रत्यय-क्रम्यास-पूर्वः = विराम प्रतीति का क्रम्यास है पूर्व जिसके। संस्कार रोषः = संस्कार जिसमें श्रेष हैं। क्रन्यः = दूसरा वर्धात् क्रसम्प्रज्ञात है।

क्षटिप्पणी — सूत्र के अर्थ वाचस्पति मिश्र की व्याख्या के त्राधार पर किये गए हैं। 'प्रसंखयं' पर को 'प्रतीति' अर्थ में लेकर सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है:—

यदि इसी भूमि में श्वासिक बनी रहे श्रीर श्रागे बढ़ने का यक्ष न किया जावे तो इस भूमि की पिएक श्रवस्था को प्राप्त किए हुए योगी इन साबिक संस्कारों को लिय हुए मनुष्य से ऊंची योनि श्रथवा मनुष्य लोक में उंची श्रेणी में जन्म लेते हैं। कई बालक श्रीर बालिकायें ऐसे देखने में श्राय हैं जो पिछले जन्म के संस्कारों से प्राप्त की हुई योग बुद्धि लेकर श्राय हैं। जो श्रमुभव साधारण मनुष्यों को लम्बे समय में भी होना कठिन था वह उनको बहुत थोड़े काल में प्राप्त हो गया।

विचार अनुगत समाधि:—स्थूल भूतों से परे तन्मात्राञ्चों तक सूक्ष्म भूतों की सूक्ष्मता का तारतस्य चला गया है। इसी के अन्तर्गत सारे सृक्ष्मलोक हैं, जो वास्त्रव में सूक्ष्म अवश्याओं के ही नाम हैं। सत्त्व की स्वच्छता के कारण ये अवश्याणं सङ्कल्पमयी और आनन्दमयी होती हैं, किन्तु सास्त्विकता और सूक्ष्मता के अनुसार ही इस संकल्प और आनन्द में भी भेद होता है। इसमें दो प्रकार का अनुभव होता है। एक वह जो भौतिक विज्ञान से सर्वथा विलक्षण होता है। इसको अपरोच झान कहना चाहिये। दूसरा वह जिसमें चित्त भूम संस्कार वृत्तिक्ष्प से उदय हो जाते हैं। इनको सास्त्विक हर्य कहते हैं। ये साधकों के अपने २ काल्पनिकक्ष में प्रकाशमय आकृति में प्रकाश आभास जैसे प्रकट होते हैं। वास्त्व में तो चित्त ही इन सास्त्विक संस्कारों से प्रेरित हुआ इन प्रकाशमय आकृति में प्रकाश ह्या इन प्रकाशमय आकृति में प्रवित्त हुआ इन प्रकाशमय आकृति में प्रकाश ह्या इन प्रकाशमय आकृति में प्रवित्त हुआ इन प्रकाशमय आकृति में प्रवित्त हुता है। यथा:—

"सीण वृत्तेरिभ नातस्येव मणेर्युहीत् ग्रहणग्राह्येषु तस्त्यतदञ्जनता समापत्तिः"।

अर्थ:—राजस् तामस् वृत्तिरहित स्वच्छ चित्त की उत्तम जातीय (श्रातिनर्मल) मिए के समान गृहीता प्रह्म श्रीर प्राध्व विषयों में स्थिर होकर उनके तन्मय हो जाना (उनके स्वरूप को प्राप्त हो जाना) समापत्ति है। किन्तु साधक को इस बात का तिनक भी भान नहीं होता है। वह उनको यथार्थ ही समम्मता है और उनके साथ भौतिक दशा से कहीं श्रीक स्पष्टरूप से ज्यवहार (बातें इत्यादि) कर सकता है। सल की स्वच्छता के कारण चित्त का इस समय का सारा ज्यवहार सत्य और निर्मल होता है। इन अनुभवों को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिये किसी पर तिनक्त भी प्रकट न होने देना चाहिये। इन टरयों को द्रष्टारूप से देखता रहे आसिक न होनी चाहिये। कोई र साधक इसकी आरिम्भक अवस्था को पाकर इतने विस्मित हो जाते हैं कि अपने को कृतकृत्य समम्मने लगते हैं और अपने इष्ट मिन्नों पर प्रकट करने लगते हैं कि इमको अमुक देवता अथवा देवी के दर्शन होगए हैं। इससे सर्व साधारण में तो वे सिद्ध प्रसिद्ध हो जाते हैं, किन्तु अन्दर से उनकी अन्नति रक जाती है और आगे का मार्ग वन्द हो जाता है। इस प्राप्त को हुई प्रतिष्ठा और अभिमान के खोर जाने के भय से किसी अनुभवी पथ-दर्शक से आगे का मार्ग पृक्षने में भी संद्वीच होने लगता है। इस दूसरी भूमिवालों के लिये ही विशेष कर योगदर्शन में इस प्रकार चेतावनी दी गई है:—

"स्थान्युपनियन्त्रणे सङ्गस्याकरणं पुनरनिष्ट्रयसङ्गात्" । (विम्॰ पा॰ स्॰ ५३)

अर्थ:—स्थान वालों के आदर भाव करने पर आसक्ति (लगाव) और अभिमान (घमएड = अहंकार) नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसा करने से फिर अनिष्ट के प्रसङ्ग का भय है।

उंची कोटि के साकार उपासक भक्तों का निमेल स्वच्छ चित्त ? उनके आभिमत एक निश्चित प्रकाशमय आकार वाली यृत्ति के रूप में स्वेच्छानुसार परिणित होने का अभ्यस्त हो जाता है। यह एकाप्रता की परिषक अवस्था परिषक वैराग्य और हद निष्ठा से होती है। जो योगी इसी विचारानुनत समाधि के आनन्द में आसक्त हो जाते हैं और आगे बदने का यत्न नहीं करते वे शरीरान्त होने पर अपनी भूमि की परिषक अवस्था अनुसार ही किसी दिव्यलोक के आनन्द को एक लम्बे समय तक भोगते रहते हैं। यह लोक एक प्रकार से सूक्ष्मता की सात्त्विक अवस्था ही है। इनकी मिश्रित संज्ञा स्थालोक, चन्द्रलोक तथा सोमलोक है और उनका मार्ग पितृयाण अथवा दित्त्वणायन के नाम से उपनिषदों में बतलाया गया है किन्तु इसको हमार्ग पृथिवी से बाहिर दिखलाई देने वाले इस भौतिक चन्द्रमा का न समम्मना चाहिये। यह इस स्थूल जगत् के अन्दर सूक्ष्म जगत् है। वहाँ के आनन्द की अपेत्वा से इसको स्वर्ग, सोम अथवा चन्द्र नाम दिया गया है और वहां का मार्ग भी बहिर्मुख गतिवाला नहीं है, किन्तु अन्दर को जाने वाला है, क्योंक ध्यान की अवस्था में अन्त्रमुख होते हैं न के बहिर्मुख। सूक्ष्म जगत् सूक्ष्म शरीर के सहर इस स्थूल जगत् के अन्दर होना चाहिये न कि बाहिर (देखों विभूतिपाद सूत्र ३६ के विरोध वक्तन्य संख्या २ में)।

सूक्ष्मता श्रीर श्रानन्द के तारतम्य से इस चन्द्रलोक, सोमलोक श्रथवा स्वगेलोक को भी कई श्रवान्तर भेदों में विभक्त किया गया है, जैसा कि हमने पड़दर्शन समन्वय प्रकरण ४ में तत्वसमास की सूत्र ४ व १८ की न्याख्या में विस्तारपूर्वक बतलाया है, किन्तु इन सूक्ष्मलोकों में ५ हुंच जाना कैवरुय श्रथोत् वास्तविक मुक्ति नहीं है, यथाः—

"न विशेषगतिनिधिकयस्य" (सां॰ अ॰ ५ सूत्र ७६)

अर्थ:—विशेष गति का प्राप्त हो जाना वास्तविक मुक्ति नहीं है, क्योंकि श्रास्मा श्रपने शुद्धज्ञान स्वरूप में निष्किय है।

संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलामोऽपि"। सा॰ भ॰ ५० सत्र ८०॥

अर्थ-संयोग वियोगान्त है। इसलिये किसी देश विशेष (चन्द्रलांक के अन्तर्गत किसी सूक्ष्म लोक) का लाभ भी वास्तविक मुक्ति नहीं है।

"मामस धुवनाञ्चोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मामुपेस्य तु कीन्तेय पुनजेन्म न विद्यते" ॥ गोता अ०८ वको १६ अर्थः—हे अर्जुन ! ब्रह्मलोक से लेकर सब लोक पुनरावतीं ख्रमाव वाले हैं । किन्तु हे कृत्तिपुत्र ! सुक्को (शुद्ध परमास्म तस्व) प्राप्त होकर पुनजेन्म नहीं होता है । इसलिये वास्तव में ये भी बन्धन रूप ही हैं। कपिल मुनि ने तत्त्व समास सूत्र १९ में इन लोकों की प्राप्ति को दाल्यिक बन्ध कहा है, जो सूक्ष्म इरिए और तन्मात्राओं तक सूक्ष्म विषयों में आसक्ति के कारण होता है। मलुष्य के मत्ये लोक की अपेला से तो ये लोक अमर कहलाते हैं और मलुष्य के बन्धनों की अपेला से इनकी प्राप्ति मुक्ति कही जा सकती है। किन्तु यह मुक्ति पुनरावर्तिनीरूप ही है जो निष्टुत्ति मार्ग वालों के लिये हेय है। एक लम्बे समय तक इन लोकों के सूक्ष्म आनन्द को भाग कर पिछली भूमि में प्राप्त की हुई योग्यता को लिये हुए ये योगी मलुष्य लोक में ऊंची श्रेणी के योगियों में जन्म लेते हैं। जिससे आत्मास्थिति प्राप्ति के लिये यल कर सकें।

आनन्दानुगतं समाधि:— इसमें आईकार का सालात्कार होता है। यह आहङ्कार का सालात्कार अन्य सूक्ष्म विषयों जैसा नहीं होता है, क्योंकि आहंकार तन्मात्राओं तक सारे सूक्ष्म विषयों और उनको विषय करने वाली ज्ञान-इन्द्रियों का ख्यं उपादान कारण है, आहङ्कार दूसरा विषम परिणाम है, जिसमें सत्त्व की वाहुत्यता है और सत्त्व गुण् में ही आनन्द (सुख) है। इसलिये इस भूमि में सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म विषयों से परे 'आहमिस' पृत्ति द्वारा केवल आहङ्कार के आनन्द का ही अनुभव होता है। जैसा कि गीता में बतलाया गया है:—

द्युख्यात्यन्तिकं यत्तद्वयुद्धि ग्राग्नपतीन्दियम् । वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्रलति तत्त्वतः ॥ यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यरिमन्दिथता न दुःखेन गुरुषापि विचालयते ।।गीवा भा १, १०० १३, २२ अर्थः — जिस श्रवसा में योगी उस परम सुख को जानता है जो बुद्धि से ही प्रहुण किया जाता है न कि इत्त्रियों से श्रीर नहीं उसमें स्थित हुआ तत्त्व से फिसलता है, जिस श्रानन्द को प्राप्त कर योगी उससे बढ़ कर श्राविक श्रीर कोई लाभ नहीं समम्त्रता है और जिस श्रवस्था में स्थित योगी महान् दुःख से भी कभी विचलित नहीं होता उस दुःखों के मेल से श्रलग श्रवस्था को योग नाम वाला जाने।

किन्तु इस श्रानन्दानुगत भूमि में भी श्रासक्त न होना चाहिये। जो योगी इस श्रानन्दानुगत भूमि को ही खरूप श्रवस्थित समक्त कर इसी में श्रासक रहते हैं और श्रागे श्रास्म साज्ञातकार करने का यत्न नहीं करते वे शरीरान्त होने पर विदेह (शरीर रहित) श्रवस्था में कैवल्य पद जैसी स्थिति को प्राप्त किये हुए इसी श्रानन्द को भोगते रहते हैं। यह बिदेहावस्था विचारानुगत भूमि में बतलाए हुए ब्रह्मलोक पर्यन्त सूक्ष्म लोकों से श्राधक सूक्ष्म, श्रीधक श्रानन्द श्रीर श्रीधक श्रवधि वाली है, किन्तु यह भी बन्धन रूप ही है। कैवल्य श्रामी वास्तिक मुक्ति नहीं, यथा:—

'नानन्दाभिष्यक्तिर्भक्तिर्निधर्मस्वातु' (सांख्य ५।७४)

अर्थ:—आनन्द का प्रकट होजाना मुक्ति नहीं है (क्योंकि वह आत्मा का) धर्म नहीं है (किन्तु अन्त:करण का धर्म है) अस्मितानुगत सम्प्रकात समाधि:—इसमें अस्मिता का सालात्कार होता है। अस्मिता का सालात्कार भी अहंकार के सालात्कार के सहरा सूक्ष्म विषयों जैसा नहीं होता है, क्योंकि अस्मिता पुरुष से प्रतिविश्वित अथवा प्रकाशित चित्र की संज्ञा है, जो अहंकार का वपादान कारण और गुणों का प्रथम विषम परिणाम है जिसमें सत्त्व ही सत्त्व है। राजस् क्रियामात्र और तमस वस क्रिया को रोकने मात्र के लिए है। इसलिये इसमें अहङ्कार रहित केवल 'अस्मि' शृति से अपरिक्षित्र, असीम और व्यापक आनन्द का अनुभव होता है। जो योगी इस असीम आनन्द में आसक्त रहते हैं वे शरीर छोड़ने पर अस्मिता अवस्था में कैवल्य पद जैसी स्थिति को प्राप्त किये हुए लम्बे समय तक इस आनन्द को भोगते रहते हैं। यह अवस्था विदेह अवस्था से अधिक सूक्ष्म, अधिक आनन्द और अधिक अविध वाली होती है। गुणों की साम्य अवस्था वाली मूल प्रकृति तो केवल अनुमान और आगम गम्य है और पुरुष के निष्प्रयोजन होती है। वास्तविक प्रकृति तो सुणों का प्रथम विषम परिणाम महतत्त्व (चित्त = चुद्धि) ही है। इसलिये इस अस्मिता प्रकृति को प्राप्त किये हुए योगियों की संज्ञा प्रकृतिलय बतलाई गई है। यह सब से उंची भूमि असीम आनन्द वाली और कैवल्य पद के तुल्य है। किन्दु बन्धन रूप ही है। वास्तविक कैवल्य नहीं है। यथा:—

'न कारणलयात् कृतकृत्यता मन्नवदुत्थानात्' (सां॰ १।५४)

अंधी:—कारण (श्रास्मता मुक्कति) में लय होने से पुरुष को क्वत कृत्यता (स्वस्त्य भ्राविध्यति) नहीं हो सकती क्योंकि उसमें डुबकी लगाने वालों के समान (पानी से उत्पर) श्रास्मिश्यित प्राप्त करने के लिये उठना (मनुष्य लोक में श्राना) होता है। कपिल सुनि प्रणीत तस्व समास में इन दोनों उचतर श्रीर उचतम भूमियों को प्राकृतिक बन्ध कहा गया है, क्रोंकि यद्यपि इनमें सौलह विकृतियों और पाँच तन्मात्राओं से सुक्ति प्राप्त हो जाती है, किन्तु विदेही को अर्हकार और पक्तिलयों को श्रास्मताओं में श्रासिक होने के कारण प्रकृति का बन्ध बना ही रहता है।

षिवेक ख्याति:— ऊपर यतला आए हैं कि पुरुष से प्रतिविभिन्नत अथवा प्रकाशित चित्त का नाम अस्मिता है। गुणातीत चैतन्य खरूप और त्रिगुणात्मक जड़ चित्त में भिन्नता का विवेक ज्ञान न रह कर अस्मिता की प्रतीति अस्मिता छेश है। जिससे असङ्ग पुरुष में सङ्ग का दाय आरोप होना आरम्भ होता है। इस प्रकार अस्मिता छेश ही राग, देश और अभिनिवेश छेश तथा सकाम कर्म, उनके फलों की वासनाएं उनके अनुसार जम्म आयु और भोग और उसमें सुख दुःख का कारण है। इसकी जननी अविद्या छेश है जो संस्व चित्त में लेशमात्र तमस् में बीज रूप से वर्त्तमान रहती है। विवेक ख्याति में त्रिगुणात्मक वित्त और अविद्या छेश अपने अन्य सब छेश रूपी परिवार सहित दग्धबीज तुस्य हो जाती है। अब वही लेशमात्र तमस् जिसमें अविद्या वर्तमान थी इस सारिक वृत्ति हो जाती है। अब वही लेशमात्र तमस् जिसमें अविद्या वर्तमान थी इस सारिक वृत्ति (विवेक ख्याति) को थिर रखने में सत्त्व का सहायक हो जाता है। आत्म साक्षात् करा विवेक ख्याति) को थिर रखने में सत्त्व का सहायक हो जाता है। जात्म साक्षात् करा वाली यह विवेक ख्याति भी चित्त ही की सबसे उच्चन सारिवक वृत्ति है। जिस प्रकार

वपेंगा (शीका) में दिखलाई देने वाला खरूप वास्तविक खरूप नहीं होता है इसी प्रकार चित्त में आत्मा का साचाकार वास्तविक खरूप श्रविश्वित नहीं है। इस प्रकार विवेक स्थाति से भी श्रासिक का हट जाना पर वैराग्य द्वारा होता है।

असम्प्रकात अथवा निर्वीजसमाधि:—पर वैराग्य द्वारा विवेक स्यातिरूप सास्विक वृत्ति के निरुद्ध होजाने पर द्रष्टा की शुद्ध चेतन परमात्म स्वरूप में श्रवस्थिति होती है। यही श्रमस्प्रकात श्रथवा निर्वीज समाधि कहलाती है। इस समय चित्त में कोई वृत्ति नहीं रहती है, किन्तु वृत्तियों को हटाने वाला निरोध का परिणाम रहता है। श्रारम्भ में श्रमस्प्रकात समाधि चिण्क (बहुत कम समय वाली) होती है, किन्तु ज्यों ज्यों धीरे धीरे निरोध के संस्कार ज्युत्थान के संस्थारों को मष्ट करते जाते हैं त्यों व्यों श्र्योक समय तक रहने वाली होती जाती है श्रीर इसकी श्रवस्था परिपक होती जाती है। श्रन्त में जब निरोध के संस्कार ज्युत्थान के सारे संस्कारों को नष्ट कर देते हैं तब वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार सांसा सुवर्ण के मल को जलाकर स्वयं भी जल जाता है। तब शरीर छोड़ने पर चित्त को बनाने वाले ग्रुण श्रपने २ कारण में लीन हो जाते हैं श्रीर द्रष्टा शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूप में श्रवस्थित हो जाता है। इस कैवल्य को सर्वासुक्ति कहते हैं। इस देहान्त श्रवस्था का उपनिवर्दों में निम्न प्रकार वर्णन श्राया है:—

'यो श्रकामो निष्काम श्राप्तकाम श्रात्मकामो न तस्य 'माखा उत्कामन्ति ब्रह्मौन सन् ब्रह्माप्येति'(इष्ट॰ ४।४।६)

अर्थ:—जो कामनाश्रों से रहित है, जो कामनाश्रों से बाहिर निकल गया है जिसकी कामनाएं पूरी हो गई है श्रथवा जिसको केवल श्रात्मा की कामना है उसके प्राण् (प्राण् श्रीर इन्द्रिपं.) नहीं निकलते हैं वह ब्रह्म ही हुश्रा ब्रह्म को पहुंचता है।

आदिस्यलोक देवयानः--

जिन योगियों ने श्रसम्प्रज्ञात समाधि का लाभ प्राप्त कर लिया है, किन्तु उनके चित्त से व्युक्ष्यान के सारे संस्कार श्रभी नट नहीं हो पाए हैं, कुछ शेष रह गए हैं, इस श्रवस्था में आरीरान्त होने पर वे श्रादित्य लोक को प्राप्त होते हैं श्रीर उनका मार्ग उत्तरायण कहलाता है, किन्तु श्रादित्यलोक विचार श्रमुगत सम्प्रज्ञात सामाधि में बतलाए हुए जैसा कोई स्क्ष्म लोक नहीं है श्रीर न यह दिखलाई देने वाला भौतिक स्थूल सूर्ण्य है प्रत्युत वह विशुद्ध सत्त्व मयिचत्त है जिस को हमें ईश्वर के चित्त के नाम से कई स्थानों में वर्णन किया है श्रीर देवयान श्रथवा उत्तरायण को भौतिक जैसी मित का श्रमुमान करना चाहिये, क्योंकि मार्ग श्रीर गित वाहिर की वस्तुओं में होती है। यहां इन शब्दों से श्रमप्ताय इन योगियों के चित्तों का विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में श्रन्तग्रुख होना है। वहां 'श्रमानव' ईश्वर के श्रमुमह हारा इन शेव व्युत्थान के संस्कारों के निवृत्त होने पर चित्त के गुर्गों के अपने कारण में लीन होने पर ये योगी शुद्ध परमास्म स्वरूप में श्रवस्थित प्राप्त करते हैं। यथा:—

"कार्यास्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिषानात" (वेदा॰ द॰ धारा)

अर्थ:—'ब्रह्मलोक में पहुँचकर वह कार्य्य (शवल ब्रह्म) को उलांघ कर उस कार्य्य से परे जो उसका अध्यक्त परब्रह्म है उसके साथ ऐश्रर्य्य को भोगता है। इसको क्रम मुक्ति कहते हैं।

अवतार:—स्वरूप श्रविधित को प्राप्त किये हुए जिन योगियों ने श्रपने चित्त से असम्प्रक्कात समाधि द्वारा व्युत्थान के सारे संस्कारों को नष्ट कर दिया है, किन्तु उनके चित्ता में प्राण्यियों के कल्याण का सङ्कल्प बना हुआ है तो उनके चित्तों को बनाने वाले गुण श्रपने कारण में लीन नहीं होते। ये चित्त श्रपने विद्याल साच्चिक स्वरूप से ईश्वर के विशुद्ध सच्चमय चित्त में, जिसमें मारे प्राण्यों के कल्याण का सङ्कल्प विद्यमान है, (समान सङ्कल्प होने से) लीन रहते हैं और वे कैवल्य पद के सहरा शुद्ध चेतन परमात्म स्वरूप में श्रविधत रहते हैं । ईश्वरीय नियम।नुसार संसार के कल्याण में जब उनकी श्रावश्यकता होती है तो वे इस भौतिक जगन में श्रवतीण होते हैं। दूसरे शब्दों में श्रवतार लेते हैं। यथा:—

''यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। इम्प्युत्त्यानमधेमस्य तदात्मानं छजाम्यहम् ॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥'' गीता॰

अर्थ:— है भारत जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब मैं अपने को प्रकट करता हूं (अपने शुद्ध स्वरूप से शवल स्वरूप में अवतरण करता हूं अर्थात् भौतिक जगत् में अवतार लेता हूं) सज्जनों की रहा करने के लिये और दृषित कार्य्य करने वालों का नाश करने के लिये युग २ में प्रकट होता हूं । तथा

"ब्रादि विद्वान् निर्माणिकत्तमिष्ठाय कारुएयाद् भगवान् परमर्षि राम्धरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं मोबाच "।

अर्थः—चादि विद्वान् भगवान् परम ऋषि (कपिल मुनि) ने निर्माण विरा (सांसारिक वासनाचों के संस्कारों से सृत्य) के श्रिधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए श्रासुरि मुनि को दया भाव से सांख्य तत्त्व समास का उपदेश दिया। तथा

''ऋषि: प्रसृतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभतिं''। (भे॰ भ॰)

अर्थः - पहिले उत्पन्न हुए कपिल मुनि को ज्ञान से भर देता है।

संगति:—सूत्र १८ में श्वसम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप दिखला कर श्वव श्राले सूत्र में यह बतलाते हैं कि जिन योगियों ने पिछले जन्म में विचार श्रनुगत से ऊंची श्वानन्दानुगत अथवा श्वस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की भूमि को प्राप्त कर लिया है उनको श्वसम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के लिये श्रन्य साधारण मनुष्यों जैसी पुरुषार्थ की श्रपेना नहीं होती। वे जन्म ही से पिछले योग वल के कारण इसके प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं।

हपेग्ण (शीका) में दिखलाई देने वाला खरूप वास्तविक खरूप नहीं होता है इसी प्रकार चित्त में आत्मा का साम्रात्कार वास्तविक खरूप श्रविशति नहीं है। इस प्रकार विवेक स्थाति से भी श्रासिक का हट जाना पर वैराग्य द्वारा होता है।

असम्प्रकात अथवा निर्वाजसमाधिः—पर वैराग्य द्वारा विवेक ख्यातिरूप सास्विक वृत्ति के निरुद्ध होजाने पर द्रष्टा की शुद्ध चेतन परमात्म स्वरूप में श्रविश्वित होती है। यही श्रवसम्प्रकात श्रथवा निर्वाज समाधि कहलाती है। इस समय चित्त में कोई वृत्ति नहीं रहती है, किन्तु वृत्तियों को हटाने वाला निरोध का परिणाम रहता है। श्रारम्भ में श्रवसम्प्रकात समाधि चिथक (बहुत कम समय वाली) होती है, किन्तु ज्यों ज्यों धीरे धीरे निरोध के संस्कार ज्युत्थान के संस्थारों को मष्ट करते जाते हैं त्यों त्यों श्रिषक समय तक रहने वाली होती जाती है श्रीर इसकी श्रवस्था परिपक होती जाती है। श्रन्त में जब निरोध के संस्कार ज्युत्थान के सारे संस्कारों को नष्ट कर देते हैं तब वे खयं भी नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार सांसा सुवर्ण के मल को जलाकर स्वयं भी जल जाता है। तब शरीर छोड़ने पर चित्त को बनान वाले गुण श्रपने २ कारण में लीन हो जाते हैं श्रीर द्रष्टा शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूप में श्रवस्थित हो जाता है। इस कैवस्थ को सद्योसुित कहते हैं। इस देहान्त श्रवस्था का उपनिवर्तो में निम्न प्रकार वर्णन श्राया है:—

'यो श्रकामो निष्काम श्राप्तकाम श्रात्मकामो न तस्य 'माणा उत्कामन्ति ब्रह्मीव सन् ब्रह्माप्येति'(इष्ट० ४।४।६)

अर्थ:—जो कामनाओं से रहित है, जो कामनाओं से बाहिर निकल गया है जिसकी कामनाएं पूरी हो गई हैं अथवा जिसको केवल आत्मा की कामना है उसके प्राग्ण (प्राण और इन्ट्रिएं) नहीं निकलते हैं वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को पहुंचता है।

आदिस्यलोक देवयानः-

जिन योगियों ने श्रसम्प्रज्ञात समाधि का लाभ प्राप्त कर लिया है, किन्तु उनके चित्त से ब्युत्यान के सारे संस्कार श्रभी नट नहीं हो पाए हैं, कुछ शेष रह गए हैं, इस श्रवस्था में शरीरान्त होने पर वे श्रादित्य लोक का प्राप्त होते हैं श्रीर उनका मार्ग उत्तरायण कहलाता है, किन्तु श्रादित्यलोक विचार श्रवुगत सम्प्रज्ञात सामाधि में बतलाए हुए जैसा कोई सुक्ष्म लोक नहीं है श्रीर न यह दिखलाई देने वाला भौतिक स्थूल सूर्ण्य है प्रत्युत वह विशुद्ध सत्त्व मयचित्त है जिस को हमने ईश्वर के चित्त के नाम से कई खानों में वर्णन किया है श्रीर देवयान श्रथवा उत्तरायण को भौतिक जैसी मित का श्रवुमान न करना चाहिये, क्योंकि मार्ग श्रीर गित वाहिर की वस्तुओं में होती है। यहां इन शब्दों से श्रीमप्राय इन योगियों के चित्तों का विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में श्रन्तगुंख होना है। वहां 'श्रमानव' ईश्वर के श्रवृप्त हु हारा इन शेष ब्युत्यान के संस्कारों के नियुत्त होने पर चित्त के गुणों के अपने कारण में लीन होने पर ये योगी श्रुद्ध परमात्म सकर में श्रवस्थित प्राप्त करते हैं। यथा:—

"कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिषानात्" (वेदा॰ द॰ ४।३।१०)

अर्थ:-- 'ब्रह्मलोक में पहुँचकर वह कार्प्य (शवल ब्रह्म) को उलांच कर उस कार्प्य से परे जो उसका अध्यक्त परब्रह्म है उसके साथ ऐश्वर्ष्य को भोगता है। इसको क्रम मुक्ति कहते हैं।

अवतार:—स्वरूप श्रविधित को प्राप्त किये हुए जिन योगियों ने श्रपने चित्त से श्रसम्प्रज्ञात समाधि द्वारा व्युत्थान के सारे संस्कारों को नष्ट कर दिया है, किन्तु उनके चित्ता में प्राण्यियों के कल्याण का सङ्कल्प बना हुश्चा है तो उनके चित्तों को बनाने वाले गुण् श्रपने कारण में लीन नहीं होते। ये चित्त श्रपने विद्याल सात्त्विक स्वरूप से ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में, जिसमें नारे प्राण्यों के कल्याण का सङ्कल्प विद्यमान है, (समान सङ्कल्प होने से) लीन रहते हैं और वे कैवल्य पद के सहश श्रुद्ध चेतन परमात्म स्वरूप में श्रविधित रहते हैं और वे कैवल्य पद के सहश श्रुद्ध चेतन परमात्म स्वरूप में श्रविधित रहते हैं । ईश्वरीय नियमानुसार संसार के कल्याण में जब उनकी श्रावश्यकता होती है तो वे इस भौतिक जगन में श्रवर्ताण्य होते हैं। दूसरे शब्दों में श्रवतार लेते हैं। यथा:—

''यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । इप्रभुत्थानमधेमस्य तदात्मानं छजाम्यहम् ॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥'' गीताः

अर्थः—हे भारत जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब मैं अपने को प्रकट करता हूं (अपने शुद्ध स्वरूप से शवल स्वरूप में अवतरण करता हूं अर्थात् भौतिक जगत् में अवतार लेता हूं) सज्जनों की रहा करने के लिये और दृषित कार्य्य करने वालों का नाश करने के लिये युग २ में प्रकट होता हूं। तथा

"मादि विद्वान् निर्माणि वित्तमिष्ठाय कारुएयाद् भगवान् परमर्षि राम्नुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं मोवाच "।

भर्थः—चादि विद्वान् भगवान् परम ऋषि (कपिल मुनि) ने निर्माण चित्त (सांसारिक वासनाचों के संस्कारों से शून्य) के श्रिधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए श्रासुरि मुनि को दया भाव से सांख्य तत्त्व समास का उपदेश दिया। तथा

''ऋषिः प्रसृतं किपलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभितं''। (वे॰ व॰)

अर्थः - पहिले उत्पन्न हुए किपल मुनि को ज्ञान से भर देता है।

संगति:—सूत्र १८ में असन्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप दिखला कर अब अगले सूत्र में यह बतलाते हैं कि जिन योगियों ने पिछले जन्म में विचार अनुगत से ऊंची आनन्दानुगत अथवा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की भूमि को प्राप्त कर लिया है उनको असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्त के लिये अन्य साधारण मनुष्यों जैसी पुरुषार्थ की अपेचा नहीं होती। वे जन्म ही से विज्ञले योग बल के कारण इसके प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं।

द्पेग् (शीशा) में दिखलाई देने वाला खरूप बासविक खरूप नहीं होता है इसी प्रकार चित्त में आत्मा का साम्रात्कार वास्तविक खरूप श्रविशति नहीं है। इस प्रकार विवेक ख्याति से भी श्रासिक का हट जाना पर वैराग्य द्वारा होता है।

असम्प्रकात अथवा निर्वीजसमाधि:—पर वैराग्य द्वारा विवेक ख्यातिरूप साश्विक वृत्ति के निकद्ध होजाने पर द्रष्टा की शुद्ध चेतन परमात्म स्वरूप में श्रवस्थिति होती है। यहीं श्रसम्प्रकात श्रथवा निर्वीज समाधि कहलाती है। इस समय चित्त में कोई वृत्ति नहीं रहती है, किन्तु वृत्तियों को हटाने वाला निरोध का परिणाम रहता है। श्रारम्भ में श्रसम्प्रकात समाधि चिश्क (बहुत कम समय वाली) होती है, किन्तु ज्यों ज्यों धीरे धीरे निरोध के संस्कार ज्युत्थान के संस्थारों को मष्ट करते जाते हैं त्यों त्यों श्रीषक समय तक रहने वाली होती जाती है । श्रन्त में जब निरोध के संस्कार ज्युत्थान के सारे संस्कारों को नष्ट कर देते हैं तब वे खयं भी नष्ट हो जाते हैं । जिस प्रकार सांसा सुवर्ण के मल को जलाकर खयं भी जल जाता है। तब शरीर छोड़ने पर चित्त को बनाने वाले गुण श्रपने २ कारण में लीन हो जाते हैं श्रीर द्रष्टा शुद्ध चेतन परमात्मस्वरूप में श्रवस्थित हो जाता है। इस कैवल्य को सद्योमुक्ति कहते हैं। इस देहान्त श्रवस्था का उपनिपदों में निम्न प्रकार वर्णन श्राया है:—

'यो श्रकामो निष्काम श्राप्तकाम श्रात्मकामो न तस्य 'माखा उत्कामन्ति ब्रह्मीव सन् ब्रह्माप्येति'(इस॰ ४।४।६)

अर्थ:—जो कामनाओं से रहित है, जो कामनाओं से बाहिर निकल गया है जिसकी कामनाएं पूरी हो गई है अथवा जिसको केवल आत्मा की कामना है उसके प्राया (प्राया और इन्द्रिएं) नहीं निकलते हैं वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को पहुंचता है।

आदिस्यलोक देवयानः—

जिन योगियों ने श्रसम्प्रज्ञात समाधि का लाभ प्राप्त कर लिया है, किन्तु उसके चित्त से उपुत्थान के सारे संस्कार श्रभी नट नहीं हो पाए हैं, कुछ शेष रह गए हैं, इस श्रवस्था में अरीरान्त होने पर वे श्रादित्य लोक का प्राप्त होते हैं श्रीर उनका मार्ग उत्तरायण कहताता है, किन्तु श्रादित्यलोक विचार श्रनुगत सम्प्रज्ञात सामाधि में बतलाए हुए जैसा कोई सूक्ष्म लोक नहीं है श्रीर न यह दिखलाई देने वाला भौतिक स्थूल सूर्त्य है प्रत्युत वह विद्युद्ध सत्त्व मयचित्त है जिस को हमने ईश्वर के चित्त के नाम से कई खानों में वर्णन किया है श्रीर देवयान श्रथवा उत्तरायण को भौतिक जैसी मित का श्रनुमान न करना चाहिये, क्योंकि मार्ग श्रीर गित बाहिर की वस्तुओं में होती है। यहां इन शब्दों से श्रभिप्राय इन योगियों के चित्तों का विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में श्रन्तभुंख होना है। वहां 'श्रमानव' ईश्वर के श्रनुमह हारा इन शेष व्युत्थान के संस्कारों के निवृत्त होने पर चित्ता के गुगों के अपने कारण में लीन होने पर ये योगी श्रुद्ध परमात्म स्वरूप में श्रविश्वित प्राप्त करते हैं। यथा:—

"काटर्यास्यये तदध्यक्षेषा सद्दातः परमभिषानात्" (वेदा॰ द॰ ४।३।१०)

अर्थ:-- 'ब्रह्मलोक में पहुँचकर वह कार्य्य (शवल ब्रह्म) को उलांच कर उस कार्य्य से परे जो उसका अध्यक्ष परब्रह्म है उसके साथ ऐश्वर्य्य को भोगता है। इसको क्रम मुक्ति कहते हैं।

अवतार:—स्वरूप श्रविश्वित को प्राप्त किये हुए जिन योगियों ने श्रपने चित्त से श्रमम्प्रज्ञात समाधि द्वारा व्युत्थान के सारे संस्कारों को नष्ट कर दिया है, किन्तु उनके चित्ता में प्राणियों के कल्याण का सङ्कल्प बना हुश्या है तो उनके चित्तों को बनाने वाले गुण श्रपने कारण में लीन नहीं होते। ये चित्त श्रपने विद्याल सास्विक स्वरूप से ईश्वर के विशुद्ध सस्वमय चित्त में, जिसमें मारे प्राणियों के कल्याण का सङ्कल्प विद्यमान है, (समान सङ्कल्प होने से) लीन रहते हैं और वे कैवल्य पद के सहश श्रुद्ध चेतन परमात्म स्वरूप में श्रविश्व रहते हैं। ईश्वरीय नियमानुसार संसार के कल्याण में जब उनकी श्रावश्यकता होती है तो वे इस भौतिक जगन में श्रवतीर्ण होते हैं। दूसरे शब्दों में श्रवतार लेते हैं। यथा:—

''यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्त्यानमधेमस्य तदात्मानं छजान्यहम् ॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥'' गीवाः

अर्थः—हे भारत जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब मैं अपने को प्रकट करता हूं (अपने शुद्ध स्वरूप से शवल स्वरूप में अवतरण करता हूं अर्थात् भौतिक जगत् में अवतार लेता हूं) सज्ञनों की रज्ञा करने के लिये और दृषित कार्य्य करने वालों का नाश करने के लिये युग २ में प्रकट होता हूं । तथा

"मादि बिद्वान् निर्माणिकत्तमिष्ठाय कारुपयाद् भगवान् परमर्षि रासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं पोवाच "।

अर्थः—श्वादि विद्वान् भगवान् परम ऋषि (कपिल मुनि) ने निर्माण विश (सांसारिक वासनाओं के संस्कारों से शुन्य) के श्वधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए श्रासुरि मुनि को दया भाव से सांख्य तत्त्व समास का उपदेश दिया। तथा

''ऋषि: प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्विभतिं''। (थे॰ थ॰)

अर्थ: पहिले उत्पन्न हुए कपिल सुनि को ज्ञान से भर देता है।

संगतिः—सूत्र १८ में असम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप दिखला कर अब अगले सूत्र में यह बतलाते हैं कि जिन योगियों ने षिछले जन्म में विचार अनुगत से ऊंची आनन्दानुगत अथवा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की भूमि को प्राप्त कर लिया है उनको असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्त के लिये अन्य साधारण मनुष्यों जैसी पुरुषार्थ की अपेचा नहीं होती। वे जम्म ही से विद्युले योग बल के कारण इसके प्राप्त करने की योग्यता रखते हैं।

भवपत्ययोविदेइमक्रतिलयानाम् ॥ १६ ॥

द्यार्थ्यार्थ—भव-प्रत्ययः = जन्म से ेही प्रतीति । विदेह-प्रकृति-लयानाम = विदेह चौर प्रकृतिलयों को होती है ।

अन्वयार्थ – विदेह और प्रश्नतिलयों को जन्म से ही असम्प्रज्ञात-समाधि की प्रतीति होती है।

व्याक्या—सन्नहवें सूत्र में बतला आये हैं कि विरेह वे योगी हैं जो वितर्कानुगत तथा विवारानुगत समाधि को सिद्ध करके हारीर से आत्माध्यास छोड़ चुके हैं और आनन्दानुगत भूमि में प्रवेश होकर उमका अध्यास कर रहे हैं। उनका देह में आत्मा-भिमान निवृत्त हो गया है। इसलिय विदेह कहलात हैं। शक्तिलय वे योगी हैं जिन्होंने आनन्दानुगत को सिद्ध कर लिया है और सातों प्रकृतियों का सान्नात् करते हुए अस्मितानुगत समाधि का अध्यास कर रहे हैं।

कोई-कोई योगी इन दोनों समाधियों की मनोरखक, आनन्दमय और शान्त अवस्थाओं को ही आत्मावस्थिति समभकर इन्हीं में मन्न रह जात हैं और उनमें संतुष्ट होकर आगे बढ़ने का यल नहीं करते । शरीरान्त होने पर ये विदेह योगी अपने संस्कार-मात्र के उपयोग बाले चित्त से कैवल्य-पद के समान एक लम्बे समय तक आनन्द और ऐश्वर्य को भागते हैं । इसी प्रकार प्रकृतिलय अपने अधिकार के सिहत चित्त के साथ शरीर त्याग के पश्चात् विदेशें से भी अधिक लम्बे समय तक अस्मता प्रकृति में कैवल्य-पद के समान आनन्द अनुभव करते हैं । किन्तु यह वास्तविक स्वरूपावस्थित (मुक्ति) नहीं है, जैसा कि सांख्यदर्शन में बतलाया गया है:—

नानन्दाभिव्यक्तिर्भक्तिर्निर्धर्मत्वात् ॥ (सां॰ पाण्थ)

अर्थ—स्थानन्द का प्रकट हो जाना मुक्ति नहीं है (क्योंकि यह स्थात्मा का) धर्म नहीं है (किन्तु स्थन्त:करण का धर्म है)।

न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्यानात् ॥ (सां॰ ३।५४)

अर्थ —कारण् (श्रिस्मता प्रकृति) में लय होने से (पुरुष को) कृतकृत्यता (स्वरूपा-विस्थिति) नहीं हो सकती है, क्योंकि उसमें डुबकी लगाने वाले के समान (पानी से ऊपर) उठना होता है, श्रर्थात् जिस प्रकार डुबकी लगाने वालों को एक निश्चित समय तक पानी में रहने के पश्चात् श्वास लेने के लिये पानी से ऊपर उठना होता है इसी प्रकार विदेह और फ्रितलयों को भी परम तत्त्वज्ञान श्रथवा श्वास्मिश्चित प्राप्त करने के लिये फिर जन्म लेना पहता है। उनकी समाधि भवप्रत्यय कहलाती है।

प्रस्थय नाम प्रतीति, प्रकट होने, ज्ञान होने के हैं क्योंन् जन्म से ही जिसकी प्रतीति होती है कथवा जो जन्म से ही प्रकट होता है क्योंन् जन्म से ही जिस क्यसम्प्रज्ञात समाधि के प्राप्त करने की योग्यता होती है इसे 'भवप्रस्थय' कहेंगे; क्यथवा 'भवान् प्रस्ययः भवेप्रस्ययः' 'भवात्' नाम जन्म से, 'प्रत्यय' नाम ज्ञान; जन्म से ही है ज्ञान जिस असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति का, उसका नाम 'भवप्रत्यय है।

अथवा 'भव' नाम जन्म का है और 'प्रत्यय' कारण को कहते हैं। 'भव-प्रत्यय' से यह अभिप्राय है कि इनका चित्त पूर्व जन्म की योग-सिद्धि के प्रभाव से जन्म से ही असम्प्र-ज्ञात योग में प्रवृत्त होता है।

इन विदेह और प्रकृतिलय योगियों को असम्प्रज्ञात योग की प्राप्ति-विषयक ज्ञान का अधिकार प्राप्त होता है। वे श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रज्ञा आदि साधनों का पूर्व जन्म में अध्यास कर चुके हैं इसलिये उनको इन साधनों की आवश्यकता 'उपाय प्रत्यय' वाले योगियों की भाँति इस जन्म में नहीं होती । पिछले जन्म के अध्यास के संस्कार के बल से उनको पर वैराग्य उदय होकर 'विराम-प्रत्यय' के अध्यास-पूर्वक असग्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध हो जाती है। भगवाम कृष्ण जी ने श्रीमङ्गावद्गीता अध्याय छ: में ऐसे विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मिता अनुगत भूमियों के योगियों की संज्ञा जिन्होंने इवहपावस्थिति को शरीर त्याग से पूर्व लाभ नहीं कर पाया है योगभ्रष्ट कह करके उनकी गति इस प्रकार वतलाई है:—

पार्थ नैवेड नाम्चत्र विनाशस्तस्य विद्यते। नडि कल्याण्कृत्कश्चिद्ध दुर्गति तात गच्छति॥ ४०॥

अर्थ — हे अर्जुन, उसका न इस लोक में, न परलोक में, कोई विनाश होता है। हे तात, कोई भी कल्याण करने वाला दुर्गित को प्राप्त नहीं होता।

> भाष्य पुरायकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः । जुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

अर्थ-योगभ्रष्ट पुरवात्माओं के लोकों को प्राप्त होकर वहाँ बहुत काल तक निवास करके फिर उनके घर में जन्म लेता है जो शुचि श्रीर श्रीमान हैं।

> म्रथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् । एतद्धि दुर्बभतरं लोके जन्म यदीदशम् ॥ ४२ ॥

अर्थ - स्रथना बुद्धिमान् योगियों के कुल में ही जन्म लेता है। लोक में इस प्रकार का जो जन्म है वह बढ़ा दुर्लभ है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेशिकम्। यतते चततो भूयः संसिद्धौ कुकनन्दन ॥ ४३ ॥

अर्थ-वहाँ उसे पूर्व जन्म की (योगवाली) बुद्धि मिल जाती है। और हे कुर-नन्दन (मर्जुन), वह फिर सिद्धि के लिये यह करता है।

۷

पूर्वाभ्यासेन तेनैव हि्यते श्ववशोऽपि सः। जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्रते॥ ४४॥

अर्थ—वह उसी पहले श्रभ्यास से श्रवहा होकर (सिद्धि में) खींच लिया जाता है। योग का जिज्ञासु भी शब्द बद्धा से श्रागे निकल जाता है।

> मयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिन्त्रिषः। स्रनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परांगतिम्॥ ४५॥

अर्थ — योगी लगातार प्रयक्ष करता हुआ धीरे-धीरे सारे पापों को धोकर अनेक जन्मों की सिद्धि के अनन्तर परम गति को पा जाता है।

विशेष वक्तव्य सूत्र १९:—कई भाष्यकारों ने इस सूत्र के आन्ति जनक अर्थ किये हैं। इस का मूल कारण वाचस्पति मिश्र के 'भव प्रत्यय' के सम्बन्ध में अयुक्त और 'विदेह तथा प्रकृतिलय' के प्रति संकीर्ण और पद्मपात पूर्ण विचार हैं, जिनका उन्होंने न केवल अन्करण ही किया है किन्तु उनकी और अधिक विकृत रूप में दिखलाने का यक्न किया है। विज्ञान भिश्र ने इन सब वातों का समाधान तो कर दिया है, किन्तु 'विदेह और प्रकृतिलय' का जो म्वरूप उन्होंने यहां तथा 'साँख्य प्रवचन भाष्य में दिखलाया है वह स्वयं आपित जनक है। इसलिये अपनी ज्याख्या के समर्थनार्थ ज्यास भाष्य का भाषातुवाद तथा अन्य सब सन्देहों और आनित्यों के निवारणार्थ वाचस्पति मिश्र के 'तक्त्व वैशारदी' और विज्ञान भिश्रु के 'योग वार्तिक' का, भाषानवाद कर देना आवश्यक प्रतीत होता है।

व्या० भा० का भाषानुवाद स्० १९:—िवदेह देवों की श्रसम्प्रज्ञात समाधि का नाम 'भव प्रत्यय' है। वे विदेह अपने संस्कार मात्र के उपयोग वाले चित से कैवस्य पद के समान अनुभव करते हैं। वे श्रपने संस्कार के समान फल भोग कर लौटते हैं (श्रथीत आनन्दानुगत भूमि में श्रासक्त योगी शरीर त्यागने के पश्चात् एक लम्बे समय तक विदेह श्रवस्था में कैवस्य पद के समान श्रनुभव करते हैं किर श्रपनी पिछली योग भूमि की बुद्धि को लिये हुए इस लोक में ऊंचे योगियों के कुल में जन्म लेते हैं। उनको जन्म से ही श्रसम्प्रज्ञात समाधि की योग्यता होती है। इसलिये उनकी समाधि भव प्रत्यय कहलाती है) इसी प्रकार 'प्रश्चितलय' भी श्रपने साधिकार चित्त के (श्रस्मिता) प्रश्चित में लीन होने पर कैवस्य पद के समान श्रनुभव करते हैं। जब तक कि चित्त के श्रधकार वश्च से पुनः इस लोक में नहीं लौटते (अर्थान् इमी प्रकार श्रम्भितानुगत भूमि में श्रासक्त योगी शरीर छोड़ने के पश्चात् एक लम्बे समय तक श्रस्मिता प्रश्चतिलय श्रवस्था में कैवस्य पद जैसी स्थित को श्रनुभव करते हैं, फिर इस लोक में उंचे योगियों के कुल में श्रपनी पिछली भूमि के योग की बुद्धि को लिये हुए जन्म लेते हैं इन को भी श्रसम्प्रज्ञात समाधि की जन्म से ही योग्यता होती है। इसलिय इन्ही समाधि भी 'भवप्रत्यय' कहलाती है)

वाचस्पति मिश्र के तत्व वैद्यारदी सूत्र १९ का भाषानुवाद:—निरोध समाधि के बावान्तर भेद को,—जो कि हान (त्याग) और उपादान (मह्या) में अंग है,—उसे दिखलाते हैं "कि यह निरोध समाधि दो प्रकार की है उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय"। उपाय का अर्थ है, आगे कहे जाने वाले श्रद्धा आदि । वह श्रद्धा आदि है प्रत्यय, अर्थात्, कारण जिस निराध समाधि का उस निरोध समाधि को उपायत्रत्यय कहते हैं। होते हैं श्रयोत उत्पन्न होते हैं जन्त इसमें, -इस श्रर्थ में भव का श्रथ है श्रविद्या। भूत श्रीर इन्द्रिय-रूपी विकारों, अथवा अञ्यक्त, महत्, अहङ्कार, पश्चतन्यात्रारूपी शक्कतियों में - जो कि अना-त्म हैं,-श्रात्मख्याति होती है तौष्टिकों को, जो कि वैराग्य सम्पन्न हैं। भव है प्रत्यय श्रर्थात कारण जिस निरोध समाधि का उसे भवश्यय कहते हैं। उन दोनों में उपायश्यय (समाधि) योगियों को होती है जिन का कि वर्णन करेगें। इस विशेष विधान द्वारा यह दशोया है कि शेष का मुमक्ष के साथ सम्बन्ध नहीं है। तो किन की भवपत्यय (समाधि) होती है -- इस सम्बन्ध में सूत्र द्वारा उत्तर कहा है। "भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम,--का श्रथे है विदेहों की श्रीर प्रकृतिलयों की । इसकी व्याख्या करते हैं.— "विदेहानाम = देवा-नाम भवप्रत्ययः" भूत और इन्द्रिय इन में से किसी को जो आत्मा मानत हैं और उसकी उपासना द्वारा उसकी वासना से जिनका श्रन्तः करण वासित है, वे देहपात के बाद इन्द्रियों वा भतों में लीन हो जाते हैं और उनके मनों में केवल संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं, और वे छ: कोशों वाले शरीर से रहित हो जाते हैं, इन्हें विदेह कहते हैं । वे "अपने संस्कार मात्र के उपयोग वाले चित्त" द्वारा कैवल्य पद की सदश अवस्था का अनुभव करते हुए अर्थात प्राप्त करते हुए, विदेह हैं। कैवल्य के साथ इनका सादृश्य है, 'बृत्तिगृन्य' होना, इनके चित्त में श्राधकार सिंहत - संस्कार का शेष रहना (कैवल्य से) वैरूप्य है । कहीं मूल पाठ है 'संस्कारमात्रोपभागेत', इसका अर्थ यह है कि संस्कारमात्र ही जिसका उपभोग है, जिसमें कि चित्तवृत्ति नहीं है,—एसं चित्त द्वारा। श्रवधि को प्राप्त होजाने पर. उस जाति वाले अपने संस्कार-विपाक को वे अतिक्रमण करते हैं श्रीर फिर भी संसार में प्रवेश करतं हैं। वायुपुराण में कहा भी है:--

"दश मन्वन्तराणीइ तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः । भौतिकास्तु शतं पृष्णेम्" इति ।

"इस मन्वन्तरों तक इस अवस्था में इन्द्रियचिन्तक रहते हैं, और भूत चिन्तक तो पूरे सौ मन्वन्तरों तक"

तथा प्रकृति । य जो कि अञ्यक्त, महत्, अहंकार, पश्चतन्मात्राओं में से किसी को आत्मा मानत हैं, वे उसकी उपासना द्वारा उसकी वासना से वासित अन्तःकरण वाले, देह-पात के पश्चात्, अञ्यक्त आदि में से किसी में लीन हो जाते हैं।

साधिकार चित्त का अथे है अचरितार्थ चित्त, इस प्रकार ही चित्त चरितार्थ होता यदि विवेकख्याति को भी वह पैदा करता, नहीं पैदा हुई सत्त्व और पुरुष में भेद ख्याति जिसकी ऐसे चित्त की---जोकि अचरितार्थ है (अथात् जिसने अभी तक प्रयोजन पूरा नहीं किया) साधिकारता तो बनो हुई है। प्रकृतिसाम्य को प्राप्त करके भी चित्र अवधि प्राप्त कर फिर भी प्रादुर्भूत होता है और उसके वाद विवेक को प्राप्त करता है जैसे कि वर्षा की समाप्ति पर सृद्धाव को प्राप्त हुआ मराङ्कदेह फिर मेघ जल धारा के सिश्वन से मराङ्कदेह सत्ता का अनुभव करता है। वायुपुराग्ए में कहा कि—

> "सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥ बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः । पूर्णे शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ॥ पुरुषं निर्णूणं भाष्य कालसंख्या न विद्यते" ।

हजार मन्वन्तरों तक आभिमानिक (अहङ्कारचिन्तक), दश हजार मन्वन्तरों तक बौद्ध स्थित रहते हैं, बिना दुःख अनुभव किये अध्यक्त चिन्तक एक लाख मन्वन्तरों तक स्थित रहते हैं और निर्मुण पुरुष का प्राप्त कर काल की कोई संख्या नहीं रहती ।

चूंकि यह (अर्थात् भवप्रत्यय) पुनर्भव (अर्थात् पुनर्जन्म) की प्राप्ति का हेतु है

द्यतः हेयं है।

समीचाः-वाचरपति मिश्र ने उपासना का शब्द चिन्तन, भावना विशेष, समापत्ति

श्चर्थात समाधि के श्वर्थ में प्रयाग किया है।

(१) पांचों स्थूलभूतों तथा उनके अन्तर्गत स्थूल शरीर और इन्द्रियों की भावना से युक्त वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। पांचों तन्मात्राओं तक स्टूस्म भूतों तथा उनके अन्तर्गत सारे स्टूस्म विषयों की भावनाओं से युक्त विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इन दोनों से परं 'अहिमिति' गृत्ति वाली अहंकार की भावना से युक्त आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इसलिये आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इसलिये आनन्दानुगत भूमि में आसिक्त वाले योगी ही देहपात के प्रश्चात विदेह देवपद को प्राप्त हो सकते हैं न कि स्थूल भूतों और इन्द्रियों की भावना से युक्त वितर्कानुगत भूमि वाले। और अस्मिन तानुगत भूमि में आसिक्त वाले योगी ही (अस्मिता) प्रकृतिलय देवपद को प्राप्त हो सकते हैं न कि तन्मात्राओं और अहङ्कार की भावना से युक्त विचारानुगत और आनन्दानुगत भूमि वाले योगी उसहिस्का योगी जैसा कि हमने १८ वें सूत्र की ज्याख्या तथा उसके विशेष वक्तव्य में दिखलाया है। (२) भोज महाराज ने भी अपनी १७ वें सूत्र की गृत्ति में ऐसा ही बतलाया है यथा:—

यदा तु रजस्तभोलेशानुविद्धमन्तः करणसम्बं भाष्यते, तदा ग्रुणभावा-चितिशक्तेः मुख्यमकाशमयस्य सन्वस्य भाष्यमानस्योद्वेकात्सानन्दः समाधिर्भवति । अस्मिक्षेव समाधौ ये बद्धशुत्तगस्तत्वान्तरं प्रधानपुरुषरूपं न पश्यन्ति ते विगत-देशाइङ्कारत्वाद्व विदेश शब्दवाच्याः" ।

अर्थ: — जब रज और तम के किश्वित् लेश से युक्त हुआ अन्तः करण सस्य की भावना करता है तब चिति शक्ति के गुणुरूप होने से सस्य (चित्त) ध्येय की प्रवलता के कारण सरत (चित्त) के मुख प्रकाशमय हो जाने के कारण सरविचत्त में आनन्द प्रतीत होता है। इसी समाधि में जा आसक्त हागए हैं और प्रधान पुरुष भेद रूप विवेक ख्याति को नहीं प्राप्त करते हैं वे योगी देह के ऋहक्कार निशृत्त होजाने से (देह में आत्मान्यास हट जाने के कारण) विदेह कहलाते हैं। यह प्रहण अर्थात् अहङ्कार पृत्ति विशिष्ट अन्तःकरण विषयक समाधि है।

"ततः परं रजस्तमोत्तेशानिभभूतं शुद्धसस्यमालम्बनीकृत्य या प्रवर्तेते भावना तस्यां ग्राह्मस्य सस्वस्य न्यग्भावात्, चितिशक्तेष्ट्रेकात् सत्तामात्रावशेषत्वेन समाधिः सास्मिता इत्युच्यते। नचाहङ्कारास्मितयोरभेदः शङ्कनीयः।
यतो यत्रान्तः करणमहमित्युक्लेलेन विषयान् वेदयते सोऽहङ्कारः। यत्रान्तश्रृंखनया मतिलोमपरिणामे प्रकृतिलीने चेतसी सत्तामात्रमवभाति सास्मिता।
श्रास्मन्नेव समाधौ ये कृतपरितोषाः परमात्मानं पुरुषं न परयन्ति तेषां चेतसि
स्वकारणे लयद्वपागते मकृतिलया इत्युच्यन्ते"।

अर्थ—उस अहंकार से आगे अन्तमुंख होने पर रजस्तम के लेहा से शून्य सस्व-चित्त को विषय बनाकर जो भावना की जाता है तो उसमें प्राह्मचित्त का अन्य रूप हो जाता है। वह चिति शक्ति की प्रवलता के साथ सत्तामात्र से शेष रह जाता है। इसलिय अस्मिता नाम वाली समाधि कहलाती है। अहंकार और अस्मिता इन दोनों में अभेद की शंका न करनी चाहिय। क्योंकि जिस काल में अन्तःकरण द्वारा 'अहमिति' 'मैं हूँ' इस भाव से चित्रित हुआ चित्त विषय को जानता है, वह अहंकार कहलाता है और जहां 'अहमिति' इस प्रकार की शृत्ति को छोड़कर चित्त उलटे परिणाम से प्रकृति (अस्मिता) में अन्तसुंख होता है और केवल सत्ता मात्र से रहता है तो वह अस्मिता कहलाता है। इसी समाधि में जिन्होंने सन्तोष कर लिया है ऐसे योगी परमारमा पुरुष का नहीं देखते हैं। उनका चित्त अपने कारण अस्मिता (प्रकृति) में लय को प्राप्त होने के कारण उनको "प्रकृतिलय" कहते हैं"।

(३) विदेह और प्रकृतिलय देवों की अवस्था अन्य सब दिव्य लोक लोकान्तरों के देवों की अपेचा से तो सब से अधिक दिव्य सूक्ष्म स्वास्त्रिक और उन्नतम है किन्तु साधिकार चित्त होने के कारण कैवल्य नहीं है। इसीलियं व्यासभाष्य में उनकी अवस्था के लियं 'कैवल्य पद इव' कैवल्य पद जैसी लिखा गया है। तथा विभृति पाद सूत्र २६ के व्यास भाष्य में भी ऐसा ही बतलाया गया है।

''त एते सप्त लोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः। विदेहमकृतिलयास्तु भोत्तपदे वर्तेन्ते न लोकपध्ये न्यस्ता इति''।

अर्थ-इन पूर्वोक्त सातों लोकों को ही ब्रह्मलोक जामना चहिबे (जिनमें वितर्कानुगत

भूमि की परिपक अवस्था में विचारानुगत भूमि, तथा आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमि की आर्श्मिक अवस्था में आसक्त यांगी शर्गर त्यागने के पश्चात् अपनी-अपनी भूमियों के कमानुसार सूक्ष्म शर्रार के साथ निवास करत हैं। विदेह और अकृतिलय योगी कैवल्य पद के तुख्य स्थित में हैं, इसलिय वे किसी लांक में निवास करने वालों के साथ नहीं उपन्यास किय गए।

(५) भव क अथे यहां श्रांवद्या लेना ठांक नहीं है, क्योंक श्रांवद्या अथवा मिथ्या-ज्ञान से कैवल्य पद तुल्य श्रिांत अथवा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त नहीं हो सकती । असम्प्र-ज्ञात समाधि तो विवकल्याति द्वारा प्राप्त होती है जिसमें श्रविद्या आदि सारे छेश दग्धवीज

तस्य हां जाते हैं।

(६) विदेह और प्रकृतिलयों की कैवल्यपद तुल्य स्थिति को उस की निकृष्टता दिखलाने के लियं वर्षा के पश्चात् सृद्भाव को प्राप्त कियं हुए मराडूक जैसी बतलाकर उसका उपहास करना भी श्रमुंचित है, क्योंकि यद्याप ये दानों चित्त की स्थितियों विवेक स्थाति की प्राप्त कियं हुए नहीं है तथापि रज तम से सून्य हुआ चित्त इनमें अपने सुद्ध खच्छ सास्विक स्प्प में ।चांत शांक के प्रकाश से भासता है। याद इस श्रवश्चा को मराडूक के मृद्भाव को प्राप्त होने के सदश और पुनर्जन्म को जावित भाव प्राप्त होने के समान कहा जावे तो विवेक ख्यात क पश्चात् श्रपुनरावातनी कैवल्य मराडूक के ऐसे मृद्धाव प्राप्त होने के सहश मानी जाबेती जिसके कभी जीवित भाव को प्राप्त हान की श्वाशा नहीं रही हो। ऐसी कैवल्य तो बुद्धिमानों के लियं हेय कादि में हांगी न कि उपादेय। इसलिय ये दानों उच्चतर और उच्चतम याग की भूभियों स्वयं श्रपने स्वरूप से हेय नहीं हैं। इनमें श्रास्ति अर्थात् इनके श्रानन्द में मृन्दुष्ठ होकर स्वरूप श्रवस्ति के लियं यत्न न करना ही श्रह्तिकर है और उनका फल स्वरूप विदेह और प्रकृतिलय अवस्था यद्याप केवल्य नहीं है, किन्तु शरीर से श्रास्त अक्ष्रमान

निष्ट्रस होजाने के कारण कैवल्य जैसी है और ब्रह्मलोक तक सारी सूक्ष्म और आनन्दमयी अवस्थाओं से उचकोटी की है।

- (७) 'उपायप्रत्ययो योगिनां मवित' इस बीसवें सूत्र के व्यास भाष्य से उपाय प्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधि, योगियों की बतलाकर 'भव प्रत्यय' असम्प्रज्ञात समाधि अयोगियों की अथवा अज्ञानियों की सिद्ध करना भी ठीक नहीं है क्योंकि १९वें सूत्र के 'विदेहानां देवानां भव प्रत्यय' इस व्यास भाष्य में भवप्रत्यय वाले विदेहों के लिये देव का शब्द प्रयोग किया गया है। उपाय प्रत्यय वालों को तो श्रद्धावीर्य्य आदि का अनुष्ठान करके योग श्रग्रा में प्रवेश करना होता है, किन्तु भव प्रत्यय वाले श्रद्धावीर्य्य आदि का अनुष्ठान पूर्व जन्म में कर चुके हैं, क्योंकि विना इसके आनन्दअनुगत और अस्मितानुगत की मूमियों और कैवल्य पद तुस्य श्रित का प्राप्त होना असम्भव है।
- (८) वायु पुराए में चिन्तन का शब्द भावना, समापत्ति अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के अर्थ में ले सकते हैं। इसमें क्रम से स्थूल भूतों से लेकर मूल प्रकृति पर्य्यन्त सम्प्रज्ञात समाधि की भूमियों में आसक्त योगियों के शरीर त्यागने के प्रधान् उनकी अवश्याओं के सूक्ष्मता, साहिकता और आनन्दके तारतम्य से समय में बृद्धि दिखलाते हुए इस बात को दशाया है कि एक लाख सन्वन्तर वाली खिति भी पुनरावर्तिनी ही है, केवल परमात्म प्राप्ति रूप कैवल्य अपुनरावर्तिनी है, जो असम्प्रज्ञात समाधि का अन्तिम ध्येय है।

यह एक प्रकार से र्गता के इस ऋोक की व्याख्या है:-

''श्राब्रह्म भ्रुवनाष्ट्रोकाः पुनरावतिनोऽर्जुन । माम्रोत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ''॥ गीत ८०१६

विज्ञान भिक्षु के योगचार्तिक का भाषानुवाद सूत्र १९।

श्रसम्प्रज्ञात योग के भी निमित्त भेद से दो प्रकार श्र्माले दो सूत्रों द्वारा सूत्रकार कहेंगे। उन्हीं दो भेदों को गुक्ति सिद्ध पूर्वाचार्य्यों के कहे क्रम के श्रमुसार दोनों सूत्रों के अवतरण के लिये भाष्यकार दिखलाते हैं—'स खल्वयं द्विविध इति' वह श्रसम्प्रज्ञात योग दो प्रकार का है।

वह असम्प्रज्ञात योग अगले सूत्र में प्रज्ञापूर्वक बतलाया है। अतः आगे कहे श्रद्धा आदि हैं कारण निसके ऐसा उपाय १९४य असम्प्रज्ञात योग योगियों को इस लोक में होता है। तथा योग अष्टों को इस लोक में और देवता विशेषों को देवतोक में 'भवप्रत्यय' जन्म है कारण जिसका वह असम्प्रज्ञात योग होता है यह क्रम है। सूत्रकार को उपाय प्रत्यय सिवस्तर कहना है अतः सूचिकप र न्याय से पिहले भवप्रत्यय को कहेंगे इस कारण सूत्र और भाष्य में क्रम भेद को दोष नहीं मानना चाहिये। उत्पत्ति क्रम के अनुसार सूत्र के क्रम का उद्धं है जन्मा वह भव ही है प्रत्य अर्थात् कारण जिसका ऐसा विषद (भवप्रत्यय हान्द का) है। 'विदेह गक्रतिलयानां' इसकी व्याख्या विभाग करके करते हैं कि 'विदेहानां' इत्यादि। हारीर

की अपेला के बिना जो बुद्धि वृत्ति वाले हैं उन्हें विदेह कहते हैं, —यह विभूति पाद में स्पष्ट हो जाएगा। वे विदेह महदादिदेव हैं, साधना अनुष्ठान के बिना ही इन्हें असम्प्रज्ञात योग केवत जन्म के ही निमित्त से होता है (अर्थात् इस देहपात के अनन्तर उस उस तत्त्व में प्रादुर्भावरूप जन्म के कारण से ही होता है) योनि (अर्थात् उस उस स्थान) के अपने र गुण्य या प्रभाव द्वारा स्वभाविक ज्ञान से (ही उन्हें असम्प्रज्ञात होता है)। वे नित्य प्रति प्रत्य में और कभी न सर्गकाल में भी स्वसंस्कार मात्रोपगत वित्त द्वारा अर्थात् संस्कार जिसमें शेष हैं ऐसे निरोधावस्थ चित्त द्वारा कैवत्यपद की सी अवश्वा को प्राप्त हुए हुए और उपुत्थान काल में स्वसंस्कार विपाक अर्थात् स्वभाव प्राप्त कराने वाले संस्कार के विपाक अर्थात् फलको अर्थात् ऐसैर्प्य भोग को, प्रारब्ध कर्म से यान्त्रत हुए २ भोगते हैं। उसके प्रश्नात् मुक्त हो जाते हैं।

इसी प्रकार प्रकृतिलय भी ईश्वर उपासना द्वारा या प्रकृतिदेवता की उपासना द्वारा जो चावरण समेत ब्रह्माएड को त्यागकर लिङ्ग शरीर के साथ प्रकृति के आवरण में गए हैं 🚅 के यहां प्रकृतिजीन कहे गए हैं। श्रीर वे भी, चित्त के कार्य्य समाप्त न होने से श्रपनी इच्छा में ही प्रकृति में लीन होने पर, संस्कार के शेष रह जाने पर असम्प्रज्ञात योग में कैवल्य पर की सहज अवधा को प्राप्त होते हैं, जब तक कि शेष अधिकार के वश से चित्त फिर व्यक्षित नहीं होता। इस (प्रकृतिलय) का भी (श्रसम्प्रज्ञात) भव प्रत्यय ही है। श्रिधकार की समाप्ति पर वे भी मुक्त हो जाते हैं, यह श्राशा है। कोई 'भव' का श्रर्थ करते हैं श्रविद्या। जनका कहना है कि भार सत्र' इन्द्रियों से लेकर प्रकृति तक के चिन्तकों को अविद्यारूपी कारण द्वारा श्रसम्प्रज्ञात होता है, यह कह रहा है। परन्तु यह नहीं है, क्यों कि श्रसम्प्रज्ञात का हेत है परवैराग्य श्रीर वह परवैराग्य श्रविद्या में सम्भव नहीं। श्रीर जो वाय पराण में है कि 'दस मन्वन्तरों तक इस अवस्था में इन्द्रिय चिन्तक रहते हैं और भौतिक पूरे एक सौ मन्बन्तरों तक श्राभिमानिक एक हजार मन्बन्तरों तक बौद्ध दस हजार मन्बन्तरों तक बिना द:स्व के रहते हैं श्रीर श्रव्यक्त विन्तक पूरे एक लाख मन्वन्तरों तक रहते हैं, निर्मन पुरुष को प्राप्त कर के काल की कोई संख्या नहीं रहती यह वाक्य है, वह कर्मदेवों के, जिन्हे कि ज्ञान क्रम महीं हंग्रा और जो कि इन्द्रियादि के उपासक हैं:- उस २ पद में अवस्थिति के काल को ही नियत करता है। उनके न तो असम्प्रज्ञात समाधि के कालों को और न देहादि के अभाव से पत्ति के अभाव के कालों को वह वाक्य निश्चित करता है। क्योंकि इन्टिय आदि के चिन्तनमात्र द्वारा असम्प्रज्ञात उत्पन्न नहीं हो सकती, तथा कभी २ होने वाला जो वृत्ति का द्यभाव वह प्रलय और मरगादि (में उत्पन्न होने वाले वृत्त्यभाव) के तुल्य होने से अपूरु-बार्ध भी है। तथा इन्द्रियादि के उपासकों को. इन्द्रियादि के अभिमानी सुर्य्य आदि पद की प्राप्ति होती है, यह फल अन्यत्र सुनाई भी देता है।

समीका—यहां विदेह और प्रकृतिलयों का जो स्वरूप दिखलाया है उसके सम्बन्ध में हम भूमिका रूप षड्दर्शन समन्वय के चौथे प्रकरण में 'सांख्य और ईश्वरवाद'' में लिख चुके हैं। यहां पुनः विचार करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। 'भव' के जो अधे जन्म लिए गये हैं वे तो सूत्रकार और भाष्यकार के श्रीभिपाय के श्रातुसार ठिंक ही हैं। किन्तु जो देव विशेष की देवलोक में श्रमम्भ्रज्ञात समाधि को भव प्रत्यय बतलाया गया है सो देव लोक की समाधि की मतुष्यलोक की समाधि के साथ कोई संगति नहीं दीखती। हां इस लोक में योग भ्रष्ट की श्रसम्भ्रज्ञात समाधि ही भवप्रत्यय हो सकती है। श्री कृष्णजी महाराज ने गोता में भी ऐसा ही कहा है जैसा कि इस सूत्र की व्याख्या में बतलाया गया है। श्रन्य सब बातें वाचस्पति मिश्र की समीत्ता में श्रा गई हैं।

संगति-पिछले सृत्र में विदेह श्रौर प्रकृतिलयों की श्रसम्प्रज्ञात समाधि की जन्म सिद्ध योग्यता बतलाकर श्रव श्रगले सूत्र में साधारण योगियों के लिये उसका उपाय से प्राप्त करना बतलाते हैं:—

श्रद्धाबीर्घस्मृतिसमाधिमज्ञापूर्वेक इतरेषाम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ – श्रद्धान्वीर्थ-स्पृति-समाधि-प्रज्ञा-पूर्वकः = श्रद्धा, वीर्यं, स्पृति, समाधि, श्रौर प्रज्ञा पूर्वर्क (बह त्रसम्प्रज्ञात-समाधि)। इतरेषाम् = दूसरों की त्र्यर्थाम् जो विदेह श्रौर प्रकृतिलय नहीं हैं उन साधारण् योगियों की होती है।

अन्वयार्थ — दूसरे योगी जो विदेह और प्रकृतिलय नहीं हैं उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा-पूर्वक श्रसम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है।

व्याख्या — निदेह और प्रकृतिलयों से भिन्न योगियों की असम्प्रज्ञात समाधि श्रद्धा आदि पृवंक होती है। श्रद्धा आदि क्रम से उपाय हैं और असम्प्रज्ञात समाधि उपेय। इस-लिये इनका उपायोपेय सम्बन्ध है। योग के विषय में चित्त की प्रसन्नता श्रद्धा है; उत्साह वीर्य है; जाने हुए विषय का न भूलना स्मृति है; चित्त की एकामता समाधि है; ज्ञेय का ज्ञान प्रज्ञा है।

श्रद्धा - जो विदेह और प्रकृतिलयों से भिन्न हैं उन्हें जन्म-जन्मान्तरों से योग में नैसर्गिक रुचि नहीं होती है, किन्तु उनको पहले शास्त्र और श्राचार्य के उपदेश सुनकर योग के विषय में विश्वास उत्पन्न होता है। योग की शिप्त के लिये श्राभित्व श्रथवा उत्कट इच्छा को उत्पन्न करने वाले इस विश्वास का नाम ही श्रद्धा है। यह कल्याणकारिणी श्रद्धा योगी की रुचि योगमें बढ़ाती है, उसके मन को प्रसन्न रखती है और माता के समान कुमार्ग से बचाती हई उसकी रहा करती है।

वीर्य—श्रद्धा से वीर्य खत्पन्न होता है। योग-साधन की तत्परता उत्पन्न करनेवाले उत्साह का नाम वीर्य है। श्रद्धा के ऋनुसार उत्साह; और उत्साह के ऋनुसार साधन से तत्परता होती है।

स्मृति — उत्साहवाले को पिछली श्रनुभव की हुई भूमियों में स्मृति उत्पन्न होती है। पिछले जन्मों के श्रक्लिष्ट कर्मों श्रीर झान के संस्कारों का जागृत होना स्मृति है।

समाधि—पूर्वले अक्लिष्ट कर्म और झान के संस्कारों के जागृत होने से चित्त एकाप्र और स्थिर होने लगता है। प्रज्ञा—समाधिक्ष एकाम चित्त में ऋतम्भरा प्रज्ञा (विवेक-ज्ञान) उत्पन्न होती है जिससे वस्तु का यथार्थ स्तरूप ज्ञात होता है। इसके अभ्यास से पर-वैराग्य और परवैराग्य

से असम्प्रज्ञात-समाधि होती है।

बिशेष विचार सूत्र २०:—कर्माशय चित्त भूमि में दो प्रकार से रहते हैं। एक प्रधान रूप से जिन्होंने जन्म, आयु और भोग का कार्य आरम्भ कर दिया है जिन्हों नियत विपाक तथा प्रारच्ध भी कहते हैं। दूसरे उपसर्जन रूप से रहते हैं जो प्रधान कर्माशयों के सन्मुख अपने कार्य को आरम्भ करने की सामध्ये न पाकर चित्त की निचिली भूमियों में छिपे हुऐ पढ़े रहते हैं जिनकों अनियत विपाक तथा संचित कर्म भी कहते हैं। क्रियमान कर्मों से जो कर्माशय बनते हैं उनमें से कुछ तो प्रधान रूप धारण करके प्रारच्ध के साथ मिल जाते हैं और कुछ उपसर्जन रूप से चित्त की निचिली भूमियों में संचित कर्माशयों के साथ मिल जाते हैं। यह संचित कर्माशय भी समय २ पर अपने किसी अभिन्य कि को पाकर निचिली भूमियों से उपर आकर प्रधान रूप धारण करके प्रारच्ध बनते जाते हैं।

जन्म जन्मान्तरों में सिश्वत किये हुए योग के संस्कार व्युत्थान के प्रधान संस्कारों से दवे हुए चित्त की निचित्ती भूमि में सुप्त रूप से पड़े हुए श्रद्धा वीर्य द्वारा व्युत्थान के संस्कारों के दवने पर योग के संस्कारों को श्रमिव्यत्वक (जगाने वाले) पाकर वेग के साथ जागृत होकर निचित्ती भूमियों से ऊपर श्राकर प्रधान रूप धारण कर लेते हैं। यहां श्रद्धा वीर्य तो केवल निमित्त कारण हैं। उपादान कारण तो निचित्ती भूमियों में सिश्वत योग के संस्कार ही श्रकृति रूप हैं जैसा कि कैवल्य पाद सुत्र दो में बतलाया है।

"जात्यन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरात्"

एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना प्रकृतियों (उपादान कारणों) के रहने से होता है। श्रद्धा वीर्य केवल ज्युथान के संस्कारों की रुकावट को हटाने में निमित्त होते हैं कहीं बाहर से योग के संस्वारों को नहीं भरते जैसे किसान पानी को रोकने वाली मेंड़ को केवल काट देता है मेड़ से बाहर हका हुआ पानी स्वयं कियारी में आजाता है।

यथा:-निमित्तपमयोजकं प्रकृतीनां वरण भेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् (कै. पा. सू. ३) धर्मादि निमित्त प्रकृतियों का प्रेरक नहीं होता है किन्तु उससे रुकावट दूर हो जाती है, जिस प्रकार नव किसान किसी खेत में पानी भरना चाहता है तो केवल पानी को रोकने वाली मेंड के कुछ छोश को काट देता है पानी स्वय उसमें होकर खेन में भर जाता है।

संगति - प्रवेर्क्ति श्रद्धा चादि उपाय पूर्वजन्मों के संस्कारों के बल से सृदु, मध्य, और चाधमात्र भेद से तीन प्रकार के होते हैं च्यांति किसी के मृदु (मन्द) उपाय होते हैं, किसी के मध्य (सामान्य) चौर किसी के चाधमात्र (तीत्र) उपाय होते हैं। इससे मृदु उपाय, मध्य उपाय और चाधमात्र उपाय, उपायभेद से तीन प्रकार के योगी होते हैं।

इन तीनों उपायभेद वाले योगियों में भी प्रत्येक संवेग अथवा वैराग्य के मृदु, मध्य, अधिमात्र (तीत्र) तीन प्रकार के भेद होने से तीन तीन प्रकार का होता है । अर्थात् मृदु

उपायवाला योगी कोई मृद संवेगवाला, कोई मध्य संवेगवाला और कोई अधिमात्र (तीत्र) संवेगवाला. होता है। ऐसे ही अधिमात्र उपायवाला : कोई मृदु संवेगवाला, कोई मध्य संबेगवाला और कोई अधिमात्र (तीव) संबेगवाला होता है।

इस प्रकार श्रद्धा आदि उपायों के तीन भेद तथा संवेग के तीन भेद होने से

उपाय-प्रत्यय योगियों के नौ भेद हाते हैं :--

(१) मृदु-उपाय मृदु सम्बेगवानः

(२) मृद-उपाय मध्य सम्बेगवानः

(३) मृद-उपाय तीव्र सम्बेगवानः

(४) मध्य-उपाय मृदु सम्वेगवान; ^- ----ेणवावः

(५) मध्य उपाय मध्य सम्बेगवानः (६) मध्य-उपाय तीत्र सम्बेगवानः (७) श्रिधमात्र उपाय मृदु सम्बेगवान;

(८) श्रधिमात्र-उपाय मध्य सम्देगवानः

(९) अधिमात्र-उपाय तीव सम्वेगवान ।

इन नौ प्रकार के उपाय-प्रत्यय योगियों में से उपाय की न्यनाधिकता और वैराग्य की न्यनाधिकता की अपेचा से किसी को विलम्बतम (अत्यन्त विलम्ब से), किसी को शीव्रतम समावि का लाभ प्राप्त होता है।

उपरोक्त सब में अन्तिम योगियों को सर्वापेक्या शीव्रतम समाधि-लाभ प्राप्त होता है.

उन्हीं का अगले सूत्र में वर्णन करते हैं :-

तीत्रसंवेगानामासनः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ-तीन्न-सम्वेगःनाम् = तीन सम्वेगवान (श्रधिमात्र उपाय वाले योगियों को) समाधि-लाभ । श्रासत्रः = शीव्रतम = निकटतम होता है ।

अन्वयार्थ - तीव्र सम्वेग और ऋधिमात्र उपायवाले योगियों को समाधि-लाभ शीध-

तम होता है।

व्याख्या—इस सूत्र के श्रादि में भाष्यकारों ने 'श्रिधमात्रोपायानाव' 'श्रिधमात्र उपायवालों को इतना पाठ और सम्बद्ध किया है तथा 'समाधिलाभः समाधिफलं च भवति इति ।' 'समाधि का लाभ श्रीर उसके फल का लाभ होता है': यह शब्द सन्न के शेष हैं। वे सूत्र के अन्त में लगाना चाहिये।

इसलिये यह अर्थ हुए कि जिनका उपाय अधिमात्र है और जिनका सम्वेग तीव्र है उन उपाय-प्रत्यय योगियों को समाधि का लाभ तथा उसके फल का लाभ शीव्रतम प्राप्त होता है। अर्थात् उपाय के अधिमात्र और सम्बेग के तीब होने के कारण उपरोक्त नी प्रकार के उपाय-प्रत्यय योगियों में से उनको शीव्रतम अर्थात सबसे अधिक शीव्रता से समाधि तथा उसका फल कैवल्य का लाभ प्राप्त होता है।

इनकी अपेक्षा से अधिमात्र-उपाय मध्य सम्वेग वालों को कुछ बिलम्ब से; और इनकी

अपेना अधिमात्र-उपाय मृदु सम्बेग वालों को उनसे अधिक विलम्ब से होगा।

इसी प्रकार जितनी-जितनी उपायों की श्रीर सम्वेग की न्यूनता होती है उतना-उतना विलम्ब से समाधि-लाभ होता है। और जितनी-जितनी उपायों की और संवेग की अधिकता होती है बतना-बतना शीध्र समाधि-लाभ होता है।

टिप्पणी— वाचस्पति मिश्र ने सम्वेग के अर्थ वैराग्य किये हैं, किन्तु विज्ञानिभिक्क के योगवार्तिक तथा आंजवृत्ति में कम श्रनुसार इस प्रकार अर्थ हैं: 'सम्वेग: उपायानुष्ठाने रौच्यम' संवेग उपाय के श्रनुष्ठान में शीव्रता को कहते हैं। 'सम्वेगः क्रियाहेनुर्देदतरः संस्कारः' क्रिया के करने में जो कारणुरूप दृद्तर संस्कार है वह संवेग कहलाता है।

संगति—तीव सम्वेग भी मृदु, मध्य, श्राधमात्र— विशेषान्तर भेद से तीन प्रकार का होता है उनमें से श्राधमात्र तीव वैराग्य वाले योगियों को शीघ्र समाधि का लाभ होता है। यह श्रगले सूत्र में बतलाते हैं:—

मृदुमध्याधिमात्रत्वात ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ – सुदु-मध्य-श्रधिमात्रत्वात् = (तीत्र सम्वेग के भी) सुदु, मध्य, श्रधिमात्र य तीन भेद होने से ततः = उस (सुदु तीत्र सम्वेग वालों के श्रौर मध्य तीत्र सम्वेग वालों के समाधि-लाभ) से । श्रांप = भा । विशंपः = (श्रधिमात्र तीत्र सम्वेग वालों को समाधि-लाभ में) विशंपता होती हैं ।

अन्वयार्थ—मृदु, मध्य, श्रधिमात्र, ये तीन भेद होने से मृदु तीन सम्वेग वालों श्रीर मध्म तीत्र सम्वेग वालों के समाधि-लाभ से भी श्रधिमात्र तीत्र सम्वेग वालों को समाधिलाभ में विशेषता है।

ज्याख्या—पूर्व सूत्र में जो तीव्र सम्वेग बतलाया हैं, उस तीव्र सम्वेग के भी मृदु, मध्य, श्रिधमात्र, यं तान भेद हैं अर्थात् मृदु तीव्र सम्वेग, मध्य तीव्र सम्वेग श्रीर श्रिधमात्र तीव्र सम्वेग।

इस प्रकार यह तीव्र सम्बेग तीन र कार का हुआ। इससे अधिमात्र-उपाय मध्य सम्बेग वाले आठवं श्रे ग्री के योगियों की अपेत्ता से अधिमात्र-उपाय मृदु-तीव्र सम्बेग वाले योगिया का शीव्र समाधि-लाभ होता है। और अधिमात्र-उपाय मध्य-तीव्र संबेग वाले योगियों को शीव्रतर, और आधमात्र-उपाय अधिमात्र-तीव्र सम्बेग वाले योगियों को शीव्रतम समाधि-लाभ प्राप्त होता है। इन अधिमात्रोपाय अधिमात्र-तीव्र सम्बेग वाले योगियों में पूर्वले दोनों योगियों से यह अत्यन्त शीव्रता-रूप समाधि-लाभ में विशेषता है।

संगति—पूर्वाक्त आधमात्र-उपाय आधमात्र-तीत्र सम्वेग से ही शीष्रतमन्समाधि का लाभ होता है, अथवा कोई और सुगम उपाय भी है—इस आशङ्का के निवारणार्थ सूत्रकार शीष्रतमन्समाधि का उपायान्तर बतलाते हैं:—

ईश्वरप्रशिषानाद्वा ॥ २३ ॥

क्वार्थ— ईश्वर-प्रणिधानात् = ईश्वर-प्रणिधान से । वा = अथवा (शीव्रतम समाधि- लाभ होता है) ।

अन्वयार्थ-अथवा ईश्वर-प्रशिधान से शीप्रतम समाधि-लाभ होता है।

स्याख्या—इस सूत्र में 'विशेषः' इस पद का पूर्व सूत्र से अनुवर्तन करने से आस-अतम (शीव्रतम) समाधि-लाभ होता है, यह अर्थ निकलते हैं। पूर्वोक्त श्रिधमात्र-उपाय श्रिधमात्र तीत्र सम्वेग से शीव्रतम समाधि-लाभ होता है, त्रथवा सत्य -सङ्कल्प ईश्वर में भक्तिविशेष श्रधीत् कायिक, वाचिक, मानसिक क्रियाश्रों को उसके श्राधीन तथा कर्मों और उनके फलों को उसके समपेण करने श्रीर उसके गुणों तथा खरूप का चिन्तन करने से, उसके श्रतुग्रह से शीव्रतम समाधि-लाभ होता है।

साधनपाद सूत्र १ व २२ में ईश्वर प्रियान का सामान्य अर्थ इंश्वर की भक्ति विशेष और शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राया, अन्तः करण आदि सब करणों, उनसे होने वाले सारे कमें और उनके फलों अर्थान् सारे बाह्य और आभ्यान्तर जीवन को ईश्वर को समर्पण कर देना है किन्तु विशेष रूप से यहाँ ईश्वर-प्रियान से जो सूत्रकार का अभिप्राय है वह अट्टाईसवें सूत्र में कहेंगे।

संगति — जिसके प्रशिधान से शीव्रतम समाधि लाभ होता है उस ईश्वर का स्वरूप निरूपण करते हैं:---

क्लोशकर्मविवाकाशयैरवरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

राव्यार्थ — क्लेश-कर्म-विपाक-श्राशयैः = क्लेश, कर्म उनके फल और वासनाश्रों से । श्र-परामृष्टः = न स्पर्श किया हुश्रा = सम्बन्ध-रहित = श्रसम्बद्ध । पुरुष-विशेषः = श्रन्य पुरुषों से विशेष (विभिन्न, उत्कृष्ट) चेतन । ईश्वरः = ईश्वर है ।

· अन्वायर्थ - क्लेश, कर्म, कर्मों के फल श्रीर वासनाओं से श्रसम्बद्ध, श्रन्य पुरुषों से विशेष (विभिन्न उंकुष्ट) चेतन ईश्वर है।

ब्धाख्या—क्लेशः 'क्रभन्तीति क्लेशाः' जो दुःख देते हैं वे क्लेश कहलाते हैं। वे श्रविद्या, श्रक्तिता, राग, द्वेष, श्रभिनिवेश-संज्ञक पाँच प्रकार के हैं जिनका खरूप सूत्र (२।३) में बतलाया जायगा।

कर्म: इन क्लेशों से धर्म-अधर्म अर्थात् शुभ-अशुभ श्रीर इनसे मिश्रित, ये तीन प्रकार के कर्म (४।७) उत्पन्न होते हैं। वेदों में विधान किये हुए सब प्राणियों की कल्यःण की भावना से किये हुए (सकाम) कर्म, धर्म श्रीर वेदों में निषेध किये हुए हिंसात्मक कर्म अधर्म हैं।

विपाक: 'विपच्यन्त इति विपाकाः' जो परिपक्व हो जाते हैं वे विपाक कहलाते हैं अर्थात् उन सकाम कर्मों के फल सुख-दुःखरूप जाति, आयु और भोग जिनका सूत्र (२।३) में वर्णन किया जावेगा; विपाक कहलाते हैं।

त्राहाय: 'श्रा फलविपाकािबत्तभूमी शेरत इत्याहाया:' फल पकने तक जो चित्तभूमि में पड़ी हुई सोती हैं वे वासना 'श्राहाय' कहलाती हैं। श्रश्चीत् जो कमे श्रभी तक पककर जाति, श्रायु श्रीर मांगरूप फल नहीं देपाय हैं उन कर्मफलों के वासना-रूप जो संस्कार चित्तभूमि में पड़े हुए हैं वे श्राह्मय कहलाते हैं (४।८)।

उपरोक्त क्लेश-कर्म आदि चारों से जो तीन काल में लेश-मात्र भी सम्बद्ध नहीं है वह अन्य पुरुषों से विशेष (विभिन्न उत्कृष्ट) चेतन ईश्वर कहलाता है। ईश्वर के ऋर्थ हैं: 'ईशनशील इच्छामात्रेण सकलजगदुद्धरणत्तमः' ईशनशील अर्थात्

इच्छामात्र से सम्पूर्ण जगत् के उद्घार करने में समर्थ।

दोका - क्लेश, कमे, विपाकादि तो चित्त के धर्म हैं, पुरुष तो ईश्वर के समान सदा असङ्ग और निर्लप है, इसलिये इश्वर में अन्य पुरुषों से क्लेशादि धर्म से रहित होने की विशेषता अपक्त है।

समाधान—यद्यपि सभी पुरुषों में वास्तिक क्लेशादि नहीं हैं तथापि चित्त में रहने वाले क्लेशादिकों का पुरुष के साथ औपाधिक सम्बन्ध है अर्थात् चित्त में रहने वाले क्लेशादि पुरुष में श्रविवेंक स आरोप कर लिय जाते हैं। जैसे योद्धाओं में (लड़ने वालों में) जीत हार होती है, पर वह खामी की कही जाता है अर्थात् जैसे राजा और सेना का परस्पर ख्व-खामि-भाव सम्बन्ध होने से सेना-करेक (सेना से की हुई) जयपराजय का खामिभृत राजा में व्यवहार होता है; क्योंकि वह उसके फल का भोका है। इसी प्रकार चित्त और पुरुष का भी परस्पर ख-खामि-भाव सम्बन्ध होने से चित्त में वर्तमान क्लेशादिकों का ही पुरुष में व्यवहार होता है, क्योंकि वह उसके फल का भोका है। जैसा कठोपनिषद् (२।३) में कहा है:--

श्रात्मेन्द्रिय मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ।

अर्थ-ज्ञानी-लोग इन्द्रिय, मन से युक्त श्रात्मा को भोक्ता कहते हैं (इन्द्रियादि से

जो यक्त नहीं है वह भोका नहीं हैं)।

किन्तु यह अविवेक-प्रयुक्त औषाधिक क्लेशों का सम्बन्ध विवेक शील हूं इरवर में सम्भावित नहीं है। यह औषाधिक भोग के सम्बन्ध का न होना हा ईरवर में अन्य पुरुषों से विशेषता है। अधात पुरुष के वित्ता के साथ एकरूपता पन सम्बन्ध से जो चित्ता के पुरुष में औषाधिक धर्म आराप किये जाते हैं उन धर्मी से असम्बद्ध जो विशुद्ध सस्वगुरा-प्रधान चित्तांगाधिक नित्य ज्ञान ऐरवर्यादि धर्म विशिष्ट सत्य-काम, सत्य-संकल्प चेतन है वह ईरवर पद का वाच्य है। वह अन्य पुरुषों से विशेष है।

दांका—यदि क्लेशादि से श्रसम्बद्ध होना ही ईश्वर में विशेषता है तो मुक्त पुरुष तथा प्रकृतिलय श्रादि भी इश्वर पद का वाच्य हो सकत हैं, क्योंकि क्लेश से तो उनका भी सम्पर्क नहीं होता है।

समाधान—प्रकृतिलय श्रीर विदेह योगियों को प्राक्तन-यन्ध होता है, तथा श्रपनी अविध के श्रनन्तर संसार में श्राने से भावी क्रांत्रों से सन्वन्ध होता है। विदेह श्रीर प्रकृतिल्यों से भिन्न (इट्य-श्रदिव्य विषयों के भोक्ता देव, मनुष्यादिकों के क्रांत्रशः दाचिएक श्रीर वैकारिक बन्ध होता है। यद्यपि इन तीनों बन्धों को काटकर कैवस्य को प्राप्त हुए पुरुष भी मुक्त ही कहलाते (वास्तव में तो मुक्ति श्रीर बन्धन दोनों अन्तःकरण के ही धर्म हैं पुरुष उसका दृष्टा है इस लिये उस में श्रारंपित कर लिये जाते हैं) हैं तथापि वे सदा मुक्त नहीं हैं क्योंकि करोश-पुक्त होकर ही योग-साधन के श्रन्तुष्टान द्वारा ही क्लेशों के बन्धन से मुक्त हुए हैं,

किन्तु ईश्वर सर्वदा क्लेशों से श्रपरामृष्ट होने से सदा ही ग्रुक्त है। यह सदा ग्रुक्तस्वरूपता ईश्वर में ग्रुक्त पुरुषों तथा प्रकृतिलयों से विशेषता है।

र्गका — ज्ञानस्वरूप ऐरवर्य तथा ृहवों के उद्धार का सत्यसंकरप रूप ऐरवर्य का परि-एाम अपरिएामी पुरुष में होना असम्भव है। और यदि यह धर्म चित्त का माना जावे तो सदा मुक्त ईश्वर का चित्त के साथ स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध अविद्या से होता है। इस प्रकार सदा मुक्त पुरुष विशेष में स्वाभाविक ऐरवर्य के अभाव से और चित्त में स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध के असम्भव होने से ईश्वर को सदा मुक्त पुरुष-विशेष नहीं कहा जा सकता।

समाधान यद्यपि श्रविरणामी चेतनभूत ईश्वर में इन ऐश्वर्यों का परिणाम होना श्रमम्भव है क्योंकि वह रजस-तमस-रहित विशुद्ध चित्त का धर्म है श्रीर चित्त के साथ नित्यमुक्त ईश्वर का स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध श्रमम्भव है तथापि जैसे श्रन्य पुरुषों का श्रविद्यान प्रयुक्त चित्त के साथ स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध श्रमम्भव है तथापि जैसे श्रन्य पुरुषों का श्रविद्यान प्रयुक्त चित्त के साथ स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध है वैसे ईश्वर के साथ श्रविद्या प्रयुक्त नहीं है। किन्तु वह चित्त के स्वभाव को जानता हुत्र्या तीनों तापों में दु:स्वित संसार-सागर में पड़े हुए जीवों का ज्ञान, धर्म, उपदेश द्वारा उद्धारार्थ विशुद्ध सत्त्व रूप न कि श्रज्ञान-प्रयुक्त चित्त को धारण किये हुए है। इसी प्रकार श्रज्ञान-पूर्व के सङ्ग वाले चित्त में परिणाम होती है। नित्य विशुद्ध सत्त्व रूप चित्त में नित्य-ज्ञान वा प्रेरणा का होना परिणाम रूप नहीं है श्रविद्या के सम्बन्ध से रहित ईश्वर चित्त के स्वरूप को जानता हुत्र्या पुरुष के भीग, श्रयवर्ग श्रीर धर्म-ज्ञान के उपदेश के लिये विशुद्ध सत्त्व पुणमय चित्त के धारण करने से भ्रान्त नहीं कहा जा सकता। ईश्वर्यवरुद्ध सत्त्वरूप चित्त द्वारा जीवों के कत्याण्य संसार की रचना करने में भ्रान्त नहीं किन्तु ज्ञानमय ही है।

ईश्वर की इच्छामात्र से सब जगत् का उद्धार-रूप ऐश्वर्य अनादि विशुद्ध सत्त्वगुग्ग-मय चित्त के योग से है और विशुद्ध सत्त्वगुग्गमय चित्त का योग उत्कृष्ट झान से हैं। विशुद्ध सत्त्वगुग्गमय चित्त हो तो उत्कृष्ट झान हो, और उत्कृष्ट झान हो तो विशद्ध सत्त्वगुग्ग भय चित्त हो। ऐसे अन्योन्याशय (एक-दृसरे का सहारा लेना) रूप दोष यहाँ नहीं है क्योंकि यह दोनों ही ईश्वर में अनादि हैं। इन दोनों में कोई किसी की अपेना नहीं रखता है। जहाँ अपेना होती है वहीं यह दोष होता है। ईश्वर का उस विशुद्ध सत्त्वगुग्गमय चित्त के साथ अनादि सम्बन्ध है, क्योंकि प्रकृति और पुरुष का संयोग-विभाग अर्थात् पुरुष के भोग-अपवर्ग अर्थ सृष्टि, उत्पत्ति व प्रलय विना ईश्वर-इच्छा (सत्य-संकरूप) के नहीं हो सकती।

भाव यह है कि यग्निप धर्म, ज्ञान, उपदेश द्वारा पुरुषों के उद्धार करने की इंच्छा होने से ईश्वर विशुद्ध सत्त्व-खरूप विचारूप उपाधि को धारण किये हुए है और इस उपाधि के धारण से पूर्वोक्त इच्छा (सत्य-संकल्प) होती है। अर्थान् उद्धार की इच्छा होने से ईश्वर को विचा का महण् करना; और विचा के महण् होने से उद्धार की इच्छा का होना; इस प्रकार परस्पर की अपेचा होने से अन्योन्याश्रय दोष आता है स्थापि शीज-अङ्कुर कें समान संसार के अनादि होने से इस दोष की निवृत्ति हो जाती है। जिस प्रकार अन्य पुरुषों का वित्त पुरुष से प्रतिविस्वित हुआ सुख, दु:ख, मोह (श्रविद्या) रूप से परिण्त होता है और योगियों का वित्त पुरुष से प्रतिविस्वित हुआ निर्मल सात्त्विक ज्ञान से परिण्या को प्राप्त होता है; श्रीर उनकी ही उपाधि से पुरुष में सुख, दु:ख श्रीर मोह-मस्त होना तथा निर्मल सात्त्विक ज्ञान से युक्त होना आरोप किया जाता है वैसा ईश्वर, का विशुद्ध सत्त्वगुण्यम्य वित्त नहीं है। वह केवल सात्त्विक परिण्याम, उन्कर्ष (ऐश्वर्यावधि) वाला है यह उसमें अन्य पुरुषों से विलक्षण्यता है!

उस विश्रुद्ध स्त्वगुरामय चित्त में निरितशय ऐश्वर्य-रूप उद्घष्टता और वेद विद्यमान रहते हैं। उस विद्यमान उद्घष्टता और वेदों का वाच्य-वाचक-भाव अनादि सम्बन्ध है। श्रर्थात् ईश्वर के चित्त में अनादि उद्घष्टता विद्यमान है और उसी चित्त उसमें उद्घष्टता के वाचक वेद भी रहते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर सदा ही ऐश्वर्य वाला और सदा ही गुक्त हैं।

शंका—यह जो ईश्वर में विशुद्ध सत्त्वमय चित्त के प्रह्मण द्वारा सर्वोत्कृष्टता बत-लाई है, क्या वह उत्कृष्टता सिनिमित्त (किसी शास्त्र के प्रमाण से सिद्ध) है वा निष्प्रमा-एक है ? यदि श्रुति म्मृति को उसमें प्रमाण माना जावे तो श्रुति-स्मृति में क्या प्रमाण है ?

समाधान — सर्वेझ ईश्वर के स्वाभाविक झानरूप वैद ईश्वर की सर्वोत्कृष्टता में प्रमाख . हैं; और अन्य प्रमाख द्वारा ईश्वर के निर्धान्त और सर्वझ सिद्ध होने से ईश्वरीय झान वेद को प्रमाखिता स्वतः सिद्ध है ।

यह सर्वज्ञतावि रूप धर्म तथा वेदरूप शास्त्र ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वगुरणमय चित्त में विद्यमान हैं और इन दोनों का परस्पर अनादि निमित्त-नौमित्तिक भाव सम्बन्ध है अर्थान् ईश्वर के चित्त में वर्तमान विशुद्ध सत्त्व का प्रकर्ष निमित्त कारण है और वेद उसका आविर्भृत है। इस उद्धृष्टना से ही ईश्वर नित्य-मुक्त और नित्य-ऐश्वर्यशाली कहा जाता है।

द्यंका - यदि ईश्वर को न मानकर केवल प्रधान (मूल-प्रकृति) को ही पुरुष के भोग-खपवर्ग प्रयोजन के सम्पादनार्थ संसार-रचना में प्रवृत्तमान लें तो क्या दोष होगा ?

समाधान— ईश्वर रूप प्रेरक न मानकर केवल जड़-प्रधान को संसार की रचना में प्रवृत्त मानन में यह दोष होगा कि जड़ पदार्थ बिना चेतन की प्रेरणा के अपने कार्य उत्पन्न नहीं कर सकता है, जैसे कि सारथी के बिना रथ नहीं चल सकता। इसलिये विशुद्ध सच्चो-पाधिक नित्य-झान-क्रियेश्वर्यशाली चेतनभूत ईश्वर को मानना ही पड़ेगा। ऐसा ही उपनिषदों में बतलाया है:—

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् । (इवेताश्वतर-४पनिषद्)

अर्थ—माया प्रपञ्च (संसार) का उपादान कारे है और माया का म्वामी प्ररेक परमेश्वर निमित्त कारण है। अन्य फल्पनाओं का निम्न प्रकार समाधान समक्त लेना चाहिये:-

ईश्वर अनेक नहीं हो सकते। यदि एक-उैसे अनेक हो और उनके अभिप्राय किय-भिन्न हों तो कोई कार्य नहीं चल सकेगा अर्थान् एक चाहे सृष्टि हो और १सरा चाहे सृष्टि न हो; ऐसी दशा में कुछ भी न हो सकेगा।

यदि ईश्वरों का अनेक मानकर छोटा-बड़ा माने तो जो बड़ा है वही ईश्वर है, क्योंकि

वही ऐश्वर्य की पराकाष्टा (श्रविध) को प्राप्त हो जाता है।

इसलिये जिसमें ज्ञान और ऐश्वर्य की पराकाष्टा है और जो क्लेश कर्म बादिकों से सदा रहित है वह सदा मुक्त, नित्य, निर्दातशय, ब्यानादि, ब्यानन्त, सर्वज्ञ पुरुष-विशेष ईश्वर है।

विशेष विचार सूत्र २४:--सूत्र चौशीस का सारांश : ईश्वर में अन्य पुरुषों से यह

विशेषता है कि वह तीनों काल में क्लेशादि के सम्बन्ध से रहित है।

यगिप क्लेशादि चित्त के धर्म हैं न कि असङ्ग, निर्लेष पुरुष के, तथापि चित्त में रहने बाले इन क्लेशों का पुरुष में औपाधिक सम्बन्ध है अर्थान पुरुष में खिबवेक से आरोप कर लिये जाते हैं क्योंकि पुरुष ही इनका भोक्ता है। किन्तु ईश्वर में इन औपाधिक क्लेशों का भी सम्बन्ध नहीं है। ईश्वर में मुक्त पुरुषों से यह विशेषता है कि वे क्लेश-एक्त होकर साधन के अनुष्ठान द्वारा मुक्त इए हैं; ईश्वर तीनों काल में मुक्त है। ईश्वर के अर्थ हैं: इंशनशील अर्थात् इच्छामात्र (संकल्पमात्र) से सम्पूर्ण जगत के उद्धार करने में समर्थ।

यह जगत के उद्धार का ऐश्वर्य अनादि है और अनादि विशुद्ध सत्त्वगुणमय वित्त के अनादि योग से हैं; और अनादि विशुद्ध सत्त्वगुणमय वित्त का अनादि उस्कृष्ट झान से

अनादि योग है।

इस प्रकार विशुद्ध सत्त्वचित्त के साथ जगन के उद्धार का ऐश्वर्य तथा उत्कृष्ट झान के ऐश्वर्य का छन।दि योग होने से यह दोनों ऐश्वर्य इसमें परिणाम-रूप नहीं हैं। अन्य चित्तों से इस विशुद्ध सत्त्वचित्त में यह विलक्षणता है कि यह चित्त अन्य चित्तों जैसा न तो गुर्णों का विषम परिणाम है; और न इसमें कोई विसदश परिणाम होता है। यह चित्त विशुद्ध अर्थान् रजस-तमस-ग्रन्य सत्त्व है। इसी सत्त्व के सम्बन्ध से ईश्वर में नित्य झान, नित्य इच्छा, नित्य किया रहती है। 'तीनों तापों से दु; खित संसार सागर में पढ़े हुए जीवों का चद्धार झान और धर्म के उपरेश से कहाँ इस प्रकार की इच्छा (सत्य-संकर्प) ईश्वर में सर्वेदा रहती है। उपनिषदों में भी ऐसा ही कहा गया है:—

न तस्य कार्ये करणं च विद्यते, न तत्समश्राम्यपिकश्र हरयते । पराऽस्य शक्तिविविधेव श्रूयते, स्वामाविकी ज्ञानवलक्रिया च ।।

अर्थ —न उसका (मनुष्य-जैसा) कोई देह है, न इन्द्रियें हैं, न इसके कोई बरा-बर है, न उससे कोई बड़ा है। उसकी उन्छार शक्ति अनेक प्रकार की अनादि से सुनी जाती है; और उसका झान, बल और किया यह तीनों स्वाभाविक और निस्व हैं। संगति—अब अगले सूत्र में ईश्वर की सर्वज्ञता अनुमान-प्रमाण द्वारा सिख करते हैं:—

तत्र निरन्धायं सर्वे इ बीजम् ॥ २४ ॥

हाव्यार्थ—तत्र = उस पूर्वोक्त ईश्वर में । निरतिशयम् = श्रतिशय-रिहत । सर्वझ-बीजम = सर्वज्ञता का बीज हैं।

अन्वयार्थ—उस पूर्वोक्त ईश्वर में सर्वज्ञता का बोज अतिशय (बढ़ती) रहित है।

व्याख्या— खतीत, अनागत श्रीर वर्तमान जो श्रातीन्द्रिय पदार्थ हैं उनमें किसी एक वा बहुत-से पदार्थों का जो र यमजय से (सत्त्वगुण के न्यूनाधिक होने से) अस्प वा श्राधिक प्रत्यत्त ज्ञान होता है वह प्रत्यत्त ज्ञान सर्वज्ञता का बीज हैं। संयमजय श्राथित् सत्त्वगुण की न्यूनाधिकता की श्रापेत् से कोई योगी किन्चित् ही श्रातीन्द्रिय वस्तु को प्रत्यत्त कर सकता है, कोई बहुत श्रातीन्द्रिय वस्तु को प्रत्यत्त कर सकता है। इस प्रकार ज्ञेय-वस्तुश्रों की श्रापेत्ता से प्रत्यत्त ज्ञान श्रात है। प्रथम संयम के जय से योगी का जो एक वा बहुत श्रातीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यत्त ज्ञान होता है वह सातिशय ज्ञान है। वह सर्वज्ञता का बीजरूप सातिशय ज्ञान गृद्धि को प्राप्त होते होते जहाँ निरतिशय हो जावे वह सर्वज्ञ है।

जो वस्तु किसी की व्यपेत्ता से न्यून वा श्राधिक हो वह सातिशय कही जाती है। श्रीर जो काश (सीमा) को प्राप्त हुई कहीं विश्रान्त हो जावे वह निरातिशय कही

जाती है।

जिस झान के बराबर अथवा अधिक झान हो उसको सातिशय झान; और जिसके बराबर अथवा अधिक झान न हो अर्थान् जो काष्टा को प्राप्त हो जावे उसको निरतिशय झान कहते हैं।

यह प्रथम संयमजय से उत्पन्न हुजा जो योगियों में सर्वज्ञता का बीजरूप सातिशय ज्ञान है वह सातिशय होने से बृद्धि को प्राप्त होते न्यूनाधिक रूप (कम ज्यादा-पन) धर्म विशिष्ट होने से सातिशय हो जावेगा; क्योंकि जो पदार्थ न्यूनाधिक रूप (कम ज्यादा-पन) धर्म विशिष्ट होने से सातिशय होता है वह अवश्य ही कहीं काष्ट्रा को प्राप्त होकर निरितेशय हो जाता है। जैसा कि अणु (छोटा) परिमाण परमाणुओं में, और महत् (बृहत् अर्थात् अणु परिमाण् आकाश में काष्ट्रा (अन्तिम सीमा) को प्राप्त हो जाता है अर्थात् अणु परिमाण् की विश्वान्ति परमाणु में; और महत् परिमाण् की विश्वान्ति आकाश में है, क्योंकि परमाणु से अधिक कोई छोटा नहीं है और आकाश से अधिक कोई बृहत् (बढ़ा) नहीं है। ऐसे ही सर्वज्ञता का बीजरूप अर्तीन्द्रय वस्तुविषयक योगी का ज्ञान सातिशय है, क्योंकि उस योगी के ज्ञान से किसी तीसरे योगी का ज्ञान अधिक होता है। इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते जहाँ परम-काष्ट्रा की प्राप्त होकर यह निर्तिशय ज्ञान हो जावे वही सर्वज्ञ, स्वासुक ईश्वर है।

जिस प्रकार झान की काष्टा का जाधार ईश्वर बतलाया है इसी प्रकार धर्म, बैराम्ब, ऐश्वर्य, यहा, श्री, प्रशृति और सम्पत्ति की काष्टा का भी जाधार ईश्वर को जानना चाहिये। भाष्यकार लिखते हैं कि यह सामान्य दृष्टि से अनुमान द्वारा ईश्वर के सर्वक्ष होने का समाधान है। यह विशेष-प्राप्ति में समर्थ नहीं है। उसके नाम, महिमा, प्रभाव आदि की विशेष प्राप्ति वेदों में खोजनी चाहिये। संसार की रचना में ईश्वर का कोई आपना अनुभह नहीं है। इसमें जीवों का भोग-अपवर्ग-रूप अनुभह करना ही प्रयोजन है। इस स्याखता ही के कारण 'ज्ञान और धर्मोपदेश द्वारा सांसारिक पुरुषों का मैं उद्धार करूँगा' इस माव से करूप-प्रलय और महाप्रलय के पीछे सृष्टि के आरम्भ में वेदों का उपदेश करता है।

जैसे कपिल मुनि ने योगवल से निर्माण किये हुए चित्त को (खपने संकट्स से रचे हुए, न कि कमों से विवश मिले हुए) को आश्रयण कर बिना किसी अपने प्रयोजन के केवल सृष्टि के अनुमह को लिये उनके कल्याणार्थ कहणा करके जिज्ञासु आसुहि माझण को समाधि द्वारा अनुमन करके पच्चीस तत्त्ववाले तत्त्व समास हूपी सांख्य-दर्शन का उपदेश दिया। अ

संगति—पूर्व सुत्रोक्त अनुमान द्वारा ब्रह्मा आदि ही निरित्तशय झान का आधार क्यों नहीं होते ? इस आशंका के निवारणार्थ अगले सूत्र में ब्रह्मादिकों से भी ईश्वर में विशेषता बतलाते हैं:—

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ — पूर्वेषाम - पूर्व उत्पन्न ब्रह्मादिकों का। अपि = भी। गुरु: = (वह ईश्वर) उपदेश है। कालेन-अनवच्छदात् = क्योंकि वह काल से अवच्छित्र (परिमित) नहीं है।

अन्वयार्थ —वह ईशर पूर्व उत्पन्न हुए महादिकों का भी गुरु है क्योंकि वह काल से परिच्छित्र (परिमित्त) नहीं है।

व्याख्या-गुरु, उपदेष्टा का श्रीर पृत्य का नाम है।

कालेन अविच्छित्र = काल से परिच्छित्र अर्थात् जो किसी काल में हो और किसी काल में न हो।

क्ष दिप्पणी—भोज शृति का भाषानुवाद सूत्र २५:—उस ईश्वर में सर्वज्ञता का बीज (सर्वज्ञता का कारण होने से बीज के सहरा बीज अर्थात कारण) भूत, भविष्यत, वर्तमान पवार्थों के ज्ञान का अल्पत्व, महत्त्व, निर्तिशय है अर्थात अविध्यत को प्राप्त हो गया है। जो सातिशय अल्पत्व, महत्त्व आदि धर्म हैं; उनकी अविध देखी गई है, जस परमाणुओं में अल्पत्व की; और आकाश में महत्त्व की, ऐसे हां उच, नीच भाव में देखे हुए ज्ञान आदि चित्त के धर्म कहीं निरितशय होते हैं। जिसमें वे निरितशय हैं वह ईश्वर है। यद्यपि इससे यह बोध नहीं होता कि जिसमें वे निरितशय हैं वह ईश्वर ही क्यों है, कोई अन्य क्यों नहीं, तथापि धर्म सर्वज्ञः स सर्ववित् इत्यादि उपनिषद्-वाक्य आदि के अमाण से ईश्वर के ही सर्वज्ञतादि धर्म जानने चाहिए। ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं, तो वह जीव और प्रकृति का क्यों संयोग-वियोग करता है ? यह शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ह्यालु होने से प्राणियों के ऊपर देखा करना ही उसका प्रयोजन है। यह ईश्वर का अध्यवसाय (इच्छा-विशेष) है कि करनी ही उत्तर और महाप्रतयों में सब प्राणियों का उद्धार करूँ। जो जिसको इह है बही

बतः कालेन बनविष्क्षन्न (काल से श्रपरिच्छिन्न) के अर्थ सर्व काल में विद्यमान के हैं। जैसे नद्मादि सृष्टि से पूर्व और महाप्रलय के बनन्तर उत्पत्ति, विनाशशील होने से काल-परिच्छिन हैं वैसे ईश्वर नहीं है, क्योंकि वह सर्वदा विद्यमान होने से काल की परिच्छिन्न से रहित है। इसलिये नद्मादिकों को ज्ञान प्रदान करने से ईश्वर उन सब का गुड़, और उपदेश है।

जैसे बतंमान सर्ग के आदि में ईश्वर ज्ञान-ऐश्वर्य-युक्त सिद्ध है वैसे ही पूर्व सर्गों के आदि में भी इसी प्रकार विद्यमान होने से ईश्वर ही श्रनादि, सर्वज्ञ, निरतिशय, ज्ञान का आधार है, मझादि नहीं हैं। जैसा यजुर्वेदीय श्वेताश्वेतरोप्तिवद् में बतलाया गया है:—

यो ब्रह्माणं विद्रशति पूर्वे यो वे वेदांश्च महिल्लोति तस्मै । तं ह देवनात्ममुद्धिमकाशं सुमुद्धवें शरणमहं मपद्ये ॥ (१।१८)

अर्थ-जिस ईश्वर ने सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को उत्पन्न किया श्रीर जिसने ब्रह्मा के इदय में खर, पाठ श्रीर रहस्य श्रर्थ सिंहत वेद-झान का प्रकाश किया, उस श्रासदेव की

मैं मुमुश्च शरण लेता हूँ।

विशेष वक्तव्य—इस रूत्र में ईरवर को काल की सीमा से परे गुरुष्टों का गुरु बतलाया गया है। राजा, १ जा, खामी, सेवक श्रादि भावनाओं में भेदभाव तथा खाथे सिद्धि की सम्भावना रहती है। माता पिता का भी पुत्र के शित मोह हो सकता है, किन्तु गुरु शिष्य का सम्बन्ध केवल आध्यात्मिक है, जिसमें केवल झान शिव्र श्रीर श्रात्म उन्नति का ही उद्देश्य होता है इसलिये सूत्र में ईश्वर को रुक्शों के गुरु की भावना से उपासना बतलाई गई है।

योग मार्ग में गुरुषों का शिष्यों से अपनी शकल या अपनी मूर्त्ति का ध्यान करवाना भेष्ठ नहीं है। वास्तविक गुरु होने का अधिकारी वहां हो सकता है जो गुरुषों के गुरु ईश्वर तक पहुँचावे और उसका हा प्रशिधान अथात् उसके ही सब कुछ समर्पण करना सिखलावे।

सापकों को व्यपने इस कथ्यात्मिक मार्ग में सबे पथदर्शक की खोज करने में पूरा सचेत रहना चाहिये। योग मार्ग में पथदर्शक का अनुभवः होना तो आवश्यक है ही, किन्तु निम्न बिशेषताओं पर भी पूरा ध्यान रखना चाहिय। पथदर्शक किसी विशेष शक्ति अथवा किसी बिशेष देवी देवता के संकीए। उपासना भाव से परे हाकर केवल एक सर्वज्ञ सबै व्यापक सर्व झितमान परमगुर परमेश्वर का उपासक हा। जन्म से जात पात मतमतान्तरों की संकीएोता तथा साम्भदायिक पद्मपात से परे होकर श्राण्यमात्र में एक ही शुद्ध चेतन परमात्मत्त्रक को देखता हुआ सभी का शुभविन्तक हो, जो साथकों के केवल गुण्य कमे सम्भाव और सार्त्विक संस्कारों पर दृष्टि हालता हुआ उनका उनके अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचाने में अध्वारोल हो। साथकों से धन, सम्पत्ति, मान, श्रीतश्च आदि का इच्छुक न हो अध्वा जो केवल अपने सम्भदाय के फैलाने तथा शिष्य मगडली के बढ़ ने का इच्छुक न हो अध्वा जो केवल अपने सम्भदाय के फैलाने तथा शिष्य मगडली के समर्राट सभी को आत्म कमित में सद्दांबता देने में तथर हो। जो दुनियां के रागदेश आदि सार

बनावट से परे होकर निरिभमान निरहङ्कारता के साथ आस्मिष्टनत में रत हो। पथर्शक पर इस प्रकार दृष्टि डालने से पूर्व साधकों को स्वयं अपने अन्दर देखना चाहिये। क्या हमारी जिङ्कासा सबी और वैराग्य तीन्न है ? क्या हम सांसारिक कामनाओं, धन सम्पत्ति, मान, प्रतिष्ठा अथवा अन्य किसी प्रकार की स्वार्थ दृष्टि से इस मार्ग में प्रवेश नहीं कर रहे हैं ? क्या हमारा प्राणीमात्र के प्रति स्वास्म जैसा प्रेम भाव है ? क्या हम जन्म से जातपात मत मतान्तर और साम्प्रदायिक संकीर्णता के कूप मराइक तो नहीं है ? क्या हम अपने पथर्शक को घोका तो नहीं दे रहे हैं ? क्या हम कपने पथर्शक को घोका तो नहीं दे रहे हैं ? क्या हम तपस्ती जीवन वितान और पथर्शक की सबी और हितकारी शिक्ष को प्रदेश करने और पालन करने के निये तैयार हैं ? इत्यादि।

संगति—इस प्रकार ईश्वर का निरूपण करके अब उसका प्रणिधान किस प्रकार करना चाहिये; यह बतलाने के लिये उसका वाचक (नाम) अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

तस्य बाचकः मणवः ॥ २७ ॥

शाब्दार्थ—तस्य = उस ईश्वर का। वाचकः = बोधक शब्द (नाम)। प्रण्वः = कोश्म् है।

अन्वयार्थ-उस ईश्वर का बोधक शब्द खोश्म् है।

व्याख्या—जिस अर्थ का बोधक जो शब्द होता है वह शब्द उस अर्थ का वाचक कहलाता है; और जिस वाचक शब्द से जो बोध्य अर्थ होता है वह अर्थ उस शब्द का वाच्य कहलाता है। जैसे गी (गाय) शब्द वाचक है और सास्ता (गोओं के गले में कम्बल-सा लटका हुआ मांस) पुच्छ आदि वाला पशु विशेष वाच्य है। वाचक, बोधक, अभिधायक, संज्ञा नाम एकाथेक हैं। इसी प्रकार वाच्य, बोध्य, अभिधेय, संज्ञी, नामी भी समानार्थक हैं। प्रकर्षेण नृयते स्त्यतेऽनेनेति, नौति स्तौतीति वा प्रणव अंकार:।(भोक्यक्त)

अर्थ-- तम्रता से स्तुति की जाय जिसके द्वारा श्रथवा भक्त जिसकी उत्तमता से स्तुति

करता है वह 'प्रणव' कहलाता है वह 'श्रोरम्' ही है।

इस जोश्म का जीर ईश्वर का वाच्य-वाचक-भाव सम्मन्ध है अर्थात् निरित्तशयझान-क्रिया की शक्तिरूप ऐरवर्यवाला व्यापक ईश्वर-वाच्य है, अभिधेय है और श्रोश्म बाचक, बोधक और अभिधायक है।

भाष्यकार इस सम्बन्ध को प्रश्नोत्तर द्वारा नित्य सिद्ध करते हैं। यथा:--

प्रश्न—क्या वह ईश्वर और प्रणुव का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध संकेत-कृत (संकेत-जन्य) है ? वा दीपक-प्रकाशवत् संकेतद्योत्य अर्थात् दीपक के प्रकाश के सहस्र विद्यमान ही संकेत से झात कराया हुआ है ?

यदि संकेत से वाच्य-वाचक-भाव-सम्बन्ध की उत्पत्ति मानी जावेगी तब जन्य (उत्पत्तिवाला) होने से सम्बन्ध श्रानित्य कहा जावेगा; श्रीर यदि संकेत से उत्पन्न नहीं होचा किन्तु ज्ञात कराया जाता है, इस प्रकार संकेत को द्योतक (ज्ञान कराने वाला) माना जावे तो सम्बन्ध नित्य कहा जावेगा। इन दोनों में से कीनसा मत सम्मत है ? प्रश्ला का यह भाव है। उत्तर—यह ईश्नर और श्रोश्न का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध नित्य है। केवल वर्गों के संकेत से प्रकाशित-मात्र होता है, नया उत्पन्न नहीं होता है। जैसे पिता श्रोर पुत्र का सम्बन्ध विद्यमान ही होता है, उसे कोई नया कित्पत नहीं करता किन्तु केवल बतलाया जाता है कि 'यह इसका पिता है, यह इसका पुत्र है'।

भाव यह है कि जैसे पिता-पुत्र का परस्पर जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध विद्यमान हुआ ही 'यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है' इस प्रकार संकेत से प्रकाश किया जाता है— ऐसा नहीं है कि उस संकेत से ही वह पिता और वह पुत्र हुआ हो—वैसे ही ईश्वर इत संकेत भी विद्यमान शब्द-अथे सम्बन्ध को प्रकाश करता है, उत्पन्न नहीं करता।

इसी प्रकार सवेत्र ही संकेत विद्यमान सम्बन्ध का प्रकाशक है, जनक नहीं है। यह संकेत जैसे इस सर्ग में है वैसे ही अन्य सर्गों में भी वाच्य-वाचक शक्ति की अपेका से विद्यमान ही रहता है। अतः पूर्व पूर्व सम्बन्ध के अनुसार उत्तर-उत्तर सर्ग में ईश्वर संकेत करता है।

विशेष वक्तव्य - सूत्र २७:--सूत्र की व्याख्या में वाच्य ईश्वर श्रीर वाचक प्रस्व में अनादि सम्बन्ध दिखलाया गया है। शास्त्रों में कहीं २ ऐसा वर्णन आया है कि प्रणव-भानि केवल ध्यान द्वारा अनुभव करने योग्य है। उसका यथार्थ में मुख से उचारण होना असम्भव है, तथापि गौण रुपेण जो प्रणव-मन्त्र उद्यारण किया जाता है वह त्रि-अन्तरमय है अर्थात् अ, उ और म ओंकार रूपी प्रणव होता है। जिसके तीनों असरों में त्रिगुणमयी प्रकृति क्रमशः श्राने तीनों गुणों, तमस, रजस और सत्त्व, श्रथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों जगत सहित तथा सर्व शक्तिमान परमेश्वर उनके अधिष्ठाता विराट, हिरएयगर्भ और ईश्वर रूप से अथवा सृष्टि की उत्पत्ति, श्विति और प्रतय की अपेना से बद्धा, विष्णु और महेश रूप से विश्वमान हैं। और प्रखब ही ईश्वर रूप है। वैज्ञानिक दृष्टि से प्रखब का स्वरूप यह है कि जहाँ कोई कार्य है वहाँ अवश्य कम्पन होगा और जहाँ कम्पन होगा वहाँ अवश्य कांडे शब्द होगा। सृष्टि के आदि कारण रूप कार्य की ध्वनि ही ओंकार हैं। प्रणव भ्वनि ही आंकार है। प्रण्य-भ्वनि रूप ध्वन्यात्मक शब्द का रूप वर्णात्मक प्रति शब्द होने के कारण शाब्दिक श्रोंकार श्रथवा शब्दातीत प्रणव दानों ही पूर्वापर सम्बन्ध से ईश्वर वाचक होकर प्रणव कहलात हैं। प्रणव ध्वन्यात्मक होने के कारण उसका कोई भी श्रद्ध मुख से उचारण करने योग्य नहीं है। किन्तु मानसिक जाप से परे केवल ध्वनि की अवस्था में अन्त: करण में ही प्रणव ध्वनि सुनाई देसकती है। उसी ध्वन्यात्मक प्रकृति के आदि शब्द ईश्वर बाचक प्रश्व का वर्णात्मक प्रतिशब्द उपासना काएड की सिद्धि के लिये बताया गया है। उसी वर्णात्मक प्रणव प्रतिशब्द को श्रोंकार कहते हैं। यह श्रोंकार श्रथात वर्णात्मक प्रणव श्र. उ. म के सम्बन्ध से कहा गया है। इस वाचक प्रश्व और वाच्य ईश्वर में स्थनादि और अविमिश्र (नित्य) सम्बन्ध है। इस वाचक अथात् वर्णात्मक प्रख्व के मानसिक जाप की परिपक्क अवस्था के पश्चात् योगी केवल भ्यान रूप ध्वन्यात्मक प्रशाब की भूमि में पहुँच जाता है। इस पर पूर्ण अधिकार की प्राप्ति असम्प्रज्ञात समाधि के प्राप्त करने में सहायक होती है।

यह २८ वें सूत्र के वि० व० में बतलाया जावेगा। योग मार्ग पर चलने वालों को जित्त है कि 'बोम' नाम से ही ईश्वर की उपासना करें क्योंकि यही उसका मुख्य अनादि और नित्य नाम व्यापक अर्थ वाला है अन्य सब गौण और संकीर्ण अर्थ वाले हैं। सारी श्रुनियें और स्मृतियें उसी 'ब्योम' का मुख्य रूप से वर्णन कर रही हैं। यथा:—

> पणतो घनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तङ्कच्यमुख्यते। अप्रमन्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ (स्व. १२१४)

अर्थ- प्रस्तव ('योम्') धनुष है। आत्मा वास्तु है। ब्रह्म वह लक्ष्य कहा गया है। सावधानी से उसे वीन्धना चाहिये। वास्तु के सहरा (अभ्यासी अपने लक्ष्य ब्रह्म में) तन्मय होजावे।

> वन्हे र्थथा योनि गतस्य मृतिर्न दृश्यते नैव च लिङ्ग नाश: । स भूय एवेन्धनयोनि-गृह्यस्तद्वोभ्यं वै प्रखवेन देहे ॥ १३ स्वदेद्वपरिण कृत्वा प्रखवं चोत्तरारिणम् । ध्यान निर्धयनाभ्यासाद्व देवं पृष्टयेनिगृह्वत् ॥ (३३० ४४०)

जैसा कि अरिण में स्थित भी खांप की मूर्ति नहीं दृःखती है और नहीं उसके सूक्ष्म रूप (जो खरिण के अन्दर उस समय भी है) का नाश है, वह (अरिण्गत खांप्र) फिर र खधरारिण उत्तरारिणयों में और (मंथन दएड के राइने से) महण की जाती है, इन दोनों बातों के सहश खात्मा खोंकार के देह में (ध्यान से पहले छिपा हुखा ध्यानाभ्यास से महण किया जाता है)। १३। खपने देह को अधरारिण, और खोल को उत्तरारिण बनाकर, ध्यान रूपी मंथन = दएड की राइ के बार बार करने से छिपी हुई खाग के सहश उस परम ख्योति को देखे। १४।

यदा वा ऋचामाप्रोत्योंवातिस्वरति । एवं सामैवं यजुः । एव उ स्वरो यदेतदन्तरमे-तदमृतवभयं । तस्पविश्य देवा अमृता अभया अभवन् । (७१०)॥॥)

अर्थ—जन उपासक ऋग्वेद को पढ़ाता है जंचे स्वर से श्रोम् बोलता है। इसी प्रकार साम श्रीर इसी प्रकार यजु को। यही श्रोम् शब्द स्वर है। यह श्रज्ञर, यह श्रमृत श्रीर अभय है। जो उपासक ऐसा जानकर श्रोम् की स्तुति करता है वह उस स्वर में प्रवेश करता है जो श्रज्ञर, श्रमृत श्रीर श्रभय है। श्रीर जैसे देव उसमें प्रवेश होकर श्रमर हो गये वैसे ही श्रमर हो जाता है।

भोषित ब्रह्म । भोषितीदं सर्वम् । भोषित्येतदनु कृतिई स्मनै अध्योआ-वयेत्या आवयन्ति । भोषिति सामानि गायन्ति । भोशोषिति शक्काया शंसन्ति । भोषित्यध्वेद्यः प्रतिगरं प्रतिशृक्षाति । भोषिति ब्रह्मा मसौति । भोषित्यविद्योब- मनुषानाति । भीमिति बाक्षणः भवच्यकार ब्रह्मोपामवानीति । ब्रह्मोवोपामाति । (है विक्ट)

अर्थ—श्रोम् यह नहा है। श्रोम् यह सब कुछ है। श्रोम् यह साझा मानना है। श्रोम् श्रंगीकार का वाचक है। श्रोम् कहने पर (श्रविज्) मन्त्र मुनाते हैं। श्रोम् होम् कहकर राखों (श्रुग्वेद के प्रार्थना मन्त्र विशेष) को पढ़ते है। श्रोम् कहकर (सोम-यझ में) श्राध्वर्षु यजुर्वेदी प्रतिगर (प्रोत्साहक मन्त्र विशेष) प्रवृता है। श्रोम् कहकर न्रह्मा श्रानुझा देता है। श्रोदेम् कहकर श्राप्त होत्र की श्रनुझा देता है। वेद श्रध्यन करने वाला न्राह्मण् श्रोदेम उत्रारण् करता हुश्रा कहता है मैं कझ (वेद) को प्राप्त होऊं और इस प्रकार बह न्रह्म को श्रवश्य पालेता है।

श्रोमित्ये-तदत्तरमिदं सर्वे तस्योप्ट्याल्यानं, भूतं भवद् भविष्यदिति सर्थमोकार एव: यद्यान्यत त्रिकालातीतं तदप्योकार एव । (मा॰ १)

अर्थ-यह सब कुछ स्रोम स्रज्ञर है। यह जो कुछ २,त, वर्तमान स्रोर भविष्यत् है सब उसकी व्याख्या है। स्रोर जो कुछ तीनों कालों से उपर है वह भी स्रोकार ही है।

सोयपात्मा अध्यत्तरभोंकारोऽधिमात्रं, पादा मात्रा, मात्राश्च पादा श्रकार दकार मकार इति (मा॰ ८)

अर्थः वह यह श्रात्मा श्रन्तर दृष्टि से मात्राश्चों वाला श्रोंकार है। पाद ही मात्रा है, मात्रा ही पाद है। वे मात्रायें श्रुकार, उकार और मकार हैं।

श्रमात्रश्रतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवाऽद्वैतः, एवर्गोकार श्रात्मैव संविशस्यात्मनाऽऽत्मानं य एवं वेद. य एवं वेद। (मा॰ १२)

अर्थ - चौथा पाद मात्रा रहित है। उसमें कोई व्यवहार नहीं है न कोई प्रपश्व है, वह शिव और अर्देत है। इस प्रकार ओंकार आत्मा ही है। जो उसे इस प्रकार जानता है वह आत्मा से आत्मा में प्रवेश कर जाता है। (मायह्रक्य मन्त्रों की व्याख्या सूत्र २८ के वि० व० में देखें)

भोगित्येकाचारं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।

यः प्रवाति स्यजन्देइं स याति परमांगतिम् ॥ गीता द । १३)

अर्थ जो पुरुष उर्थे ऐसे इस एक अत्तर रूप ब्रह्म को उचारण करता हुआ और इसके अर्थ स्वरूप परमात्मा को चिन्तन करता हुआ शरीर को त्याग कर जाता है वह पुरुष परम गति को प्राप्त होता है। ओंकार को सारे मन्त्रों का सेतु बतलाया गया है तथा मनो बोच्छित फल की प्राप्ति के लिये प्रत्येक मन्त्र को ओश्मू के साथ उचारण किया बाता है। यथा:—

"मन्त्राणां मणवः सेदः"

"माङ्गर्यं पावनं धर्म्यं सर्वेशायप्रसाधनस्। स्रोकारः प्रमंब्रह्म सर्वे मन्त्रेषु नायकस् "॥

संगति—ईश्वर श्रर्थ श्रीर उसका शब्द श्री३म तथा इन दोनों का वाच्य-वाचक नित्य सम्बन्ध बतलाकर श्रव तेईसवें सूत्र में बतलाए हुए 'ईश्वर-अश्विधान' का लज्ञ्स कहते हैं: --

तज्जवस्तदर्थ-भावनम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ-तत् जपः = उस प्रणव (श्रो३म) का जप। तदर्थ = उस प्रणव के श्रर्थ-भूत ईश्वर का। भावनम् = पुनः पुनः चिन्तन करना (ईश्वर-प्रणिधान है)।

अन्वयार्थ—उस खा२म् शब्द का जप और उसके खर्थभूत ईश्वर का ध्यान करना (पुनः पुनः चिन्तन करना) ईश्वर-प्रशिधान है ।

व्याख्या—श्रोश्म का मानसिक जप करना श्रौर उसका वाच्य श्रयं जो ईश्वर है उसके सूत्र चौबीस, पश्चीस श्रौर इर्ज्यास में बतलाए हुए गुणों की भावना श्रयांत् पूनः पूनः ध्यान करना ईश्वर-प्रणिधान है। चित्त को सब श्रोर से निवृत्त करके केवल ईश्वर में श्विर कर देने का नाम भावना है। इस भावना से श्रविया श्रादि क्लेश, सकाम कर्म, कर्म फल श्रौर वासनाश्रों के संस्कार जो बन्धन श्रयांत् जनम श्रौर मृत्यु के कारण हैं; चित्त से धुल जाते हैं श्रौर सात्त्वक शुद्ध ज्ञान के संस्कार उदय होते हैं श्रौर केवल ईश्वर हा एक ध्येय रह जाता है। यह भावना बार-बार के श्रभ्यास से इतनी हद हो जाना चाहिये कि श्रोश्त् इच्द के साथ ही उसका श्रयं (ईश्वर का स्वरूप भा) स्मरण हो जावे। जैसे निरन्तर श्रभ्यास से गौ शब्द के साथ उसका सारा स्वरूप स्मरण हो जाता है।

यद्यपि जप और ईश्वर-भावना-रूप ध्यान दोनों का एक काल में होना नहीं हो सकता है, तथापि भावना-रूप ध्यान से पूर्व और पश्चान् जप करने का क्रम जानना चाहिये। जैसे श्री व्यासजी महाराज ने अपने भाष्य में बतलाया है:—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत । स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा मकाशते ॥

अर्थ—स्वाध्याय नाम प्रस्तव-जप श्रौर श्रध्यास्म-शास्त्र के विचार का है। प्रस्तव-जप के पीछे योगाञ्यास करें, श्रौर योगाध्यास के पीछे प्रस्ता का जप करे। स्वाध्याय श्रौर योग, इन दोनों सम्पत्तियों से परमात्मा प्रकाशित होते हैं।

इस प्रकार ईश्वर-प्रशिधान से शीव्रतम श्रसम्प्रज्ञात समाधि-लाभ होता है। विशेष विचार-सन्न २८:---

(१) जागृत अवस्था में स्थूल-जगत में जो स्थूल शरीर का व्यवहार चलता है वह आस्मा के सिन्निय-मात्र से है, इस स्थूल-शरीर के साथ आत्मा के शवल-स्वरूप की संज्ञा 'विश्व' होती है,। (२) स्वप्नावस्था ख्रथवा सम्प्रज्ञात-समाधि में सूक्ष्म जगत में जो सूक्ष्म-कारीर का व्यवहार चलता है वह भी खात्मा की सिन्निधि से हैं । सूक्ष्म-झरीर के सम्बन्ध से ख्रास्मा के शबल स्वरूप की संज्ञा 'तैजस' होती हैं।

(३) सुषुप्ति श्रवस्था में जो कारण-शरीर में श्रभाव की प्रतीति होती है श्रथवा विवेक-ख्याति में जब गुणों के प्रमथ विकृत परिणाम-रूप चित्त की श्रास्मा से भिन्नता प्रतीत होती है; वह भी श्रास्मा के सन्त्रिध-मात्र से हैं। श्रात्मा के इस कारण-शरीर के सम्बन्ध से श्रात्मा

के शबल-स्वरूप की संज्ञा 'प्राज्ञ' है।

ये तीनों आत्मा के अपने शुद्ध स्वरूप नहीं हैं, श्रकृति के गुणों से मिश्रित हैं। इस कारण ये शवल, सगुण अथवा अपर-स्वरूप हैं। इनसे परे जो आत्मा का अपना निखरा हुआ निज केवल शुद्ध स्वरूप है वह पर अथवा निर्मुण शुद्ध है। वहीं स्वरूप अवस्थिति अथवा आत्मस्थिति है।

जिस प्रकार शरीर के सम्बन्ध से श्रात्मा को सममा है इसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा को समभ लेना चाहिये। समस्त संसार में ज्ञान, नियम तथा व्यवस्था-पर्वक सम्पूर्ण कार्य परमात्मा की सिन्निधि-मात्र से होते हैं।

स्थूल-जगत् के साथ परमातमा के शबल-स्वरूप की संज्ञा 'विराट' है। इसी प्रकार सूक्ष्म-जगत् के सम्बन्ध से उसके शबल-स्वरूप की संज्ञा 'हिरएयगर्भ' है। तथा कारण-प्रकृति के सम्बन्ध से उसके शबल-स्वरूप की संज्ञा 'ईश्वर' है।

ये तीनों परमात्मा के शबल, सगुण श्रथात् श्रपर स्वरूप हैं क्योंकि यह प्रकृति के गुणों से मिश्रित हैं। यह सब मिहमा उसके शबल-स्वरूप को ही दिखला रही हैं, जैसे कि श्रम्वेद में बतलाया गया है:—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः ।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि । (क्रग् १०।९०।३)

ओ३म् की व्याख्या—श्रो३म् की पहिली मात्रा 'श्रकार' परमात्मा के विराट-रूप की बोधक है, जो विश्व का उपास्य है। दूसरी मात्रा 'उकार' हिरएयगर्भ की बोधक है, जो तैसज का उपास्य है। तीसरी मात्रा 'म्कार' ईश्वर की बोधक है, जो प्राझ का उपास्य है। जिसका प्रिएपान तेईसवें सूत्र में बतलाया गया है। चौथे 'इति विराम' में सब मात्राएं समाप्त हो जाती हैं। वह गुर्गों की सर्व उपाधियों से रहित केवल शुद्ध निर्गुण परमात्म-स्वरूप है, जहाँ उपास्य-उपासक के भेद-भाव समाप्त हो जाते हैं, जिसका निषेधात्मक वर्णन निम्न-प्रकार किया गया है:—

श्रव्यविष्यवद्यार्थभद्राद्यमलत्तरणभिनत्यमन्यपदेश्यमेकात्ममत्ययसारं मर्पचोष-शर्मं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स स्रात्मा स विद्वेयः। अर्थ — वह अरष्ट है, उसको व्यवहार में नहीं ला सकते, उसको पकद नहीं सकते, उसका कोई चिन्ह नहीं, वह विचार में नहीं श्रा सकता, उसको बतला नहीं सकते । वह श्रास्मा है; केवल यही प्रतीति उसमें सार है, वहाँ प्रपश्च का मागड़ा नहीं, वह शान्त है, शिव है और अद्वैत (संख्या की सीमा से परें) है, उसको चौथा पाद मानते हैं, वह श्रास्मा है; उसी को जानना चाहिये।

श्रोम् के पाद श्रौर मात्रायें = माराङ्कपक्योनिषद् में श्रोम् के चार पाद बतलाये गये हैं। पहले पाद में पहली मात्रा श्रकार, दुसरे पाद में दूसरी मात्रा उकार, तीसरे पाद में तीसरी मात्रा मकार श्रौर चौथे पाद में मात्रा रहित विराम है।

१--पिहले पाद वाली अकार मात्रा में विराट् (स्थूल जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा का शवल स्वरूप) विश्व (स्थूल शर्रार के सम्बन्ध से आत्माका शवल स्वरूप) और आगि (स्थूल शरीर और स्थूल जगत् की मुख्य प्रकृति आगि ही है, क्यों कि आगि ही से स्थूल शरीर और स्थूल लोक जीवित रहत हैं)।

२—दूसरे पाद वाली उकार मात्रा में हिएयगर्भ (सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा का शवल खरूप), तैजल् (सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से आक्ष्मा का शवल खरूप), वायु (सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म जगत् की मुख्य प्रकृति वायु ही है क्योंकि सूक्ष्म शरीर तथा सूक्ष्म जगत् को वायु ही सूत्रात्मारूप से जीवित रख रहा है।

३—तीसरे पाद वाली मकार मात्रा में ईश्वर (कारण जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा का शवल खरूप), प्राज्ञ (कारण शरार के सम्बन्ध से आत्मा का शवल खरूप) श्रोर श्रादित्य (कारण जगत् श्रोर कारण शरीर कं मुख्य प्रश्चित श्रव्यक्त मूल प्रश्चित ग्राणों की साम्य श्रवश्चा तो केवल श्रवुमान श्रोर आगमगम्य है, इसलिय वासव में कारण जगत् विशुद्ध सस्वमय चित्त हो है श्रोर कारण शरीर सस्वचित्त है। श्रादित्य विशुद्ध सस्वमय चित्त का ही दूसरा नाम है, इसलिय वहां कारण जगत् श्रोर कारण शरार की मुख्य प्रश्चित है।

४—चौथा पाद मात्रा रहित विराम में कारण जगत् श्रौर कारण शरीर से परे केवल शुद्ध परमात्म तत्व है।

पात्राध्यों से धोम् की उपासना

१—पहिले पाद एक मात्रा वाले ओम् का वपासना — ग्रांम का वावक जाप— अथीं की भावना सांहत ओम् का वाणी से जाप करना पहिले पाद एक मात्रा वाले अकार म्रांम की उपासना है। इस में स्थूल शरार का अभिमान रहता है इसलिये स्थूल शरीर के सम्बन्ध से जो आत्मा की संज्ञा विश्व है वह उपासक हाता है और स्थूल जगत् के सम्बन्ध से जो परमात्मा की संज्ञा विश्व है वह उपासक हाता है। इसका वितकांतुगतसम्प्रज्ञात समाधि की मूमि समर्भना चाहिये जिसमें ध्यान के सुक्ष्मता के तारतम्य से ावश्व की विराट के स्वरूप में अवस्थिति होती है जिसके फलस्वरूप पाँचों स्थूल भूल आत्म-उन्नति में प्रतिबन्धक न रहकर सहायक बन जाते हैं। (रोष सूत्र १७ की व्याख्या तथा सूत्र १८ के विरोष वक्तव्या में दक्षें)।

२—दूसरे पाद दो मात्रा वाले अकार उकार ओम् की उपासना—श्रोम् का मानसिक जाप—श्रमों की भावना सहित्त श्रोम् का मन से जप करना दूसरे पाद दो मात्रा वाले अकार उकार श्रोम् की उपासना है। इसमें सूक्ष्म शरीर का श्रभमान रहता है इसलिये सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से जा श्रात्मा की संज्ञा तैजस है वह उपासक होता है और सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध से जो परमात्मा की संज्ञा हिरएयगभे है वह उपास्य होता है। इसको विचारा- तुगत संप्रज्ञात समाधि की भूमि समम्बन चाहिये जिसमें ध्यान के सूक्ष्मता के तारतम्य से तैजस की हिरएयगभे के स्वरूप में श्रविश्वति होती है। जिसके फलस्वरूप सूक्ष्म भूत श्रात्म अतिबन्धक न रहकर सहायक बन जाते हैं। (शेष सू० १७ की न्याख्या तथा सूत्र १८ के वि० व० म दखें)।

३ — तीसरं पाद श्राकार, उकार श्रीर मकार तीन मात्रा वाले पूरे श्रोम की उपासना श्रोम का कंवल ध्यान (ध्वीन) जब मानसिक जाप श्रपनी परिपक्क श्रवस्था में सुद्भ होते होते कंवल ध्यान (ध्वीन) रहजावे तो यह तीसरे पाद तीन मात्रा वाले पूरे श्रोम की उपासना है। इसमें कारण शर्रार का श्राभिमान रहता है इसलिय कारण शर्रार के सम्बन्ध से जो श्रात्मा की संज्ञा प्राज्ञ है वह उपासक होता है श्रीर कारण जगत के सम्बन्ध से जो परमात्मा की संज्ञा इश्वर है वह उपासक होता है। ध्यान (ध्वीन) के सुद्भाता के तारतम्य से इसको श्रानन्दानुगत, श्रास्मतानुगत श्रोर विवंकस्थाति की भूमि सममाना चाहियं जिसमें इस ध्यान की सुद्भाता के तारतम्य से प्राज्ञ की इश्वर के स्वरूप में श्रवस्थिति होती है जिसके फल स्वरूप श्रीवया श्राद सारे हुश तनु होकर दग्ध बीज तुस्य हो जाते हैं। (शेष सूत्र १७ व्यास्था व सूत्र १८ के वि० व० में देखें)।

४ - चांधा पाद खोम् का मात्रा रहित विराम-शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थितिजव उपशुंक खाम् का ध्यान (ध्वनि) भी अपनी अन्तिम परिपक्ष अवस्था में सूक्ष्म होवा
हुआ समाप्त हा जावं तक कारण शरार से परे शुद्ध आत्मा की कारण जगत से परे शुद्ध
परमात्मा क स्वरूप में अवस्थित हाता है। यह असम्भ्रज्ञात समाधि है जिस की प्राप्ति का
साधन सूत्र २२ में ईश्वर प्राण्धान बतलाया था। यहाँ पहुंचकर समल अववधान उपाधियें
तथा उपास्य-उपासक भाव समाप्त हो जाता है। यही स्वरूपावस्थित, आत्मस्थिति, परमास्मप्राप्ति अथात् प्राण्मात्र का अन्तिम ध्येथ है।

ममात्रश्रतुर्थोऽन्यवहार्यः प्रपंचोपश्रमः शिवोऽद्वैत एवमींकार मास्पैव स विशारपारमनाऽऽत्मानं य एवं बेद । (मान्यूक्योपनिषद्-१२)

अर्थ—स्थात्र (जिसको काई मात्रा नहीं यह खोंकार) तुरीय खास्मा है जो क्यान हार में नहीं खाता, जहाँ प्रपन्स का ऋगड़ा नहीं, जो शिव खड़ेत है, इस प्रकार खोरेष खास्मा ही है। वह जो इसको जानता है; वह खास्मा से खास्मा में प्रवेश करता है। भलो भयो हर बीसरो, सर से टली बलाय। जैसे थे तैसे भये, श्रव कुछ कहां न जाय॥—(कबीर) जब में था तब तून था, तूपायो मैं नाय। प्रेम-गली श्रति सौंकरी, ता में द्वैन समाय॥

स्थृत, सूच्य श्रीर कारण-शरीर का वर्णन

द्योश्म की व्याख्या में तीनों शरीरों का संकेत-मात्र ही वर्णन किया गया था। यहाँ बनका स्पष्टीकरण किय देते हैं:—

स्थूल-इारीर-रज-वीर्य से उत्पन्न होने वाला, अन्न से बुदने वाला, पाँचों भूतों :

पृथ्वी, जल, श्राप्त, वायु श्रीर श्राकाश से बना हुआ स्थूल-शरीर है।

जान्नत्—जब तमोगुण रजांगुण से दवा हुन्ना होता है तो जानत्-त्रवस्था में साध् कार्य स्थूल जगत् में इसी स्थूल शरीर द्वारा किये जात हैं। इसी शरीर का जन्म-मरण श्रीर इसी में जरा (जुड़ापा), रोगादि ज्याधियें होती हैं।

सुद्दम-दारीर — पाँच झानेन्द्रियें शक्तिमात्र : नासिका, रसना, चक्क, श्रोत्र और ल्वा; और पाँच कर्मन्द्रियें शक्तिमात्र : इस्त, पाद, वाणी, गुदा, उपस्थ, ग्यारहवाँ मन जिसके द्वारा ये शक्तियें काम करती हैं तथा जिसमें संकल्प-विकल्प होते हैं। पाँच प्राण, और अहंकार : श्रहमता पैदा करनेवाली शक्ति, बुद्धि चित्त साहित : निर्णय करने वाली तथा भावों और संकारों को रखनेवाली शक्ति। ये श्रठारह शक्तियों का समृह सूक्ष्म-शरीर कहलाता है।

स्वप्न - जब बाहर के कार्यों से स्थूल-शरीर थक जाता है, तब तमोगुण रजागुण

को दबाकर स्थूल-शरीर को स्थूल जगत् में कार्य करने से श्रसमर्थ कर देता है।

किन्तु तमोगुण से दबा हुआ सूक्ष्म-शरीर जामन्-श्रवस्था क स्मृति के किन्पित विषयों में कार्य करना आरम्भ करता है वह स्वप्न कहलाता है।

सम्प्रकात-समाधि - इसी प्रकार जब समाधि-श्रवस्था में सत्त्वगुण रजोगुण को दबा लेता है तब स्थूल-शरीर स्थूल दशा में व्युत्थान के कार्य बन्द कर देता है, किन्तु

सूक्ष्म-शरीर सत्त्वगुण का प्रकाश पाकर सूक्ष्म-जगत् में काये करता रहता है।

जहाँ स्वप्न में तमोगुए। के अन्धकार में सब दृश्य कल्पित होते हैं वहाँ समाधि अवस्था में सत्वगुए। की प्रधानता से उसके प्रकाश में ध्यय-वस्तु के वास्तविक स्वरूप का झान होता है। सूक्ष्म-शरीर को एक पैर में डारी बँघे हुए पत्ती अथवा एक पतङ्ग के सटश समकता चाहिये, जिसमें डोरी बँघी हुई है और वह डोरी चर्खी पर चढ़ी हुई है।

यह डोरी प्राण की है और चर्सी हृदय-स्थान की है; जहां प्राणों की प्रन्थि (केन्द्र)

है। उदान इस सूक्ष्म-शरीर को बाहर के समष्टि-प्राण से जोड़े हुए हैं।

स यथा शक्किः सूत्रे मबद्धो दिशं दिशं पितत्वाऽन्यत्रायतनमल्राध्वा बन्ध-नमेबोपश्रयते, एत्रमेब खल्ल सोम्पैतन्त्रनो दिशं दिशं पितत्वाऽन्यश्रायतनमल्राध्या-मास्त्रमेबोपश्रयते, पार्णसन्धन हिं सोम्यं मन इति । (क्रान्ताः ६ । ८ । २) अर्थ—जिस प्रकार पतङ्ग अथवा पत्ती डोरी से बँधा हुआ अनेक दिशाओं में घूम कर दूसरे स्थान पर आश्रय न पाकर अपने बन्धन के स्थान पर ही आजाता है, इसी प्रकार निश्चय से, हे सोम्य, यह मन अनेक दिशाओं में घूम-पामकर किसी दूसरे स्थान पर आश्रय न मिलने के कारण प्राण् का ही सहारा लेता है; क्योंकि हे सोम्य, मन प्राण् के साथ बँधा हुआ है।

ऊँची श्रवस्थावाले योगी-जन समाधि-श्रवस्था में इस प्रकार सुक्ष्म-जगत् में इस सूक्ष्म-ज्ञरीर से श्रमण् करते हैं जिस प्रकार चर्खी पर चढ़ी हुई डोरी ढीली करने से पतङ्ग श्राकाज्ञ में उड़ा चला जाता है और जिस प्रकार डोरी चर्खी पर लपेटने से पतङ्ग फिर श्रपने स्थान पर श्रा जाता है, इसी अकार सुक्ष्म-डारीर फिर श्रपने स्थान पर लौट श्राता है।

'महाविदेदा-बहिर्-कल्पिता' वृत्तिवाले (३।४३) सिद्ध-योगी समाधि से भिन्न श्रवस्थ। में भी खेच्छानुसार सूक्ष्म-जगत् में सूक्ष्म-कारीर से भ्रमण कर सकते हैं ।

इस सूक्ष्म-शरीर द्वारा ही चित्त में जन्म, आयु और भोग देनेवाले वासनाओं के संस्कार (कमे-विपाक) एकत्रित रहते हैं। जिस प्रकार चर्ली का डोरा टूटने पर पतङ्ग जब दूसरी चर्ली के डोरे में जांड़ दी जाती है तो उसका सम्बन्ध फिर उसी चर्ली से हो जाता है, इसा प्रकार मृश्यु के समय हदय-रूपी चर्ली से प्राय-रूपी डोरी टूटने पर सूक्ष्म-शरीररूपी पतङ्ग उड़वा हुआ ऐसे गभे के पास पहुँच जाता है जहाँ उसकी वासनाओं (प्रधान कमे-विपाक) की पूर्ति करनेवाले उसके समान संस्कार होते हैं, (ज्याख्या २।१२-१३)। वहाँ उसके हदयमन्थि-रूपी चर्ली में इसके प्रायों की गांठ लग जाती है और इस शरीर के साथ प्रवेवत काथे होने लगते हैं।

कई योगाचार्यों का मत है कि सूक्ष्म-सरीर का सूक्ष्म-जगत् में भ्रमण् नहीं होता है। सूक्ष्म-जगत् में काल श्रीर दिशा का ऐसा भेद नहीं रहता जैसा स्थूल-जगत् और स्थूल-शरीर के व्यवहार में होता है; केवल पृत्तियाँ जाती हैं अथोत् चित्त में इन्हीं वृत्तियों द्वारा ऐसा परिणाम होता है श्रीर सुक्ष्म-शरीर जाता हुआ प्रतीत होता है।

श्रानन्तं वे मनः । (बृहदारण्यकोपनिषद्)

अर्थ-चित्त अनन्त अर्थात् विभु है।

द्वतिरेवास्य विभूनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः।

(योगदुर्शन ४ । १० व्यासमाध्य)

अर्थ-इस विभु चित्त की वृत्ति ही संकोच-विकास धमेवाली है; ऐसा आचार्य (पतःखलि मनि) मानत हैं।

कई सज्जनों का ऐसा विचार है कि समाधि-श्रवस्था में जो सूक्ष्म-जगत् का अनुभव होता है वह स्वप्न जगत् के समान कल्पित ही होता है। उस समय जैसी वृत्ति उदय होती है वैसे ही दृश्य सामने श्राकर विस्तलाई देने लगते हैं। इस सम्बन्ध में इतना कह देना पर्याप्त है कि स्वप्न रजोगुण पर तमोगुण की श्रधिकता (प्रभाव) से होता है और समाधि रजोगुण



ओंकार का भावनामय चित्र

- (1) विराम = দ্ৰুদ্ধ निर्गुण, उपाधिरहित, चेतन अर्थात् परमाक्ष्म तत्त्व (चेतन तत्त्व का দ্ৰুদ্ধ অरুप।
- (२) मकार = चेतन तत्त्व + समष्टि कारण-जगत् तथा व्यष्टि कारण शरीर । समष्टि कारण जगत का अधिष्ठाता 'ईश्वर', उपास्य; व्यष्टि कारण शरीर का अभिमानी 'प्राज्ञ' उपासक (चेतन तत्त्व का शबल स्वरूप)।
- (३) उकार = चेतन तस्व + समष्टि सुक्ष्मजगत् तथा ब्यष्टि सुक्ष्म शरीर । समष्टि सुक्ष्म जगत् का अधिष्ठाता 'हिरण्यगर्भ,' तथा ब्यष्टि सुक्ष्म शरीर का अभिमानी ''तैजस'' उपासक (चेतन तस्व का शबक सक्य)।
- (४) अकार = चेतन तस्व + समष्टि स्थूल जरात् तथा व्यष्टि स्थूल हार्रार । समष्टि स्थूल जरात् का अधिष्ठाता 'विराट्' उपास्य; तथा व्यष्टि स्थूल-हारीर का अभिमानी "विश्व" उपासक (चेतन तस्व का शबक सक्त)।

पर सत्त्वगुषा की व्यथिकता (प्रभाव) से होती है, जैसा ऊपर वतला व्याए हैं। समाधि में जितनी मात्रा में सत्त्व, तम ब्रौर रज से दबकर प्रधानरूप से रहता है उतने ही ब्रांझ में ये हुरय कस्पित होते हैं। एकामता के बढ़ने के साथ-साथ जितना-जितना सत्त्व का प्रकाश बढ़ता जाता है उतनी-उतनी इन टरयों की वासविकता बढ़ती जाती है।

कारण-दारीर—चेतन से प्रतिबिन्बित चित्त-सरव जिसमें श्रद्दंकार बीजरूप से छिपा हुआ अपने कार्य को बन्द किये हुए रहता है जिसकी संज्ञा अस्मिता है उसको कारण-दारीर समम्मना चाहिये। जब तमोगुण रजोगुण को इतना दवा लेता है कि सूक्ष्म-दारीर स्वप्न में भी कार्य करने में असमर्थ हो जाता है तब सुपुप्ति अवस्था आती है; इस अवस्था में केवल कारण-दारीर ही में कार्य होता है। कारण-दारीर के तम से आच्छादित हो जाने के कारण केवल अभाव की प्रतीति होती है। इसके अतिरिक्त तमोगुण के अन्धकार में न कुछ बाहर का ज्ञान होता है और न भीतर का।

इसी प्रकार जब समाधि की एकामता बढ़ने पर सस्त्व रजस् को इतना दवा देता है कि सूक्ष्म-शरीर एकामता वाली वृत्ति दिखाने में भी श्रसमर्थ हो जाता है तब सस्त्व के श्रस्यन्त प्रकाश में विवेक-ख्याति उत्पन्न होती हैं; विवेक-ख्याति का कार्य कारण-शरीर में होता है। इसमें श्रात्मा की चित्त से भिन्नता प्रतीत होती है श्रयीन चित्त हाग श्रात्मा का सासान्त होता है, किन्तु यह श्रात्मा का शुद्ध खरूप नहीं है; इसलिये यह खरूपावध्यित नहीं है। विवेक ख्याति भी एक वृत्ति ही है क्योंकि इसमें भी रजोगुण कुछ श्रंश में बना रहता है जो इस वृत्ति के उदय होने का कारण है। जब इसका भी निरोध हो जाता है तब इस कारण-शरीर से भी भिन्न जो श्रात्मा का श्रपना निजी शुद्ध परमात्म खरूप है उसमें श्रविश्वित होती है।

भोंकार का भावनायय चित्र

(१) विराम = शुद्ध, निर्गुर्ग, ভपाधि-रहित, चेतन अर्थान् परमात्म-तत्त्व (चेतन तत्त्व का शुद्ध स्वरूप)।

(२) मकार = चेतनतत्त्व + समष्टि कारण्-जगत् तथा व्यष्टि कारण्-शरीर । समष्टि कारण् जगत का अधिष्टाता 'ईश्वर', उपास्य; व्यष्टि कारण्-शरीर का अभिमानी 'प्राक्क', उपासक (चेतन-तत्त्व का शवल-स्वरूप)।

(३) उकार = चेतनतत्त्व + समष्टि स्ट्र्म-जगत् तथा व्यष्टि स्ट्र्स-शरीर । समष्टि स्ट्र्स-जगत् का श्रभिमानी 'हिरएयगभै', तथा व्यष्टि स्ट्र्स-शरीर का श्रभिमानी 'तैजस', उपासक (चेतन-तत्त्व का शवल-स्वरूप)।

(४) अकार = चेतनतत्त्व + समष्टि स्थूल-जगत् तथा व्यष्टि स्थूल-शरीर । समष्टि स्थूल-जगत् का अभिमानी 'विराट्', उपास्य; तथा व्यष्टि स्थूल-शरीर का अभिमानी 'विश्व', उपासक (चेतनतत्त्व का शवल-विरूप)।

संगति — सूत्र २३ में व्यसम्प्रकात समाधि का साधन ईरवर प्रशिधान चौर सूत्र २८ में ईरवर प्रशिधान का स्वदप तथा उस से प्राप्त व्यसम्प्रकात समाधि को बतलाकर इस विषय को समाप्त कर दिया। अब यहां अगले सूत्र में असम्प्रज्ञात समाधि से पूर्व ईश्वर प्रस्थिधान का विशेष फल दिखाते हैं।

ततः परवक् चेतनाधिगमोष्यन्तरायाभावश्र ॥ २६ ॥

हाव्दार्थ — ततः = उस ईश्वर-श्रिष्धान से । श्रत्यक्-चेतना = श्र्यक्चेतना (जीवात्मा) का । अधिगमः = श्राप्ति (साचात्कार) । अपि = भी होता है । अन्तरायस्रभावः च = और अन्तरायों का अभाव होता है ।

अन्वयार्थ—उस ईश्वर-प्रणिधान से प्रत्यक्चेतना का ज्ञान भी होता है और अन्तरायों विन्नों का अभाव हाता है।

व्याख्या---प्रत्यकचेतना = प्राज्ञ ।

विषयमातिकूल्येन स्वान्तः करणाभिम्नवर्मचित

या चेतना दवशक्तिः सा पत्यक् चेतना। (भोजवृति)

अर्थ - जो दक्शक्ति विषयों को छोड़कर श्रपने श्रन्तःकरण में सम्मुख प्रवृत्त होती है

वह प्रत्यकचेतना है।

ईश्वर-प्रिश्यान से केवल श्रीप्रतम समाधि का ही लाभ नहीं होता है, किन्तु अन्तराय (विद्र) जिनका वर्णन अगले सृत्र में किया जायगा उनकी निवृत्ति-पृर्वक प्रत्यक्रेतना के श्वरूप का भी साथ-के-साथ सालात्कार हो जाता है। इसी के बोधनार्थ सृत्र में 'अपि' पद दिया है। भाव यह है कि उपाम्य के जिन गुर्णों की भावना करके उपासक ध्यान करता है उन्हीं गुर्खों का उपासक में समावेश होता है। जैसे ईश्वर चेतन, क्रूटस्थ नित्य है और क्रेशादिकों से रहित है वैसे ही वास्तव में जीवात्मा भी चेतन, क्रूटस्थ नित्य और क्लेशादिकों से रहित है। इस साहरयता से ईश्वर के ध्यानरूप प्रश्चिमान से प्रश्चिमानकर्ता को अपने शुद्ध निर्विकार स्वरूप का भी प्रत्यन्त ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि अत्यन्त विकद्ध धर्मवाले पदार्थों में एक के ध्यान से दूसरे विकद्ध धर्मवाले पदार्थे का साम्रात्कार हो सकता किन्तु सदश पदार्थों में एक के ध्यान से दूसरे सहश पदार्थ का भी साम्रात्कार हो सकता है। जैसे एक शास्त्र के आधास से सहश अर्थवाले दूसरे शास्त्र का भी ज्ञान हो जाता है। इससे यह अभिप्राय है कि व्यवधान का अभाव होने से ईश्वर-प्रश्चिमान से प्रथम ईश्वर का साम्रात्कार न होकर प्रश्चिमानकर्ता को अपने क्रूटस्थ नित्य-शुद्ध स्वरूप का ही साम्रात्कार हो जाता है और योग-किमों का अभाव हो जाता है।

वाचरपति मिश्र लिखते हैं कि:--

पतीपं विषयीतं अञ्चलि, विजानातीति, पत्यक् स चासौ चेतनश्च ।

अर्थ-जो विपरीत जानता और चेतन है उसको प्रत्यक्चेतन कहते हैं, अर्था त् अविगा-विशिष्ट जीव ।

ईरवर-चिन्तन से जीव का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है। यद्यपि श्रम्य के चिन्तन से सम्ब का ज्ञान नहीं होता; किन्तु जीव ईरवर से चेतनता-धमें में सरहा है, इससे सरहा बस्त का ज्ञान हो सकता है। वस्तुतः 'प्रति प्रति वस्तु अञ्चात गच्छति सर्वानुगतो भवति' प्रत्येक वस्तु के प्रति जाता है अथवा सब में अनुगत (व्यःप्त) होता है (वह प्रत्यक है) — इस व्यत्वति से 'प्रत्यक' शब्द से ईश्वर को भी ले सकते हैं, तब ईश्वरोपासना से जाव-ईश्वर दोनों का ज्ञान होता है।

विशेष वक्तव्य सूत्र २९: -प्रत्यक चेतना प्राज्ञ का बोधक है और प्राज्ञ पुरुष से प्रतिविभिन्त (प्रकाशित) नित, अथात कारण शरार क सम्यन्ध से आत्मा का नाम है। इसलिये तान मात्रा वाले पूरे आनुका उरासना का अस्मिता भूनि में प्रत्यकु चैतना का . साज्ञात्कार होता है। चित्त के उदतम एक पता की अप्रथा में रजस तमसुका आप्रावरण हर जाने से सरव की स्वच्छता और निमंत्रता में योग के अन्तराओं का भी अभाव ही जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि से पूर्व ईश्वर प्रशियान का यह विशेष फल है।

संगति-ईश्वर-प्रशिवान से जिन अन्तरायों का अभाव बतलाया है उन चित्त को विवित करके एकामता को हटानेशले याग के विन्नों का स्वरूप आगते सन्न में निर्देश करते हैं:-

व्याधिस्त्यानसंशायपपादाऽऽत्तस्याऽविरति भ्रान्तिदर्शनाऽत्वव्यभूमिकः स्वाडनविध्यतत्वानि चित्तवित्तेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ -व्याधि त्वानि =व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, त्रालस्य, श्रविरति. भ्रान्तिदर्शन, अलब्ध-भूमिकत्व श्रीर अनबक्षितत्त्व । चित्तविद्येषाः = चित्त के विद्येष । ते = वे । श्रन्तरायाः = विघ्न हैं।

अन्वयार्थ -व्याधि, स्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, श्रविरति, श्रानितदर्शन, श्रलब्ध

भमिकत्व, श्रनवस्थितस्व; यं चित्त के नौ विद्येप (योग के) विद्र हैं।

व्याख्या-व्याधिः धातु, रस श्रीर करण की विवनता से उत्पन्न हुए व्वरादिक व्याधि कहलाते हैं। वात, पित्त, करु; इन तीनों का नाम दोष है। रस, रक्त, मांस, मेद, श्रक्षि, मजा, शुक्र; ये सात धातु हैं। इनको इयत्ता (श्रन्दाज) को त्यागकर न्यूनाधिक हो जाना धात की विषमता अथवा दोष-प्रकाप कहा जाता है। भुक्त-पीत (खाये-पिये) अन्न-जल के परिपाक दशा को प्राप्त हुए सार का नाम रस है। खाये-पाये श्रम्भ-जन का सम्यक-रूप से (तीक-ठीक) न पचना रस को विषमता है। करण नेत्रादि इन्द्रियों का नाम है। कम देखना, कम सुनना आदि करण की विषमता है।

स्यान: चित्त की अकमेरायता अर्थात इच्छा होने पर भी किसी कार्य का करने की

(बोगसाधन के अनुष्टान की) सामर्थ्य न होना ।

संशय: 'मैं योग-साधन कर सकूंगा, कि नहीं कर सकूंगा, करने पर भी योग सिद्ध होगा या नहीं' इस वो कंदि का विषय करनेवाला ज्ञान संशय है।

प्रमाद : समाधि के साधनों का अनुष्ठान न करना ।

आलस्य : वित्त अथवा शरीर के भारी होने के कारण ध्यान म सगमा । शरीर 18 68

का भारी-पन कफ द्यादि के प्रकोप से; धौर चित्त का भारीपन तमोगुरा की द्यधिकता से होता है।

श्रविरति : विषयों में एष्णा बनी रहना श्रर्थात् विषयेन्द्रिय-दंयोग से चित्त की विषयों में उष्णा होने से वैराग्य का श्रभाव ।

भ्रान्तिदशंन : मिथ्या-झान (योग के साधनों तथा उनके फल को मिथ्या जानना) । श्रलच्ध-भूमिकत्व : किसी प्रतिबन्धक-वश समाधि-भूमि को न पाना श्रर्थात् समाधि में न पहँचना ।

अनविश्वतत्त्व: समाधि-भूमि को पाकर भी उसमें चित्त का न ठहरना अर्थात् ध्येय

का साज्ञात करने से पूर्व ही समाधि का छट जाना।

उपगुक्त नौ विष्न एकामता से हटानेवाले हैं और चित्त की वृत्तियों के साथ होते हैं, उनके अभाव में नहीं होते । इस कारण चित्त के विज्ञेण योग के मल, योग के अन्तराय और योग के प्रतिवृत्ती कहलाते हैं ।

संगति—केवल पूर्वोक्त नौ ही योग के प्रतिबन्धक नहीं हैं किन्तु उनके वर्तमान होने पर श्रन्य प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं, जिनका स्वरूप श्रगले सूत्र में निर्देश करते हैं:—

दुःखदीर्मनस्यांऽगमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः विच्नोपसहभ्रवः ॥ ३१ ॥

राज्दार्थ — दुःख = दुःख । दौर्भनस्य = दौमनस्य । श्रङ्गमेजयत्व = श्रङ्गमेजयत्व = १ १वासप्रश्रवासाः = श्वास श्रीर प्रश्वास । दिचेपसहभुवः चिचेभों के साथ होनेवाले हैं श्रर्थात् पूर्वोक्त श्रन्तरायों के होने से यह पाँच श्रन्य प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं।

ु अन्वयार्थ -दुःब, दीर्मनस्य, श्रङ्गमेजयत्व, श्वासप्रश्वास; ये विद्युपों के साथ होने

वाले हैं अर्थान् उनके होने से यह पाँच प्रतिबन्धक भी उपस्थित हो जाते हैं।

व्याख्या—दुःखः पीड्डा जिसकी चोट खाकर उसके नाश करने का यक्न करते हैं, वह आध्यारिमक, आधिमीतिक और आधिदैविक भेद से तीन प्रकार के हैं। उनमें से (क) काम, क्रांध आदि जन्य मानस परिताप और ज्याधि आदि जन्य शारीरिक परिताप आध्यान्तिमक दुःख कहलाते हैं। आत्मा यहाँ मन तथा शरीर के अर्थ में प्रयोग हुआ है। (ख) सिंह, सर्प आदि फ्तों से जन्य दुःख आधिमीतिक हैं। मून यहाँ प्राणियों के अर्थ में प्रयोग हुआ है। (क) दुःख आधिमीतिक हैं। मून यहाँ प्राणियों के अर्थ में प्रयोग हुआ है । (ग) विशुत्पात, अति-वर्षण, अमि, अति-वायु आदिक दैविक शक्तियों से जन्य दुःख आधिदैविक हैं।

दौमेनस्य: इच्छा की पूर्ति न होने पर मन में चौभ होना।

श्रद्भमेजयत्व: शरीर के श्रद्भों का कौपना।

श्वास : बिना इच्छा के बाहर के वायु का नासिका द्वारा अन्दर आना।

प्रश्वास : विना इच्छा के भीतर के वायु का नासिका-छिद्रों द्वारा बाहर निकलमा। ये विचेषों के साथ होनेशले उप-विचेष स्थवा उप-विच्न हैं।

संगति - उपरोक्त विश्लेप और उपविश्लेप विश्लिप चित्रवालों को ही होते हैं, एकाम

चित्तवालों को नहीं होते। इन समाधि के शत्रुष्यों को अभ्यास वैराग्य द्वारा निरोध करना चाहिये। उन दोनों में से अभ्यास के विषय को उपसंहार करने के लिये अगला सत्र है:—

तत्मतिषेवार्थमेकतस्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

द्याच्यार्थ — तत् = उन पूर्वोक्त विद्येत तथा उपविद्येषों के। प्रतिषेषार्थम् = दूर करने के लिये। एकतत्त्व-अभ्यासः = एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये। अर्थात किसी अभिमत एक तत्त्व द्वारा चित्र की स्थिति के लिये यह्न करना चाहिये।

अन्वयार्थ – उन पूर्वोक्त िन्तेयों तथा उपवित्तेयों को दूर करने के लिये एकतस्व का अभ्यास करना चाहिये। अर्थात किसी अभिमत एक तस्व द्वारा चित्त की क्षिति के लिये यक्न करना चाहिये।

व्याख्या—विद्येप तथा उपिवद्योगें को दूर करने के लिये किसी एक श्रिभिमत (इष्ट) तस्व में चित्त को बार-बार लगाना चाहिये श्रार्थात किसी श्रिभमत एक तस्व द्वारा चित्त की क्षिति के लिये यत्र करना चाहिये। इस प्रकार एक प्रना के उदय होने पर सन्न विद्योगें का नाश हो जाता है। यह एक साधारण उगय है। सन्न उत्तम उपाय तो ईश्वर-प्रणिवान है जिसको सूत्र २९ में बतला दिया गया है।

योगवार्त्तिककार विज्ञानिभक्ष तथा भोजवृत्तिकार ने इस सूत्र में एकतत्त्वाभ्यास से किसी इप्र अभिमत एकतत्त्व के अभ्यास का अर्थ प्रहुग्ण किया है, श्रीर वाचस्पित भित्र ने एकतत्त्व का अर्थ प्रधान तत्त्व को ईश्वर मानकर ईश्वर-प्रियान का अर्थ प्रधान तत्त्व को ईश्वर मानकर ईश्वर-प्रियान का अर्थ प्रधान तत्त्व को हिंद्य प्रियान का फल वित्तेषों की निवृत्ति सृत्र २९ में बतला दिया है पुतः उसी बात का निर्देश करने के लिये एक नये सूत्र की रचना अनावस्यक है। इसलिये एक तत्त्व से किसी इप्र अभिमत तत्त्व का अर्थ लेना ही ठीक हो सकता है और सूत्र ३४ से ३५ तक जो चित्त की खिति के उपाय बतलाये हैं इनका इसी सूत्र से सम्बन्ध है।

टिप्पणी—इस सूत्र में भाष्यकारों ने चांग्यकवाद मत को हटाकर 'सोऽहम्' भैं वही हैं' इत्यादि शत्यभिज्ञा से चित्त की श्विरता सिद्ध की है, अर्थात् एक ही चित्त अनेक विषयों का महग्य करनेवाला है, नहीं तो 'जिसको मैंने देखा था उसी को स्पर्श करता हूँ' यह ज्ञान न हो, इत्यादि निरूपण किया है। सूत्र की ज्याख्या में इसका प्रसंग न देखकर तथा विस्तार के भय से वहाँ न देकर पाठकों की जानकारी के लिये उसको यहाँ लिख देते हैं: –

बुद्ध भगवान् के शिष्य चिएक विज्ञानवादी योगाचार के मतातुयायी जो वैनाशिक लोग हैं उनके मत में सब पदार्थ चिएक हैं। जो वस्तु एक चए में होकर दूसरे चए में नष्ट हो जावे उसे चिएक कहते हैं। उन वैनाशिकों के मत में विचा भी चिएक है, प्रत्यय-मात्र है अर्थात् निराधार विज्ञान-मात्र है, और प्रत्यर्थ नियत है अर्थात् चिएक होने से एक विषय को प्रदेश करके विचा नष्ट हो जाता है और अन्य विषय में गमन नहीं कर सकता। फिर दूसरा चित्ता दूसरे विषय को ग्रहण करके नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार एक-एक विषय का विश्वानरूप चिणाक चित्ता भिन्न-भिन्न होता है। इस प्रकार एक ही विषय को ग्रहण करनेवाले चित्त को प्रत्यर्थ-नियत कहते हैं। ऐसा चित्रक प्रत्यय-मात्र प्रत्यर्थ-नियत जो चित्ता है वही आत्मा है। उनके मत में उस चिणाक-चित्ता से भिन्न और कोई आत्मा नहीं है और सब पदार्थ एक च्ला में उत्पन्न होकर दूसरे च्ला में नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार सब पदार्थों का नाश मानने से उनको बैनाशिक कहते हैं।

बाह्य सर्व पदार्थों को स्वप्न के पदार्थों के सदश मिध्या मानकर चिएक विज्ञान-मान्न को ही ये 'तस्त्व' 'द्यमिध्या' कहते हैं। इससे इनको चिएक-विज्ञानवादी कहते हैं। इनके मत में प्रत्यय-मान्न चिएक-चित्त प्रत्यर्थ-नियत है। इससे चित्ता में अनेक पदार्थ विषयक गमन-रूप चश्चलता होती ही नहीं। इस प्रकार चित्त को चिएक मानने से चित्त का एकान्न होना भी सम्भव नहीं हो सकेगा। इस कारण एकान्नता के लिये उपदेश करना तथा एकान्नता के लिये प्रयक्ष करना भी व्यर्थ होगा।

इन वैनाशिकों से यह प्रश्न किया जावे कि तुम्हारे गुरु भगवान बुद्धदेव जी ने जो चच्चलता-निवृत्ति द्वारा चित्त की एकामता ने लिये योग के साधन का उपदेश दिया है वह कार्य ही है ?

यदि वैनाशिक लोग इसका उत्तर यह दें कि 'यद्यपि एक विषय को प्रहण करके दूसरे में गमन करना, दूसरे को त्यागकर तीसरे में गमन करना, उसको त्यागकर अन्य में गमन करना, इत्यदि इस प्रकार की चश्चलता और चित्त की एक ही विषय में निरन्तर श्वितिरूप एकाप्रता का होना हमारे मत में सम्भव नहीं है, क्योंकि चित्त स्विण्य है और उसका विषय भी सिण्क है तथापि हमारे मत में चित्त का प्रवाह सिणक नहीं है किन्तु अनादि है। इस अनादि 'प्रत्यय-प्रवाह' में अर्थान् चित्त के प्रवाह में विलत्तण्य-विलत्तण्य विषयाकारता-रूप चश्चलता का अभाव करके सदश-सदश विषया-कारता-रूप एकाप्रता का होना सम्भव है। अर्थान् प्रथम स्वण में चित्त जैसा विषयाकार होकर नष्ट हुआ, फिर दूसरे सुण में दूसरा चित्त वैसा ही अन्य विषयाकार उत्पन्न होकर समाप्त होना, पुनः तीसरे चित्त का भी वैसा ही अन्य विषयाकार उत्पन्न होकर समाप्त होना, पुनः तीसरे चित्त का भी वैसा ही अन्य विषयाकार उत्पन्न होकर नष्ट हो जाना; इस प्रकार चित्त-प्रवाह में सदश-सदश विषयाकार-रूप एकाप्रता हो सकती है ?

ऐसा उत्तर देने पर उनसे फिर पूछा जावे कि यह एकामता-प्रवाह चित्त का धर्म है

द्यथवा प्रवाह के अंश चित्त का धर्म है।

यदि वे कहें कि एकाप्रता-प्रवाह वित्त का धर्म है तो यह सम्भव न हो सकेगा; क्योंकि हिएक-त्विष्क वित्तों से भिन्न प्रवाह तो कोई पदार्थ ही नहीं है अर्थात् सहन्न प्रत्यय-प्रवाह का आश्रय कोई एकवित्त तुम्हारे मत में है ही नहीं कि जिसका धर्म एकाप्रता माना जावे। इससे प्रथम पत्त ठीक नहीं है। और यदि वे कहें कि प्रवाह के आंश वित्त का धर्म है तो यह दूसरा पत्त भी अयुक्त है, क्योंकि चाहे प्रवाह का आंश वित्त सहस्न प्रत्यय-प्रवाह में होवे अथवा विलक्षण प्रत्यय-प्रवाह में होवे तुम्हारे मत में इशिक होने

से प्रत्यर्थ-नियत है अर्थात् एक ही पदार्थ को विषय करनेवाला होता है। इससे चिक्त-चिक्त में स्रानेकाकारता-रूप चञ्चलता और एकाप्रता सम्भव नहीं है। इससे चिक्त मे चञ्चलता के और एकाप्रता के स्थासम्भव होने से चञ्चलता के निवृत्तिपूर्वक एकाप्रता के लिये तुम्हारे गुरु भगवान् बुद्धदेव जी का उपदेश किर भी व्यये ही सिद्ध होता है। इसलिये प्रत्यय-प्रवाह का स्थाप्रय एक खायी चिक्त मानना ही योग्य है जिस खायी चिक्त का धर्म एकाप्रता सम्भव हो सके।

श्रीर यदि प्रत्यय-प्रवाह का आश्रय एक चित्त न मानकर भिन्न-भिन्न स्पिक-प्रत्यय हप ही चित्त उपन्न होने मानें तो पहिले अन्य चित्त के किये हुए कर्म का पिछले अन्य चित्त को फल किस प्रकार हो सकेगा ? जैसे भन्न पीनेवाला चित्त तो पहिले ही नष्ट हो गया और जिसने भन्न नहीं पी उस दूसरे चित्त को नहा। कैसे होगा ? और यदि यह कहें कि जैसे पुत्र के किये श्राद्ध का माता-पिता को फल होता है और जैसे पुत्र में तेजस्विता, वीरता आदि गुणों के लिये पुत्र के जन्मादि में पिता के किये वैश्वानर यह का फल पुत्र को होता है वैसे ही पहिले अन्य चित्त के किये हुए कर्म का, पश्चान अन्य चित्त को फल प्राप्त होगा; तो यह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि पुत्र-पिता आदिकों का परस्पर जैसा जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध है वैसा पूर्व-उत्तर चित्तों का जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध होता तो ऐसा कह सकते थे। परन्तु तुम्हारे मत में तो पूर्व-उत्तर चित्तों का जन्य-जनक-भाव सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि पूर्व चित्त के नष्ट होने पर उत्तरवाला चित्त उत्पन्न होता है। और स्थिक चित्त से अपनी उत्पत्ति-विनाश के अतिरिक्त और कोई व्यापार हो भी नहीं सकता।

क्ष जैसे पिता के निमित्त पुत्र श्राद्ध करता है तो पुत्र के किये श्राद्ध का फल पिता को प्राप्त होता है वैसे 'मैं भङ्ग पीता हूँ, मेरे नाश होने के पश्चात् इसका नगा उत्तरवाले चित्त को हांवें इस प्रकार पूर्व चित्त उत्तर-चित्त के निमित्त कर्म नहीं करता है तो उत्तरवाले चित्त को फल कैसे प्राप्त होगा ? इसलिये यह आपकी युच्चियों 'गोमयपायसीय न्याय' से भी अधिक अयुक्त हैं; क्योंकि गोबर और पायस की तुल्यता में तो गौ से उत्पन्न होना हेतु है परन्तु अन्य चित्त के किये कर्म का अन्य चित्त भीगता है, इसमें तो कोई हेतु नहीं है।

'गोमयपायसीय-च्याय' यह है कि जैसे कोई कहे 'गोमय' (गोबर) श्रौर 'पायस' (रवड़ी), यह दोनों तुल्य ही हैं, क्योंकि यह दोनों गौ से पैदा होते हैं।

यदि चिएक-प्रत्ययों के प्रवाह का शाश्रय एकचित्ता न माने किन्तु चिएक-प्रत्यय-मात्र ही चित्त मानें तो पहिले एकचित्त से देखे पदार्थ का अन्य दूसरा चित्त स्मर्ता कैसे होगा १ क्योंकि जो जिस पदार्थ का द्रष्टा होता है, कालान्तर में वहीं उस पदार्थ का स्मर्ता होता है। तुम्हारे मत में द्रष्टा चित्त तो पिहले ही नष्ट होगया, पश्चात्त अन्य चित्त कैसे स्मरण करेगा १ अर्थात् आपके मत में कोई स्पृति नहीं होनी चाहिये। और यदि प्रत्यय-प्रवाह का आश्रय एक स्थायी चित्त न मानकर चांश्वक-प्रत्यय-मात्र चित्त को ही आत्मा मानोगे तो स्वात्मा के अनुभव का भी स्वरुद्धन प्राप्त होगा। यह स्वात्मा के अनुभव अर्थात् प्रतीति का स्वरुद्धन अत्यन्त अयुक्त

[#] E'e- यह अश्युपगत्रवाद से सान किया है। वास्तव में पुत्र के किए आह. का एक इस को ही सिम्हता है, पिता को नहीं।

है, क्योंकि 'जो मैं दूर से गङ्गा को देखता था वह मैं अब गङ्गाजल को स्पर्श करता हूँ'; 'जो मैं स्पर्श करता था वह मैं अब स्तान करके गङ्गा को नमस्कार करता हूँ'; 'जो मैं बाल-अवस्था में नाना प्रकार की क्रीड़ा करता था, यौवनावस्था में मद से मत्त हुआ काल व्यतीत करके अब जरारूप राज्ञस से गृहीत हुआ काँप रहा हूं' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा ज्ञानों में अनेक क्रियाओं का एक ही कर्ता और उन सब प्रत्ययों का एक ही आश्रय अहम् पद का अर्थ जीवात्मा प्रतीत होता है। वह सब प्रत्यय का आश्रय अहम् पद के अथ खात्मा की प्रतीति ज्ञिक-प्रत्यय-रूप आत्मा वाल्य, यौवनादि अवश्याओं में अनेक क्रियाओं का एक त्रीकि ज्ञित्व और उन सर्व प्रत्ययों का एक आश्रय अहम् पद के अथे को क्याओं का कर्ता नहीं हो सकता और उन सर्व प्रत्ययों का एक आश्रय अहम् पद के अर्थ को विषय करनेवाले 'अहम्-अहम्' इस प्रत्यय-ज्ञान के सामर्थ्य का कोई प्रमाणान्तर तिरास्त्र नहीं कर सकता, क्योंकि प्रत्यत-प्रमाण के ही बल से अन्य प्रमाण प्रवृत्त होते हैं। इस प्रत्यत-प्रमाण का अन्य कोई प्रमाण विरस्कार नहीं कर सकता।

इस प्रकार चिएाक-प्रत्यय-मात्र प्रत्यर्थ-नियत चित्त नहीं, किन्तु श्रानेक पदार्थों को विषय करनेवाला सर्व प्रत्ययों का श्राश्रय एक स्थायी चित्त है। यह बात ध्यान में रखना धावश्यक है कि भगवान व्यासजी ने तो फेवल चित्त का प्रत्यय मात्र श्रोर चिएाक होना श्रापुक्त बतलाकर उसकी थ्यिरता सिद्ध की है। किन्तु बौद्ध धर्म के पश्चात् के भाष्यकारों ने इसको भगवान बुद्ध के बैनाशिक शिष्यों के चिएाकवाद के साथ मिलाकर विस्तार दे दिया है।

विशेष वक्तव्य मूत्र ३२:--बुद्ध भगवान उच्चतमकोटि के श्रनुभवी योगी हये हैं। उन्होंने जो असम्प्रज्ञात समाधि का स्वरूप दिखलाया है वह सांख्य योग के ही सहज है, किन्त जल्दों के यथार्थ श्रभित्राय को समम्भने में बहुत घोका खाया गया है। सारे स्ट्रिके व्यावहार में सत . रजस श्रीर तमस ये तीन गुण ही पाह्य प्रहण रूप से वर्त रहे हैं। व्यष्टि रूप में सत्त्व चित्त ही इनके कार्य्य चेत्र हैं। श्रसम्प्रज्ञात समाधि में चित्त के निरुद्ध होजाने पर गुर्शों का सारा व्यवहार उसके प्रति शून्य हो जाता है, किन्तु उस शून्य श्रवस्था में श्रात्म-तत्त्व शेष रहकर श्रपने स्वरूप में श्रविधत होता है। इसलिये इस शून्यवाद में भी श्रात्म सत्ता का अस्तित्व वास्तविक रूप में सिद्ध होता है। शब्दों के वाह्य अर्थों में ही खेंचातानी की गई है। प्राह्म प्रहरा श्रीर गृहीत सारे विषयों में चित्त ही वृत्ति रूप से परिएत होकर उनका बोध करा रहा है ऋर्थात इत्येक व्यक्ति का सारा संसार विज्ञानरूप चित्त ही में चल रहा है। ऋात्मा केवल उसका दृश है। इस श्रंश में भगवान बुद्ध का बतलाया हुआ विज्ञानवाद सार्थिक हो है किन्त इसको दार्शनिक रूप देने में उनके विज्ञानवादी शिष्य इस श्राशय से बहुत दूर चले गये हैं। इसी प्रकार गुण परिणाम शील हैं। "चल हि गुणवृत्ति" गुण परिणाम स्वभाव वाले हैं। चए-चए में परिएाम हो रहा है। गुर्णों से बनी दुई सारी वस्तुएँ तथा चित्त में भी प्रतिकृत परिणाम हो रहा है, इसलिये सारी वस्तयें तथा विज्ञान रूप चित्त भी कृतिक ही है। इसको श्री व्यासजी महाराज ने भी शपर सूत्र को व्याख्या में भली प्रकार दर्शाया है। भगवान बुद्ध के इस चिएक परिग्णाम को लेकर उनके चिएकवादी वैनाशिक शिष्यों ने महारमा बुद्ध के श्रामित्राय के विरुद्ध उसको श्रापने ढंगपर दार्शनिक रूप दे दिया है।

संगति—जब चित्त में अस्या आदि कळुष (मल) होते हैं तब वह श्यित को नहीं लाभ कर सकता। उनके दूर करने का अगले सूत्र में उपाय बतलात हैं:—

मैत्रीक्रकणा मुदितोपेक्वाणां मुखदुःखपुरुपापुरुपविषयाणां भावनातिथित्त-प्रसादनम् ॥ ३३ ॥

द्यार्था – मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेत्ताणाम् = मित्रता,दया, हर्ष और उदासीनता— इन धर्मो की । सुख-दुःख-पुरय-अपुरय-विषयाणाम् = सुखी, दुःखी पुरथात्मा ओर पापियों के विषय में (यथाक्रम) भावनातः = भावना के अनुष्ठान से । चित्तप्रसादनम् = चित्त की निर्मलता और प्रसन्नता होती है ।

अन्वयार्थ—सुखी, दुःखी, पुरवात्मा और पापियों के विषय में यथाक्रम मित्रता, दया, हुर्च और उपेता की भावना के अनुष्ठान से चित्त प्रसन्न और निर्मल होता है।

ब्याख्या – राग, ईंब्यो, परापकार-चिकीषो, श्रस्था, द्वेष श्रोर श्रमर्प-संज्ञक राजस तामस-रूप य छ:धमे चित्त को वित्तिप्त करके कर्ळाषत (मिलन) कर देते हैं। श्रतः ये छ: चित्त के मल कहे जाते हैं।

इन छ: प्रकार के मलों के होने से चित्त में छ: प्रकार का काछुन्य (मल) उत्पन्न होता है। जो क्रम से राग-काछुन्य, ईर्क्या-काछुन्य, परापकारचिकीर्षा-काछुन्य, श्रसूया-काछुन्य, द्वेष-काळुन्य श्रीर श्रामपे-काछुन्य कहलाते हैं।

राग-कालुष्य —स्नेह-पूर्वक अनुभव किये हुए सुख के अनन्तर जो 'यह सुख सुमको सर्वदा ही प्राप्त होवे' इत्याकारक (ऐसा आकार वाली) जो राजस-वृत्ति-विशेष है वह राग-कालुष्य है; क्योंकि यह राग सर्व सुख-साधन विषयों की प्राप्ति के न होने से चित्त को विश्विप्त करके कळाषत (मालन) कर दंता है।

ईच्या-कालुच्य -दूसरोंकी गुणादि वा सम्पत्ति आदि की अधिकता देखकर जो चित्त में होभ (एक प्रकार की जलन अर्थात् दाह) उत्पन्न होना है वह ईर्घ्या-कालुच्य कह-लाता है; क्योंकि यह भी चित्त को विज्ञिप्त करके कल्लावत कर देता है।

परापकाराचिकीर्षा-कालुष्य — किसी के श्रपकार (शुराई करने, दुःख पहुँचाने) करने की इच्छा चित्र को विद्वल करके कलुषित कर देती है ।

अस्या-कालुष्य —दूसरों कं गुणों में दोष आरोप करना अस्या पद का अर्थ है। जैसे किसी अतशील का दम्भी जानना और आचार वाले को पाखण्डी जानना अर्थात् सदाचारी पर मुठे कलङ्क लगाना अस्या-कालुष्य है।

े द्वेष-कालुष्य – समा का विरोधी कोप-कालुष्य (द्वेष-कालुष्य) भी चिश को विचिन्न करके कर्लापत कर देता है।

अमर्च काळुच्य —किसी से कठोर बचन सुनकर वा अन्य किसी प्रकार से अपमानित होकर जो उसको न सहन करके बदला लेने को चेछा है वह आमधे-काळुच्य कहलाना है। इन वपरोक्त काळच्य (मलों) से चिचा मलिन हांकर विचिन्न हो जाता है और श्लिकि के साधन में प्रवृत्त होने पर भी एकाम नहीं हो सकता। श्रतः इन मलों को निवृत्त करके चित्त को प्रसन्न श्रौर एकाम करने का सुत्र में निम्न प्रकार उपाय बतलाया गया है:—

- (१) सुखी मनुष्यों को देखकर उन पर मित्रता की भावना करने से राग तथा ईर्ष्या-कालुष्य (मल) की निवृत्ति होती है अर्थात् ऐसा समक्षने से कि 'यह सब सुख मेरे मित्र को हैं ता सुक्ते भी हैं', तब जैस अपने राज्य के न होने पर भी अपने पुत्र के राज्यलाभ को अपना जानकर उस राज्य में ईर्ध्या तथा राग की निवृत्त हो जातो है नैसे हो मित्र के सुख को भी अपना सुख मानकर उसमें रागनिवृत्ति हो जावेगो। एवं जब उसके सुख को अपना ही सुख समक्षेगा तो उसके ऐश्वये को देखकर वित्त में जलन न होने से ईर्ध्या भी निवृत्त हो जावेगी।
- (२) दुःखी-जनों पर करुणा श्रथीत् दया की भावना करने से घृणा श्रथीत् पराप-कारचिकीर्पा-रूप (दूसरे का श्रपकार श्रथीत् बुराई करने को इच्छा) मल का श्रभाव हाता है।

श्चर्थान् जब किसी दुःखी पुरुष को देखें तो इस वाक्य के श्रनुसार —

पाणा यथात्मनोऽभोष्टा भूतानामपि ते तथा । भारमोपम्येन सर्वेत्र दयां क्वर्वेन्ति साधवः ॥

अर्थ —जैसे हमें अपने प्राण परम-प्रिय हैं वैसे ही श्रन्य प्राणियों को भी अपने प्राण प्रिय हैं; इस विचार से साधुजन अपने प्राणों के समान सबके ऊपर दया करते हैं।

श्रपने मन में यह विचार करें कि 'इस दुखिया को बड़ा कप्र होता होगा; क्योंकि जब हमारे ऊपर कोई संकट श्राजाता है ता हमको कितना दुःख भोगना पहता है' उसके दुःख दूर करने की चेटा करें। ऐसा न समफें कि हमें उसके दुःख दे कोई प्रयोजन नहीं है। जब इस अकार करुणामयी भावना चित्त में उत्पन्न हो जावेगा तब श्रपने समान सबके सुख की चाहना से पृणा श्रीर परापकारचिकीर्या (तुराई करने की इच्छा) की निवृत्ति हो जावेगी।

- (३) पुरवात्मा अर्थात् धर्म-मागे में जो पुरुष प्रवृत्ति हैं उन पुरव्यक्षांल पुरुषों के प्रति हुए की भावना करने से अस्या मल की निवृत्ति होती है। अर्थात् जब पुरव्यज्ञनों को देखे तो चित्ता में ,अहाभाग्य इसके माता-पिता कें; जिन्होंने ऐसा पुरुवात्मा पुत्र उत्पन्न किया, और धन्य है इसको जो तन-मन-धन से धर्म-मागे में प्रवृत्त हो रहा है' इस प्रकार आनन्द को प्राप्त होवे। जब इस प्रकार मुदिता-भावना चित्ता में उत्पन्न होगी तब अस्या-रूप चित्त का मल निवृत्त हो जोवेगा।
- (४) पाप-मागं में प्रवृत्ता जो पापशील मनुष्य हैं उनमें उपेद्मा (उदासीनता) की भावना करने से देव तथा श्रमपंक (वहला लेने की चेष्टा) वा चृत्पारूप मल की निवृत्ति होती है । श्रथोन् जब पापी पुरुष कठोर बचन बोले श्रथवा किसी श्रन्य प्रकार से श्रपमान करे तो चित्ता में ऐसा विचार कि 'यह पुरुष खयं श्रपनी हानि कर रहा है, इसके ऐसे व्यवहार से मेरा कोई प्रयोजन नहीं, मैं इसके प्रति देव वा चृत्या करके श्रपने को क्यों दूषित करूँ, इसको तो खयं श्रपने पापों का दु:स भोगना है इत्यादि'; इस प्रकार उन पर उपेदा की भावना करे । इस उपेदा की भावना से देव तथा श्रमके रूप वित्त-मल की निवृत्ति हो जाति है।

इस प्रकार जब इन चारों भावनाओं के अनुष्ठान से चित्त के मल धुल जाते हैं तब निर्मल चित्त प्रसम्भवा को प्राप्त होता है और प्रसन्न होता हुआ चित्त एकाप्रता का लाभ करता है। अ

भोज महाराज ने इस सूत्र की व्याख्या निम्न प्रकार की हैं:--

मैत्री = मित्रता (प्रेम): करुणा = दया (पराये दुखों को निवृत्त करने की इच्छा): मुदिता = इर्ष, उपेचा = उदासीनता; इन चारों को कम से सुखियों में, दु:खियों में, पुरय वालों में और पािपयों में व्यवहार करना चाहिए । जैसे सुखी जनों में 'ये सुखी हैं' ऐसा सममक्कर उनके साथ रेम करे, न कि ईर्ष्या, अर्थान् उनकी बढ़ाई का सहन न करना दु:खियों को देखकर 'इनके दु:ख की कैसे निष्टत्ति हो', इस प्रकार दया ही करे न कि पृणा और (तरस्कार । पुर्यात्माओं में उनके पुर्य की बड़ाई करके अपनी प्रसन्नता ही प्रकट करे, न कि 'यह पुर्यात्मा कों है ?' ऐसा विरोध करना। पािपयों में उदासीनता को धारण करे अर्थान् न उनके पाप में सम्मति प्रकट करे न उनसे द्वेष करे।

सूत्र में सुखादि शच्दों से सुख-दुःख वाले का प्रतिपादन किया है। जब इस प्रकार मैत्री श्रादि करने से चित्त प्रसन्न होता है तब सुख से समाधि प्रकट होती है। यह परिकर्म उत्पर का कर्म है, जैसे मिश्रकादि व्यवहार, गिएत सिद्धि के लिये; और सङ्कलित श्रादि (जोड़ श्रादि) कर्म उपकारण रूप से प्रधान क्रिया की सिद्धि के लिये होता है। ऐसे ही राग, देव श्रादि के विरोधी मैत्री श्रादि करने से प्रसन्नता को प्राप्त हुआ चित्त, संप्रज्ञात समाधि के योग्य हो जाता है। प्रधानता से राग (विषयों में इच्छा), देव (बैर, श्रानिष्टों में रोष) ये दो ही चित्त के विज्ञेपक हैं। यदि ये दोनों ही जड़ से उखाड़ दिये जावें तो चित्त की प्रसन्नता होनी से एकामता होती है।

संगति—मैत्री आदि भावनाओं से निर्मल और प्रसन्न हुआ चित्त जिन उपायों द्वारा थिति को प्राप्त होता है उनका वर्णन अगले सूत्र में करते हैं यहाँ यह बात स्मरण रहे कि अगले सब उपाय केवल समाहित चित्त बाले उत्तम अधिकारियों के लिए हैं। बिह्मिप्त चित्त वाले मध्यम अधिकारियों को तो साधन पाद में बताए अर्थंग योय का ही आश्रय लेना होगा।

र हागा ।

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा पाणस्य ॥३४॥

राज्यार्थ — प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां = नासिका द्वारा बाहर फेँकने और रोकने दोनों से । वा = अथवा । प्राणस्थ = कोष्ठस्थित (कोठा = उदर में रहने वाली) वायु के। (मन की स्थिति को सम्पादन करें)।

सुविता से भी शोक की निवृत्ति ही सममला चाहिये, हर्ष नहीं। क्योंकि हर्ष भी पक श्कार से राग का हेतु होने से स्याज्य ही है।—(मनु भाष्यकार मेवातिय मई)

क्ष टिप्पणी सूत्र ३३ – मैत्री से द्वेषभाव का ही ग्रहण करना चाहिये, स्नेह का नहीं। क्योंकि स्नेह भी एक प्रकार का राग होने के कारण बन्धन ही है।

अन्वयार्थ — अथवा कोष्टिस्थित (कोठा = दर में रहने वाली) वागु को नासिकापुट द्वारा (प्रयत्न-विशेष से) वाहर फेंकने और वाहर रोकने दोनों से मन की स्थिति को सम्पादन करे।

व्याख्या—कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयक्तविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनं, विभारणं पाणायामस्ताभ्यां वा मनसः स्थिति सम्पादयेत् ॥ (स्यासभाष्य)

अर्थ—कोष्ठस्थित (कोठा = उदर में रहने वाली) वायु को विशेष प्रयक्ष से बाहर वमन करने (एकदम नासिका के दोनों छिद्रों द्वारा बाहर फैंकने) को प्रच्छदेन कहते हैं। उस वाहर वमन की हुई वायु को वहीं रोक देने को विधारण कहते हैं। प्रच्छदेन और विधारण वोनों प्राणायामों से मन की स्थिति को सम्पादन करे।

प्राणायाम के तीन भेदः रेचक, श्वास को नासिका-छिट्टों द्वारा वाहर निकालना; पूरक, नासिका-छिट्टों द्वारा श्वास को खन्दर लेजाना; खौर कुम्भक, श्वास को बाहर खथवा अन्दर रोक देना (२।५०) में विस्तार-पूर्वक बतलाये जाएँगे। इस सूत्र में केवल हो भेद रेचक खौर कुम्भक बतलाए हैं। रेचक के लिये यहाँ प्रच्छदन शब्द प्रयोग हुआ है और उसकी विधि कोष्टिश्वत वायु को प्रयक्ष-विशेष से एकदम नासिका-पुट द्वारा बाहर फैंकना बतलाई है। यहाँ केवल बाह्य-कुम्भक बतलाया गया है और उसके लिये विधारण शब्द प्रयोग हुआ है। यह प्रणायाम कपाल-भाति से मिलता-जुलता है जिसकी सारी विधिये २१४० वि० व० में प्रकृत के अन्तर्गत बतलाई जावेंगी। यहाँ भी प्रसंग से उसकी हो प्रक्रियाएँ लिखी जाती हैं।

प्रक्रिया न० १ केवल प्रच्छ्वन — किसी सुखासन से बैठकर मूलबन्ध और किंचित चित्रुयान बन्ध लगाकर कोष्ठस्थित वायु को नाभि से चठाकर दोनों नासिका-पुट द्वारा बमन की भांति एकदम बाहर फेंक देना चाहिये। बाहर बिना रोके हुए इसी प्रकार लोहार की धौंकनी के सदश इस प्राण्वायु को बाहर फेंकते रहना चाहिये। इसमें केवल रेचक किया जाता है। पूरक स्वयं होता रहना है। यह किया विना कुम्भक के की जाती है। आरम्भ में इस प्राण्वायम को इक्कीस बार अथवा यथा सामर्थ्य करना चाहिए। इनै: इनै: अभ्यास बढावें।

प्रक्रिया नं २ प्रच्युर्वन विधारण—ऊपर बतलाई हुई प्रक्रिया पाँचवें प्राणायाम अथवा इससे खिक जितनी सामर्थ हो उस के पश्चात् पूरे उड्डीयान के साथ श्वास को बाहर निकालकर बाहर ही रोक दें और किसी विशेष मन्त्र की मात्रा से अथवा जितनी हैर सुगमता से रोक सकें बाहर ही रोक दें। यह एक प्राणायाम हुआ। प्रकार तीन

प्रणायाम करें।

भाष्यकार ने केवल बाह्य कुम्भक बतलाया है, इसलिये भाष्य के अनुसार युक्त विधि से प्रच्छिदेन अर्थान रेचक करते करते जब धक जावें तब विधारण अर्थान खड़ीयान के साथ बाह्य कुम्भक यथाशक्ति करें। इस प्रकार कई बार करें अथवा प्रत्येक रेचक के पृज्ञान यथाशक्ति बाह्य कुम्भक करें। प्राणायाम चित्त की एकाप्र-स्थिति उत्पन्न करता है।

द्वे बीजे विचद्वत्तस्य माणस्यन्दन-वासने, एकस्मिश्च तयोः चीणे व्हिनं द्वे स्रवि नश्यतः। (बिक्षर-वास्य)

अर्थ —िचत्तरूपी वृक्ष के दो बीज हैं: प्राण्स्यन्दन अर्थात् प्राणों की निरन्तर क्रिया; श्रीर दूसरी वासना। इन दोनों में से एक के चीण (स्क्ष्म) होने से दूसरा भी शीघ्र ही चीण (स्क्ष्म) हो जाता है।

सब इन्द्रियों का काम प्राण् के व्यापार से चलता है और मन तथा प्राण् का अपने-अपने व्यापार में परस्पर एकसा ही योग-चेम (अप्राप्त की प्रक्षि—योग और प्राप्त की रज्ञा—चेम) है। अर्थोत् दोनों का कार्य करने में अधिक सम्बन्ध है। इसलिये प्राण् वायु-अधीन होकर सब इन्द्रियों की वृत्तियों को रोककर मनु की एकाप्रता करने में समये होता है। प्राण्यायाम सब दोषों का नाशक है।

दब्बन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां दब्बन्ते दोषाः माणस्य निग्रहात् ॥ (मछ)

अर्थ—जैसे अग्नि-स्योग से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही इन्द्रियों के दोष भी प्राय्य के रोकने से नष्ट हो जाते हैं।

दोषों से ही चित्त की युत्तियाँ विज्ञिप्त होती हैं । प्राशायाम दोषों को दूर करके चित्त की एकाप्रता करने में समये होता है।

विदोव वक्तव्य सूत्र ३४ समा० पा० —'प्राण्' : विरा के सहश प्राण् का झान भी योग मार्ग के पथिक के लिय आवश्यक हैं। प्राण् खास नहीं है जैता कि कुछ व्यक्ति समक्ते हैं और न खात्मतस्व जैसा कि कई पाश्चात्य-विद्वान् मानंत हैं, किन्तु प्राण् वह जड़तस्व है जिससे श्वास-प्रश्वास खाँदि समस्त कियाएँ एक जीवित शरीर में होती हैं।

सृष्टि के व्यारम्भ में पाँचों स्थूलभूत, लोक-लोकान्तर और सारे जङ्गम तथा स्थावर पदार्थ अपने उपादान कारण आकाश से प्राण्शक्ति द्वारा उत्पन्न होते हैं; इस्सी प्राण्शक्ति से सहारा पाकर जीवित रहते हैं और प्रलय के समय इसी का व्यात्रय न पाकर कार्यरूप से नष्ट होकर व्यपने कारणुरूप व्याकाश में मिल जाते हैं।

सर्वाणि इ वा इपानि भूतान्याकाशादेव समुत्पचन्ते, माकाशं प्रत्यस्तं यन्ति । (७१० १ । ६ । १)

अर्थ —ये सारे मूत चाकाश से ही ज्यम होते हैं व आकाश में ही लीन हो जाते हैं। सर्वाणि ह वा इवानि भूतानि पाणमेवाभिसंविशन्ति, पाणमभ्युजिहते। (अ० १ । ११ । ५)

अर्थ-ये सब भूत प्राण में लीन होते हैं और प्राण से प्रादुर्भूत होते हैं।

भौतिक पदार्थों में सबसे ऋधिक व्यापकता का सूचक आकाश और सबसे ऋधिक शक्ति का प्रकाशक (ब्रापक) प्राया माना गया है, इसीलिये परमास्मा की व्यापकता को आकाश से और ज्ञानमय सर्वशक्तिमत्ता को प्राया से निर्विष्ट किया गया है।

भार्ण देवा अनुभारणन्ति । मनुष्याः पश्चश्च ये । प्रार्खो हि भूतानामायुः । तस्मात्सवीयुष्याच्यते । (तै० उ० वस व० अद्य० ३ ॥)

अर्थ—देवता प्राण् के सहारे साँस लेते हैं और जो मनुष्य तथा पश्च हैं वे भी (प्राण् के सहारे साँस लेते हैं) प्राण् सब जन्तुओं का आयु है, इसलिये सर्वायुष (सब का आयु) कहलाता है।

माणो ब्रह्मोति व्याजानात् । माणाद्धपेव खिन्दमानि भूतानि जायन्ते । माणेन जातानि जीवन्ति माणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ॥ (तै॰ ४० ऋगवछी अतु॰ १॥)

अर्थ— उसने प्राण को बद्धाजाना। प्राण से ही सब भूत उत्पन्न होकर प्राण से ही अति हैं और मरते हुए प्राण में प्रवेश करते हैं।

सृष्टि-उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्नोपनिषद् में बड़े सौन्दर्य के साथ प्राण का वर्णन किया गया है :—

स मैथुनमुत्पादयते—रियं च प्रार्णं च। (प्र॰ १।४॥)

अर्थ-प्रजापति (हिरएयगर्भ) ने एक जोड़ा उत्पन्न किया-रिय श्रीर प्रागा ।

श्राकाश से उत्पन्न हुए वायु, श्रिन, जल, पृथिवी और इनके परमाणु से लेकर बड़े-बड़े तारागण श्रीर स्वेमगडल सब रिय है, श्रीर वह शक्ति जिससे इनमें कम्पन हो रहा है, जिससे यह स्थिर रहकर श्रपना काये कर रहे हैं वह पाण है। श्रथवा यों समफों कि सारा ब्रह्माएड एक बड़ा वाष्प-यन्त्र है, शाण वाष्प है जिससे इस मैशीन के सारे पुर्जे चल रहे हैं, श्रीर हिरएयगर्भ इश्वीनियर के सहश है जो नियम और व्यवस्था के साथ झान-पूबेक शाणरूपी वाष्प से ब्रह्माएड-रूपी मैशीन को चला रहा है।

प्राय जीवन-शक्ति है, और रिय मूर्च तथा श्रम्त् सारे पदार्थ हैं जो प्राय शक्ति से अपने व्यक्तिस्व को रखतं हुए कार्य कर रहे हैं। प्राय धन-विद्युत् है और रिय ऋस्य-विद्युत् है।

समष्टि प्राया को उपनिषदों में मातरिश्वा चौर सूत्रात्मा कहा गया है।

यह प्राण् समष्टि रूप से सारे ब्रह्मायट को चला रहा है, इसी प्रकार व्यष्टि रूप से न केवल मनुष्य के पिएड-झरीर को ही किन्तु सारे जड़ पदार्थ: वृत्त, लता आदि तथा चेतन: कीट, पतक्क, जलचर, पशु-पत्ती आदि सारे शरीर इससे जीवन पा रहे हैं, इस-लिये ये सव 'प्राणी' एवं 'प्राण्धारी' कहलाते हैं।

सब इन्द्रियों का कार्य प्रायाशक्त से ही चल रहा है, इसलिये विपनिवदों में कहीं कहीं प्राया का शब्द इन्द्रियों के लिये भी प्रयुक्त हुआ है। मनुष्य-शरीर में घृत्ति के कार्य-भेद से इस प्राण् को मुख्यतया दस भिन्न-भिन्न नामों में विभक्त किया गया है:---

> भाषोऽपोनः समानश्चोदानव्यानौ च बाववः। नागः क्रमींऽष क्रकरो देवदचो धनंजयः॥—गोरक्षसंहित

अर्थ-प्राण, श्रपान, समान, उदान, ज्यान, नाग, कूर्म, कुकर, देवदत्त श्रीर धनलाय; य दस प्रकार के वायु श्रथीत प्राण-वायु हैं।

निःश्वासोच्छ्वासकासाध माणकर्मेत की क्लिताः । अपानवायोः कर्मेतद्भ विषम् श्रादि विसर्जनम् ॥ हानोपादानचेष्टादि व्यानकर्मेति चेष्यते । बदानकर्मे तत् प्रोक्तं देशस्योत्रयनादि यत् ॥ पोषणादि समानस्य शरीरे कर्मे की त्तिस् । बद्दगारादि ग्रुणे यस्तु नागकर्मेति चोष्यते । निमीलनादि कूर्मस्य च ॥ देवदत्तस्य विभन्द्रः । तन्द्री कर्मेति की त्तितम् । धर्मंजयस्य शोफादि सर्वकर्म मकी तितम् ॥

(योगी याज्ञवल्का ४ अध्याय ६६ से ६९ तक)

श्वास का अन्दर ले जाना खौर बाहर निकालना, मुख खौर नासिका द्वारा गित करना, भुक्त अन्न-जल को पचाना खौर खलग करना, अन्न को पुरीश; पानी को पसीना खौर मृत्र; तथा रसादि को वीर्य बनाना प्राय-वायु का काम है। हृदय से लेकर नासिका-पर्यन्त शरीर के अपूरी भाग में वर्तमान है। अपर की इन्द्रियों का काम उसके आश्रित है।

त्रपान-वायु का काम गुदा से मल, उपस्थ से मूत्र, और अरहकोप से वीर्थ निकालना तथा गर्भ त्रादि को नीचे ले जाना, कमर, घुटने और जाँघ का काम करना है। नीचे की त्रोर गति करता हुआ, नाभि से लेकर पादतल तक अवस्थित है, निचली इन्द्रियों का काम इसके आधीन है।

समानः देह के मध्यभाग में नाभि से हृदय तक वर्तमान है। पचे हुए रस आदि सब अर्झो और नादियों में वरावर वॉटना इसका काम है।

व्यानः इसका मुख्य स्थान उपस्थ-मूल से ऊपर है, सारी स्थूल और सूक्ष्म भाड़ियों में गति करता हुआ हारीर के सब अक्टों में दिधर का सम्बार करता है।

उदान : कराठ में रहता हुचा हिर-पर्यन्त गति करने वाला है, शरीर को उठाये रक्तमा इसका काम है। उसके द्वारा शरीर के व्यष्टि प्राण् का समष्टि प्राण् से सम्बन्ध है। उदाम द्वारा ही मृत्यु के समय सुक्त-शरीर का स्यूल-शरीर से बाहर निकलना तथा सुक्त-सरीर के कर्म, गु.ण, वासनाच्यों और संस्कारों के व्यनुसार गर्भ में प्रवेश होता है। योगी-जन इसी के द्वारा स्थुल-शरीर से निकलकर लोक-लोकान्तर में घूम सकते हैं।

नागवायु उद्गारादि (र्झांकना श्रादि); कूर्मवायु संकोचनीय; क्रकरवायु क्षुपा, तृष्णादि; देवदत्त-वायु निद्रा, तन्द्रा श्रादि; और धनश्वय-वायु पोषणादि का कार्य करता है।

इनमें से अगले पाँच मुख्य हैं, पिछले पाँच उन्हीं के अन्तर्गत हैं।

हृदि माणो वसेन्नित्यभपानो ग्रह्मभण्डले । समानो नोभिदेशे तु उदानः कण्डमध्यमः ॥ च्यानो च्यापी शरीरे तु मधानाः पंचवायवः ॥

—गोरध-संसिता ३०॥

अर्थ - ह्रदय में प्राण्-वायु, गुद्धदेश में श्रपान, नाभि-मण्डल में समान, कण्ठ में उदान, श्रीर सारे शरीर में व्यान व्याप्त है।

प्राणों को अपने अधिकार में चलाने वाले मनुष्य का अधिकार उसके शरीर, इन्द्रियों

तथा मन पर हो जाता है। प्राणों को वश में करने का नाम प्राणायाम है।

प्राणवायु का स्थान हृद्य है, यहाँ न्याप्त होकर नासिका द्वारा बाहर की श्रोर चलता है। श्रपान गुदा में न्याप्त होकर नीचे की श्रोर गति करता है। समान नाभि में न्याप्त होकर भुक्त श्रप्त श्रादि के रस को श्रङ्कों और नाड़ियों में पहुँचाता है।

पूरक में प्राणवायु को गुदा-ध्यान तक ले जाकर अपान-वायु से मिलाया जाता है, रेचक में अपान को प्राण द्वारा ऊपर की ओर खींचा जाता है, कुम्भक में प्राण और अपान दोनों की गति को समान के ध्यान नाभि में रोक दिया जाता है, इससे रज और तम का मल दग्ध होकर सत्त्व का प्रकाश बढ़ता है और मन शीध एकाम हो जाता है।

श्रपाने जुहूवति पाणं पाणेऽपानं तथाऽपरे ।

माणापानगती रुद्धवा माणायामप्रायणाः ॥ —गीता ४। २९

अर्थ—कई योगी अपान वायु में प्राण वायु को होमते हैं (पूरक करते हैं), वैसे ही कुछ योगीजन प्राण में अपान का हवन करते हैं (रेचक करते हैं), तथा कई योगी-जन प्राण और अपान की गति को रोक कर (कुम्भक करके) प्राणायाम के परायण होते हैं।

प्राणायाम से मतुष्य खस्थ एवं नीरोग रहकर दीघायु तथा मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर सकता है। मन का प्राण से घनिष्ट सम्बन्ध है, मन का रोकना ऋति कठिन है, पर प्राण के निरोध तथा वशीकार से मन का निरोध एवं वशीकार करना सुगम हो जाता है, इस तिये प्राणायाम योग का आवश्यक साधन है।

सूत्रम प्राण का वर्णन—मनुष्य-शरीर में प्राण-प्रवाहिनी नावियाँ असंख्य हैं, इनमें से पनद्रह मुक्य हैं। (१) सुपुम्या (२) इड़ा (३) पिगला (४) गांधारी (५) इस्तजिह्ना। ये दोनों क्रमशः वाम और दिश्वरण नेत्रों से वाम और दिश्वरण पैर के अंगूठे पर्यन्त चर्ला गई हैं। (६) पूषा (७) यशस्विनी क्रमशः दिश्वरण और वाम कर्ण में श्रवरण साधनाथे और (८) शरा गन्ध महरणार्थ नासिका देश में श्रूमध्य पर्यन्त जाती है (९) कुहू मुख में जाती है (१०) सरस्वती जिल्ला के अप्रभाग पर्यन्त जाकर इसके ज्ञान और वाक्यों को श्रकट करती है। (११) वाकरणी (१२) अलम्बुषा (१३) विश्वोदरी (१४) शिखनी (१५) चित्रा। इन पन्द्रह में से भी सुयुम्ना, इड़ा पिङ्गला ये तीन श्रधान हैं (जिनका योग से धनिष्ट सम्बन्ध है) इन तीनों में सुयुम्ना सर्वश्रेष्ट है। यह नाड़ी अति सुक्ष्म नली के सदश है जो गुदा के निकट से मेरदराड के भीतर होती हुई मिस्तष्क के उपर तक चली गई। इसी स्थान (गुदा-स्थान के निकट) से इसके वाम भाग से इड़ा और इश्विरण भाग से पिङ्गला नासिका-मूलपर्यन्त चली गई है।

वहाँ भू-मध्य में ये तीनों नाड़ियां परस्पर मिल जाती हैं। सुपुम्ना को सरस्वती, इड़ा को गङ्गा खौर पिङ्गला को यसुना भी कहते हैं। गुदा के समीप जहाँ से ये तीनों नाड़ियाँ पृथक होती हैं उसको 'मुक्त-त्रिवेग्गि' और भू-मध्य में जहाँ ये तीनों पुनः मिल गई हैं।

उसको 'युक्त-त्रिवेणी' कहते हैं।

साधारणतया प्राण्-शिक्त निरन्तर इड़ा और पिंगला नाड़ियों से श्वास श्र्यास रूप से प्रवाहित होती रहती है। इड़ा को चन्द्र-नाड़ी और पिंगला को सूर्य-नाड़ी कहते हैं। इड़ा तमप्रधान और पिंगला रजप्रधान है। श्वास कभी दांगें नधुने से अधिक वेग से चलता है, कभी बांगें से, और कभी दोनों से समान गित से प्रवाहित होता है। जब बांगें नधुने से श्यास अधिक वेग से चलता रहे तो उसे इड़ा या चन्द्र-स्वर कहते हैं और जब दांगें से अधिक वेग से बहे तो उसे पिंगला व सूर्यस्वर कहते हैं। और जब दोनों नधुनों से समान गित से अथवा एक च्छा एक नधुने से, दूसरे च्छा दूसरे नधुने से प्रवाहित होवें तो उसे सुषुम्ना-स्वर कहते हैं।

खस्य मनुष्य का स्वर प्रतिदिन प्रातःकाल सूर्योदय के समय से ढाई-ढाई घड़ी के हिसाब से क्रमशः एक-एक नथुने से चला करता है। इस प्रकार आहोरात्र (एक दिन-रात) से बारह बार (बारह बक्त) बांये और बारह बार ही दाँयें नथुने से क्रमानुसार श्वास चलता है। किस द्विन किस नथुने से श्वास चलता है इसका निश्चित नियम है:—

मादौ चन्द्रः सिते पक्षे भास्करस्तु सितेतरे । मतिपदः दिनान्याहुस्रीणि त्रीणि क्रमोदये ॥

—पवनविजय-स्वरोचयः अर्थ — ग्रुड्डपत्त की प्रतिपदा तिथि से तीन दिन की बारी से चन्द्र से (बॉये नथुने से) तथा कृष्णपत्त की प्रतिपदा से तीन-तीन दिन की बारी से सूर्य-नाड़ी (दांचे नथुने) से सूर्योदय के समय श्वास (ढाई घड़ी तक) प्रथम प्रवाहित होता है।

पाठकों के सुभीते के लिये इस सम्बन्ध में पृथक चित्र दिया गया है, विस्तार के

लिये उसमें देखें।

शारीरिक विकार एवं रोग की श्ववस्था में खर श्रानियमित रूप से चलने लगते हैं। प्रतिरयाय (जुकाम) की श्ववस्था में सम्भवतः पाठकों को स्वयं इसका श्रानुभव हुश्या होगा। उस श्रावस्था में श्वपने प्रयक्ष द्वारा खर को बदलने से रोग-निवृत्ति में बड़ी सहायता मिलती है। खर-साधन से स्वेच्छानुसार स्वर का बदलना श्रात सुगम हो जाता है, किन्तु विषय-विस्तार के भय से यहाँ उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

जब इड़ा (चन्द्र—वाम स्वर) चल रहा हो तब स्थायी काम करने चाहियें, जिन में अल्प श्रम श्रोर प्रबन्ध की स्वावश्यकता हो तथा दूध, जल आदि तरल पदार्थों के पीने, पैशाव करने, यात्रा और भजन, साधन आदि शान्ति के कार्य करने चाहियें।

पिंगला (सूर्य-दाय स्वर) चलने के समय इनसे ऋषिक कठिन कार्य करने चाहियें, जिनसे ऋषिक परिश्रम ऋषेत्वित हो तथाः कठिन यात्रा, मेहतन के कार्य (व्यायाम आदि), भोजन, शौच, स्नान और शयन श्रादि करने चाहियें।

. सुपुम्ना (जब दोनों स्वर सम श्रथवा एक एक त्तरा मैं बदलते हुए चल रहे हों) मं योग-साधन तथा सास्विक धर्मार्थ कार्य करने चाहियें।

दिवा न पूजयेल्लिंगं रात्राविष न पूजयेत् । सर्वदा पूजयेल्लिंगं दिवारात्र—निरोधतः ॥ (प्रवादिजय स्वरोदय)

अर्थ—दिन में अर्थात् जब रजोगु.गु-अधान सूर्य-स्वर चल रहा हो तब योगसाधन न करे, और रात्रि में भी अर्थात् जब तम-प्रधान चन्द्र-स्वर जल रहा हो तब भी योगाभ्यास न करे। दिन-रात दोनों अर्थात् सूर्य और चन्द्र दोनों खरों का निरोध करके सुयुन्ना के समय जो पिगला और इडा-रूपी दिन और रात दोनों का सन्धि समय है उसमें सदा

योगाभ्यास करे।

इस सूत्र की व्याख्या में बताये हुए कपाल-भाति प्राग्गायाम अथवा अन्य प्राग्गायाम करने से सुपुग्ना खर जलने लगता है। अतः अभ्यास के आरम्भ में (ध्यानादि से पूर्व) प्राग्गायाम कर लेना चाहिये।

स्वर-साधन-स्वर बदलने की कियाएँ

(१) जो स्वर चलाना हो उस नशुने पर इक्ष समय तक ध्यान करने से वह स्वर चलने लगता है। (२) जो स्वर चलाना हो उससे विपरंत करवट से लेटकर पसली के निकट तिकया दवाने से इक्ष काल में वह स्वर चलने लगता है। (३) जो स्वर चलाना हो उससे विपरीत स्वर में दई खथवा वस्न की गोली रूखने से वह चलने लगता है। (४) बन्द स्वर को झंगूठे या थंगुली से दवाकर चाल्द स्वर से श्वास लेकर पुनः उसे दवाकर बन्द स्वर से श्वास निकालें इस प्रकार कई बार करने से बन्द स्वर चलने लगता है। (५) दौड़ने, परिश्रम करने खौर प्राायाम आदि करने से स्वर बदल जाता है।

ज्वर और जुकाम भादि रांगों की श्रवस्था में स्वर-परिवर्तन से रांग की श्रीघ निवृत्ति होवी है। स्वर-साधन की सिद्धि से इच्छानुसार सुगमता से स्वर बदला जा सकता है। उसके अभ्यास की एक विधि यह है कि दिन के समय सुर्योदय से चन्द्र स्वर के निश्चित समय से चन्द्र स्वर चलाएँ। अपने बांगे नधुनों की ओर ओरेम् का जप करते हुये ज्यान रखने से बांगा (चन्द्र) स्वर चलता रहेगा भोजन और शौचादि के समय इससे विपरात स्वर (सूर्य-स्वर) ज्यान द्वारा चलाएँ। रात्रि के समय सूर्यास्त सूर्य-स्वर के निश्चित समय से सूर्य-स्वर चलावें। दांगे नधुने की ओर ओरेम् का जप करते हुए ध्यान रखने से सूर्य स्वर चलता रहेगा। जल और दूध आदि पीने तथा मूत्र-स्वर चलावें।

इसी प्रकार योगाभ्यास, भजन ध्यानादि के आरम्भ करने से पूर्व नासिका के अप्र-

भाग के मध्य में नोक पर ध्यान करने से सुष्मना-खर चलाया जा सकता है।

तस्व—स्वरों का तस्त्रों से घनिष्ठ सम्बन्ध है उनका चक्रों में भी वर्णन आवेगा। इसलिये उनका संविप्त वर्णन चित्र द्वारा कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। तस्त्र पॉच हैं: आकाश, वायु, आग्नि, जल, पृथ्वी। ये प्रत्येक स्वर के साथ चलते रहते हैं।

प्रथमं बहते वायुद्धिंतीयं च तथानतः।

तृतीयं बहते भूमिश्रतुर्थे वारुणो वहेत् ॥ (७१ शिव खरोदय)

अर्थ-प्रथम वायु तत्त्व बहुता है, द्वितीयबार श्राप्ततत्त्व, तृतीयबार भूमि तत्त्व, चतुर्थबार बाहुए। (जल) तत्त्व और (पांचवीबार खाकाश तत्त्व बहुता है)।

तत्त्व सम्बन्धी सामान्य बातें तथा किस समय कौन तत्त्व चल रहा है; उसको दी हुई तालिका द्वारा पाठक जान सकेंगे।

तस्य पश्चिमने की रीति

(१) हाथ के दोनों श्रंगूठों से कान के दोनों छिद्र, बीच की दोनों उंगलियों से नथनों, दोनों श्रनामिका और दोनों कनिष्ठ श्रंगुलियों से मुंह तथा दोनों तर्जनियों से दोनों शॉस्ट्रें बन्द करने पर जिस तत्त्व का रंग दिखलाई दे उसी का उदय सममना चाहिए।

(२) दर्पण (श्राईना) पर जोर से श्वास मारने पर इसकी भाप से दर्पण पर जिस

तस्व के चिन्ह बनें उसी का उदय सममना चाहिए।

(३) जैसा मुंह का स्वाद हा उससे उसी तत्त्व का उदय सममना पाहिए।

(४) शान्ति से बैठकर श्वास लेवें, फिर देखें जिस तस्त्व के अनुसार श्वाश की गित हो, और जिस तस्त्व के अनुसार श्वास का परिमाय हो, उसी तस्त्व का उदय सममना चाहिए।

तत्त्व साधन विधि—(१) पृथ्वी, जल ऋषि, वायु, आकाश, इस क्रम से एक एक तत्त्व का साधन करना चाित्ये।(२) जो तत्त्व साधना है इस तत्त्व के आकार व रंग का यन्त्र बनवा कर इस तत्त्व की बाह्य गति के परिमाण श्रानुसार दूर रख कर ओम के मानसिक जाप के साथ न्नाटक करना चािह्ये, (३) ऐसी भावना करनी चािह्ये कि जाप के साथ न्नास की गति यंत्र तक हो रही है।(४) न्नाय: २ घन्टे २४ मिनिट तक

स्वर-सम्बन्धी तालिका

	स्वर-साधन के जिए स्वर चलाने का समय	स्योह्य से हिन में चलाना चाहिये भोजन, सोले, मेललाग, सान में सूर्यस्वर कर	लेना चाहिये				
	दिशाएँ यात्रा के लिए	मिक्रम सन्दर्भ					
	नाम दिन जो शुभ कार्य के लिए स्वर से सम्बन्ध	बुधवार ब्रहस्पतिवार गुक्रवार सोमवार					
	नाम तत्त्व शुभकार्य के लिये	जल-तत्त्व पृथ्वो -तत्त्व					
מינים אוויים	हुभ कार्य जो जिस तिथि में किये जावें	स्थिर तथा शुभ कार्य : तथेयात्रा, मकान, तालाब, कुर्घों आदि बनवाना, नयं मकान में प्रवेश, कौषधि आदि मेवन, दूप-जलादि पीना सूत्रन्याग—सब प्रकार के शुभ कार्य					
	पत तथा तिथि जिसमें स्वर चलता है	१, २, ३, ७, ८, ९, १३, १४, १५, १५, १४, १५, १५, १५, १५, १६, १०, ११, १२ भूगोंदय से दाई घड़ी	सूर्यन्तर एक घराटे तक				
	नाम प्रधान प्रकृति	त्म-अथान, शित्वा प्रकृति, रापित्र के समान, ग्रुक्ल पक्					
	नाम नाई। तथा स्वर	सड़ी					
	१०६						

सूर्योत्त से राति में चलना चाहिये जल, दूध श्रादि पीने के समय, सूत्रन्याग में चन्द्रन्तर कर	प्रातःकाल तथा सायङ्काल योगान्यास के समय
पूरव, उत्तर	
रविवार शनिवार मङ्गलवार	
श्रप्रतत्त्व बायुतत्त्त्व	आकाश- तत्त्व
चर, कठिन कार्य, व्यायाम श्रादि पश्जिम के काम, कठोर यात्रा, विद्याध्ययन, अध्यापन, दान, भोजन, मत्तत्याप, सन्तानोत्पत्पि, मन्त्रजाए, ध्यान करना, सोना।	धुभाशुभ, शिर, चर, कोई कार्थ न करना चाहिय । योग-साधन, अभ्यास, दृश्वर-भक्ति, खानादि करना वाहिये।
कृष्ण् पत्त १, २, ३, ७, ८, १५, १३, १४, १५, धुक्ता पत्त सुर्योह्य से हाई घड़ी अर्थात् एक घाटा तक सूर्य-स्वर चलता है, उसके प्रशात् चन्द्र-स्वर, यह कम बराबर चलता रहता है	सूर्येन्सर से चन्द्रन्यर और चन्द्रन्यर से सूर्ये- स्वर बदलेने के समय चलता है। असाधारण्य अवस्था में एक चृष्ण सूर्य और एक चृष्ण चन्द्रन्सर चलता है।
रज-प्रथान, गरम प्रकृति, कृष्ण पत्न में १५ दिन तक इसकी प्रथानता दिन के समान	सन्त-प्रथात, विन्नति की सिन्धे, प्रातःकाल तथा सर्धकाल के समान
नकी— फिल्मा, यसुना, सूर्य कार—	नाड़ी— सुकुमा, सरत्वती स्कर— क्वांनां स्वर् प्रतामर

तत्त्व-सम्बन्धी तालिका

त्राटक करना चाहिये। (५) प्रायः छः मास त्राथवा परिस्थिति चातुसार, एक ही तस्त्र का साधन करते रहना चाहिये। (६) जब बराबर तस्त्र के परिमाग् तक श्वास है। प्रश्वास की गति लगातार होने लगे तब उस तस्त्र की सिद्धि समकता चाहिये।

पृथ्वी तत्त्व का साधन —एक इंच चौड़ा और एक इंच लम्बा खर्गा, पीतल अथवा पीले काराज का चतुष्कोग्र यन्त्र बनवाकर चन्द्र स्वर के पृथ्वी तत्त्व के खदय काल में नासिका के अप्रभाग से १२ अंगुल दूर रखकर आमें के मानसिक जाप के साथ त्राटक करना चाहिये।

जल तस्व का साधन - चांदी या कांसे का अर्थ पृत्ताकार यन्त्र इतना लम्बा व चौड़ा कि पृथ्वी तस्त्व के चतुष्कोण यन्त्र के मध्य में आसके चन्द्र खर के जल तस्त्व के ददय के समय नासाय भाग से १६ अंगुल दूर रख कर उपर्युक्त विधि अनुसार त्राटक करना चाहिये।

अग्नि तत्त्व साधन — तार्वे त्राथवा मूंगा का त्रिकोग्राकार यन्त्र इतना लम्बा चौड़ा कि जल तत्त्व के त्रार्थ वृत्ताकार यन्त्र के मध्य में त्रासके चन्द्र खर के त्राग्नि तत्त्व के उदय काल में ४ बंगुल नासाप्र भाग से दूर रख कर उपर्युक्त विधि श्रमुसार त्राटक करना चाहिये।

वायु तस्व साधन—खच्छ नीलाथोथों का ऐसा गोलाकार यन्त्र या काराज पर नीले रंग का ऐसा गोलाकार निशान बनवावे कि श्रामिन तस्व के त्रिकोनाकार यन्त्र के मध्य में श्रासके। यन्त्र को नासाप्र भाग से ८ श्रंगुल दूर रखकर उपयुक्त विधि श्रानुसार त्राटक करना चाहिये।

आकारा तत्व का साधन—चन्द्र खर में श्राकाश तत्त्व के उदयकाल में नासाप भाग पर खोव के मानसिक जाप के साथ त्राटक करना चाहिये।

सुषुम्ना-नाड़ी-अपर वर्णन कर चुके हैं कि सुषुम्ना-नाड़ी सर्वश्रेष्ठ है जो मेरूदंड के

भीतर सुक्ष्म नली के सदश चली गई है।

सुषुम्ना के अन्तर्गत स्वस्म नाडियां—सुषुम्ना के भीतर एक वर्ष नाझी है, वर्ष के अन्तर चित्रणी है, और चित्रणी के मध्य में ब्रह्म-नाझी है। ये सब नाझियाँ मकझी के जाले जैसी अति सुक्ष्म हैं जिनका ज्ञान केवल योगियों को ही हो सकता है। ये नाझियाँ सस्व प्रधान, प्रकाशमय और अद्भुत शक्ति वाली हैं। यही सुक्ष्म शरीर तथा सुक्ष्म प्राण के खान हैं। इनमें बहुत से सुक्ष्म शक्तियों के केन्द्र हैं, जिनमें बहुत सी अन्य सुक्ष्म नाझियाँ मिलती हैं। इन शक्तियों के केन्द्रों को पद्म जमल कहत है। इनमें से मुख्य सात हैं:—

मृलाधार, खाधिष्ठान, मिण्पूरक, अनाहत; विशुद्ध, आज्ञा, और सहस्रार ।

ये चक्र पांचों तस्वों, पाँचों तम्मात्राश्रों, पांचों हानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों श्राणों, अन्तःकरण, समस्त वर्णों-स्वरों, तथा सातों लोकों के मंडल हैं और नाना प्रकार के फ़्रांश तथा विद्युत् से युक्त हैं। साधारण श्रवस्था में ये चक्र बिना खिले कमल के सहश अधोग्रस हुए श्रविकसित रहते हैं: ध्यान द्वारा, तथा श्रन्य प्रकार से उच्चेजना पाकर जब ये अर्थग्रस होकर विकसित होते हैं तो उनकी श्रतीकिक शक्तियों का विकास होता है।

प्रत्येक चक्र में नाना प्रकार की अद्भुत शक्तिएं हैं। वान्त्रिक तथा हठयोग के प्रन्थों में प्रायः इनका वर्णन है। इस जिङ्गासुओं की जानकारी के लिये उनका उतना वर्णन कर देना आवश्यक समम्भते हैं जितने का राजयोग से सम्बन्ध है तथा तान्त्रिक प्रन्थों की उन बातों का भी जिनकी पाठकों को जानने की जिङ्गासा होसकती है। यथा:—तत्त्व बीज का बाहन, अधिपति देवता, देवता की शक्ति, यन्त्र, फल इत्यादि। (आत्मोन्नति चाहने वालों को इनकी ओर विशेष ध्यान न देना चाहिये)

चित्र द्वारा दिखलाई हुई चक्कों की स्थूलाकृति उनके सूक्ष्म स्वरूप का बोध कराने के लिए केवल आनुमानिक है। इसी प्रकार Pelvic Plexus आदि अंप्रेजी नाम उनके वास्तविक स्थान को नहीं वतलाते हैं केवल संकेत मात्र हैं।

चक्रों का वर्णन

मूलाधार चक्र-Pelvic Plexus के स्थूल खरूप से इसके सूक्ष्म स्वरूप का संकेत किया जा सकता है।

(१) चक्रस्थान : गुदामूल से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ मूल से दो अंगुल नीचे है।

- (२) আন্তৰি: रक्त रंग के प्रकाश से उञ्ज्वलित चार पंखेड़ी (दलों) वाले कमल के सदश है।
- (३) दलों के अक्तर (वर्ष) चारों पंस्तक्षियों (दलों) पर वं, झं, यं, और सं— . ये चार अक्तर हैं।
 - (४) तस्व स्थान : चौकोग्र सुवर्ग रक्क वाले प्रथ्वी तस्व का मुख्य स्थान है।

(५) तस्व-भीज : 'लं' है

(६) तत्त्व बीज की गति : एर।वत हाथी के समान सामने की स्रोर गति है।

(७) गुण : गंध गुग है।

- (८) वायु-स्थान : नीचे की श्रोर चलने वाले श्रपान वायु का मुख्य स्थान है।
- (९) कानैन्द्रिय : गंधतन्मात्रा से उत्पन्न होने वाली सूंघने की शक्ति नासिका का स्थान है
- (१०) कर्मेन्द्रिय : प्रथ्वी-तस्य से उत्पन्न होने वाली मल-त्याग शक्ति गुदा का स्थान है।

(११) लोक: भूलोक है (भू:)

- (१२) तस्य बीज का बाहन : पेरावत हस्ती जिसके ऊपर इन्द्र विराजमान हैं।
- (१३) अधिर्पात देवता : चतुर्भुज ब्रह्मा अपनी शक्ति चतुर्भुज डाकनी के साथ ।

(१४) यन्त्र : चतुष्कोण सुवर्णरङ्ग

(१५) चक्रपर ध्यान का फल: धारोग्यता,श्यानन्दचित्त, बाक्य, काक्य,प्रवस्थ—दत्तता इस चक्र के नीचे त्रिकोण यन्त्र जैसा एक सूक्ष्म योनिमंडल है जिसके मध्य के कोण् से सद्यन्ना (सरस्वती) नाडी, दिख्ण कोण् से पिंगला (यसुना) माडी, खौर बाम कोण्

सं क्षुप्रना (सरस्वता) नावा, वाक्या कार्य सं प्रगला (यमुना) नावा, कार वाम से इदा (गंगा) नावा निकलती हैं। इसलिए इसको मुक्त त्रिवेगी भी कहते हैं।

तान्त्रिक प्रन्थों में बतलाया गया है कि इस योनि मन्डल के मध्य में तेजोमय रक्त वर्षों क्लीं बीज दप कन्दर्भ नाम का स्थिर वायु विद्यमान है जिसके मध्य में नहा नाड़ी के मुख में स्वयंभु लिक्न है। इसमें कुराडलिनी शक्ति साढ़े तीन वृराडल में लिपटी हुई शक्क के अन्वर्तन के समान है। कुराडलिनी शक्ति का वर्णन श्रागे किया जावेगा। मूल शक्ति श्रथीन् कुराडलिनी शक्ति का आधार होने से इस चक्र को मूलाधार कहते है।

स्वाधिष्ठान चक्र-Hypogastric Plexus के स्थूल स्वरूप से इसके सूक्ष्म स्वरूप का संकेत किया जा सकता है।

- (१) स्थान : मृलाधार चक्र से दो अंगुल ऊपर पेंडू के पास इस चक्र का स्थान है।
- (२) आकृतिः सिन्दूरी रङ्ग के प्रकाश से प्रकाशित छ: पंखड़ी (दलों) वाले कमल के समान है।
- (३) दलों के अन्तर (वर्ष) छहों पंछड़ियों (दलों) पर यं, भं, मं, यं, रं, लं, ये छः अन्तर (वर्ष) हैं।
 - (४) तत्त्वस्थान : श्वेत रङ्ग, ऋर्ड-चन्द्राकार वाले जल तत्त्व का मुख्य स्थान है।
 - (५) तत्त्व-बीज : 'व' है।
- (६) तत्त्व बीज गति : जिस प्रकार मकर लम्बी डुबकी जगाता है इसी प्रकार इस तत्त्व की नीचे की ओर लम्बी गति है।
 - (७) गुण: रस है।
- (८) वायु-स्थान : सर्व शरीर में व्यापक होकर गति करने वाले व्यान वायु का मुख्य स्थान है।
 - (९) ज्ञानेन्द्रिय: रसतन्मात्रा से उत्पन्न स्वाद देने की शक्ति रसना का स्थान है।
 - (१०) कर्म-इन्द्रिय: जलतत्त्व मृत्र-त्याग शक्ति उपस्थ को स्थान है।
 - (११) लोक: भुवः है।
 - (१२) तत्त्व बीज का बाहन: मकर जिसके ऊपर वहरा विराजमान हैं।
 - (१३) श्रिधिपति देवता : विष्णु श्रपनीचतुर्भुज।राकिनी शक्ति के साथ।
 - (१४) यन्त्र: अर्ध चन्द्राकार श्वेतरङ्ग।
- (१५) चक्र पर ध्यान का फलः तान्त्रिक मन्धों में इस चक्र में ध्यान का फल सृजन पालन और निधन में समर्थता तथा जिह्ना पर सरखती देवी का होना बतलाया गया है।

मणिपूरक चक्र-Epigastric Plexus अथवा Solar Plexus के स्थूल स्वरूप के द्वारा इसके सुक्ष्म स्वरूप का संकेत किया जा सकता है।

- (१) स्थान: नाभिमूल है।
- (२) आकृति: नीले रङ्ग के प्रकाश से आलोकित (प्रकाशित) दश पंखड़ी (दलों) वाले कमल के तत्य है।
- (३) दलों के कात्तर (वर्षा): दशों पंखिष्यों (दलों) पर डं, डं, ग्रं, तं, ग्रं, दं, धं टं, पं. पं. ये दश व्यक्तर (वर्षा) हैं। इन दश वर्षों की ध्वनियाँ निकलतीं हैं।
 - (४) तत्त्वः स्थान: रक्त रह त्रिकोणाकार वाले अप्रि तत्त्व का मुख्य स्थान है।
 - (५) तस्व-बीज : 'रं' है ।

- (६) तत्त्व बीज गति: जिस प्रकार मेष (मेंदा) ऊपर को उछलकर चलता है, इसी प्रकार इस तत्त्व की ऊपर को गति है।
 - (७) गुगाः रूप है।
- (८) वायु स्थान: खान-पान के रस को सम्पूर्ण शरीर में स्व स्व स्थान पर समान रूप से पहुँचाने वाले समान वायु का मुख्य स्थान है।
 - (९) ज्ञानेन्द्रिय : रूप तन्मात्रा से उत्पन्न देखने की शक्ति चक्षु का खान है।
 - (१०) कर्मेन्द्रिय: श्रुग्नि तत्त्व से उत्पन्न चलने की शक्ति पाद (पैर) का स्थान है।
 - (११) लोकं:स्वः हैं!
- (१२) तत्त्व बीज का बाहनः मेष (मेढ़ा) जिसके ऊपर ऋग्नि देवता विराजमान हैं।
 - (१३) श्रिधपति देवताः रुद्र श्रिपनी चतुर्भुजा शक्ति लाकिनी के साथ ।
 - (१४) यन्त्रः त्रिकोण रक्त रङ्ग।
- (१५) फल: विभूतिपाद में इस चक्र पर ध्यान का फल कारीर व्यूह का ज्ञान बत-लाया है। इसमें ध्यान करने से अजीर्ण श्रादि रोग दूर होते हैं।

अनाहत चक्र — इसके सृक्ष्म स्वरूप का संकेतक Cardiac Plexus का स्थूल स्वरूप है।

- (१) स्थान: हृदय के पास।
- (२) आफ़ति: सिंदूरी रङ्ग के प्रकाश से भासित (उज्ज्विलित) बारह पङ्क्ष्मी (दलों) वाले कमल के सदृश है।
- (३) दलों के अन्तर (वर्ग) बारह पङ्काइयों पर कं, स्तं, गं, घं, इक, चं, छं, जं, भं, जं, टं, ठं, ये बारह अन्तर (वर्ग) हैं।
 - (४) तत्त्व-स्थान : धूम्र रङ्ग, षट्कोणाकार वायुतत्त्व का मुख्य स्थान है ।
 - (५) तत्त्व-शीजः यं है।
- (६) तस्त्र-बीज गितः जिस प्रकार मृग तिरछ। चलता है, इसी प्रकार इस तस्त्र की तिरछी गित है।
 - (७) गुगः स्पर्श है।
- (८) वायुध्यान : मुख और नासिका से गति करने वाले प्राण वायु का मुख्य स्थान है।
 - (९) ज्ञानेन्द्रियः स्पर्शनतन्मात्रा से उत्पन्न स्पर्श की शक्ति त्वचा का केन्द्र है।
 - (१०) कर्मेन्द्रिय: वायुतत्त्व से उत्पन्न पकड़ने की शक्ति कर् (हाथ) का स्थान है।
 - (११) लोक: मह: लोक है। अन्तःकरण का मुख्य स्थान है।
 - (१२) तत्त्व बीज का बाहनः मृग ।
 - (१३) अधिपति देवताः ईशान हर अपनी त्रिनेत्र चतुर्भुजा शक्ति काकिनी के साथ।
 - (१४) यन्त्र षट्कोनाकार, धूम्र रङ्ग ।

(१५) फल:-वाक्रपतित्त्व, कवित्व शक्ति का लाभ, जितेन्द्रिय होना इत्यादि तान्त्रिक प्रन्थों में बतलाया है। शिव सार तन्त्र में कहा है कि इस स्थान में उत्पन्न होने वाली खनाहत ध्वनि ही सदा शिव है। और त्रिगुणमय श्रोंकार इसी स्थान में व्यक्त होता है। यथा:—

शब्द ब्रह्मति तं पाइ साचाहेवः सदा शिवः। अनाहतेषु चक्रेषु स शब्दः परिकीर्स्यते॥ (परापरिमछोडासः)

अर्थ—जिसको शब्द ब्रह्म कहते हैं वही साज्ञात सदाशिव है। वही शब्द अनाहत चक्र में है। कहीं २ इस चक्र के समीप श्राठ दलों का एक निम्न मनश्रक (Lower mind Plexus) बतलाया गया है। स्त्रियों तथा भक्ति भाव वालों को श्यान करने के लिये श्रनाहत चक्र श्रच्छा उपयुक्त स्थान है।

विशुद्ध चक्र-इसका संकेतक स्थूल स्वरूप Carotid Plexus है।

(१) स्थान: कएठदेश है।

- (२) आश्वर्ताः (दलों) धुंघले रङ्गके प्रकाश से उज्ज्वलित १६ पङ्कर्दी(दलों) वालेकमल-जैसी है।
- (३) दलों के अन्तर: सोलहों पहुड़ियों पर अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ऋ, ऌ, ऌ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः; ये सोलह अन्तर हैं।
- (४) तत्त्व-स्थान : चित्र-विचित्र खाकार तथा नाना रङ्ग नाले ख्रथवा पूर्ण चन्द्र के सददा गोलाकार खाकारा तत्त्व का मुख्य स्थान है।

(५) तत्त्व-बीजः हं है।

(६) तत्त्व-बीज की गर्ति: जैसे हाथी घूम-घूम कर चलता है उसी प्रकार इस तत्त्व की घुमाव के साथ गति है।

(७) गुरा : शब्द है।

- (८) वायुन्थान : ऊपर की गति का हेतु झरीर-पर्यन्त वर्तने वाले उदान वायु का मुख्य स्थान है।
 - (९) ज्ञानैन्द्रिय : शब्द-तन्मात्रा से उत्पन्न श्रवग्रा-शक्ति श्रोत्र का स्थान है।
 - (१०) कर्मेन्द्रिय: श्राकाश-तत्त्व से उत्पन्न वाक् शक्ति वाणी का स्थान है।

(११) लोक: जनः है।

(१२) तत्त्व बीज का बाहनः हस्ती जिसके ऊपर प्रकाश देवता आठढ़ हैं।

(१२) श्रधिपति देवताः पश्चमुख वाले सदा शिव श्रपनी शक्ति चतुर्भुजा शाकिनी केसाथ

(१४) यन्त्रः पूर्णचन्द्र के सददा गोलाकार आकाश मण्डल।

(१५) कवि, महाज्ञानी, शान्त चित्त, नीरोग, शोक द्दीन और दीर्घ जीबी होना बतलाया गया है। इसके ''विशुद्ध'' नाम रखने का यह कारण बतलाया गया गया है कि इस स्थान पर मन की स्थिवि होने से मन आकाश के समान विशुद्ध हो जाता है। आज्ञा चक्र-इसका संकेतक Medula Plexus का स्थूल रूप है।

(१) स्थान: दोनों भुत्रों के मध्य में भुकुटी के भीतर है।

- (२) आकृति : श्वेत प्रकाश के दो पह्लाइयों (दलों) वाले कमल के सहश है।
- (३) दलों के अन्तर (वर्ण): दोनों पह्न डियों पर हं, नं है।

इन दोनों पङ्काइयों के संकेतक पाश्चात्य विज्ञान के Pineal Gland श्रौर Pituitary Body समकता चाहिये; जिनको मनुष्य के मिलिक के भीतर दो निरर्थक बाल्द से ढके हुए मांस-पिएड कहा गया है। ये दोनों मांस-पिएड श्रपने स्थान पर रहते हुए श्राज्ञाचिक के अश्रमुख होकर विकसित होने पर उससे दिव्य शिक को प्राप्त होते हैं।

- (४) तस्व : लिंग अर्थात् लिङ्ग-आकार महत्तस्व है।
- (५) तस्व-बीज : श्रोश्म है।
- (६) तस्व-बीज गति : नाद है।
- (७) लोक: तप: है।
- (८) तस्व बीज का बाहन : नाद जिस पर लिङ्ग देवता हैं
- (९) श्रधिपति देवताः ज्ञानदाता शिव श्रपनी चतुईस्ता बड़ानना (छ: मुख) हाकिनी शक्ति के साथ।
 - (१०) यन्त्र! लिङ्गाकार
- (११) फल : भिन २ चक्रों के भ्यान द्वारा जो फल प्राप्त होते हैं वे सब एक मात्र इस चक्र पर ध्यान करने से प्राप्त हो जाते हैं।

इस स्थान पर प्राण तथा मन के स्थिर हो जाने पर सम्प्रज्ञात-समाधि की योग्यता होती है।

मूलाधार से इड़ा, पिंगला और सुपुम्ना पृथक्-पृथक् प्रवाहित होकर इस स्थान पर मिलती हैं; इसलिये इसको युक्त-त्रिवेणी भी कहते हैं।

> इड़ा भागीरथी गंगा विंगला यद्युना नदी। तयोमेंध्यगता नाड़ी द्वषुम्जाल्या सरस्वती॥ त्रिवेणी संगमी यत्र तीथेंदाजः स उच्यते। तत्र स्नानं मञ्जवीत सर्वपापैः मद्युच्यते॥

> > —(ज्ञानसंक्ष्टिनी-तम्त्र)

अर्थ--इक्ष को गैगा, पिंगला को यमुना, चौर इन दोनों के मध्य में जाने वाली नाडी भुषुम्ना को मरस्वती कहते हैं। इस त्रिवेणी का जहाँ संगम है उसे सीर्थराज कहते हैं। इसमें स्नान करके सारे पापों से मुक्त हो जाते हैं।

> तदेव हृदयं नाम सर्वशास्त्रादिसम्मतम् । अन्यवाहृदि किंचास्ति मोक्तं यत् स्यूलबुद्धिभिः ॥ —वोगक्योदव ११४

अर्थ — यही अर्थात् आज्ञाचक्र ही सर्वशास्त्र-सम्मत हृदय है। स्पृत-मुद्धि वाले ही अन्य स्थूल स्थान को हृदय कहते हैं।

यह आहाचक शिवनेत्र, (Organ of Clarvoyance) दिव्यहृष्टिका यन्त्र है।
प्राण्तोषिणी तन्त्र में एक चौंसठ दल वाले ललना-संत्रक चक्र की तालु में, और
एक शत दल वाले गुरुचक की अवस्थिति ब्रह्मरन्ध्र में बतलाई है तथा किसी-किसी ने सोमचक्र (गुरु-चक्र), मानस-चक्र, ललाट-चक्र आदि का भी वर्णन किया है, किन्तु ये सब
सातों चक्रों के ही अन्तरात हैं। क्रियास्मक रूप से इनकी अधिक उपयोगिता नहीं है।

सहस्रार वा शून्य-चक्र-इसका संकेतक स्थूलरूप Cerebral Plexus है।

- (१) स्थान : तालु के ऊपर मस्तिष्क में, ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर । सब शक्तियों का केन्द्र है।
- (२) आकृति : नाना रङ्ग के प्रकाश से युक्त सहस्र पङ्काइयों (दलों) वाले कमल-जैसी है।
 - (३) दलों के श्रचर पहुंगे पर 'त्र' से लेकर 'च' तक सब स्वर और वर्ण हैं।
 - (४) तस्व: तस्वातीत है।
 - (५) तत्त्व-बीज : विसर्ग है।
 - (६) तत्त्व-बीज गति : बिन्दु है।
 - (७) लोक: सत्यम है।
 - (८) तस्व बीज का बाह्म : बिन्दु
 - (९) अधिपति देवता : पर ब्रह्म अपनी महा शक्ति के साथ।
 - (१०) यन्त्र: पूर्ण च शुभ्र वर्ण।
 - (११) फल: अमर होना, मुक्ति

इस स्थान पर प्राण तथा मन के स्थिर हो जाने पर सर्व श्रुतियों के निरोध-रूप

असम्प्रज्ञात-समाधि की योग्यता प्राप्त होती है।

कुछ विद्वानों तथा अभ्यासियों का विचार है कि उपनिषदों में जो अंगुष्टमात्र हृदय
पुरुष का स्थान बतलाया गया है वह ब्रह्म रन्ध्र ही है जिसके ऊपर सहस्रार चक्र है क्योंकि
यही संगुष्टमात्र आकाश वाला है। यहीं चित्त का स्थान है जिस में आत्मा के झान का
प्रकाश अथवा प्रतिविम्ब पढ़ रहा है और इसी स्थान पर प्राण तथा मन के स्थिर होजाने
पर असन्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सबे वृत्ति निरोध होता है।

कुण्डलिनी दाकि—पाठकों को सुपुन्ना नाड़ी की महत्ता उसके भीवर तीन शिक्त-शाली नाड़ियों के केन्द्रों के वर्णन कर देने से प्रकट होगई होगी। वास्तव में महांड में जितनी शिक्त्यों वत्तमान हैं वे सब ईश्वर ने शरीर-रूपी पिएड के इस भाग में एकत्रित कर दी हैं किन्तु सुपुन्ना नाड़ी का मुख त्रिकोण योनि-मएडल के मध्य स्थान पर जहाँ से यह मेहदयड के भीवर होती हुई ऊपर की ओर चलती है, साधारण अवस्था में बन्द रहती है। इसीकारण इसकी शक्ति अविकसित रहती है और प्राणशक्ति केवल इड़ा और पिंगला द्वारा जो इस त्रिकोण मएडल के वाम और दिन्नण भाग से ऊपर की ओर चकों को छूसी हुई चलती हैं, सारे शरीर में निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। इसी त्रिकोण योनि-मएडल में एक खातिसूक्ष्म वियुन्-समान खद्भुत दिव्य-शक्ति वाली नाड़ी लिपटी हुई पड़ी है। इसका दृष्टान्त
एक ऐसी सर्पिणी से दे सकते हैं जो सादेतीन लपेट खाये हुए खपनी पूँछ को मुख में
दृषाये शंखाकार हो कर सो रही हो। इसी को कुएडलिनी-शक्ति कहते हैं। यह नाड़ी
बिना प्रयोग से मुप्त-जैसी पड़ी रहती है। इसका शरीर-सम्बन्धी कोई कार्य बाह्य-दृष्टि से
प्रतीत नहीं होता। इस कारण पाश्चात्य शरीर शास्त्र के विद्वान् (Physiologist) अभी
तक इसका कुछ पता नहीं लगा सके। किन्तु प्राचीन यूनान, रोम खादि देशों के तस्त्रवेत्ता
जहाँ भारतवर्ष से सारी विद्याओं का प्रकाश फैला था; इससे परिचित थे। खफलात्
(Plato) तथा पिथागोरस (Pythogorus) जैसे खात्मदर्शी विद्वानों के लेखों में इसका
इस प्रकार संकेत पाया जाता है कि नाभि के पास एक ऐसी खद्मुत शक्ति विद्यमान है
जो मस्तिष्क की प्रभुता खर्थान् बुद्धि के प्रकाश को उज्ज्वल कर देती है और जिससे मनुष्य
के खन्दर दिक्य शक्तियाँ प्रकट होने लगती हैं।

कुण्डिलिनी दाक्ति का जाग्रत होना—यह नाड़ी यदि किसी प्रकार से श्रपने लपेटों को खोल कर सीघी हो जावे श्रीर इसका मुख सुपुन्ना नाड़ी के भीतर चला जाये तो इसको कुर्ण्डिलिनी का जाग्रत होना कहेंगे।

जिस प्रकार सुसज्जित कमरें में विजली के तार, नाना वर्ग के ग्लोब, माइ-फान्स्स तथा विजली के यन्त्र पंखे आदि लगे हों तो विजली के बटन (Switch) दवाने से ये सब क्रमशः प्रकाश देने तथा अपना-अपना कार्य करना आरम्भ कर देते हैं, इसी प्रकार जब इस कुराडिलिनी-रूपी बटन (Switch) के दवने से विद्युत का प्रवाह (Electric Current) सुपुम्ना-रूपी तार में पहुँचता है तो क्रमशः सारे चकों और नाहियों को प्रकाशित कर देता है। जिस-जिस चक्र पर यह कुराडिलिनी शक्ति पहुँचती जाती है वह अधोमुख से अर्धमुख होकर विकसित होता जाता है। जब यह आज्ञाचक पर पहुँच जाती है तो सारी बृत्तियों का निरोध होकर असम्प्रज्ञात स्माधि की वास्तविक रूप में योग्यता प्राप्त होती है। इस अवस्था में मनुष्य को सारे संसार का ज्ञान बहुत शीघ्र प्राप्त हो सकता है। कुराडिलिनी शक्ति के सुपुम्ना के मुख में प्रवेश होने पर नाना प्रकार के अनुभव होते हैं, उनका प्रकट करना वर्जित है। किन्तु हम कुराडिलिनी जाप्रत करने के कुछ उपाय तथा साधकों के लाभार्थ कुछ चेताविनयों दे देना आवश्यक समभते हैं।

कुण्डलिनी जाम्रत करने के उपाय—विशेषतया कुराडलिनी शांक तो शरीर के झुद्ध और सृक्ष्म होने पर सांख्विक विचार, झुद्ध अन्तःकरण, ईश्वर की सभी भिक्त और परिपक्व वैराग्य की अवस्था में एकाम्रता अर्थात् निश्चल ध्यान से जाम्रत होती है। जहाँ कहीं अकस्मात् किसी मनुष्य में अलौकिक शक्ति, अद्भुत चमत्कार तथा असाधारण क्वान का विकास देखने में आवे तो समम्मना चाहिये कि पूर्व जन्म के किन्हीं सांख्यिक संस्कारों के उदय होने अथवा हृदय पर सात्त्विक प्रभाव डालने वाली अन्य किसी घटना से कुराडलिनी शक्ति जाप्रत होकर सुषुम्ना के मुख में चली गई है।

जिस प्रकार पृथ्वी में लगे हुए नल द्वारा पानी अपर जाने के लिए केवल नल के अपर लगी हुई मैशीन (Handle) को चलाने से (Pumping से) नली में से पानी सबयं अपर खाना खारम्म हो जाता है, इसी प्रकार साधनपाद में चतुर्थ प्राणायाम की पांचवीं विधि द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को चेतन करके शुपुन्ना में लाने का यत्न किया जाता है।

निम्न-लिखित प्रास्पायाम तथा मुद्राएँ कुरुडिलिनी शक्ति को चेतन करने में सहायक हो सकती हैं।

- (१) भिक्तका, कपाल-भाति, सूर्य-भेरी प्राणायाम, इत्यादि चतुर्थ प्राणायाम (वि० व०२। ३२, ४९, ५०, ५१)।
- (२) महाबन्ध, महाबेध, महामुद्रा, खेँचरी-मुद्रा, विपरीतकरणी-मुद्रा, श्रश्चिनी-मुद्रा, योनि-मुद्रा शक्तिचालिनी-मुद्रा; इत्यादि (वि० व० २।४६) ।

किन्तु यह सब बाह्य साधन हैं जो कुराइंलिनी को चेतन करने में सहायक होते हैं। उसके मुख का सुपुन्ना में प्रवेश केवल ध्यान की परिपक्त श्रवस्था में हो सकता है। विना ध्यान के केवल बाह्य साधनों से कुराइंलिनी शक्ति को चोभ पहुँचाने से अधिक से श्रिषक मूर्छा-जैसी श्रवस्था प्राप्त हो सकती है; जो सुपुति तथा बेहोशी से तो ऊँची है किन्तु वास्तविक स्वरूपार्वास्थित नहीं है श्रीर न उसमें सूक्ष्म-जगत् ही का कुछ श्रवुभव हो सकता है। कुराइंलिनी जामत करने का सबसे उत्तम उपाय तो मूलाधार से लेकर सहस्नार तक सब चक्नों का भेदन करना है। विशेष विधि क्रियात्मक होने के कारण लेखबद्ध नहीं की जा सकती। किसी श्रवुभवी नि:स्वार्थ पथ-दर्शक से ही सीखनी चाहिये। उसकी सामान्य विधि निन्न प्रकार हैं:—

चक्रभेदन अर्थात कुण्डालिनी योग—(१) बद्धपद्म, (दोनों जंघाड्यों को दोनों .पैरों से दबाकर), पद्म, सिंद्ध, वन्न, स्वस्तिक, त्रादि किसी त्रासन (२।४६, ४७) से मेक्दर्ख को सीघा किये हुए शिर, गर्दन ज्योर पीठ को सम सूत्र में करके मूलबन्ध लगाकर खेचरी-ग्रहा के साथ बैठें।

(२) स्थान एकान्त, बन्द और शुद्ध हो। प्रातःकाल कम-से-कम तीन **घंटे औ**र सायंकाल हो घंटे ध्यान करना चाडिये।

(३) कपालभाति, भिक्षका श्रादि शायायाम के पश्चात् योनि-सुदा करके क्षेत्ररी-सुद्रा करें अर्थात् जिल्ला को ऊपर की श्रोर घुमाकर तालु के पास कराउ के खिद्र में लगायें और वॉंतों को दवाए रहें।

(४) प्राया मूलाधार चक्र में योनिमयडल तक ले जाकर ऐसी भावना करें कि वहीं आस-प्रश्वास चल रहा है।

(५) वहीं मानसिक ध्वनि के साथ ॐ का मानसिक जाप करें। (चौथा प्राणा-याम विधि ५)।

(६) ध्यान करते समय ऐसी भावना करें कि कुराडलिनी शक्ति सुपुम्ना में प्रवेश

करके मलाधार को ऊर्ध्वमुख करती हुई विकसित कर रही है।

इस प्रकार जब छ: मास. एक वर्ष अथवा दो वर्ष में इस चक्र में ध्यान पक्का हो जावे श्रीर प्रामोत्थान भली प्रकार होने लगे तो इसी भाँ ति श्रमले-श्रमले चक्रों को भेदन करना चाहिये। आज्ञाचक और सहसार में अधिक समय देना चाहिये। प्रथम चक्रों के ठीक-ठीक स्थान निश्चय करने में कठिनाई होगी किंतु कुछ दिनों के अभ्यास के पश्चात स्वयं यथानधान पर मन श्चिर होने लगेगा।

यह चक्रभेदन का क्रम दीर्घ काल तक धैर्य के साथ करते रहना चाहिये। सुगमता श्रीर जीव सिद्धि श्राप्त करने के विचार से श्राह्माचक और सहस्रार-चक्र ध्यान के लिये पर्याप्त हैं। यहीं पर विधिपूर्वक ध्यान करने से कुगड़िलनी जामत हो सकती है। यद्यपि निचले चक्रों का विशेष ज्ञान और उनकी विशेष शक्तियाँ उनके अपने-अपने विशेष स्थान पर ध्यान करने के सहज्ञ नहीं प्राप्त होतीं। डाकगाड़ी (Mail Train) से लम्बी यात्रा पर जाने वाले यात्रियों को मार्ग में आने वाले स्टेशनों की भाँति इनका समान्य ही ज्ञान होता है. किन्तु दोनों चक्रों पर ध्यान के परिपक्व होने के पश्चात निचले चक्रों का भेदन श्रति सगमता श्रीर शीघता के साथ हो सकता है।

आत्मिश्चिति के जिज्ञास के लिये तो इन चक्रों के चक्र में अधिक न पड़कर अपने

श्चान्तिम ध्येय को लक्ष्य में रखना ही श्रेयस्कर है।

कंडीलनी जाग्रत करने का एक अनुभूत साधनः—

सबसे प्रथम साधन पाद सूत्र ५१ के विशेष वक्तव्य में दी हुई चतुर्थ प्राणायाम की पांचवीं विधि अनुसार प्राण को ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर करने का अभ्यास परिपक करलें। बपर्य क्त योग्यता की प्राप्ति के पश्चात शरीर के पूर्ण रूप से खस्थ अवस्था में कार्तिक से फाल्यान अर्थात नवस्वर मास से मार्च तक के समय में सारे बाह्य व्यवहार से निवत होकर ज्ञान्त एकान्त निर्विध्न स्थान में साधन आरंभ करें । बस्ती अथना एनमा द्वारा उदर शोधन करते रहें । यदि आवश्यक्ता हो तो धौती और नेति भी करते रहें । भोजन प्रातः काल बादाम का छौंका (बादाम की गिरी छिलके निकाली हुई)। सोंफ कासनी, काली मिर्च पीसकर छान कर पिसे हुए बादाम के साथ घी में छोंक लिए जाँय। उसमें मुनके संजीर आदि बाले जा सकते हैं। रात को दध।

चतुर्थ प्राणायाम द्वारा ब्रह्मरन्ध्र में प्राणों को अच्छी प्रकार स्थिर करने के प्रधात भकुटि पर ध्यान त्रर्थात् अन्तर्रेष्टि से देखना आरंभ करदे । यदि इस प्रकार प्राणों का उत्थान न हो सके तो शवासन से लेट कर यह प्रक्रिया करें। प्रागों के उत्थान के समय किसी प्रकार की भय की वृत्ति न आने दे। किसी अनुभवी निखार्थ पथप्रदर्शक की संरक्षता में साधन

११८

महारन्ध्र और श्रुकुटि पर ध्यान करने वाले जिन साधकों को गर्मी के दिनों में इन ह्यानों पर ध्यान करने से अधिक गर्मी और ख़ुश्की प्रतीत हो वे एक एक मास का समय निचले चक्र भेदन में लगा सकते हैं। अर्थान्

प्रथम एक मास्त म्लाधार चक्र भेदनः—सामध्योनुसार एक निश्चित संख्या में अनुलोम विलोम भित्रका। एक निश्चित संख्या में मूलाधार तक मध्यम भित्रका। एक निश्चित संख्या में मूलाधार तक मध्यम भित्रका। एक निश्चित संख्या में मूलाधार चक्र पर अश्विन सुद्रा सदश क्रिया। इसके पश्चात् चतुर्थ प्रास्तायायाम की पांचवी विधि अनुसार ओम् का मानसिक जाप। मूलाधार पर जब प्रास्त स्थात् अन्तर्देष्टि से टिकटिकी लगा कर देखते रहना अथवा वहां अनहद शब्दों को सुनते रहना। दूसरे मास में विशुद्ध चक्र भेदन इसी प्रकार करें तथा अन्य सब चक्कों में स्वादिष्टान चक्र तक इसी प्रक्रिया को रखें।

साधकों के लिए चेतावनी

महात्मा मूसा, जो यहूदी धर्म के प्रवर्तक हुए हैं, उनके सम्बन्ध में कहा गया है कि होरप (Mount Horeb) पर योग-साथन के समय जब उनको प्रथम बार ईश्वर के प्रकाश के दर्शन हुए तो वह उस तेज को सहन न कर सके। इस रहस्य को उनके शिष्य योगमार्ग से अनिभन्न होने के कारण नहीं समफ सके हैं।

(१) कुराडलिनी शक्ति जब सुपुन्ना नाड़ी के अन्दर प्रवेश होती है तो खसकी पहिली टक्कर मृलाधार चक्र पर लगती है, इससे उपस्थ इन्द्रिय पर दवाव पड़ता है; इसलिये मृलबन्ध सावधानी से लगाये रहें।

(२) उस समय स्थूल-जगत् से सूक्ष्म-जगत् में प्रवेश, तथा स्थूल-शरीर से सारे प्राणों का प्रवाह सुपुन्ना नाड़ी में जाना आरम्भ होने लगता है, सारे बाह्य प्राश हाथ पैर आदि से खिंचाव के साथ अन्दर जाने लगते हैं; उस समय भयभीत न होना चाहिये; अन्यया भय की वृत्ति आने के साथ ही प्राण फिर उत्तर जायेंगे और पछतावा रह जायगा।

- (३) विद्युन्मय सूक्ष्म नाहियों, चक्रों, तन्मात्राचों तथा तत्त्वों चादि के प्रकाश इतने चलीिक होते हैं कि साथक को प्रथम अवस्था में उनका सहन करना कठिन हो जाता है। इसी प्रकार सूक्ष्म-जगत् के शब्द भी अपिरिचित होने के कारण खित भयानक प्रतीत होते हैं। इसलिये द्रष्टा बंनकर देखता रहे; चन्यथा भय की द्वित खाने के साथ ही छुंडलिनी शिक्त जहाँ पहुँचती है वहाँ से फिर लीट जायेगी।
- (४) सूक्ष्म-जगत् स्थूल-जगत् से चित विलक्षण है, वहाँ की सूक्ष्मता भौर विलक्ष-एता भी प्रथम खबस्था में भय का कारण बन सकती है, उससे भयभीत न हों।

(५) कभी-कभी अप्रिय और भयद्भर दश्य भी सन्मुख आते हैं, वह कुछ हानि नहीं पहुँचा सकते; स्वयं हट जाते हैं, उनसे भय उत्पन्न न हो।

(६) भुकुटि सथवा महारम्भ में प्राण रुकजाने के पश्चात् शवासन से लेटकर ध्याम करने से शरीर के सीधे रहने के कारण प्राणों का प्रवाह कुंडलिनी में खिच आने और फिर उससे सुपुम्ना नाड़ी में प्रवेश होने में श्रासन से बैठने की श्रपेता सुगमता से होता है, परन्तु इस तरह लेटकर क्रिया करना स्वास्थ्य के लिये लाभदायक नहीं है।

चित लेटने की श्रवस्था में जब मूलाधार चक्र पर सारे प्राणों के वेग की टक्कर लगती है और इसलिये उपस्थ इन्द्रिय पर श्रधिक खिचाव पड़ता है, उस समय मूलबन्ध पूरी टढ़ता के साथ बँधा रहना चाहिये; श्रन्यथा कमजोर चीण शुक्र वालों के लिये वीर्य श्रथवा मूत्र निकलने की सम्भावना हो सकती है।

- (७) ये सब प्रकार के भय उसी समय तक रहते हैं जब तक कुंडलिनी श्रुकुट तक न पहुँच जाय। श्राह्माचक पर स्थिर होने के प्रधान कोई भय नहीं रहता। उस समय सारे सूक्ष्म-जगत् का ज्ञान प्राप्त हो सकता है, जिस श्रोर वृत्ति जाती है उसी का यथार्थ खरूप समत्त श्राने लगता है। यही वास्तविक समाधि है। जब सहस्रार में पहुँचती है तो सारी वृत्तियों का निरोध होकर श्रसम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है।
- (८) एक बार कुंडलिनी जाप्रत होजाने पर यह न समफता चाहिये कि सर्वदा ऐसा ही होता रहेगा। मन तथा शरीर की स्वस्थ श्रवस्था, निर्मलता, सूक्ष्मता विचारों की पवित्रता श्रीर वैराग्य का बना रहना श्रत्यावश्यक है; इनके श्रभाव में यह कार्य बन्द हो सकता है।
- (९) भुकुटि, बह्मरन्त्र श्रादि स्थानों पर प्रायों के ठहर जाने को कुयडिलनी जामत हो जाना न सममना चाहिये किन्तु सारे प्रायों का भवाह जब स्थूल शरीर से सुपुम्ना नाड़ी में श्रोजाय श्रोर स्थूल-शरीर तथा स्थूल-जगत् से बेसुध होकर सूक्ष्म-शरीर तथा सूक्ष्म-जगत् में भवेश हो जावे तो कुंडिलिनी शक्ति का जामत होना समभना चाहिये।
- (१०) मांस भत्तण करनेवाले तो योगमार्ग के अधिकारी ही नहीं हो सकते, इस-लिये मांस तो सदा अभस्य ही है। मादक पदाधे: शराब, मुङ्ग, सुलका, सिगरेट, बीड़ी आदि; लाल मिर्च, खटाई, तेल, गरिष्ट वादी, कोष्टबद्धता करने वाले और कफ्वर्ढक तीक्ष्ण पदार्थों का संवन न करें। ध्यान तथा पाण के उत्थान से उत्पन्न होने वाली खुश की और गर्मी को दर करने के लिये दही, छांच और मट्टे का सेवन कदापि न करे, इससे वायु आदि के कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं ऐसी अवस्था में घृत, बादाम का छौंका तथा मीठे बादाम का रोगन और दूध लाभ दायक हाता है।
- (११) मैथुन, कुसङ्ग, क्रोध, शोक, भय श्रादि उत्पन्न करने वाली बातों तथा श्राधिक शारीरिक परिश्रम वाले कार्यों से इन दिनों बचा रहे ।
- (१२) आहार: सूक्ष्म, सात्त्विक, क्ष्तिग्ध पदार्थ; दाल: मूंगः सब्जी: लौकी, पपीता आदि; दूध, घी (घृत और बादाम, कासनी, सौंफ, काली मिर्च का छौंका जिसकी विधि सा० पा० सू० ३२ के वि० व० में बतलाई जावेगी) व मीठे खारूव्य-वर्द्धक फल, मेवे का रहना चाहिये।
- (१३) शरीर का शोधन वस्ती (एनिमा) से होता रहे, तो ब्यॉतों में मल न रहने पाबे, न कब्बी रहे, धौती, नैती भी होती रहे तो बच्छा है; किसी रेचक भौषधि : इतरीफल, त्रिफला, त्रिकुटा आदि का सेवन अच्छा है। (वि० व० सूत्र २।३२)

(१५) कुपथ्य करने से प्रमेह, वायु-विकार, शरीर-कम्पन, आदि रोगों में पस्त हो जाने का भय है।

(१६) शारीरिक ब्रक्षचर्य के समान मानसिक तथा आध्यासिक ब्रक्कचर्य आति आवश्यक है, अर्थात् आध्यातिमक शक्तियों का शारीरिक कामों में प्रयोग तथा अपने अनु-भवों को दूसरें पर प्रकट न करना चाहिये; अन्यथा शक्तियों के खोये जाने की सम्भावना है।

(१ँ०) इस मार्ग में श्राडम्बर, बनावट (Fashion) से बचते हुए श्रवनी शक्तियों तथा श्रानुभवों को छिपाये हुए साधारणावस्था में रहना कल्याणकारी है। इसी सम्बन्ध में बतलाया गया है:—

> यं न सन्तं न चा-पन्तं नाश्रृतं न बहु-श्रृतम् । न सृहत्तं न दुष्टेत्तं वेद कश्चित् स झाझणः ॥ गृह-धर्माश्रितो विद्वान् ज्ञान चरितं चरेत् । श्चन्धवद्य जड़बद्यापि मुकवच महीं चरेत् ॥

अर्थ – जिसको कोई सत्त या असत्त. श्रेश्त या बदुशृत, सुदृत या दुर्वृत नहीं जानता, वह ब्रह्मनिष्ट योगी हैं। गृढ़ धर्म का पालन करता दृश्या विद्वान योगी दूसरों से श्रद्धात चरित रहे। अन्धे के समान, जड़ के समान और मुक के स**ान पृथिवी में विचरण करे**।

(१८) विशेष दूसरे पाद के सूत्र २०, ३१, ३२, ४६, ४७, ४९, ५०, ५१ के वि०

वि० तथा वि० व० में देखें।

(१९) सं० ५ में बतलाए हुए दृश्य ध्यान की निचली प्रकाश रहित श्रवस्था में ही सामने श्राते हैं और श्रधिकतर अपना कोई वास्तविक श्रास्तव नहीं रखते हैं। मन की एकामता में श्रपने ही पिछले संस्कार वृत्तिरूप से उदय हो जाते हैं। निर्भय होकर उनको द्रष्टा वनकर देखता रहे श्रीर यदि कोई अभ्यासी श्रपने पिछले संस्कारवश इनको वास्तविक रूप से ही श्रनुभव करे श्रीर उनसे श्रपना श्रानिष्ट समक्त कर उनको हटाना चाह तो संकल्प मात्र से ही श्रथवा अन्या या गायत्री के जाप से तुरन्त ही श्रदश्य हो जाएंगे।

(२०) श्रीर वे जो ज्योतिर्मय श्रद्भुत दिन्य प्रकाश के साथ सामने श्राते हैं उनमें भी श्रासक्त न हो। केवल द्रश्र रूप से देखता रहे। वे भी श्राधकतर श्रपने ही सालिक संस्कार होते हैं जो चित्त की प्रकाशमय श्रवस्था में वृत्ति रूप से उदय होते हैं तथा महालोक तक जो सालिक संसार है वह भी चित्त की वृत्तिरूप से ही द्रश्र के सामने श्राता है। सम्प्रज्ञात समाधि की यह प्रकाशमय श्रवस्था उस सवीज श्रांक का श्रवस्था कराती है जिसका वर्णन १८ सूत्र के विशेष वक्तव्य में किया गया है।

(२१) सं०१५ में बतला आए हैं कि योग की शक्तियों को सांसारिक व्यवहार की बातों में प्रयोग करना ऋहितकर है। इस सम्बन्ध में एक साधक ने जो ऋपनी प्रारम्भिक अबख्या का ऋतुभव बतलाया है उसको ऋन्य साधकों के हितार्थ समक्ते हैं। इस अध्याकी ने बतलाया कि बड़े तप और साधन के प्रधात् जब उसको किसी एक श्रासन से हुःस्तक घंटे बैठने का अध्यास हो गया और प्रारा भी किसी विशेष स्थान पर उतनी देर तक स्थिर होने लगे तब गुरु कृपा और ईश्वर अनुप्रह से एक गत दो बजे के समय कुएडलिनी जागृत हुई। उस दिन से लगभग दो बजे रात के चाहे वह जागता हो, सोता हो, बैठा हो या भजन कर रहा हो स्वयमेव विचित्र संसनाहट के शब्दों के साथ उसके शरीर के सारे स्थल प्राण सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश कर जाते और इस स्थल शरीर से परे होकर सूक्ष्म जगत् के नाना प्रकार के अनुभवों को वह प्रहण करने लगता। कुछ दिनों तक इसी प्रकार से कार्यक्रम चलता रहा । उसने पाश्चात्य (Spiritulism) श्रिपरिन्यलिजम की बातों में सुन रखा था कि सब मृतक आत्माओं से बातचीत हो सकती है (वास्तव में यह बात ठीक नहीं है इसको साधनपाद सूत्र ३२ के विशेष वृत्तव्य में सम्मोहन शक्ति के प्रकरण में सममाया जावेगा) उसका एक सम्बन्धी जिसके प्रति उस का मोह था कछ समय पर्व मर चका था। एक दिन उसने संकल्प किया कि आज रात अपने निश्चित समय पर उसको देखेंगे कि वह कहाँ है। ठीक रात के २ बजे के पश्चात जब सक्ष्म जगत के अनुभव का कार्य्य आरम्भ हन्ना तो उसके समज्ञ एक गर्भ न्नाया । पछने पर न्नप्रमान न्त्रीर प्रशा के साथ बतलाया गया कि यह वह त्यक्ति है जिसको तम देखना चाहते हो। इस गर्भ रूप में असक घर और असक स्थान में है। यह सब बातें कई मास के पश्चात ठीक निकलीं, किन्त बसी दिन से बस साधक को वह कार्य्य वन्त हो गया श्रीर दो वर्ष तक कई घणित रोगों में प्रस्त रहा, जिनके कारण श्रभ्यास पर बैठना श्रसम्भव हो गया । श्रन्त में रान पर गाएठ बाले फोड़े निकलना आरम्भ हए। जब पांचवा फोडा निकल रहा था तब एक दिन उसको अपनी इस अधोगति की अवस्था पर अत्यन्न शोक और द:ख हुआ उस रात दोनों हाथों को नीचे की और सीधा करके दीवार का सहारा लेकर यह निश्चय कर लिया कि पिछली अवस्था को प्राप्त किये विना न उठेगा। अधिक समय बीतने के पश्चात उस अवस्था में प्रकाश के साथ एक एक आवाज आई 'कल आएंगे' उसने उत्तर दिया नहीं आज ही आना पड़ेगा । थोडी देर के पश्चात उस प्रकाश में एक और अत्यन्त दिन्य प्रकाश के साथ एक विशाल दिव्य प्रकाशमय चाकृति उसके समज्ञ आई उस समय की सारी बातें वह साधक वतलाना नहीं चाहता. किन्त उस सारी रात तथा उसके प्रधात कई दिन तक सरीले मनोर जक वेदों के मन्त्र सुनाई देने रहे। उस दिन से उसका कार्य्य फिर पूर्ववन आरम्भ हो गया, किन्त यह उससे कछ विचित्र रूप का था इसमें पिछली जैसी मनोर खकता और श्राकर्षण तो न था. किन्तु उससे श्रिधिक श्राध्यात्मिकता की श्रीर ले जाने वाला था। सम्भव है कि पिछले अनुभवों की सक्ष्मता को अधिक समय तक सहन करने योग्य उसका स्थल शरीर नहीं और उसको कुछ विशेष भोगों का भोगना और विशेष काय्यों का करना हो।

ईश्वर की ओर से जो कुछ भी होता है वह मनुष्य के कल्मासार्थ ही होता है, किन्सु हमारा । उद्देश्य केवल इतना यता देना है कि इन शक्तियों का सांसारिक कार्यों में प्रयोग न करना चाहियें।

अपने अनुभवों को दूसरों परं जाहिर करने में जहाँ अपनी इन शक्तियों का हास होना तथा अभिमान और अहंकार का हाना है वहाँ दूसरों के लिये भी आहितकर है। योग की रहस्यपूर्ण वातों को साधारण लोग सकसने में असमधे होते हैं। परिमाण रूप कुछ अन्ध विश्वासी वन कर धोका खात हैं और कुछ पाखरष्ट रच कर सीधे सबे लोगों को धोका देते हैं। परस्पर भी एक दूसरे को अनुभव बतान में राग द्वेष असन्तोष और अभिमान की वृत्तियां उदय होकर साधना में विभकारी होती हैं।

संगति-- अब चित्ता शिति का दूसरा उपाय बतलाते हैं:--

विषयवती वा मद्यत्तिकत्वन्ना मनसः स्थितिनिवन्धनी ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ — विषयवती = (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श शब्द), विषयोवाली । वा = स्रथवा। प्रवृत्ति: = प्रशृत्ति । उत्पन्ना = उत्पन्न हुई। मनसः = मनकी। स्थिति-निबन्धनी = स्थिति को बांधने वाली होती है।

अन्वयार्थ — अथवा (गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) विषयों वाली प्रवृत्ति उत्पन्न

हुई मन की स्थिति को बांधने वाली होती है।

व्याख्या-नासिका के श्रम-भाग में संयम की दृदता से जो दिव्य गंध का साकातकार

होता है, उसको गंध प्रवृति तथा गंध-संवित् कहते हैं।

जिह्ना के श्रम-भाग में संयम की स्थिरता से जो दिव्य रस का साजात्कार होता है, उसे रस प्रवृत्ति तथा रस संवित् कहते हैं।

तालु में संयम की शिति में जो दिन्य रूप का सानात्कार होता है उसको रूप प्रश्नृत्ति

श्रीर रूप संवित् कहते हैं।

जिह्ना के मध्य भाग में संयम करने से जो दिन्य स्पर्श का साजात्कार होता है उसका नाम स्पर्श-प्रवृत्ति श्रीर स्पर्श-संवित् हैं।

जिह्या के मूल में रंयम की दृढ़ता से जो दिव्य शब्द का साजातकार होता है उसको शब्द

प्रवृत्ति श्रीर शब्द संवित् कहतं हैं।

इस प्रकार ये प्रवृत्तियें उत्पन्न हुई चित्त की स्थिति को बाँधती हैं। संशय को नाश करती हैं। समाधि प्रज्ञा की उत्पत्ति में द्वार रूप होती हैं। चन्द्र-सूर्य, नत्तन्न, मिण्-प्रदीप, रक्य-प्रभादि में चित्त के संयम से जो इनका साज्ञात्कार होता है वह भी विषयवती प्रवृत्ति

ही जाननी चाहिए।

भाष्यकार लिखते हैं कि यदाप शास श्रामान श्रीर श्राचार्य के उपदेश से सम्यक् जाना हुआ अर्थ यथार्थ ही होता है क्योंकि शास श्रीर श्राचार्य यथार्थ श्रथं के प्रतिपादन में समर्थ होते हैं तथापि शास्त्रों श्रीर श्राचार्यों से उपदेश किए हुए पदार्थों में जब तक किसी एक सूक्ष्म पदार्थ का साझारकार नहीं होता, तब तक कैवल्य-प्रयन्त सूक्ष्म श्रीर सूक्ष्म-तम पदार्थों में दढ़ विश्वास नहीं होता। इसलिये शास्त्र श्रामान श्रीर श्राचार्थ के उपदेश में दढ़ विश्वास करन के लिये किसी एक सूक्ष्म व्यवहित श्रथवा विश्वष्ठष्ट पदार्थ का साझारकार संयम की दढ़ता के लिये श्रवद्य करना चाहिए।

जब शास्त्रादि उपदिष्ट ऋथे का एक देश में जिज्ञासु को प्रत्यन्त हो जाता है तब कैवस्य पर्यन्त जितने सूक्ष्म विषय हैं उन सबको उसका श्रद्धा-पूर्वक दढ़ विश्वास हो जाता है। इसी-लिए इन विषयवती प्रवृत्तियों का निरूपण् किया गया है जिनका शीघ्र सान्नात्कार होजाता है।

इन प्रवृत्तियों में से किसी एक प्रवृत्ति के लाभ से उस शाम्त्रोक्त ऋषे में वशीकारिता (स्वाधीनता) के होने से उस शास्त्रोक्त ऋषे के प्रत्यन्न करने में पुरुष की सहज ही शक्ति हो जाती है और शास्त्रोक्त ऋथे में श्रद्धा की ऋधिकता से श्रद्धा, बीथे, स्मृति और समाधि का लाभ भी यागी को निर्विष्त हो जाता है।

श्रत: विश्वास श्रौर श्रद्धा के लिये, तथा चित्त की श्रिथति के लिये पहिले इन विषयवती प्रवृत्तियों में से किसी एक का सम्पादन करना चाहिये।

विदोष विचार—सूत्र ३५:—सूत्र की व्याख्या में, गंध विषय का स्थान नासिका का अप्रभाग, रसना विषय का जिह्ना का व्यप्र-भाग; रुप विषय का तालु, स्पर्श विषय का जिह्ना का मध्य भाग, खौर शब्द विषय का जिह्ना का मृल स्थान वतलाया है।

वितकीनुगत सम्प्रकात—इन स्थानों पर यदि स्थूल प्राद्य विषयों का श्रयात् किसी विशेष गंध, रस, रूप, स्पर्श, श्रथवा शन्द का ध्यान किया जावे तो जब पूरी एकाप्रता होने पर उसका साम्रात्कार होने लगे तब वह वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होगी।

विचारानुगत सम्प्रक्षात—यदि वहाँ न रुक कर एकाप्रता को श्रौर श्रधिक बढ़ाया जावे श्रथवा इनके सूक्ष्म विषय तन्माताश्रों तक का साहात्कार होने लगे तब वह विचारानुगत सम्प्रकान-समाधि कहलाएगी ।

आनन्दानुगत सम्प्रकात—यदि उसमें भी राग को छोड़कर ध्यान को घन्तर्मुख किया जावे तो अहंकार का साचात्कार होने लगेगा। यह अहंकार गंध आदि विषय जैसी कोई शाह्य वस्तु नहीं है, न इसका इस प्रकार जैसा साचात्कार होता है। इसमें एक विचित्र आनन्द के साथ बाहर के सारे व्यवहारों से भूली जैसी श्रवस्था होती है किन्तु यह भूला-पन स्वप्न अथवा सुपुति जैसा नहीं होता। इसमें आहं शृति से आहंकार का साचात्कार होता है। यही आहंकार है, और इस समाधि का नाम आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि होगा।

अस्मितानुगत सम्प्रक्षात—यदि श्रनन्दानुगत में श्रासिक श्रीर लगाव को छोड़कर ध्यान को श्रीर श्रन्दर की श्रीर बढ़ाया जावे तो श्रीरमता (पुरुष से प्रतिविध्यित चित्त सत्य) का साचालकार होने लगता है; इसमें भी चित्त का किसी प्राष्ट्र विषय जैसा साचात्कार नहीं होता। इसकी पृथक श्रवस्था का ही छुछ वर्णन हो सकता है। श्रान्तम श्रवस्था का यथार्थ रूप शब्दों में नहीं श्रासकता। इसमें श्रहंकार द्वारा श्रात्मतत्त्व को श्रहं-भाव से प्रतीति कराने वाली 'श्रवंद्वित' नहीं रहती। कर्तन्त, भोत्तत्व, ममता, देश, दिशा, काल आदि से श्रिष्ठ श्रवंद्वार की प्रतीति होती है। बीच-शीच में ध्यान के श्रिष्ठिल होने पर जब कोई श्रद्धार वाली वृत्ति श्राक्तर श्रपने कर्तन्त, भोक्त्व और ममता की सीमा से परिच्छित श्रवंद्वार वाली वृत्ति श्राकर श्रपने कर्तन्त, भोक्त्व और ममता की सीमा से परिच्छित श्रवंद्वार की स्मृति कराती है तो उस दशा में बढ़ा श्राश्यंद्वारा है। इसकी उच्चतम श्रवंद्वा

विवेक ख्याति है जिसमें चित्त से भिन्न आत्मा का साज्ञात्कार होता है। किन्तु यह चित्त द्वारा आत्म-साज्ञात्कार वास्तविक नहीं है।

इसमें भी राग कौर आसक्ति के छूटने पर और अन्दर की आर घुसने पर (पर-वैराग्य द्वारा) जब यह बृत्ति भी न रहे तब सब बृत्तियों के निरोध होने पर स्वरूपाविस्ति होती है। किन्तु यह सब बातें एक-साथ अथवा सुगमता और शीव्रता से आने वाली नहीं हैं। दीर्ध काल तक निरन्तर सत्कार से अभ्यास करते हुए और क्रम-क्रम से भूमियों को विजय करते हुप धैर्य के साथ उन्नति करने रहना चाहिये।

श्राधिकारी पाठकों की जानकारी के लिये यह भी बता देना श्रावश्यक है कि सम्प्रज्ञात की सिद्धि के लिये श्रुकुटि (श्राज्ञा चक्र) श्रीर श्रसम्प्रज्ञात-समाधि की सिद्धि के लिये श्रुकुटि (श्राज्ञा चक्र) श्रीर श्रसम्प्रज्ञात-समाधि की सिद्धि के लिये श्रक्तरन्ध्र (सहस्रार) ध्यान के लिये सब से उत्तम स्थान हैं। किन्तु श्रभ्यास के लिये श्रारम्भ में श्रन्दर से इन स्थानों का श्रमुमान द्वारा पता लगाना कठिन होता है। यहि रूपविषय का स्थान जो तालु है उसके समत्त श्रन्दर से ध्यान किया जावे तो ध्यान खये श्रुकुटि (श्राज्ञाचक्र) तक पहुँच जाता है। इसी प्रकार जिल्लामूल (उपर का स्थान श्रथ्या छोटी जिल्ला को स्थान है, वहां से तालु की श्रोर उपर को ध्यान किया जावे तो ध्यान ब्रह्मरन्ध्र तक स्थां पहुँच जाता है। ध्यान के लिये तालु को श्रुकुटि का द्वार श्रीर जिल्लामूल श्रथवा छोटी जिल्ला को श्रक्मरन्ध्र का द्वार समक्षना चाहिय। कहीं-कहीं जिल्लामूल से उपर तालुमूल को एक ललनाचक का स्थान बतलाया है।

संगति—चित्त-स्थिति का विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति तीसरा उपाय श्रगले सूत्र मं बतळाते हैं:—

विशोका वा ज्योतिष्मती ॥ ३६ ॥

हाब्दार्थ — विशोका = शोक-रहित । वा = श्रक्षवा । ज्योतिष्मती = प्रकाश वाली (प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मन की स्थिति को बाँधने वाली होती हैं) ।

अन्ययार्थ—अथवा शोकरहित प्रकाशवाली प्रष्टुचि उत्पन्न हुई मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है।

व्याख्या—सूत्र में 'उत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी'—'उत्पन्न हुई मन की स्थिति को बाँधने वाली होती हैं'—इतना वाक्य शेष हैं, सो लगाना चाहिये। विशोका = सुखमय (सात्त्विक) अध्यास से जिसका शोक (दुःख) अर्थान् रजागुण का परिणाम दूर हो गया है। ज्योतिः = सात्त्विक प्रकाश। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति = सात्त्विक प्रकाश जिसमें अधिक वा श्रेष्ट हो, वह प्रवृत्ति ज्योतिष्मती कहलाती है।

जिस प्रकार पूर्वोक्त विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न हुई मन को स्थिर कर देती है वैसे ही 'विशोका ज्योतिष्मती' संज्ञक प्रवृत्ति भी उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर कर हेती है।

जैसे विषयवती प्रवृत्ति के नासिका, अप्रभाग, जिह्ना अप्रभागादि पाँच विशेष स्थान हैं जहाँ मन को स्थिर किया जाता हैं; वैसे ही 'विशोका ज्योतिष्यती' प्रवृत्ति के भी सुषुम्ना नाड़ी में विद्यमान मणिपूरक, अनाहत, आज्ञा आदि सात पदा अर्थान् चक्र (जिनकासूत्र चौंतीस के वि०व० में वर्णन कर दियागया है) विशेष स्थान हैं जहाँ चित्त को स्थिर करना होता है।

भाष्यकारों ने इन चक्रों में से हृदयकमल ऋर्थात् श्रनाहत-चक्र में मन को स्थिर करने का वर्णन इस प्रकार किया है :—

हृदय कमल में धारणा करने से (योगी को) जो बुद्धि संविद होती है—(बुद्धि सत्त्व भास्त्र श्राकाश सदश है), उसमें स्थिति की दृदता से प्रवृत्ति-सूर्य, चन्द्र, मिण श्रीर प्रभा रूपाकार से विकल्पित होती है। इसी भांति श्रास्मिता में समापन्न चित्त निस्तरङ्ग समुद्र के सदश शान्त, श्रान्त श्रीर श्रास्मिता मात्र होता है, जिसमें कि यह कहा है "तमणुमात्र-मास्मानमनुविद्यास्मीत्येव तावत् संप्रतिजानीते" उस श्रणुमात्र श्रास्मा को जान कर श्रास्मि (हूँ) इतना ही जानता है। यह दो प्रकार की विशोका विषयवती, श्रीर श्रास्मितामात्र प्रवृत्ति व्योतिस्मिती कहलाती है, जिससे योगी का चित्त स्थिर होता है।

भाव यह है कि नाभि में ऊपर हृदय-देश में जो हृदय-पद्म है यद्यपि वह मुख नीचे की खोर, निलका उपर की खोर होने से अधोमुख है तथापि प्रथम रेचक (जैसे प्रच्छाईन सूत्र ३४) प्राणायाम के अभ्यास द्वारा वह ऊर्ध्यमुख और प्रफुहित किया जाता है। उस ऊर्ध्वस्व प्रफ़िल पद्म के मध्य में 'ॐ' है, उसका 'श्रकार' सूर्यमण्डल श्रीर जामत स्थान है। उसके ऊपर 'उकार' चन्द्रमएडल श्रीर स्वप्न स्थान है। उसके ऊपर 'मकार' विद्वमार्डल श्रीर सप्ति स्थान है । उसके ऊपर श्राकाश-स्वरूप ब्रह्मनाद तथा श्रार्डमात्र त्रीय स्थान है। उस कमल की कर्णिकाश्रों में स्थित जो उध्वेमुखी सुषुम्ना नाई है उसको बद्धनाड़ी भी कहते हैं (श्रथवा उसके बीच में उससे भी सूक्ष्म एक श्रीर नाड़ी है जो ब्रह्म-नाड़ी कहलाती है)। यह नाड़ी श्रान्तरिक सूर्यादि मराडलों के बीच से होकर मुद्धा-पर्यंत चली गई है। इसलिये यह नाड़ी वाह्य सूर्यीद मण्डलों से भी सम्बद्ध है। यहां चित्त का निवास-स्थान है। जब योगी उसमें बुद्धि विषयक संयम करता है तत्र वह सात्विक ज्योति-खरूप श्राकाश-तुल्य भासता हुआ चित्त कभी सूर्य, कभी चन्द्र, कभी नच्चत्र, कभी मिए।प्रभा श्रादि रूप की श्राकृति वाला भान होता है। फिर उस बुद्धि सत्त्व का साचात्कार हो जाता है। यह ज्योतिस्वरूप बुद्धि सस्व का साज्ञात्कार ज्योतिब्मती प्रवृत्ति पद का वाच्य है। इसमें पूर्वोक्त सूर्याद अनेक विषय रहते हैं, इसलिये यह भी विषयवती है और सत्त्वगुरा-प्रधान होने से यह वृत्ति रजोगुण, तमोगुण सं रहित है। इसलिये विशोका कहलाती है।

इसी प्रकार श्रिस्पता में धारणा किया हुआ चित्ता जब निस्तरङ्ग समुद्र के तुस्य शान्त श्रीर श्रनन्त होकर सत्त्व-ध्रधान हो जाता है तब उस चित्त की दशा को श्रक्ष्मता-मात्र ज्योतिस्मती कहते हैं। इसी श्रस्मिता के विषय में पश्चशिखाचार्य का निम्म-लिखित सुत्र है:—

तमणुमात्रमात्मानमजुनिद्यास्मीत्येवं तावत्सम्मजानीते ।

अर्थ— उस अणुमात्र अस्मिता का धारणा-पूर्वक अनुभव 'हूँ' इस प्रकार आनता है। इन सब में से प्रथम निरूपित जो बुद्धि संवित् (बुद्धि साझात्कार-रूप प्रवृत्ति) है उसका नाम विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है । श्रौर दूसरी जो श्रारमता-स्वरूप चित्त की प्रवृत्ति है वह श्रारमता-मात्र ज्योतिष्मती कहलाती है । विशोका इन दोनों का विशेषण् है, क्योंकि शोक के कारण् रजोगुण् से ये दोनों शून्य हैं।

इन दोनों प्रवृत्तियों के उत्पन्न होने से भी योगी का चित्त स्थिति पद की योग्यता

प्राप्त कर लेता है।

संगति-मन के स्थिर करने का अन्य चौथा उपाय बतलाते हैं :--

वीतरागविषयं वा चित्तम् ॥३७॥

द्यार्थ्या वीतराग-विषयम् = राग-रहित यागियों के चित्त-विषयक संयम करने वाला। वा = श्रथवा। चित्तम् = चित्ता — (मन की स्थिति को बॉधने वाला होता है)।

अन्वयार्थ-- प्रथवा राग-रहित योगी गण के चित्त विषयक संयम करने वाला

(श्रालम्बन वाला) चित्त मन की स्थिति को बाँधने वाला होता है।

च्यास्या 'भनसः स्थितिनिबन्धिनी'—'मन की स्थित को बाँधने वाला होता है'— इतना मिलाने से सुत्र का खर्थ पुरा होता है।

जिन महान् योगियों ने विषयों की श्रीभलापा पूर्णतया छोड़ दी है, जिसके कारण उनके विचा से श्रीविद्यादि क्लेशों के संस्कार भिट गए हैं उनके चित्त का ध्यान करने वाले चित्त में भी वैसे ही सात्त्विक संस्कार उत्पन्न होते हैं श्रीर वह सुगभता से एकाम हो जाता है।

सूत्र का यह भी द्रार्थ निकल सकता है कि साधक यदि क्रमशः विषय राग रहित द्रावस्था को प्राप्त करके पूर्ण वैराग्य की भूमि पर पहुँच जाय सो भी मन की स्थिति को बांधने में समर्थ हो जाता है।

संगति-चित्त की एकाप्रता का अन्य पांचवां उपाय अगले सूत्र में बतलाते हैं :-

खप्निनद्राज्ञानालम्बनं वा ॥३८॥

दाव्यार्थ--स्वप्र-निद्रा-ज्ञात-श्रालम्बनम् = स्वप्रज्ञान श्रौर निद्राज्ञान को श्रालम्बन करने वाला। वा = श्रथवा (चित्त मन की स्थिति को बांधने वाला होता है)

अन्वयार्थ—श्रथवा स्वप्रज्ञान और निद्राज्ञान को त्राक्षय करने वाला चित्तं मन की स्थिति को बांधने वाला होता है।

ब्याख्या —'थित्तं मनसः खितिनिबन्धनम्'—चित्तं मन की खिति को बांधने वाला हाता है'—इतना मिलाने से सूत्र का श्रर्थ पूरा होता है।

जामत अवस्था में चित्त में रजोगुए प्रधान होता है, इस कारए। वृत्तियां बहिर्नुख होती हैं। स्वप्न में रजोगुए। बना रहता है परन्तु तमोगुए। से ऋ।च्छादित होता है, इस कारए। वृत्तियां अन्तर्गुख हो जाती हैं। निद्रा में तमोगुए। रजोगुए। को प्रधान-रूप से पूर्णतया दवा लेता है, इस कारए। उस समय केवल अभाव की प्रतीति कराने वाली वृत्ति रहती है। स्वप्न और निद्रा ज्ञान आलम्बन से यह श्रमिशाय है कि जिस शकार स्वप्न में तमोगुण के कारण वृत्तियां अन्तर्मुख होती हैं इसी प्रकार ध्यान की श्रवस्था में तम के स्थान पर
सत्त्वगुण से वृत्तियों को श्रन्तमुख करना चाहिये। और जिस श्रकार निद्रा में तमोगुण की
श्राधकता से श्रमाव की श्रतीति होती है उसी श्रकार सत्त्वगुण की प्रधानता से एकामता
उत्पन्न करनी चाहिये, जिससे वस्तु का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो। इस श्रकार स्वप्न और निद्रा के
ज्ञान का श्रालम्बन करने (सहारा लेने) से मन स्थिर हो जाता है।

इस सृत्र के यह द्रार्थ भी निकल सकते हैं कि जिस प्रकार कभी-कभी मनुष्य श्रन्छे सारिवक श्रीर मनोर ज़क स्वप्न के तथा गहरी सारिवक निद्रा के पश्चात् जागने पर भी कुछ समय तक यत्र-पूर्वक उसी श्रवस्था को बनाए रखता है, इसी प्रकार जामत श्रवस्था से भूले-जैसे होकर वृत्तियों को श्रन्तमुख करते रहने से चित्त एकाम हो जाता है।

टिप्पणी—सूत्र ३८—विज्ञानिभिक्षु ने सूत्र की व्याख्या निम्न १कार की है। स्वप्न हप जो जान उम श्रालम्बन वाला चित्त श्रायंत्र प्रश्ंच ज्ञान में स्वप्न दृष्टि वाला चित्त जैसा कि कहा है ''दीर्घम्वप्रसिमं विद्धि दीर्घवा चित्तविश्रमम्' इस प्रपंच को लम्बा स्वप्न जानो या लम्बा चित्त का श्रम समम्भो' यह दृष्टि कामदुघस्वादि गुणों से वाणी में घेतु दृष्टि के समःन है। ज्ञणभङ्गर श्रादि गुणों से जाग्रत ज्ञान में दृष्टि रूप है यह भी वैराग्य द्वारा चित्त की स्थिरता की कारण है यह श्राव्य है। निद्रा रूप ज्ञान ही है श्रालम्बन जिसका वह निद्रा ज्ञान श्रालम्बन चित्त स्थिर हो जाता है। विस्मृत रूप सब जीवों में सुपुन्न दृष्टि वाला चित्त स्थिर हो जाता है। जैसा कि कहा है—

ब्रह्मार्थं स्थानरान्तं च प्रमुप्तं यस्य मायया । तस्य विष्णो: मसारेन यदि कश्चित प्रमुच्यते ॥ चराचरं लय इव प्रमुप्तमिह पश्यताम् । किं मृषा व्यवहारेषु न विरक्तं भवेन्मनः ॥

ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त जिसकी माया से प्रसुप्त है उस विष्णु की कृपा से ही कोई मुक्त होता है। यहां इस चराचर को लय की भांति प्रसुप्त देखने वाले पुरुष का मन मिथ्या ब्यवहार में विरक्त क्यों न हो अर्थात् अवश्य हो जाता है।

संगति मनुष्यों की रुचियाँ भिन्न २ होने से जिस वस्तु में जिसकी अधिक रुचि होवे, उसी का वह ध्यान करें — अगले सूत्र में यह बतलाकर प्रवृत्ति के प्रकरण को समाप्त करते हैं।

यथाभिमतध्यानाद्वा। ३६ ॥

अर्थ—यथा-श्रभिमत-ध्यानात् - जिसको जो श्रभिमत हो उसके ध्यान से (मन की स्थिति वंध जाती है)। वा = श्रथवः।

अन्वयार्थ—स्थया जो जिसको स्थाभमत (इट) हो, उसके ध्यांन से मनकी स्थिति बंध जाती है। व्याख्या—मनुष्यों की भिन्न-भिन्न रुचियाँ होती हैं, इस कारण जिसकी जिसमें शास्त्रीय मर्यादानुसार सात्त्विक श्रद्धा हो, उसमें ध्यान लगाने से चित्त एकाप्र हो जाता है।

इस प्रकार जब चित्त में एकामता की योग्यता प्राप्त हो जावे तो उसको जहाँ चाहें लगा सकते हैं ॥ ३९ ॥

संगति — चित्त के एकाम करने के उपाय बतला कर अगले सूत्र में उनका फल बतलाते हैं।

परमाग्रपरममहस्वान्ताऽस्य वशीकारः ॥४०॥

अर्थ—परमाणु-परम-महत्त्व-खन्तः = परमाणु (सबसे बढ़ कर सूक्ष्म), और परम-महत्त्व (सबसे बढ़कर महान्), पदार्थों पर्यन्त । अस्य = पूर्वोक्त उपार्थों से शित हुए चित्त का । वज्ञीकारः ≔बज्ञीकार हो जाता है ।

अन्वयार्थ-पूर्वोक्त उपायों से स्थित हुए चित्त का सूक्ष्म पदार्थी में परमाणु पर्यन्त,

और महान् पदार्थों में परम-महान् (आकाश) पर्यन्त वशीकार हो जाता है।

व्याख्या—जब ऊपर बतलाए हुए उपायों से चित्त में एकाम होने की योग्यता प्राप्त हो जाती है, तब वह पूर्णत्या वश में हो जाता है और छोटे-से-छोटे तथा बड़े-से-बड़े विषय में बिना रुकावट के लगाया जा सकता है। फिर अन्य किसी उपाय की आवश्यकता नहीं रहती। सूक्ष्म विषयों की अवधि परमाणु है और बृहत् विषयों की अवधि आकाश है। जब इन दोनों में चित्त क्षित हो जाता है तब क्षिरता चित्त के वशी-त हो जाती है अर्थात् इच्छानुसार चित्त को स्थिर किया जा सकता है। इस प्रकार दोनों कोटियों में जाते हुए चित्त का जो रुकावट का न होना है वह चित्त का परम वशीकार कहलाता है। इस वशीकार से परिपूर्ण हुआ योगी का चित्त पुनः किसी अन्य अभ्यास-साध्य-स्थित-उपाय की अपेना नहीं करता।।४८।।

संगति—इस प्रकार इन उपायों द्वारा संस्कृत हुये चित्त की किस स्वरूप वाली, किस विषय वाली और कैसी समापत्ति होती है ?—यह बतलाते हैं:—

चीखरुत्तेरभिजातस्येव मखेग्रहीत्ग्रह्खग्राह्येषु तत्स्थतदंजनता समापत्तिः ॥४१॥

श्चर्ध — ज्ञांग-मृत्तेः = जिसकी राजस् तामस् मृत्तियां ज्ञीग् हो गई हैं (ऐसे स्वच्छ चित्त की)। श्रमिजातस्य-मग्णेः इव = उत्तम जाति (श्वति-निर्मल) स्फटिक मिण् के समान। महीनु = श्वस्मिता। महण् = इन्द्रिय। माह्येषु = स्थूल भृतादि पदार्थ तथा तन्मात्रा तक सुक्ष्म विषयों में। तत्थ्य = एकाम स्थित होकर। तदंजनता = उन्हीं के स्वरूप को प्राप्त होजाना। समापत्तिः = समापति (तदाकार होना) है।

श्रम्बयार्थ—राजस् नामस् वृत्ति रहित स्वन्छ चित्त की उत्तम् जातीय (ऋति-मिर्मल) मिण के समान महीता (श्रिसिता), महण (इन्द्रियें), माद्य (स्थूल तथा सुक्ष्म विषयों) में स्थित होकर उनके तन्मय हो जाना (उनके स्वरूप को शाप्त हो जाना) समापत्ति (तद्रप होना) है।

च्याच्या—यहाँ ऊपर बतलाए हुये उपायों से खच्छ हुए चित्त की उपमा अति-१७ १२९ निर्मल स्फाटिक व्यर्थात् विल्लोर से दी गई है। जिस प्रकार व्यति-निर्मल स्फाटिक के सामने जैसी वस्तु नीली, पीली, व्यथवा लाल वर्ण की रखी जावे तो वह वैसा ही प्रतीत होता है इसी प्रकार चित्त की जब सब प्रकार की राजम् तामस् वृत्तियें त्तीण हो जाती हैं तब वह सत्त्व के प्रकाश व्यौर सात्त्विकता के बढ़ने से इतना स्वच्छ हो जाता है कि उसको जिस वस्तु में लगावें उसके तदाकार होकर उसको सात्तात् करा देता है, चाहे वह प्राह्म व्यर्थात् स्थूल व्यथवा सूक्ष्म विषय हो, चाहे प्रह्मण व्यर्थात् स्थूल व्यथवा सूक्ष्म विषय हो, चाहे प्रह्मण व्यर्थात् व्यक्षिमता हो।

यह वस्तु का सान्नात् कराना इस प्रकार होता है कि वह उस वस्तु के स्वरूप को धारण कर लेता है। चित्त के इस प्रकार तदाकार (वस्तु-श्राकार) हो जाने का नाम समापत्ति श्राथीन सम्प्रज्ञात-समाधि है।

यद्यपि अनुष्ठान के कम से प्राद्य, प्रह्मण, प्रहील होना चाहिये था तथापि ध्येय की श्रीर समाधि की उत्कृष्टता-श्रपकृष्टता बतलाने के श्रमिशाय से प्रहील, प्रह्मण, प्राद्य; इस कम से सूत्र में इसको बतलाया गया है।

संगति-अब इस समापत्ति के चार भेद दिखलाते हैं:-

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितका समापत्तिः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ – तत्र = उन समापत्तियों में से। शब्द-श्रर्थ-हान-विकरपैः = शब्द, श्रर्थ, श्रीर झान के विकरपों से (भेदों से)। संकीर्णा = मिली हुई। सवितर्की-समापत्तिः = सवितर्क समापत्ति है।

अन्वयार्थ—उन समापत्तियों में से शब्द, अर्थ और ज्ञान विकल्पों (भेदों) से मिली हुई (अर्थात् इन तीनों भिन्न-भिन्न पदार्थों का अभेद रूप से जिसमें भान होता है) सर्वितर्क समापत्ति होती है।

ब्याख्या - शब्द जो कर्णेन्द्रिय से प्रहण किया जा सके, अथवा अर्थों के विशेष

योजना-रूप हो: जैसे शब्द 'गी'।

স্থৰ্থ: जाति স্থাदि जैसे 'गौ'—चार पाद, दो सींग, सास्ना श्रौर पुच्छ वाला

पशु-विशेष ।

ज्ञान: इन शब्द और अर्थ दोनों का प्रकाश करने वाली सत्त्वप्रधान बुद्धि वृत्ति जो शब्द 'गौ' और उसके अर्थ 'गौ' को मिलाकर बतलाती है कि जो 'गौ' शब्द है उसी का यह 'गौ' पशु-विशेष अर्थ है।

ये तीनों भिन्न हैं, परन्तु निरन्तर अभ्यास के कारण मिले हुए प्रतीत होते हैं। जब भी में चित्त को एकाप्र किया जावे तब समाधिस्थ चित्त में भी अर्थ भी शब्द और भी जान, के भेदों से वह भिला हुआ भासे अर्थात् जब इन तीनों में तदाकार रहे तब उस समापित को सवितर्क समापित कहेंगे। इसी को सविकल्प भी कहते हैं, क्योंकि इसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान, इन तीनों का विकल्प बना रहता है। जब शब्द

श्रीर झान का विकल्प (भेद) जाता रहे श्रीर केवल 'गी' श्रर्थ ही चित्त में भासता रहे तब वह निर्वितक (वितर्क-रिहत) समापत्ति कहलाती है।

इसको वितार-रूप से यों समभाना चाहिये कि 'गौ' ऐसा कहने से 'गौ-अर्थ', 'गौ-शब्द' और 'गौ-झान' तीनों अभिन्न भान होते हैं। इनमें यद्यपि उदान्त, अनुदान्त आदि धर्मवाला 'गौ' शब्द भिन्न है, 'गौ' शब्द का अर्थ सास्ता, श्रृङ्ग, पुच्छ आदि धर्म वाला पशु-विशेष भिन्न है और 'गौ' शब्द से जो ज्ञान होता है वह प्रकाश आदि धर्म वाला ज्ञान भी भिन्न है। इसी प्रकार घट-पट आदि शब्द, अर्थ और ज्ञान भिन्न-भिन्न ही होते हैं तथापि शब्द, अर्थ और ज्ञान का अभेद-सा भान होता है। इसलिए असत्य, अभेद-विषयक होने से यह भान विकल्प-रूप ही है। (११९)

जैसे कि 'गों' यह शब्द है; यह एक विकल्प है। यह विकल्प 'गों' इस ऋंश से गृहीत हुए अर्थ का और ज्ञान का शब्द से ऋभेद-विषयक है। इसी प्रकार 'गों' यह ऋथे हैं; यह दूसरा विकल्प है। ऐसे ही 'गों' यह ज्ञान है; यह तीसरा विकल्प है। यह विकल्प 'गों' इस

र्ञीश से गृहीत हुए शब्द का श्रीर अर्थ का ज्ञान से श्रभेद-विषयक है।

भाव यह है कि शब्द, अर्थ और ज्ञान; ये तीनों परस्पर भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु शब्द-सं^{वे}त की स्मृति से एक के ज्ञान होने से दूसरे दोनों का भी साथ ही भान होता है। इससे शब्द-ज्ञान-पूर्वक—इस शब्द, अर्थ, ज्ञान के असत्य अभेद-विषयक होने से यह ज्ञान विकल्परूप है।

इसलिये संकेत-स्मृति-पूर्वक स्थूलभूत ऋर्थ वा भौतिक पदार्थ में समाहित योगी के जो इन्दा, ऋर्थ और ज्ञान के विकल्प से मिश्रित समाधि होती है वह सवितके समापत्ति है।

त्रीर जब शब्द-संकेत की स्मृति के परित्याग-पूर्वक काथेरूप त्रागम श्रीर श्रवुमान-रूप विकल्प से रहित, जिस समाधि-श्रवशा में स्थूलभूत वा भौतिक रूप श्रथेमात्र काही भान होता है वह निर्वितक समापत्ति कहलाती है।

संकेत-स्पृति-पूर्वक सवितर्क-समाधि श्रवस्था में जो शब्द से श्रीर ज्ञान से भिश्रित स्थूलभूत श्रथवा भौतिक पदार्थ का प्रत्यत्त ज्ञान होता है उसको विकल्प होने से श्रप्रत्यत्त ही कहना चाहिये, क्योंकि शब्द-संकेत की स्पृतिपूर्वक जो ज्ञान होता है वह विकल्परूप ही होता है।

संकेत-स्पृति के परित्याग-पूर्वक निवितक समापत्ति अवस्था में शब्द से और ज्ञान से रहित जो अर्थमात्र का प्रत्यत्त होता है उसको पर-प्रत्यत्त कहते हैं। वह पर-प्रत्यत्त आगम-ज्ञान का श्रीर अनुमान-ज्ञान का बीज है, क्योंकि इस पर-प्रत्यत्त वे बल से ही योगीजन उपदेश करते हैं और उपदिष्ट अर्थ का अनुमान द्वारा निश्चय कराते हैं। जैसे महिष किपल, भगवान् पतः जिले, याज्ञवल्क्य आदि योगीश्वरों ने उसी पर-प्रत्यत्त के बल से शब्द संकेत के बोधन द्वारा शास्त्र-स्पृति आदि रूप प्रथम उपदेश किया था। इसलिये महिष किपल आदिक योगी-जनों का वह पर-प्रत्यत्त संकेत बोधन द्वारा आह्य-स्पृति आदि स्वर्ण प्रथम उपदेश किया था। इसलिये महिष किपल आदिक योगी-जनों का वह पर-प्रत्यत्त संकेत बोधन द्वारा आगमज्ञान का और अनुमान-ज्ञान का कार्या है।

श्रर्थोत् उस पर-प्रत्यत्त से श्रागम श्रीर श्रतुमान-ज्ञान उत्पन्न होते हैं। श्रागम श्रीर श्रतुमान-ज्ञान के प्रश्चात् पर-प्रत्यत्त नहीं होता, किन्तु उसके श्राप्रित श्रागम श्रीर श्रतुमान होता है। इसलिए योगी को निर्वितर्क-समाधि से उत्पन्न हुआ पर-प्रत्यन्न झान दूसरे प्रमार्गों से असम्बद्ध होता है।

संगति—इस निर्वितर्क समापत्ति का लक्षण श्रमले सूत्र में बतलाते हैं:— स्मृतिपरिशृद्धी स्वरूपशन्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥

राज्यार्थ—स्मृति-परिशुद्धी = स्मृति के शुद्ध हो जाने पर (श्रथोत् श्रागम, श्रनुमान, ज्ञान के कारणीभूत शब्द-संकेत-स्मरण के निवृत्त होने से)। स्वरूप-शृत्या-इव = स्वरूप से शृत्य-जैसी (श्रथात् अपने महण् श्राकार ज्ञानात्मक रूप से रहित चित्तवृत्ति)। श्रथमात्र-निर्भासा = श्रथमात्र से भासने वाली (श्रथोत् केवल माह्य-रूप श्रथमात्र को ही प्रकाश करने वाली)। निवित्तको = निवित्तक समापत्ति है।

अन्वयार्थ—स्मृति के झुद्ध हो जाने पर (, श्रधोत् श्रागम-श्रनुमान के कारणीभूत शब्द-संकेत-स्मरण् के निवृत्त होने से) श्रधेमात्र से भासने वाली श्रपने (प्रह्णाकार ज्ञानात्मक) रूप से रहित (चिरावृत्ति) निर्वितके समापिरा है ।

व्याख्या—'खरूपरृत्या इव' में 'इव' राब्द यह बतलाता है कि चित्त अपने प्रह्णा-त्मक खरूप से नितान्त शून्य नहीं हो जाता है, क्योंकि ऐसा होने पर अपने प्राह्म अर्थ के खरूप की धारणा नहीं कर सकता। वह अर्थ के प्राह्ममात्र खरूप में इतना तदाकार हो जाता है कि अपने प्रहणात्मक खरूप से शन्य-जैसा प्रतीत होता है।

सवितके समापित में चित्त में शब्द, अर्थ और ज्ञान; तीनों भासते रहते हैं। अर्थात् चित्त इन तीनों में तदाकार रहता है। जितनी एकामता बढ़ती जाती है उतनी ही बाह्यवृति अन्तर्भेख होती जाती है। जब एकामता इतनी सीमा तक पहुँच जावे कि शब्द और उस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है; इन दोनों की स्पृति भी न रहे और चित्त अपने प्रहिणात्मक खरूप से शृत्य-जैसा होकर उस बाह्य वस्तु के, जिसमें वह लगाया गया है, शब्द और ज्ञान से निखरे हुए केवल अपने निजी अर्थमात्र खरूप को साचात् करावे अर्थात् शब्द आर ज्ञान को छोड़कर केवल ध्येय-वस्तु के तदाकार हो जावे तो उस समापित्त को निवितक समापात्त कहते हैं। इसी का निर्विकल्प भी नाम है, क्योंकि इसमें शब्द और ज्ञान का विकल्प नहीं रहता।

विशेष विचार - सूत्र ४३ — सवितर्क समाशत्त से निर्वितर्क सुमापत्ति में भेद बोधक जो 'अथेमात्र निर्भासा' पद है उसके अर्थ को यां समकता चाहिये कि जैसे सवितर्क समापत्ति में माझण्येय पदार्थ का झान, ये तोनों विषय पदार्थ का झान, ये तोनों विषय चित्र में महार्यय पदार्थ का झान, ये तोनों विषय चित्र में वर्तमान रहत हैं वैसे निर्वितर्क समापत्ति में ये तीनों विषय चित्र में नहीं रहते हैं, क्योंकि इस दशा में केवल माझ (ध्येय) वस्तु-विषयक ही चित्र स्थिर रहता है, इच्च और झानविषयक नहीं रहता । इसलिये इसको 'अथेमात्र निभासा' कहते हैं, क्योंकि इस समापत्ति में शब्द, अर्थ, झान-रूप (त्रिपुटि-रूप) विकल्प का भाग न होकर केवल अर्थोकार से ही चित्र विद्यान रहता है।

यद्यपि इस व्यवस्था में महर्गाकार झानात्मक ित्तशृत्ति भी रहती है, परन्तु वह व्यपने

रूप से भान नहीं होती है किन्तु ध्येयरूप ही हो जाती है; इसलिये 'स्वरूपशून्या इव' में यह 'इव' पद दिया है।

शब्द और ज्ञान भान न होकर केवल अथे का ही भान क्यों होता है ? इसमें हेतु दिखलाने के लिये 'स्मृति परिशुद्धी' यह पद प्रयोग किया है, अर्थान् यदि विकल्पात्मक आगम-अनुमान ज्ञान के कारणीभूत शब्द-संकेत का स्मरण इममें रहता तो शब्द और ज्ञान का भी भान होता। परन्तु वह स्मरण इस दशा में नहीं रहता; क्योंकि उसकी इस दशा में परिशुद्धि (निवृत्ति) होगई है। इसलिये शब्द और ज्ञान का भान न होकर केवल स्थूल 'गौ' 'घटादि' पदार्थों के सकरप का ही भान होता है, अन्य का नहीं।

संगति—इस प्रकार स्थूलभूत तथा भौतिक पदार्थ-विषयक प्राद्ध समापत्ति के सवितर्क निवितक-रूप दो भेद निरूपण करके अगले सूत्र में सूक्ष्म पदार्थ विषयक समापत्ति

के सविचार-निर्विचार दो भेद निरूपण करते हैं:-

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूच्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ — एतया-एव = इस सवितर्क निर्वितर्क समापत्ति ही के निरूपण से । सविचारा-निर्विचारा-च = सविचार श्रीर निर्विचार समापत्ति भी । सूक्ष्म-विषया = सूक्ष्म विषय में । व्याख्याता व्याख्यान की हुई सममन्ती चाहिये ।

अन्वयार्थ-इस सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति के निरूपण से हा सविचार श्रीर

निर्विचार समापत्तियाँ सूक्ष्म विषय में व्याख्यान की हुई समभानी चाहियें।

व्याख्या—जब ध्येय कोई सूक्ष्म विषय हो और चित्त उसके देश, काल और निर्मित्त के विचार से मिला हुआ तद्रूप होकर उसको साज्ञात् करावे तब वह सविचार समापत्ति कहलाती है; और चित्त जब एकाप्रता के बढ़ने पर देश, काल और निर्मित्त आदि की स्मृति

टिप्पणि—सूत्र ४३:—यहाँ प्रसङ्ग से भाष्यकारों ने यह भी वतलाया है कि इस निर्वितके समापत्ति के विषयभूत जो स्थूल 'गी' 'घटादि' पदार्थ हैं वे न तो†अणु-समुदाय रूप हैं, न ज्ञानस्वरूप हैं और + न अणुओं से उत्पन्न भिन्न काथेस्वरूप हैं। क्ष किन्तु 'यह घट है' इस एकबुढि के उत्पन्न करने वाले अणुओं का स्थूल परिणाम-विशेष है।

† वैभाषिक सौत्रान्तिक संज्ञक बौद्ध-मत वालों का सिद्धान्त है कि जितने स्थूल घट आदि पदार्थ दृष्टिगोचर हो रहे हैं वे श्रनन्त परमाणु ही मिले हुए हैं; परमाणुश्रों का कार्य वा परिणाम घटादि नहीं है, श्रतः परमाणु-पुष्तु ही घट है; इस सिद्धान्त को संघातवाद कहते हैं।

‡ योगाचार-संज्ञक विज्ञानवादी बौद्धों का मत है कि यह सब घट आदि विज्ञान-

स्वरूप हैं।

+नैयायिक तथा वैशेषिक यह मानते हैं कि ऋणुओं से द्वयणुक, द्वयणुक से श्रसरेणु इत्यादि प्रकार से परमाणु श्रादि का कार्य घट है; इस सिद्धान्त का नाम श्रारम्भवाद है।

+ इन तीनों से भिन्न सांख्य-योग का सिद्धान्त परिणामवाद है जिसको यहाँ सिद्ध किया गया है। से शुद्ध होकर उस सूक्ष्म विषय को देवल धर्मिमात्र खरूप से तदाकार होकर प्रकाश करे तब वह निर्विचार समापत्ति कहलाती है।

अर्थात् जैसे स्थूलभूत वा भौतिक पदार्थों में शब्द, अर्थ, ज्ञान के विकल्प से संकीर्ण (मिश्रित) सिवतक समापित होती है वैसे ही देश, काल, रूप विशेषणों से अनुभव-पूर्वक सूक्ष्मभूत परमाणुओं में जो शब्द, अर्थ, ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित समापित है वह सिवचार समापित कहलाती है। अर्थात् अपर-नीचे आदि जो देश, वर्त्तमान आदि काल, और कार्य्यकार एव्हप जो ज्ञान है, जैसे पार्थिव परमाणु (सूक्ष्म पृथ्वी) का गन्धतन्मात्र-प्रधान पश्चतन्मात्र कारण् है; जल परमाणु (सूक्ष्म जल) का गन्धतन्मात्र-रिहत रसतन्मात्र-प्रधान चार तन्मात्र कारण् हैं; अप्रि परमाणु (सूक्ष्म अप्रि) का गन्ध, रसतन्मात्र रिहत रूपतन्मात्र-प्रधान तीन तन्मात्राण् कारण् हैं। एवं वायु परमाणु (सूक्ष्म वायु) का गन्ध, रस, रूपतन्मात्र रिहत स्पर्तन मात्र रहित स्पर्तन मात्र ही कारण् हैं।

ऐसे देश-काल श्रौर कार्य-कारण श्रतुभव-पूर्वक जो सूक्ष्म-तन्मात्राश्रों में सवितर्क समापत्ति के सदश शब्द, श्रर्थ, ज्ञान के विकल्पों से मिश्रित सैमापत्ति होती है वह सविचार समापत्ति है।

श्रीर देश-काल, कार्य-कारणु-रूप विशेषणों के श्रमुभव के त्यागपूर्वक श्रीर विकल्प ज्ञान की कारण शब्द संकेत की भ्यति से परिशुद्ध हुए सूक्ष्मभूत परमाणुरूप श्र्यमात्र-विषयक जो समापत्ति स्वरूप से शून्य-जैसी श्रथमात्र के रूप में भासमान (प्रकाशमान) होती है वह निर्विचार समापत्ति कहलाती है।

इस निर्विचार समापरि में भी निर्वितक समापरि के समान प्रज्ञा-संज्ञक चित्त की वृत्ति स्वरूप से गुन्य-जैसी होकर अर्थमात्र से भासती है।

भाव यह है कि सविचार समापत्ति में (सूक्ष्म पृथ्वी गन्धतन्मात्र-प्रधान पश्चतन्मान् त्राष्ट्रों से उत्पन्न हुई है श्रीर गन्ध इसका धर्म है) इत्यादि प्रकार से कार्य-कारण भाव का विचार विद्यामान रहता है श्रीर निर्विचार में केवल सूक्ष्मभूतों का ही भान होता है, पूर्वोक्त विचार नहीं होता। यही इन दोनों में भेद है।

इस प्रकार स्थूल पदाये-विषयक सवितर्क-निर्वितर्क और सूक्ष्म पदार्थ-विषयक सविचार निर्विचार-रूप भेद से यह समापत्ति चार प्रकार की है।

टिप्पणी सूत्र ४४:-समापति श्रीर सम्प्रज्ञात-समाधि पर्यायवाचक शब्द हैं।

सवितर्क-समाधि के समान सविचार समापत्ति को भी नाम (शब्द), रूप (अर्थ) और ज्ञान के विकल्पों से संयुक्त होने के कारण सविकल्प कहते हैं। इसी प्रकार निविचार समाधि को, जिसमें स्मृति के परिशुद्ध होने पर अर्थान् शब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पों से विचायित होकर केवल अर्थमात्र से भासती है निर्विकल्प भी कहते हैं। निविकल्प को असम्बद्ध समाधि समाधि समक्त लेना बड़ी भूत है, क्योंकि निर्विकल्प में यद्यपि त्रिपृष्टि का अभाव

होता है तथापि संसार का बीज बना ही रहता है श्रौर असन्प्रज्ञात समाधि में शुद्ध परमात्म-स्वरूप में श्रवस्थिति होती है।

ध्यान, सवितर्क तथा सविचार-समापत्ति और समाघि में भेद

ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटि बनी रहती है।

सवितर्क और सविचार समापत्ति में केवल ध्यान-विषयक ही शब्द, द्यर्थ से ज्ञान मिला हुत्र्या विकल्प रहता है।

समाधि में केवल ध्येय का स्वरूप-मात्र ही रह जाता है।

श्रत: सवितर्क और सविचार समापत्ति ध्यान से उत्तर एवं समाधि की पूर्व श्रवस्था है। इसे तटस्थ समापत्ति भी कहते हैं; इसलिये इसे भी समाधि समफा जाता है। संगति – सूक्ष्म विषय कहाँ तक हैं, यह श्रगले सूत्र में बतलाते हैं:—

म्रच्यविषयत्वं चालिंगपर्यवसानम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ - सूक्ष्म-विषयत्वं-च = श्रीर सूक्ष्म-विषयता । श्रलिंग-पर्यवासनम् = किसी में लीन न होने वाली श्रथवा लिंग रहित मूल-प्रकृति (गुर्गो की साम्यावस्था) पर्यन्त है ।

अन्वयार्थ-सूक्ष्मविषयता ऋतिङ्ग प्रकृति-पर्यन्त है।

ब्याख्या—सूक्ष्म—विषय जो सविचार श्रौर निर्विचार समापत्ति में बतलाये हैं उनकी सुक्ष्मविषयता परमाणुर्श्नों में समाप्त नहीं हो जाती किन्तु प्रकृति-पर्यन्त है।

अर्थात्†पार्थिव-परमाणु तथा इसका कारणीभूत गन्धतन्मात्रा, जल-परमाणु तथा इसका कारणीभूत 'रसतन्मात्रा, अग्नि-परमाणु तथा इसका कारणीभूत 'रसतन्मात्रा, अग्नि-परमाणु तथा इसका कारणीभूत स्पर्ततन्मात्रा, वायु-परमाणु तथा इसका कारणीभूत स्पर्शतन्मात्रा, आकाश-परमाणु तथा इसका कारणीभूत शब्दतन्मात्रा, एवं पश्चतन्मात्राओं का कारणीभूत अहङ्कार, अहङ्कार का कारणीभूत लिङ्ग-संज्ञक महत्तत्व और महत्तत्त्व का कारण ‡ श्रालिङ्ग-संज्ञक प्रश्नति; ये सब सूक्ष्म विषयों के अन्तर्गत हैं।

इन सबमें से पूर्व-पूर्व कार्य की ऋषेता से उत्तर-उत्तर कारणीभृत सूक्ष्म हैं। प्रकृति से परे अन्य किसी सूक्ष्म पदार्थ के न होने से श्रकृति में ही सूक्ष्मता की पराकाष्टा है।

† टिप्पणी सूत्र ४५: - इन्द्र, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध; इन पाँच तन्मात्राद्यों से प्रथम श्राकाश, वायु, श्राप्त, जल, पृथ्वी संज्ञक सूक्ष्मभूत उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् सूक्ष्म ्रतों से आकाशादि स्थूलभूत उत्पन्न होते हैं। पाचों स्थूल भूतों से लेकर पाचों तन्मात्राद्यों तक सूक्ष्म भूतों की समता का तारतम्य चला गया है।

्री जो तत्त्व कार्ए में लीन हो जाता है अथवा कारण का बोधन करता है वह लिङ्ग कहलाता है। अर्थात् स्थूल-मूत और इन्द्रियां विशिष्टलिङ्ग हैं, सुक्ष्म-भूत तन्मात्रायें और अहंकार अविशिष्ट-लिङ्ग हैं और महत्तरव केवललिङ्गमात्र है, ये महत्तरव आदि अपने-अपने कारण में लीन होने से और अपने कारण प्रधान को बोधन करने से लिङ्ग हैं। प्रधान-प्रकृति किसी में लीन न होने रे और किसी कारण को बोधन न करने से अलिङ्ग है।

यशपि 'श्वन्यकारपुरुषः परः' इस श्रृति से प्रकृति की श्वपेता पुरुष सूक्ष्म है तथापि पुरुष के श्रश्राह्म और चेतन होने से उसकी सुक्ष्मता जड़तत्त्व की सुक्ष्मता से बिलन्नण है ।

श्रधात जैसे महत्तत्त्व की श्रपेता से प्रकृति में सूक्ष्मता है वैसी पुरुष में नहीं, क्योंकि जिस प्रकार महत्तत्त्व का प्रकृति उपादान कारण है वैसा पुरुष उपादान कारण नहीं है, किन्तु निमित्त-कारण है। इसलिये यथिप वस्तुतः पुरुष ही सूक्ष्मतम है तथापि जङ्गाझ, परिणामी-उपादान-कारण-सहित सूक्ष्मता की विश्रान्ति यहाँ प्रकृति में बतलाई गई है।

सूक्ष्मभूतों से लेकर प्रकृति-पर्यन्त जितने सूक्ष्म पदार्थ हैं वे सब विचार समापत्ति के विषय हैं। इसलिये खानन्दानुगत श्रीर श्रास्मितानुगत निर्विचार समापत्ति की प्रहृण् श्रीर प्रहीता-रूप उचतर तथा उचतम श्रवस्थाएं हैं।

सूक्ष्मता किसी नये तस्त्र के उपादान कारण होने की श्रपेता से बतलाई गई है इस लिये पांच स्थूल भूत श्रौर ११ इन्द्रियें किसी नये तस्त्र के उपादान कारण न होने से स्थूल विषय माने गये हैं।

संगति - ये चारों समापत्तियाँ सबीज-समाधि हैं; यह बतलाते हैं:-

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

राष्ट्रार्थ—ता-एव ≕ ये पूर्वोक्त चारों समापत्तियाँ ही । सबीजः रुमाधिः ≕ सबीज समाधि कहलाती हैं ।

अन्वयार्थ-ये पूर्वीक चारों समापत्तियाँ ही सबीज-समाधि कहलाती हैं।

व्याख्या—बाह्य श्रनात्म वस्तु श्रर्थात् कार्य-सहित प्रकृति जो प्राह्म, प्रहृत्य श्रीर प्रहीत-रूप टरयवर्ग है इसी का नाम बीज तथा श्रालम्बन (श्राश्रय) है। इसिलये इसको लेकर होनेवाली समाधि का नाम सबीज, सालम्बन तथा सम्प्रज्ञात है।

उपरोक्त चारों समापत्तियाँ सबीज-समाधि कहलाती हैं, क्योंकि सवितर्क और निर्वितर्क समापत्ति तो स्थूल प्राह्म वस्तु के बीज सहित (श्रालम्बन सहित ≕श्राश्रय सहित) होती हैं; और सविचार तथा निर्विचार सूक्ष्म प्राह्म वस्तु के बीज सहित (श्रालम्बन सहित) होती हैं ।

सत्रहवें सूत्र में बतलाई हुई श्रानन्दानुगत प्रह्मा-रूप और श्रास्मतानुगत प्रहीतृरूप दोनों समाधियाँ निर्विचार समापत्ति के क्रम से उचतर श्रीर उचतम श्रवस्थाओं के रूप से निर्विचार समापत्ति के ही श्रन्तर्गत इस सूत्र में कर दी गई हैं। निर्विचार की इन दोनों उचतर और उचतम श्रवस्थाओं का पृथक्-पृथक् रूप से सम्मिलित करने से सबीज-समाधि के छ: भेद होते हैं:—

- (१) सवितर्क समापत्ति : स्यूल पदार्थों में शब्द, ऋर्य और झान के विकल्पों से युक्त भासने वाली चित्तवृत्ति ।
- (२) निर्वितर्क: स्थूल पदार्थों में शब्द (नाम) खर्थ (रूप) और ज्ञान के विकल्पों से रिहेत खरूप से ग्रून्य-जैसी केवल अर्थमात्र से भासने वाली चित्तवृत्ति।

(३) सिवचार: सूक्ष्म विषयों में देश-काल ब्यौर निमित्त (धर्म) के विकल्पों से युक्त भासने वाली चित्तवृत्ति।

(४) निर्विचार : सूक्ष्म विषयों में देश-काल और निमित्त (धर्म) के विकल्पों से

रहित केवल धर्मीमात्र से भासने वाली चित्तवृत्ति ।

(५) निर्विचार की उन्नतर अवस्था ज्यानन्दानुगत : सत्त्व-प्रधान श्रदङ्कार की ''श्रहं श्रक्षिम'' से भासने वाली वित्तवृत्ति ।

(६) निर्विचार की उच्चतम अवस्था अस्मितानुगः बीजरूप श्रहङ्कार सिंहत चेतन से प्रतिबिस्तित चिरा. 'अस्मिता' की अर्द्धकार रहित 'अस्मि' से भासने वाली चित्तवृत्ति ।

विशेष वक्तव्य-सूत्र ४६: — वाचस्पति सिश्र ने आनन्दानुगत और अस्मितानुगत के भी दो-दो अवान्तर भेद करके सबीज-समाधि के आठ भेद बतलाये हैं। उनका कथन है कि 'ता एव सबीजः' इस पाठ से यह अर्थ न लेना चिह्नये कि यही चार सबीज-समाधि हैं, अन्य नहीं; क्योंकि ऐसा मानने से प्रहण और प्रहीन समापित्त का सबीजत्व का लाभ नहीं हो सकेगा, किन्तु 'ता सबीज एव' इस प्रकार भिन्न कम से 'एव' शब्द का सबीज शहुद के साथ अन्वय करके यह अर्थ करना चाहिये कि चारों सबीज ही हैं, निर्वीज नहीं हैं।

इस प्रकार इन चारों के निर्वीजल का निषेध हुआ है। प्रहाण और प्रहीत समापत्ति के सवीजल का निषेध नहीं हुआ है। इसलिये इन दोनों में भी सवीजल की विद्यमानता से

प्रहण्-प्रहीतृ समापत्तियों को भी सबीज जानना चाहिये।

जैसे ब्राह्म समापित्त में विकर्प श्रीर विकरण के श्रभाव से दोन्दों भेद निरूपण् किये गए हैं वैसे ही ब्रह्मण् श्रीर ब्रह्मत्त समापित्त में भी दोन्दों भेद जान लेना चाहिये। श्रर्थात् प्रह्मण् नाम श्रोत्र श्राह्म इत्त्रियों का है। श्रन्य श्रोत्र का विषय है श्रीर श्रह्मार इसका कारण् है। इस प्रकार विचारपृवेक भावना करने से सविचार ब्रह्मण् समापित्त श्रीर केवल इत्त्रियमात्र की भावना करने से निर्विचार ब्रह्मण समापित्त, एवं 'महत्त्रत्व का कार्य श्रह्मार त्रिगुणात्मक है' इस प्रकार भावना करने से सविचार प्रहृत्य समापित्त श्रीर केवल श्रह्मार त्रिगुणात्मक करने से निर्विचार ब्रह्मार समापित्त जानना चाहिये।

श्रतः चार प्रकार की प्राह्म समापत्ति, दो प्रकार की प्रह्मा समापत्ति, श्रीर दो प्रकार की प्रहीत समापत्तिः ये सब मिलकर सबीजनसमाधि के श्राठ भेद हुए।

विज्ञानभिक्ष ने सबीज-समाधि के छः भेद दिखलाये हैं:-

सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार, श्रीर निर्विचार के अन्तर्गत उसकी दो ऊँची अवस्थाएँ: आनन्दात्त्रगत और अस्मितात्रगत।

यही मूलसूत्र व्यासभाग्य तथा अनुभव के आधार पर ठीक प्रतीत होता, है क्योंकि केवल सवितर्क और सविचार समापित्त शब्द, अर्थ और ज्ञान अथवा देश-काल और निर्मिश से युक्त होती हैं, न कि निर्वितर्क और निर्विचार। फिर निर्विचार की उत्कृष्ट भूमियों आनन्दानुगत और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात में उपरोक्त विकल्पों की सम्भावना कैसे हो सकती है ? आनन्दानुगत में तन्मात्राओं के कारण अङ्कार की केवल 'आई अस्मि' वृश्ति रहती है और अस्मितानुगत में अहंकार के कारण अस्मिता की अहंकार से रहित केवल

'श्रस्मि' वृत्ति रहती है। इसलिये वितर्क श्रीर विचार-जैसे श्रानन्द श्रीर श्रस्मिता समापत्ति के दो-दो भेद नहीं किये जा सकते।

संगति—िर्निर्वचार समापत्ति इन चारों में सबसे बढ़कर है; उसका फल अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥

द्मार्व्यार्थ— निर्विचार-वैद्यारये = निर्विचार की वैद्यारय = प्रवीग्ता = निर्मल होने पर। श्रद्धात्म-प्रसाद: = श्रद्धात्म (प्रज्ञा) की निर्मलता होती है।

अन्वयार्थ — निर्विचार समाधि की वैशारद्य (प्रवीग्गता) होने पर ऋष्यात्म (प्रज्ञा) की निर्मलता होती हैं ।

व्याख्या — चैशारच — "स्वच्छः स्थितिप्रवाहो — वैशारद्यप्" = शुद्ध स्थिति का प्रवाह वैशारद्य कहलाता है ।

अध्यात्म—"श्रात्मिन बुद्धौ वर्तत इत्यध्यात्म" जब श्रात्मा बुद्धि में स्थित रहता है वह श्रध्यात्म है।

प्रसाद - प्रसन्नताः निर्मलता ।

अध्यात्म-प्रसाद — जब बुद्धि में प्रसन्नता निर्मलता रहती है वह अध्यात्म प्रसाद है। निर्विचार समाधि की उच्चतम अवस्था में रज-तम-रूप मल श्रीर श्रावरण का त्वय होने पर काशस्वरूप बुद्धि का सत्त्वगुण की प्रधानता से रजस्-तमस् से अनिभभूत (श्राविरस्कृत) स्वच्छ स्थिरता-रूप एकाम-प्रवाह निरन्तर बहता रहता है। इसी का नाम वैशारण है। इससे योगी को प्रकृति-पर्यन्त सव पदार्थों का एक ही काल में साल्लात्कार हो जाता है। इस साल्वान्तकार का नाम अध्यात्म-प्रसाद है इसी का स्कृट-प्रज्ञा-लोक तथा प्रज्ञा-प्रसाद भी कहते हैं। श्री व्यासजी महाराज इस अवस्था का वर्णन इस प्रकार करते हैं:—

मद्वापसादपारुद्वाशोच्यः शोचतो जनान् । भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् माद्वोऽज्ञुपश्यति ॥

अर्थ—श्रज्ञारूपी शासाद (महल-अटारी) पर चढ़कर शोकरहित श्राज्ञ (योगी) शोक में पड़े जनों को ऐसे देखता है जैसे पहाड़ की चोटी पर खड़ा मनुष्य नीचे पृथ्वी पर खड़े मनुष्य नीचे पृथ्वी पर खड़े मनुष्य नीचे पृथ्वी पर खड़े मनुष्यों को देखता है। (यहाँ निर्विचार के अन्तर्गत ही आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भृमियें आगई हैं।)

संगति—श्रष्यात्म-प्रासाद से जिस प्रज्ञा (बुद्धि) का योगी कं लाभ होता है उसका साधक नाम श्रगले सूत्र में बतलाते हैं:—

ऋतम्भरा तत्र प्रद्या ।। ४८ ।।

शब्दार्थ-ऋतम्भरा = सम्राई को धारण करने वाली, श्रविद्यादि से रहित। तन्न = उस श्रध्यात्म-प्रसाद के लाभ होने पर। प्रज्ञा = बुद्धि श्रर्थात् ज्ञान (उत्पन्न) होता है। होती है उसका नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा (सचाई को धारण करनेवाली अविद्यादि से रहित बुद्धि) है।

व्याख्या—िनिर्वेचार समाधि की विद्यारदता से जन्य अध्यात्म-प्रसाद के होने पर जो समाहित-चित्त योगी की प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसका नाम ऋतम्भरा-प्रज्ञा है। यह उसका यथार्थ नाम है। क्योंकि 'ऋत' नाम सत्य का है और 'भरा' के अर्थ धारण करने वाली के हैं। अर्थात् यह प्रज्ञा सत्य ही को धारण करने वाली होती है; इसमें आन्ति, विपर्यय-ज्ञान अर्थात् अविद्यादि का गन्ध भी नहीं होता।

इस प्रज्ञा के होने से ही उत्तम योग का लाभ होता है, जैसा कि श्री व्यासजी ने

कहा है:-

भागमेनातुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च । त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

अर्थ- वेदविहित श्रवण से, श्रनुमान (मनन) से, श्रीर ध्यानाभ्यास में श्रादर (निदिध्यासन) से, तीन प्रकार से प्रज्ञा का सम्पादन करता हुश्रा योगी उत्तम योग को प्राप्त करता है।

स्वाति—श्राले सूत्र में श्रागम श्रौर श्रनुमान-जन्य ज्ञान से ऋतम्भरा-प्रज्ञा-जन्य प्रत्यसु-ज्ञान की श्रेष्ठता बतलाते हैं :—

श्रुतानुपानपद्गाभ्यापन्यविषया विशेषार्थेत्वात् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थे — श्रुत-अनुमान-प्रज्ञाभ्याम् = आगम और अनुमान की प्रज्ञा से । अन्य-विषया = इस ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय ऋलग है । विरोष-अर्थत्वात् = विरोष-रूप से अर्थ का साज्ञातकार करने से ।

अन्ययार्थ--त्र्यागम और त्रजुमान की प्रज्ञा से ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय त्रज्ञा है विशेष-रूप से त्र्यर्थ का सालात्कार कराने से ।

ज्यास्या—पदार्थ के दो रूप होते हैं: एक सामान्य, दूसरा विशेष । सामान्य वह है जो उस प्रकार के सब पदार्थों में पाया जाता है; और विशेष वह है जो अत्येक व्यक्ति का अपना अपना रूप है, जिससे एक ही प्रकार के पदार्थों में भी एक-दूसरे से भेद हो सकता है। आगम-जन्य ज्ञान बस्तु के सामान्य रूप को ही विषय करता है, विशेष रूप को नहीं, क्योंकि विशेष के साथ शब्द का वाच्य-वाचक-भाव सम्बन्ध नहीं होता है। शास्त्र ने जिस वस्तु के साथ शब्द का संकेत किया है, उस वस्तु को वह शब्द सामान्य रूप से ही बोधन करता है, न कि विशेष रूप से। गो, धुतादि शब्दों के सुनने से गो, धुतादि का सामान्य ज्ञान होता है, क्यक्तिवशेष गो, धुतादि का विशेष ज्ञान नहीं होता।

इसी प्रकार खनुमान भी सामान्य रूप से वस्तु का ज्ञान उत्पन्न कराता है, विशेष रूप से नहीं, क्योंकि खनुमान में लिङ्ग से लिङ्गी का ज्ञान होता है। जहीं लिङ्ग की प्राप्ति नहीं वहाँ अनुमाव नहीं हो सकता, जैसे 'जहाँ धूम है वहाँ खग्नि है, जहाँ प्राप्ति है वहाँ गति है, जहाँ गति का खभाव है वहाँ प्राप्ति का खभाव है'। केवल प्रत्यच्-प्रमाण ही वस्तु के विशेष छप को दिखलाने में समर्थ होता है, किंतु इन्द्रिय-जन्य प्रत्यच्-ज्ञान भी स्थूल वस्तुओं के ही प्रत्यच्न रूप को दिखला सकता है, न कि सुक्ष्म, व्यवहित और विश्वष्ट अतीन्द्रिय पदार्थों को। पञ्चतन्मात्राएँ, ब्रहङ्कार, महरास्त, प्रकृति, पुरुष खादि सुक्ष्म पदार्थों में प्रत्यच्च की भी पहुँच नहीं है। ब्यागम और अनुमान से इनके सामान्य रूप का ही पता लग सकता है, वे इनके विशेष रूप को नहीं बतला सकते।

निर्विचार समाधि की विशारदता में होने वाली ऋतम्भरा प्रज्ञा से ही इन सूक्ष्म पदार्थों के विशेष रूप का सालात्कार हो सकता है, अन्य किसी प्रमाण से नहीं। अतएव यह प्रज्ञा विशेष विषयक होने से श्रुत-अनुमान प्रज्ञा से अन्य और उत्कृष्ट है। यही परम प्रत्यन्त है। यह श्रुत और अनुमान का बीज है, अर्थात् श्रुत और अनुमान इसके आश्रय हैं, न कि यह उनके। वस्तु के इस यथार्थ स्वरूप को ही आगम बतलाता है और इसी का अनुमान किया जाता है। यहां ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्रसंख्यान अर्थात् विवेक ख्याति के तुल्य सममना चाहिये।

संगति -इस प्रज्ञा का फल अगले सूत्र में बतलाते हैं:-

तङ्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारपतिबन्धी ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—तत्-नः = उस ऋतस्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला । संस्कारः = संस्कार। श्रन्य-संस्कार-प्रतिबन्धी = दूसरे (सब व्युत्थान के) संस्कारों का प्रतिबन्धक (रोकनेवाला) र होता है ।

अन्वयार्थ – उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने वाला संस्कार श्रन्य सब व्युत्थान के संस्कारों का वाधक (रोकने वाला) होता है।

व्याख्यान—समाधि से पूर्व चित्त केवल व्युत्थान के संस्कारों से ही संस्कृत होता है। फिर जब समाधि की अवस्था में जो उसको अनुभव होता है उसके भी संस्कार पढ़ते हैं। ये संस्कार व्युत्थान के संस्कारों से बलवान होते हैं, क्योंकि समाधि-प्रज्ञा व्युत्थान की प्रज्ञा से अधिक निर्मल होता है। उसकी निर्मलता में पदार्थ का तत्त्व अनुभव होता है। जितना तत्त्व का अज्ञुभव होता है उतने ही उसकी संस्कार प्रवल होते हैं। इन संस्कारों की प्रवलता से फिर समाधि-प्रज्ञा होती है। इस समाधि-प्रज्ञा से उत्पन्न हुए संस्कार व्युत्थान के संस्कारों और वासनाओं को हटाते हैं। व्युत्थान के संस्कारों के दवने से उनसे उत्पन्न होने वाली वृत्तियों भी दव जाती हैं। उन वृत्तियों के निरोध होने पर समाधि उत्पन्न होती है। इससे समाधि प्रज्ञा, समाधि प्रज्ञा से फिर समाधि प्रज्ञा से फिर समाधि प्रज्ञा से कि तिरोध होने पर समाधि उत्पन्न होती है। इससे समाधि प्रज्ञा, समाधि प्रज्ञा से कि तिरोध होने पर समाधि उत्पन्न होती है। इससे समाधि स्वा, समाधि प्रज्ञा से कि निर्विचार समाधि से ऋत-मरा प्रज्ञा का लाभ होता है। उस प्रज्ञा से निरोध-संस्कार होता है, निरोध-संस्कार से फिर ऋत-भरा प्रज्ञा का प्रकर्ष। उस प्रज्ञा से फिर निरोध-संस्कार का प्रकर्ष। इस प्रकार लगातार क्र के से निरोध के संस्कार पुष्ट हो-होकर व्युत्थान के संस्कारों को सर्वथा रोक हेते हैं।

दांका - जब समाधि-प्रज्ञा-जन्य संस्कार विद्यमान ही रहते हैं तो वे संस्कार चित्त को

अधिकार-विशिष्ट क्यों नहीं करते; क्योंकि जो चित्त वासना-जन्ति संस्कारों से युक्त होता है वह चित्त जन्मादि दु:ख देने की योग्यता वाला होने से अधिकार-विशिष्ट कहा जाता है।

समाधान यथिप संस्कार विद्यमान रहते हैं तथापि वे संस्कार क्लेशचय के हेतु होने से चित्त को अधिकार-विशिष्ट नहीं करते; प्रत्युत चित को अधिकार से रहित करते हैं, क्योंकि जो संस्कार क्लेशादि वासना से उत्पन्न होते हैं वे ही संस्कार चित को अधिकार-विशिष्ट करते हैं, न कि ऋतम्भरा प्रज्ञा-जन्य।

भाव यह है कि चित का दो कार्यों में श्रधिकार है; एक शब्द-रूप-रसादि विषयों का पुरुष को भोग देना, दूसरा विवेकख्याति उत्पन्न करना । उनमें भोग-हेनु क्लेशादि वासना-जित संस्कार-विशिष्ट चित्ता भोगादि श्रधिकार वाला होता है; और समाधि-जन्य संस्कार से क्लेश-संस्कार रहित हुआ चित विवेक-ख्याति श्रधिकार वाला कहा जाता है। इन दोनों में से पहिला ही श्रधिकार-भोग का हेनु है, न कि दूसरा।

विवेक-ख्याति के उदय होने से भोगाधिकार की समाप्ति हो जाती है, क्योंकि विवेक-ख्याति के उत्पादन-पर्यन्त ही चित्त की चेष्टा रहती है, इसके पश्चात् नहीं रहती।

संगति — सवीज-समाधि का सबसे ऊँची चोटी तक वर्णन करके श्रव निर्वीज-समाधि को बतलाते हैं:—

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधानिर्वीनः समाधिः ॥ ५१॥

श्रव्यार्थ—तस्य = (पर-वैराग्य द्वारा) उस ऋतम्भरा श्रहा-जन्य संस्कार के । श्रिप = भी । निरोधे = निरोध हो जाने पर । सर्वनिरोधात् = (पुरातन-नृतन) सब संस्कारों के निरोध होने से । निर्वीज: समाधिः = निर्वीज-समाधि होती है ।

अन्वयार्थ – पर नैराग्य द्वारा उस ऋतम्भरा श्रज्ञा जन्य र स्कार के भी निरोध हो जाने पर परातन-नुतन सब संस्कारों के निरोध हो जाने से निर्वीज-समाधि होती है।

ब्याख्या—पर-नैराग्य द्वारा जो निखिल-वृत्ति-प्रवाह तथा संस्कार-प्रवाह का निरोध है वह निर्वाज-समाधि है।

सम्प्रज्ञात-समाधि किसी ध्येय को आलम्बन (आश्रय) बनाकर की जाती है। यह आलम्बन ही बीज है। इसलिये उसको सबीज, सालम्ब्य तथा सम्प्रज्ञात कहते हैं। किन्तु असम्प्रज्ञात-समाधि में आलम्बन का अभाव होता है। आलम्बन का अभाव करते-करते अभाव करने वाली वृत्तियों का भी अभाव होने पर जो समाधि होती है वह असम्प्रज्ञात है। आलम्बन न रहने से इसको निर्वीज, निरालम्ब्य तथा असम्प्रज्ञात-समाधि कहते हैं।

यह निरोध केवल समाधि-जन्य ऋतम्भरा प्रज्ञा का ही विरोधी नहीं है, किन्तु प्रज्ञा-जन्य संस्कारों का भी विरोधी है। इसी के बोधनार्थ सूत्र में (तस्यापि) यह 'श्रपि' शब्द दिया गया है। श्रार्थात् इस निरोध से जो संस्कार उत्पन्न होता है वह सब सम्प्रज्ञात-समाधि-जन्य संस्कारों को रोककर ही उदय होता है।

यद्यपि इस सर्ववृत्ति-निरोध में तथा पर-वैराग्य-जन्य संस्कारों में प्रत्यज्ञ-प्रमाण की

योग्यता नहीं है, क्योंकि सर्ववृत्ति-निरोध का योगी को प्रत्यन्न होना श्रसम्भव है। इसी प्रकार स्मृतिरूप कार्य से भी निरोध-संस्कार का श्रनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि वृत्तिमात्र का निरोध होने के कारण यह संस्कार स्मृति उत्पन्न नहीं कर सकते हैं, तथापि चित्त की निरुद्धा-वक्षा का जो मुहूर्त, प्रहर, दिन-रात्रिरूपादि काल-क्रम है उससे निरोध-संस्कारों का श्रनुमान होता है। श्रर्थात् योगी की जो वृत्तियों का निरोध होता है वह एक काल में नहीं होता है, किन्तु पहिले एक घटी, फिर दो घटी, फिर एक प्रहर, इत्यादि क्रम से होता है। इसी से निरोध-वृद्ध का सद्भाव सिद्ध होता है।

भाव यह है कि जैसे-जैसे स्वरूपिश्चिति के अभ्यास से ब्युत्थान तथा समाधि के संस्कारों की न्यूनता होती है, वैसे-वैसे निरोध के संस्कारों की सत्ता का अनुमान कर लेना चाहिये, क्योंकि बिना निरोध-संस्कार की सत्ता के समाधि-प्रज्ञा-जन्य संस्कारों की न्यूनता

होनी असम्भव है।

इस निरोधावस्था में क्लेश-जनक व्युत्थान-संस्कार तथा कैवल्योपयोगी सम्प्रज्ञात-समाधि-जन्य संस्कारों के सहित ही चित अपनी प्रकृति में प्रविलय होकर श्रवस्थित हो जाता है।

यद्यपि निरोध-संस्कारों के सद्भाव से यह चित्त किश्वित् ऋषिकार-विशिष्ट ही प्रतीत होता है, तथापि ये संस्कार ऋषिकार के विरोधी ही हैं, न कि भोग के हेतु, क्योंकि उस दशा में शब्द-रूप-रसागुपभोग तथा विवेकख्याति; ये दोनों ही ऋषिकार निवृत्त हो जाते हैं।

इसलिये यह चित्त निरोधावस्था में समाप्त श्रधिकार वाला होकर संस्कारों के सहित

निवृत्त हो जाते हैं।

इस समाप्त श्रधिकार वाले चित्त के निवृत्त होने से पुरुप शुद्ध परमात्म स्वरूप में श्रितिष्ठित दुश्रा केवल शुद्ध तथा मुक्त कहा जाता है। इस श्रयसम्प्रज्ञात समाधि के लाभ से ही योगी जीवन्मुक्त पद को प्राप्त होता है। यह श्रयसम्प्रज्ञातन्योग ही सब कर्क्तव्यों की सीमा है।

विशेष विचार—सूत्र ५२: — गुण एक चण भी बिना परिणाम के नहीं रहते। चित्त में दो प्रकार का परिणाम होता है: एक आन्तरिक परिणाम—जो खाभाविक, बास्तविक खरूप ''सत्त्वचित्त'' में होता है; दूसरा, बाह्य—जो नाना प्रकार की वृत्तियों से होता है।

श्रसम्प्रज्ञात अर्थात् निर्वीज समाधि की अवस्था में चित्त में कोई वृत्ति नहीं रहती। वृत्तियों को रोकने वाले संस्कार रहते हैं, जिनको (१।१८) में संस्कार-शेष के नाम से वर्णन किया गया है। इन संस्कारों के कारण चित्त में बाहर से निरोध अर्थात् वृत्तियों के रोकने का परिणाम होता रहता है (३।९)। चित्त में इस निरोध परिणाम के कारण पुरुष किसी वाह्य एरय का द्रष्टा नहीं रहता शुद्ध परमात्म खरूप में अवस्थित रहता है और चित्त गुरुष को दृश्य दिखलाने के कार्य को बन्द करके अपने खरूप में अवस्थित होता है। ये चित्त को बनाने वाले गुण कैवल्य की अवस्था में तो अपने कारण में लीन हो जाते हैं। परन्तु इस निरोध परिणाम की अवस्था में अपने "सत्त्वचित्त" खरूप में अवस्थित रहते हैं।

इनमें अब केवल श्रान्तिरक परिणाम होता रहता है, जो शान्त प्रवाह वाला श्रोर खाभाविक है, जिसका वर्णन (३। १०) में किया गया है। निरोध से भिन्न व्युत्थान श्रवस्था में पुरुष वृत्ति सारूप्य प्रतीत होता है और असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त पुरुष सारूप्य वृत्ति रहित चेतन प्रतीत होता है। असम्प्रज्ञात समाधि मंग होने पर निरोध संस्कार दवते जाते श्रीर व्युत्थात के संस्कार प्रवल होते जाते हैं। यहाँ पर व्याख्याता के गुरु-भाई श्रीमान् हरिभजनजी ने (अपने काष्ट्र-मौन व्रत धारण करने से कुछ पूर्व मौनावस्था में) इस सम्बन्ध में जो अपने अनुभव द्वारा प्राप्त किये हुए विचारों को लिखकर दिया था, उनको उन्हों के शब्दों में लिख देना जिज्ञासुओं के लिये उपयोगी होगा।

श्रीमान् इरिभजनजी का संत्रिप्त परिचय

यह महात्मा पूर्व-जम्म के वैराग्य के संस्कारों के उदय होने पर अपने वास्यकाल ही में पूज्यपाद श्री स्वामी सोमतीर्थजी महाराज की सेवा में रहकर कई वर्ष तक योग साधन करते रहे। तत्पश्चात् कई वर्ष तक पुराने गुरुकुल कॉंगड़ी के एकान्त स्थान में मौन साध कर अपनी अवस्था को परिपक्ष करते रहे। गत हिरद्वार कुम्भ के पश्चात् मास मई सन् १९३९ ई० में काष्ट्र मौन धारण कर लिया। मास जून १९३९ ई० से उनके कोई समाचार किसी प्रकार के नहीं मिले। उनके पिता, भाई, कुटुम्बियों, तथा भक्त और प्रेमी मित्रों ने उनके खोजने में पूर्ण प्रयन्न किया, परन्तु अब तक कुछ पता नहीं लगा है।

उनके श्रनुभव

"श्रव स्रह्मप-श्लित को समर्फे। प्रयन्न से जब विचिन्न चित्त को एकाम किया जाता है और फिर उसे निरुद्ध किया जाता है तब सबेवृत्ति-निरोध हो जाने से जो पर पुरुष का अपने स्वरूप में अवश्वित हो जाना है; उसका नाम स्वरूपश्चित नहीं है, उसका नाम पुरुष का अपने स्वरूप में अवश्वित होना है। स्वरूपश्चित उससे बहुत ऊँची श्चित है। जैसे विचिन्न-भूमि चित्त को यदि हम किसी साधन-विरोध से एकाम कर दें तो थोड़ी देर एकाम रह जाने पर भी हम उसको एकाम-श्चित नहीं कह सकतं; यह उसकी एकाम अवश्वा हो है। अथवा एकाम-भूमि चित्त को यदि हम प्रयन्न से वृत्ति-निरोध द्वारा निरुद्ध कर दें तो हम उसे निरुद्ध-भूमि चित्त को यदि हम प्रयन्न से वृत्ति-निरोध द्वारा निरुद्ध निरुद्ध-श्चित नहीं कह सकतं; यह उसकी निरुद्ध-सूमि चित्त नहीं कह सकतं; यह उसकी निरुद्ध-सूमि चित्त नहीं कह सकतं; यह उसकी निरुद्ध-सूमि चित्त नहीं कह सकतं; यह उसकी निरुद्ध-सूमि के किसी साधन द्वारा निरुद्ध करते हैं, तब तक हम स्वरूप-श्चिति नहीं कह सकते; यह पुरुष का अपने स्वरूप में केवल अवश्चित होना-मात्र है। जब चित्त की विचिन्न और एकाम-भूमि सवेथा निरुद्ध-भूमि में बदल दी जाय, जब यह बिना किसी साधन के निरुद्ध हने लगे, तब ऐसी अवश्चा में जो पुरुष का अपने स्वरूप में श्चित हो जाना है वही स्वरूप-श्चिति है। स्वरूप-श्चिति खोनो की पुनः इतर (न्युत्थान) श्चिति कहना पूरी-पूरी भूल है; क्योंकि स्वरूप-श्चिति खाभाविक श्चिति है, वह बदल

नहीं सकती; श्रीर जब तक वह खाभाविक नहीं तब तक खरूप-श्यिति नहीं कहला सकती।

श्रतः स्वरूप-स्थिति वह स्थिति है जब कि चित्त की वित्तिप्त श्रीर एकाग्र-भूमि पूर्ण रूप से निरुद्ध-भूमि में बदल चुकी हो और ऐसी स्थित में चित्त-वृत्ति-निरुद्ध, सहज ही. स्वाभाविक हो. श्रनायास ही रहने लगी हो: श्रीर इसी लिये उसे किसी प्रकार के भी प्रयक्त की आवश्यकता नहीं रहती है। ऐसी स्थिति आने पर जो पुरुप का सहज ही। स्वाभाविक ही, अनायास ही अपने खरूप में श्वित हो जाना है; वही खरूप-श्वित है। स्वरूप-स्थिति तो उस स्थिति का नाम है जहाँ चित्त श्रनायास ही, सहज ही, खाभाविक ही निरुद्ध स्थिति में रहता हो । पुरुष की 'खरूप में अवस्थिति' और 'स्वाह्यपिशति' में बडा-भारी श्रान्तर है। पहिली प्रयत्न की श्रवस्था है, दसरी सहज िधति है। इतना और याद रहे कि ऐसी स्थिति श्राने पर, जिस जिज्ञास की स्वरूप-स्थिति हो गई हो. उसको भोगवश कोशमयी अवस्था में भी प्रारब्धानसार यहापि श्राना पड़ता है परन्त उस समय से पहिले क्योंकि वह खरूप में स्थित था: श्रीर भोग-समय के समाप्त हो जाने के बाद वह स्वरूप-स्थिति में ही रहता है, इसलिये भोगकाल की स्थिति भी उसकी स्वरूपस्थिथि ही कही जायेगी। भोग के पहले तथा भोग के पीछे जिसकी खरूप में श्वित है वह भोग-काल में भी खरूप में ही श्वित कहा जायेगा. यद्यपि यह भोग भोगते समय कोशमयी हालत में है; परन्त वह उसकी कोशमयी अवस्था है कोशमयी स्थिति नहीं।

जैसे एकाप्रभूमि चित्त को जब इम प्रयत्न से निरुद्ध कर देते हैं, तो वह उसकी निरुद्ध क्षिति नहीं, वरन निरुद्धावस्था है। इसी तरह स्वरूपक्षिति वाले को जब-जब भी भोगवश को अभर्या हालत में त्राना पड़ता है तो वह उसकी कोशमयी त्रावस्था ही कही जायेगी, न कि कोशमयी क्षिति । क्षिति तो उसकी स्वरूपक्षिति ही है और उस कोशमयी त्रावस्था में भी वह तभी तक त्राता है जब तक भोग समाप्त हो जाने पर वह सदा के लिये त्रापने स्वरूप में सुप्रतिष्टित नहीं हो जाता है।

श्रथान् जब तक व्युत्थान-चित्त की दशा में वृत्तियों का निरोध क्रिया-जन्य हो, प्रयत्न से हो; श्रीर स्थायी, दृद्भूमि, स्वाभाविक, सहज श्रीर स्वयं होने वाला न हो गया हो, तब तक वह 'निरोध की श्रवसा' श्रथवा 'स्वस्त्पावसा' है, 'निरोध की स्थिति' श्रथवा स्वरूपस्थिति' नहीं है; बित्क उस समय तक व्युत्थान की ही स्थिति है जो कि स्वाभाविक श्रीर दृद्भूमि बनी हुई है। जब चित्त की वृत्तियों का निरोध स्थायी श्रीर दृद्भूमि हो जावे श्रीर विना किसी क्रिया श्रीर प्रयत्न के स्वाभाविक, सहज ही प्रतिच्ता (हर-समय) बना रहे तब वह 'निरोध की स्थिति' श्रथवा 'स्वरूपस्थिति' कहलाएगी।

प्रश्न-निया खरूपिथिति हो जाने पर योगी के सब कार्य बन्द हो जाते हैं ? क्योंकि कोई भी काम बिना व्युत्थान की श्रवस्था के नहीं हो सकता।

उत्तर-नहीं; बिना कर्म के कोई शरीरधारी नहीं रह सकता।

न कर्मणामनारम्भाकेष्करम्यं प्रद्योऽरतते । न च संन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति ॥ ४ ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ३। ४-६)

अर्थ-मनुष्य न (तो) कर्मों के न करने से 'निष्कर्मता' को प्राप्त होता है (क्योंकि कर्मी का न करना भी एक प्रकार का सकाम कर्म है) श्रीर न कर्मों को त्यागने-मात्र से 'स्वक्रप-स्थिति' क्रपसिद्धि को प्राप्त होता है ।

अर्थ-क्योंकि कोई भी 🐧 बिसी काल चरामात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता नि:सन्देह सब ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य श्रास्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान् विमृदात्मा पिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥

अर्थ-जो मृद्बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियों को (हठ से) रोककर इन्द्रियों के भोगों का मन से चिन्तन करता रहता है, वह मिध्याचारी अर्थात दर्मा, असंयमी कहा जाता है। (क्योंकि उसकी इन्द्रियाँ वास्तव में संयमित नहीं होती)।

यस्त्विन्द्रयाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन । कर्मेन्टियै: कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥

अर्थे—और हे अर्जुन ! जो (पुरुष) मन से इन्द्रियों को वश में करके अनासक्त हुआ, कर्मिन्द्रयों से कर्मयोग का आचरण करता है वह श्रेष्ठ है।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो सकर्मणः। श्रारियात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥ = ॥

अर्थ-त् शास्त्रविधि से नियत किय हुए खधर्म-रूप (कर्तव्यरूप) कर्म को करः क्योंकि कर्म न करने की अपेत्ता कर्म करना श्रेष्ट है; तथा कर्म न करने से तेरी शरीर-यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी (कर्म करत रहना ही जीवित शरीर का खभाव है, हठ से कर्म छोड़ देना शरीर का दुरुपयोग और अज्ञान है)।

यद्वार्थीत्कर्रेणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः। तदर्थ कर्म कौन्तेय ग्रक्तसङ्गः समाचार ॥ ६ ॥

अर्थ---यज्ञ अर्थात् त्र्रासक्ति-रहित निष्काम भाव से सब प्राणियों के कल्यागाथ अथवा अपनी भोग-निवृत्ति के लिये ईश्वर-निमित्त किये हुए कर्म के सिवाय अन्य कर्म में १४५ १९

(लगा हुआ ही) यह मनुष्य,कर्मों द्वारा वेंधता है, इसलिये हे अर्जुन ! श्रासक्ति से रहित हुआ उस परमेश्वर के निमित्त कर्म का भली प्रकार श्राचरण कर ।

'निरोध-स्थिति' अथवा 'स्वरूप-स्थिति' वाले योगी के कर्म भोग-निवृत्ति अथवा परमात्मा की आज्ञा-पालन करते हुए प्राण्मिनात्र के कत्याणार्थ ईश्वर-निमित्त होते हैं। इन निष्काम और आसक्ति-रहित कर्मों के करने में उसकी 'ट्युत्थान' की स्थिति नहीं होती, स्थिति तो 'निरोध' की ही रहती है। यह उसकी 'ट्युत्थान की अवसार' है जो अस्वाभाविक, अस्थायी और अदद तथा किया-जन्यते।। यह कर्म निष्काम भाव से और आसक्ति तथा वासना-रहित होते हैं, इसलिये आगे के लिक्ति भा आराशभ्यत्त के संस्कारों के प्रपादक र्म्म होते। इस 'स्वरूप स्थित' को गीता में 'समाधि-स्थित्युक्तीर ऐसे पढिलीको 'स्थित ग्रंक' अवस्था से वर्णन किया है।

स्थितप्रहस्य का भाषा समार्थि त्राने केशव । स्थितथीः कि पभाषेत किमासीत झजेत किम् ॥ ५४ ॥ (गीता अध्याय २। ५४-६१)

अर्थ—हे केशव ! 'समाधिस्थ-स्थितप्रज्ञ' का क्या लक्त्या है ? (और) 'स्थित-प्रज्ञ' कैमे बोतला है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ?

मजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान् । म्रात्मन्येवात्मना तृष्टः स्थितशृक्षस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥

अर्थः - हे ऋजुने ! जिस समय (यह पुरुष) मन में इन्छित सब इच्छाओं को त्याग देता है, उस समय आत्मा से ही आत्मा मे सन्तुष्ट हुआ, 'खरूपिश्चिति' को प्राप्त हुआ, 'स्थित-प्रक्ल' कहा जाता है।

दुःखेष्वनुद्विप्रमनाः सुखेषु विगतस्पृदः । वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्धनिष्ठच्यते ॥ ५६ ॥

अर्थ - दु:खों की प्राप्ति में उद्देग-रहित ह मन जिसका, (श्रीर) सुखों की प्राप्ति में दूर हो गई है स्प्रहा जिसकी (तथा) नष्ट हो गृप हैं राग, भय श्रीर क्रोध जिसके; (ऐसे) मुनि को 'स्थित-प्रज्ञ' कहा जाता है।

यः सर्वेत्रानभिस्नेहस्तत्तत्माष्य श्चभाशुभम् । नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य मज्ञा मतिष्ठिता ॥ ५७ ॥

अर्थ जो पुरुष सबेत्र स्तेह-रहित हुन्ना, उस-उस शुभ तथा ऋशुभ (वस्तुच्चों) को शाप्त होकर न प्रसन्न होता है (खीर) न हेप करता है उसकी प्रज्ञा स्थिर है।

> यथा संहरते चार्य कुर्मों आनीव सर्वेशः । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थे भ्यस्तस्य महा मतिष्ठिता ॥ ५८ ॥

अर्थ — और कछुवा (खपने) खंगों को जैसे (समेट लेवा) है (वैसे ही) यह पुरुष जब सब श्रोर से (अपनी) इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों,से समेट लेता है (तब) उसकी 'प्रज्ञा' स्थिर होती है।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः । रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५६ ॥

अर्थ-(इन्द्रियों के द्वारा) विषयों को न महत्त्व करने वाले पुरुष के (भी केवल) विषय (तो) निवृत्त हो जाते हैं (परन्तु) राग नहीं (निवृत्त होता); श्रौर इस (स्थित-प्रक्र-समाधिस्थ) पुरुष का (तो) राग भी 'परम-तत्त्व' को सालात् करके निवृत्त हो जाता है।

यततो हापि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि मनायीनि हरन्ति मसभं मनः ॥ ६० ॥

अर्थ—हे श्रर्जुन जिससे (कि) यत्र करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के भी मन को यह प्रमथन करने वाली इन्ट्रियाँ बलात्कार से हर लेती हैं।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त त्रासीत मत्परः। बशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रक्षा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

अर्थ — उन सब इन्द्रियों को वहा में करके समाहित-चित्त हुन्ना, मेरे (परमास्म तत्त्व के) परायण (स्थित) होवे, क्योंकि जिस पुरुष के इन्द्रियाँ वझ में होती हैं उसकी ही 'प्रज्ञा' स्थिर होती हैं।

या निशा सर्वेषूतानां तस्यां जागतिं संयमी। यस्यां जाग्रति भूतोनि सा निशा पश्यतो सुनैः॥—(गीवा २।९९)

अर्थ—सर्व प्राणियों की जो रात है उसमें संयमी-समाधिस्थ (स्थित-प्रक्त योगी) जागता है। जिसमें श्रन्य प्राणी जागते हैं वह तस्व को जानने वाले (स्थित-प्रक्त) मुनि के लिये रात है। अर्थान् सुपुप्ति श्रवस्था में सब प्राणी तमोगुण के प्रभाव से श्रन्तसुँख पृत्ति होकर हृदयाकाश में श्रानन्यम्य-कोश (कारण-शरीर) में रहते हैं। तमोगुण के श्रन्थकार के कारण श्रद्धानन्द में रहते हुए भी वे उससे विश्वत रहते हैं, जैसा कि उपनिषदों में कहा गया है:— इमा: सर्वी: प्रजा: सित सम्प्या न विदुः सित सम्प्यामह इति। (छा॰ ६।९।१)

अर्थ — सुपुप्ति में ये सारी प्रजायें (!ास्मी) सत्-ब्रह्म में रहते हुए भी नहीं जानते कि हम ब्रह्म में स्थित हैं।

स्थित-प्रज्ञ योगी सत्त्वगुरा के प्रभाव से आनन्दमय कोश अर्थान् काररा-शरीर में अन्तर्भुख होता है, इसलिये ज्ञान के प्रकाश से ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है; यह उसका जागना है। जामत अवस्था में सब प्रार्गी व्युत्थान दशा में रहते हुए सांसारिक कार्य करते हैं। किन्तु स्थित-प्रज्ञ योगी सब कार्यों को श्रपने भोग-निवृत्ति श्रथवा ईश्वर की श्रोर से कर्रान्य-मात्र सम-भता हुश्चा ममता श्रोर श्रहम्ता से रहित, श्रनासक्ति श्रोर निष्काम-भाव से करता है। इससे उत्पन्न होने वाली बासनाश्रों तथा ममता श्रोर श्रहम्ता के भावों से न स्पर्श किया हुश्चा श्रन्तमुख (ही) बना रहता है। इसलिये उसका जामत-दशा में कार्य-चेत्र में रहना भी रात्रि की सुपुप्ति-श्रवस्था के सदश है। क्योंकि उससे भोग दिलाने वाली वासनाएँ तथा संस्कार चित में नहीं पढ़ते।

ये योगी जो स्वरूपस्थित को प्राप्त कर चुके हैं; दो प्रकार के होते हैं: पहिले - जिनके कर्म केवल भोगिनिवृत्ति के लिये ही होते हैं; दूसरे—वे योगी जिनके कर्म भोग-निवृत्ति तथा निष्काम खासक्ति-रहित, परमात्मा की आज्ञा पालन करते हुए समस्त प्राणियों के कल्याणार्थ ईश्वरापेण होते हैं।

दो प्रकार की मुक्ति—इसी के अनुसार इन दोनों प्रकार के खरूपिश्वित् वाले योगियों की मुक्ति भी दो प्रकार की होती हैं:—

प्रथम प्रकार के योगियों की मुक्ति में चित्त बनाने वाले गुए अपने कारए में लीन हो जाते हैं जो सांख्य श्रीर योग का कैवल्य है। दूसरे प्रकार वालों की मुक्ति में 'चित्त-सत्त्व' अपने स्वरूप-सहित ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में (जिसका दूसरा नाम आदित्य लोक है) लीन (अवस्थित) रहता है।

ईश्वरीय नियमानुसार जब जब उनकी श्रावश्यकता होती है तब तब वे सर्व प्राण्यों के कत्याणार्थ तथा संसार में धर्म मर्थादा स्थापन करने के लिये छुद्ध चैतन्य स्वरूप से शबल स्वरूप में भौतिक जगत में श्ववतरण करते हैं; जिस प्रकार स्वरूप स्थिति प्राप्त किया हुश्चा योगी श्वसम्प्रज्ञात-समाधि से व्यवहार दशा में त्राता है। यथा:—

> यदा यदो हि धर्मस्य ज्लानिर्भवति भारत । श्रभ्युत्यानमधर्मस्य तदऽऽऽत्मानं सृषाम्यहम् ॥ मी॰ ४ । ७ ॥ परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्म संस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ मी॰ ४ । ८ ॥

अर्थ — हे भारत! जब-जब धर्म की हानि और अधर्म की बृद्धि होती है तब-तब मैं अपने आप को प्रकट करता हूँ, अर्थात शुद्ध-स्वरूप से शवल-स्वरूप में आता हूँ॥ ७॥ सज्जनों की रच्चा के लिये और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिये (तथा) धर्म स्थापन करने के लिये युग-युग में प्रकट होता हूँ॥ ८॥

यहां यह भी बतला देना आवश्यक है कि आना-जाना बन्धन और मुक्ति आदि सब क्रियार्थे अन्तःकरण में होती है, चेतन तत्त्व (पुरुष अर्थात आत्म्स) उनका फेबल साची, अप्रसवधर्मी, अपरिणामी, निष्क्रिय, कूटस्थ नित्य सदा एक रस रहता है। उसमें बन्धन तथा मुक्ति का होना विकल्प से आरोप किया जाता है जैसा कि सांख्य सूत्र में बतलाया गया है। "बाङ् मात्रं न तु तस्त्रं चित्त श्रिति" 'पुरुष में बन्ध आदि कथन मात्र हैं क्यों कि चित्त में ही बन्ध आदि की श्रिति हैं। हन निर्मेल, विशाल, झानवान, शक्तिशाली, ऐश्वर्यवान, वैराग्य-युक्त चित्तों में यदापि अविद्या आदि क्लेशों का बीज सर्वधा दम्ध हो गया है, किन्तु संसार के कल्याम् के संस्कार शेष रहते हैं, जिनके कारण ईश्वरीय नियमानुसार समय-समय पर उनका प्राहुर्भाव होता है। इन्हें इस संकल्प को हटा कर चित्त बनाने वाले गुणों को अपने कारण में लीन करके कैवस्य प्राप्ति का सर्वदा अधिकार रहता है।

जिस प्रकार विवेद मुक्त श्रीर जीवन मुक्त इन दो प्रकार के भेदों में उन जीवन मुक्त योगियों को भी मुक्त माना जाता है जिनके चिक्त के बनाने वाले गुग्ग अपने कारण में लीन नहीं हुये हैं। किन्तु उनमें अविद्या आदि छेदा सर्वथा दग्ध बीज होकर पुन: बन्धन रूप श्रंकुर के उत्पन्न करने में सर्वथा असमर्थ हो गये हैं। इसी प्रकार यहां भी मुक्ति के इन दोनों भेदों को समम्म लेना चाहिये।

उपसंहार

पर्व श्रधिकार किये हये योग का लक्ष्मण चित्तवृत्ति-निरोध-इन पदों का व्याख्यान, श्चभ्यास श्रीर वैराग्य रूप दोनों उपायों का स्त्ररूप श्रीर भेद कह कर, सम्प्रज्ञात श्रीर श्चासम्प्रज्ञात भेद से योग के मुख्य श्रीर गौण भेद को कह कर, योगाभ्यास को दिखलाते हुए. विस्तार से उसके उपायों को बतलाकर: श्रीर सुगम उपाय होने से ईश्वर का स्वरूप, प्रमाण, प्रभाव श्रीर उसका वाचक नाम तथा उपासनाश्रों को बतलाकर श्रीर उनके फलों का निर्णय कर, फिर चित्त के विद्येष (व्याधिस्त्यानादि तीसवें सूत्रोक्त) और चिन्न-विचेष के सहकारी द:ख आदि (इकत्तीसर्वे सत्रोक्त) को कहकर और विस्तार से चित्त-वित्तेपादि को हटाने वाले, एकतत्त्व के अभ्यास, मैत्री, कहणा आदि और प्राणायाम श्चादि को कहकर तथा सम्प्रज्ञात-श्चसम्प्रज्ञात दोनों श्चंग-रूप 'विषयवती वा प्रवित्तः' (पैतीसवें सत्र से लेकर) इत्यादि विषयों को कहकर; और उपसंहार द्वारा अपने-अपने विषय-सहित अपने खरूप और फल-सहित समापत्ति को कहकर, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात की समाप्ति कर, सबीज-समाधि-पूर्वक निर्वीज-समाधि कही गई है। यह बपसंहार केवल सत्रों का है. इसमें व्याख्याता के ऋपने वि० वि० वि० व०. टिप्पणी इत्यादि अर्थात (सूत्र एक में) अनुबन्ध-चतुष्ट्य जिसमें योग की प्राचीन परम्परा, योग-दर्शन की विशेषता, योग के भेद आदि विस्तार-पूर्वक वर्णन हैं, (सूत्र दो में) चित्त तथा सृष्टिकम का विस्तार के साथ वर्णन, (सूत्र सत्रह में) कोशों द्वारा अभ्यास की प्रणाली तथा कोशों की विस्तृत व्याख्या (सूत्र १८ में) सम्प्रज्ञात समाधि की भूमियों असम्प्रज्ञात समाधि और कैवल्य का विशेष वर्णन (सूत्र १९ में) 'भव प्रत्यय' के सम्बन्ध में अयुर् श्रीर 'विदेह, तथा 'प्रकृतिलय' के प्रति संकीर्ण श्रीर पत्तपात पूर्ण विचारों के निराकरणार्थ तथा युक्त श्रीर यथार्थ श्रयं के समर्थनार्थ 'व्यासभाष्य' 'तत्त्व वैद्यारदी' तथा 'योग वार्तिक' का भाषानुवाद, (सूत्र २६ में) गुरु का यथार्थ व्यरूप, (सूत्र २७ में) प्रणव का वर्णात्मक तथा ध्वन्यात्मक व्यरूप, (सूत्र २८ में) श्रोष, स्थूल सूक्ष्म, तथा कारण श्रहीर की व्याख्या; जाप्रत; व्यप्न, सुपुति तथा समाधि-श्रवस्थाश्रों में भेद, (सूत्र चींतीस में) सूक्ष्म प्राण, व्यर, व्यर-साधन, तत्त्व, तत्त्व-साधन, चक्र, चक्र-भेदन, कुर्ण्डलिनी-शक्ति, कुर्ण्डलिनी जाप्रत करने के उपाय, साधकों को श्रावश्यक चेतावनी; श्रीर (सूत्र इक्यावन में) स्थित-पक्ष के लत्त्रण इत्यादि को भी उपसंहत कर लेना चाहिये। इस प्रकार पातज्वल-योग-प्रदीप में समाधि नाम वाले पहिले पाद की व्याख्या समाप्त हुई।

इति पातन्त्रल-योग-व्रदीपे प्रथमः समाधिपादः समासः



साधन पाद

प्रथम पाद में समाहित चित्त वाले योग के उत्तम श्राधकारियों के लिये योग का स्वरूप, उसके भेद श्रीर उसका फल सम्प्रज्ञात श्रीर श्रसम्प्रज्ञात समाधि को विस्तार के साथ वर्णन किया गया है और योग के मुख्य उपाय वैराग्य तथा श्रभ्यास साधन की कई विधियें बतलाई हैं। पर विचिन्न चित्त वाले मध्यमाधिकारी जिनका चित्त सांसारिक वासनाओं तथा राग-द्रेष श्रादि से कल्जिषत (मिलन) हैं उनके लिये श्रभ्यास श्रीर वैराग्य का होना कठिन है। उनका चित्त भी शुद्ध होकर श्रभ्यास श्रीर वैराग्य को सम्पादन कर सके इस श्रमिष्राय से चित्त की एकामता के असंदिग्ध उपाय किया योग पूर्वक यम-नियमादि योग के श्राठ श्रंगों को बतलाने के लिये दसरे साधन पाद को श्रारम्भ करते हैं।

योग के इंगों में प्रयुत्त कराने से पूर्व सबसे प्रथम चित्त की शुद्धि का एक सरल स्त्रीर उपयोगी उपाय किया योग बतलाते हैं।

तपः खाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

दाब्दार्थ—तपःस्वाध्याय-ईश्वर-प्रशिधानानि = तप, स्वाध्याय, श्रौर ईश्वरप्रशिधान । क्रिया-योगः = क्रिया योग है ।

अन्वयार्थ-तप, स्वाध्याय, श्रीर ईश्वर प्रशिधान क्रिया योग है।

व्याख्या—तपः = जिस प्रकार अश्व-विद्या में कुशल सारथी चंचल घोड़ों को साधता है इसी प्रकार शरीर, प्राण, इन्द्रियाँ और मन को उचित रीति और अश्यास से वशीकार करने को तप कहते हैं, जिससे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, सुख-दुख, हर्पशोक और मान-अपमान आदि सर्व द्वन्दों की अवस्था में बिना विच्त के स्वस्थ शरीर ज्ञीर निर्मल अन्तःकर्ण के साथ योग मार्ग में प्रवृत्त रह सके। शरीर में ज्याधि तथा पीड़ा, इन्द्रियों में विकार, और चित्त में अप्रसन्नता उत्यन्न करने वाला तामसी तप योग मार्ग में निन्दित तथा वर्जित है। श्री व्यासनी महाराज लिखते हैं "अनादि कर्म हेश वासना से हुआ जो विषयों में प्रवृत्त कराने वाला अशुद्धि संक्षक रजस् तमस् का प्रसार है वह बिना तथ के अनुष्ठान के नाश को प्राप्त होना असन्भव है। अतः सब से पहिले तप क्ष्म साधन का उपदेश किया है। तय चित्त-श्रसाद नम-बाधमान-मनेना SS सेज्यमिति मन्यते, जो तप चित्त की प्रसन्नता का हेतु हो तथा शरीर इन्द्रियादि का बाधा कारक (पीड़ाकार) न हो। वही सेवनीय है अन्य नहीं, वही सूत्र कारादि महर्षियों को अभिनत है। क्योंकि व्याध्म, शरीर की पीड़ा आदि और चित्त की अप्रसन्नता योग के वित्र हैं ऐसा ही उपनिषदों में बतलाया है 'तपसाऽनाशकेन' 'जो शरीर का नाशक न हो'। तप की विशेष ज्याख्या इस सूत्र के विशेष वक्त्य में देखें।

स्वाध्याय-वेद-उपनिषद् श्रादि तथा योग और संख्या के श्रध्यात्म सम्बन्धी विवेक

ज्ञान उत्पन्न करने वाले सत्शास्त्रों का नियमपूर्वक अध्ययन श्रौर श्रोंकार-सहित गायत्री श्रादि मन्त्रों का जाप।

ईश्वर प्रणिधान के सामान्य अवर्थ (१)

ईश्वर की भिक्त विशेष और शरीर इन्द्रिय, मन, प्राण, अन्तःकरण आदि सब बाह्य और आश्यन्तर करणों, उन से होने वाले सारे कमों और उनके फलों को अर्थात् सारे बाह्य और आश्यन्तर जीवन को ईश्वर के समर्पण कर देना है। और उस के विशेष अर्थ (२) अ्रोश्म् का उस के अर्थों की भावना सिंहत मानसिक जाप है। उसे कि समाधि पाद सू० २८ की व्याख्या तथा विशेष वक्तव्य में बतलाया गया है। दूसरे अर्थ का सम्बन्ध आश्यन्तर किया से है। यह असम्प्रज्ञात समाधि के लाभ तथा हुशों की निवृत्ति में साधन कप है। समाधि पाद सू० २२ में समाहित चित्त वाले उत्तम अधिकारियों के लिए यह अर्थ प्रधान रूप में लिय गये हैं। पहिले अर्थ का सम्बन्ध अधिकतर हमारे व्यवहारिक जीवन से है। यह सम्प्रज्ञात समाधि तथा हुशों को तनु (शिथल) करने में साधन रूप है। इस सूत्र में तथा इस पाद के सूत्र ३२ में विज्ञित चित्त वाले मध्यमाधिकारियों के लिए यही अर्थ प्रधान रूप से लिये गये हैं।

कामतो ऽ कामतो वापि यत्करोमि श्रुभाश्चभम् । तत्सर्वे त्विय संन्यस्तं त्वत्ययुक्तः करोम्यहम् ॥

अर्थ-फलेच्छा से वा निष्कामता से जो शुभाऽशुभ कर्म का मैं अनुष्ठान करता हूँ। वह सब आप परमेश्वर के ही मैं समपेण करता हूँ। क्योंकि आप अन्तर्यामी से ही प्रेरित हो कर मैं सब कमे करता हूं।

यत्करोषि यदश्लोसि यज्जुहोषि ददासि यद् यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुहुन्द मदर्पणम् ॥

अर्थ - हे कुन्तीपुन अर्जुन ! जो तुम कार्य करो ना महाग्य करो ना यह करो अथना दान करो वह सब मेरे (परमेश्वर के) ही अर्पण करो । यहां यह ध्यान रखने की बात है। कि जिस योगी ने अपने समस्त कार्य ईश्वर के समर्पण कर दिये हैं। उस का कोई काम अशुभ न होगा। सब शुभ ही होंगे। तथा फलों को ईश्वर, समर्पण कर देने के कारण उसके कमें फलच्छा परित्याग पूर्वक ही होंगे। कमों और उनके फलों को ईश्वर समर्पण कर देने के अर्थ कभे हीन बन जाना नहीं है।

कर्मण्येवाऽधिकारस्ते या फलेषु कदाचन । मा कर्म फल हेतु र्भुमी ते संगोऽस्स्वकर्मिण ॥ गीवा ॥

श्रर्थ — हे श्रर्जुन ! कर्मों के श्रनुष्ठान ही में तुम्हें श्रिथकार है, कर्मों के फल में कदापि नहीं, श्रतः फल के श्रथं कर्मों का श्रनुष्ठान मत करो । श्रीर कर्म हीनता में भी तेरी श्रासक्ति न होनी चाहिये। श्रथीत् ईश्वर समर्पण करके सदा निष्काम भाव से श्रपने कर्राव्य रूप श्रुभ कर्म करतं रहना चाहिये। दोका — समाधि पाद में उत्तम श्रिधकारियों के लिये वैराग्य श्रम्यासादि साधन बत-लाये गये हैं। श्रीर इस साधन पाद में मध्यमाधिकारियों के लिये श्रष्टांग योग। फिर यहां इस श्रष्टांग योग के केवल तीन नियमों को ही क्यों साधन रूप बतलाया गया है।

समाधान — इस पाद में मध्यमाधिकारियों के लिये वास्तव में तो अष्टांग योग ही साधन रूप बतलाया गया है। और तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान पांचों नियमों के अन्तिम तीन भाग हैं। किन्तु यह व्यवहारिक जीवन को छुद्ध और सात्विक बनाने में अधिकसहायक होते हैं। जिससे चित्त छुद्ध और निर्मल होकर अष्टांग योगपर सुगम्सा से आरूढ हो सकता हैं।

गीता में ऐसे योगेच्छुको आकरुछुनाम रे पुकारा गया है। श्रीर इस क्रिया योग

का नाम कर्म-योग दिया गया है। यथा:-

श्राहरुत्तीर्भुनेयोंगं कर्मं कारणप्रुच्यते ।

अर्थ—आरुरुक्ष अर्थात् योगारुढ होने की इच्छा रखने वाले मनन शील पुरुषों के लिये कर्मयोग को कारण अर्थात् साधन कहा है। तप से शरीर, वाणों, मन और अन्तः करण की अशुद्धि दूर होती है। खाध्याय से तत्त्व-झान की प्राप्ति तथा मन की एकामधा और फलों में आसक्ति का त्याग तथा ईश्वर का अनुमह प्राप्त होता है। इस लिए इनको क्रिया योग नाम से अर्थाग योग के पूर्व अनुष्टान क्रेन्, बतलाया है। और यदि इन तीनों के व्यापक अर्थ लिये जावें तो सारे योग के आठों अंग इन्हीं के अन्तर्गत हो जाते हैं।

विशेष वक्तव्य-सत्र १

तप की व्याख्याः — जिस प्रकार श्रिप्त में तथाने से धातु का मल भस्म हो जाने पर उसमें खच्छता और चमक त्रा जाती है। इसी प्रकार तप की श्रिप्त में शरीर इन्द्रियों आदि का तमो गुणी त्रावरण के नाश हो जाने पर उनका सत्त्रक्षी प्रकाश बढ़ जाता है। योग-मार्ग में श्रासन प्राणायाम जिन का सूत्र ४६ व ४९ में क्रम से वर्णन किया जायेगा और सात्त्रिक श्रहार विहारादि शरीर के तप माने गये हैं तथा प्रत्याहार जिसका वर्णन सूत्र ५४ में किया जावेगा और सात्त्रिक श्रहार विहारादि शरीर के तप माने गये हैं तथा प्रत्याहार जिसका वर्णन सूत्र ५४ में किया जावेगा और शम दम आदि इन्द्रियों तथा मन के तप हैं।

नास्यश्रतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्रतः।

न चाति-स्वप्त-शीलस्य जाग्रतो नेव चार्जुन ॥ गीता॰ ६। १६०॥ अर्थ-यह योग न तो बहुत श्रिथिक खाने वाले को, श्रीर न कोरे ोक उपवासी वैसे ही न बहुत सोने वाले को श्रीर न बहुत जागने वाले को प्राप्त होता है।

युक्ताहार-विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्षेष्ठु ।

युक्त स्वमावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ गाता । १७ ॥

अर्ध—जो मनुष्य श्राहार-विदार में दूसरे कर्मों में, सोने जागने में नियमित रहना है उसका योग दुःख नाशक होता है।

युक्ताहार (मिताहार) यथा:-

सु स्निग्ध मधुराहारश्रतुर्थाशविविनितः । अज्यते शिव-संगीत्ये भिताहारः स उच्यते ॥

अर्थ — स्निग्य, मीठा, प्रिय चाहार, क्षुषा परिमाण से चतुर्थ भाग से न्यून, शिव (ईश्वर) की सम्यक् प्रींत के लिए जो किया जाता है वह मिताहार कहा जाता है। तामसी राजसी, हिसा से प्राप्त किये हुये, तथा गरिष्ठ, वात-कफ कारक, खित उदण, खहे, चपेरे, वासी, खितरुज, सुखे हुये, रूखे, सड़े हुये, जूटे, नशा करने वाले उत्तेजक खारण्य की हानि पहुंचाने वाले, पदार्थों को त्याग कर केवल शुद्ध, सात्त्विक, हलके, मधुर, रसदार, स्तिग्ध, ताजा, खारण्य वर्धक, चित्त को प्रसन्न करने वाले पदार्थ जैसे दूध, वृत, ताजे रसदार मीठे सात्त्विक फल, मीठा सन्तरा, मीठा खनार, मुसम्मी (मालटा) खंगूर, सेव, केला, मीठा चाड, खूबानी आदि, तथा खुरफ फल जैसे बादाम, खंजीर मुनका इत्यादि, सात्त्विक सन्दर्जी जैसे लौकी परवल, तुरई खादि; सात्त्विक—खनाज जैसे गेहूं, मूंग, चावल खादि का नियमित रुप से भूख से न्यून मात्र में सेवन करना खर्थात् उदर को दो भाग छन्न से भरना एक भाग जल से और एक भाग वायु के सन्बाराथे खाली रखना। रात्रि में सोने से पूर्व दूध, फल खादि खल्प मात्रा में लेना चाहिय।

योगीजन स्वाद को वशीकार किये हुए शरीर से आसक्ति और ममता त्यागे हुए शरीर को केवल अजन के कार्य में उपयोगी बनाने के निमित्त खान पान आदि का विशेष ध्यान रखते हैं। साधारण मनुष्य स्वाद के वशी भूत होकर, शरीर में आसक्ति और ममता के साथ खान पान आदि के व्यवहार में लिप्त रहता है। यह योगी और भोगी में भेद हैं। योगाश्यासी के लिए मांस, मादक पदार्थ, तथा लाल मिन्ने आदि सवेथा त्याज्य हैं। उन के सवन की अपेना भूखा रहना हितकर है। उन के रोवन में आपित तथा धर्म की आइ किसी अवस्था में नहीं ली जा सकती।

युक्त बिहारः - ऐसी लम्बी कठिन यात्रा का न करना जिस से भजन में बिष्ठ पड़े। चलना फिरना बिलकुल बन्द न कर दिया जाय जिस से तमो गुए रुपी खालस्य तथा प्रमाद उत्पन्न हो कर भजन में बाधक हों बल्कि इतना चलता फिरता और घूमता रहे जिससे शरीर स्वथ्य और चित्त प्रसन्न रहे। भजन का कार्य सफलता पूर्वक होता रहे।

• युक्त कर्म चेष्टाः - नियमित रूप से कर्त्तन्य तथा नियत सन्कर्मों को नित्य करते रहना अर्थात् न इतना अधिक शारीरिक परिश्रम करना जिस से थकान उत्पन्न होकर भजन में विन्न पड़े। और न सर्वेथा कर्त्तन्य होन होकर आलसी बन जाना।

युक्त स्वप्नाववाधः--रात्रि में सात घएटे से ऋधिक न सोना जिस से तमी गुण

न बढ़े न चार घरटे से कम साना जिससे भजन करते समय नींद न सतावे।

योग मार्ग में चान्द्रायण श्रादि व्रत तथा लम्बे उपवास वर्जित हैं। सप्ताह में एक दिन उपवास रखना प्रशस्त हैं, जिससे सप्ताह में संचित हुये शारीरिक तथा मानसिक विकार निवृक्त होते रहें। उपवास वाले दिन श्रन्न सर्वथा त्याग दे, दूध फलादि हलका श्रहार लेना चाहिये। सर्वथा निराहार रहने से प्राणों के निरोध के साथ भजन करने की श्रवशा में मिलाक में ख़ुश्की पहुँचने श्रीर कई दिनों तक भजन के कार्य में विन्न पड़ने की सम्भावना हो सकती है। बिशेष श्रवस्था में किसी २ ऐसे साधक से जो शरीर के स्थल तथा विकारी होने श्रथवा रजोराणी मन की चश्वलता के कारण योग मार्ग पर सुगमता से नहीं चल सकते, चान्द्रायण श्रादि अत तथा लम्बे उपवास भी कराये जाते हैं। ये किसी अनुभवी की अध्यक्तता और परी देख भाल में होने चाहियें। प्रत्येक दिन नमक और सावन मिश्रित गुन गुने जल से एनिमा करते रहना आवश्यक है।

ऐसा न करने से पिछला बचा हुन्ना मल आंतों में सुख जाता है। उससे आंतों में खराझ तथा अन्य विकार उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। लम्बे उपवास में पित्त बढ जाता है। इसलिए उपवास की समाप्ति पर कागजी नीव का शरबत श्रथवा शिक जबी पिलावे । दूध तथा रसीले फल कागजी नीवू मीठा श्रनार, सेब, मीठा सन्तरा, मुसम्मी, श्रांगर श्रादि श्नै: श्नै: बढाते जावें। खड़े फलों को दध के साथ न दे। कई दिनों के पश्चात श्चन को प्रथम मंग की दाल के पानी से आरम्भ करें श्रीर श्नी: श्नी: मात्रा बढाते जावें। एसा करने से शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य सुधर जावेगा। लम्बे उपवास के पश्चात श्रांतों में पाचन शक्ति कम हो जाती है। श्रीर भख वढ जाती है थोड़ी सी भूल में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो सकते हैं।

वाणी का तप-वाणी का तप वाणी को संयम में रखना है अर्थात केवल सत्य, प्रिय, श्रावश्यकतानुसार दूसरों का यथा योग्य सम्मान करते हुये वाग्मी से वचन निकालना वाणी को संयम में रखने का यक्ष करते हुये सप्ताह में एक दिन मौन व्रत रखना प्रशस्त है। वाणी को संयम में रखने का यह किये बिना केवल देखा देखी मौन रखना मिध्याचार है।

मन का तप:--मन का तप मन को संयम में रखना है अर्थात हिंसात्नक, क्षिष्ट भावनात्रों तथा अपवित्र विचारों को मन से हटाते हुये ऋहिंसात्मक ऋक्षिप्ट भावनात्रों श्रीर शुद्ध विचारों को मन में धारण करना है। इस प्रकार क्षिष्ट विचारों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात सब प्रकार के विचार भविष्य के संकल्प विकल्प और भूत काल की स्मृति से मन को ग्रन्य करने का अभ्यास करना चाहिये।

गीता के श्रध्याय १७ के श्रनुसार सास्विक राजसी श्रीर तामसी तप:-

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत् त्रिविधं नरैः। श्रफलाकाक्किभिर्युक्तैः सास्विकं परिचत्तते ॥ १७॥ सत्कार-मान-पूजार्थ तथो दम्भेन चैव यत् । क्रियते तदिष्ठ शोक्तं राजसं चलमध्रवम् ॥ १८ ॥ मृद् ग्राहेणात्मनो यत्पीदंया क्रियते तपः। परस्योत्सादनार्थे वा तस्तामसम्बदाहृतम् ॥ १६ ॥

अर्थ-फल को न चाहने वाले निक्कामी योगी पुरुषों द्वारा परम श्रद्धा से किये

हुए उद्ध तीन प्रकार के (शारीरिक-वाचिक और मानसिक) तप को सास्विक कहते हैं। और जो तप सत्कार मान और एजा के लिए श्रथवा केवल पाखराड से किया जाता है वह श्रानिश्चित और जिएक फल वाला तप यहां राजस् कहा गया है जो तप मूड्ता पूर्वक् हठ से मन-वाणी और शरीर को पीड़ा देकर श्रथवा दूसरे का श्रानिष्ट करने के लिये किया जाता है वह तप तामस कहा गया है।

स्वाध्याय:—स्वाध्याय की व्याख्या में हमने जो खोंकार सहित गायत्री खादि का जाप बतलाया है। उस गायत्री मन्त्र के खार्थों को विशेष रूप से खोल देना उचित प्रतीत होता है। गायत्री मन्त्र के सम्बन्ध में मनु महाराज लिखते हैं।

भोकार-पूर्विकास्त्रमहाव्याहृतयोऽव्यथाः।

त्रिपदो चैव सोवित्री विज्ञेयं ब्रह्मणी मुखम् ॥ २। ८ ॥

अर्थ--तीन मात्रा वाले घोंकार पूवक तीन महाव्याद्वति और त्रिपदा सावित्री को निष का मुख (द्वार) जानना चाहिये।

गायत्री मन्त्र

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेष्यम्भगो वेवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

(य॰ अ॰ ३६ सन्त्र ३) (ऋगण्ड ३ स्०६३ सं १०)

ऑकार की तीन मात्रापः — अकार, उकार, मकार श्रौर चौथा अमात्र विराम । अकारः — एक मात्रा वाले विराट् जो स्थूल जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा का नाम है।

फल — पांचों भूतों श्रौर उनसे बने हुए पदार्थी को श्रात्मान्नति में वाधक होने से इटा कर साधक बनाने वाला श्रपने विराट्र रूप के साथ स्थूल जगत् के ऐश्वर्य का उपभोग करने वाला।

उकार—दो मात्रा वाले हिरएयगर्भ जो सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध से परमाक्ष्मा का नाम है।

फल -पांचों स्थूलसूक्ष्म भूतों और अब्ह्वार आदि को आत्मोन्नति में वाधक होने से इटाकर साधक बनाने वाला, अपने हिरएयगभे रूप के साथ सूचम जगत् में ऐश्वर्य का उपभोग कराने वाला।

मकार तीनों मात्रा वाले ईश्वर जो कारण जगत् के सम्बन्ध से परमात्मा का नाम है।

फल — कारण जगत् को खात्मोन्नति भें वाधक बनने से हटा कर साधक बनाने बाला अपने अपर खरूप के साथ कारण जगत् के ऐश्वर्य का उपभोग कराने वाला।

अमात्र विराम—परत्रक्ष परमात्मा की प्राप्ति व्यर्थात् स्वरूपावस्थिति जो प्राप्ति मात्र का व्यक्तिम ध्यय है। (२) तीन महाव्याद्वातियां—भूः, भुवः, खः

भू:—सारे ब्रह्माएड का प्राण् रूपे (जीवन देने दाला) ईश्वर सब प्राण्धारियों का प्राण् सदश आधार और प्यारा पृथ्वी लोक का नियन्ता।

भुवः — सारे ब्रह्मायुड का अपान रूप (पालन पोषण करने वाला) ईश्वर, सब

प्राणियों को तीनों प्रकार के दुःखों से छुड़ाने वाला, श्रन्तरित्त लोक का नियन्ता।

स्वः — सारे ब्रह्माएड का व्यान रूप (व्यापक) ईश्वर सब प्राण धारियों को सुख स्वीर ज्ञान का देने वाला द्यौलोक का नियन्ता।

(३) गायत्री के तीन पाद — तत्संबितुर्वरेण्यम् । भर्गो देवस्यं धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥

सवितु—सब जगत् को उत्पन्न करने वाले श्रर्थान् सब प्राण्धारियों के परम माता पिता ।

देवस्य-ज्ञान रूप प्रकाश के देने वाले देव के

तत- उस

त्यम् - प्रहण् करने योग्य श्रर्थात् उपासना करने योग्य

भर्गः - शुद्ध खरूप का

धीमिडि - हम ध्यान करते हैं।

यः—जो (पूर्वोक्त सविता देव)

नः-हमारी

धिय: - बुद्धियों को

प्रचोदयात् - ठीक मार्ग में प्रवृत्त करे)

अर्थ:—सब प्राणियों के परम पिता-माता ज्ञानरूप प्रकाश के देने वाले देव के उस उपासना करने योग्य शुद्ध स्वरूप का हम ध्यान करते हैं, जो हमारी बुद्धियों को ठीक मार्ग में प्रवृक्त करें।

तीनों गुणों का प्रथम विषम परिणाम महत्तत्त्व है। इसको व्यष्टि रूप में बुद्धि तथा चित्त कहते हैं। इसी से सत् असत्, कर्तव्याकर्त्तव्य, धर्म अधि का निर्णय किया जाता है। इसी में जन्म, आयु और भोग देने वाले सारे संस्कार रहते हैं। इसके पिवन्न होने से सन्मार्ग की प्राप्ति संस्कारों की निवृत्ति और जन्म आयु और भोग से मुक्ति हो सकती है। इस गायत्री मन्त्र में विशेष रूप से बुद्धि अथवा चित्त की पवित्रता के लिए प्रार्थना की गई है।

वानप्रश्च आश्रम और संन्यास आश्रम के प्रवेश तथा अभ्यास के आरम्भ से कई दिन पूर्व और प्रायक्षितार्थ एक निश्चित संख्या में गायत्री मन्त्र का जाप अत्यन्त श्रेयस्कर है।

संगति - वह किया योग किस लिये हैं ? यह बतलाते हैं।

समाधिभावनार्थः क्लेशतनुकरणार्थश्च ॥ २ ॥

शब्दार्थ—(क्रिया योग) समाधि-भावनार्थः = समाधि की भावना (समाधि का चित्त में पुनः पुनः निवेश) के लिये। क्लेश-तनू-करण-श्रर्थः = श्रौर क्लेशों के तनूकरण (दुबले करने) के लिये है।

् (सिंह किया योगः) "सो वह उपर्युक्त किया योग" इतना पाठ भाष्यकारों ने सूत्र

के आदि में अध्याहार किया है।

श्चन्वयार्थ-समाधि की भावना के लिये श्रीर क्लेशों के तन् करने के लिये क्रिया योग है।

ब्याख्या---समाधि भावना = "सभाधिरुक्तलच्च्याण्यस्य भावना चैतसि पुनः पुनर्निवेशनम्" = समाधि जिसका लच्चा १। २ में कहा है उसकी भावना अर्थात् समाधि का चित्त में बार बार निवेश (लाना) है। -- (भोजवृत्ति)

हेश तनूकरणार्थः = हेशा वस्यमाणास् तेषां तनूकरण स्वकार्यकारणप्रतिबन्धः = हेश श्रविद्यादि श्रगले सूत्र में कहे हैं उनका तनूकरण ''उनके स्वकाये के कारण होने में प्रतिबन्धकता'। — (भोजबन्धि)

श्रविद्या श्रादि क्लेश जिनका श्रागे वर्णन किया जायगा जिनके संस्कार बीज रूप से चित्त-भूमि में श्रनादि-काल सं पड़े हुये हैं, उनको शिथिल करने श्रीर चित्त को समाधि की प्राप्ति के योग्य बनाने के हेतु क्रिया योग किया जाता है। तप से शरीर, प्राया, इन्द्रिय श्रीर मन की श्रशुद्धि दूर होने पर वे स्वच्छ होकर क्लेशों के दूर करने श्रीर समाधि प्राप्ति में सहायता देते हैं। स्वाध्याय से श्रन्त:करण शुद्ध होता है श्रीर चित्त वित्तेषों के श्रावरण से श्रुद्ध होकर समाहित होने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। ईश्वर प्रिण्यान से समाधि सिद्ध होती है श्रीर क्लेशों की निवृत्ति होती है।

भाव यह है कि किया योग द्वारा क्लोशों को तत्र करना चाहिये, क्लोशों के शिथिल होने पर अध्यास वैराग्य का छुगमता से सम्पादन हो सकेगा। अध्यास वैराग्य से कम प्राप्त सम्प्रज्ञात समाधि की सबसे ऊँची अवस्था विवेक-ख्याति रूप अग्नि से, सूक्ष्म किये हुये क्लेशों के संस्कार रूप बीज दग्ध होजाते हैं और चित्त का भोग अधिकार समाप्त हो जावा है। क्लेश-रूप बीजों के दग्ध होने पर परवैराग्य उत्पन्न होता है। परवैराग्य के संस्कारों की युद्धि से चित्त का विवेक ख्याति अधिकार भी समाप्त हो जाता है और असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ शाप्त होता है।

संगति—जिन हेशों के दूर करने के लिये क्रिया-योग बतलाया गया है वे हेश कौन से हैं, यह श्रगले सूत्र में बतलात हैं:—

अविद्याऽस्पितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लोशाः ॥ ३ ॥

राष्ट्रार्थ — अविद्या-अस्मिता-राग-द्वे प-अभिनिवेशाः क्लेशाः = अविद्याः, अस्मिताः, रागः, द्वेष और अभिनिवेश क्लेश हैं। व्याख्या —श्रविद्या, श्रास्तिता, राग, द्वेष श्रीर श्रास्तिवेश क्लेश हैं। यह पाँचों बाधना-रूप पीड़ा को उत्पन्न करते हैं श्रीर चित्त में वर्तमान रहते हुए संस्कार-रूप गुर्गों के परिगाम को हद करते हैं; इसिलय क्लेश नाम से कहे गए हैं। यह पाँची विपर्यय अर्थात् मिथ्याङ्गान ही हैं, क्योंकि उन सबका कारण श्रविद्या ही है।

संगति - अविद्या सब क्लेशों का मूल कारण है, यह अगले सूत्र में बतलाते हैं:-

द्मविद्याक्षेत्रग्रुत्तरेषां मसुप्ततन्नुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥

दाव्दार्थ— अविद्या-चेत्रम = अविद्या चेत्र अर्थात् उत्पत्ति की भूमि है। उत्तरेषाम् = अगलों की (अस्मिता आदि की)। प्रशुप्त-ततु-विच्छिन-उदाराणाम् = जो प्रशुप्त, ततु, विच्छित्र और उदार अवस्था में रहते हैं।

अन्वयार्थ—प्रसुप्त, तनु, विच्छन्न और उदार श्रवस्था वाले श्रस्मिता श्रादि क्लेशों

का अविद्या चेत्र है।

ज्यश्या – जिस प्रकार भूमि में रहकर ही बीज उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार श्रविद्या के च्रेत्र में रहकर सब क्लेश बन्धन-रूपी फल देते हैं। अविद्या ही इन सबों का मूल कारण है। ये क्लेश चार अवस्थाओं में रहते हैं:—

प्रसुप्त—जो क्लेश वित्त-भूमि में अवस्थित हैं, पर श्रभी जागे नहीं हैं, क्योंकि श्रपने विषय श्रादि के श्रभाव-काल में श्रपने कार्यों को श्रारम्भ नहीं कर सकते हैं वे प्रसुप्त कहलाते हैं। जिस प्रकार बास्यावस्था में विषय-भोग की वासनाएँ बीज-रूप से दबी रहती हैं, जवान होने पर जागृत होकर श्रपना फल दिखलाती हैं।

तनु—तनु वे क्लेश हैं जो प्रतिपत्त-भावना द्वारा श्रथवा क्रियायांग श्रादि से शिथिल कर दिये गए हैं। इस कारण वे विषय के होते हुए भी श्रपने कार्य के श्रारम्भ करने में समये नहीं होते, शान्त रहत हैं। परन्तु इनकी वासनाएँ सूक्ष्म-रूप से चित्त में बनी रहती हैं।

निम्न प्रकार से इनको शिथिल (तनु) किया जाता है: --

यथार्थ ज्ञान के अभ्यास से अविद्या को। भेद दर्शन के अभ्यास से अस्मिता को। मध्यस्थ रहने के विचार से राग-द्वेष को। ममता के त्याग से अभिनिवेश क्लेश को तत्तु (शिथिल) किया जाता है। तथा धारणा, ध्यान और समाधि द्वारा अविद्या, अस्मिता आदि सारे क्रेश तत्तु किये जाते हैं।

विच्छिन्न किन्छन हेशों की वह अवस्था है जिसमें हेश किसी दूसरे बलवान हेश से दबे हुए शक्ति रूप से रहते हैं और उसके अभाव में वर्तमान हो जाते हैं। जैसे द्वेष अवस्था में राग क्रिया रहता है और राग अवस्था में द्वेष।

उदार—उदार क्रेशों की वह अवस्था है जो अपने सहायक विषयों को पाकर अपने कार्य में प्रवत्ता हो रहे हैं। जैसे व्युत्थान अवस्था में साधारण मनुष्यों में होते हैं।

इस सब का मूल कारण अविद्या है। उसी के नाश होने से सर्व होश समूल नाश हो जाते हैं। दग्ध बीज—िकया थोग अथवा सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा तनु किये हुए हेश प्रसंख्यान अर्थात विवेक ख्याति रूप अप्रिंगे में दग्ध बीज भाव को प्राप्त हो जाने हैं। तत्पश्चात् पुनः अंकुर उत्पन्न करने और फल देने में असमर्थ हो जाते हैं। यथा:—

बीजान्यग्युपदग्यानि न रोहन्ति यथा पुनः । ज्ञान-दग्येस्तया क्रेशैनीत्मना संपद्यते पुनः ॥

अर्थ – जिस प्रकार अग्निसे जले हुये बीज फिर नहीं उगते हैं इसी प्रकार विवेक ज्ञान रूप अग्निसे जले .हये हेड़ा फिर उत्पन्न नहीं हो सकते।

शंका—सूत्रकार ने हेशों की इस पांचवी दग्ध बीज श्रवस्था का वर्धन इस सूत्र में क्यों नहीं किया ?

समाधान — सूत्रकार ने इस सूत्र में "श्रविद्या चेत्र" इस पद से द्वेशों की श्रविद्या मूलक भारों हेय (त्यागने योग्य) श्रवस्थाओं का ही निरुपण किया है द्वेशों की पांचवीं दग्ध बीज श्रवस्था अविद्या की विरोधी होने से उपादेय (प्रहण करने योग्य) है। श्रवः उसका इनके साथ कथन करना ठीक नथा। इन पाँचवीं दग्ध बीज श्रवस्था वाले द्वेशों की निवृत्ति। श्रसम्प्रज्ञात समाधि द्वारा उनके धर्मी वित्ता के श्रपन कराण में लीन होने के साथ उनकी स्वयं ही निवृत्ति हो जाती है जैसा कि इसी पाद के दसवें सूत्र में बतलाया गया है। 'श्रे प्रतिप्रसवहेया: सूक्ष्माः 'ं।

विशेष वक्तस्य — सूत्र ४ — समाधि पाद सूत्र १९ के सदृश इस सूत्र की व्याख्या में भी कई भाष्य कारों ने छेशों की प्रधुप्त श्रवस्था के समम्प्राने में प्रधुप्त छेशों का उदाहरण विदेह श्रीर प्रकृतिलयों के छेशों से देकर विदेह श्रीर प्रकृतिलयों के सम्बन्ध में आन्ति जनक श्रयं किय हैं। इसका आधार भी वाचस्पति मिश्र की ही व्याख्या है, जिसका इन सब ने श्रातुकरण किया है। वाचस्पति मिश्र ने सूत्र की व्याख्या के श्रान्त में यह श्लोक दिया है —

''मसुप्तास्तरवलीनानां तन्ववस्थाश्च योगिनाम् । विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्रेशा विषय-सङ्गिनाम् ॥''

अर्थ---''तह्यलीनों के छेरा प्रमुप्त, योगियों के ततु और विषयी पुरुषों के छेरा विच्छित्र और उदार (अवस्था वाले) होते हैं '' तत्त्व लीनों से श्वभिप्राय विदेह और प्रकृतिलय लिया है। उन्हें अज्ञानी और अयोगी मानकर प्रमुप्तछेरा युक्त सिद्ध करने का यह किया गया है।

(१) समाधि पाद सूत्र १९ की व्याख्या तथा विशेष वक्तव्य में बतला दिया गया है कि सम्प्रज्ञात समाधि की चारों भूमियों में उच्चतर और उच्चतम भूमि आनन्दानुगत और अस्मतानुगत को विदेह और प्रकृतिलय कम अनुसार प्राप्त किये हुये होते हैं। इन योगियों को अज्ञानी और अयोगी कहना अनुचित है। (२) सम्प्रज्ञात समाधि में क्रेश तनु और विवेकक्याति में दग्ध-बीज भाव को प्राप्त होते हैं। इस लिये इनके क्रेश सदाधि दग्ध बीज भाव को प्राप्त होते हैं। इस लिये इनके क्रेश सदाधि दग्ध बीज भाव को प्राप्त नहीं हुये हैं तथायि उनके तनु होने में तो कोई सन्देह नहीं हो सकता।

(३) समाधि पाद सूत्र २२ में एक तत्त्व के अध्यास को चित्त की शिति का साधन बतलाया है। सम्प्रज्ञात समाधि में किसी न किसी विषय को ही आलम्बन (ध्येय) बनाकर घारणा, ध्यान और समाधि लगाई जाती है। फिर इस बतलाई हुई प्रणाली पर चलने वाले साधकों को योग दर्शन के सूत्रों की ही व्याख्या में अयोगी और अज्ञानी कहना कब ठीक हो सकता है। (४) किर भी यदि किसी स्थूल अथवा सूक्ष्म विषय को ध्येय बनाकर समाधि लगाने वालों को तत्त्व लीन कहा जावे तो भी यह सीमा वितर्कानुगत और विचारानुगत तक ही रह जाती है, अर्थान् उन्हीं दोनों भूमियों में किसी अन्य प्राध्य विषय को आलम्बन बनाना होता है। आनन्दानुगत और अहमता-अनुगत में तो सारे अन्य विषयों से पर होकर केवल प्रहण और प्रहीत अहकां और अस्मता कमानुसार रह जाते हैं। उस उचतर और उचतम सत्त्व के प्रकार में छेश बिना तनु हुये प्रसुप्त कैसे रह सकते हैं। (५) यदि इस अवस्था को भी अविद्या और अज्ञानमय सममा जावे तब भी छेशों की इस अवस्था को उदार कहना होगा न कि प्रसुप्त। विदेह और प्रकृतिलयों की इस प्रकार अथोगित की अवस्था दिखलाना सूत्रकार के आश्चय के विरुद्ध है। (६) तथा व्यास भाष्य और भाजवृत्ति में विदेद और प्रकृतिलयों का नाम व निशान भी नहीं है। इसके स्पष्टी करण के लिय इस सूत्र के व्यास भाष्य तथा भोजवृत्ति का भाषानुबाद कर देना उचित होता होता है।

व्यास भाष्य का अर्थ सूत्र ४—इन में अविद्या उत्तर-हेश अस्मिता आदि प्रसुप्त, तनु. विच्छित्र, उदार चार, अवस्थावालों की चेत्र अर्थात् उत्पत्ति की भूमि है। उनमें प्रसुप्त, हेश कौन से हैं ? इसका उत्तर यह है कि जो चित्त में बीज भाव को शाप्त हुये शक्ति मात्र से रहते हैं। आलम्बन अर्थात् विषय के सन्मुख होने पर उनकी जागृति होती है। प्रसंख्यान (विवेक ख्याति) ज्ञान वाले योगी को जिसके हेश दग्ध बीज भाव को शाप्त होगय हैं विषय रूप आश्रय के सन्मुख होने पर भी इन हेशों की फिर जागृति नहीं होती क्योंकि जले हुये बीज की कहाँ से उत्पत्ति हो सकती है। इसलिय जिस योगी के हेश चीं हार्गय हैं वह "कुशल चरम देह" (जिस की मुक्ति में देह पड़ने तक की देर है) कहलाता है। उसी योगी में यह पांचवीं दग्ध-बीज-भाव वाली हेशों की अवस्था है, दूसरे में नहीं। हेशों के रहते हुए भी उस पांचवीं अवस्था में बीज की सामध्ये जल जाती है। इस कारण विषयों के सन्मुख रूप से रहते हुए भी उनकी जागृति नहीं होती। सोते हुए हेशों का स्वरूप और दग्ध बीज हेशों की अनुत्पत्ति यहां तक कही गई है।

श्रव तनु हुए। की नर्बलता का खरूप कहा जाता है। प्रतिपन्न भावना द्वारा नष्ट किये हुए हुए। होते हैं। उसी प्रकार नष्ट हो होकर उस उस रूप से फिर २ जो वर्तने लगते हैं वे विच्छित कहलाते हैं। किस प्रकार ? उत्तर देते हैं। राग काल में कोध के न देखे जाने से निश्चय राग काल में कोध नहीं बर्तता। राग भी किसी एक पदार्थ में देखे जाते हुए श्रन्य विषय में नहीं है यह नहीं देखा जाता है। ऐसा नहीं है कि एक स्त्री में चैत्र नामी पुरुष प्रतिसान हो श्रीर श्रन्य स्त्रियों में न हो, किन्तु उसमें राग वर्तमान है श्रीर श्रन्य में भागे होने वाला है। यह लब्ध-श्रीर ही तब प्रसप्त तन श्रीर विच्छित होती है। विषय में जो वर्तमान वृति है वह उदार कहलाती है। ये सब छेश विषयत्त्व को नहीं छोड़ते। तब वे कौन से छेश नहीं छोड़ते हैं ? उत्तर: प्रसुप्त, ततु, विच्छिन्न, उदार चारों नहीं छोड़ते। यह सत्य ही है। तो पुनः इन विशेष रूप हुन्नों का विच्छिन्नादित्व क्या है ? जैसे प्रतिपत्त भावना करते हुए इन की निष्टित्ति होती है, वैसे ही अपने प्रकाशक संस्कार श्रीर विषय के द्वारा प्रकाशित होकर प्रकटता होती है। ये सब छेश अविद्या के भेद हैं, क्यों कि सब में अविद्या ही प्रकाशित होती है। जो अविद्या से वस्तु के स्वरूप को धारण किया जाता है तब छेश चित्त में सोए हुए अविद्या वृत्तिकाल में उपलब्ध हो जाते हैं और अविद्या नाश होने पर नाश हो जाते हैं।

भोज वृति का श्रर्थ सूत्र ४। हेशत्व धर्म्म का पांचों के उपर तुस्य होने पर भी सब का कारण श्रविद्या है, श्रतः श्रविद्या की प्रधानता का प्रतिपादन करते हैं --

श्रास्मिता, रागादि, जो प्रसुप्तादि भेद से चार प्रकार के हैं, उन सब की उत्पन्न करने बाली भूमि अविद्या है। मोह को अर्थात् अनात्म पदार्थ देहादि में आत्म अभिमान को श्रविद्या कहते हैं। जहां यह श्रविद्या शिथिल पड़जाती है, वहां श्रस्मितादि हेश की उत्पत्ति नहीं देखी जाती (श्रीर श्रविद्या के होने पर देखी जाती है) इससे यह सिद्ध दुश्रा कि सब का मूल अविद्या है ! जो होश चित्त रूपी भूमि में रहते हुए भी प्रबोधक उद्बोधक (उकसाने वाले) के न मिलने पर अपने काम का आरम्भ नहीं करते वे प्रसप्त कहलाते हैं। जैसे बाल अवस्था में, बालक के चित्त में संस्कार रूप से बैठे हुए भी क्लेश, किसी सहकारी प्रबोधक के न मिलने से प्रकट नहीं होते । जो श्रपने २ प्रति पत्त भावना से कार्य्य करने की शक्ति को शिथिल करने वाले केवल वासना युक्त चित्ता में रहते हुए विना ऋधिक सामग्री के अपने काम आरम्भ करने में श्रसमर्थ हैं। वे ततु ऋर्थान सूक्ष्म कहलाते हैं। जैसे ऋभ्यास करने वाले योगी के । जो किसी बलवान होश से दवाव पाकर ठहरे रहते हैं वे विच्छित्र कहलाते हैं, जैसे द्वेष होने पर राग और राग होने पर द्वेष । क्यों कि ये राग और द्वेष दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। कभी एक काल में नहीं हो सकते। किसी सहकारी का मेल पाकर जो अपने २ काम को सिद्ध करते हैं वे उदार कहलाते हैं, जैसे योग विरोधी पुरुष के सर्वदा ही व्युत्थान श्रवस्था में द्वश्रा करते हैं। श्रस्मिता श्रादि जो प्रत्येक चार प्रकार के हैं इन का सम्बन्ध कारणीभृत अविद्या के साथ है। अविद्या के सम्बन्ध से शून्य होशों का स्त्ररूप कहीं भी उपलब्ध नहीं होता, तो मिध्या ज्ञानरूप अविद्या की निवृत्ति यथार्थ ज्ञान के होने पर सुने हुए बीज के समान श्रश्मितादि श्रंकुरित्त नहीं होते। इससे इनका कारण भी श्रविद्या श्रौर इन सब में श्रविद्या का सम्बन्ध निश्चित् है। इसी से यह सब श्रविद्या शब्द से व्यवहृत होते हैं। सभी छेश, चित्त को विज्ञिप्त करने वाले हैं इससे इनके उच्छेद में योगी को पहिले यत करना चाहिये।

संगति—श्रविद्या को सर्व हेशों का भूल कारण बताकर श्रव उसका यथार्थ खरूप दिखलाते हैं।

श्रनित्याश्चिद्वःखानात्ममु नित्यशुचिम्रुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥

दाब्दार्थ — अनित्य-श्रक्तीव-दुःख-अनात्मसु = श्रानत्य, श्रवित्र, दुख और श्रानात्मा (जड़) में (क्रम से) । नित्य-श्रुचि-सुख-श्रात्मख्याति = नित्य, पवित्र, सुख और श्रात्मभाव त्रर्थात् चेतनता का झान । अविद्या = श्रविद्या है ।

अण्वयार्थ—श्रानित्य में नित्य, श्रापवित्र में पवित्र, दु:ख में सुख और श्रानात्मा में श्रात्मा का ज्ञान श्राविद्या है।

व्याक्या—जिसमें जो धर्म नहीं है उसमें उसका भान होना अविद्या का सामान्य लच्च है। पशु के तुल्य अविद्या के भी चार पाद हैं जो निम्न प्रकार हैं:—

- (१) अनित्य में नित्य का ज्ञान : यह सम्पूर्ण जगत् श्रौर उसकी सम्पत्ति श्रनित्य है, क्योंकि उत्पत्तिवाला और विनाशी है। इसको नित्य समक्तना।
- (२) अपवित्र में पवित्रता का झान: शरीर, कफ, रुधिर, मल-मूत्र आदि का स्थान अपवित्र है। इसको पवित्र मानना। अन्याय, चोरी हिसा आदि से कमाया हुआ धन अपवित्र है, उसको पवित्र मानना। अधर्म, पाप, हिसा आदि से रंगा हुआ अन्त:करण अपवित्र है, उसको पवित्र समभना।
- (२) दुःख में सुख का ज्ञान : संसार के सब विषय दुःखरूप हैं (२।१५), उनमें सुख समभता।
- (४) श्रनात्म (जड़) में श्रात्मज्ञान: शरीर, इन्द्रिय श्रीर चित्त, ये सब श्रनात्म (जड़) हैं, इनको ही श्रात्मा समफना। ये चार प्रकार के भेद वाली श्रविद्या है, यही बन्धन का मूल कारण है।

विशेष विचार—सूत्र ५ अविद्या का उत्पत्ति स्थान—तीनों गुणों का प्रथम विषय परिणाम महत्तत्त्व है। जो सत्त्व में रज क्रियामात्र और तम उस क्रिया को रोकने मात्र है। यह महत्तत्त्व सत्त्व की विश्वद्धता से समष्टि रूप में विश्वद्ध सत्त्वमय चित्त कहलाता है जिसमें समष्टि अहंकार बीजरूप से रहता है जो ईश्वर का चित्त है। और सत्त्व की इस विश्वद्धता को छोड़कर व्यष्टि रूप-में सत्त्व चित्त कहलाता है जो संख्या में अनन्त हैं जिनमें व्यष्टि अहंकार बीज रूप से रहते हैं जो जीवों के चित्त कहलाते हैं। इन व्यष्टि वित्तों में जो लेशमात्र तम है उस तम में ही अविद्या वर्त्तमान है। उस अविद्या से अस्पिता छेश उत्पन्न होता है। अर्थात चेतन तत्त्व से प्रतिविन्धित अथवा प्रकाशित व्यष्टि सत्त्व चित्त व्यप्ति अस्मिता है। इत्र प्रवाधि वित्ते अस्मिता है। विश्वप्ति से प्रवाधि कि साम कहाति हैं। विश्वप्रता कहाति हैं। विश्वप्रता कहाति हैं। विश्वप्ता सम्पाधि में अभिनता की प्रतिविद्या अथवा प्रतिविद्या अथवा के कारण इन दोनों में अभिनता की प्रतिविद्या अथवा श्वर्या स्वादि छेश उत्त्व होते हैं जैसा कि आगे बतलाया जावेगा। अस्मिता छेश से राग द्वेष आदि होता अस्मिता का साजात्कार होता है विवेक ख्याति में सत्त्व की विश्वद्धता में चित्त और अविद्या अन्य सब अस्मिता इश से से स्वाद्या अस्म सहता समाधि में अस्मिता का साजात्कार होता है विवेक ख्याति में सत्त्व की विश्वद्धता में चित्त और अविद्या अन्य सब सब में भेदङ्यान उत्पन्न होने से अस्मिता छेश तिवृत्त हो जाता है और अविद्या अन्य सब

होशों के सिहत दग्ध बीजतुत्य हो जाती है। अब वही लेशमात्र तमस् जिसमें अविद्या वर्त्तमान थी विवेक ख्यातिरूप सात्विक दृत्ति को स्थिर रखने में सहायक हो जाता है।

समाधि पाद सूत्र ८ में विपर्य (अविद्या) वृत्ति रूप से और यहां अविद्या आदि

हेश संस्कार रूप से बतलाये गये हैं।

संगति — इस श्रविद्या के कारण सबसे प्रथम जब चित्त और आत्मा में विवेक जाता रहता है तब जड़ चित्त में श्रात्मा का भाव श्रारोप हो जाने से उसमें और श्रात्मा में श्राभित्रता प्रकट होने लगती है; इससे श्रात्मिता छेश उत्पन्न होता है जिसका लक्ष्ण श्रमले सूत्र में बतलाया गया है।

हुग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

शब्दार्थ — हग-्दशेन-शक्त्योः = हप्शक्ति और दर्शनशक्ति का । एकात्मा-इव = एक रूप-जैसा (भान) होना । अस्मिता = अस्मिता (हेश है) ।

अन्वयार्थ-हग्राक्ति श्रीर दर्शनशक्ति का एक स्वरूप-जैसा भान होना श्रस्मिता

(छेश) है।

ब्याख्या—पुरुष द्रष्टा है, चित्तं दिखाने वाला उसका एक करण है। पुरुष चैतन्य हैं, चित्त जड़ है। पुरुष कियार हित है, चित्त प्रसव-धर्मी अर्थात् किया वाला है। पुरुष केवल है, चित्त त्रिगुणमय है। पुरुष अपरिणामी है, चित्त परिणाम-शील है। पुरुष खामी और चित्त उसकी 'ख': मिलकियत है। इस प्रकार यह दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। पर अविद्या के कारण दोनों में भेद की प्रतीति जाती रहती है। जैसा कि पश्चशिखाचाये ने कहा है:—

बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन् कुर्यात् तत्रास्मबुद्धि भोहेन ॥

अर्थ — (पुरुष) बुद्धि से परे पुरुष को स्वरूपशील और श्रविद्या श्रादि छेश से अप्तगन देखता हुआ मोह (श्रविद्या) से (बुद्धि = चित्त) में आत्मबुद्धि कर लेता है।

इस प्रकार पुरुष चित्त में श्रविद्या के कारण एक जैसा भान होना श्रास्मिता होडा है। इसी को हृदय-प्रनिथ भी कहते हैं। यही श्रसङ्ग पुरुष श्रीर चित्त का प्रस्पर श्रभ्यारोप है इस श्रभ्यारोप से श्रास्मा में बन्धन का श्रारोप होता है।

मुगडक उपनिषद् में इस प्रन्थि के भेदन का उपाय विवेक ख्याति बतलाया है। यथा:--

भियते हृदयग्रंथिशिख्यन्ते सर्वसंशयाः।

त्तीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन हृष्टे परावरे ॥ (स॰ २।२।८)

अर्थ—उस पर और अवर अर्थात् चेतन रूप पुरुष और जड़ रूप चित्त के भेद का विवेक पूर्ण साचान् हो जाने से हृदय प्रान्थि का भेदन हो जाता है। सारे संशय निष्टृत्त हो जाते हैं और सारे कर्म चीर्ण हो जाते हैं।

वि० व०--पुरुष से प्रतिविम्बित अथवा प्रकाशित चित्त की संज्ञा अस्मिता है और

पुरुष व चित्त में अभिन्नता की प्रतीति अस्टिता हेहा है। पुरुष और चित्त में भेद-झान विवेक ख्याति है।

संगति—इस श्रस्मिता क्लेश के कारण मन, इन्द्रियों श्रौर शरीर में श्रात्मभाव श्रर्थात् ममस्त्र श्रौर श्रहमस्त्र पैदा हो जाता है श्रौर उनके. सुख पहुँचाने वाले विषयों श्रौर वस्तुश्रों में राग उत्पन्न हो जाता है जिसका लच्चण श्रगले सूत्र में कहते हैं।

मुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—सुख-अनुशर्या = सुख भोगने के पीछे जो चित्त में उसके भोग की इच्छा रहती है। राग:—उसका नाम राग है।

अन्वयार्थ-सुख-भोग के पीछे जो चित्त में उसके भोग की इच्छा रहती है वह

राग है।

व्याक्ष्या— शर्रार, इन्द्रियों और मन में आत्म-श्रध्यास हो जाने पर ज्ञिन वस्तुओं और विषयों से उनमें सुख प्रतीत होता है, उनमें और उनके प्राप्त करने के साधनों में जो इच्छा-रूप तृष्णा और लोभ पैदा हो जाता है उसके जो संस्कार चित्त में पड़ जाते हैं उसी का नाम राग होश है।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।

तयोर्न वशमागच्छेत्तौ शस्य परिपन्धिनौ ॥ (गीता ३। ३४)

अर्थ — इन्द्रिय इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् सभी इन्द्रियों के भोगों में क्षित जो राग और द्वेष है उन दोनों के वश में नहीं होवे, क्यों कि वे दोनों ही कल्याण मार्ग में विन्न करने वाले महान शत्र हैं।

संगति—यह राग ही द्वेष का कारण है, क्योंकि चित्त में राग के संस्कार जम्म जाने पर जिन वस्तुओं से शरीर, इन्द्रियों और मन को दुःख प्रतीत ही अथवा जिनसे सुख के साधनों में विज्ञ पड़े उनसे द्वेष होने लगता है। अब द्वेष का लज्ञण कहते हैं:—

दुःखानुशयी देषः ॥ = ॥

श्रव्यार्थ—दु:ख-श्रनुशयी = दु:ख के श्रनुभव के पीछे जो घृणा की वासना चित्त में रहती है उसको द्वेप: = द्वेप कहते हैं।

ं अन्ययार्थ – दुःख के व्यतुभव के पीछ, जो घृणा की वासना चित्त में रहती है उसको द्रेष कडते हैं।

ज्यास्या—जिन वस्तुओं अथवा जिन साधनों से दुःख प्रतीत हो उनसे जो घृगा और क्रोध हो उसके जो संस्कार चित्रा में पड़ें उसको द्वेष क्लोश कहते हैं।

संगति—द्वेष क्लेश ही अधीत् शरीर, इन्द्रियों आदि को दुःखों से बचाने के संस्कार ही अभिनिवेश का कारण हैं, जैसा अगले सूत्र से स्पष्ट है।

खरसवाही विदुषोऽपि तथारूड़ोऽभिनिचेगाः॥ ६॥

शब्दार्थ—स्वरसवाही = स्वभाव से बहने वाला (जो कुत्रतती तौर पर बह रहा है) विदुप:-श्रिप = विद्वान् के लिये भी । तथारूद: = ऐसा ही प्रसिद्ध है (जैसा कि मूर्खों के लिये वह)। श्रीभनिवेश: = श्रीभनिवेश क्लेश है ।

अन्वयार्थ—(जो मरने का भय हरएक प्राणी में) खभावतः वह रहा है और विद्वानों के लिय भी ऐसा ही प्रसिद्ध है (जैसा कि मुखों के लिये) वह अभिनिवेश क्लेश है।

व्याख्या—स्वरसवाही—स्वरस नाम वासना द्वारा; वाही नाम प्रवृत्त है। अथात् मरण् भय के संस्कार जो जन्म जन्मान्तरों से प्राणीमात्र के चित्त में स्वभाव से ही चले आ रहे हैं।

ियदुष: —यह शब्द यहाँ कंबल शब्दों के जानने वाले विद्वान् के लिये प्रयोग हुआ है। अर्थात् वह पुरुष जिसने कोरे शास्त्रों का पढ़ा है और क्रियात्मक रूप से योग द्वारा अनुभव तथा यथार्थ झान प्राप्त नहीं किया है। अभिनिवेश के अर्थ हैं 'मा न भूवं भूयासमिति' □ ऐसा न हो कि मैं न होऊँ, किन्तु मैं बना रहूँ। 'शरीरविषयादिभिः मम वियोगो मा भूदिति' = शरीर और विषयादि (रूप-रसादि) से मेरा वियोग न हो। आत्मा अजर-अमर है, जैसा गीता अध्याय २ में बतलाया है।

य एनं वेत्ति इन्तारं यश्चैनं मन्यते इतम् । उभी तौ न विजानीतो नायं इन्ति न इन्यते ॥ १६ ॥

अर्थ — जो इस द्यात्मा को मारने वाला समम्तता है, तथा जो इसको मरा (मरने वाला) समम्तता है; वे दोनों ही (तस्त्र को) नहीं जानते हैं। यह द्यात्मा न मरता है, न मारा जाता है।

न जायते म्रियते वा कदाचिकायं भूत्वा भविता वा न भूयः।

श्वजो निन्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न इन्यते इन्यमाने शरीरे ॥ २०॥

अर्थ—यह आस्मा किसी काल में भी न जन्मता है, न मरता है, अथवा न यह होकर फिर न होने वाला है; क्योंकि यह अजन्मा, निल्य, शास्त्रत श्रीर पुरातन है। शरीर के नाश होने पर भी इसका नाश नहीं होता है।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमन्ययम्।

कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति इन्ति कम् ॥ गीता २। २१॥

अर्थ- हे अर्जुन ! जो पुरुष इस श्रात्मा को नाशेरहित, नित्य, श्रजन्मा श्रौर श्रव्यय जानता है वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है।

बासांसि जीर्णानि यथा विहाय नबानि गृह्वाति नरोऽपराणि ।

तथा शरीराणि विद्वाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवीनि देही ॥ गोता २ । २२

अर्थ-जैसे मनुष्य पुराने वक्षों को त्याग कर दूसरे नये वक्षों को प्रहण करता है वैसे ही आत्मा पुराने शरीरों को त्यागकर नये शरीरों को घारण करता है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।

न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ गीता २ । ३४ ॥

अर्थ—इस श्रात्मा को शस्त्रादि नहीं काट सकते, इसको श्राग नहीं जला सकती, इसको जल नहीं गला सकता श्रीर वायु नहीं सुखा सकता है।

अच्छेचोऽयमदाह्योऽयमक्केचोऽशोष्य एव च।

नित्यः सर्वगतः स्थाग्रारचलोऽयंसनातनः॥ गीता २। २४॥

श्रर्थ—यह आत्मा शस्त्रों से ब्रेदन नहीं किया जा सकता, यह श्रात्मा जलाया नहीं जा सकता, गलाया नहीं जा सकता श्रीर सुखाया नहीं जा सकता है। तथा यह आत्मा निःसन्देह नित्य सर्वेट्यापक, श्रचल, कृटस्थ और सनातन है।

श्रव्यत्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयग्रुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचित्रमईसि ॥ गीता २ । २५ ॥

अर्थ — यह आत्मा अध्यक्त अर्थात् इन्द्रियों का अविषय और यह आत्मा अधिन्त्य अर्थात् मन का अविषय और यह आत्मा अविकारी कहा जाता है इससे इस आत्मा को ऐसा जान कर तमे शोक करना उचित नहीं है।

फिर भी राग देव के कारण शरीर में आत्माध्यास हो जाता है और मूर्त्त से लेकर विद्वान् तक अपने वास्तविक आत्मखरूप को भूलकर भौतिक-शरीर की रहा में लगे रहते हैं और उसके नाश से घबराते हैं। इस सृत्यु के भय के जो संस्कार चित्त में पड़ जाते हैं इन्हीं को आभिनिवेश क्लेश कहते हैं। यह अभिनिवेश क्लेश ही सकाम कर्मी का कारण है, जिनकी वासनाएँ चित्तभूमि में बैठकर वर्त्तमान और अगले जन्मों (आवागमन) को देन वाली होती हैं; जो सूत्र बारह में बतलाया जायगा।

संगति—सब क्लेशों के बीजरूप होने से जो पांचों क्लेश त्यागने योग्य हैं उन पाँचों क्लेशों और उन क्लेशों की प्रसुप्त, ततु, विच्छिन्न और उनार-रूप चार अवस्थाओं का पूर्व सूत्रों में निरूपण किया गया है। परन्तु प्रसंख्यान-रूप (विवेक ख्यातिरूप) अप्रि-द्वारा दग्य बीज-भाव को प्राप्त हुए क्लेशों की पाँचवीं अवस्था का क्यों नहीं वर्णन किया गया ? इस शक्का के निवारणार्थ अगला सुत्र है:—

ते प्रतिपसवहेयाः सुच्माः ॥ १० ॥

द्यार्था— तं = वे (पूर्वोक्त पाँच क्लेश) । प्रति-प्रसव-हेयाः = (श्रसम्प्रज्ञात-समाधि द्वारा) चित्त के श्रपने कारण में लीन होने से त्यागने श्रर्थात् निवृत्त करने योग्य हैं । सूक्ष्माः = क्रिया-योग सं सूक्ष्म श्रीर प्रसंख्यान (विवेक ख्यातिरूप) श्रप्ति से दग्ध-शीज हुए ।

अम्बयार्थ — वे पूर्वोक्त पांच क्लेश जो क्रिया-योग से सुक्रम और प्रसंख्यान आग्नि से दग्धबीज-रूप हो गए हैं; असम्प्रज्ञाव-समाधि द्वारा चित्त के अपने कारण में लीन होने से निवृत्ति करने योग्य हैं। व्याख्या—ते पश्चक्लेशा दग्धवीजकस्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैबास्तं गच्छान्ति । (व्यासभाष्य)

वे पाँच क्लेश जो दग्ध बीज के सदश हैं योगी के चरिताधिकार चित्त के श्रपने कारण (श्रथवा सम्प्रज्ञात समाधि) में लीन होते समय उसी चित्त के साथ लीन हो जाते हैं।

किया-योग से सुक्ष्म किये हुए क्लेश जब प्रसंख्यान (विवेक ख्याति) रूप श्रिप्त से दग्ध-बीज के समान हो जाते हैं तब श्रसम्प्रज्ञात-समाधि द्वारा समाप्त श्रधिकार वाले चित्त के श्रपनी प्रकृति में लीन होने से वे क्लेश भी उसके साथ लीन होकर निशृत्त हो जाते हैं। श्रतिप्रसव के श्रतिरिक्त उन क्लेशों के निरोध के लिये श्रन्य किसी यञ्च की श्रावश्यकता नहीं है।

श्रर्थात् पुरुष के प्रयत्न का जो विषय होता है वहीं उपदेश करने में श्राता है। जो सूक्ष्म क्लेश प्रसंख्यान-रूप श्रिप्त में दग्ध बीज-भाव को प्राप्त हो गए हैं उन पाँचवीं श्रवस्था वाले क्लेशों की निर्शृत्त प्रयत्न का विषय नहीं है। जब तक चित्त विद्यमान रहता है तब तक इन दग्ध-बीज-रूप क्लेशों की निर्शृत्त किसी भी प्रयत्न से नहीं हो सकती, किन्तु जब पर-वैराग्य की हदना से श्रसम्प्रज्ञात-समाधि में निरिधकार प्राप्त हुए चित्त का प्रलय होता है तब चित्त के साथ-साथ ही वे दग्ध-शीज-भाव को प्राप्त हुए क्लेश भी प्रलीन हो जाते हैं, क्योंकि धर्मी के नाश बिना संस्कार-रूप सूक्ष्म धर्मी का नाश नहीं होता। धर्मी के नाश से ही संस्कार-रूप सूक्ष्म धर्मी का नाश होता है। इसलिये वे दग्ध-शीज-रूप पाँचवीं श्रवस्था वाले क्लेश प्रतिप्रसव-हेय श्रर्थात् चित्त के प्रलय होने से (श्रपने कार्ण में लीन होने से) त्यागने योग्य हैं।

चित्त के प्रलय अर्थात् अपने कारण में लीन होने का नाम 'प्रतिप्रसव' और त्यागने योग्य का नाम 'हेय' है। ('प्रसव' का अर्थ उत्पत्ति है उससे विरुद्ध 'प्रतिप्रसव' के अर्थ प्रलय अर्थात अपने कारण में लीन होने के हैं)

रांका - तनुकरण, दग्धवीज भाव श्रौर प्रतिप्रसव श्रर्थात् प्रलय यह कम है। श्रतः दग्ध बीजभाव के प्रति पाठक "ध्यानहेयास्तद्श्वत्तयः॥ ११॥" इस सूत्र को पहिले रखना उचित था।

समाधान - नहीं, मुख्य फल हाने से प्रतिप्रसव अर्थात् प्रलय का ही पहिले उसमें निर्वचन किया है, उसमें द्वार की साकांचा होने पर दग्ध बीजभाव को पीछे कहना उचित है।

संगति — किया-योग (श्रथवा सम्प्रज्ञात समाधि) से तनु किये हुए खंकुर उत्पन्न करने की शक्तिरूप बीज भाव के सिंहत जो तनु क्लेश रूप किस विषयक प्रयत्न से दूर होते हैं ? इसको श्रगले सूत्र में बतलाते हैं।

ध्यानहेयास्तद् इत्तयः॥ ११ ॥

शवार्ध—ध्यान-हेयाः = (प्रसंख्यान-संज्ञक) ध्यान से त्यागने योग्य हैं। तद्वृत्तयः = (क्लेशों की स्थूल बुचिएं) जो क्रिया-योग द्वारा ततु कर दी गई हैं। अन्वयार्थ—क्लेशों की स्थूल वृत्तियें जो क्रिया-योग से ततुकर दी गई हैं, प्रसंख्यान (विवेक ख्याति) संज्ञक ध्यान से त्यागने योग्य हैं। (जबतक कि वे सूक्ष्म हो कर दग्ध बीज के सदश न हो जावें)।

व्याख्या—श्रंकुर उत्पन्न करने की शक्तिरूप बीजभाव के सिहत जो चित्त में क्लेश क्षित हैं वे क्रिया-योग (अथवा सम्प्रज्ञात समाधि) से ततु करते हुए प्रसंख्यान (विवेक ख्याति) रूप ध्यान से त्यागने योग्य हैं, जबतक कि वे सूक्ष्म होते होते दग्ध बीज के सहश न होजावें।

भाव यह है कि प्रसंख्यान विषयक प्रयत्न से उदय हुई जो प्रसंख्यान (विवेक ख्याति) रूप श्रमि है, उस श्रमि में क्रिया-योग द्वारा तनु किये हुए क्लेश-रूप बीज, दग्ध होते हैं। इसलिए जबतक क्रिया-योग से तनु किये हुए क्लेश दग्ध बीज के सहश न होजावें तबतक प्रसंख्यान विषयक प्रयत्न करते रहना चाहिए।

जैसे वस्न का स्थूलमल प्रचालन त्रादि से सुगमता से दूर किया जा सकता है, परन्तु सूक्म-सल विशेष यस्त से दूर करना होता है, ऐसे ही क्लेशों की स्थूल बृत्तिएं कम दुःख दंन वाली हैं (छोटे शत्रु हैं) किन्तु क्लेशों की सूक्ष्म वृत्तिएं श्राधिक दुःखदायी हैं (महान शत्रु हैं)। प्राथीत उदार क्लेशों की शृत्तियें स्थूल-रूप से ही वर्तमान रहती हैं, उनको किया-योग (श्राधवा सम्प्रद्वात समाधि) द्वारा तत्रु करना चाहिए (२।२) ये तत्रु किये हुए क्लेशों की सूक्ष्म वृत्तियें स्थूल वृत्तियों से श्राधिक दुःख देने वाली और महान शत्रु हैं। इसलिये इनके निष्टुत्त करने के लिये विशेष प्रयत्न की श्रावश्यकता है। इन तत्रु किये हुए क्लेशों की सूक्ष्म वृत्तियों को प्रसंख्यान ध्यान की श्राधि संयधवीज के सदश कर देना चाहिये; फिर ये दग्धवीज होकर श्रासन्प्रज्ञात-समाधि में चित्त के प्रलय होने पर उसके साथ खर्य ही प्रलीन हो जाती हैं, जैसा कि पूर्व सूत्र में बतलाया गया है।

संगति—क्लेश ही सकाम कमी के कारण हैं, जिनकी वासनाएँ मनुष्य को संसारचक में डालती हैं।

क्लोशमूल: कर्माशयो द्वष्टादष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥

द्याष्ट्र-क्लोरो-मूलः = क्लश जिसकी जड़ है ऐसी। कर्माशयः = कर्म की वासना। इष्टाइष्ट-जन्म-वेदनीयः = वरोमान श्रोर श्राने वाले जन्मों में भोगने योग्य है।

अन्वयार्थ-क्लेश जिसकी जड़ है ऐसे कर्मी की वासना वर्त्तमान और श्रगले जन्मीं में भोगने योग्य है।

ट्याख्या—सूत्र में 'कर्माशयः' शब्द से कर्माशय का स्वरूप, 'क्लेशमूलः' से उसका कारण, और 'हृष्टाष्ट्रजन्म वेदनीयः' से उसका फल बतलाया गया है। जिन महान योगियों ने क्लेशों को निर्वीज-समाधि द्वारा उखाइ दिया है उनके कर्म निष्काम अर्थात् वासना-रहित केवल कत्तंत्व्य-सात्र रहते हैं, इसलिय उनको इनका फल भोग्य नहीं है। जब चित्त में क्लेशों के संस्कार जमे होते हैं तो उनसे सकाम कर्म इत्वत्र होते हैं। बिना रजोगुण के कोई क्रिया नहीं हो सकती। इस रजोगुण का जब सत्त्वगुण के साथ मेल होता है तो ज्ञान, धर्म, वैराग्य

और ऐश्वर्य के कर्मों में प्रवृत्ति होती है; और जब तमोगुण के साथ मेल होता है तो उसके उल्हे: अक्षान, अधर्म, अवैराग्य और अनैश्वर्य के कर्मों में प्रवृत्ति होती है। यहां दोनों प्रकार के कर्म ग्रुम-अशुम, शुक्ल-कृदण और पाप-पुण्य कहलात हैं। जब तम तथा सत्त्व दोनों रजोगुण से मिले हुए होते हैं तो दोनों प्रकार के कर्मों में प्रवृत्ति होती है; और ये कर्म पुण्य-पाप से मिश्रित कहलाते हैं। इन कर्मों से इन्हीं के अनुकूल फल भोगने के बीज-रूप जो संस्कार चित्ता में पढ़ते हैं उन्हीं को वासमा कहते हैं। यही मीमांसकों का अपूर्व और नैयायिकों का अपूर्व हैं। इसीं को सन्न में कमाशय के नाम से बतलाया गया है।

पुरय कमीशय मनुब्धों से उँचे देवताओं आदि के जैसे भोग देने वाले होते हैं। पाप कमीशय मनुब्ध से नीचे पशु-पन्नी आदि के जैसे भोग देने वाले होते हैं। पाप और पुर्य मिश्रित कमीशय मनुब्धों के जैसे भोग-फल देने वाले होते हैं। उपर तीन श्रे िएयों में वतलाये हुए कमीं में केवल शरीर अथवा इन्द्रियों कारण नहीं होती, वास्तविक कारण उनमें मनोवृत्ति होती है। इस हेतु वह मनोवृत्ति ही वास्तविक कमें है; जिमकी शरणा से शरीर तथा इन्द्रियों में किया होती है। उसी से वासनाओं के संस्कार पड़ते हैं। ये मनोवृत्तियें अनन्त हैं और इनसे उत्तश्च हुए कमीशय अथवा फल-भोग के संस्कार मी अनन्त हैं। इस फकार मनोवृत्ति हुए कमीशय अथवा फल-भोग के संस्कार भी अनन्त हैं। यह कम बरावर चलता हुए कमीशय अथवा फल-भोग के संस्कार मी अनन्त हैं। यह कम बरावर चलता रहता है जब तक कि उनके प्रतिपत्ती या उनसे वलवान कमें उनको दवा न हैं। कुछ कमीशय वर्तमान जन्म में, कुछ अगले जन्म में और कुछ दोनों जन्मों में फल देते हैं। इसको विस्तार-पुर्वेक अगले सुत्र में बतलाया जायगा।

संगति—इन कर्माशयों के अनुसार ही इनका फल, जाति, आयु और भोग होता है;

सतिमृत्ते तद्विपाको जात्यायुर्भीगाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ-सितमूले = श्रविया श्रादि क्लेशों की जड़ के होते हुए । तद्-विपाक: = इसका (कर्माशय का) फल । जाति-श्रावु:-भोगा: = जाति, श्राय श्रौर भोग होते हैं।

अम्बयार्थ — व्यविद्या व्यादि क्लेसों की जड़ के होते हुए उस (कर्माश्य) का फल जाति, आयु और भोग होता है।

बयास्या—मनुस्य, पशु, देव श्रादि 'जाति' कहलाती हैं। बहुत काल तक जीवास्मा का एक शरीर के साथ सम्बन्ध रहना 'श्रायु' पदाये हैं। इन्द्रियों के विषय रूप रसादि 'भोग' शब्दार्थ हैं। यहाँ सूत्र बारह व तेरह में क्लोशं, कर्माशयों, जाति, श्रायु श्रीर भोग को श्रलङ्कार-रूप से वर्णन किया है। क्लोश जह है, उन जहों से कर्माशय का बृज्ञ बदुता है। उस बृज्ञ में जाति, श्रायु श्रीर भोग तीन प्रकार के फल लगते हैं। कर्माशय का बृज्ञ उसी समय तक फलता है जब तक श्रविद्या श्रादि क्लोश-रूपी उसकी जड़ विद्यमान रहती है। प्रसंख्यान (विवेकख्याति) द्वारा इस जड़ के कट जाने पर कर्माशय-रूपी बृज्ज, जाति, श्रायु श्रीर भोगरूपी उसके फल तथा सुख-दुक्ज-रूपी उन फलों के स्थाद की निवृत्ति स्वयं ही हो जाती है। कर्माशय की उत्पत्ति तथा फल में भी श्रविद्या श्रादि क्लेश ही मुल हैं। प्रस्के

सूत्र में बतला आए हैं कि मन की वृत्ति-रूपी कर्म अनन्त हैं जो समस्त जीवन में होते रहते हैं। इनसे उत्पन्न हुये संस्कार भी अनन्त हैं; जिन से चिन्न चिन्नित रहता है। ये संस्कार चिन्ना में प्रवत्त रहता है। ये संस्कार चिन्ना में प्रवत्त रूप से उत्पन्न होते हैं तब उन्हें प्रधान कहते हैं, जो शिथिल रूप से रहते हैं उन्हें उपसर्जन कहते हैं। मृत्यु के समय प्रधान कर्माशय पूरे वैग से जाग उठते हैं और अपने-जैसे पूर्व सब जन्मों के कर्माशय के सिब्बत संस्कारों के आभव्य जक होकर जगा देते हैं (४।९)। इन सब प्रधान संस्कारों के अनुसार ही अगला जन्म, ऐसी जाति, देवता, मनुष्य पशु-पन्नी आदि में होता है जिनमें उन कर्माशयों का फल भोगा जा सके; और उनर्का आयु देने वाले होते हैं जिसमें निश्चित भोग समाप्त हो सकें। उन्हीं कर्माशयों के अनुकूल उनका भोग नियत होता है। इस प्रधान कर्माशय से जो अगला जन्म, आयु तथा भोग नियत हो गया है उर को 'नियत-विपाक' कहते हैं; जो सूत्र बारह में 'इष्टजन्मवेदनीय' से बतलाया गया है।

उपसर्जन कर्माशय जो खगले जन्मों में भोग्य हैं पर खभी उनका फल नियत नहीं दुखा है उन्हें 'खनियत-विपाक कहते हैं। इन्हीं को सूत्र वारह में 'खहष्टजन्मवेदनीय' कहा है। इन उपसर्जन कर्माशयों की, जो दवे पड़े हुए हैं, जिनका फल खभी निश्चित नहीं हुखा है अर्थात जो खनियत-विपाक वाले हैं. तीन प्रकार की गति होती है:—

(१) या तो वे बिना पके ही नियत विपाक को किश्वित् न्यून (दुर्बल) करके खर्य नष्ट हो जाते हैं। इससे यह नहीं समक्तना चाहिये कि वे बिना फल दिये ही नष्ट हो गए; किन्तु नियत-विपाक को कम (दुर्बल) करने में अपना फल दे चुके और नियतविपाक उनके नष्ट करने में उस अंश तक अपना फल दे चुका।

(२) या वे नियत-विपाक के साथ हो जाते हैं और समय-समय पर अवसर पाकर

अपना फल देते रहते हैं।

(३) या वे चित्तभूमि में वैसे ही दबे पढ़े रहते हैं जब तक कि किसी जन्म में उनके फल देने का अवसर नहीं मिल जाता। जब कभी उनके जगाने वाले कर्माशय प्रधान होते हैं तो उस अभिन्यश्वक को पाकर अपना फल देने के लिये जाग उठते हैं।

विशेष वक्तव्य सूत्र १३: — यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि अवस्था भेद से कमों को तीन प्रकार में विभक्त किया जा सकता है। सश्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण।

जो कम्मे खनन्त जनमों में किये गए हैं और खभी तक उनके भीग भोगने की वारी नहीं खाई है, किन्तु केवल संस्कार रूपेण कर्माशय में हैं, उन्हें सध्वत कमें कहते हैं।

कर्माशय में भरे हुए अनन्त कर्मों में से नित थोड़े से कर्मों ने शरीर रूपी फल की इत्पत्ति करदी है अर्थात् जिन का फल इस जन्म में होरहा है उनको प्रारब्ध कर्म कहते हैं।

जिन नवीन कम्मों को संग्रह किया जाता है अर्थात नवीन इच्छा से जो नवीन कर्म नवीन संस्कार उत्पन्न करते जाते हैं, वे क्रियामाण कहलाते है।

सूत्र की ज्याख्या में सिवात कर्मों के संस्कारों को उपसर्जन कर्माशय अनियत विपाक अरष्टअन्मवेदनीय कहा गया है और प्रारब्ध कर्मों के संस्कारों को प्रधान कर्माशय नियत विपाक रष्ट जन्म वेदनीय बतलाया गया है। क्रियमाए कर्मों के संस्कारों का वर्शन इसलिये नहीं किया गया क्योंकि कुछ तो इनमें से प्रारब्ध कर्मों के प्रधान कर्माशय के साथ मिल कर अपना फल देना आरम्भ कर देते हैं और कुछ सिचत कर्मों के उपसर्जन कर्माशय के साथ मिल जाते हैं।

इंका--संसार की उत्पत्ति पुरुष को आत्मिश्चिति कराने के लिये होती है, पशुओं आदि नीच योतियों से मनुष्ययोति में आना और मनुष्य से मनुष्य अथवा देवयोतियों में जाना तो सम्भव है परन्तु मनुष्य से नीच पशु आदि योतियों में जाना विकासवाद (Evolution theory) के विरुद्ध है और इसके मानने में ईश्वर के सवेशक्तिमत्ता, सवेज्ञता, त्या, न्याय और कल्याणुकारी आदि गुर्णों में भी दोष आता है।

समाधान – सामान्यतः तो मतुष्य का जन्म मतुष्यों में ही श्रथवा उससे ऊँची योनियों में ही होता है, पशु-पत्ती श्रादि नीच योनियों में विशेष श्रवस्था में उनको श्रपने कल्यासार्थ ही जाना होता है।

उपर व्याख्या में बतलाया गया है कि मनोवृत्तियाँ अनन्त हैं। यह मनोवृत्तियाँ जष हिसा, विषय-भोग, मकारी, भूठ, अपवित्रता, देश तथा धर्मद्रोह आदि दोषों से मिलकर होती हैं तब वे मनुष्यत्व से नीची है। ये वृत्तियाँ नाना प्रकार के दोषों; काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि के न्यूनाधिक्य और तीनों गुणों के परिणाम के भेद से इतने प्रकार की हैं जितने प्रकार के पेशु, पत्ती, कीट, पतङ्ग, जलचर आदि। पशु आदिकों की स्वाभाविक वृत्तियों और मनुष्य की इस प्रकार की मनोवृत्तियों में कुछ अन्तर नहीं रहता। जिस अवस्था में मनुष्य में इस प्रकार की मनोवृत्तियों उदय होती हैं ता (मानो) वह सुक्स-शरीर से उन्हीं योनियों में हाता है, यद्यपि स्थूल-शरीर मनुष्य-जैसा रहता हैं। उदाहरणार्थ हिंसक-योनि मं जाना बतलाते हैं, उसी से अन्य प्रकार की योनि में जाना समफ लेना चाहिये।

हिंसा और मांस-भन्नए आदि क्र्रता का खभाव भनुष्यत्व के विपरीत धर्म है। हिसकों के संसर्ग से जब किसी में यह दोष उत्पन्न हो जावे और किसी कारए से दूर या कम न हो बल्कि इसमें प्रयुत्ति बर्मा वहती जावे तो उसका स्त्रभाव क्रूर और हिसक हा जावेगा; क्योंकि कमों से संस्कार और संस्कारों से कर्म बनते रहते हैं। यदि यह क्रम बिना किसी रुकावट के चलता रहे तो एक सीमा पर पहुँच कर उसका सुक्ष्मशरीर उसकी अन्य मनोंधुन्तियों की विशेषताओं को सिम्मिलित करके उस हिंसक पशु-विशेष-जैसा हो जाता है जिसमें इस प्रकार के हिसा के अन्तर्गत सर्व गुए होते हैं। ऐसे क्र्र और हिसक मनुष्य के मुख पर क्रूरता और खुंखारी टपकने लगती है। इससे यह प्रतीत होने लगता है कि उसका स्थूल-शरीर स्क्ष्म-शरीर के आकार में परिएत होना आरम्भ हो गया है। स्वभावतः जहाँ कहीं भी वह मनुष्य जावेगा शिकार, हिंसा, मांस-भन्नए आदि के साधन और सामग्री को चाहेगा। जब शरीर को छाड़ने का समय आवेगा तो यही हिंसा से सम्बन्ध रखने वाले कर्माशय प्रधान-रूप स जागेंगे और उसकी सारी गनोवृत्तियों के अनुसार वैसी ही किसी हिंसक योनि में उसका अगला जन्म होगा और वैसी ही आयु तथा भोग होगा। जैसी की कहावत

है ''श्रन्त समय जो मित सो गित'' तथा गीता श्रौर उपनिषद् में भी ऐसा ही बतलाया गया है। तथा:—

यं यं वाऽपि स्परन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भाव-भावितः ॥ गीता ॥ = । ६ ॥

श्रर्थ -- हे कुन्ती पुत्र श्रर्जुन ! यह मनु६। श्रन्तकाल में जिस जिस भी भाव को समरण करता हुआ। शरीर को त्यागता है उस उस भाव को ही प्राप्त होता है सदा उस ही भाव को चिन्तन करता हुआ।

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभि र्जयाते तत्र तत्र ।

पर्ट्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे पविलीयन्ति कामाः । मण्डुक ३ । २ । २

अर्थ—जो इच्छाओं को मन में रखता हुआ उनकी पूर्त्त चाहता है वह मनुष्य उन वासनाओं के अनुनार उत्पन्न होता है। परन्तु जिसने आत्मा का साचात् कर लिया है उस पूर्ण हुई इच्छा वाले मनुष्य की समस्त कामनायें इस शरीर में ही विलीन होजाती हैं। जहाँ किसी हिसक-योनि में ऐशा गर्भ तैयार होगा जिसमें इसकी सारी वासनाओं की पूर्त्ति के सब साधन हों वहीं यह अपना खान बना लेगा, क्योंकि प्राकृतिक नियम यही है कि स्वभाव अपने-जैसे स्वभाव की तरफ खिचता है। चुम्बक-पत्थर जिस प्रकार लोहे को अपनी ओर आकर्षित करता है उसी प्रकार ऐसे गर्भ अपने स्वभाव वाले सूक्ष्म-श्रारीरों को अपनी ओर खांचते हैं। यह ईश्वर के पूर्ण ज्ञान, नियम और व्यवस्था में प्रभाव है कि हरेक प्राणी के लिये शरीर छोड़ने से पूर्व उसके अनुसार गर्भ तैयार रहता है। अब इसमें ईश्वर की द्या, सर्वशक्तिमत्ता तथा कल्याण्कारी स्वभाव और विकासवाद को देखिये।

(१) ईश्वरीय नियमों से तो सदैव ऐसे बुरे कर्मों से बचने की प्रेरणा होती रहती है। मांस, कथिर आदि को देखकर मनुष्य को स्वाभाविक ग्लानि होती है, दूसरों की पीड़ा देखकर दिल काँपना तथा पीड़ित होता है, परन्तु हिंसा रूपी मल का आवरण हृदय पर आ

जाने से ईश्वर की यह आवाज सुनाई नहीं देती।

(२) मनुष्य कर्म तथा भाग दोनों प्रकार की योनि है, इसमें संस्कार बनते भी हैं और धुलते भी हैं। दूसरी जो भोग-योनियें हैं उनमें संस्कार बनते नहीं बल्कि उनकी निवृक्षि होती है। यदि वह हिंसक फिर मनुष्य-योनि में ही ब्याबे तो पिछले कमीशय से दबा हुबा हिंसा के कार्य करता रहेगा और उनसे उसी प्रकार के संस्कार बनते रहेंगे। यह कम सदा के लिये जारी रहेगा और वह अपने वास्तविक कस्याण से विश्वत रहेगा। यदि किसी को अपनी रहा के लिये कोई शक्त दिया जावे और वह नशे की अवस्था में उससे अपने ही शरीर को घायल करने लगे तो उसका हित इसी में होगा कि नशा रहने तक उससे वह शक्त छोन लिया जावे। ईश्वरीय नियम मनुष्य-शरीर इसलिये दिया गया है कि आत्मोकार्त करें और परमात्मा तक पहुंचे यथा:—

भारमानं रियनं विद्धि शरीरं स्थमेवतु । बुद्धितु सारियं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ इन्द्रियाणि ह्यानाहुविषयांस्तेषु गोचरान् । आत्मेन्द्रियमनो युक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥

अर्थ—आश्मा को रथ का स्वामी जानों, द्वारीर को रथ तथा बुद्धि को सारिथ और मन को लगाम सममो इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं और उनके चलने के मागे विषय हैं, इन्द्रिय मन से युक्त आत्मा को बुद्धिमान भोक्ता कहते हैं। इस कारण ईश्वर की द्या से इस नशे के दूर होने तक अथवा इस मल को दूर करने के लिय नीची योनियों में जाना होता है, इस योनि में आगे के लिये संस्कार नहीं बनते बल्कि पिछले हिंसा आदि के संस्कार धुल जाते हैं; और वह फिर मनुष्य-योनि में पांवत्र होकर आत्मोत्रित के लिये आता है। यह योनियाँ तो अन्तःकरण के मल घोने के स्थान हैं।

जिस प्रकार श्रानजान बालक श्रापने शरीर को विष्टा में सान लेता है तो माता नाली के पास ले जाकर पानी से घोती है, इसी प्रकार कल्याण्कारिएी प्रकृति माता श्रापने पुत्रों के इन मलों को इन योनियों में श्रापने हितकारी नियमों के जलों से घोती है।

(३) इसमें ईश्वर की दया है न कि क्रूरता। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य खपनी इच्छा की पूर्त्ति में ही सुख समभता है; और इस प्रकार ईश्वर के पूर्ण ज्ञान वाले नियम उनकी इच्छाओं के श्रनुसार योनियों में भेजकर उनकी इच्छा-पूर्त्ति करते हैं।

(४) इसी तरह ईश्वर की कल्याणकारिता यह है कि इस प्रकार मनुष्य के सब मल

धुल जाते हैं और उसे फिर उन्नति करने का अवसर मिल जाता है।

(५) इसमें ईश्वर का न्यायकारी नियम भी खा जाता है जिससे हर प्राणी को उसके कमों के अनुकुल फल मिल जाता है और इसमें उसकी सर्वेक्षता भी पाई जाती है कि जिससे समस्त संसार का कार्य व्यवस्था-पूर्वक चल रहा है; क्योंकि जिस प्रकार घड़ी के चलाने में सब इर्गरधार अपने-अपने खान करते हैं इसी प्रकार संसार-रूपी घड़ी के चलाने में सब इर्गरधारी अपने-अपने स्थान पर कुछ-न-कुछ काम कर रहे हैं।

संगति-जाति, आयु श्रीर भोग में पाप श्रीर पुरव के श्रनुसार सुख-दु:ख मिलता

है, यह अगले सूत्र में बतलाते हैं:-

ते हादपरितापफला: पुरायापुरायहेतुस्वात् ॥ १४ ॥

शध्दार्थ—ते = वे (जाति, घायु, भोग) । हलाद-परिताप-फला: = मुस्त-दुःख फल के देने वाले होते हैं । पुरुष-घपुरुष-हेतुत्वात् = पुरुष तथा पाप कारण होने से ।

अन्वयार्थ—वे (जाति, श्रायु और भोग) सुख-दुःख रूपी फल के देने वाले होते हैं क्योंकि उनके कारण पुरुष और पाप हैं।

पिछले सूत्र में बतलाये हुए कर्माशयों के फल जाति, आयु और भोग

भी दो प्रकार के (खादवाले) होते हैं। एक सुख के देने वाले (मीठे खादवाले), दूसरे द:ख के देने वाले (कड़वे खाद वाले)।

पुरुष अर्थात् अहिंसात्मक:-दूसरों को सुख पहुँचाने वाले कर्मों से जाति, श्राय श्रीर भोग में सुख मिलता है। पाप अथात् हिंसात्मक:-दूसरों को दु:ख पहुँचाने वाले कमों से दु:ख मिलता है। पिछले सूत्र में बतलाये हुए कमी को जब खाथे छोड़ कर दूसरे प्राणियों के कल्यागार्थ उनकी यथार्थ भलाई श्रीर सुख पहुँचाने की मनोवृत्ति से किया जाता है तो वे कत्ता को सुख पहुँचाने का कारण होते हैं; और जब वे खार्थवश दूसरे प्राणियों को काम. क्रोध, लोभ, मोहादि से दुःख देने की मनोवृत्ति से किये जाते हैं। तो वे करने वाले को दःख का कारण होते हैं। यही कारण है कि सर्वे योनियों में सुख-दुःख दोनों देखे जाते हैं। जिस प्रकार भौरे को फूल की सुगन्ध में आनन्द प्रतीत होता है इसी प्रकार विष्टा के कीड़े को विष्टा में सुख प्रतीत होता है। जिस प्रकार इसको सुगन्धित फूल के न मिलने में दुःख होता है इसी प्रकार उसकी विष्टा के न मिलने में दुख होता है। कुछ मनुख्यों को ऐश्वर्य, सल. राज, धन, सम्पत्ति, सब प्रकार के साधन प्राप्त हैं, श्रीर कुछ छले, लंगड़े, श्रम्धे, कोटी, रोटी से तक्क, सर्दी में ठिदुरते हैं। इससे नीची योनियों में पशु-पत्ती भी इनसे ऋधिक सख पाते हैं। कुछ कुत्ते गलियों में मारे-मारे फिरते हैं; कुछ मोटरों में बैठते हैं, नाना प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ खाते श्रीर तीन-तीन नौकर उनकी सेवा में रहते हैं। जो सुख श्रथवा द:ख दसरों को दिये हैं उनका फल सुख-दु:ख अवश्य मिलता है, चाहे इस योनि में अथवा दसरी योनियों (जन्मों) में । सुख-दुःख पहुँचाने वाले कर्मों में भी मनोवृत्तियाँ ही कारण होती हैं। डाक्टर एक पक्के फोड़े को नश्तर द्वारा चीरकर उसके मवाद को निकालता है. इससे डाक्टर के चित्ता में सुख पाने के कमेविपाक बनते हैं, यदि कोई मनुत्म द्वेष से उसी फोड़े में चाकू मारता है तो उसके चिरा में दुःख पाने के कमेविपाक बनते हैं। श्रकर्म में भी कमें होता है, और कमें में भी अकर्म होता है। जैसा कि श्रीकृष्ण जी महाराज ने गीता क्राध्याय ४ में बतलाया है:--

कर्मणो सपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः। अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥ १७॥

अर्ध — कर्म का खरूप भी जानना चाहिये और श्रकर्म का खरूप भी जानना चाहिये तथा निषद्ध कर्म का खरूप भी जानना चाहिये क्योंकि कर्म की गति गहन है।

कर्मेष्यकर्म यः पश्येदकर्मेषा च कर्म च।

स बुद्धिमान्मतुष्येषु स युक्तः कृत्सन-कर्मे कृत् ॥ गीता ४ । १८

अर्थ—जो पुरुष कर्म में अर्थात् अहंकार रहित अनासक्त भाव से की हुई संपूर्ण चेष्टाओं में अकर्म अर्थात् वास्तव में उनका न होना पना देखे और जो पुरुष अकर्म में भी कर्म के अर्थात् त्याग रूप क्रिया को देखे वह पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान् है और वह योगी संपूर्ण कर्मों का करने वाला है।

यस्य सर्वे समारम्भाः काम-संकल्प-वर्जिताः।

ब्रानाग्नि-दग्ध-कर्माणं तमाहुः परिदतं बुधाः ॥ गीता ४ । १६

अर्थ-जिसके संपूर्ण कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं ऐसे उस ज्ञान रूप श्रद्धि द्वारा भस्म हये कर्मी वाले पुरुष को ज्ञानी जन परिडत कहते हैं।

त्यक्तवा कर्मे पला-सङ्गं-नित्य त्रप्तो निराश्रयः ।

कर्मग्रयभि-प्रवत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः ॥ गीता ४। २०॥

अर्थ-जो पुरुष सांसारिक आश्रय से रहित सदा परमानन्द परमात्मा में तुप्त है वह कभी के फल और सङ्ग अर्थात कर्तृत्व अभिमान को त्याग कर कर्म में अच्छी प्रकार बर्तताहम्या भी कुछ भी नहीं करता है।

यदि किसी के समन्न कोई हिंसक जन्तु किसी सोते हुए मनुष्य को काटने के लिये जावे और वह मनुष्य उसको दुःख देने के विचार से न बचावे अथवा कोई अपने किसी नियत कर्त्तच्य कर्म को न कर ता वह अकर्म में कर्म होगा। इससे भी दःख पाने के कर्मविपाक बनेंगे।

कर्म-सिद्धान्त बहुत गहुन है, स्थूल-बुद्धि से समक में नहीं श्रा सकता, एकाप्रबद्धि से ही समका जा सकता है। इस कमें सिद्धान्त का सार यही है कि कोई कमें भी किसी को दु:ख देने की नीयत से न किया जाने "मा हिस्यात्सर्व-भूतानि"। वास्तव में न कोई किसी को सख दे सकता है न दु:ख। जो भिलना है वह उसे अवश्य मिलेगा। मनुष्य दसरों को सख-दु:ख पहुँचान की नीयत से कर्म करके अपने अन्दर सख-दु:ख पाने के कर्मविपाक एकत्र कर लेता है।

संगति - योगी के लिये मुख-दु:ख दोनों दु:ख-रूप ही हैं, अब यह बतलाते हैं:-परिग्णापतापसंस्कारतुःखेर्गुं ए दिचित्रिं। याच्या दुःखमेव सर्वे विवेकिनः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ-परिणाम-ताप-संस्कार-दुःखै; = परिणाम, ताप, संस्कार के दुःखों से। गुण-वृत्ति-विरोधान-च = श्रीर गुणों की वृत्तियों के विरोध से। दुःखं-एव-सर्व-विवेकिनः = द:ख ही है सब-क़ब अयात सुख भी दु:ख ही है विवेकी कां।

अन्वयार्थ क्योंकि (विषय-सुख के भोगकाल में भी) परिणाम-दु:ख, ताप-दु:ख श्रीर संस्कार-दु:ख बना रहता श्रीर गुणों के स्वभाव में भी विरोध है, इसलिये विवेकी

पुरुष के लिये सब-कुछ (सुख भी जो विषय-जन्य है) दु:ख ही है।

व्याख्या-जिस प्रकार विष मिला हुआ खादिष्ट पदार्थ भी बुद्धिमान के लिये त्याज्य है इसी प्रकार जिन योगी-जनों को सम्पूर्ण क्लोश तथा उनके विभाग श्रादि का विवेकपूर्ण **ज्ञान हो गया है उनका संसार के सब विषय-सुखों में दुःख ही दुःख प्रतीत होता है। क्योंकि** इन सुखों में भी चार प्रकार का दुःख सम्मिलित है जो नीचे व्याख्या सहित वर्णन किया जाता है:--

परिणाम-दुख - विषय-सुख के भोग से इन्द्रियों की तृप्ति नहीं होती बल्कि रागक्लोश

(२(७) उत्पन्न होता है। ज्यों-क्यों भोग का श्रभ्यास बढ़ता है त्यों-त्यों तृष्णा बलवान् होती है। यथा

न जातु कामः कामानामुषभोगेन शाम्यति । इविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥—(मन्द्र॰ २।९४)

अर्थ — विषय-कामना विषयों के उपभोग से कभी शान्त नहीं होती किन्तु सामग्री के डालने से र्याप्त के सहश और अधिक भड़कती है। अधोत् हविः (सामग्री) डालने से अप्रि बुक्तती नहीं किन्तु और बढ़ती है इसी प्रकार विषय-सुख के भोग से विषय सुख की कामना शान्त नहीं होती किन्तु और बढ़ती है।

विषयों के भोग से इन्द्रियें दुवेल हो जाती हैं, अन्त में इन्द्रियों में विषय-भोग की शक्ति बिल्कुल नहीं रहती और तृष्णा सताती है। यह सुख परिणाम में दुःख ही है।

ताप-दु: त्र—विषय-सुख की प्राप्ति में और उसके साधन में राग-क्लेश (२।७) उत्पन्न होता है और उनमें जो रुकावटें होती हैं उनसे देष-क्लेश (२।८) उत्पन्न होता है। यह सुख के नाश होने का दु:ख, सुख के भोग-काल में भी सताता रहता है। इसी कारण यह सुख परिणाम में ताप-दु:ख है।

संस्कार-दु:ख—सुंख के भोग के जो संस्कार चित्त पर पड़ते हैं उनसे राग (२।७) उत्पन्न होता है, मनुष्य उनके प्राप्त करने में यह करता है। उनमें रकावटों से द्वेष (२।८) होता है। इस प्रकार राग-देष के भी संस्कार पड़ते रहते हैं श्रीर उनके वर्शाभूत होकर जो ग्रुभाग्रुभ कर्म करता है उनके भी संस्कार पड़ते हैं। यह संस्कार श्रावागमन के चक्क में डाजने वाले होते हैं इसलिये यह सख परिणाम में संस्कार-दु:ख है।

गुण-चृत्ति-विरोध-दुःख—सत्त्व, रजस्, तमस्; ये क्रम से प्रकाश, प्रवृत्ति और स्थिति स्वभाव वाले हैं। इनकी क्रम से सुख, दुख और मोह-रूपी वृत्तियें हैं। ये तीनों गुण पिरणामी हैं। कभी एक गुण दूसरे को दबाकर प्रधान हो जाता है, कभी दूसरा उसको। जब सक्त, रजस् तथा तमस् को दबा लेता है तब सुख वृत्ति का उदय होता है। जब रजस्, सत्त्व तमस् को दबा लेता है तब सुख वृत्ति का उदय होता है। इस कारण इनकी वृत्तियों में भी परिणाम का होना आवश्यक है और सुख के पश्चात् दुःख और मोह का होना साभाविक है। यह गुण वृत्तियों के विरोध से सुख में दुःख की प्रतीति है। जिस प्रकार मकड़ी का जाला आँख में पड़कर अत्यन्त दुःखदायी होता है इसी प्रकार विवेकी योगियों का चित्त अत्यन्त गुद्ध होता है, उनको लेश-मात्र भी दुःख और क्लेश खटकता है। इस कारण वे संसार के सुखों को भी सदैव त्वाज्य और दुःख-रूप समक्रते हैं। इसी प्रकार सांख्य दर्शन अध्याय ६ में बतलाया गया है

'कुत्रापि कोऽपि सुस्तीति'॥ ७॥ र 'तद्पि दुःस्व शवत्तमिति दुःस्वपक्षे निःचिपन्ते विवेचकाः'॥ ८॥ २३ १७७

अर्थ-क्या कहीं कोई सुखी है अर्थात् कहीं कोई भी सुखी नहीं है। (जिसको सुख समका जाता है) वह सुख भी दु:ख से मिला हुआ है इसलिये उस सुख को भी दु:ख के

पन्न में विवेकी पुरुष संयक्त करते हैं।

संगति-जिस प्रकार चिकित्सा शास्त्र में रोग, रोग का कारण, आरोग्य, आरोग्य का साधन (बौषधि), चार विषय होते हैं इसी प्रकार यहाँ इस शास्त्र में (१) दुःख जो "हेय" त्याज्य है सूत्र १६ में, (२) दु:ख का कारण द्रष्ट-दृश्य का संयोग जो "हेय-हेतु" है सूत्र १७ में, (३) दु:ख का नाश, इस संयोग का अभाव जो "हान" अर्थात कैवल्य है सूत्र २५ में, और (४) विवेकल्याति कैवल्य का साधन जो 'हानोपाय'' है सूत्र २६ में वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह शास्त्र चतुर्व्युह कहलाता है। "हेय" अर्थान त्याज्य क्या है, यह अगले सूत्र में बतलाते हैं:--

हेर्यं दुखमनागतम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ - हेयं = त्याज्य । दु:खं = दु:ख । श्रनागतम् = श्राने वाला है ।

अन्वयार्थ-आने वाले दुःख हेय (त्यागने योग्य) हैं।

ब्याख्या-भूतकाल का दुःख भोग देकर व्यतीत होगया इसलिय त्यागन योग्य नहीं। वर्त्तमान दुःखं इस चएा में भोगा जारहा है दूसरे चएा में स्वयं समाप्त हो जायगा, इस कारण त्याज्य नहीं। इसलिए श्रानेवाला दुःख ही त्यागने योग्य है। विवेकी जन उसी को हटाने का यह करते हैं।

संगति - इस हेथ दु:ख का कारण "हेय हेतु" क्या है, यह अगले सूत्र में बतलाते हैं:---

द्रष्ट्रहरययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥

द्मान्दार्थ -- द्र^{द्}र-दृश्ययो: -- संयोग: = द्रष्टा श्रीर दृश्य का संयोग । हेय-हेतु: = हेय (त्याभ्य दुःहा) का कारण है।

अन्वयार्थ-द्रष्टा और दृश्य का संयोग "हेय-हेतु" (दु:ख का कारण) है।

व्याच्या - द्रष्टा चेतन पुरुष है जो चित्त का खामी होकर उसको देखने वाला है। हरय चित्त है जो स्व (मिलकियत) बनकर पुरुष को गुर्णों के परिग्णाम-स्वरूप संसार को दिखाता है। चित्त द्वारा देखे जाने के कारण यह सारा गुणों का परिणाम विषय. अरीर श्रीर इन्द्रिय स्नादि भी सब दृश्य ही हैं।

संयोग-इस पुरष और चित्त का जो श्रासक्ति सहित श्रविवेक पूर्ण भोक्ता भोग्य भाव का सम्बन्ध है उसके लिये यहाँ संयोग का शब्द आया है। यही इस दुःस का (जा पिछले सूत्र में हेय अर्थात् त्याज्य बतलाया था) "हेतु" अर्थात् कारण है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि शुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।

ग्रुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि-जन्ममु ॥ गीता १३ । २१ ॥ अर्थ:-- प्रकृति में स्थित हुचा ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुस्तात्मक सब पदार्थी पृष्ठ १७८ पर सूत्र १६ की टिष्पणी प्रेसवालों की भूल से छपने से रहनाई है। उसके बिना सूत्र २६ तथा सूत्र २९ की टिष्पणी का विषय अधूरा रह गया है। इसलिये उसकी यहां संक्षेप से लिख देना आवश्यक हैं—

पृष्ठ १७८ पंक्ति २७ के पश्चात

टिप्पणी सूत्र १६—बौद्ध दशेन—वैदिक दर्शनों के चार प्रतिपाद्य विषयों को बौद्ध धर्म में 'चार श्रार्थ-सत्य' के नाम से वर्णन किया गया है:—

पहिला त्रार्थ-सत्य—दुःखम्—इस संसार का जीवन दुःख से परिपूर्ण है। दूसरा त्रार्थ-सत्य—दुःखसमुदयः—इस दुःख का कारण विद्यमान हैं। तीसरा त्राये सत्य—दुःख निरोधः—इस दुःख से वास्तविक मुक्ति मिल सकती है। चौथा त्रार्थ सत्य—निरोधगामिनी प्रतिपद्—दुःखो के नाश के लिये वास्तविक मार्ग है।

(१) दुःख—दुःख की व्याख्या करते समय तथागत ने बतलाया है 'हे भिक्षुगण, दुःख प्रथम व्याय-सत्य है। जन्म दुःख है। वृद्धावस्था भी दुःख है। मरण भी दुःख है। शोक, परिदेवना, दौमेनस्य, उपायास सब दुःख है। व्यप्तिय वस्तु के साथ समागम दुःख है। प्रिय के साथ वियाग भी दुःख है। ईस्तित वस्तु का न मिलना भी दुःख है। संचेप से कह सकते हैं कि राग के द्वारा उत्पन्न पांचों स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) भी दुःख हैं। धम्मपद गाथा १४६ में बतलाया है:—

को जुहासो किमानन्दो निर्च पज्जलिते सति। (को जुहास: क ग्रानन्दो निस्यं पञ्चलिते सति)

जब यह संसार नित्य जलते हुये घर के समान है, तब यहां हंसी क्या हो सकती है और श्रानन्द क्या मनाया जासकता है।

(२) दुःख समुदय —योगदर्शन के हेय हेतु के स्थान में यह दूसरा आर्य सत्य है। समुदय का अर्थ हेतु है। यहाँ दुःख का हेतु तृष्णा बतलाई गई है। मिक्सिम निकाय में भगवान बुद्ध के शब्दों में बतलाया गया है—

हे भिक्षुगण, दुःख समुदय दूसरा त्राये सत्य है। दुःख का वास्तविक हेतु तृष्णा है जो वारम्वार प्राणियों को उत्पन्न करती है, विषयों के राग से युक्त है तथा उन विषयों का अभिनन्दन करने वाली है। यहां त्रीर वहां सवेत्र त्र्यानी तृष्ति खोजती रहती है। यह तृष्णा तीन प्रकार की है (२) कामतृष्णा जो नानाप्रकार के विषयों की कामना करती है (२) भवतृष्णा जो संसार की सत्ता को बनाये रखती है (३) विभव तृष्णा जो संसार के नाश की इच्छा करती है। संत्रेप में दुःख-समुदय का यही स्वरूप है।

सरितः स्निज्धाश्च सौमनस्या भवन्ति जन्तोः। ते स्रोतः स्रता सुर्वेषिणस्ते वे जातिजरोपगा नराः॥ (धम्मपद्गाथा २४१)

तृष्णा की धारायें प्राणियों को बड़ी प्रिय श्रीर मनोहर लगती हैं। सुख के फेर में पड़े उसकी धारा में पड़ते हैं श्रीर बार-बार जन्म जरा के चक्र में जाते हैं।

न तद् हदं बन्धनमाहुधीरा यद् आयसं दारूजं वर्वजं च । संरक्त-रक्ता मणिकुंदलेषु पुत्रेषु दारेषु च या ऽपेथा ॥

(धम्मपद गाथा ३४५)

धीर विद्वान् पुरुष लोहे, लकड़ी तथा रस्ती के बन्धन को टढ़ नहीं मानते। वस्तुतः टढ़ बन्धन है— सारवान पदार्थों में रक्त होना या मिण, कुण्डल, पुत्र तथा स्त्री में इच्छा का होना।

ये रागरक्ता अनुपतन्ति स्रोतः स्वयं कृतं मर्कटक इव जालम् । (धम्मपद गाथा ३४७)

जो राग में रक्त हैं, वे जैसे मकड़ी श्रापने बनाये जाल में पड़ती है, वैसे ही श्रापने बनाये स्नात में पड़ते हैं। मिज्मिम निकाय में बतलाया गया है "यही तृष्णा जगन् के समस्त विद्रोह तथा विरोध की जननी है। उसी के कारण राजराजा से लड़ता है, चित्रय चित्रय से लड़ता है, श्राक्षण श्राह्मण से लड़ता है; माता पुत्र से लड़ती है श्रीर लड़का माता से लड़ता है। समस्त पाप कर्मों का निदान यही तृष्णा है। चोर उसी के लिये चारी करता है; कामुक इसी के लिये परस्रीगमन करता है। धनी इसी के लिये गरीवों को चूसता है। तृष्णामूलक यह संसार है। तृष्णा ही दुःख का कारण है। इसी का समुच्छेद प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है"।

को भोगता है और इन गुणों का सङ्ग ही इस जीवात्मा के अच्छी जुरी योनियों में जन्म लेने में कारण है (सस्व गुण के संग से देवयोनियों में, रजोगुण के संग से मनुष्य योनि में और तमोगुण के सङ्ग से पशुपत्ती आदि नीच यानियों में जन्म होता है।)

टिप्पण्लिः—इस सूत्र की व्याख्या शीवता तथा सरतता के कारण हमने प्रथम संस्करण में भोज पृत्ति खतुसार कर दी थी। इस के व्यास भाष्य के सममने में कई एकों को कुछ शंकाएं उत्पन्न हुई हैं, इसिलये उनके स्पष्टीकरण के साथ व्यास भाष्य के भाषार्थ को लिखा जाता है।

ब्या॰ भा॰ भाषार्थ सूत्र १७: — द्रष्टा नाम बुद्धि-प्रतिसम्बेदी पुरुष का है अर्थात् बुद्धि में प्रतिविम्बित होकर तदाकारता को धारण करने वाले अथवा अपने प्रतिविम्ब द्वारा बुद्धि को चेतन तुल्य करने वाले पुरुष के लिये द्रष्टा का शब्द प्रयोग हुआ है।

हश्य नाम बुद्धि सत्त्वोपारूढ़ सब धर्मों (सत्त्व में स्थिर हुई सर्व धर्मों वाली) का है। अर्थात् बुद्धि तथा इन्द्रियों द्वारा जिन पदार्थों को बुद्धि से मह्ण किया जाता है अथवा आईकार आदि द्वारा जितने तत्त्व बुद्धि से उत्पन्न होते हैं उन सब प्रकृति के कार्य्यों को हश्य पद से मह्ण करना चाहिये। यई बुद्धि आदि दृश्य ही अयस्कान्तमणि के तुल्य सन्निधिमान्न से दृष्ट रूप खामी का उपकार करता हुआ हश्य रूप से ख हो जाता है (और भोक्ता भृत पुरुष का भोग्य)। यद्यपि यह हश्य अपने जड़ रूप से लब्ध सत्ता वाला होने से स्वतन्त्र है तथापि पुरुष के अर्थ होने से इसकी परतन्त्र ही जानना चाहिये।

यह पुरुषार्थे प्रयुक्त जो स्व स्वामी भाव वा ष्टाष्ट्रस्य भाव वा भोक्त भोग्य भावरूप अनादि प्रकृति पुरुष का संयोग है वह दुःख का कारण है । पश्वशिखाचार्य्य ने भी ऐसा

ही कहा है:--

''तत्संयोगहेत्वविवर्जनात्स्याद्यमात्यन्तिको दुःखमतिकारः''

चर्थात् दुःख के कारण युद्धि संयोग के विवर्जन से (हट जाने से) दुःख का ध्यत्यन्त प्रतिकार (नाश) हो जाता है।

(यहां यह भी जान लेना चाहिये कि यह संयोग ही श्रस्मिता क्लेश हैं, श्रौर जिसका कारण श्रविद्या है। श्रौर श्रविद्या सत्त्वचित में जो लेशमात्र तम है उसमें वर्तमान है)।

जिस प्रकार लोक में परिहार करने योग्य दुःख-हेतु पदार्थ-प्रतिकार (निहक्ति का चपाय) है। इसी प्रकार यहां भी दुःख हेतु संयोग का प्रतिकार जान लेना चाहिये। वर्षाच् जिस प्रकार लोक में पादतल (पैर का तलवा) भेद्य (दुःख पाने वाला) है और कपटक (कांटा) भेदक (दुःख देने वाला) है और कपटक पर पैर न रखना वा जूते पहिनकर पैर रखना यह इस पैर के नलवे में कांट लगने के दुःख का प्रतिकार (ज्वाय) है। इसी प्रकार यहां कोमल पादतल के तुल्य महुल सत्त्वगुण (सत्त्वप्रधान मुद्धि व्यथवा सत्त्व चित्र) तथ्य (दुःख पाने वाला) है और प्रकृति पुद्ध

के संयोग की हानि वा विवेक ख्याति इस तापका प्रतिकार है जैसे लोक में भेदा भेदक और परिहार इन तीनों को जानने वाला भेदक-कएटकादि की निवृत्ति के उपाय अनुष्ठान करके भेद-जन्य दु:ख को प्राप्त नहीं होता वैसे यहां भी जो तप्य तापक और परिहार इन तीनों पदार्थों को जानता है वह भी विवेक ख्याति रूप अनुष्ठान करके संयोग जन्य दु:ख को प्राप्त नहीं होता

यशाप तापरूप जो किया है वह कर्मभूत सत्त्व (चित्त) में ही है न कि पुरुष में सर्थात् बुद्धि (चित्त) ताप्य है न कि पुरुष, क्योंकि पुरुष अपरिणामी तथा निष्क्रिय है तथापि विश्वित विषयस्वरूप उपाधि से वा अविवेक से बुद्धि के तदाकार होने से पुरुष भी तदाकार थारी अनुताप को शाप्त हो जाता है। इसलिये पुरुष में औपाधिक ताप का संयोग है स्वर्थात् बुद्धि उपाधि के सम्बन्ध से पुरुष ताप्य है। श्रकृति पुरुष का सम्बन्धतापक है और विवेक्कव्याति इसका परिहार है।। १७॥

विशेष जानकारी के लिये—विज्ञानभिक्षु के योग वात्तिक का भाषा-

नुवाद ॥ सूत्र १७॥

हेर्य के सूत्र की व्याख्या करके कम से प्राप्त हेय के हेतु के प्रतिपादक सूत्र का श्रवतरण करते हैं -तस्मात् --जो हय कहा जाता है, उसके ही कारण का निर्देश किया जाता है---क्रपृष्टश्ययोः संयोगो हेयहेतु: --क्रष्ट्र शब्द के पदार्थ को कहते हैं--

द्रष्टा बृद्धि प्रतिसंवेदी पुरुष है—

प्रातसंघेदन-संवेदन-बुद्धि की वृत्ति के प्रतिविम्ब का नाम है। प्रतिध्वनि के समान इस (प्रतिसंवेदन) झब्द का प्रयोग किया गया है। वह प्रतिसंवेदन जिसको होवे

वह बुद्धि की यृत्ति का प्रतिसंवेदी-बुद्धि का सान्ती बुरुन है यह फलितार्थ है।

हर्य पदार्थ को कहते हैं—हरय-बुद्धि सत्त्व में उपारुद्ध सब धर्म हैं। बुद्धि सस्त्व को भी हरय होने से यहाँ विशेषण विविद्धित है, धर्म उसको भी बुद्ध यारुद्ध होने से बुद्धि धर्मत्व विविद्धित है, इस अभिप्राय से—हरय-बुद्धपारुद्ध सब धर्म हैं, यह कहा गया है—ये धर्म बुद्धि के कार्य हैं, इस अभिप्राय से नहीं कहा है। क्योंकि प्रधान आदि का भी हरय होने से त्याग उचित नहीं है। उत्तर सूत्र में मुख्यतया प्रधान को ही हरय कहा है। यापि बुद्धपारुद्ध (बुद्धि में प्रतिविद्धित है) पुरुष भी हरय है, तो भी वह दुःख से रहित है अतः उसका दर्शन हेय दुःख का हेतु नहीं है, इस आशय से यहाँ हरय के अन्दर पुरुष की गिनती नहीं करेंगे। तथा सुख दुःख भीहात्मक हरयवाली बुद्धि के साथ द्रष्टा-साची पुरुष का जो काष्ट में अपि के समान सम्बन्ध है—जिसको बन्ध भी कहते हैं वह दुःख का हेतु है, यह सूत्र का अर्थ है। बुद्धपारुद्ध हरयों के साथ द्रष्टा का ज्ञानरूप संयोग हेय का हेतु यहाँ विविद्यत नहीं है।

'स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलिधहेतुः संयोगः'

इस आगामी सूत्र से इस ज्ञान रूप संयोग को ज्ञान का हेतु ही कहा है, ज्ञान रूप नहीं कहा है। इस सूत्र से बुद्धि और आत्मा के संयोग की भांति घटादि बस्तुष्टों के साथ आत्मा का संयोग भी भोग का हेतु है, यह जानना चाहिये। क्योंकि लाघव हैं से भोक्ता और भोग्य वस्तु का संयोग ही सामान्य भोग का हेतु कहना उचित है। विषय के भोग में बुद्धि के अवच्छेद से विषय का संयोग हेतु है अतः अतिन्याप्ति नहीं है। यह संयोग पुरुषार्थ का हेतु है और इस संयोग का हेतु पुरुषार्थ है इस बात को कहने के लिये — सकल पुरुषार्थस्वरूप जो पुरुष का खल है—सम्पत्ति है—उसका बुद्धि में प्रतिपादन करते हैं — तदेतिदिति —वह यह दृश्य — अयस्कान्त मिण् के सदृश सिश्चिमात्र से उपकारी दृश्यस्व से खामी पुरुष का खन्द-सम्पत्ति होता है।

शंका-'तस्य हेतुरविद्या' इस श्रागामी सूत्र से ही संयोग का कारण कहेंगे,

यहाँ संयोग के कारण की अपेक्षा नहीं है ?

समाधान — यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि श्रविद्या को भी पुरुषार्थ की श्रसमाप्ति के द्वारा बन्ध की हेतुता श्रागे कहेंगे। तदेतद् इत्यादि का श्रथं यह है कि तद् बुद्धि सत्व है, यह दृश्य जगत जिसमें रहता है वह दृश्य है श्रतः श्रयस्कान्तमिण् के समान सिन्निधि-मात्र से उपकारी होने से श्रीर ख्वयं दृश्य होने से ज्ञान मात्र खरूप—स्वामी पुरुष का वह ख-श्रास्मीय (सम्पत्ति) होता है।

शंका—्बुद्धिका अन्य स्वामी क्यों मानते हो ? वह बुद्धि ही अपरतन्त्रा, स्वयं

ही द्रष्ट्री स्वार्थ ही हो सकती है।

समाधान—तत्राइ अनुभवकर्मेति—वयों कि कर्म कर्त विरोध होने से आप अपना
दरय तो हो नहीं सकता (अत:) अनुभव नामक जो पुरुष का कर्म हैं, इस कर्म का
विषय होता हुआ ही अन्य रूप से पुरुष जैतन्य से प्रतिलन्धात्मक-सिद्ध सत्तावाला—अथवा
अन्य रूप से अन्य के प्रयोजन के कारण प्राप्त श्वित (अत:) स्वतन्त्र होने पर भी पुरुष
के अनाश्रित भी पदार्थ होने से परतन्त्र हैं, पर-पुरुष का स्व-सम्पत्ति है। इस प्रकार दश्य
नामक-भोग्यात्मक अखिल पुरुषार्थ के बुद्धिनिष्ठ सिद्ध हो जाने पर वही पुरुषार्थ अनागत
अवस्था में स्थित-बुद्धि और पुरुष के संयोग में कारण है—यह कहते हुए सूत्र के वाक्यार्थ
को कहते हैं—तयोरिति—उन स्व और खामी का—इद्यते अनयित दर्शन बुद्धि:— देखा जाय
जिससे वह दर्शन नाम बुद्धि का है—पुरुषार्थ कृतत्व वचन कथन के कारण यहाँ अनादि
का अर्थ प्रवाह से अनादि है।

शंका - पुरुषार्थ का पुरुष से संयोग मानने में पुरुष की अपरिए।मिता का भंग हो

जायेगा (कोई भी संयुक्त पदार्थ अपरिग्णामी नहीं होता)

समाधान—सामान्य गुणों के अतिरक्त धर्मों की बत्यित को ही व्यवहार के अनुसार परिणाम निश्चय किया है। घट आदि के संयोग आदि से आकाश परिणामी नहीं होता, और दिल आदि संख्या के संयोग से पुरुष परिणामी नहीं कहा जाता, परा-पत्र पर रक्ली जल की बूँद से परा-पत्र की अपरिणामता और असंयोग भी सुना जाता है। संयोग, विभाग, संख्या आदि द्रव्यों के सामान्य गुण हैं (अतः सामान्यगुण संयोग से अपरिणामता का भंग नहीं।होता है) श्रुति और स्पृतियों में सुखादिरूप परिणाम ही पुरुष

में नहीं माने हैं, मन के साथ मुखादि का अन्वय और व्यक्तिक है, अतः मन में ही लाघव से मुखादि माने हैं, मुखादि को मन का अवच्छेदक मान कर अन्यत्र-पुरुष में उसको (मुखादि को) मानने में गौरव है। संयोगादि के प्रति तो द्रव्यत्व रूप से ही हेतुता होने से—वह पुरुष की भी हो सकती है, और पुरुष का द्रव्यत्व तो अनाश्रित होने से तथा परिमाण से सिद्ध है (श्र्यात् जो अनाश्रित और परिमाण वाला होता है वह द्रव्य हुआ करता है, पुरुष किसी के आश्रय नहीं और महत् परिमाण वाला है अतः द्रव्य है)

यद्यपि कारणावस्था में बुद्धि और पुरुष दोनों विसु हैं तथापि (तो भी) डनका संयोग पिरिच्छन गुणान्तर के अवन्छेद से संभव है ही, क्योंकि महदादि अखिल पिरेणाम त्रिगुण के संयोग के विना उत्पन्न नहीं होते, और वह संयोगज संयोग है, कर्म जन्य संयोग नहीं है। जैसे अवन्छेदकीमूत गुण के संयोग से हो दो विसुओं का (बुद्धि और पुरुष का) संयोग है। साझात् संयोग का पुरुष में निपेध है संयोगज संयोग का निषेध नहीं है। यदि आत्मा का संयोग ही नहीं है यह माना जाय तो प्रकृति पुरुष के संयोग से सृष्टि और उनके वियोग से प्रलय यह जो अ ति, स्मृति और सुओं ने माना है वह न वन सकेगा।

भोक्त भोग्य योग्यता ही यहाँ श्रीपचारिक संयोग वक्तव्य है यह नहीं कहना चाहिये, क्योंकि वह क्ष-स्वामि-भाव होने से श्रानादि है, श्रानादि होने से कार्य हो नहीं सकता, और उसके श्राविनाशी होने पर ज्ञान से नाशकता का विरोध होगा, नाशवान मानने में पुरुष को परिणामता होगी (जो कि श्रानिष्ट है)।

शंका-पुरुष का संयोग मानने में पुरुष की श्रसंगत की चित होगी ?

समाधान-नहीं, कमलपत्र में जो कि पुरुष का दृष्टान्त है-संयोग होने पर भी असंगता मानी जाती हैं। स-श्राशय-विकार का हेतु जो संयोग, उससे योग होने पर ही संग की श्राप्ति है। पुरुष में ऐसा सयोग नहीं है (जो पुरुष के अन्दर विकार का हेतु हो), अत: पुरुषार्थ का कारण बुद्धि और पुरुष का संयोग है, वहीं जन्म रूप से दु:ख का हेतु है—यह बात सिद्ध होती है। वह संयोग विशेष परमेश्वर की योगमाया—योगीन्द्रों से भी अचिन्त्य—श्रुति और स्ट्रितियों से गम्य हैं—विशेष तर्क का विषय नहीं है, जिस माया के द्वारा ईश्वर, नित्य-मुक्त-असंग, अविद्या आदि से रहित विशु और चेतनमात्र आत्मा जीव समृह को बन्धन में डालता है (जिसके कारण जीव समृह बन्धन में कसे हुये हैं) ऐसा ही कहा है—

'मचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।'

निश्रय ही जो भाव अधिनत्य हैं उनको तर्कसे युक्त न करे—उनके विषय में तर्कना न करे।

> 'सेयं भगवतो माया यद्ययेन विरुध्यते। ईश्वरस्य विद्युक्तस्य कार्पेष्यद्युत बन्धनस्'॥

वह ही यह भगवान की माया है जो कि नीति का भी विरोध करती है—(इसी माया के कारण विमुक्त ईश्वर को भी दीनता और बन्धन होता है। क्ष

संयोग को दुःख की हेतुता दिखलाने के लिये पश्चिसिखाचार्थ के संबाद को कहते हैं—तथा चोक्तं—यहाँ से—प्रतीकार—यहाँ तक। बुद्धि खौर पुरुष का संयोग हेय दुःख का हेतु है, उसके परिवर्जन से—उच्छेद से—दुःख का खात्यन्तिक प्रतीकार होता है— उच्छेद होता है।

शंका—श्रनादि काल से प्रवृत्त जो दु:ख का हेतु संयोग, उसका उच्छेद नहीं हो सकता,इस आशय से पूछते हैं प्रसंग से उसकी शक्यता का निश्रय करने के लिये कस्माहिति।

समाधान – दुःखं के हेतु के परिहार से दुःखं का प्रतीकार देखा जाता है। प्रकृति चादि की नित्य व्यावृत्ति तथा च दुःखं के हेतुत्व नित्यत्व लिङ्ग से संयोग का उच्छेद हो सकता है। इसका अनुमान होता है। दुःखं के हेतु का प्रतीकार हो सकता है इसमें लौंकिक उदाहरण कहते हैं—तद्ययेति।

भेचत्व—भेदजदुःख —भागित्व हैं, और भेतृत्व—भेद के द्वारा दुःख का हेतु है, पादानिधिष्ठान—पैर से श्रनारोहण्--न चढ़ना है। पादत्राण् जृते को कहते हैं श्रथवा जूता पहने पैरों से कांटों पर चढ़ना।

ये तीन दुःख का श्वाश्रय, दुःख का हेतु श्रीर दुःख के परिहार के उपाय हैं, जो इनको जानता है—इस वचन से भाष्यकार ने इन तीनों के ज्ञान को दुःख प्रतीकार की हेतुता कहते हुए—यह तीनों मुमुश्च को जानने चाहियें यह भी सूचित किया है।

शंका—ताप श्रीर दु:ख पर्याय वाची शब्द हैं। तब दृष्टान्त में यथा भेदा-भेत्त-प्रतीकार-रूप त्रिक है, ऐसा दार्ष्टान्तिक में नहीं है क्योंकि उसमें एक खुद्धि को ही तप्य (तपने वाली) तापक (तपाने वाली) उमय रूप माना है श्रीर पुरुष को निर्दु:ख माना है। श्रतः श्रान्तेप करते हैं—कस्मादिति—

सामाधान—सिद्धान्त कहते हैं—त्रित्वोपलब्धीति । बाह्य दुःख के खल में उक्त तीनों की उपलिध के बल से अन्तर दुःख के खान में भी तीनों की सिद्धि होती है यह भाव है, उसका प्रकार कहते हैं—अत्रापीत—वहाँ दाष्ट्रोन्तिक में भी, भाव यह है बुद्धि के एक होने पर भी त्रिगुणात्मक होने से तीन अंश होते हैं, उन में से रजो धंश तापक है, सल अंश तथ्य-तपने-वाला है, बुद्धि और पुरुष का वियोग, दुःख का प्रतीकार है, इस भाँति तीन बन सकते हैं। पुरुष ही तथ्य-तपने-वाला—क्यों नहीं है इस आशय से पृछते हैं—कस्मादिति—सिद्धान्त कहते हैं—अत्रापि इत्यादिता—इससे चत्रहा—इस तक से कर्मस्यत्व का अर्थ है कर्मत्या अर्थात् सकर्मक होने से । कर्मत्व का अर्थ किया ज्यापक है क्योंकि दुःख ज्यापत्व अपिर एगामी में सम्भव नहीं । वृत्ति ज्याप्यत्व तो विषयता रूप अपिरणामी में भी सम्भव है। अतः हानकिया की कर्मता पुरुष में वन सकती है, यह वाक्य शेष है । और जो पुरुष की स्मझेषता है, वह भी स्वप्रतिविन्वित बुद्धि की बुत्ति से ज्याप्यत्व ही है, उसमें परिणाम की अपेक्षा नहीं है।

^{क्ष टि॰—यह सिद्धान्त नवीन वैदान्त का सममना चाहिए (प्रकाशक)}

इंका — दुःख निवृत्ति पुरुषार्थ कैसे हो सकती है ? क्योंकि दुःख तो हेय होता नहीं, यह भी नहीं कह सकत कि पुरुष-निष्ठ दुःख का श्रम है इससे दुःख हेय है, क्योंकि विद्वानों को भी दुःख-हान के लिये असम्प्रज्ञात समाधि की अर्थिता स्वीकार हैं ?

समाधान—दर्शतविषयत्वादित्यादि —पुरुष क्योंकि दर्शित विषय है, बुद्धि सस्व से निवेदित विषय है अतः सत्त्व के तप्यमान होने पर अतिबम्ब रूप से पुरुष बुद्धि सत्व के समान आकार वाला होता है तपता नहीं, मृद्ध बुद्धियों को अनुत्रप्त जैसा दिखलाई देता है, स्व-आकार के प्रतिविम्बन के सिवाय विषय का निवेदन अपरिणामी पुरुष में सम्भव नहीं है, इस बात का प्रतिपादन 'वृत्तिसारूप्य' इस सूत्र में कर दिया है। तथा च —प्रतिविम्ब रूप से भोग नामक सम्बन्ध के द्वारा विद्वानों को भी दुःख की देयता है, पुरुषार्थ के असंभव का दोष नहीं है, यह भाव है,—जो पुरुष में भोकृत्व नहीं मानते, उन नवीन वेदान्तियों को ही यह दोष है।। १७॥।

संगति - अब दश्य का स्वरूप, उसका कार्य तथा प्रयोजन बतलाते हैं।

पकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थे दृश्यम् ॥ १८ ॥

शास्त्रार्थ—प्रकाश-क्रिया-श्चिति-शीलं = प्रकाश, क्रिया खौर श्चित जिसका स्त्रभाव है। भूतेन्द्रिय-खात्मकं = भूत इन्द्रिय जिसका स्वरूप है। भोग-ख्रपवर्ग-ख्रथेम् = खौर भोग ख्रपवर्ग जिसका प्रयोजन है। दृश्यं = वह दृश्य है।

अन्वयार्थः-प्रकाश, क्रिया श्रौर स्थिति जिसका खभाव है, भूत श्रौर इन्द्रिय जिसका स्वरूप है, भोग श्रौर श्रपवर्ग जिसका प्रयोजन है वह दृश्य है।

ब्याख्या – सत्त्व, रजस् श्रीर तमस् येतीनों गुरा श्रीर जो कुछ इनसे बनाह वह दश्य है।

गुणों का धर्म - प्रकाश सत्व-गुण का; प्रवृत्ति (क्रिया = चलना) रजोगुण का और स्थिति = रोकना तमोगुण का स्थभाव है। यह तीनों प्रकाश, क्रिया, स्थितिशील-गुण-परिणामी और परस्पर संयोग विभाग वाले हैं, तथा विवेक-क्याति-रहित पुरुष के संग संयुक्त रहते हैं व्यर्थात् स्वस्वामी भाव = (भोग-भोक्नुभाव) सम्बन्ध रस्वते हैं और विवेक-स्थाति वाले पुरुष से विभक्त हो जाते हैं।

यह तीनों गुण साम्यावस्था को प्राप्त हुये प्रधान = (प्रकृति = श्रव्यक्त = कारण) रूप से रहते हैं और विषमावस्था में परस्पर श्रंग-श्रंगी भाव से मिले हुये व्यक्त कार्यों को उत्पन्न करते हैं, श्र्यांत् जब सालिक, प्रकाशरूप कार्य उत्पन्न होता है तब सत्व गुण श्रंगी (मुख्य) होता है, श्रन्य दोनों रजोगुण और तमोगुण श्रंग (गौण) होते हैं। इसी प्रकार जब राजस् तथा तामस् कार्य उत्पन्न होते हैं तब रजोगुण तथा तमोगुण श्रंगी और अन्य दोनों गुण श्रंग होते हैं। श्रंग-श्रंगी भाव से मिले हुये रहने पर भी इनकी श्रक्तियाँ भिक्त-भिन्न ी रहती हैं श्रदा: सब कार्य विलक्तण होते हैं।

मिलकर कार्य करने से ही यह तीनों गुए। तुल्य जातीय अतुल्य जातीय कार्य को १८४

आरम्भ करते हैं। अर्थान् प्रकाशरूप साविक कार्य के आरम्भ काल में सत्व गुण वुस्य जातीय और अन्य दोनों रजोगुण और तमोगुण अनुस्य जातीय होते हैं। इसी प्रकाश सत्वगुण की अपेना से प्रकाश तुस्य जातीय और अन्य दोनों गुणों की अपेना से अनुस्य जातीय हैं। इसी से रजोगुण और तमोगुण के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए। जहाँ जो तुस्य जातीय है वह उपादान कारण है और जो अनुस्य जातीय है वह सहकारी कारण है।

दिव्य शरीर उत्पन्न करने के समय सत्तगुण प्रधान (मुख्य) होता है और रजोगुण तमोगुण गौण (सहकारी) होते हैं; मनुष्य शरीर उत्पन्न करने के समय रजोगुण प्रधान होता है और अन्य दोनों गुण गौण होते हैं; और तिर्थक् कांट पशु आदिक शरीर उत्पन्न करते समय तमोगुण प्रधान होता है और अन्य दोनों गुण गौण होते हैं । इस प्रकार जिस गुण का कार्य उत्पन्न होता है वह गुण प्रधान हुआ उदार होता है और अन्य दो गुण सहकारी कारण होने से प्रधान-गुण के अन्तर्गत सूक्ष्म रूप से रहते हैं और व्यापार-मात्र में अनुमान से जाने जाते हैं । इस प्रकार यह तीनों गुण गौण प्रधान (श्रङ्काङ्गी) भाव से मिले हुए केवल पुरुषार्थ अर्थात् पुरुष के भोग-अपवर्ग के प्रयोजन साधने के लिये अयस्कान्त-मणि के तुस्य पुरुष की सिन्निध-मात्र से कार्यों को उत्पादन करते हैं । ऐसे धर्मशील गुणों की साम्यावस्था ही प्रधान है और यहां दृश्य कहा जाता है ।

गुणों का कार्य — यह हरय भूतेन्द्रियात्मत है, श्रर्थात् दस भूत, पाँच स्थूलभूत, पृथ्वी-जल श्रादि श्रीर पाँच स्ट्र्सभूत गन्ध, रस, तन्मात्रा श्रादि; श्रीर तेरह इन्द्रियें पाँच झानेन्द्रियें, पाँच कर्मेन्द्रियें, तीन सुक्ष्म इन्द्रियें मन, श्रद्धक्कार, बुद्धि + चित्त, (महत्त्त्रक्ष) श्रादि सत्व प्राद्ध-प्रहृण रूप से इन्हीं तीनों गुणों के कार्य हैं श्रथोत् इन्हीं के विभिन्न रूप हैं।

गुणों का प्रयोजन—यह त्रिगुणात्मक दृश्य व्यर्थान् भूनेन्द्रिय व्यादि रूप से प्रकृति का परिणाम निष्प्रयोजन नहीं है किन्तु पुरुष के भोग-व्यप्वर्ग-रूप प्रयोजन वाला है।

भोग—डसमें द्रष्टा दश्य के खरूप-विभाग से रहित इट-श्रांनष्ट, गुण, खरूप का श्रवधारण (श्रनभव) भोग कहलाता है।

श्चपवर्ग—हुए। श्रीर टरय के खरूप से विभक्त भोका के खरूप का श्रवधारण (साज्ञात्कार) श्चपवर्ग है। उपरोक्त दोनों प्रकार के भाग भी पुरुष के कल्याणार्थ हैं, अर्थात् श्चपवर्ग दिलाने में सहायक हैं; इसको स्पष्ट किये देते हैं।

१(क) भोग—श्रानिष्ट गुण खरूप का श्रानुभव : कर्माश्रय का श्रावरण, क्लेशों और संस्कारों का मल जो अविद्या, श्राविक के, श्रासिक और सकाम कर्मों के परिणाम-रूप चित्रा पर चढ़ा लिया गया है, इसके निवारणार्थ मन, इन्द्रियों और शरीर आदि का भोग है जो साधारण रूप से सब प्राणी भोग रहे हैं। भाव यह है कि गुणों के विषम परिणाम का प्रयोजन तो पुरुष को उनका (गुणों का) यथार्थ ज्ञान कराकर स्वरूप में श्रवस्थित कराने का है। पर पुरुष अविद्या, अविवेक, श्रासक्ति और सकाम कर्मों से चित्र पर कर्माश्रय

२४

सित्र १८

आदि का मल चढ़ा लेता है। इस मल के निवारणार्थ जो पुरुष का भोग है यदापि वह अनिष्ट है तथापि वह भी पुरुष के कल्याणार्थ है क्यों कि गुणों का यथार्थ ज्ञान दिलाकर स्वरूप में अवस्थित कराने के लिये चित्त से उन मलों का धोना आवश्यक है जो श्चनिष्ट-भोगों द्वारा होता है।

(ख) भोग-इष्ट गुण स्वरूप का श्रनुभव : इस सम्पूर्ण दश्य का गुणों के परिणाम का सम्प्रज्ञात-समाधि द्वारा विवेक-पूर्ण तत्त्वज्ञान जो इस दृश्य के भोग का वास्तविक प्रयोजन है जिसको विवेकी-जन भोगते है जिसके पश्चात स्वरूपावस्थित प्राप्त होती है ।

२ अपवर्ग: भोक्ता के स्वरूप का अवधारण स्वरूपावस्थिति है जो विवेकख्याति के

प्रशास प्राप्त होती है, जो पुरुष का परम प्रयोजन है।

इन दोनों दशेनों अर्थात् पुरुष को गुणों का यथाथे ज्ञान कराने (गुणों के परिणाम का दर्शन) श्रीर स्वरूप श्रवस्थित कराने (पुरुष-दर्शन कराने) के श्रविरिक्त प्रधान प्रयुत्ति का अन्य कोई तोसरा प्रयोजन नहीं है जैसा कि श्री व्यासजो महाराज ने पश्चिशिखा-चार्य के सत्र से अपने भाष्य में दशीया है :---

श्रयं तु खलु त्रिषु गुरोषु कर्तृष्वकर्तिर च पुरुषे तुन्यातुन्यजातीये चतुर्थे तिकयासाचिष्यपनीयमानान्सवंभावातुपपन्नानतुपश्यन्नदृश्नमन्यव्छंकत, इति ।

अर्थ-- निश्चय इन तीनों गुणों के कत्ती होते हुए चौथे उनकी क्रियात्रों के साची तुल्य-अतुल्य खभाव वाले अकर्ता पुरुष में (बुद्धि सं) प्राप्त कराये सारे भावों की

खाभाविक देखता हुआ अन्य दरीन की सम्भावना नहीं करता।

यद्यपि यह भोग-अपवर्ग-रूप दोनों पुरुषाथे युद्धिकृत होने और बुद्धि में ही वर्तने से बुद्धि के ही धर्म हैं तथापि जैसे जय और पराजय योद्धाकृत और योद्धा में वर्तमान होने पर भी उनके स्वामी राजा में कही जाती हैं क्योंकि वह उसका स्वामी श्रीर उसके फल का भोक्ता है. इसी प्रकार बन्ध वा मोस चित्त में वर्तमान होते हुए भी पुरुष में व्यवहार से कहे जाते हैं क्योंकि वह बुद्धि का स्वामी और उसके फल का भोता है।

वास्तव में पुरुष के भोग-अपवर्ग-रूप प्रयोजन की समाप्ति न होने तक चित्त में ही बन्धन है और विवेकल्याति की उत्पत्ति से पुरुष के उस प्रयोजन की समाप्ति में चित्त का ही

मोच है।

जिस प्रकार बन्ध-मान-रूप चित्त के धर्मी का पुरुष में आरोप किया जाता है। इसी प्रकार प्रहरण (स्वरूप-मात्र से पदार्थ का ज्ञान), धारण (ज्ञात हुए पदार्थ की स्मृति) ऊहा (पदार्थ के विशेष धर्मों का यक्ति से निर्णय करना), अपोह (युक्ति से आरोपित धर्मों का दूर करना), तत्त्वज्ञान (ऊहा अपोह से पदार्थ का ज्ञान प्राप्त करना), अभिनिवैश (तस्बज्ञान-पूर्वक त्याग और शहरण का निश्चय) आदि धर्म भी चित्त में वर्तमान रहते हुए पुरुष में अविवेक से आरोप किये जाते हैं, क्योंकि वही उसका खामी और उसके फल का भोका है।

टिप्पणी—न्यासभाष्य का भाषानुवाद ॥ सूत्र १८ ॥ दृश्य का रूप कहते हैं—

पकाशकियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं मोगापनगीर्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥

प्रकाशशील सत्त्व है, क्रियाशील रज है और श्वितिशील तम है, ये गुण् परस्पर उपरक्त-प्रविभाग हैं, संयोग विभाग धर्म वाले हैं, एक ने दूसरे के सहारे पर अपना मूर्जरूप भूताि और इन्द्रियादि उपार्जित किया है, परस्पर अंग और अंगी होने पर भी असंभिक्त शिंक प्रविभाग हैं, तुल्य जातीय और अवुल्य जातीय शक्ति के भेद से अवुलाती हैं, प्रधान अवस्था के समय में उपदर्शित सित्रधान हैं, गुण् होने पर भी व्यापार मात्र से प्रधानान्तर्यांत इनकी सत्ता अवुभित है, पुरुषार्थ कर्तत्रय होने से अपने सामध्ये का प्रयोग करते हैं, सित्रधिमात्र से उपकारी हैं, अयस्कान्त मिण के समान प्रत्यय के विना एक की शिंत के अवुक्त्य वर्तते हुए प्रधान शब्द के वाच्य होते हैं (प्रधान शब्द से उनको बोला जाता है) यह हरय कहलाता है। यह हरय भूतेन्द्रयात्मक है—भृत भाव से—पृथिवी आदि सूक्त और स्थूल रूप से परिण्यित होता है, तथा इन्द्रिय भाव से—प्रथाति —सूक्त्म और स्थूल भाव से परिण्यित होता है; और यह निष्प्रयोजन नहीं किन्तु प्रयोजन को लेकर प्रवृत्त भाव से परिण्यत होता है; और यह निष्प्रयोजन नहीं किन्तु प्रयोजन को लेकर प्रवृत्त होता है, अतः वह हरय पुरुष के भोगाथे ही है, उनमें से इष्ट और अनिष्ट गुण्य के अविभागापन्न सक्त्य का अवधारण भोग है और भोक्ता पुरुष के सक्त्य का अवधारण अपवर्ग है मुक्ति है, इन दो के अविरक्त दर्शन नहीं है।

तथा चोत्तम्—''श्रयन्तु खलु त्रिषु ग्रुणेषु कर्तृषु श्रकर्तिर च पुरुषे तुरुया-तुरुयजातीये चतुर्थे तिःक्रयासान्तिष्णि उपनीयमानान् सर्वभावान् उपपन्नान् श्रानुपरयन् न दर्शनमन्यदछंकते इति''

श्री पंचशिखाचार्य कहते हैं — लोक में तीनों गुणों के कर्ता होने पर भी अकर्ता चतुर्थ पुरुष में जो कि गुणों की क्रियाश्रों का साची है बुद्धि से लाये गये सब भावों को मूख युक्ति सिद्धवत् देखता हुआ अन्य दर्शन की शंका भी नहीं करता है — सम्भावना भी नहीं समस्रता।

दांका—ये बुद्धिकृत भोग श्रीर श्रपवर्ग, जो कि बुद्धि में ही वर्तमान हैं, पुरुष में किस

प्रकार कहे जाते हैं ?

समाधान—जैसे कि विजय और पराजय योद्धाओं में होता है और स्वामी राजा में व्यपदेश से कहा जाता है, क्यों कि राजा ही जय पराजय के फल का भोका होता है, ऐसे ही बन्ध और मोच भी बुद्धि में होते हैं और स्वामी पुरुष में व्यपदेश से कहे जाते हैं, क्योंकि वह पुरुष ही उन बन्ध और मोचरूप फलों का भोका है, बुद्धि को ही पुरुषार्थ की समाप्ति तक बन्ध है, और उस पुरुषार्थ की समाप्ति तक बन्ध है, और उस पुरुषार्थ की समाप्ति अपवर्ग है, इससे प्रहुण, धारण, ऊहापोह, तत्त्वज्ञान और अभिनिवेश बुद्धि में होते हुए, पुरुष में अध्यारोषित सद्भाव बाले हैं क्योंकि वह पुरुष ही उनके फल का भोका है। १८॥

विज्ञान भिन्नु के योगवार्तिक का भाषानुवाद ॥ सूत्र १८ ॥

श्रव द्रष्टा, हरेय, और संयोग इन तीनों के ही स्वरूप को सूत्रकार कहेंगे, उनमें से हरय के स्वरूप के प्रतिपादक सूत्र का श्रवतरण करते हैं—हरय स्वरूपमुच्यत इति-हर्य के स्वरूप को कहते हैं—यहाँ पाठकम के विपरीत से श्रादि में हरय के कथन का कारण यह है कि हिशामात्र इस श्रागामी सूत्र में जो मात्र शब्द श्राया है, उससे श्राबल हर्य के मेर से द्रष्टा का प्रतिपादन करना है, उसके लिये प्रतियोगी हर्यों का ज्ञान श्रपेश्वित होगा, इसी कारण पूर्व सूत्र में प्रथम प्रधानतया द्रष्टा का उपन्यात है यह जानना चाहिये।

प्रकाश क्यासितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् । प्रलय काल में प्रकाश चादि कार्य का आव होता है अतः यहाँ शील पद दिया है। प्रकाश —बुद्धि की वृत्ति चादि क्य आलोक और भौतिक आलोक है। किया प्रयन्न चलन को कहते हैं, स्थिति, प्रकाश चौर किया से शून्य या प्रकाश किया के प्रतिवन्ध का नाम हैं। तत् शीलगुण्-मय यह विशेष्य पद यहाँ उत्तर सूत्र में गुण्पर्विण् इस विभाग वचन से उपलब्ध होता है। अतप्रव भाष्यकार पतं गुणाः ऐसी व्याख्या करेंगे, उस प्रकार गुणों के होने में प्रमाण कहते हैं, भूतेति —भूतेन्द्रियासक —स्थूल और सूक्ष्मरूप भूतों और स्थूल तथा सूक्ष्मरूप इन्द्रियों का कारण है, इससे महदादि अखिल कार्यों का कारण ही लब्ध होता है, और उनके प्रकाशादि रूपता में प्रमाण है (अनुमान प्रमाण है) क्योंक त्रिगुणात्मक जड़ कार्यों की सिद्धि त्रिगुणात्मक जड़ कारण के जिना नहीं होती। गुणों के कार्य को कह कर उनके स्वरूप की सत्ता के प्रयोजक प्रयोजन को कहते हैं। भोगापवर्गार्थ—भोग और अपवर्ग प्रयोजन वाला है, यह सूत्रार्थ है।

शंका - त्व तो तीन गुण ही दृश्य हैं, उनके विकार दृश्य नहीं हैं ?

समाधान—यह नहीं, क्योंकि गुए के पर्व रूप से उत्तर सूत्र से उनके विकारों का भी संप्रह है अत: वे भी दृश्य हैं। इस सूत्र की व्याख्या करते हैं प्रकाशशीलमिति—वह दृश्य प्रकाश-क्रियाखितिशील है।

शंका — सत्त्व आदि गुण ही यदि प्रकाशादिशील दृश्यरूप से यहाँ कहे हैं और प्रकृति को कहा नहीं, तो सूत्र की न्यूनता है और सत्त्व आदि गुणों को ही भूतेन्द्रियात्मक मानने से प्रकृति मानने के सिद्धान्त की चृति होगी, क्योंकि प्रकृति व्यर्थ होगी।

समाधान—गुण ही प्रकृति शब्द के वाच्य हैं, उनसे खैंतिरिक्त प्रकृति नहीं है यह निक्षय करते हैं—एते गुणा:—सत्त्व खादि ये गुण प्रकृतिशब्द के वाच्य होते हैं। प्रधीयतेऽस्मिन्कार्यजात-मित्यादि व्युत्पत्त्या प्रधानप्रकृत्यादिशव्दैरूच्यन्ते इत्यन्वयः। जिसमें कार्थसमृह रहता है, इस व्युत्पत्ति से प्रधान और प्रकृति खादि शब्दों से गुण ही कहे जाते हैं। तथा च सांक्यसृत्रम्—

सस्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्वपत्वात ।

पुरुष के उपकरण होने और बन्धन के कारण से सस्त आदि गुण कहलाते हैं, प्रकाश और किया आदि की भांति द्रव्य में समवेत होने से सस्त आदि गुण नहीं कहलाते, यह भाव है। सस्त आदि ही प्रधान शब्द के बाच्य हैं इसको सिद्ध करने के लिए गुणों के ही जगत्कारणस्त आनित्यत्व आदिक जो हेतु-गभेंवशेषण हैं उनका उपपादन करते हैं। परस्परेति-सस्त का प्रविभाग—अधिक भाग रज और तम के खत्प भागों से उपरक्त होता है, ऐसे ही रजस् और तमस् का भी जानना चाहिये। इस भांति परस्परोपरक्तविभाग तथा संयोग विभाग धर्म वाले हैं, परस्पर संयोग विभाग खभाव वाले हैं। इससे यह भी सिद्ध हो गया कि सस्त आदि गुण-द्रव्य हैं (द्रव्याश्रित गुण नहीं हैं) तथा एक दूसरे की सहायता से अवयवी को उत्पन्न करते हैं, क्योंकि कार्य कारण के अभेद से ही आरम्भ होता है।

शंका—यदि इतरेतर सहाय से सब गुग सब कार्यों के कारण हों तो सत्त्व आदि को भी किया आदि के हेतु होने से सिक्रयत्व आदि की आपत्ति से प्रकाश आदि शक्ति का सांक्ये होगा ?

समाधान – तत्राह – परस्पर श्रंगांगिस्व होने पर भी एक दूसरे के श्रंगांगिभाव से उत्पन्न कियं द्रव्य में प्रकाश सत्त्व का ही गुए। है, क्रिया रजस का ही गुए। है और स्थिति तमस का ही गुरण है, अत: प्रकाशादि की शक्ति विभाग का संभेद-सांमिश्रण नहीं है। तथा तुल्य जातीय और ऋतुल्य जातीय शक्ति भेद के गुण श्रनुपाती हैं। सस्व श्रादि जाति से सजातीय हैं श्रीर जो सहकारी शक्ति विशेष हैं वे विजातीय हैं, तदनुपाती हैं, उनके श्रविशेष से उपप्रम्भक खभाव वाले हैं। इससे (यह भी सिद्ध है कि) सत्त्व श्रादि गरा व्यक्तिरूप से अनन्त हैं (व्यापक हैं)। और त्रिगुण्ल आदि व्यवहार तो सत्त्व आदि जातिमात्र से होता है-जैसे कि वैशेषिक मत में नव द्रश्यों में द्रव्यत्व जाति मान कर, द्रव्य न्यवहार होता है, यह सिद्ध हो गया। श्रतएव लघुत्व श्रादि धर्मों से एक दूसरे के साथ साधर्म्य और वैधर्म्य भी है, इस बात को सांख्य सूत्र ने सत्त्व आदि के लघुत्व आदि रूप साधर्म्य स्त्रीर वैधर्म्य दर्शा कर स्पष्ट किया है। तथा प्रधान वेला में (प्रधानावस्था में) स्त्रस्थ प्रधानकाल में विकारों में (कार्यों में) श्रपने साहिध्य को प्रकट करने वाले होते हैं। तथा गुरा होने पर भी इतर के उपसर्जन होने की दशा में भी व्यापारमात्र से (अपने सांनिध्य को शकट करने वाले होते हैं) तथा विषय विधि से श्रयश्कान्तमिए के समान चित्त के श्राकर्षक होते हैं। बक्ष्यतिहि--अयस्कान्तमणि के सदद्य विषय हैं और अयस् धमक चित्त है, तथा प्रत्यय के विना-श्रमिन्यक्ति के विना श्रपने श्रनभिन्यक्ति काल में - उस समय एकतम जिस किसी गुर्गान्तर की बृत्ति के पीछे सूक्ष्म वृत्ति वाले होते हैं, क्योंकि वृत्ति-श्रविशयों का ही विरोध कहा है-यह विशेषण समृह का अर्थ है। यह दृश्य कहलाता है। यह गुणत्रय ही कार्यकारण भावयुक्त दृश्य कहे जात हैं-इनके सिवाय श्रन्य दृश्य नहीं है, ये ही गुण न्याय भीर वैशेषिक के द्वारा द्रव्याष्ट्रक नाम से विभाग किय गये हैं और वैदान्तियों ने इसको माया कहा है। "मायां तु प्रकृतिं विष्यादिति श्रुतेः" माया को तो प्रकृति जान यह श्लुति कहती है। यह बात बृहदुवासिष्ठ में भी कही है—

'नामरूपविनिर्धक्तं यस्मिन्संतिष्ठते जगत्। तमाडुः प्रकृति केचित् मायामन्ये परे स्वरण्त्'॥

नाम श्रीर रूप से विनिर्मुक्त यह जगत् जिसमें ठहरता है—लीन हो जाता है—उसको कोई प्रकृति कहते हैं, दूसरे माया बोलते हैं श्रीर दुख लोग श्रणु नाम लेत हैं।

शंका—यदि त्रिगुण से पथक प्रकृति नहीं है तो स्रजामेकां लोहितगुक्रकृष्णां इत्यादि शुति के कहे प्रकृति के एकत्व स्रादि से विरोध होगा, तथा—

हेतुमद्निस्यमञ्यापि सिक्रयमनेकमाश्रितं लिक्कम् । सावयवं परतन्त्रं ज्यक्तं विपरीतमञ्यक्तम् ॥

यह व्यक्त हेतु वाला, र्ञ्चानत्य, अव्यापी, सक्रिय-श्रनेक-श्राश्रित-लिङ्ग; सावयव श्रीर परतन्त्र है इसके विपरीत अव्यक्त हैं, छहेतु, नित्य, व्यापी, श्रक्रिय, एक, श्रनाश्रित, श्रालिङ्ग-निरवयव श्रीर स्वतंत्र हैं। इत्यादि से कहा व्यापकत्व श्रक्रियवस्व निरवयवत्व श्रादि रूप जो सांख्य का सिद्धान्त है उसका विरोध होगा।

एते प्रधानस्य गुणाः स्युरनपायिनः-

ये तीन प्रधान के श्रानवायी गुर्ख हैं, इत्यादि स्मृतिवरस्परा में प्रधान के गुर्खों का श्राधाराधेय भाव सम्बन्ध श्रीर हेतुहेतुमद्भाव सम्बन्ध को कहने वाले वचन भी उपपन्न न होंगे। तथा—

सक्वं रजस्तम इति गुणाः मकृतिसंभवाः-

सत्त्व, रजस् श्रौर तमस् ये प्रकृति से उत्पन्न गुण हैं, यह गीतादि वाक्यों में सत्त्व स्मादि को जो प्रकृति का कार्य कहा है, वह न बनेगा तथा २८ तत्त्व का पत्न भी न बनेगा।

समाधान —पुरुष भेद और सर्ग भेद से भेद का अभाव हो प्रकृति का एकस्व अजादि वाक्यों से कहा है और अजादिवाक्यमूलक ही सांख्यादि ने भी प्रतिपादन किया है। अजा-वाक्य से ऐसे ही तात्पर्त्य का निश्चय किया गया है। भोग्य और भोक् के मध्य में भोग्य गुण हैं, वे भोग्यत्व और अभोग्यत्व के द्वारा सर्ग भेद से भिन्न भिन्न (भेद वाले) होते हैं, ये भोग्य के योग्य हैं, और यह भोग्य के योग्य नहीं हैं, यह बात गुक्त पुरुष के उपकरणों में भी हो सकती हैं क्योंकि वे भी अन्य पुरुष के भोग्य होते हैं। भोत्ता पुरुष भी भोक्त को चुके हैं वे उत्तर सर्ग में भोका नहीं हैं किन्तु दूसरे भोक्ता हैं। अतः प्रकृति एक है और पुरुष अनेक हैं वह सर्ग में भोक्ता नहीं हैं किन्तु दूसरे भोक्ता हैं। अतः प्रकृति एक है और पुरुष अनेक हैं वह सहा जाता है। तथा वे ही गुण सब सर्गों में स्रष्टा होते हैं, और महत् आदि विकारों का तो सर्ग भेद से भिन्न होना स्पष्ट ही है, क्योंकि अर्तात व्यक्ति का पुनः उदय न होना आगे कहेंगे। यदि प्रकृति एक ही व्यक्ति हो तो "निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां" इसमें प्रकृति के लिये

जो बहुबचन दिया है इससे विरोध होगा, और (इन्ह्रो मायाभि: पुरुह्म ईयते— इत्यादि श्रु ति-गत बहुबचन से भी विरोध होगा। प्रकृति का व्यापकत्व तो कारणत्व सामान्य से ही जानना चाहिए (अर्थान् सब कार्यों में अनुस्यृत है अतः व्यापक है) कारणशुन्य प्रदेश का अभाव होने से, जैसे कि गन्धादि पृथिवी आदि में व्यापक होते हैं। महद् आदि तो सामान्य से भी व्यापक नहीं है। अतएव अंशभेद से प्रकृति की व्यापकता और परिच्छित्रता मानी है, अतः ''जात्यन्तरपरिणाम: प्रकृत्यापुरान्'' इस आगामी सूत्रोक्त प्रकृत्यापुर भी घट जाता है।

प्रकृति को जो श्रक्रियत्व माना है वह अध्यवसायाभिमान श्रादि रूप प्रतिनियत कार्य से शून्य है—चलनादि क्रिया शून्य नहीं है।

मधानात् चोभमाणाच तथा पुंसः पुरातनीत् । मादुरासीन्महद् बीजं मधानपुरुषात्मकम् ॥

स्रोभ्यमाण प्रधान (गुणां का विषमावस्था) से तथा पुरातन पुरुष से प्रधान-पुरुषात्मक महद् बीज का प्रादुर्भाव हुआ। इत्यादि स्पृतियों में प्रकृति को भी होभ नामक चलन माना है।

मक्रतेश्रुंण-साम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ! चेष्टा यतः स भगवान् काल् इत्यभिधीयते ॥

हे मानवि ! निर्विशेष-गुण्साम्य प्रकृति की जिससे चेटा होती है, वह भगवान् काल कहलाते हैं ॥

यहाँ रपष्ट ही प्रकृति की किया कही गई है और जहाँ कहीं पुरुष का भी चोभ भुति में आया है, वह संयोग के उन्मुख रूप गौरा चोभ है, क्योंकि संयोग की उत्पत्ति तो प्रकृति के कर्म से ही होती है। प्रकृति के लिये जो निरवयव कथन वाले वाक्य हैं वे आरम्भ अवयव का निर्धेध करते हैं, वनांश के तुल्य खंशों का निर्धेध नहीं करते, इससे "एतेप्रधानस्य गुणाः" ये प्रधान के गुण हैं इत्यादि वाक्य भी उपपादित हो गये, वन के सहश प्रधान खंशी के पनस, आम, अनार चादि के तुल्य गुण ह्रव्य को खंश माना है। जो सस्य आदि गुणों को प्रकृति का कार्य कथन करने वाला वचन है, वह वचन व्यवहार के अभिपाय से कहा गया है, क्योंकि प्रकाशादि-रूप फल से उपहित में ही सस्वादि शब्द का प्रयोग होता है। फला-तुपधान दशा में वे प्रकृतिरूप ही होते हैं। फलोपहिततया ही सस्य आदि का व्यवहार दिखलाई देता है। यदि गुणों को प्रकृति का कार्य माने तो गुणों की नित्यता के सिद्धान्त का विरोध होगा, अखण्ड प्रकृति का विचित्र परिणाम असम्भव है, कहाचिन सम्भव मान भी लें तो महन् आदि दूसरे कार्य भी केवल प्रकृति से ही उत्पन्न हो जाउँगे, गुणों की कह्मना व्यर्थ होगी।

राका — गुराक्षप अवच्छेद के भेद से ही महत् आदि कार्यों की उत्पत्ति होती है यहि यह कहें।

समाधान—यह नहीं कह सकरे-ऐसा मानने में गुणों से ही सब कार्यों की शिक्षि हो जायेगी, उनसे भिन्न प्रकृति की करपना व्यर्थ होगी। यदि गुण्त्रय से व्यतिरिक्त प्रकृति हो—वव

गुणसाम्यमनुद्दिक्तमन्यूनं च महामते । उच्यते प्रकृतिर्देतुः प्रधानं कारणं परम् ॥

हे महामते ! गुणों की साम्यावस्था जो कि गुणों से न्यन वा श्रधिक नहीं है। पर-कारण-प्रधान-हेत् या प्रकृति कहलाती है। इत्यादि स्मृतियों में श्रीर सत्त्व रजस्तमसां साम्यावश्या प्रकृतिः—सत्त्व, रजस् श्रीर तमस् की साम्यावश्या प्रकृति है, इस सांख्य सूत्र में जो साम्यावस्था गुणों को प्रकृति कहा है, वह आसानी से संगत न होगा ? विशेषाविशेष लिङ्गमात्रा लिङ्गानि गुणपर्वाणि, त व्यक्त सूक्ष्मा गुणात्मान, परिणाम कमसमाप्ति गुणानाम, इत्यादि सूत्रों में श्रीर भाष्य मे गुणों को ही मूल कारण कहने वाले वचन भी उपपन्न न होंगे, इत्यादि दृषण होंगे, श्रीर साम्यावस्था प्रकृति के लच्चण में विशेषण नहीं है किन्त यदा कदाचित सम्बन्ध से श्रकृति का उपलक्षण है जैसे कि काग वाले देवदत्त के घर हैं (यहाँ काकवत्व घर का विशेषण नहीं उपलक्षण हैं) और वह न्यनाधिक भाव से असंहनन अवस्था—अकार्य अवस्था—है, उस अवस्था से उप-लिवत गुण्य प्रकृति का लच्चण है-महदादि से व्यावृत्त है- (महदादि में अव्याप्त है) बस से सर्ग काल में भी गुणों को प्रकृतिस्व की सिद्धि होने से प्रकृति की नित्यता की हानि नहीं होती । ईश्वर सदा एक रूप है, साम्यावस्था शन्य है उसमें भी प्रकृति का लघाए श्रात-ज्याप्र नहीं है। गुणों के सम्बन्ध में प्रमाण के उपदर्शक अतेन्द्रियात्मक विशेषण की क्याख्या करते हैं-तदेतद्भतेति-वह दृश्य भूत श्रीर इन्द्रियात्मक है-भूतभावेन का विवरण है-पृथिव्यादिना- उनमें भी श्रवान्तर विशेष को कहते हैं-सूक्ष्म स्थूलेन- तन्मात्रा सक्ष्म हैं और पृथिशी श्रादि महाभूत स्थल हैं। इन्द्रियभावेन, इसका विवरण है श्रोतादिना, श्रीत्रादि में भी श्रवान्तर विशेषों को कहते हैं--सूक्ष्म स्थूलेन। महदू श्रीर अहंकार सुक्ष्म इन्द्रियें हैं। एकादश इन्द्रियें स्थल हैं। इन्द्रियों के संघात में ईश्वर कारण है।

भोगाएवर्गार्थमिति — यह गुए का हा दूसरा विशेषण है । मोच के उपपादक की व्याख्या करते हैं — "तत्त्ताप्रयोजनिमिति" वह गुएणत्रय प्रयोजन शून्यभूत और इन्द्रिय रूप से प्रवृत्त नहीं होता — किन्तु प्रयोजन को लेकर हो प्रवृत्त होता है। भोग और अपवर्ग को लेकर हो प्रवृत्त होता है। भोग और अपवर्ग को व्याख्या करते हैं — तत्रेशिनेष्टित — इप और अनिष्ट गुए सुखदुःखात्मक शब्द आदि विषय हैं। उनके स्वरूप का अवधारण — तदाकार बुद्धि की वृत्ति हैं — पुरुष-निष्ठ साचाकार नहीं स्वींकि बुद्धिनिष्ठता आगे कहेंगे। "स हि तत्मलस्य भोन्ता" — इससे पुरुषनिष्ठ भोगान्तर को भी आगे कहेंगे, पुरुषनिष्ठ भोगा के चिन् स्वरूप होने से तथा नित्य होने से वह पुरुषनिष्ठ भोगा सुतरां फल नहीं है — यह भाव है। शब्द आदि की वृत्ति के काल में, विवेक ख्याति होने पर आगे कहा अपवर्ग ही है अतः इस प्रकार के शब्द आदि की व्यावृत्ति के काल में, विवेक ख्याति होने पर आगे कहा अपवर्ग ही है अतः इस प्रकार के शब्द आदि की व्यावृत्ति के काल से, विवेक ख्याति होने पर आगे कहा अपवर्ग ही है अतः इस प्रकार के शब्द आदि की व्यावृत्ति के अर्थान् अहंकार से मम (मेरा) यह आदिन्यस्य प्रस्कार अभिमान होना (भोग है), जीवनमुक्त को भोग नहीं

भोगाभास ही होता है, क्योंकि मैं सुनता हूं इत्यादि श्रभिमान है श्रन्दर जिनके वन झब्द श्रादि हत्ति के गुर्यों में ही भोग व्यवहार होता है। भोक्तुरिति —भोक्ता पुरुष का जो खरूप-वपाधिरहित चैतन्य है तदाकार बुद्धि श्रपवर्ग है।

मादौ तु मोचो ज्ञानेन द्वितीयो राग—संचयात्। कुच्छत्रयात् तृतीयस्तु व्याख्यातं भोचलचणम् ॥

प्रथम मोस ज्ञान से होता है, दूसरा मोस राग के स्वय से होता है और तीसरा मोस दु:खत्रय के छूट जाने से होता है—यह मोस लस्त्य की व्याख्या हो गई। इसमें यह पंस शिखाचार्य का बाक्य प्रमास है। अथवा अपयुज्यतेऽनेनेति—हट जाता है—छूट जाता है— जिस के द्वारा दु:ख से वह अपवर्ग है। इस व्यूत्यत्ति से भी दु:खत्रय से छूटना हो अपवर्ग है।

शंका-क्योंजी भोग और अपवर्ग के सिवाय अन्य प्रयोजनाथे दृश्य क्यों नहीं होता ?

समाधान—ह्योरिति—इन दो भोग और अपवर्ग के अतिरिक्त दर्शन नहीं हैं, बुद्धि की वृक्षि नहीं हैं। अविभागापत्र में पश्चिशिखाचाये के संवाद को प्रमाण देते हैं— तथा चोकभिति—लोक में सब के कर्ता गुणों के विद्यमान होने पर भी तीन गुणों की अपेद्धा से जो चौथा पुरुप हैं, जो कि गुणों के व्यापार का साद्धीमात्र है, उसी में कर्ता बुद्धि से समर्प्यमाण गुणों के परिणामों को युक्तिसिद्ध के समान देखता हुआ मृद्ध गुणों से अन्य चैतन्य दर्शन की सम्भावना तक नहीं करता है। इस विवेक के अप्रहण में और भिन्नल में हेतु है, तुन्यातुल्यजातीय यह पुरुप का विशेषण । बुद्धि और पुरुप दोनों ही सक्द हैं और सुक्ष्म हैं, इस समानता से गुण और पुरुप दोनों तुल्य जातीय हैं। पुरुप चेतन अपरिणामी है और गुण जड़ हैं, परिणामी हैं इस भिन्नता से गुण और पुरुप विजातीय हैं। यह आश्चय है।

यहाँ भाष्य में तीन गुणों की श्रपेका से पुरुष को चतुर्थ कहा है—इस वचन से अन्य भी जो तुरीय वाक्य हैं वे जावन श्राहि श्रवस्था में जो तीन गुण् हैं उनकी श्रपेका से जो पुरुष का सावित्व है उस को ही पुरुष की तुरीया (चतुर्थ) श्रवस्था कहा है यह बात सिद्ध है. ऐसा ही स्पृति भी कहती हैं —

सत्वाज्जागरणं विद्याद् रजसा स्वाममादिशेत् । मस्वायनं त तमसा तुरीयं त्रिष्ठ संततम् ॥

सत्व गुरा से जागरण जानो और रजोगुरा से स्वप्न, तथा तमोगुरा से सुषुप्ति समकी और तुरीय (सार्चा) इन तीनों जायत, स्वप्न और सुषुप्ति में सतत-श्रोतप्रोत है पेसा समकता चाहिये।

शंका-क्योंजी भोग श्रीर अपवर्ग गुणों का कार्य होने से गुण-निष्ठ हैं, फिर पुरुष

के भोग और अपवर्ग के लिए दृश्य है यह कैसे कहते हैं ?

समाधान — तावेताविति — यद्यपि भोग और अपवर्ग बुद्धि कृत हैं, यह अन्वन और अ्वक्तिरेक से सिद्ध है कि के बुद्धि के कार्य हैं अतः चनको बुद्धि में मानने में ही लापव है, पुरुष निष्ठ मानने में लाघव नहीं है। इष्टान्त दिखलाकर परिहार करते हैं—यथेत्यादिना—पुरुष में स्वामी होने से जय की भाँति भोग और अपवर्ग ब्यपदेश से (अमुख्य में मुख्य व्यवहार से) कहे जाते हैं यह वाक्यार्थ है। वन्ध और मोल यथोक्त भोग और अपवर्ग हैं। वह पुरुष ही उनके फल का भोक्ता है। बुद्धिगत विषयाधधारण और पुरुषावधारण के फल मुख्य दुःख आदि रूप फल का भोक्ता है, अपने में प्रतिविन्वित मुख दुःख का साली है। अतः उन मुख्य दुःख का स्वामी है। यहाँ पुरुष का भी स्वतन्त्र भोग कहा है और "स्वरूप प्रतिष्ठावा चितिशक्तिः" शास्त्र के इस अन्तिम सूत्र में पुरुष का स्वतः ही मोल भी कहेंगे, अतः पुरुष के भोग और अपवर्ग को स्वतः पुरुष के भोग और अपवर्ग को स्वतः पुरुष के भोग और अपवर्ग को स्वतः पुरुष के भोग और अपवर्ग को ह्वतः पुरुष भोग और अपवर्ग को ह्वतः पुरुष भोग और अपवर्ग का ही पुरुष में निषेध किया गया है। इसीलिये तौ-एतौ इस विशेषण से भाष्यकार ने भोग और अपवर्ग को विशेषण किया गया है। इसीलिये तौ-एतौ इस विशेषण से भाष्यकार ने भोग और अपवर्ग को विशेषण किया है। एसा विशेषण दिया है)

संसारी पुरुषों को ही मुख्य भोग-बुद्धि की वृत्ति से स्त्रभित्र सुखादि का साचात्कार होता है स्त्रौर जीव-मुक्त तथा ईश्वर को तो गौए भोग होता है जो सुखादि के साचात्कार मात्र रूप होता है यह बात ईश्वर के लच्चए वाले सूत्र में हमने प्रतिपादन की है। यदि पुरुष में पृथक् भोग स्त्रौर मोच न मानें तब—

> कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिद्वच्यते । पुरुषः सुख्वदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ सुक्तिहित्वाऽन्ययारूपं खरूपेण व्यवस्थितिः"

कार्य, कारण और कर्तन में प्रकृति हेतु कहलाती है और मुख दुःख के भोग में पुरुष को हेतु कहते हैं। अन्यथा रूप को त्याग कर स्वरूप से व्यवस्थित मुक्ति है। इत्यादि वाक्य अपपन्न न हो सकेंगे। बुद्धि के ही परमवन्ध और मोन्न भी दर्शाते हैं 'खुढ़ेरेवेति" बुद्धि रूप से परिणित गुणों को ही पुरुषार्थ को असमाप्ति बन्धन है और विवेक ख्याति द्वारा तदर्शाव-साथ—पुरुषार्थ समाप्ति अपवर्ग है, तथाच यथोक्त भोग और अपवर्ग रूप पुरुषार्थों के साथ सम्बन्ध बुद्धि का बन्ध है और पुरुषार्थों से बुद्धि का वियोग मुक्ति हैं, यह भाव है, ये दोनों बुद्धि के परम बन्ध और परम मुक्ति हैं। और पूर्वोक्त भोग और अपवर्ग अपर बन्धन और जीबन्मक्ति हैं, इसलिये कोई विरोध नहीं।

पतेनेति—इससे शब्द आदि विषय भोग और विवेक ख्याति पुरुष में औपचारिक होने से महण धारणादि भी पुरुष में औपचारिक सत्ता वाले हैं यह जानना चाहिए। स्वरूपमात्र से अर्थों का ज्ञान-प्रहण है। चिन्तन को धारणा कहा है, अर्थगत विशेष की तर्कना को ऊहा कहते हैं, वितर्क के अन्दर से विचार द्वारा कितनों ही के निराकरण को अपोह माना है। वितर्क के मध्य में से विचार द्वारा कुछ का अवधारण तत्त्वज्ञान है। तदाकारतापत्ति श्रभिनिवेश है। प्रकृतयोग की भूमिका मात्र से ही यहाँ चित्त के परिग्रामों को गिना है इनसे दूसरे भी इच्छा कृति श्रादि उपलीवत जानने चाहियें॥ १८॥

संगति—दश्य का खभाव, खरूप और प्रयोजन कहकर अगले सूत्र में उनकी अवस्थाओं का वर्णन करते हैं:—

विशेषाविशेषिकक्रमात्रालिक्रानि ग्रूणपर्वाणि ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—विरोष-अविरोष-लिङ्गमात्र-अलिङ्गानि = विरोष, अविरोष, विङ्गमात्र और अलिङ्ग। गुण्पवीणि = गुण्में की श्रवस्थाएँ (परिणाम) हैं।

अन्वयार्थ—गुर्णो की चार श्रवस्थाएँ (परिस्ताम) है : विशेष, श्रविशेष, तिङ्गमात्र श्रीर श्रालङ ।

ब्याख्या—सस्त, रजस और तमस, इन तीनों गुर्ह्यों की चार श्रवस्थाएँ हैं : विशेष, श्रविशेष, लिङ्गमात्र और श्रतिङ्ग।

- (१) विशेष सोलह है : पाँच महाभूत—खाकाश, वायु, खिंग, जल श्रीर भूमि जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध-तन्मात्राश्रों के क्रम से कार्य हैं; पाँच क्रानेन्द्रिय—श्रीत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और नातिका; पाँच कर्मेन्द्रिय—वार्णा, हस्त, पाद, पायु श्रीर उपस्थ, ग्यारहवाँ मन जो श्रहङ्कार के कार्य हैं (१ ४५)। य सोलह, तीनों गुणों के विशेष परिणाम हैं। इनको विशेष इस कारण से कहते हैं कि तीनों गुणों के सुख, दुःख मोहादि जो विशेष धर्म हैं वे सब शान्त, घोर, मोहन्स्प से इनमें रहते हैं।
- (२) अविशेष छ: हैं। पाँच तन्मात्राएँ—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध जो पाँचों महामूतों के क्रम से कारण हैं; और एक अ्ड्रार जो एकादश इन्द्रियों का कारण हैं (१।४५) यह छ: महत्तत्त्व के कार्य गुणों के अविशेष परिणाम हैं। इनमें शान्त, घोर, मृद्ररूप विशेष धर्म नहीं रहते इसलिये अविशेष कहलाते हैं।

तन्मात्राएयविशेषाणि अविशेषास्ततो हितं।

न शान्ता नापि घोरास्ते न मुद्राश्चा-विशेषिषाः ॥

अर्थ--तन्मात्रायें श्रविशेष हैं। वे इस लिये अविशेष हैं क्योंकि वे शान्त, घोर और मृद नहीं होते।

- (३) लिङ्गमात्र : सत्तामात्र महत्तत्त्व (समष्टि तथा न्यष्टि चित्त) यह विशेष-श्रविशेष से रहित केवल चिन्हमात्र तीनों गुर्यों का प्रथम परियाम है, लिङ्ग इसलिय कहलाता है क्योंकि चिन्हमात्र न्यक्त है।
- (४) त्रालङ्गः श्रन्थकः मूल प्रकृति श्रर्थात् गुणों की साम्यावस्था। यह श्रालङ्ग अवस्था पुरुष के निष्प्रयोजन है। श्रालङ्ग श्रवस्था के श्रादि में पुरुषार्थता कारण नहीं है। और उस श्रवस्था की भी पुरुषार्थता कारण नहीं होती। यह पुरुषार्थ-कृत भी नहीं है, इस कारण निस्य कही जाती है। श्रालङ्ग इसलिये कहलाती है कि इसका कोई सिंह नहा अर्थात् स्थल नहीं है, श्रवस्था के ये वारों, तीनों गुणों के परिणाम की श्रवस्थाविरोष में

इनमें से पहिली तीन श्रवस्थाएं गुणों के विषम परिणाम से होती हैं, यही पुरुष के प्रयोजन को साधती हैं। चौथी श्रालग श्रवस्था में गुणों में साम्य परिणाम होता है, इस की पुरुष के भोग तथा श्रपवर्ग किसी प्रयोजन में प्रयुत्त नहीं होती परन्तु इसी श्रवस्था की श्रोर गुणों के जाने की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि यह मृल अवस्था है; इसी को प्रश्नति, प्रधान, श्रव्यक्त तथा माया भी कहते हैं। स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मतर तथा सूक्ष्मतम ज्ञान दिलाने के लिये यह कम दिखलाया है। उत्पत्ति का कम इससे उल्टा होगा। श्राथीत् श्रालग से लिंग, लिंग से छः श्रविशेष; और श्रवशाप से सोलह विशेष उत्पन्न होते हैं। (११४५) इन विशेषों का कोई तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होता, उनके केवल धर्म, लक्षण और श्रवस्था परिणाम होते रहते हैं जो तीसरे पाद में श्रवलाये जाउँगे।

विशेष वक्तव्य—गुण्पर्वाणिः जैसे बाँस के दग्रह में पोरी होती हैं, सबसे ऊपर की पतली सूक्ष्म होती हैं और क्रम से नीचे को मोटी स्थूल होता जाती हैं, ऐसे ही प्रकृत्ति अलिंग सूक्ष्म है, लिगमात्र (महत्तत्व) उससे स्थूल हैं; श्रीर लिंगमात्र की अपेदा अविशेष (अहङ्कार तन्मात्रा) स्थूल हैं; और अविशेष की अपेदा विशेष स्थूल हैं। इस लिए गुण्पर्वाणि का अथे यह हुआ कि इन चारों विभागों में गुण् विभक्त हैं। अर्थात् यह चार गुणों की अवस्थाएँ हैं।

सांख्य तथा योग में जड़-तत्त्व को तीन विभागों में विभक्त किया है—प्रकृति श्रविकृति, प्रकृति विकृति श्रीर श्रप्रकृति विकृति ।

- (१) प्रकृति नाम तत्त्व के कारण का और विकृति नाम कार्य का है, तीनों गुणों की साम्यावस्था-रूप जो श्रव्यक्त प्रधान है वह केवल प्रकृति है, विकृति नहीं। इसी की इस सूत्र में श्रिलिंग संज्ञा दी हैं, क्योंकि इसका कोई व्यक्त चिन्ह नहीं है।
- (२) महत, श्रहङ्कार, पश्चतन्मात्राएँ; यह सात प्रकृति विकृति हैं, क्योंकि यह सातों काये-कारण-खरूप हैं। श्रथोत् महत्तत्त्व प्रकृति का कार्य श्रीर श्रहङ्कार का कारण है। श्रह्कार महत्तत्त्व का कार्य श्रीर पाँचों तन्मात्राष्ट्रीं का कारण है। श्रीर पाँचों तन्मात्राएँ श्रहङ्कार का कार्य श्रीर पाँचों स्थूलभूतों के कारण हैं। इनमें से महत्तत्त्व की संज्ञा लिंग है क्योंकि वह गुणों का प्रथम कार्य = परिणाम, चिह्नमात्र = सत्तामात्र, व्यक्त है। श्रीर श्रहङ्कार तथा पाँच तन्मात्राएँ, इन छ: की संज्ञा श्रविशेष है क्योंकि इनमें शान्त, घोर, मृद्र- रूप विशेष धर्म नहीं रहते हैं।
- (३) पाँच स्थूलभूत पाँच तन्मात्राओं के कार्य और ग्यारह इन्द्रिये श्रहङ्कार के कार्य, यह सोलह श्रप्रकृति विकृति हैं, क्योंकि ये खयंकार्य हैं और किसी का कारण नहीं हैं। इन सोलह की विशेष संज्ञा है क्योंकि इनमें शान्त, घोर और मुद्द विशेष धर्म रहते हैं। चैतन पुरुष श्रप्रकृति श्रविकृति है अर्थात् वह न किसी का कार्य है, न कारण है। अपरिणामी, कृदस्थ, नित्य है (विशेष व्याख्या १।१ में देखों)।

यहाँ यह भी बतला देना आवश्यक है कि तीनों गुण सब धर्मों में परिणाम को प्राप्त होने बाले न नष्ट होते हैं, न उत्पन्न होते हैं किन्तु अतीत, अनागत, वर्त्तमान रूप से विषम श्रवस्था में उत्पत्ति-विनाशशील प्रतीत होते हैं। जैसे कि लोक में देवदत्त दिद्र हो गया, क्योंकि उसका धन हरण हो गया, और गाय श्रादि पशु मर गए। यहाँ दिरद्वता का व्यवहार गाय श्रादि के मरने से उसमें श्रारोप किया जाता है, न कि उसके खरूप से हानि होने से। इसी प्रकार गुणों का समाधान है श्रायंत्र कार्य की उत्पत्ति-विनाशरूप परिणाम से गुणों के स्वरूप में परिणाम नहीं होता। गुणां के स्वरूप में परिणाम नहीं होता। गुणांक भर्म सर्वदा एकसा बना रहता है।

यहाँ पर सकार्यवाद का सिद्धान्त समक्त लेना चाहिये अर्थात् प्रथम कार्य जो लिगमात्र महत्तत्त्व है वह उत्पत्ति से पूर्व प्रधान में सूक्ष्मरूप से स्थित हुआ ही प्रधान से विभक्त हुआ है। पहिले असत् नहीं था इसी प्रकार छः अविशेष लिंगमात्र महत्तत्त्व में पिहले स्रस्मरूप से स्थित ही अभिन्यक्त हुए हैं। इसी प्रकार सोलह विशेष भी अविशेषों में स्थित हुए ही विभक्त होते हैं। सोलह विशेषों से आगे कोई नया तत्त्व नहीं बनता है। अर्थात् इनका कोई नया तत्त्वरूप कार्य नहीं, इसलिये न उनमें कोई सूक्ष्मरूप से स्थित है, न कोई तत्त्वान्तर उत्पन्न होकर विभक्त होता है, अतः उनका नाम विश्वति है।

टिप्पणी—न्यास भाष्य का भाषानुवाद सूत्र ॥१९॥ दृश्य गुणों के भेदों का निश्चय कराने के लिये यह सूत्र श्रारम्भ होता है—विशेषाविशेष लिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥१९॥

विशेष, श्रविशेष, लिङ्गमात्र और श्रलिङ्ग ये गुणों के पर्व हैं।

वनमें श्राकाश, वायु, श्राम, वदक श्रीर भूमि ये पाँच भूत हैं। श्रीर ये पाँच भूत शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तन्मात्राश्रों श्रावशेषों के विशेष हैं। तथा श्रांत्र, तक, वस्नु, वस्नु, जिद्धा, माण् ये पाँच झानेन्द्रिय हैं, वाक, हाथ, पैर, पायु (ग्रुदा) श्रीर उपस्थ (जननेन्द्रिय) ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं, मन सर्वार्थ ग्यारहवाँ इन्द्रिय है। ये सब श्राहंकार रूप श्रावशेष के विशेष हैं, गुर्णों के ये सालह विशेष परिणाम हैं। छः श्रावशेष हैं— शब्द तन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा श्रीर गन्धतन्मात्रा, ये— एक, दो, तीन, चार श्रीर पाँच लक्षण वाले शब्दादि पाँच श्रवशेष हैं श्रीर छठा श्रवंकारमात्र श्रवशेष है, ये सत्तामात्र सहत्तन्म के छः श्रवशेष परिणाम हैं श्रीर जो कि श्रवशेषों से पर है—लिङ्गमात्र है, वह महत्तन्व है। ये (छः श्रवशेष) उस सत्तामात्र महत्तत्व में श्रवस्थित रह कर विश्वद्धि की पराकाष्टा का श्रनुभव करते हैं। श्रीर प्रति संस्रुच्यमान (प्रलय को शाप्त होते हुए) उसी सत्तामात्र महत्त्र श्राम में श्रवस्थित होकर निःसत्तासत्त-निःसदसद्-निरसद् श्रव्यक्त श्रालङ्ग; प्रधान में लीन होते हैं यह उनका लिङ्गमात्र परिणाम है, निःसत्तासत्त-श्रविङ्ग परिणाम है अतः श्रविङ्गावस्था में प्रकृषार्थ हेतु नहीं है। श्रादि में—श्रालङ्गावस्था में प्रकृषार्थता कारण नहीं होती है। यतः उसका पुरुषार्थता कारण नहीं होती श्रतः वह पुरुषार्थ- इत न होने से नित्य कहलाता है।

तीन—विशेष, श्रविशेष श्रीर लिङ्गमात्र—जो श्रवक्षा विशेष हैं, इनके ञाहि में पुरुषार्थता कारण होती है। वह श्रथे हेतु, निमित्त कारण होता है श्रतः श्रनित्य कहा जाता है। गुण तो सर्वधर्मानुपाती हैं—न लीन होते हैं न उत्पन्न होते हैं, गुणान्वधिनी, अतीव, श्रानागत, व्यय श्रागम वाली व्यक्तियों से ही उपजन, श्रपाय धमे वाले जैसे भासते हैं। जैसे कहते हैं कि देवदत्त कंगाल हो गया, क्योंकि इसकी गौ मर गई है। गौ के मौत से उसकी कंगाली है, उसके खरूप की हानि से उसकी कंगाली नहीं है, इसके समान ही यह समाधान हैं, लिङ्गमात्र अलिङ्ग के प्रत्यासन है, क्रम का उल्लंघन न करके उस प्रधान से संसृष्ट विभक्त होता है। तथा छः अविशेष परिणाम के क्रम से लिङ्गमात्र में संसृष्ट विभक्त होते हैं, तथा उन अविशेषों में भूत और इन्द्रियाँ संसृष्ट विभक्त होते हैं, तथा ज यह पूर्व कका है कि विशेषों से परे तत्त्वान्तर नहीं होता, अतः विशेषों का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होता है। उन विशेषों के धमे परिणाम, लन्नण परिणाम और अवस्था परिणाम कहलांत हैं, ज्याख्या कियं जाते हैं ॥१९॥

विज्ञानभित्तु के योगवात्तिक का भाषानुवाद ॥१६॥

इस सूत्र ने गुणों को ही दश्य कहा है, गुणों के विकारों को दश्य नहीं कहा है खतः इस न्यूनता के निरासाथे अगले सूत्र का अवतरण करते हैं दश्यानां तु-दृश्यों के स्वरूप भेद के निक्षयार्थ-खवान्तर भेदों के प्रतिपादनार्थ इस सूत्र का खारम्भ होता है—

विशेषाविशेष लिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥

गुगुरूप बांस है, उस गुगुरूप बाँस के अलिङ्ग आदि चार पर्व हैं—चार पोरी हैं। बीज खौर श्रङ्कर की भाँति श्रवस्था भेद हैं श्रत्यन्त भिन्न नहीं हैं—श्रत: गुगों में ही सब इस्यों का श्रन्तर्भाव है, यह सुत्रकार का श्राशय है।

कार्यों से कारणों का अनुमान हुआ करता है इस आशय से विशेषादि के कम से पर्वों की गिनती हैं। उनमें से जिस जिस अविशेष का जो जो विशेष है उसको कहते हैं— तन्नाकाशेति—आकाश आदि भृत शब्द आदि तन्मात्राओं के जो कि शान्त आदि धर्मों से शुन्य शब्द आदि तन्मात्राओं के जो कि शान्त आदि धर्मों से शुन्य शब्द आदि द्रव्य वाल सुक्ष्म द्रव्य हैं इसीलिय जिनका नाम अविशेष हैं, उनके विशेष हैं। अभिन्यक्त शान्त आदि विशेष वाले यथा कम परिणाम हैं।

तथा इति विशेषा—इसके साथ श्रान्वय है। श्रार्थात् श्रोज, तक ्चक्क, जिह्वा, घाण ये क्वांनेन्द्रय और वाक्, पार्णा, गाद, पायु और उपस्थ ये क्वंनिन्द्रय और सर्वार्थ भन ये सब एकादश अस्मिता रूप श्राविशेष के विशेष हैं। मन को इन्द्रियों में प्रवेश के लिये हेतुगर्भ विशेषण दिया है, सर्वार्थ-सर्वेषां दर्शन्द्रियाणां श्राथे एवाथा यस्य इति मध्यमपदलोपीसमासः। सब दश इन्द्रियों के श्रार्थ (विषय) ही हैं विषय जिसके वह मन सर्वार्थ है। यह मध्यम पदलोपी समास है, क्योंकि मन की सहायता से ही श्रोतादि इन्द्रियां श्राप्त श्राप्त विशेष का प्रहर्ण करती हैं श्रातः मन सर्वार्थ है। श्रहंकार के श्रावशेषत में हेतुगर्भ विशेषण है। श्रास्त्रतालक्षणस्यित—श्रस्तितारूप—श्रमान-मात्र धर्म वाले श्रवण, स्पर्शन, दर्शन श्रादि विशेष रहित श्रहंकार के ये श्रोत्रादि विशेष हैं। इक्तट्ठा करके विशेष पर्व का उपसंद्रार करते हैं। ग्रुणानामिति—ग्रुणों के ये सोलह विशेष परिणाम हैं। इसी भाँति पाँच भूत, एकादश इन्द्रियगण् यह षोडश संख्या वाला ग्रुणों का विशेष नाम वाला परिणाम है।

हांका — इन्द्रियों के समान तन्मात्राओं को खहंकार का विशेष क्यों नहीं कना १ क्योंकि तन्मात्रा भी शब्द, स्पर्श खादि विशेष वाले हैं ?

समाधान—यह नहीं कह सकते, क्योंकि विशेष मात्र को ही यहाँ विशेष कहा है, तन्मात्रा विशेष मात्र नहीं है क्योंकि वे भूतों की अविशेष मात्र में हैं। अविशेष पर्व की व्याख्या करते हैं। यह अविशेष इति—छः को गिनते हैं— शब्द तन्मात्रमित्यादि से अस्मितामात्र इसतक, एक द्वि त्रीति। लक्ष्यते दनेति लक्ष्याम्—जिससे लखाया जाय उसको लक्ष्या कहते हैं वह धर्म होता है,—यहाँ तन्मात्राओं को द्रव्यत्व प्रतिपादन करने के लिये लक्ष्या पद दिया है। तथा उत्तरोत्तर तन्मात्राओं में पूर्व पूर्व तन्मात्राओं के हेतु होने से शब्द तन्मात्र शब्द धर्मवाली हैं, तत्कार्यतयास्पर्शतन्मात्र शब्द स्पर्श उभय धर्म वाली है, इस प्रकार क्रम से एक एक लक्ष्या धर्म की वृद्धि होती है, इनमें मात्र शब्दों के साथ शान्त आदि विशेष की ही व्यावृत्ति हैं गुगान्तर के संपर्क की व्यावृत्ति नहीं है क्योंकि एक दिञ्चादि लक्ष्यात्व को कहा गया है।

तन्मात्राएयविशेषाणि अविशेषास्ततो हिते। न शान्ता नापि घोरास्ते न मृद्दारचाविशेषिणः॥

इति विष्णुपुराणाच्च — तन्मात्रा छविशेष हैं इसलिये वे श्रविशेष हैं क्योंकि वे शान्त, पोर और मृढ नहीं होते, श्रतः श्रविशेष हैं, यह बात इस विष्णुपुराण से प्रमाणित होती है।

दांका — तन्मात्रार्थों में परस्पर कार्यकारण भाव सिख हो जाने पर ही कारण गुण के क्रम से उत्तरोत्तर गुण बृद्धि हो जायगी डसी में क्या प्रमाण है ? क्योंकि श्रृति और स्पृतियों को तो स्थूल भूतों के विषय में ही खाकाशादि के क्रम से कारणता है ?

समाधान—आकाशादि स्थृल भूतों से वायु आदि की उत्पत्ति दिखलाने से सूक्ष्मभूतों में भी उसी प्रकार के कार्य कारण भाव की करपना उचित है, ये तन्मात्रा तामस खहंकार से शब्द आदि के क्रम से उत्पन्न होते हैं यह जानना चाहिये। अस्मिता मात्र-अभिमान वृत्ति वाला है, उससे इन्द्रिय भावापत्र ऋहंकार की ज्यावृत्ति होती है। "पते सत्तामात्रस्यंत" ये सत्तामात्र महत्तत्त्व के पड् अविशेष परिणाम हैं सत्ता—विद्यमानता वा ज्यत्तता का नाम है। आदि कार्य होने से महत्तत्त्व ज्यत्ततामात्र हं। अलय में ही सब विकार (कार्य) द्रज्य अतीत और अनागत रूप से रहते हैं – विद्यमान रूप से नहीं रहते अतः आदि विकार अंकुरवत् जो महान है, वह सर्ग के आदि में सत्ता को लाभ करता (विद्यमान अवस्था में आता है) वह सत्तामात्र कहलाता है, और वह सत्तमागन्य से सत्तामात्र कहा जाता है, क्यों कि सद् विशेष अहंकार आदि उस समय अविद्यमान होते हैं। इसीलिये यास्क गुनि ने षड् भाव विकारों में से जन्म के उत्तर अस्तिता (सत्ता) ही विकार कहा है। इस प्रकार संसार रूपी वृत्त का अस्तितामात्र परिणाम महत्तत्त्व है, और वही आहंकार से वृद्धि परिणाम है। इस प्रकार सव विकारों के आत्मारूप बुद्धि नामक महत्त्व के छै परिणाम

श्रविरोष संझक हैं। सामान्यत्व को श्रविरोषत्व कहा है। यद्यपि षांडशिविरोषों का सामान्यत्व महत्तत्त्व श्रौर प्रकृति इन दोनों में है, तो भी विशेष शब्द पंकज श्रादि शब्दों की भाँति पड (छ:) में ही योगारूढ है।

यहाँ छ: के मध्य में से तन्मात्राओं को बुद्धि की परिग्रामता श्रहंकार के द्वारा ही माननी चाहिये (श्रर्थात् प्रकृति से महत्तत्त्व और महत्तत्त्व से श्रहंकार और उससे तन्मात्रा उत्पन्न होते हैं) क्योंकि "सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्" इस सूत्र पर भाष्य ने ऐसी ही व्याख्या की है।

लिङ्गमात्र पर्व की व्याख्या करते हैं—यत्तत्तरं-श्रविशेषों से जो पर है-पूर्व दरान्न है, बांस के प्रथम पर्व की भाँति जगत् का श्रंकुर महत्तत्त्व है उसीको लिङ्गमात्र कहते हैं। लिङ्ग श्राखल वस्तुश्रों का व्याखक है श्रीर वह भहतत्त्व है। महत्तत्त्व ही स्वयम्भु—श्रादि पुरुष—काथे त्रक्ष का उपाधिरूप है, जो सर्ग के श्रादि में सब जगत को प्रकट करता हुआ उदय होता है जैसा कि सोकर चित्त उठता है। ज्ञान के श्राविश्क्त तो व्यापार पीछे श्राहंकार से उत्यन्न होता है, श्रतः महत्तत्त्व लिगमात्र कहलाता है, ऐसा स्मृति भी कहती है—

ततोऽभवन्मश्चत्त्वमध्यकात् कालचोदितात् । विज्ञानात्मात्म-देहस्थं विश्वं व्यङ्जंस्तमोनुदः ॥

काल से प्रेरित उस श्रव्यक्त प्रकृति से श्रास्म देहस्य इस विश्व का व्यक्त करता हुश्चा तम का नाशक विज्ञानात्मा उत्पन्न हुश्चा, कोई सज्जन "लयं गच्छतीति लिंगम्" जो लय को प्राप्त होता है वह लिंग है ऐसा लिंगपद का श्र्य्य करते हैं। वह प्रमाण के श्रभाव से उपेत्तित (त्याज्य) है, क्योंकि श्रहंकार श्रादि भी लय को प्राप्त होने से लिङ्गमात्र कहे जा सकते हैं, जो उचित नहीं है। तथा लिङ्गमात्र में जो मात्रशब्द का प्रयोग है वह उपपन्न न होता। उस स्क्ष्म रूप में वे पूर्वोंक श्रविशेष विशेष पदार्थ श्रवस्था से श्रवागत श्रवस्था से स्थित होकर उत्तरोत्तर वाँस की पोरी की भाँति स्थावर श्रीर जंगमों की विद्युद्धि की पराकाष्टा को प्राप्त होते हैं। "महान् प्रादुर्भृत ब्रह्मा कूटस्थो जगद् श्रंकुरः" कूटस्य जगन् का श्रंकुर महान् ब्रह्मा प्रार्भृत हुश्चा इसमें यह स्पृति प्रमाण है।

तथा प्रतिसंसुञ्चमान प्रलीयमान वे उसमें ही अतीत अवस्था से अनुगत होकर उसी के साथ जो प्रसिद्ध तीन गुणों की साम्यावस्था रूप अलिंग है—प्रधान नाम का मूलकरण है उस प्रकृति में लीन होते हैं। इससे यह भी ज्याख्या हो गई कि जगत् की सृष्टि स्थिति और लय का हेतु महत्तत्व उपाधि युक्त कार्य ब्रह्म भी है। प्रधान के अलिंगत्व को उप-पादन करने के लिये अव्यक्त यह विशेषण दिया है। स्वयं अव्यक्त होने से प्रस्पर व्यंजक नहीं है अतः अलिंग है यह आपय है। पुरुष से पर अभिमत हाइ रूपंगिद से ज्यावर्त्तन के लिये "निः सत्ता सत्ते" विशेषण दिया है। तिगेते पारमार्थिक सत्ता सत्ते" विशेषण दिया है। तिगेत विशेषण स्थापिक सत्ता सत्ते" विशेषण दिया है। तिगेते पारमार्थिक सत्ता सत्ते असन् जिससे यह विमह है। कूटस्थ और नित्यत्व आहि पारमार्थिक सत्त ही

सतोऽस्तित्वे च नासत्ता नास्तित्वे सत्यता कृतः ।

सत् के अस्तित्व में असत्ता नहीं होती, नास्तित्व में सत्यता कहाँ (अर्थात नास्तित्व में सत्यता रह ही नहीं सकती)

तस्मान विज्ञानमृतेऽस्ति किंचित् कचित्कदाचिद् द्विन ! वस्तुनातम् । यश्चान्यथात्वं द्विज ! याति भूयो न तत्त्रथा तत्र कृतो हि सत्त्वम् ॥

हे द्विजसत्तम! इस हेतु से विज्ञान के सिवाय कुछ भी, कहीं भी श्रीर कभी भी वस्त समृह नहीं है। हे द्विज! जो वस्तु फिर अन्यथा हो जाती है वह वैसी नहीं होती, उसमें सत्ता कहां ? (त्रर्थात् उसमें सत्ता भी नहीं होती) इन गरुडपुराण और विष्णु-पुराग् के वचनों से असत्ता सामान्य के अभाव की ही पारमार्थिक असत्ता सिद्ध है। और वह प्रधान में नहीं है क्योंकि महदू आदि अखिल विकार रूपों के साथ प्रलयकाल में नहीं होते हैं। सक्ष्म दृष्टि से ता परिणामी होने से प्रतिच्या तत धर्म रूप से अपाय होता ही रहता है यथा श्रति श्रीर स्पृति भी चैतन्य-चिन्मात्र को सत् होते हए यह जीव लोक स्वय और उदय से परिवर्तन होता हुआ एक चएा भी नहीं ठहरता इत्यादि कहती हैं। जैसे यह प्रधान सत्ता से वर्जित है वैसे ही पारमार्थिकी श्रसत्ता से भी वर्जित है क्योंकि सत्ता सामान्य का स्रभाव ही पारमार्थिक स्रसत्व है और वह प्रधान में नहीं है, क्योंकि वह नित्य है, अर्थ कियाकारी है और श्रुति, स्मृति तथा अनुमान से सिद्ध है। इसी भाँति सत और असत् से अनिर्वचनीय-त्रिगुणात्मक-माया नामक प्रधान है यह वेदान्त सिद्धान्त भी खबधारणीय है।

नासद्र्वा न सद्र्वा माया नैवोभयात्मिका। सदसद्वस्यामनिर्वोच्या मिथ्याभूता सनातनी।।

माया न श्रसदृरूपा है, न सद्रूपा है न ही उभय रूपा है-वह सत् या श्रसत् से अनिर्वाच्या है, मिध्यारूपा श्रीर सनातनी है (नित्या है)। इन श्रादित्य पुराशाहि में माया नामक प्रकृति को पारमार्थिक सत्त्व आदि रूप से अनिरूप्या कहा है।

प्रपंच की अत्यन्त तच्छता या अत्यन्त विनाशिता वेदान्त का सिद्धान्त नहीं है क्योंकि नाभाव उपलब्धेः '२।२।२८' भावे चोपलब्धेः" २।१४।१५ इन वेदान्त के सूत्रों में अत्यन्त तच्छता का निराकरण किया है। "सत्त्वाचावरस्य" २।१।१६ "असद्व्यपदेशादिति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्" राशारे वैधर्म्याच न स्वप्नादिवत् इत्यादि यथा श्रुत वेदान्त सूत्रों से प्रपंच की सत् असत् रूपता की ही सिद्धि होती है। "धर्मान्तरेण" का अर्थ है अतीत और अनागत धर्म से और शास्त्रों में खप्न आदि दृष्टान्त चणभंगुरत्व और पारमार्थिक असत्य खंश से ही जानने चाहियें। स्वप्न श्रीर गन्धवे नगर आदि भी अत्यन्त असत् नहीं हैं क्योंकि स्तप्र आदि में भी साज्ञि-भास्य मानस पदार्थ माने हैं। यदि ऐसा न माने तो सन्ध्ये सृष्टि राहडीति" वैदान्त सूत्र से ही स्वप्न में जो सृष्टि का अवधारण किया उससे विरोध होगा। २६

'न स्वप्नादिवत' इस वेदान्त सूत्र में जामत प्रपंच का केवल मानसत्व होना ही निषेध किया है। इस से जो स्वप्नादि के दृष्टान्तों के द्वारा प्रपंच को मनोमात्र माना है वह नवीन वेदान्तियों का श्रपसिद्धान्त ही है, क्योंकि वेदान्त सूत्र ने भी खप्न तुरुयत्व के श्रभाव का निर्णय किया है इसलिये यथोक्त ही प्रपंच का "असत्त्व" ब्रह्ममीमांसा का भी सिद्धान्त-समान-तन्त्र सिद्ध है। कोई यहाँ उत्तर विशेषण में अर्थ क्रियाकारित्व ही सत्त्व विवित्तत है श्रीर वह प्रलय काल में प्रकृति श्रीर प्रकृति के कार्य में होता नहीं श्रतः-प्रकृति सत् नहीं ऐसी शङ्का करते हैं ? वह ठीक नहीं है क्योंकि इस युक्ति से ईश्वर से अन्य पुरुष भी प्रलय काल में अर्थ कियाकारी न होने से असत हो जायेंगे। जीवों में भी विषय के प्रकाशन रूप व्यापार का उपरम ही असत्ता-लय-खाप-प्रलय में है यह ईश्वर प्रकरण में श्र ति और स्मितयों में प्रसिद्ध है अतः प्रधान के पारमार्थिक सत् असत् के अभाव की सिद्धि के लिये उसके विकारों के भी पारमार्थिक सत् असत् नहीं है यह प्रतिपादन करने के लिये प्रधान का विशेषणान्तर है निःसदसद इति-निर्गत हैं सत असत जिससे ऐसा विग्रह है। नि:-सित्ररसद ऐसा पाठ होने पर भी अर्थ वह ही है। प्रधान वृत्ति जितना विकार-समृह है वह पारमार्थिक सत् नहीं है, क्योंकि परिणामी होने से ऋपने धर्मी द्वारा प्रतिचण उसका विनाश होता रहता है। आदि अन्त की व्यक्ति अवस्था से भी असत् ही है। वाचारम्भग्रं विकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम् । विकार नामधेय (घट, शराव आदि) वाचारम्भण है (वाणी का विलास है) मृत्तिका है, इतना ही सत्य है।

श्रव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत! श्रव्यक्त निधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ हं भारत! ये भूत श्रादि में श्रव्यक्त थे श्रव मध्य वर्षामान में व्यक्त हैं, मृत्यु होने पर फिर श्रव्यक्त हां जायेंगे इनके विषय में परिदेवना क्या ? (दुःख नहीं मानना चाहिये, चिन्ता नहीं करनी चाहिये) । इत्यादि श्रुति श्रीर स्मृति विकारों के नित्यतारूप सत्त्व का निराकरणं करती हैं, यहाँ श्रुति में विकारों के श्रादि श्रीर श्रन्त में नाममात्र श्रवशेष होने से खिर न होने के कारण श्रक्षिर की श्रपेषा से कारण की खिरत्व रूप सत्यता विविद्ति है, क्योंकि 'नित्यो नित्यानां, सत्यस्य सत्यं' वह नित्यों का नित्य है सत्य का भी सत्य है । इन दूसरी श्रुतियों में भा इसी प्रकार का श्रथे सिद्ध है । विकार श्रत्यन्त तुच्छ हैं इस कारण से उनके नित्यतारूप सत्त्व का निराकरण नहीं है । यदि तुच्छत्त्या निराकरण मानें तो सृद्धिकार जो बद्ध विकार में टप्टान्त दिया है वह उपपन्न न होगा, क्योंकि लोक में सृद्धिकार को श्रत्यन्त तुच्छता सिद्ध नहीं है, जिससे कि श्रद्ध के काये प्रपंच के तुच्छ होने पर उसकी टप्टान्तता बन सके ? जिस प्रकार प्रधान वृत्ति काथे समृह श्रत्यन्त सत् नहीं है, उसी प्रकार श्रत्यन्त श्रसन् भी नहीं है, क्योंकि श्रतीत श्रीर श्रनागत रूपों से सदा हो सन् है । सदी दं "ताईव्याकृतमासीत्" वह ही तो यह श्रव्याकृत था ।

त्रासीदिदं तमोभूतमनज्ञातमलज्ञणम् । अमतक्यमिविद्येयं मसुप्तमिव सर्वतः ॥ २०२

साधनपाद

यह दृश्य जगत् प्रलयावस्था में तमोभूत, श्रप्रज्ञात, श्रलच्या, श्रप्रतक्यं, श्रविद्वेय सर्वत: प्रसप्तवत था। इत्यादि श्रति श्रीर स्मृतियों से कार्य जगत की कारण रूप सत्ता सिद्ध है।

इंका-इस प्रकार विकार सहित प्रधान के सत और असत का प्रतिषेध हो जाने पर. प्रकृति की सत और असत आत्मता का प्रतिपादन करने वाली सैकड़ों श्रति और स्मृतियों का विरोध होगा ? और "सदसद वाधावाधाभ्याम्" इस सांख्यसूत्र से भी विरोध होगा।

समाधान-एसा नहीं है, क्योंकि इस प्रकार के जितने वाक्य हैं वे सब व्यक्त और अञ्चक्त रूप व्यवाहारिक सत् और असत् परक हैं। सांख्य सत्र में बाध और अबाध रूप भेद से सार्वकालिक हैं। वह कहा है-

जगन्मयी भ्रान्तिरियं कटाऽपि न विद्यते। विद्यते न कदाचिच जलबुद्बुद्वत् स्थितम् ॥

यह जगत-मयी भ्रान्ति कभी भी नहीं है, यह बात नहीं है, कभी कभी नहीं होती। इसकी स्थिति जल के बदबद के समान है।

भ्रान्ति यह पारमार्थिक भ्रम को लेकर ज्ञान श्रीर होय के श्रभेद रूप की विवज्ञा से

कही गई है। अतएव गौतम सत्र है ---

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्या बुद्धेर्द्वेविध्योपपत्तिरिति-तात्त्विक मिथ्याबुद्धि-श्रनित्य पदार्थ का ज्ञान है, वह प्रधान मिथ्या ज्ञान है, प्रसिद्ध मिथ्या ज्ञान है जैसे शक्ति में रजत-ज्ञान। पारमार्थिक भ्रम का लक्षण है-तदभाववति तत्प्रकारक-अथवा असदविषयकता, यह होनों ही परिशामी नित्य पदार्थ बद्धियों में हैं। व्यावहारिक श्रीर पारमार्थिक भेद से सत्ता ऋादि की द्वि प्रकारता विष्णु-पुराण श्रादि में प्रसिद्ध है।

सद्भाव एषो भवते मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत । एतच्च यत्संव्यवहारभूतं तथाऽपि चोक्तं भ्रवनाश्रितं तद्र ॥

जैसे यह ज्ञान सत्य है श्रीर श्रन्य सब श्रसत्य है, यह सद्भाव मैंने श्रापके लिये कह दिया है, और यह जो संव्यवहार रूप है जो लोक के आश्रित है वह भी कह दिया है। तीसरी लोकसिद्ध पारिभापिकी सत्ता भी है, जो मनोमात्र परिणाम, शक्ति में रजत और स्वप्न के पदार्थों की सत्ता है। जो परमात्म चैतन्य सत्य है जीव चैतन्य सत्य नहीं है यह वेदान्त रहस्य है-

नाऽन्योऽतोऽस्ति द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा इत्यादि श्रति सिद्ध है, वह तो लय शन्य-त्वरूपा श्रति पारमार्थिक सत्ता के श्रभिप्राय से समम्तनी चाहिये। प्रलयकाल में ही परमात्मा में प्रकृति और पुरुषों के व्यापार के उपरमुख्य लग होता है। "प्रकृति: पुरुपक्षोभी जीयेत परमात्मिन" प्रकृति श्रीर पुरुष ये दोनों परमात्मा में लीन होते हैं । इत्यादि वाक्यों से यह सिद्ध है। परमात्मा सदा जाप्रतरूप से लयशून्य है। वही परमार्थ सत् है, प्रकृति और पुरुष परमार्थ सत् नहीं है यह नवीन वेदान्त वाक्यों की मर्यादा है। इससे सत् और असत् के विरोध से एकत्र असम्भव का भी कारण हो गया, क्योंकि व्यवहार और परमार्थ के भेद से, काल के भेद से, अवच्छेद के भेद से, स्वरूप के भेद से और प्रकार के भेद से इनका अविरोध है। इस प्रकार श्रुति और न्याय से सिद्ध सत्यात्व और मिध्यात्व के विभाग को न जानते हुये आधु-निक वैद्यान्तियों के प्रपञ्च का अत्यन्त असत्यत्व आदि रूप नास्तिकों के सिद्धान्त अनुसार अप-सिद्धान्त हैं—अत: मुमुक्षुओं को दूर से ही त्यागने चाहिये, क्योंकि सामान्यन्याय से अन्यत्र सिद्धान्तों को ही ब्रह्म मीमांसा के सिद्धान्त कहा गया है। इस प्रकार सब ठीक है।

लिङ्गमात्र परिणाम का उपसंहार करते हैं-एव तेपाम-यह गुर्शों का लिंगमात्र परि-गाम है। श्रालग पर्व की व्याख्या करते हैं-नि:सत्तासत्तं चेति-नि:सत्तासत्त श्रालग परिगाम है, निःसत्तासत्त इस कथन में जो पदार्थ है वह ऋलिङ्ग नामक गुर्णों का परिणाम है श्रीर वह साम्यावस्थानात्मक गुणों से श्रतिरिक्त है, इससे उस प्रधान की गुणात्मता सिद्ध होती है, उसी अवस्था के लिये प्रधानवाची शब्द, धर्मधर्मी के अभेद से महदादि की व्यावृत्ति के लिये ही यहाँ श्रति स्मृतियों में प्रयोग किया है। परमार्थ से तो गुए ही तद्रप लिंदत प्रधान हैं. भाष्य में गुणों को ही प्रधान शब्द से कहा है। श्रव पर्व श्रीर गुणों के परस्पर वैधर्म्य से भेद प्रतिपादन करते हैं-उनमें से पहिले ऋतिंग अवस्था रूप पर्व का तीनों पर्व से श्रीर गुर्ह्यों से वैधर्म्य का प्रतिपादन करते हैं - श्रलिङ्गावस्थायामिति-पुरुषार्थ विषयभोग श्रीर विवेक ख्याति तथा उनके कार्य सुख और दु:ख लिङ्ग श्रवस्था के प्रति हेतु नहीं है, क्योंकि अलिंग अवस्था में आदि में सृष्टि के पहिले पुरुषार्थता-पुरुषार्थ समृह कारण रूप से अभिमत नहीं हो सकते। दःख निवृत्ति की व्यावृत्ति के लिये कारण यह शब्द कहा है, प्रलय-काल में दःख निवृत्ति की कर्म के त्त्रय से ही उपपत्ति होने से प्रलय में प्रयोजन न रहने से दःख की निवित्त प्रलय का कारण नहीं होती यह त्राशय है। उपसंहार करते हैं--न तस्या इति-यूं कहा जा सकता है व्यक्त अवस्था में गुर्गों से शब्द आदि के उपभोग आदि रूप प्रवार्थ होता है अतः वह उसमें अनागतावस्था कारण हो, साम्यावस्था में तो तज्जन्य कोई भी परुषार्थ नहीं होता श्रतः इस श्रव्यक्त श्रवस्था में पुरुषार्थ कारण नहीं हैं। इससे क्या प्रयोजन है। यह कहते हैं - वह साम्यावस्था पुरुषार्थकृत नहीं है, अतः शास्त्रों में नित्य कहलाती है। नित्या-खाभाविकी है अनैमित्तिकत्व से तीनों पर्वों की अपेत्ता से शित, स्वाभाविकत्व होने पर भी धर्मादिकों से प्रतिबन्ध यहाँ गुणों का साम्यरूप परिणाम है यह भाव है। अव्यक्त अवस्था की खाभाविकता व्यक्त श्रवस्था की श्रपेत्ता से नहीं होती, बहुत काल तक श्रवस्थायित्व ही नित्यत्व-सत्यत्व श्रादि दूसरे नामों से व्यवहार से सिद्ध है। धर्म नित्य है, सुख दु:ख श्रनित्य है इस्थादि महाभारत आदि में व्यवहार होता है, इस प्रकार का नित्यत्व गीतादि में कहा है-

अञ्चक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत । अञ्चक्त-निधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

हे भारत ! ये भूत आदि में अध्यक्त थे और मध्य (वर्तमान) में ध्यक्त हैं, निधन-मृत्यु (अन्त) में फिर अध्यक्त हो जाते हैं इसमें परिदेवन क्या ? इत्यादि से यही बात कही है।

अथवा सर्वदा सत्त्वस्प ही नित्यत्व यहाँ के लिये भी सही, सृष्टि काल में भी गुणों के साम्य का अत्यन्त उच्छेद नहीं होता है, अंश से ही वैषम्य है आवरण रूप गुण-साम्य सदा ही रहता है। अन्यथा साम्यावस्था का अत्यन्त उच्छेद होने पर पर्वता ही न बन सकेगी। इस ही सूत्र ने अर्थ्वमूलमधः शास्त्रमित्यादि गीता को अञ्यक्त मूल प्रभव इत्यादि मोस धर्मादिक को अनुसरण करके संसार रूप गुण्यृत्त ही चतुष्पर्वतया निरूपण किया है। उस वंश (बाँस) तुल्य गुण्यृत्त के पूर्व पूर्व तत्त्व आवरणों के अंश से ही उत्तर तत्त्व रूप से परिण्त होते हैं, जैसे कि समुद्र के अंश से फेन आदि रूप परिण्याम हुआ करता है। जैसे दूध सर्वाश से दही बन जाता है। पूर्व पूर्व तत्त्व का सर्वाश से परिण्याम होता है वैसा नहीं है। उत्पन्न कार्य्य के अर्थ एस पुराण्ये तो कारणों को स्व-कार्य के आवरक होने से अवस्थान सिद्ध हैं। इसलिय सर्ग काल में भी बहिर अलिगावस्था के अवस्थान से उसकी नित्यता है।

्रांका—प्रकृति को लेकर त्र्याठ त्रावरण ब्रह्मागड के सुने जाते हैं, तन्मात्रा नहीं सुनी

जाती हैं।

समाधान—यह बात नहीं है, सूक्ष्म और स्थूल की एकल की विवत्ता से (एक मान कर) आठ प्रकार का आवरण कहा है अतएव भागवत के द्वितीय स्कन्ध में प्रमुख की गित में पाँच भूतों की बिह: तन्मात्रा आवरण में गित कही है, इन्द्रियें कारण न होने से आवरण नहीं कहीं, उनकी उत्पत्ति तो तन्मात्राओं के समान देश में होती है, जैसे कि तिलों के समान देश में होती है, जैसे कि तिलों के समान देश में सूक्ष्म तेल की उत्पत्ति होती है। इतर तीन अवस्थाओं में अनित्यत्वरूप वैधम्य को कहते हैं—लयाणामिति—तीन अवस्था विशेषों की आदि उत्पत्ति में पुरुषाधेता कारण होती है। आदि उत्पत्ति में उपादान कारण के व्यवच्छेद के लिये कहते हैं—सर्वार्थ इति। और वह अथे—हेतु—निमित्त-कारण होता है, अतः तीनों अवस्था अनित्य कही जाती हैं। शेष सुगम है।

पर्वों में नित्य और अनित्यत्व वैधर्म्य को कह कर पर्वी गुर्णों का पर्वों से वैधर्म्य कहते हैं—गुर्णास्विति—सत्त्व आदि गुर्ण तो सर्व विकारों में अनुगत हैं, खत: उत्पत्ति और विनाश से शुन्य हैं—अनुपवरित हैं। अनिंग अवस्था भी गुर्णों के सहश नित्य नहीं है।

शंका-त्रिगुणात्मक प्रकृति के नित्य होने पर-

मकृति पुरुषं चैत्र मित्रयात्मेच्छया हरिः। शोभयामास संपाप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययो ॥ तस्मादव्यक्तप्रत्यन्तं त्रिगुर्णं द्विजसत्तमः!

है द्विज ! सर्गकाल प्राप्त होने पर हिर ने आत्मेच्छा से व्यय और अव्यय श्रक्ति और पुरुष में प्रविष्ट होकर इन में जोभ उत्पन्न किया, उससे त्रिगुग्गत्मक अव्यक्त उत्पन्न हुआ। इत्यादि स्मृतियों में प्रकृति के लिये व्यय और उत्पत्ति बचन आये हैं वे संगत कैसे होंगे ?

समाधान—व्यक्तिभिरेवेति—गुणान्वयिनीभः—गुण धर्म कार्य व्यक्ति श्रतीत से उपचर्यान्त परिणाम वालियों से गुण जन्म और विनाश वाले जैसे प्रतीत होते हैं कार्य- कारण का विभाग होने से, उन सत्त्वादि गुणों में स्वतः जन्म और विनाश नहीं है। इसी कारण से स्वानुगत व्यय आदि से ही गुणात्मक प्रकृति के व्यय आदि का व्यवहार होता है, यह आशय है। परिणाम तो प्रकृति का पारमार्थिक होने पर व्याप्यों के उत्पत्ति और विनाश का व्यापकों में व्यवहार होता है उसमें दृष्टान्त कहते हैं—यथा देवदत्तो दरिद्राति, दरिद्राति का अर्थ है नीण होता है। समः समाधि:—यह समाधान दार्थन्तिक में भी समान है।

दांका—तो भी प्रकृति की नित्यता नहीं बनती । "भूयश्चान्ते विश्वमाया निष्टृत्तिः" फिर अन्त में विश्वमाया निष्टृत्त होती है।

मकृतिः पुरुषश्चोभौ लीयेते परमात्मिन ।

प्रकृति ऋौर पुरुष दोनों परमात्मा में लीन हो जाते हैं, इत्यादि वाक्यों से प्रकृति की नित्यता नहीं बनती।

समाधान—इसका उत्तर दें दिया है कि कार्य के विनाश से कारण में विनाश व्यव-हार उपचार से होता है। व्यापार के उपरम रूप लय को हां पुरुष के साहचर्य से प्रकृति में व्युग विनाश निश्रय किया है।

वियोजयत्यथान्योन्यं प्रधानपुरुषाबुभौ । प्रधानपुंसोरनयोरेष संहार ईरित:॥

प्रधान खौर पुरुष दोनों एक दूसरे को सपने से गुक्त करते हैं यही प्रधान और पुरुष का संहार कहलाता है। इत्यादि क्रुमें पुराण के बचनों से भी यही सिद्ध होता है, प्रकृति और पुरुष का कार्य उपरम ही उपचार से बिनाश कहलाता है, यदि ऐसा न मानें, तो न्याय के खनुमह से बलवती श्रुतियों का विरोध होगा। ऐसे ही प्रकृति और पुरुष का पुराणों में श्रूयमाण उत्पत्ति भी खन्योऽन्य के संयोग से खभिन्यिक ही जाननी चाहिये।

संयोगलक्षणोत्पत्तिः कथ्यते कर्मजा तयोरिति स्मृते:।

स्पृति का भी यही तात्वर्य है प्रकृति खौर पुरुष की संयोग रूप कमेज उत्पत्ति कही जाती है। तथा चोक्तम —

न घटत उद्दभवः मक्कतिपृष्ठवयोर जयोष्यययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्दबुदवत् । त्विय त इमे ततो विविधनाम-गुणैः परमे सरित इवार्णवे मधुनि जिन्युरशेषाः ॥

श्रज शक्नति और पुरुष का उद्भव— उत्पत्ति नहीं बनती, प्राराधारी जल में बुद्बुद के समान दोनों से संयुक्त होत है। श्रापके परम रूप के श्रन्दर ही ये सब नाम और गुर्खों के सहित लीन होते हैं जैसे कि समुद्र में निदयों लीन होती हैं और मधुर रस में सब रस लीन हो जात हैं।

अब प्रकृति आदि का उन उन के कार्यों से अनुमान कराने के लिये पर्व शस्ट से सूचित अलिगादि के अविरल क्रम को दशोते हैं—लिङ्गमात्रमिति—लिगमात्र के अलिंग प्रत्यासक है— अव्यवहित कार्य है। वही लिंगमात्र उस अलिंग में— अलिंगावस्था प्रधान में अव्यक्त रूप से अविभक्त है अतः उससे विभक्त होता है— उसमें हेतु है— कमेति- कम का—पौर्वापर्य का कभी भी अतिकम नहीं करता, यदि कारण में अनगत अवस्था से असत् की भी उत्पत्ति मानें तो अविशेषतया सब की सवेत्र उपित होनी चाहिये, और अतीत की भी उत्पत्ति होनी चाहिये जो कि असम्भव है। और प्रागभाव कारण है नहीं, क्योंकि अभाव असिद्ध है। यदि अभाव को निमित्त कारण मानें तो उसको ही उपादान कारण भी मान लें, तब तो शून्यवादियों की विजय हो गई। अभाव को उपादान देखा भी नहीं है यदि यह कहा जाय तो निमित्त में भी यह बात तुत्य ही है अतः जैसे अभाव उपादान नहीं हो सकता वैसे निमित्त भी नहीं हो सकता वैसे निमित्त भी नहीं हो सकता। इसलिये कार्य जनन शक्ति ही अनागत अवस्थारूपिणी कार्य रूपसे परिणित होती है, वह सत्कार्यवाद इस भाष्य ने सिद्ध किया है। तथा इत्याद्दि की भी यूं ही ज्याख्या करनी चाहिये। महद्द आदि से प्रकृति आदि के अनुमान का प्रकार सांख्य सूत्रों ने कहा है, हमने भी उनके भाष्य में उसको प्रपंचित किया है, (विस्तार रूप से लिखा है) विस्तार भय से यह "प्रसुत नहीं करते। यह बात पहिले कह दी है। जैसे विशेषों से अवान्तरभेद भिन्न विशेष उत्पन्न होते हैं वैसे पहिले इसी सूत्र के आदि में कह दिया है।

शंका – सूत्रकार ने गुणपर्वों का चतुर्धा (चार प्रकार का) विभाग कैसे किया है ?

ब्रह्माएड, स्थावर जंगम रूप से पर्व अनन्त हो सकते हैं ?

समाधान—महाएड छादि सब विशेष कार्यों का विशेषों में ही अन्तर्भाव है यह कहते हैं—न विशेषेभ्य इति—विशेषों से पर-उत्तर भावि, तत्त्वान्तर-तत्त्व भेद नहीं है, अतः विशेषों का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं है। अतः ब्रह्माएड आदिक सब विशेष पवे से ही गृहीत हैं यह भाव है। तत्त्वत्व—द्र्यत्व है, तत्त्वान्तरत्व—स्वावृत्तिद्रव्यत्व उससे साह्मान् व्याप्य जातियत्व है—पत्तीसतत्त्वों में पत्तीस जाति के श्रेगीकार न करने में तत्त्वान्तरत्व—स्वावृत्तिद्रव्य विभाजक उपाधिमत्व—तत्त्वन्तरत्व है।

शंका--- यूंतो तत्त्वका भेद होने से अन्तः करण का जो कहीं कहीं एकत्व कहा है

वह कैसे हो सकेगा ?

समाधान — जैसे विशेष नामक एक तत्त्वात्मिका एक ही पृथिवी प्रथम उत्पन्न होती है, उसके पीछ उस पृथिवी के खोदने और मधन करने से पार्थिव जल और पार्थिव तेज अभिन्यक्त मात्र होत हैं इसी प्रकार तत्त्व-त्रयात्मक ही खादि में महान उत्पन्न होता है, पीछ उस महत्तत्त्व में स्थित ऋहंकार खादि बृचिभेद से प्रकट हात हैं।

प्रक्त-तो क्या विशेषों के परिग्णाम ही नहीं होते ?

उत्तर—नहीं, विशेषों के परिणाम नहीं होते। उनके तो धर्म परिणाम, लक्तण परिणाम और अवश्या परिणाम—सूत्रकार उत्तर पाद में व्याख्या करेंगे, वे होते हैं।

शंका—ऐसा ही सही, महद् आदि के क्रम से कहा सृष्टि का प्रकार आकाश आदि बोधक श्रुति के विरुद्ध होने से देय हैं, श्रुति में तन्मात्रा की चर्चा न होने से ये पदार्थ किस्पत हैं, मनु आदि स्मृतियें सांख्य की इस कल्पना का अनुवाद करने से धर्म विषयक ही हैं, प्रकृति आदि परक नहीं हैं। अतः स्मृतियों से भी प्रकृति की सिद्धि नहीं होती ?

समाधान — गुणत्रयात्मिका प्रकृति मूलकारण रूप से मैत्रेयोपनिषद् में सुनी गई है।

यथा –

''तमो वा इदमेकमास तत्वरं स्यात् तत्वरेगेितं विषमत्वं प्रयाति एतद्वे रजसो रूपं तद्रजः खम्बीरितं विषमत्वं प्रयाति एतद्वे सत्त्वस्य रूपं तत्सत्त्वमेवेरितं तमसः संपास्त्रवत् तत्सांशोऽयं यश्चेतितामात्रः प्रतिपुरुषं क्षेत्रज्ञः संकन्पाध्यवसायितद्वः प्रजापतिस्तस्य पोक्ता सस्यास्त्वनवो ब्रह्मा बद्दो विष्णुरित्स्यादि"

यह प्रपंच एक तम ही था, वह पर था, वह पर से प्रेरित विषम बन गया, यह ही रज्ञ: का रूप है। वह रज्ञ: पर से प्रेरित हाकर विषम होगया, यह ही सत्त्व का रूप है, वह सत्त्व प्रेरित हुआ तम से वहा—जुदा हुआ—वह सांश यह है—जो कि पुरुष का चेतितामात्र है—चेत्रज्ञ है। सत्व प्रेरित हुआ तम संकल्प और श्रभ्यवसाय लिंग है—प्रजापित है, वसका प्रोर्त कह गये हैं। तथा गर्भोपनिषद् में चीबीस तत्त्व इसी कम से कहे हैं, यथा—

"श्रष्टी प्रकृतयः, पोडश विकाराः शरीरम्" इति ।

द्याठ प्रकृति हैं (मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, श्राहंकार और पाँच तन्मात्रा) पोड़श विकार हैं श्रीर शरीर । तथा प्रश्नोपनिषद् में—

एवं इ वै तस्सर्वे परे भारमिन संप्रतिष्ठते पृथिवी च पृथिबीमात्रा चापश्चोपोमात्रा च तेजश्च तेजो मात्रा च वायुश्च वायु मात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च' इत्यादि

इस भांति वह सब पर आतमा में संप्रतिष्ठित है— पृथिवी, पृथिवी मात्रा, जल व जल-मात्रा, तज, तेजोमात्रा, वायु, वायुमात्रा, आकाश और आकाश मात्रा इत्यादि से परमात्मा में तेईस तत्त्व प्रतिष्ठित हैं समुद्र में नदी नद की भांति यह कहा है। अतः चौवास तत्त्व प्रत्यज्ञ श्रुति से और स्मृति से अनुमेय श्रुति से सिद्ध हैं। व्यवहार और परमार्थ विषय का भेद होने से अद्भैत श्रुति इन श्रुतियों की बाधक नहीं है। व्यवहारिक अद्भैत श्रुतियाँ अविभाग लज्ञ के अभेद परक ही हैं— यह बात नदी समुद्र दृष्टान्त से सिद्ध है। इन महदादि की सृष्टि का कम भी श्रुति में पाठ कम से निश्चय होता है।

एतस्माज्जायते पाणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । स्वं वागुरुर्वोतिरापः पृथिवी विश्वस्य घारिणी ॥

इससे प्राया उत्पन्न होता है, मन और इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, श्राकाश, वायु, ज्यांत, जल और सब को धारण करने वाली प्रथिवी उत्पन्न होती हैं।

श्रीर जो तैत्तिरीय उपनिषद् में वियदादि की सृष्टि कही है वहाँ वियत् (श्राकाश) से पहिले स्पृति से उन्नेय श्रुति के साथ एकवाक्यता द्वारा बुद्धि श्रादि की सृष्टि पूरण कर लेनी चाहिये। झान्दाग्य में जैसे वियद्वायु की पूर्ति की है। किंच सांख्योक्त सृष्टि के क्रम में स्पष्ट ही श्रुति प्रमाण है जैसा कि गोपालतापनीय में—

'एकमेवाद्वितीयं अझासीत् तस्मादन्यक्तमेवात्तरं तस्मादत्तरान्महत् महतो वै अहङ्कारस्तस्मादेवाहङ्कारात् पञ्च तन्मात्राणि तेभ्यो भृतादीनीति।''

एक श्रद्धितीय ब्रह्म ही था, उससे श्रव्यक्त श्रज्ञर उत्पन्न हुश्चा, उस श्रज्ज्ञर से महत्त्वत्व से श्रहंकार और श्रहङ्कार से पश्चतन्मात्रा, तथा तन्मात्राश्चों से पाँच महाभूत श्रादि उत्पन्न हुए हैं। वेदान्तसूत्रों ने भी बुद्धि श्रादि के क्रम से ही सृष्टि कही है, उन पर नवीनों की व्याख्या का हमने श्रपने भाष्य में खरडन किया है। इस प्रकार सांख्य शास्त्र में प्रपंचित (विस्तार से विर्णित) पीवीस तत्त्व ही यहाँ योग दर्शन के दो सूत्रों ने संज्ञेप से कहे हैं। इनके खरूप श्रादि भी वहीं दर्शाय हैं। संज्ञेप से यहां भी कहते हैं—

पाँच भूत श्रीर ग्यारह इन्द्रियें तो प्रसिद्ध ही हैं, तन्मात्रा इन पाँच भूतों के साचात् कारण हैं, ये तन्मात्रा शब्द श्रादि वाले सूक्ष्म द्रव्य हैं, श्रतः इनको सुक्ष्म भूत भी कहीं कहते हैं। महत्तृ श्रीर श्रहंकार का लच्चण मोच धर्म में कहा है—

हिरययगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः।
महानिति च योगेषु विरिश्विरिति चाप्युत ॥
भृतं चैकात्मकं येन कृरस्नं त्रैलोक्यमात्मना।
तथैव विश्वरूपत्वाद्विश्वरूप इति श्रुतः॥
एष वै विक्रियापकाः सज्जत्यात्मानमात्मना।
महंकारं महातेजाः मजापतिमहंकतम्॥

यह भगवान हिरएयगर्भ है जिसको युद्धि कहा है। योग में इनको महान् और विरंचि कहा है, जिसने अपने आत्मरूप से एकात्मक समस्त त्रैलोक्य को धारण किया हुआ है। इसी कारण विश्वरूप होने से उनको विश्वरूप कहा है। ये ही विक्रियापत्र अपने आत्मा से आत्मा को उरपन्न करते हैं ये महातेजा प्रजापित आईकृत रूप आईकार को उरपन्न करने हैं। यहाँ उपासना के लिए शक्ति और शक्तिमान् के अभेद से उपाधियों के नाम और रूपादि

20

उपाधिमान् रूप कहे हैं। जैसे कि मनुष्य पशु आदि शरीरों के नाम से उन शरीर के अभिमानी आत्माओं को भी मनुष्य और पशु आदि नाम से बोलते हैं। दूसरी स्ष्टृतियों में सांख्य और योग के अविवेक से जब वस्तु रूप से ही उनका व्यवहार है ज्ञान और ऐश्वर्यादि रूप महत्त्तर और अभिमान रूप अहङ्कार का अन्तःकरण धर्मत्व होने से। प्रकृति के तो तेईस तत्वों के कारण्यसत्त्व आदि नाम वाले सूक्ष्म द्रव्य असंख्य हैं, उनको गुण् इसलिये कहा है कि वे पुरुप के उपकरण है और पुरुष को बाँधने वाले हैं। वे तीन गुण् सुख दुःख मोह वाले होने से सुख दुःख मोहात्मक कहलाते हैं। पुरुषों के सब अर्थों के साधक होने से राजा और मन्त्री के समान प्रधान कहे जाते हैं। जगत् को उपादान होने से प्रकृति और जगत् की मोहक होने से माया कहलाते हैं, वैशेषिक आदि ने अपनी अपनी परिभाषा से परमाणु और अज्ञान आदि शब्दों से कहा है। तदुक्तं वासिष्ठे—

नामरूपविनिर्धक्तं यस्मिन् संतिष्ठते जगत् । तमाडुः प्रकृति केचिन्मायामेके परे त्वस्तुन् ।।

नाम और रूप से रिहत यह जगत् जिसमें ठहरा हुआ है, उसको कोई माया कहते हैं, कोई प्रकृति और कुछ लोग अणु कहते हैं। इनमें तेईस तस्त्र सगे के आदि में स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दो रूप से परिरिण्त होते हैं। उनमें से स्थूल तो पांच भूतों से धनता है, और सूक्ष्म शेष १७ तस्त्रों से बनता है। उन दोनों शरीरों में से सूक्ष्म शरीर काष्ठवत् वैतन्य का अभिव्यक्षक होने से पुरुष का लिंग शरीर कहलाता है। और वह आहंकार के बुद्धि में प्रवेश से सत्रह तस्त्र वाला (अवयव वाला) सांख्यशास्त्र में कहा गया है—सम्दर्श के लिंक्नमित, इस सूत्र में एकत्व समिष्टि के अभिश्राय से कहा है। 'व्यक्तिमेद: कर्म-विरोषात्' इस खगले सूत्र से व्यक्ति रूप से एक ही लिंग—शरीर को अनेक कहा है। यह व्यष्टि और समिष्टिभाव वन-युत्तवत् नहीं है किन्तु पिता पुत्रवत् ही है।

''तच्छरीरसमुस्पन्नैः कार्येस्तैः करणैः सह। क्षेत्रज्ञाः समजायन्त गात्रेभ्यस्तस्य थीमतः॥

उस धीमान् हिरएयगभे के स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों से समुत्वन्न काय्यों और करणों के सिहत चेत्रज्ञ उत्पन्न होते हैं। इन मनु आदि के वाक्यों से हिरएयगभे के दो शरीरों के अंश से ही अखिल पुरुषों के दोनो शरीरों की उत्पत्ति सिद्ध होती है। वन और वृत्तों में इस प्रकार का कार्य कारण भाव नहीं होता है।। १९।।

संगति-द्रष्टा का स्वरूप दिखाते हैं:-

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि मत्ययानुपश्यः ॥२०॥

शब्दार्थ—द्रष्टा = द्रष्टा । दृशिमात्रः = देखने की शक्तिमात्र है । शुद्धः-श्रपि = निर्मल सर्थात् निर्विकार होने पर भी । प्रत्यय-श्रनुपरयः = वित्त की वृत्तियों के श्रनुसार देखने बाला है । अन्वयार्थ--- द्रष्टा जो देखने की शक्तिमात्र है, निर्विकार होता हुआ भी चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखने वाला है।

ब्याख्या— दशिमात्र, इस शब्द से यह अभिप्राय है कि देखने वाली शक्ति विशेषण्-रहित केवल झानमात्र है अर्थान् यह देखना या वह देखना उसका धर्म नहीं है, बल्कि यह देखने की शक्तिमात्र धर्मी है, उसमें कोई परिणाग नहीं होता। यथा:—

यथा दीपः मकाशात्मा खल्पो वा यदि वा महान्। ज्ञानात्मानं तथा विद्यादात्मानं सर्वजनतृषु॥

अर्थ:--जैसे दीपक चाहे छोटा हो चाहे बड़ा, प्रकाश रूप ही होता है वैसे ही सब प्राणियों के अन्दर ज्यात्मा को भी ज्ञानरूप जानो।

हानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथश्रन । हानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वेगतः शिवः॥

अर्थ – इ।न न तो व्यात्मा का धर्म है और न ही किसी भांति गुए है। आत्मा तो नित्य, विभू और शिव (कल्याएकारी) ज्ञानखरूप ही है।

प्रत्ययानुपश्य = चित्त की शृत्तियों के श्रनुसार देखने वाला। चित्तशृति गुराषुयी होने से परिग्णामिनी है। विषय में उपराग होने से वह विषय उसको झात होता है। पर पुरुष तो चित्त का सदैव साची बना रहत । है, वह चित्त पुरुष के झानरूपी प्रकाश से (प्रविविन्तित होकर) चेतन-जैसा भासता है। इस कारण वह (चित्त) जिन-जिन शृत्तियों के तदाकार होता है वह पुरुष से छिपी नहीं रहती। पुरुष में चित्त-जैसा कोई परिग्राम नहीं होता।

द्रष्टा खरूप से शुद्ध परिणाम आदि से रहित सर्वेदा एकरस रहता हुआ भी चित्त की श्रृत्तियों का ज्ञान रखने वाला है। क्योंकि चित्त में उसके ही ज्ञान का प्रकाश है अर्थात वह उसी के ज्ञान से प्रतिविभ्यत है। चित्त सुख, दु:ख, मोहादि वृत्तियों के रूप में परिणित होता रहता है। यह परिणाम आत्मा में नहीं होता है। क्योंकि वह अपरिणामी ज्ञानखरूप है। चित्त का सार्चा होने के कारण उसमें यह वृत्तियें अज्ञान से अपनी प्रतित होती हैं।

नोट—यह बात श्रन्छी प्रकार जान लेना चाहिये कि श्रात्मा का वास्तिक वर्शन विवेकख्याति द्वारा चित्त को अपने से भिन्न देखना और असम्प्रज्ञात-समाधि द्वारा खरूप- स्थिति प्राप्त करना है। इसके श्रांतिरक्त चित्त की श्रन्य वृत्तियों को श्रासिक के साथ देखना श्रद्धकी है, क्योंकि यह श्रविद्या से होता है और इससे यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं होता। आगे सन्न तेईस की व्याख्या में इसका विरोष ध्यान रखना चाहिये।

टिप्पणी:—इस सूत्र की व्याख्या खोल कर स्पष्ट शब्दों में करदी गई है, फिर भी पाठकों की व्यक्ति जानकारी तथा व्यपनी व्याख्या की पुष्टि के निमित्त व्यासभाष्य तथा भोजवृत्ति का भाषार्थ भी नीचे दिया जाता है:— भाषार्थं व्यासभाष्यः— सूत्र २०॥ (दृशिमात्रः) सब धर्मों से रहित जो केवल चेतनमात्र अथात् झानस्वरूप पुरुष है, वह द्रष्टा कहा जाता है। यदि झानस्वरूप है तो झान का आश्रय कैसे हो सकता है अर्थात् झानस्वरूप धर्म का आधार होने से दृशिमात्र कैसे हो सकता है ? इस शंका का उत्तर देते हैं "शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः" यद्यपि वह स्त्रभाव से झान का आधार न होने से शुद्ध हो है तथापि प्रत्यय संज्ञक बुद्धि-धर्म ज्ञान को अनुसरण् करने से झान का आधार कहा जाता है।

त्रर्थात् यद्यपि पुरुष ज्ञानस्वरूप ही है तथापि बुद्धि रूपी दर्पण में प्रतिविभ्वित होने से उस बुद्धि के धर्मभूत ज्ञान का आधार प्रतीत होता है। इसलिये बुद्धि वृत्ति का अनुकारी

अर्थात् तदाकारधारी होने से पुरुष 'प्रत्ययानुपश्य' कहा गया है।

सो यह दिशमात्र चेतनभूत पुरुष न तो बुद्धि के समान रूपवाला है और न अत्यन्त विरुद्ध रूपवाला है। अर्थात् यह पुरुष बुद्धि से विलक्षण है, क्योंकि झात अझात विषय होने से बुद्धि परिणामिनी है और सदा झातविषय होने से पुरुष अपरिणामिनी है। अर्थात् बुद्धि का विषयभूत जो गवादि घटादि पदार्थ हैं वे कभी झात होते हैं और कभी अझात, किन्तु पुरुष का विषयभूत जो बुद्धितत्त्व है वह सदा पुरुष को झात ही रहता है। इसलिये बुद्धि सदा एक रस न होने से अर्थात् विषयसित्रिधि से विषयाकार होकर झात विषय होने से अर्थु अन्य समय में अझात विषय होने से परिणामिनी है और पुरुष सदा एक रस होने से अर्थार् जांव विषयभूत बुद्धितत्त्व सदा झात ही रहता है। अतः यह होनों परस्पर विलक्षण हैं। एवं संहत्यकारी होने से अर्थात् तीन गुणों से मिलकर पुरुष के भोग अपवर्गरूप अर्थ के सम्पादन करने से बुद्धि परार्थ है और पुरुष असंहत अर्थात् केवल होने से अन्य किसी के अर्थ न होने के कारण स्वार्थ है झस कारण से भी दोनों परस्पर विलक्षण हैं। तथा शान्त, घोर, मृद्धाकार से परिणित हुई बुद्धि शान्त, घोर, मृद्ध पदार्थों विषयक अध्यवसाय शील होने से त्रिगुण तथा अचेतन है और पुरुष गुणों का वपद्रप्टामात्र होने से अर्थात् बुद्धि में केवल प्रतिविन्वित मात्र प्रकाश डालने से न कि तदाकार परिणित होने से गुणाति और चेतन है। इस कारण बुद्धि के समान रूप नहीं है।

तो फिर क्या अत्यन्त विरुद्धरूप है ? इसका उत्तर देते हैं कि अत्यन्त विरुद्धरूप भी नहीं है । क्योंकि (ग्रुद्धोऽपि) यह पुरुष ग्रुद्धरूप अर्थान् सब विकारों श्रौर परिएामों से रहित होने पर भी (प्रत्ययानुपश्यः) बुद्धि वृत्तिरूप झान को प्रकाशता हुआ बुद्धि वृत्तिस्वरूप न होने पर भी बुद्धि वृत्ति स्वरूप से भान होता है । ऐसा ही पंचशिस्त्राचार्य ने भी कहा है:—

"अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरमितसंक्रमा च परिणामिन्यर्थे मितसंक्रान्तेच तद्दृहित्तमनुपति, तस्याश्च माप्तचैतन्योपग्रहरूपाया बुद्धि-दृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिहस्यविशिष्टा हि इनिदृत्तिरित्याख्यायते"। अर्थात् अपरिग्णामी जो भोक् शक्ति संज्ञक पुरुष है वह यद्यपि अप्रतिसंक्रम है अर्थात् किसी विषय से सम्बन्ध न होने से निर्लेष है तथापि परिग्णामिनी बुद्धि में प्रतिविभ्वत हुआ तदाकार होने से उस बुद्धि की वृत्ति का अनुपाती (अनुसारी) हो जाता है और उस चैतन्य-प्रतिविभ्य-प्राहिणी बुद्धि वृत्ति के अनुकार मात्र होने से बुद्धि वृत्ति से अभिन्न हुआ वह चेतन ही ज्ञानवृत्ति कहा जाता है।

भोजनुत्ति भाषार्थ —सूत्र २०। पूर्वोक्त प्रकार से टरय के खरूप को जो हैय अर्थात् त्यागने योग्य होने के कारण प्रथम जानने के योग्य है अवस्था सहित वर्णन करके अब उपादेय अर्थात् प्रहण करने योग्य हष्टा पुरुष के खरूप को बतलाते हैं। द्रष्टा पुरुष झान खरूप है। पुरुष का झान धर्म नहीं है इसलिये सूत्र में 'मात्र' शब्द है। कोई एक मानते हैं कि चेतना (ज्ञान) आत्मा का धर्म है। वह खरूप से शुद्ध होता हुआ परिणाम आदि से रहित होने पर भी (सुप्रतिष्ठोऽपि) अपने खरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ भी (प्रत्ययानुपर्यः) चित्र की वृत्तियों के अनुसार देखने वाला है। बुद्धि की समीपता अर्थात् उसमें प्रतिविग्वत होने के कारण उसकी विषयों से उपरक्त हुई वृत्ति ज्ञान के अनुसार (प्रतिसंक्रमाणभावेन) प्रति संक्रम के विना भी अर्थात् विना किसी विषय से सम्बन्ध रखते हुए निर्लेष होने पर भी देखता है। सारांश यह है कि बुद्धि में विषयों के उपराग की उत्पत्ति होने पर सिप्रधिमात्र से पुरुष में दृष्टापन है।

विज्ञानभिद्ध के वार्त्तिक का भाषानुवाद ॥ सूत्र २०॥

सूत्र का श्रवतरण करते हैं व्याख्यातमिति-द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः-दृशि यहाँ गुण् नहीं है किन्तु प्रकाश स्वरूप द्रव्य है ।

क्कानं नैवारमनो धर्मो न ग्रुखो वा कथंचन । क्कानस्वरूप एवारमा नित्यः सर्वगतः शिवः ॥

ह्यान आत्मा का धर्म नहीं है और न किसी भाँति गुण ही है आत्मा तो ह्यान स्वरूप ही है, नित्य है, सर्वगत है और शिव (कल्याणकारी) है।। इत्यादि स्पृति से भी आत्मा ज्ञानस्वरूप द्रव्य ही सिद्ध होता है। अगि और उप्यादा आदि में भेद और अभेद होता है क्योंकि उप्यादा के प्रहण न होने पर भी चक्ष से अग्नि का प्रहण होता है, परन्तु पुरुष का प्रहण ज्ञान के प्रहण के विना नहीं होता। अतः ज्ञान पुरुष का धर्म या गुण नहीं—पुरुष का स्वरूप ही है। मात्र शब्द से पूर्व सूत्र में कहे इन प्रकाश क्रिया आदि गुणों की ब्याप्ति हो गई। इन प्रकाश क्रिया आदि गुणों की ब्याप्ति हो गई। इन प्रकाश क्रिया आदि गुणों की ब्याप्ति हो गई। शुद्ध शब्द से भूत और इन्द्रियात्मकत्व की व्याप्ति होती है (अर्थान् आत्मा पंचभूतात्मक और एकादश-इन्द्रियात्मक भी नहीं है)। ग्रुद्धोऽपि—बुद्धि से अभेद के उपपादनार्थ शेष विशेषण हैं (ग्रुद्ध और प्रत्ययानुपर्य विशेषण हैं)। यहाँ परिणामित्व, पाराध्ये, अवेतनत्व आदि बुद्धि की अशुद्धि हैं, वे अशुद्धि पुरुष में नहीं हैं यही गुरुष की शुद्धि आध्य में व्यक्त होगी। प्रत्ययानुपर्य—प्रत्यय के समान आकारतापन्न इव होता हुआ

बुद्धि की वृत्ति का साची है यह अर्थ है। इस विशेषण से द्रष्टा में अमाण कहा है। शुद्धोऽपीत्यादि भाष्य के फलान्नर की (दूसरे फल की) भाष्यकार व्याख्या करेंगे। दिशमात्र के
शक्यार्थ को कहते हैं—हग् शिक ही है। अलय और मोच आदि में जीवों के दर्शन नामक
चैतन्य फल का उपधान नहीं है (अतीति-या व्यवहार नहीं है) इस प्रयोजन से भाष्यकार ने
शिक्त शब्द का अयोग किया है। एव शब्द का अर्थ कहते हैं—विशेषणों से अपरामृष्ट है
(अलूता है) इन विशेषणों से विशेषित का अर्थ है व्यावर्तन, द्रव्यान्तर से भिन्न है यह
तालय है। विशेषण वे विशेष गुण् हैं जो वैशेषिक शास्त्र में कहे हैं। उनसे हग्-शक्ति तीनों
कालों में असम्बद्ध है, यह अर्थ है। इससे (सामान्य-गुण्) संयोग, संख्या, परिमाण आदि
होने पर भी चित नहीं है। द्रष्टा यह लक्ष्य (वाचक) पद है बुद्धि से व्यावृत्त-भिन्न रूप से
इसकी व्याख्या करते हैं—स पुरुष इति। संवेदिनी बुद्धि का अतिसंवेदी पुरुष है, संवेदन
अर्थाकार वृत्ति का नाम है—उस वृत्ति का संवेदन अतिष्विनवत् अतिविन्यरूप आरोपित
क्रिया से कहिपत दर्शन कर्तृत्व द्रष्टृत्व है यह बात भी सूचित कर दी है। आत्मा की झान
स्वरूपता तो—

यथा दीपः प्रकाशातमा खन्पो वा यदि वा महान्। ज्ञानात्मानं तथा विद्यादात्मानं सर्वेजन्तप्र॥

जैसे दीपक छोटा है या बड़ा वह प्रकाशरूप ही होता है. वैसे सब प्राणियों के अन्दर आत्मा को भी ज्ञानरूप जानें। इत्यादि सैकड़ों वाक्यों के अनुप्रह से और लाघव तर्क की सहायता से, श्रात्मत्वादि रूप व्यतिरेकी श्रादि लिंगों से श्रवसेय ज्ञान के श्राश्रयत्व की करपना में धर्मधर्मिभावापत्र दो वस्तु की करपना का गौरव होने से (आत्मा की ज्ञान-रूपता सिद्ध है)। मैं जानता हूँ इत्यादि प्रत्यय तो, मैं गोरा हूँ ऐसे सैकड़ों भ्रमों के अन्त: पाती होने से (जैसा यह भ्रम है ऐसा ही भ्रम होने से) श्रप्रमाणता की शंका से यक्त होने के कारण यथोक्त अनुमान की अपेसा से दुलंभ है। बुद्धि और पुरुष के विवेक का प्रति-पादन करने के लिये और उनके अभेद भ्रम का उपपादन करने के लिये, उनके वैहत्य और सारूव्य के प्रतिपादकतया-क्रम से दो विशेषणों की व्याख्या करते हैं-वह आत्मा न बृद्धि के सरूप है श्रीर न श्रायन्त विरूप है-पारमार्थिक सारूप्य का श्रभाव है-यह शुद्धोऽपि इत्यादि अंश का अर्थ है। श्रतिविम्बरूप अपारमार्थिक सारूप्य है। यह शेष अंश का अर्थ है। तथा परिस्मामित्वादिरूप बुद्धि के सारूप्य का श्रभाव ही शुद्धि है, श्रीर बुद्धि की वृत्ति के सारूप्य ही प्रत्ययानुपश्यत्व है, यह बात आ जाती है। सारूप्य के अभाव और सारूप्य का कम से प्रतिपादन करते हैं-न तावत् इत्यादि से-प्रथम तो वह आत्मा बुद्धि के सरूप-समान नहीं है, क्यों नहीं है ? इसका उत्तर है—बुद्धि परिगामिनी है, बुद्धि के परिए। मिनी होने में हेतु है कि वह बुद्धि ज्ञात और अज्ञात विषय वाली है। ज्ञातेति इस वाक्य का विवरण करते हैं - तस्पाश्चेति उस बुद्धि के विषय गवादि और घटादि ज्ञात और संत्र रे० ो

अज्ञात होते हैं. अतः वे बुद्धि की परिशामता को दर्शाते हैं-(व्याख्या) गवादिरिति -गोंशब्द शब्दवाची भी, अतः गवादि व घटादिपदों से धर्मी के सामान्य रूप से-धर्म धर्मीक्रप सब ही बुद्धि विशेषों का प्रहरण है। वृत्ति से व्याप्य को ज्ञात कहते हैं और वृत्ति से श्रद्याप्य को श्रज्ञात कहते हैं। "दर्शयति" काश्रथे है श्रनुमान कराता है। भाव यह है-बद्धि परिणामिनी हो तब भी कभी शब्द आदि के आकारवाली होती है कभी नहीं होती -यह हो सकता है। (परन्तु) पुरुष के समान बुद्धि में अपरिणामिनी होने पर भी विषय का प्रतिविम्बन ही विषयाकार हो सकती है ? उस प्रतिविम्ब के कदाचित् कभी कभी होने से बुद्धि की ज्ञाताज्ञात विषयता वन सकती है ? यह नहीं कह सकते, और क्योंकि स्वप्नावस्था में और ध्यानावस्था में विषय के समीप न होने से प्रतिविम्ब का पड़ना असम्भव है। शास्त्रों में बद्धि में विषय के प्रतिविम्ब को कहने वाले वचन तो उस विषय के समान श्राकार जो परिणाम होता है उस परिणाम-मात्र के कारण कहे गये हैं। अतः बृद्धि के अर्थ प्रहण की अनित्यता से बृद्धि के श्रर्थाकार परिगाम का श्रनुमान होता है। बुद्धि के परिगामित्व का दिखलाकर उस परिगामित्व के अभाव को पुरुष में दिखलाते हैं-सदाज्ञातेति-सदा ज्ञात है-बुद्धि को वृत्तिरूप जिससे उसका भाव सदा ज्ञात विषयत्व हैं. वह सदा-ज्ञातविषयत्व पुरुष के श्रपरिग्रामित्व को श्रानुमान कराती है। यदि पुरुष परिणामी ही हो तो जड़ता रूप परिणाम से कभी उस पुरुष का विषय बुद्धि की वृत्ति अज्ञात भी रहनी चाहिये, ऐसा मानने में वर्तमान भी घटादि की वृत्ति का श्रज्ञान सम्भव हो जायेगा। मैं घटादि को निश्रय जानता है या नहीं इत्यादि (प्रत्यत्त घटादि-विषय में) संशय भी हो सकता है, ऐसे ही योग्य की श्रनुपल्लिध से घटादि के ज्ञान का अभाव निश्चय भी न हो सकेगा, क्योंकि अज्ञात वृत्ति की सत्ता का सम्भव है. यह भाव है।

शंका-इतने से भोक्ता का ज्ञान परिणाम न सही ? परन्तु सुखादि परिणामों का भोक्ता में श्रभाव इसमें कैसे श्रनुमान हा सकेगा ?

समाधान-शब्द श्रादि का निश्चयरूप परिणाम के बुद्धि में सिद्ध हो जाने से ही-उन शब्दादि के परिणाम के कार्य इच्छा, कृति, सुख, दुख, श्रहट, संस्कार श्रादि भी बुद्धि के धर्म हैं यह बात सिद्ध हो जाती है क्योंकि कारण अपने कार्य को समान अधिकरण में ही उत्पन्न किया करता है (श्रत: बुद्धिरूप श्रधिकरण में जिन शब्दादि विषयों का निश्चय हुआ। है-वह निश्चयात्मक ज्ञान अपने कार्य इच्छा कृति सुखौद को भी उसी श्रधिकरण बुद्धि में उत्पन्न करेगा, श्रतः वे भी बुद्धि के ही धमें या परिणाम है पुरुष के नहीं) इसी में लाघव है।

दाका-पुरुष भी सदा ज्ञात विषय नहीं है क्योंकि प्रलय श्रादि में श्रपने विषय बद्धि की वृत्ति को नहीं जानता है ? यह आन्तेप करते हैं कस्मादिति-

समाधान- नहीति-पुरुष विषयक बुद्धि की वृत्ति भी शब्द श्रादि के समान नहीं है, अथवा वह वृत्ति अगृहीत और गृहीत कालभेद से होती है। ऐसा स्मृति भी कहती है-

> ''न चिदमतिविम्बाऽस्ति दृश्याभावादते किला। **डिच्छा**मतिविम्बेन किलादर्शोऽवतिष्ठते ॥" 284

चितिशक्ति—हश्य के अभाव के सिवाय कहीं भी अप्रतिविस्ता नहीं होती है जैसे कि दर्पण दृश्य के श्रभाव के सिवाय कभी भी प्रतिविम्ब रहित नहीं होता है। तथा च-प्रलय श्रादि में वृत्ति नामक दृश्य के श्रभाव से ही, उस बुद्धि वृत्ति को नहीं देखता यह भाव है। उपसंहार करते हैं-सिद्धमिति-परिग्णामित्व की भांति बुद्धि और पुरुष के परार्थत्व और अपरार्थत्व को दिखलात हैं - किं चेति-बुद्धि संहत्यकारी होने से परार्थ्य है अपने से भिन्न के भागादि के साधनार्थ है. सहत्यकारी की अपेत्ता से व्यापार वाले शय्या-श्रासन श्रीर शरीर श्रादि की भांति । पुरुष स्वार्थ है-श्रपने भोग श्रादि का साधन है-उसमें उक्त हेत्त्र्यों संहत्यकारी त्रादि का त्रभाव है। जो सहकारी सापेन व्यापार वाला नहीं होता वह परार्थ नहीं हुआ करता जैसे पुरुष । बुद्धि का ही व्यापार विषय प्रहिणादि इन्द्रियादि सापेत्त है, शय्या श्रादि भी जो शयन श्रादि के लिये हैं भूभि श्रादि की श्रपेत्ता रखते हैं । पुरुष का सुखादि के प्रकाशन का व्यापार ही नहीं होता, क्योंकि वह उसका स्वरूप से नित्य है, सुखादि की सत्ता में सखादि के प्रकाशनार्थ पुरुष सहकारी कारण की श्रपेता नहीं रखता - यह भाव है। बुद्धि के परार्थ होने में श्रुति प्रमाण है-"न वारे सर्वस्य कामाय सर्व प्रियं भवति त्र्यात्मनस्तु कामाय सर्व शियं भवतीत्यादि"-सब की कामना के लिये सब प्यारे नहीं होते, श्रपनी कामना के लिये सब प्यारं होतं हैं। यहां कोई स्वाथं इसका यह अर्थ करते हैं कि साध्य पदार्थ नहीं होता है। यह नहीं हो सकता क्योंकि भृत्य चेतन को भी स्वामी चेतन के ऋर्थ देखा जाता है। परार्थत्व परमात्रार्थ है यदि यह कहो तो नहीं कह सकते। अचेतनत्वरूप अन्य वैधर्म्य को कहते हैं - तथा सर्वार्थेति - सुख दु:ख-मोहात्मक सर्वार्थ तीन गुणों को प्रहण करती हुई बुद्धि भी तदाकारतया त्रिगुणा-सस्व आदि गुणत्रयमयी अनुमान से ज्ञात होती है-त्रिगुण होने से पृथिवी आदि की भाति अचेतन है यह सिद्ध है। गुणों का उपद्रश पुरुष तो द्रष्ट्री बुद्धि के सान्निध्य से बुद्धि की वृत्ति के प्रतिविम्ब मात्र से गुण्द्रष्टा होता है-गुणाकार परिणाम से गुणों का उपद्रष्टा नहीं होता, जैसे कि बुद्धि, अतः पुरुष त्रिगुण नहीं है इसी से चेतन है यह शेष है। उपसंहार करते हैं-अत इति-अतः वैधर्म्यत्रय से पुरुष बुद्धि-सरूप नहीं है। इतने से ही शुद्ध है इसकी व्याख्या हो गई।

शंका—सर्व अभिमान की निवृत्ति के लिये सामान्य से ही दग और दश्य के विवेक का प्रतिपादन करना चाहिये, तो वह क्या बुद्धि और पुरुष के वैषम्य का प्रतिपादन किया जाता है ?

समाधान—नहीं, बुद्धि ही पुरुष को साज्ञात् दृश्या है। क्योंकि अन्यों को बुद्धधारूढ़ होने से ही दृश्यता है। उसी में (बुद्धि ही में) साज्ञात् अभिमान होता है और उस बुद्धि के सम्बन्ध से दूसरे विषयों में अभिमान होता है। मृत शरार में—सुपुत्यवस्थ-प्राग्ध में वैतन्य का अभाव स्पष्ट देखने में आता है। एक इन्द्रिय का न्याधात हो जाने पर भी, चेतनता की उपलिध होती है, अतः इन्द्रिय भी चेतन नहीं है यह बात स्पष्ट ही है। अतः बुद्धि के विवेक से ही सब अभिमान की निष्ठित्ता होती है—इस अभिप्राय से पुरुष में बुद्धि का वैधम्य ही प्रायः प्रतिपादन करते हैं। एक बात यह भी है कि बुद्धि से न्यतिरिक्तों से तो पुरुष का

विवेक (प्रथक्त) न्याय और वैरोधिक ने सिद्ध कर ही दिया है, बुद्धि से विवेक ही सांख्य और योग का असाधारण कृत्य है। अत्यन्त वैरूप्य का निराकरण करने के लिये सन्देह उठाते हैं—अस्तु तर्हि—अच्छा तो विरूप ही सही। समाधान—ना अत्यन्त विरूप—क्योंकि पुरुष प्रत्ययानुपश्य है। इसी की न्याख्या करते हैं—क्योंकि वह बौद्ध प्रत्ययों (बुद्धि में उत्पन्न हुए झानों को) को बुद्धि के पीछ से देखता है (बुद्धिकी दृत्ति को देखता है यह अर्थ है)।

शंका-बुद्धि का द्रष्टा होने पर भी श्रत्यन्त वैरूप्य क्यों नहीं है ?

समाधान—तमनुपरयतीति—क्योंिक उस बुद्धि के वृत्ति-प्रत्यय को देखता हुआ पुरूष बुद्धगात्मक न होता हुआ भी—परमार्थ से बुद्धि के असमानरूप भी बुद्धि सरूप जैसा प्रतीत होता है—जपा पुष्प रूप रफटिक के समान बुद्धि का अनुकारों हो जाता है। अर्थ—प्रहण् रूप से बुद्धि स्थल में पुरूष की अर्थाकारता ही सिद्ध होती है। प्रतिविभ्य रूप से श्रीर मिध्या सारूच्य से पारमार्थिक असारूप्य का विरोध नहीं है। यथोक्त सारूप्य और वैरूप्य के विषय में पञ्चिशखाचार्य के वाक्य को प्रमाण में उपस्थित करते हैं—तथा चोक्तमिति—

भोक्तृशक्ति बुद्धि के समान परिणामिनी नहीं है, तथा बुद्धिवत् स्वविषय में संकान्त उपरक्त भी होती है, क्योंकि विकार के हेतु के साथ संयोग ही उपराग है। श्वतः बुद्धि के विकार प्रतिविम्य से ही इसकी सिद्धि हो जाती है—पुरुष के विकार की कल्पना करना व्यर्थ है। इन दो विशेषणों (शुद्ध व प्रत्यानुपर्य) से पुरुष का बुद्धि से वैरूप्य दर्शाया है। श्वव बुद्धि से पुरुष का सारूप्य दिखलाने के लिये पहिले बुद्धि की चिद्रूपता का उपपादन करते हैं—

परिणामिन्यर्थ इति —परिणामी श्रपना स्त्रार्थ विषय जो बुद्धि है उसमें प्रतिबिन्य रूप से संक्रान्तु की भांति उपरक्त जैसी होती हुई । चिति शक्ति—तद्वृत्ति —बुद्धि की विषया-कार वृत्ति की श्रनुयायी हैं —बुद्धि का चेतन जैसी बना देती हैं —जैसे कि सूर्य जल में पड़ कर जल को सूर्यवन कर देता है। इससे बुद्धि के रूप को दिखलाकर —पुरुष के बुद्धि सारूप्य को दर्शाते हैं —

स्याश्चेति — हि शब्द श्रवधारण वाचक है — उस भोक्त्रिक्त की भी झान वृत्ति — झानरूपा वृत्ति बुद्धि वृत्ति से श्रविशिष्ट हो — श्रभित्र हो कही जाती है — इसमें हेतु है — प्राप्तेति-उपमह-उपराग है — उक्त रीति से प्राप्त चैतन्य उपराग के सदश बुद्धि को वृत्ति के श्रतुकरण करने वाली — प्रतिविम्बोद्प्राहिर्ण्यो—तन्मात्रतया यह झान वृत्ति का विशेषण है तथा च परस्पर के प्रतिविम्ब से दोनों का ही चेतनत्व सुखादिपरिण्यामकत्व रूप सारूप्य कहा जाता है।

इस सूत्र ने जीव श्रौर केंग्रर को साधारणता से ही चिन्मात्र कहा है। तथा च श्रुति श्रौर स्मृति हैं—"चेतामात्रः प्रतिपुरुषं चेत्रक्षः"

> ज्ञानमेव परं ब्रह्म ज्ञानं बन्धाय चेष्यते । ज्ञानात्मक्रमिदं विश्वं नं ज्ञानादु विद्यते परम् ॥

२८

चेतामात्र-प्रतिपुरुष-चेत्रहा।

झान ही परं ब्रह्म है, झान ही बन्ध के लिये है, यह सब झानात्मक है, झान से परे कुछ नहीं हैं। जो वैशेषिक आदि आत्मा को झान का आश्रय मानते हैं वे श्रुति और स्मृति का विरोध होने से उपेल्ल्पीय हैं (मानने योग्य नहीं हैं)। कि च लाधव से प्रत्येक पुरुष एक-एक व्यक्ति झानमात्र नित्य है यह सिद्ध हो जाने पर उस झान का आश्रय माननेरूप गौरव की कल्पना नहीं करनी चाहिय। "जानािम" इस प्रतीति की संयोग सम्बन्ध से ही उपपत्ति हो जाती है। जैसे कि इन्धन तेजस्त्री है—यह श्रत्यय संयोग संबन्ध से प्रमा झान है, ऐसे ही बुद्धि में झान नामक द्रव्य के संयोग सम्बन्ध से झानवत्व श्रत्यय श्रमा ही है। लोगों के आहं (में) श्रत्यय में बुद्धि भी भासती है। अनािद मिध्या झान की वासना नामक दोष के प्रतिबन्धकता में कोई श्रमाण नहीं है, अतः श्रद्धं जानािम यह श्रविद्धानों का श्रत्यय श्रद्धं अंश में श्रम है और झानवत्व श्रंश में श्रमा है यह वात हम दोनों को समान ही है। विद्धानों को तो जानािम यह श्रत्यय प्रसिद्ध ही है। परमेश्वर की सर्वेद्धता का व्यवहार लोकव्यवहार की दृष्टि से होता है, श्रधिक तो सांख्य के भाष्य श्रादि में कहा है इति दिका। २०।।

संगति—इस दृश्य का प्रयोजन पुरुष के लिये हैं यह अगले सूत्र में बतलाते हैं:—
तदर्थ एव दृश्यस्यातमा ॥२१॥

शब्दार्थ — तद्-श्रर्थ:-एव = उस (द्रष्टा पुरुष) के लिये ही । दश्यस्य-श्रातमा = दश्य का स्वरूप है ।

अन्वयार्थ-उस पुरुष के लिये ही (यह सारा) दृश्य का ख्रारूप है।

व्याख्या अपर कहे हुए लच्चणानुसार दृश्य का जो स्वरूप है वह पुरुष के प्रयोजन के हेतु है, क्योंकि प्रकृति श्रपन किसी भी प्रयोजन की श्रपेचा न करके केवल पुरुष के भोग श्रीर श्रपवर्ग के लिये प्रवृत्त होती है। इसी को निम्न कारिका स्पष्ट करती है:—

इत्येष प्रकृतिकृतो मह्दादिविशेष् भूतपर्यन्तः ।

पतिपुरुषविमोत्तार्थे स्वार्थे इव परार्थे आरम्भः ॥५६॥

अर्थ—इस प्रकार यह प्रकृति से किया हुआ महत् से लेकर विशेषभूतों तक का आरम्भ प्रत्येक पुरुष के मोज के लिये स्वार्थ की नाई परार्थ है।

वत्सविद्वद्भिनिमित्तं ज्ञीरस्य यथा मद्वत्तिरइस्य ।

पुरुषविमोत्तनिमित्तं तथा भव्नत्तिः मधानस्य ॥ ५७ ॥

अर्थ-बछड़े की वृद्धि के निमित्त जिस अकार अचेतन दूध की प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार पुरुष के मोत्त के लिये प्रधान की प्रवृत्ति होती है।

नानाविधैदपायैकपकारिएयनुपकारिषाः पुंसः । गुणावस्यगुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थेकं चरति ॥ ६० ॥ अर्थ — नाना प्रकार के उपायों से यह उपकारिएी गुएवती (सत्त्व, रजस् तमस् गुए वाली) प्रकृति उन श्रनुपकारी गुएरिहत (गुएातीत) पृरुष के श्रथ निस्वार्थ काम करती है (जिस प्रकार परोपकारी सज्जन सब का भला करता है और अपना कोई प्रसुपकार नहीं चाहता)।

टिप्पणी — न्यासभाष्य का भाषानुवाद ॥सूत्र २१॥ दृशिरूप पुरुष के कर्म और फल के भोगार्थ दृश्य है। उसकी प्रयोजन सिद्धि के लिये ही दृश्य का खात्मा होता है खर्थाम् स्वरूप होता है, यह खर्थ है। जड़ होने के कारण दृश्य का स्वरूप (पर) चेतन रूप से ही लब्ध होता है। इसलिये जिन पुरुषों का भोग खौर खपवर्ग प्रयोजन सिद्ध हो गया है उनसे नहीं देखी जाती। खब प्रश्न होता है क्या स्वरूप के हान से इस दृश्य का नाश हो जाता है ?

उत्तर-नाश नहीं होता ॥ २१ ॥

भोजवृत्ति भाषार्थ ।। सूत्र २१ ॥

पूर्वोक्त लच्चा श्रमुसार जो दृश्य का स्वरूप है वह उस पुरुष के भोक्तृत्व प्रयोजन सम्पादनार्थ है, क्योंकि प्रकृति श्रपने किसी भी प्रयोजन की श्रपेचा से प्रकृत नहीं होती, किन्तु पुरुष के भोकृत्व सम्पादन के लिये प्रकृत होती है।। २१।।

विज्ञान भिंद्ध के वार्त्तिक का भाषानुवाद ॥ सूत्र २१ ॥ बुद्धि से श्रतिरिक्त द्रष्टा के विषय में सूत्रकार प्रमाण कहते हैं---

तदर्थ एव दश्यस्यात्मा ॥

उस पुरुष के अर्थ है, प्रयोजन हैं भीग और अपवर्ग, भीग और अपवर्ग ही हैं प्रयोजन जिसके वह पुरुष है। यह मध्यम पद लोपी समास है—भीग और अपवर्ग-प्रयोजन वाला ही दरप का खरूप हैं—कार्य और कारण रूप तीनों गुरु खार्थ नहीं हैं। इसमें अनुमार का यह प्रयोग है—

गुरा परार्थ हैं — संहत्यकारी होने से, शच्यादि की भाँति। इस अनुमान से — बुद्धि से अतिरिक्त पुरुष नामक पर की सिद्धि होती है। इस अनुमान की व्याख्या पूर्व सूत्र में कर चुके हैं। तदर्थ ही दरय है इतना कहने से ही निर्वाह हो जाता। धातु का अर्थ जो दर्शन है इसमें अव्वय का अम न हो इसके लिये आत्म पद का प्रयोग किया है। तदर्थल में युक्ति

कहते हुए सूत्र की व्याख्या करते हैं-

हशिरूपस्येति— क्योंकि हशिरूप पुरुष का जो कर्म के सहश कर्म—दर्शन, उस दर्शन की विषयता को प्राप्त दुई वस्तु हरय होती है और दर्शन सब वस्तुओं का प्रयोजन है यह बात सर्वसम्मत है उसी के लिये गुणों का स्वरूप है। जो बस्तु पर प्रयोजन के लिये हुआ करती है, वह पर प्रयोजन के बिना एक व्या भी नहीं ठहर सकती, नित्य या अनित्य प्रयोजन के बिना किसी भी पदार्थ वस्तु की स्थिति न दीखने से वह पुरुषार्थ की सिद्धि का कारण है यह बात सिद्ध होती है। इस सूत्र से यह सिद्ध है कि हरय की सन्ता पर-वैतन्य के आधीन है।। २०।।

संगति—क्या एक पुरुष के प्रयोजन को साधकर यह दृश्य नष्ट हो जाता है ? नहीं, क्योंकि—

कुतार्थे पति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ — कृतार्थ-प्रति-नष्टं-श्रपि = जिसका प्रयोजन सिद्ध ेहोगया है उसके लिये नष्ट हुआ भी । अनष्टम् = (वह दश्य) नष्ट नहीं होता । तद्-श्रन्य-साधारणत्वात् = क्योंकि वह (दश्य) दूसरों की सांमे की वस्तु है ।

अन्वयार्थ-जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिये यह दृश्य नष्ट हुआ भी

नष्ट नहीं होता है क्योंकि यह दूसरे पुरुषों के साथ सांभे की वस्तु है।

ब्याख्या—इस सारे टरय की रचना समस्त पुरुषों के भोग-श्रपवर्ग के लिये हैं, न कि किसी विशेष के लिये। इसीलिये जिसका यह प्रयोजन सिद्ध होगया है उसके लिये यद्यपि इस टरय का कार्य समाप्त श्रीर नाश के तुल्य हो जाता है, तथापि इसका सर्वथा नाश नहीं हो जाता। क्योंकि एक पुरुष के मुक्त हो जाने से सब मुक्त नहीं हो जाते। यह दूसरों के इसी प्रयोजन को साधने में लगा रहता है।

पुरूप शब्द के अर्थ यहां चित्त-प्रतिविध्यत-चिति शक्ति (चेतन तत्त्व) अर्थात् जीवासमा के हैं। चित्त को बनाने वाले गुणों का जीवासमा के प्रयोजन भोग और अपवर्ग को सम्पादन करने के पश्चात् अपने कारण में लीन हो जाना ही जीवास्मा की मुक्ति (कैवस्य) कही जाती है। चित्त, पुरूष का दृश्य रूप है। वही वृत्ति रूप से अन्य सब दृश्यों को पुरूष को बोध कराने का साधन है। एक चित्त के नष्ट होने से उससे दृश्यमान सारा जगत् भी उसके शित नष्ट होने के तुल्य है। किन्तु अनन्त जांथों के चित्त जिन्होंने (जीवों के) उनके शित भोग और अपवर्ग का प्रयोजन सिद्ध नहीं किया है अपने विषय सारे दृश्यमान जगत सिंदत वर्तमान रहते हैं।

िटप्पासी:—ज्यासभाष्य का भाषा अनुवाद ॥ सूत्र २२ ॥ कृतार्थ हुए एक पुरुष के प्रति यह दृश्य नष्ट अर्थात् नाश को प्राप्त हुआ भी अन्य पुरुषों के साभे की वस्तु होने से नाश को प्राप्त नहीं होता । कुशल पुरुष के प्रति नाश को प्राप्त हुआ भी यह दृश्य अन्य अकुशल पुरुषों के प्रति कृत प्रयोजन नहीं हुआ है । इसलिये उन पुरुषों की विषयता को प्राप्त हुआ यह दृश्य चेतनरूप आत्मा के द्वारा निज रूप से लब्ध सत्ता वाला ही होता है। अभाव को प्राप्त नहीं होता है। इस कारण् (द्रष्टा) पुरुष और (दर्शनशक्ति) प्रकृति के नित्य विद्यमान होने से इन दोनों का संयोग अनादि कहा गया है। ऐसा हो पंचाशिकाचार्य ने कहा है—

धर्मिणामनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादि-संयोगः ।

श्चर्यात् (धर्मी) गुणों के संयोग के श्वनादि होने से धर्मभूत महत्तत्वादि का संयोग भी श्वनादि है।

भोज कृष्ति भाषार्थ सूत्र २२—यद्यपि विवेकख्याति पर्यन्त भोग सम्पादन करना धर्म होने से भी यह दृश्य कृतार्थ पुरुष के प्रति नष्ट होजाता है चर्थात् व्यापार त्याग देता है। तथापि सब पुरुषों के साधारण व्यर्थात् सांभे की वस्तु होने से बन्य के प्रति व्यनष्ट व्यापार रूप से रहता है श्रवः सम्पूर्ण भोक्ताश्चों के साधारण होने से प्रकृति की कृतप्रयोजनता नहीं होती न कभी उस का नाश होता है। एक के मुक्त होने से सब मुक्त नहीं होजाते, ऐसा शास्त्र का भी सिद्धान्त है।

संगति:—हरय का खरूप दिखला कर श्रव हेय का हेतु जो हरय और द्रष्टा संयोग हैं उसका वर्णन करते हैं।

स्त-स्तामि-शक्त्योः स्तरूपोपल्थिहेतः संयोगः ॥२३॥

शब्दार्थ: - स्व-स्वामि-शक्त्योः = स्व शक्ति और स्वामी शक्ति संहक (बुद्धि पुरुष के) स्वरूप—उपलब्धि - हेतुः = स्वरूप की उपलब्धि का जो कारण है। संयोग—वह (दृश्य दृष्ट का स्व स्वामि-भाव) संयोग है। अर्थात् स्व-शक्ति और स्वामि-शक्ति के स्वरूप की उपलब्धि (दृश्य दृष्ट के स्व-स्वामि-भाव) संयोग के वियोग का कारण है।

अन्वयार्थ — स्व शक्ति और स्वामी शक्ति संज्ञक स्वरूप की उपलब्धि का जो कारण है वह (टश्य द्रष्ट का स्व स्वामी भाव) संयोग है। श्रर्थात् स्व शक्ति के स्वरूप की उपलब्धि (दृश्य द्रष्ट के स्व स्वामि भाव) संयोग के वियोग का कारण है।

व्याख्या— चित्त और यह सारा जड़ हश्य ख (मिलकियत) है। चेतन पुरुष इसका खामी है। शक्ति शब्द का खर्थ खभाव वा खरूप है, हश्य होय है और द्रष्टा हाता है। हश्य और द्रष्टा होनों नित्य और द्रष्टा को को क्लिप से कि अ कोई संयोग नहीं हो सकता। जो हश्य में भोग्यत्व और द्रष्टा में भोक्त्व है वह अनादि काल से है। इस हश्य के भोग्यत्व और द्रष्टा के भोक्त्व भाव को ही संयोग नाम दिया गया है। यह संयोग अनादि काल से चला आ रहा है। इसी के हटाने के हेतु खशिक और खामिशक्ति के खरूप की उपलब्धि हश्य इष्ट के ख खामिशाव संयोग के वियोग का कारण है। यह हश्य के खरूप की उपलब्धि अर्थात् हश्य खरूप के खरूप की व्यक्ति को जाती है। अर्थात् स्वशिंत का कारण है। यह हश्य के खरूप की उपलब्धि अर्थात् हश्य खरूप का विवेकपूर्ण साचात् करना भोग है और द्रष्टा के खरूप की उपलब्धि अर्थात् हश्य खरूप का विवेकपूर्ण साचात् करना भोग है और द्रष्टा के खरूप की उपलब्धि अर्थात् पुरुष-दर्शन या खरूप-स्थित अपवर्ग हैं।

गीता में द्रष्टा को त्तेत्रज्ञ और दृश्य को त्तेत्र तथा सांख्य कारिका में दृश्य रूप जब प्रकृति को श्रन्थे और दृष्टा रूप निष्क्रिय पुरुष को लंगड़े की उपमा देकर इनके परस्पर के संयोग को दिखलाया है।

यथाः---

''याबन्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावर-जङ्गमम् । क्षेत्र-क्षेत्रझ-संयोगात्तद्विद्धिः भरतर्षभः ॥ गीता १३ । २६ ॥

अर्थ:— हे अर्जुन यावन्मात्र जो कुछ भी खावर जङ्गम .वस्तु ख्यम होती है वसी सम्पूर्ण को तु चेत्र (प्रकृति) और चेत्रज्ञ (पुरुष) के संयोग से ही ब्यम हुई जान अर्थात प्रकृति और पुरुष के परस्पर के सम्बन्ध से ही सम्पूर्ण जगत की खिति है।

ंपुरुषस्य दर्शनार्थं कैवन्यार्थं तथा प्रधानस्य । पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥२१॥^{(सांख्यकारिका})

अर्थ-पुरुष का दर्शन के लिये और प्रधान का मोच के लिये दोनों का ही लेंगड़े और अन्ये की तरह संयोग है। उससे की हुई (बनी हुई) सृष्टि है।

यह द्रष्टा-द्रश्य का संयोग जैसे अनिद है वैसे अनन्त नहीं है। पुरुष दर्शन-पर्थन्त रहता है। पुरुष दर्शन-पर्थन्त रहता है। पुरुष-दर्शन से इसका अभाव हो जाता है। इसलिये पुरुष-दर्शन वियोग का कारण है। दर्शन, अदर्शन (स्वरूप-स्थित का प्राप्त न होना अर्थात् अविवेक और आसिक के साथ चित्तवृत्तियों का देखना) का विरोधी है। अतः जैसे दर्शन वियोग का निमित्त कारण है वैसे ही अदर्शन संयोग का निमित्त कारण है। अदर्शन का अभाव ही संयोगरूपी बन्धन का अभाव है, वर्श अपवर्ग अर्थात् मोच है। दर्शन के होने पर बन्धन के कारण अर्द्शन का नाश हो जाता है।

टिप्पणी — ज्यासभाष्य का भाषानुबाद सूत्र २३। संयोग के स्वरूप को प्रकाशित करने की इन्छासे इस सृत्र की प्रवृत्ति होती है। पुरुष जो स्वामी है वह अपने टरय के साथ दशनीर्थ संयुक्त है। इस संयोग द्वारा टरय के स्वरूप की जो उपलिध्य है वह भोग खौर जो ट्रप्टा के स्वरूप की जो उपलिध्य है वह भोग खौर जो ट्रप्टा के स्वरूप की उपलिध्य है वह अपवर्ग है। दर्शन कार्ल्य (विवेकख्याति) पर्य्यन्त संयोग है। इसलिए दर्शन को वियोग का कारण कहा है। दर्शन अदर्शन का विरोधी है। इसलिय अदर्शन संयोग का निमित्त कारण कहा गया है। अर्थात् जैसे दर्शन (विवेकख्याति) वियोग का कारण है वैसे ही अदर्शन (अविवेक) संयोग का कारण है। यहां दर्शन मोत्त का कारण नहीं है (किन्तु) अदर्शन के अभाव से ही जो वन्ध का अभाव होता है वह मोत्त है। दर्शन के होने पर बन्ध के कारण अदर्शन का नाश हो जाता है। इस लिये दर्शन अर्थात् (विवेकख्याति) ज्ञान को कैवल्य का कारण कहा गया है।

(उपरोक्त कथन का अभिप्राय यह है कि दर्शन अर्थात ज्ञान = विवेक्कर्यात अदर्शन अर्थात् अज्ञान = अविवेक का विरोधी होने से दर्शन अदर्शन का ही नाश करता है बन्ध का नहीं इसलिए दर्शन साम्रात् मोन्न का कारए नहीं है, किन्तु अदर्शन निष्ठृत्ति पूर्वक बन्ध निष्ठृत्ति द्वारा परम्परा से मोन्न का कारए हैं। अर्थात् अदर्शन के अभाव से जो बन्ध का अभाव होता है यहाँ उसी को मोन्न कहा है और दर्शन के होने से ही बन्ध के कारए अदर्शन का अभाव होता है, इस लिये इस अभिप्राय से ही दर्शन कैबल्य का कारए कहा जाता है। कैवल्य साम्रान् ज्ञान जन्य नहीं है।)

अब यहाँ पर प्रसंग से यह विचार किया जाता है कि जिस खदर्शन खविद्या, अङ्गान हु। दर्शन विवेकख्याति = ज्ञान से अभाव होता है वह खदर्शन किस खरूप वाला है अर्थात् खदर्शन किस का नाम है।

१—क्या गुर्गों में जो कार्यों के श्रारम्भ का सामर्थ्य है उसका नाम श्रदर्शन है ?
२—वा दृशिरूप स्वामी के भोग श्रपवर्ग रूप श्रथे जिस वित्त ने सम्पादन कर दिया

है ऐसे चित्त का अनुत्पाद (फिर उदय न होना) श्रर्थात् श्रात्म दर्शन का श्रभाव श्रदर्शन है ?

3—वा गुणों की ऋर्यवत्ता (चित्त में भोग ऋपवर्ग रूप ऋर्य की सूक्ष्म अवस्था से विद्यमानता) अवर्शन है ?

४—श्यथवा चित्त की उत्पत्ति का बीजभृत श्रौर प्रलय काल में चित्त के सिहत ही प्रकृति में लीन जो विपर्थय झान वासना है वह श्रदर्शन है ? (यही पत्त सिद्धान्त होगा)

५—अथवा प्रधान सम्बन्धी स्थिति-संस्कार के चय होने पर गति-संस्कार की अभि-व्यक्ति अदर्शन है ? अर्थात् प्रधान में दो प्रकार का संस्कार रहता है। एक स्थिति संस्कार जो प्रलय-कालीन साम्य अवस्था का कारण है और एक गति संस्कार जो महत्तत्त्वादि विकारों का आरम्भ है। ऐसा ही पंचशिखाचार्ध्य ने कहा है।

''प्रधानं स्थिरयेव वर्तमानं विकासकराणादमधानं स्यात्। तथा गत्येव वर्तमानं विकासनित्यत्वादमधानं स्यात्। उभयथा चास्य प्रष्टतिः प्रधानव्यवद्यारं लभते नान्यथा, कारग्णान्तरेष्वपि कन्पितेष्वेष समानश्रर्चः''।

अर्थात् "प्रधान यदि स्थिति (गुणों की साम्य अवस्था = कारण अव्यक्तरूप) से वर्ते तो विकार के न करने से अप्रधान है और यदि गति (गुणों की विषम अवस्था = कार्य्य = व्यक्तरूप) से ही वर्ते तो विकार के नित्त्य होने से अप्रधान है। दोनों तरह इस की प्रवृत्ति प्रधान नाम पाती है, अन्यथा नहीं, जो और (आदि) कारण (माया अविद्या, परमाणु) कल्पना किये गए हैं उनके विषय में भी यही समान विचार है" एवं गति संस्कार के होने से

जो महदादिकार्त्य का आरम्भ है क्या उसका नाम अदर्शन है ?

६— और कोई यह कहते हैं कि "प्रधानस्यायमख्यापनार्था प्रवृत्तिः" श्रर्थात् प्रधान की प्रवृत्ति अपने खरूप ख्यापन (बोधन) के श्रर्थ हैं ? इस श्रुति से दर्शन शक्ति ही श्रद्शन पद का वाच्य है। अर्थात् यद्यपि पुरुष सारे पदार्थी के ज्ञान में समर्थ है। तथापि प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व पुरुष उनको देख नहीं सकता, सारे कार्य्य करने में समर्थ हरय भी उस समय उसे दिखलाई नहीं देता श्रर्थात् अनुभव का विषय नहीं होता है। श्रतः प्रधान की प्रवृत्ति से जो पुरुष का दर्शन सामर्थ्य है श्रयोत् प्रधान में जो श्रनुभव कराने की शक्ति है क्या उसका नाम श्रदर्शन है ?

(७) कोई यह कहते हैं कि प्रकृति तथा पुरुष इन दोनों में जो परस्पर दर्शन झिक है वह अवर्शन है। यद्यपि टरय जब है और पुरुष असंग निर्धर्मक है इसलिय दोनों का ही धर्म दर्शन नहीं हो सकता तथापि चेतन के प्रतिविन्य से टरय को चेतन तुल्य होने से उस चेतन के प्रतिविन्य की अपेना से टरय का धर्म दर्शन और बुद्धिरूप टरय की अपेना से पुरुष का धर्म दर्शन जानना। अर्थात् बुद्धि और चेतन का परस्पर अविवेक होने से दोनों

का ही जो दर्शन धर्म है वह अदर्शन है।

(८) और कोई यह कहते हैं कि शब्दादि विषयों का जो झान है वही अदर्शन है। इस प्रकार अदर्शन (अविद्या) के स्रुरूप निरूपण में आठ प्रकार के सांख्यशास्त्र ने विकल्प किए हैं परन्तु यह सब विकल्प सब पुरुषों के सङ्ग अञ्चित संयोग कारण होने से साधारण हैं। अर्थात् यह सब पूर्वोक्त अदर्शन (अविद्या) का लक्षण उसी में रह सकता है जो कि प्रकृति पुरुष के संयोग द्वारा सारे प्रपश्च का हेतु है। और जो अविद्या प्रत्येक पुरुष के संगे बुद्धि संयोग द्वारा सारे प्रपश्च का हेतु है। और जो अविद्या प्रत्येक पुरुष के संग बुद्धि संयोग द्वारा पुख दुःख भोग के वैचित्र्य (विचित्रता) में हेतु है (संख्या ४)। इसका यह लक्षण नहीं अतः यह लक्षण असाधारण है। (अथात् संयोग दो प्रकार को है एक सारे संसार का कारण और एक प्रत्येक पुरुष के सुख दुःख बन्ध मोच्च का कारण । यहां प्रथम साधारण संयोग का हेतु जो अदर्शन है उसी के यह सब पूर्वोक्त लक्षण हैं। द्वितीय असाधारण संयोग (संख्या ४) के हेतुभूत अदर्शन के नहीं) प्रत्येक पुरुष के संग असाधारण खुद्धि संयोग का कारण जो अविद्या है उसको अगले सुत्र में बतलात हैं।

भोजहित भाषाथे सूत्र २३—कार्त्य (खरूपज्ञान) के द्वारा इस संयोग का लक्ष्या करते हैं। ख्वािक दश्य का खभाव (खरूप) है खािम शिक्त द्वा का खरूप (खभाव, है। इन दोनों (ब्रेयज्ञावरूप जानने योग्य श्रीर जानने वाला रूप) से वर्तमान का जो खरूप उपलिध्य है उसका जा कारण है वह संयोग कहलाता है। वह भोग्य भोक्त भाव खरूप से भिन्न श्रीर कुछ नहीं है। इन दोनों नित्य व्यापकों के खरूप से भिन्न संयोग श्रीर कोई वस्तु नहीं है। जो कि भोग्य (दश्य) में भोगल श्रीर भोक्त (द्वा) में भोक्त है वह श्रनादि काल से है श्रीर वहीं संयोग है।

इस संयोग का कारण बतलाते हैं।

व्यासभाष्य पर विज्ञानिभक्ष के वार्त्तिक का भाषानुवाद सूत्र २३

द्रष्टा श्रौर दृश्य का खरूप कह दिया श्रव उनके संयोग के प्रदृशक सूत्र को उठांत हैं —संयोगखरूपेति —द्रृटा श्रौर दृश्य का सामान्य संयोग हेय (संसार) का हेतु नहीं है, क्योंकि सामान्य संयोग तो प्रलय श्रौर मोत्त दोनों दृशा में समान ही हैं, श्रतः संयोगगत विशेष का श्रवधारण करने के लिए यह सुत्र प्रवृत्त होता है —

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलिथ्धिहेतुः संयोगः — भोग्यता के योग्य होने से स्व हाक्ति हृश्य है और भोक्त योग्य होने से स्वामिशक्ति हृश है, इन दोनों के स्वरूप की उपलिथ्ध का हेतु जो संयोगविशेष है वह ही दृष्ट हश्य का संयोग, यहां हेय का हेतु कहा है। विश्व के साथ दृष्टा और हश्य का सामान्य संयोग सदा ही रहता है अतः वह हेय का हेतु नहीं है, यह भाव है। वह संयोगिवशेष — बुद्धिहारक-हश्य बुद्धि सस्व उपाधि रूप है, जिसको कि सर्वधमो-इस भाष्य ने कहा है, अतः हश्य वाली बुद्धि के साथ संयोग ही यहां संयोगिवशेष है। आत्मिन्द्रयमनोयुक्तं भोक्तियाहुमेनीषिणः। इन्द्रियों और मन से युक्त आत्मा को विचार-इशिल भोका कहते हैं। इस प्रकार की श्रुति आदि से लिङ्ग देह और आत्मा के संयोग से ही विषय का दर्शन जान पड़ता है, इस से भोका और भोग्य की योग्यता ही दृष्टा और

साधनपांच

दृश्य का अनादिसम्बन्ध संयोग है। ऐसा मानने पर प्रकृष में परिणामिता आजावेगी। ऐसा जो किसी का कथन है, वह (कथन) सुत्र के स्वरस (श्रमिप्राय) से ही त्याज्य है। क्योंकि ऐसा होने पर स्वस्वामिभाव संयोग इसप्रकार का सूत्र होना ही जीवत है। सामान्य संयोग एक व्यक्ति अनादि होने पर तो आगामी दो सूत्रों से उत्पत्ति और विनाशवचन संगत न हो सकेंगे १ चेतन और अचेतन के अतिरिक्त प्रतिनियत योग्य-झान के अवच्छेदक का निरूपण नहीं किया है। वे दानों (चेतन अचेतन) मोचकाल में सामान्य हाने से हेय के हेत नहीं है। यदि स्वभुक्त वृत्तियों की वासनावाली प्रवाहरूप से वासनाश्रों की जो अनादिता है. वहीं संयोग है—ऐसा कहैं; तो भी इस प्रकार के संयोग को जो बक्ष्यमाण भाष्य में श्रविद्या की वासना से जन्य कहा है, वह न घट सकेगा ? ऐसे संयोग त्याग का अनौचित्य भी न बनेगा श्रीर जो यह कहा है कि संयोग से पुरुष परिस्मामी हो जायेगा, वह कथन परिस्माम लक्तरा के अज्ञान से किया गया है, क्योंकि संयोग और विभाग मात्र से आकाश आदि में परिणाम का व्यवहार नहीं होता. श्रत: सामान्य गुरा के श्रतिरिक्त धर्म की उत्पत्ति ही परिसाम है-यह बात कही है। अन्यथा प्रतिसर्ग में प्रकृति और पुरुष का संयोग और विभाग जो श्रुति श्रीर स्पृतियों में कहे हैं उनसे विरोध होगा, प्रतिसर्ग में योग्यता के उत्पाद श्रीर विनाश भी न घटेंगे, क्योंकि इससे पुरुष में परिग्णामित्व दोष होगा, श्रुति श्रुतिपादित संयोग श्रीर त्रिभाग का ही उत्पादादि कम उचित है। सूत्रार्थ का विवरण करते हैं - पुरुष इत्यादि से लेकर सोपवर्ग इस तक (पुरुष स्वामी अपने दृश्य के साथ दृशन के लिए संयुक्त होता है, उस संयुक्त दृश्य की उपलब्धि भोग है और दृष्टा के खरूप की उपलब्धि अपवर्ग है), सत्र में स्त्ररूप पद का प्रयोग, विवेकख्यातिपर्यन्त दशेन सामान्य की संयोगजन्यता के प्रतिपादन के लिए है, अब ''विवेकख्यातिरविद्ववा हानोपायः'' 'तस्यहेतुरविद्या', इन आगमी दोनों सत्रों का अर्थ इसी सूत्र ने उत्पन्न कर दिया है, अतः इस कम से प्रतिपादन करते हैं -- दर्शना-कार्येत्यादी-से कृतकृत्य का प्रयोजन नहीं रहता, अतः उसकी अविश्वित असम्भव है-अत: दर्शन कार्य का अवसान अन्त होने तक ही संयोग है। अत: दर्शन-र्ष्टा के खरूप की उपलब्धिवियोग का कारण ऋर्थात इस सूत्र से कहने के लिए उपपादित है। तथा दर्शन अदर्शन का प्रतिद्वन्दी है -विरोक्की है अतः अदशेन संयोग का हेत् है, यह भी अर्थात् कह दिया —सिद्ध कर दिया। दर्शन श्रीर श्रदर्शन के विरोधों से विरुद्ध ही वियोग श्रीर संयोग के दोनों कार्य भोग और अपवर्ग उचित ही हैं।

दांका —श्रदरोन संयोग का कारण है, तो श्रदरोन के श्रभाव से ही संयोग की निवृत्ति रूप मोन्न हो जायेगा, तब दर्शन को मोन्न का हेतु किस प्रकार कहा है ?

समाधान — यहां दर्शन मोल का कारण है — हमारे शास्त्र में दर्शन-तत्त्वज्ञान मोल का कारण नहीं है क्योंकि इसमें गौरव है, निरोध खादि का व्यवधान होने से मोल के अव्यविद्वित पूर्व काल में नियम से ज्ञान की विद्यमानता ख्रसम्भव है, किन्तु वश्यमाण रूप अद्शंन के अभाव से ही द्रष्टा और टरय के संयोग का ख्रभाव होता है और वहां मोल है। इससे अनिमित्तत्वया मोल खाभाविक रूप से नित्य है। यह बात सिद्ध हो जाती है।

२९

दोका — 'विवेकख्यातिरविद्भवा हानोपाय — इस श्रिष्ठम सूत्र से विरोध है — दर्शन वियोग का कारण है, इस श्रपने कथन से भी विरोध है ?

समाधान—दर्शनस्य भाव इति (दर्शन के होने पर बन्ध के कारण श्रद्शन का नाश होता है, श्रत : दर्शन ज्ञान कैवल्य का कारण कहा है), तथा च तत्त्वज्ञान मोच में प्रयोजक मात्र है, उत्तर सूत्र से श्रसाधारण संयोग के हेतु श्रद्शन का निश्चय करने के लिए उक्त श्रद्शन में विकल्प करके पृष्ठते हैं—कि चेदिमिति—संयोग का कारण नो श्रद्शन कहा है वह क्या है ? नाम पद वाक्य को शोआर्थक है, यदापि संयोग दर्शन का कारण है, ऐसा सूत्र होने से—दर्शन का श्रतुत्याद ही संयोग का हेतु है ? यह बात उपिश्चत होती है, श्रन्य संयोग का हेतु नहीं है ? तो भी उस दर्शन के श्रतुत्याद के साथ समनियत होने से श्रन्यों को भी संशय कोटि में सममता चाहिए।

१ उनमें से प्रथम विकल्प है —क्या सत्त्वादि गुओं का श्राप्तकार -- कार्य श्रारम्भ का सामभ्यं -- अदर्शन है ? झानरूप श्राप्त से श्रद्रभ्य कार्य विशेष की जनन शक्ति जिसका कि श्राये उससे भी संसार का हेतु संयोगविशेष उत्पन्न होता है। द्वितीय विकल्प को छोड़ कर सब विकल्पों में बन्ध के कारण सत्त्वादि गुओं का योग होने से श्रद्शन शब्द गीण है,

२ द्वितीय विकल्प को कहते हैं-श्राहोस्विदिति-(दिशक्ष स्वामी के दर्शित विषय प्रधान चित्त का श्रानत्पाद श्रदर्शन है श्रदर्शन-इसमें दर्शन शब्द का कारण साधनत्व (इष्टवते अनेन) प्रतिपादन करने के लिए-"दशिरूपस्य खामिनः दर्शितविषयस्य" यह चित्त का विशेषण है, 'हशिरूपाय - खामिने दर्शितो विषयो येन-तस्य-चित्तस्य-दशिरूपखामि-के लिये दर्शित विषय चित्त का (अनुत्याद) (तात्पर्य) दशिरूप स्वामी के लिए दर्शित है विषय जिस चित्त से उस चित्त का अनुत्वाद अदशेन है ? इस कहे हुए का (भाष्यकार) विवर्ण करते हैं - स्वस्मिश्रित - अपने चित्त में पुरुषार्थरूप से जो दृश्य है शब्दादि वृत्ति रूप है। उसमें सत्त्व पुरुष की श्रन्यता वृत्ति के होजाने पर-जो दर्शन का श्रभाव चित्त वृत्ति का अभाव है (क्या वह अदरोन है) मोचकालीन दर्शन के अभाव की व्यावृत्ति के लिए-सित तक के शब्दों का प्रयोग है। संयोग का ऋहेत होने से इस प्रकार का श्रदर्शन तो विचारग्रीय नहीं है, चित्त में पुरुषार्थ की सत्ता होने पर ही अदर्शन संयोग का हेतु होता है। यह भाव है। ३ व्यर्थ होने से द्वितीय विकल्प के विशेष्य भाग के परित्याग मात्र से तृतीय विकल्प को कहते हैं-किमर्थवत्तेति-सरकार्य की सिद्धि से भावि भोग और अपवर्ग नामक जो भव्यप्देश्य हैं उनका अपने कारण गुणों में अवस्थान अदर्शन है। ४ चतुर्थ विकल्प को कहते हैं-अत्राविद्येति-पांच पर्व वाली अविद्या प्रलय काल में अपने चित्त के साथ गुणों में लीन हुई वासनारूप से (र्र्ती है) उनके आश्रय चित्त की उत्पत्ति का बीज (अद्दोन है) तथा च-श्रविद्या की वासना ही श्रदर्शन है। यह ही पत्त सिद्धान्त होगा।

५ पंचम विकल्प को कहते हैं—िश्यित इति—प्रधाननिष्ठ असाम्य परिगाम के हेतु श्यितिसंस्कार के चय हो जाने पर, गतिसंस्कार जो कि महदादि रूप विसदश परिग्राम का हेतु है उसकी अभिव्यक्ति अवशेन हैं। उस गतिसंस्कार की अभिव्यक्ति से ही प्रकृति में स्रोभ के द्वारा पुरुष और प्रकृति संयोग उत्पन्न होता है जन दोनों संस्कारों के सद्भाव में मतान्तर का प्रमाण देते हैं—यजेदमुक्तम्-(ख्यत्ये और गत्ये यह तादध्ये में चतुर्थी विभक्ति है एव कार का दोनों के पीछे अध्याहार करना चाहिए खिल्लिंग — ऐसा पाठ हो तो विशेषण में उतीया विभक्ति समम्मनी चाहिए। तथा च प्रधान यदि खितिमात्र से ही बर्ते तो विकार का जनक न होने से प्रधान ही न रहेगा क्योंकि मृतकारण्ड ही प्रधानत्व है, और यदि गति मात्र से ही बर्ते तब महद् आदि भी प्रकृति के समान नित्य हो जायेंगे, तब कौन किस का मृत् है—यह व्यवहार के योग्य है। कार्य होने से महदादि में प्रधान व्यवहार नहीं होता। केवल मृत् कारण में ही खिति और गति का कालभेद से निर्णायक विचार नहीं है, किन्तु किस्त विकाररूप कारण के भेदों में भी महदादि में चर्चा—विचार समान हैं—इस बात को प्रसंग से भी निर्धारण करते हैं—नास्तिकों के अर्कुर्वद्रुपतावाद का निराकरण करने के लिये—कारणान्तरेष्वपीति—वह चर्चा—यथा मृतिका आदि यदि खिति से ही या निर्शृति से ही वर्ते तो—कभी भी घट के उत्पन्न न करने से उसके कारण्ड की हानि होगी यदि गति से ही (प्रवृत्ति से ही) वर्ते तय भी भिट्टी और घट एक काल में होने से कार्य कारण की व्यवस्था न हो सकेगी। अतः विकाररूप कारण भी स्थित और गति दोनों वाला—(कारण नहीं होता)

६ षष्ट विकल्प को कहते हैं—दर्शनशक्तिरेवेति—पुरुप के लिए श्रपने को दिखलाने की जो कमता है वह दर्शन शक्ति है, वही श्रदर्शन है, श्रीर यह शक्ति विवेकख्याति के श्रात्तादरूपी संयोग का हेतु है—तथा सांख्यकारिका में कहा है—दप्टाहमित्युपरमत्यन्या-इति-पुरुषस्य दशनार्थ कैवल्यार्थ तथा प्रधानस्य पंग्वन्धवदुभयोरिप संयोगस्तत्कृतः सर्गः में देखी गई हूँ इस कारण प्रकृति उपरत हा जाती है, पुरुष के दर्शनार्थ श्रीर प्रधान के कैवल्यार्थ—लंगड़े श्रीर अन्य के समान दोनों का ही संयोग होता है श्रीर उस संयोग से किया हुश्चा—बनाया हुश्चा यह सर्ग-सृष्टि है। तृतीय विकल्प में स्थित शब्द श्रादि पृत्ति के श्रवुत्पाद के त्याग से इस खुठे विकल्प का भेद है। प्रधान की दर्शन शक्ति होने में श्रुति को

प्रमाण देते हैं - प्रधानस्थेति - कालगति से छप्त शाखा की यह श्रुति है।

७ सप्तम विकल्प को कहते हैं—सर्वबोध्य इससे लेकर श्रवभासते इस तक से, सर्व बोध समर्थ भी पुरुष प्रधान की प्रवृत्ति से पहिले नहीं देखता, इससे एक श्रदर्शन पुरुषिष्ठ है—श्रीर दूसरा सब कार्यों के क्लादन में समर्थ खरूप योग्य भी ट्या—प्रधानन प्रधान की प्रवृत्ति से पूर्व पुरुष को दिखलाई नहीं देता, वह ट्यानिष्ठ श्रदर्शन है—इस प्रकार दोनों प्रश्नुति श्रीर पुरुष का श्रदर्शन धर्म है। यह कोई कहते हैं—यह भी श्रदर्शन है यह वाक्य-बोध है।

दांका — जड़ अदर्शनात्मक है उसका धर्म अदर्शन कैसे हो सकता है, क्योंकि अभाव अधिकरण रूप होता है — अञ्चाभिचार होने से लाधवतया एकत्व सिद्ध है — और दशिरूप पुरुष का भी अदर्शनरूप कैसे घटता है। क्योंकि प्रकाशरूप का अपकाशरूप होना असम्भव है। समाधान— उन दोनों अदर्शनों में से यह एक अदर्शन दरय खरूपभूत भी दर्य धर्मत्व से विशिष्ट होता है, इसमें हेतु है पुरुषप्रत्ययापेन्न, दश्य प्रत्यय की अपेना करके— दश्य गोचर प्रत्यय के आभाव से—यह अर्थ है।

८ अष्टम विकल्प को कहते हैं—दर्शनज्ञानमिति—ज्ञान—वासनारूप है वह भी दृश्य के संयोग का हेतु है—भोगापवगरूप—अनागतावस्थ दर्शन यहां नहीं कहा है। क्योंकि अर्थ-वत्ता से पनरुक्त दोष हो जाता।

उपसंहार करते हैं - इत्यत : इति - शास्त्रों में ये श्रज्ञान के भेद तान्त्रिकों -दर्शनकारों ने कहे हैं। संयोग के भेद से सब ही अदर्शनों की हेतुता को सिद्धान्त बनाते हुए ही संयोगविशेष के हेत श्रदर्शन विषय परक उत्तर सूत्र को उतारते हैं। तत्र विकल्पेति — पस अदर्शन में विकल्प बहुत हैं-भेद बहुत हैं, ये पुरुष सामान्य और गुण सामान्य के पुरुषार्थ के हेतु के संयोग सामान्य के प्रति कारणता में हैं यह जानना चाहिए। जो प्रत्येक चेतन का तत-तत् चेतन का अपनी बुद्धि के साथ संयोग है वह हेय का हेत् है यह बात स्वस्वामि इत्यादि प्रकृत सूत्र ने कही है तस्य हेतरविद्या - चतर्थ विकल्प रूप श्रदर्शन ही - इस सत्र के साथ अन्वय (मेल खाता) है। प्रत्येक चेतनस्य इस पाठ में ख-स्व बुद्धि के अनुगमशील चेतन का-यह अर्थ है। भाव यह है-अविद्यात्तय के बाद भी जीवन्मुक्त के भोगार्थ विषयरूप से परिशात गुणों के साथ संयोग उत्पन्न होता है-- अत: अविद्या गुण और पुरुष के सामान्य संयोग का हेतु नहीं किन्तु यथोक्त गुर्ह्मों का श्रिधकार ही संयोग का हेतु है। स्व बुद्धि के साथ संयोग तो जन्म जिसका दूसरा नाम है उस श्रविद्या के बिना नहीं होता है, श्रतः बुद्धि श्रीर गुणों के संयोग का श्रसाधारण कारण श्रविद्या ही है-वही बुद्धि (श्रविद्या) संयोग के द्वारा द्रष्टा श्रीर दृश्य के संयोग की हेत् विद्या से उच्छेदा-काटने योग्य है, इस श्राहाय से वह ही उत्तर सूत्र ने सूचित किया है-गुर्गों के अधिकार आदि नहीं कहे, क्योंकि उनका ज्ञान से उच्छेद नहीं होता। एक पुरुष के मुक्त हो जाने पर भी दसरे पुरुषों के लिए गुणों का अधि-कार ज्यं का त्यं बना रहता है, जो पुरुष से काटा जा सकता है वही हेय का निदान-हेतु इस शास्त्र का प्रतिपादनीय विषय है, श्रन्यथा—काल, कर्म, ईश्वर श्रादि (जो कि सब कायों के प्रति सामान्य कारण हैं) वे भी यहां प्रतिपादन का विषय बन जायेंगे।। २३।।

संगति-अगले सूत्र में अदर्शन-रूपी संयोग का कारण बताते हैं -

तस्य हेत्ररविद्या ॥ २४ ॥

शब्दार्थ — तस्प-हेतुः = इस अदर्शन-रूपी संयोग का कारण । अविद्या = अविद्या है । अन्वयार्थ — इस अदर्शनरूपी संयोग का कारण अविद्या है ।

ज्याख्या—श्रदर्शन-रूपी संयोग का कारण श्रविद्या श्रथीत् मिध्या-ह्यान है; जिससे धाल्मा और चित्त में विवेक न होने से श्राभित्रता प्रतीत होती है; और चित्त की सुख, दु:ख, मोहरूपी वृत्तियों का पुरुष में श्रध्यारोप होता है।

तस्मात् तत्स्ंयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम् । ग्रणकर्तृत्वे च तथाकर्तेव भवत्युदासीनः ॥२०॥ —(साध्यकारिका) अर्थ—इस कारण उनके संयोग से (पुरुष और बुद्धि के अविद्या के कारण आसक्ति वा अविवेकपूर्ण संयोग से) अचेतन बुद्धि चेतन-सी और वैसे ही गुणों के कर्तान होने पर भी उदासीन (पुरुष) कर्ता-जैसा प्रतीत होता है।

> भक्ततेः क्रियमाणानि ग्रुणैः कर्माणि सर्वशाः । अहंकारविमृदातमा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥२७॥ (मीता अ०३)

अर्थ—वास्तव में सम्पूर्ण कर्म प्रकृति के गुर्णो द्वारा किये हुए हैं तो भी व्यहङ्कार से मोहित हुए व्यन्तःकरण वाला पुरुष 'मैं करता हूं' ऐसा मान लेता है व्यर्थात् व्यहं भाव पैदा कर लेता है।

टिप्पणीः—व्यासभाष्य का भाषानुवाद सूत्र २४ जो प्रत्येक चेतन (अन्तरात्मा) का स्व बुद्धि के साथ संयोग है उस असाधारण संयोग का हेतु अविद्या अर्थात् विपर्यय ज्ञान वासना है। अविद्या का अर्थ है अनादिविपर्ययज्ञानजन्य वासना वही असाधारण संयोग का हेतु है।)।

विपर्यय ज्ञान की वासना से वासित जो बुद्धि है वह न तो कार्य्य में निष्टा को प्राप्त होती है (अधिकार को समाप्त करती है) और न पुरुषख्याति को प्राप्त होती है। साधिकार होने से पुनरावृत्तिशील हो जाती है। किन्तु पुरुषख्याति पर्य्यवसान हुई बुद्धि अपने अन्तिम कार्य्यनिष्ठा को प्राप्त हो जाती है। वह समाप्त अधिकार हुई अज्ञान से रहित होकर बन्ध के कारण के अभाव हो जाने से पुनरावृत्तिरहित हो जाती है। यहां पर किसी नास्तिक ने एक नपंसक के दृशाल से उपरोक्त कथन का खरडन उपहास के साथ किया है। एक अबोध खी अपने नपुंसक पति से कहती है "अ।र्यपुत्र मेरी बहिन तो पत्रवती है में क्यों नहीं हं" ? वह उस को उत्तर देता है "में मर कर तेरे लिये पत्र उत्पन्न कर दंगा" इसी प्रकार यह विद्यमान ज्ञान चित्तनिवृत्ति नहीं करता है तो फिर नष्ट होकर करेगा इसकी क्या आज्ञा करनी चाहिये (अर्थात् जब विद्यमान विवेकष्याति चित्तनिवृत्ति हुए मोल नहीं उत्पन्न कर सकती तो परवैराग्य द्वारा विनष्ट होकर मोल उत्पन्न करेगी इसकी कम आज्ञा हो सकती है) इसका उत्तर एक आचार्य्यदेशीय अर्थात एक साधारण बृद्धि वाले खाचार्य ने इस प्रकार दिया है कि चित्त के भोग अपवर्गरूप परिणामों की निवृत्ति का नाम मोन है। और चित्त के भोग अपवर्गरूप परिएाम निवृत्ति अदर्शन के अभाव से होती है। वह ऋदर्शन बन्धका कारण है। उसकी निवृत्ति विवेक दर्शन से होती है। विवेक दर्शन की निवत्ति परवैराग्य से होती है। चित्त के ऐसे खरूप होते ही मोत्त होता है। फिर उस नास्तिक का उपहास व्यर्थ ही है।

नोट:—यहां ज्यास जी ने यह दिखलाया है कि एकदेशीय अर्थात् साधारण बुद्धि वाला खाचार्य भी नास्तिक की इस खारांका का परिहार कर सकता है तो इस के उत्तर देने से कोई प्रयोजन नहीं है। सांख्य योग के विद्वात् आचार्य का तो यह मत है कि विश्व की निवृत्ति ही मोस्त है। चित्त की निवृत्ति का साम्रात् कारण विवेक दर्शन नहीं है) किन्सु िश्चर विवेक ख्याति में परवैराग्य खदय होता है। परवैराग्य से असम्प्रज्ञात समाधि। असम्प्रज्ञात समाधि के अधिकत्व के क्रम से निरिधकार चित्त की निरिन्धन अग्नि के सदस्त अपने कारण में लयरूप निवृत्ति होती है। इस लिये परवैराग्य द्वारा चित्तिवृत्ति का कारण विवेक दशेन है। इस लिये नास्तिक का उपहास निरर्थक है।

भोजवृत्ति भाषाथे सूत्र २४ पूर्व जो विपर्यय मोहरूप अविद्या कहा है वह अविवेक-

ख्यातिरूप संयोग का कारण है।

व्यासभाष्य पर विज्ञान भिक्षु के वार्त्तिक का भाषानुवाद सूत्र २४

तस्य हेतरविद्या - उस द्रष्टा श्रीर दृश्य के संयोग का बुद्धि श्रीर पुरुष के संयोग द्वारा श्रविद्या हेत् है। भाष्यकार ने सूत्रकार के तात्पर्य के श्रभिप्राय से ही तस्य इस पद का अर्थ बुद्धि-संयोगस्य किया है, साज्ञात् ही नहीं-क्योंकि द्रष्टा का दृश्य के साथ सामान्य संयाग ही पूर्वसूत्र में अकृत है। (प्रकरण में आया हुआ है)। बुद्धिसंयोगस्येति-अविद्या यहां अनात्म में आत्मवद्भिमात्र है. क्योंकि वह ही यहाँ बुद्धि के साथ संयोग की कारण है श्रीर श्रनित्यादि में नित्यादि बुद्धि रूप श्रविद्या जो श्रागे कहेंगे उसकी विवेकख्याति से निवृत्ति भी नहीं होती है। श्रीर वह अविद्या बुद्धि के संयोग से जन्य है श्रतः बुद्धिसंयोग के श्रव्य-वहित पर्व काल में होती चाहिय। (अनात्म में आत्मबुद्धि तो सम्भव है, अनित्यादि में नित्य बद्धि-रूप सम्भव नहीं है) अतः भाष्यकार कहते हैं विपर्ययेति-सर्गान्तरीय अविद्या खचित्त के साथ निरुद्ध हो जाती है - उसकी वासना प्रधान में क्षित रहती हैं उनसे वासित प्रधान बसी पुरुष की संयोगिनी उस प्रकार की बुद्धि को उत्पन्न करता है अतः अनादि होने से दोष नहीं है। अविद्या की वासना में बुद्धि और पुरुष का संयोग हेत है-इसमें यक्ति कहते हैं विपयेयेति-विपर्यय ज्ञान की वासनाच्यां के बल से प्रहायख्यातिरूप-कार्य निष्ठारूप स्व कर्त्तेच्य की अन्तिम अवधि को बुद्धि प्राप्त नहीं होती अतः साधिकार होने से पनः लौट श्राती है- पुरुष के साथ संयुक्त हो जाती है। वहीं बुद्धि पुरुषान्यताख्यातिपर्यन्त हुई पर वैराग्य के उत्पन्न कर देने से समाप्ति को प्राप्त होती है। ततः - चरिताधिकारो (जिसका अधिकार समाप्त हो चुका वै) निष्पादित कार्या (जिसने अपना कार्य भोग न्त्रीर विवेकल्याति सम्पन्न कर दिया है) निवृत्ताविद्या (जिसने श्रविद्या को निवृत्त कर विया है) हुई बुद्धि संयोग नामक बन्ध के कारण के अभाव होने से फिर पुरुष से संयुक्त नहीं होती। तथा च श्रन्वय श्रीर व्यतिरेक से विपर्यय वासना बुद्धि पुरुष के संयोग का हेत् है, यह भाव है। पुरुषख्याति से चित्त की निवृत्ति होती है जो यह कहा है इस विषय में नास्तिक के आद्येप के निराकरण करने का इच्छुक-उसको दिखलाते हैं। अत्र कश्चित् बगडक के उपाख्यान-हृष्टान्त से उद्घाटन करते हैं-श्रान्तेप करते हैं-न्यंसक के आख्यान कां ही कहते हैं - मुग्धया इत्यादि से लेकर उत्पादयिष्यति-इस तक से, वह पग्रहक उस अपनी भार्या को, विनष्टमिति विनष्टं परवैराग्य से निरुद्ध ज्ञान जो कि चित्त की निवृत्ति रूप है-मोच को करेगा-मुक्ति देगा, यह नास्तिक की प्रत्याशा है-यह अर्थ है। उपेक्षा को सचित करने के लिए- पूर्वाचाये के वचनों से इस विषय में सिद्धान्त को कहते हैं

ईषद् असमाप्त आचार्य आचार्यदेशीय होता है (अर्थात् जो आचार्य तो नहीं है परन्तु लग-भग आचार्य जैसा है) जिस बात के उत्तर की आचार्य लोग उपेता कर देते हैं। उसका भी उन्होंने उत्तर दिया है; यही उनकी आचार्य देशीयता, है आचार्य वह है जिसका स्वरूप वायु-पुराग्य में कहा है—

भाचिनोति च शास्त्रार्थमाचारे स्थापयस्यपि । स्वयमाचरते यस्मादाचार्यस्तेन चोच्यते ॥ इति

शास्त्र के अर्थों का (उदेशों-श्योजनों का) जो संचय करता है, जनता को सदाचार में नियुक्त करता है और खयं भी सदाचारी है वह आचार्य कहा जाता है। नतु-शब्द यहां सम्बोधन वाचक है, यूं कह सकते हैं— इनन सातात् मोच का हेतु नहीं है, किन्तु श्रविद्या नामक अदर्शन की निवृत्ति तत्कार्य निरोध योग द्वारा मोच का हेतु है। तथा च विनष्ट भी झान बुद्धि पुरुष वियोग रूप मोच का व्यापार द्वारा कारण सम्भव है।

राका—यदि यद आचार्यदेशीय का ही है तो क्या बुद्धि-चित्त आदि नामक अन्तःकरण

को निवृत्ति ही मोच्च नहीं है ?

समाधान — तत्र चित्तेति—चित्तिनृत्ति मोत्त होता ही है, किन्तु उस विषय में बेमौके ही इस नास्तिक को बुद्धि का मोह व्यर्थ है, इसलिए यहाँ उपेत्त्ग्यीय विषय में समाधान करने वाले की आचार्यदेशीयता है यह बात कही है।। २४॥

संगति—सूत्र १६ में हेय जो दु:ख है, १७ में हेय हेतु द्रष्टा और दृश्य का संयोग जो दु:ख का कारण है, २३ में स्वशक्ति और स्नामी शक्ति के स्वरूप की उपलब्धि जो संयोग के वियोग का कारण है और २४ में संयोग का कारण अविद्या बतलाकर अब अगले सूत्र में हान अर्थात अविद्या के कारण संयोग के नाश को जो कैवल्य है उसको बतलाते हैं।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् हशेः कैवन्यम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ-तदभावात् = उसके (अविद्या के) श्रभाव से । संयोगाभावः = संयोग का श्रभाव । हानम् = हान है । तद्-दशेः = वह चिति शक्ति (द्रष्टा) का। कैवल्यम् = कैवल्य है ।

अन्वयार्थ-उसके (अविद्या के) श्रभाव से (अदरोनरूपी) संयोग का श्रभाव 'हान'

है। वह चिति-शक्ति का कैवल्य है।

ज्याख्या—श्रविद्या के विरोधी यथार्थ ज्ञान से श्रविद्या का विच्छेद हो जाता है। श्रविद्या के श्रभाव होने पर श्रविद्या के कार्य 'संयोग' के श्रभाव को 'हान' कहते हैं। निराकार वस्तु 'संयोग' का मूर्त-द्रव्य के तुल्य छोड़ना नहीं होता है; किन्तु श्रज्ञान से जन्य संयोग श्रपते-श्राप ही निष्टुत्त हो जाता है। श्रथीत् पुरुष का श्रपन खरूप को भूला-जैसा होकर चित्त को श्रपने से भिन्न न समभते हुए केवल उसकी बाह्य द्वित्यों को ही देखते रहना जो संयोग है उसका कारण श्रदशेन सूत्र तेईस में बतलाया था; श्रीर इसका कारण पिछले सूत्र में श्रविद्या बतलादी गई है। इस श्रविद्या के नाहा से श्रदशेन का और श्रदशेन के नाहा से संयोग का सर्थ नाहा हो जाता है। इस संयोग का नाहा होना ही 'हान' है,

अर्थात् दुःख का अपने कारणसहित नाश हो जाना। यह हान ही चिति-शक्ति (पुरुष) का कैवल्य अर्थात् केवल हो जाना, निखर जाना, स्वरूपिश्वित, मोच्च अर्थात् शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति है।

टिप्पणी—ज्यासभाष्य का भाषानुवाद सूत्र २५। इस श्रदर्शन के श्रभाव से बुद्धि श्रीर पुरुष के सङ्ग का श्रभाव ही अत्यन्त दुःख की निवृत्ति है, यह श्रर्थ है यही "हान" कहलाता है। यह द्रष्टा का कैवल्य है। यह पुरुष का श्रमिश्रीभाव है श्रर्थात् इसके पश्चात् किर कदापि गुणों से संयोग नहीं होता। दुःख के कारण की निवृत्ति होने पर दुःख की निवृत्ति ही परम हान है। तब पुरुष स्वरूप-प्रतिष्ठित हो जाता है श्रर्थात् शुद्ध परमात्म स्वरूप में श्रवस्थित हो जाता है।

भोजगृत्ति का भाषानुवाद स्० २५। श्रविद्यां के विरोधी यथार्थ ज्ञान से श्रविद्या का उच्छेद हो जाता है। श्रविद्या के श्रभाव होने पर उसके कार्य्य संयोग का भी जो श्रभाव होता है वहीं 'हान' कहलाता है। मूर्च द्रव्य के समान इस का परित्याग नहीं होता है, किन्तु विवेकख्याति के उदय होने पर श्रविवेक निमित्त संयोग खयं ही निवृत्त हो जाता है। यहीं इस संयोग का 'हान' है। यह जो संयोग का नाश है वही खरूप से नित्य केवली (ग्रद्ध खरूप) पुरुष का कैवस्य कहलाता है।

संगति-इस 'हान' की प्राप्ति का उपाय बतलाते हैं:-

विवेकख्यातिरविस्नवा हानोपायः ॥ २६ ॥

श्रुच्दार्थ — विवेक-ख्याति = विवेकज्ञान । श्राविष्तवा — शुद्ध — निर्मेत = श्रुडोल श्रथात् संशय-विपर्यय रहित । हानोपायः = हान का उपाय है ।

अन्वयार्थ-शुद्ध विवेकख्याति हान का उपाय है।

व्याख्या — विवेक हश्य-द्रष्टा के भेद; और ख्याति नाम ज्ञानका है। इसलियं वित्त और पुरुष इन दोनों की भिन्नता का ज्ञान; अथवा यह ज्ञान कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और वित्त मुमसे भिन्न हैं, विवेकख्याति है। यह विवेकज्ञान आगम अर्थान् आचार्य के उपदेश और शाकों के पदने तथा अनुमान से भी उदय होता है, पर यह परोन्न ज्ञान है, और अनादि अविवा के निवृत्त करने में असमर्थ होता है। मिध्याज्ञानजन्य व्युत्थान के संस्कार वित्त में बने रहते हैं और तामस-राजस वृत्तियें उदय होती रहती हैं। यह विवेकख्याति विष्त्रवस्तिह है। विष्त्रव के अर्थ विच्छेद हैं अर्थात् जिसमें बीच-बीच में राजसी तामसी वृत्तियों का उदय होना बना रहे। इसलिये ऐसा विवेक-ज्ञान हान का उपाय नहीं है। यह ज्ञान जब दीर्पकाल निरन्तर सत्कार-पूर्वक प्रतिपन्नभावना के बल से अर्थान् क्लेश के बिरोधी क्रिया-योग के अनुष्ठान-बल से अविद्या के विरोधी तत्त्वज्ञान, अस्मिता के विरोधी मध्यस्थता, अभिनेश के विरोधी सम्बन्ध-ज्ञान निवृत्ति के अनुष्ठान से जब परिपक्त हो जाने पर समाधि द्वारा सान्नात् करिल्या जाता है तो वह अपरान्न ज्ञान होता है। इससे अविद्या के नाश हो जाने पर कर्नुत्व-भोक्त्रव अभिमान से रहित और राजस-तामस मलों से शुन्य चित्त हो जाता है। तब सत्त्वपुत्र के प्रकाश में वित्त में चेत्रन

का जो प्रतिविम्ब अर्थात् प्रकाश पड़ रहा है और जिसके कारण चित्त में चेतनता प्रतीत हो रही है, चित्त से भिन्न उसका साज्ञात्कार होता है। यद्यपि यह साज्ञात्कार भी चित्त के द्वारा होता है इसलिये चित्त हो की एक सान्त्विक दृति है तथापि इसके निरन्तर अध्यास से विवेक-ज्ञान का प्रवाह निर्मल और शुद्ध हो जाता है, क्लेशों का सर्वथा नाश होता है और मिध्या-ज्ञान दुग्धबीज के तुल्य बन्धन की उत्पत्ति करने में असमर्थ हो जाता है। यही अबियुव अर्थात् अर्थाल, अविच्छेद निर्मल हान का उपाय है।

क्षेत्रक्षेत्रक्रयोरेबमन्तरं ज्ञानचत्रुषा । भूतमक्रतिमोत्तं च ये विदर्यान्ति ते परमु ॥ गीता १३ । ३४ ॥

अर्थ:—इस प्रकार चेत्र (प्रकृति)। श्रीर चेत्रज्ञ (पुरुष) के भेद को तथा विकारसहित प्रकृति से छूटने के उपाय को जो पुरुष ज्ञाननेत्रों द्वारा (विनेकख्याति द्वारा) तत्त्व से जान लेते हैं वे महात्मा जन पर-नद्मा परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी-व्यासभाष्य का भाषार्थ ॥ सूत्र २६ ॥ स्रव हान का उपाय क्या है ? यह बतलाते हैं।

बुद्धि और पुरुष की भिन्नता का ज्ञान विवेकख्याति है और वह मिध्याज्ञान जिस से निवृत्त हो गया है, ऐसी विवेकख्याति श्रविद्भव श्रर्थात् शुद्ध और निर्मल कहलाती है। जब मिध्यम्ज्ञान दग्धवीज के समान बन्धन की श्रवुत्पत्ति के योग्य होता है तब रजोगुग्-निमित्तक क्लेश दूर हो जाने पर सत्त्व के परम श्रकाश में परमवशीकार संज्ञक वैराग्य
में वर्तमान हुए योगी के विवेकज्ञान का श्रवाह शुद्ध होता है। वह निर्मल विवेकख्याति
हान का उपाय है। उससे मिध्याज्ञान दग्धवीज भाव को श्राप्त हो जाता है पुनः उत्पत्ति
के योग्य नहीं होता यद मोज्ञ का मार्ग है। यही हान का उपाय है।

व्यासभाष्य पर विज्ञानभिक्षु के बार्तिक का भाषानुवाद सूत्र २६॥ इससे परे हानोपाय व्यूह के चतुर्थ पाद का भी वाच्य कहाँ तक है—इस विषय में चतुर्थ व्यूह के प्रति-पादक सूत्र को उतारत हैं। अयेति बुद्धि—के संयोग की निवृत्ति ही साझात दुःख के हान में कारण है। विवेकस्याति तो बुद्धि के संयोग के हेतु अविद्या की निवर्त्तक होने से परम्परा-सम्बन्ध से दुःख के हान का हेतु है इस बात को भाष्यकार ने प्राप्ति शब्द से सूचित किया है।

विवेक्ख्यातिरविद्रवा हानोपायः-

विवेक ख्याति की साझात्काररूप निष्ठा को सूचित करने के लिए—इसका अविद्रवा विशेषण दिया है (आरम्भ में अभ्यासी को चािणक विवेक ख्याति होती है उसी को प्याप्त समफ्त कर योगी प्रयक्ष को ढीला न करदे इसलिए अविद्रवा कभी भी न हटने वाली विवेक ख्याति मोच का उपाय है यह सूचित किया है) उसमें अविद्रव शब्द से यह अधे कैसे निकलता है इस आकांता के लिए कहते हैं—मिध्याक्कान के संस्कारों के कारण से विवेक ख्याति प्रवित होजाती—मिध्याक्कान के संस्कारों के कारण से विवेक ख्याति प्रवित होजाती—मिध्याक्कान के संस्कारों से बीच में वह अभिभूत हो जाती है। पदिति—जब साझात्कार की दशा में सूक्ष्म मिध्या क्कान—अनागत अवस्था में हो, दश्य बोज के

समान हो, उसका विवरण है बन्ध्य प्रसव, यह मिथ्या ज्ञान का प्रसव-सामर्थ्य बन्ध्या हो जाता है (उत्पादन कार्य के योग्य नहीं रहता) तब जिसकी क्लेशपूली धुल गई है उस बुद्धि-सत्त्व के पर वैशारग—वैलक्ष्य्य होने पर इसी का विवरण है—परस्यां वशीकारसंज्ञायां परवशीकारसंज्ञक वैराग्य में वर्तने वाले बुद्धि सत्त्व के—परमाणुपरममहत्वान्तोऽस्य वशीकार—इस सूत्रोक्त जो इन्छा का श्रप्रतिपात रूप है उसमें वर्तमान बुद्धि सत्त्व का विवेकख्याति प्रवाह निर्मल—मिथ्या ज्ञान से श्रकछिषत होता है श्रतः वह विवेकख्याति श्रवह निर्मल—मिथ्या ज्ञान से श्रकछिषत होता है श्रतः वह विवेकख्याति श्रवह ता के हागा हान का उपाय है। किस के द्वाग हान का उपाय है इस श्राकांचा के विषय में कहते हैं—उस विवेकख्याति से सुक्ष्मरूप मिथ्याज्ञान द्वायात होजाता है। किर वह नहीं जमरा इस प्रकार से यह विवेकख्याति रूप—चित्तकी निवृत्ति श्रादि रूप—मोच का मार्ग है—इसी का विवरण है हानोपाय—

शंका⊹ इस श्रकार ज्ञान से ही दु:ख हान नामक मोच की श्रप्ति के बचन से व्यसंश्रज्ञात योग काश्रयोजन क्या रहा?

समाधान – परवैराग्य जन्य अर्सप्रज्ञात योग को भी यहां ज्ञान के द्वारा ही मोज्ञ की हेत्रता है—यह आदाय है।। २६॥

टिप्पणी सूत्र २६। बौद्ध दर्शन -बौद्ध धर्म में 'हान' के स्थान में "तृतीय श्रार्थ सत्य"

'दु:खनिरोध' (निर्वाण) बतलाया गया है।

दु:स्वनिरोध: (निर्वाण्)—तीसरे आर्थ सत्य का नाम 'दु:स्वनिरोध, है। निरोध शन्द का अर्थ नाश या त्याग है। यह सत्य बतलाता है कि दु:स्व का नाश होता है। बुद्ध ने भिन्नुओं के सामने इस सत्य की इस प्रकार व्याख्या की है—

ं 'इंदं खोपन मिक्खवे दुक्खनिरोधं ऋरियसच्चं। सो तस्सायेव व तग्हाय ऋसेस

विराग निरोधो चागो परिनिस्सागों मुत्ति श्रनालयो"।

श्रर्थात् दुःख निरोध श्रार्थसत्य उस तृष्णा से श्रशेष-सम्पूर्ण वैराग्य का नाम हैं;

इस तृष्णा का त्याग, प्रतिसर्ग, मुक्ति तथा अनालय (स्थान न देना) यही है।

दु:ख के कारण का दूसरे श्रार्य सत्य में विवरण दिया गया है। उस कारण को यदि नष्ट कर दिया जाय, तो कार्य श्राप से श्राप स्वतः नष्ट हो जावेगा। श्रातः कार्य कारण का सम्बन्ध ही इस सत्य की सत्ता का पर्याप्त प्रमाण है।

दुःखनिरोध की ही लोकिश्य संज्ञा 'निर्वाण' है। तृष्णा के नाश कर देने से इसी जीवन में पुरुष उस व्यवस्था पर पहुंच जाता है—जिसे निर्वाण के नाम से पुकारते हैं।

'श्रंगुत्तर निकाय' में निर्माण प्राप्त पुरुष की उपमा शैल से दी गयी है:-

सेलो यथा एकपनो वातेन न समीरति। एवं रूपा, रसा, सहा, गन्धा, फस्साच केवला।। इहा धम्मा अनिहा च, न पवेपेन्ति तादिनो। ठितं चित्तं विष्य ग्रुतं वसं यस्सानु पस्सति॥ (अंगुक्तर निकाय ३।५२) अर्थात् प्रचएड मंम्प्रावात पर्वत को स्थान से च्युत नहीं कर सकता, भयंकर आंधी के चलने पर भी पर्वत एक रस, अडिंग, अच्युत बना रहता है। ठीक यही दशा निर्वाण प्राप्त व्यक्ति की है। रूप, रस, गन्धादि विषयों के थपेड़े उसके ऊपर लगातार पड़ते रहते हैं, परन्तु उस के शान्त चित्त को किसी प्रकार भी क्षुच्थ नहीं करते। आसवों से विरहित होकर वह पुरुष अखएड शान्ति का अनुभव करता है।

संगति—निर्मल विवेकख्याति में योगी की जैसी प्रज्ञा उत्पन्न होती है उसका स्वरूप बतलाते हैं:—

तस्य सप्तथा मान्तभूमिः मज्ञा ।। २७ ॥

शब्दार्थ — तस्य = उसकी (निर्मल विवेकस्व्याति वाले योगी की) सप्तथा = सात प्रकार की। प्रान्तभूमिः = सबसे ऊँची अवस्था वाली। प्रज्ञा = बुद्धि होती है।

अन्वयार्थ— उस निर्मल विवेकख्याति वाले योगी की सात प्रकार की सबसे ऊँची अवस्था वाली प्रज्ञा होती है।

व्याख्या—ितर्मल विवेकख्याति द्वारा योगी के चित्त के अशुद्धि-रूप श्रावरण मल नष्ट हो जाने से दूसरे सांसारिक ज्ञानों के उत्पन्न न होने पर सात प्रकार की उत्कर्ष श्रवस्था बाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। उनमें से प्रथम चार प्रकार की प्रज्ञा कार्य से विमुक्त करने वाली है। विमुक्ति चित्त के श्राधिकार की समाप्ति को कहते हैं। यह चार प्रकार की प्रज्ञा सम्बन्धी विमुक्ति कार्य्य श्रथीत् प्रयन्नसाध्य है। इस कारण वह कार्य-विमुक्ति प्रज्ञा कहलाती है। श्रीर श्रन्त की तीन चित्त से विमुक्त करने वाली हैं, इस कारण वे चित्त-विमुक्ति प्रज्ञा कहलाती हैं। उपरोक्त चारों प्रज्ञाश्यों के लाभ से यह तीन प्रज्ञा स्वतः ही लब्ध हो जाती हैं।

कार्य विमुक्ति प्रज्ञाः—

१. क्षेय श्रस्य अवस्था—'' परिक्षातं हेयं नास्य पुनः परिक्षयमस्ति "। जो कुछ जानना था जान लिया श्रव कुछ जानना शेष नहीं रहा श्रर्थात् जितना गुर्णमय दश्य है वह सब परिग्राम, ताप, श्रीर संस्कार-दुःखों तथा गुर्णवृत्ति-विरोध से दुःखरूप ही है इसलिये 'हेय' है—यह मैंने जान लिया (२.।१५,१८,१९,)।

२ -हियग्रस्य अवस्था - "क्षीणहेयहेतवो न पुनरेतेषां हातव्यमस्ति"। जो दूर करना था अथोत् द्रष्टा और दृश्य का संबोग जो 'हैयन्हेतु' है वह दूर कर दिया, अब कुछ

दर करने योग्य शेष नहीं रहा (२। १६, १७)।

३—प्राप्यप्राप्त अवस्था—"साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम्" । जो साजात् करना था वह साज्ञान् कर लिया है (अर्थात् निरोध-समाधि द्वारा हानको साज्ञान् कर लिया) अब कुछ साज्ञान् करने योग्य शेष नहीं रहा (२।२५)।

४—चिकीर्पाशून्य अवस्था—"भावितो विवेकख्याति रूपो हानोपायः।" जो करता था वह कर लिया है अर्थात् हान का उपाय निर्मल विवेकख्याति सम्पादन कर लिया, अब कुछ सम्पादन करने योग्य शेष नहीं रहा (२।२६)।

- ५ चित्तविमुक्ति प्रश्ना चित्तसत्त्व-कृतार्थता । ''चरिताधिकारा बुद्धिः'' । चित्त ने अपना अधिकार भोग-अपनर्थ देने का पूरा कर दिया है, अब उसका कोई अधिकार रोष नहीं रहा है ।
- ६—गुणळीनता—गुणा गिरिशिखरतटच्युता इव ब्रावाणो निरवस्थानाः स्व-कारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति । नचैषां प्रविळीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति ।" जिस प्रकार पर्वत की चौटी के किनारे से गिरे हुए पत्थर विना कके हुए पृथिवी पर ब्राकर चूरचूर हो जाते हैं इसी प्रकार चित्त के बनाने वाले गुण अपने कारण में लय होने के अभिमुख्जा रहे हैं क्योंकि अब इनका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा।

७—आत्मस्थिति — "प्तस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिर-मळः केवळी पुरुषः इति" गुर्णों के सम्बन्ध से परे होकर पुरुष की परमात्म स्वरूप में स्थिति हो रही है। अब कुछ रोष नहीं रहा।

इस सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा को अनुभव करता हुआ योगी कुशल (जीवनमुक्त) कहा जाता है; और चित्त के अपने कारण में लीन होने पर भी कुशल (विदेह मुक्त) कह-लाता है। ये दोनों ही गुणातीत अर्थात् गुणों के सम्बन्ध से रहित केवल शुद्ध आत्मस्वरूप से स्थित होते हैं। इसलिय यह योगी विदेह मुक्त अवस्था को जीवनमुक्त दशा में ही प्रत्यक्त कर लेता है।

संगति—हान का उपाय निर्मल विवेकख्याति की प्रज्ञात्र्यों का स्वरूप दिखाकर अवः उसकी प्राप्ति के साधन योग-श्रंगों को बतलाते हैं।

योगांगाऽनुष्ठानादशुद्धित्तये ज्ञानदीप्तिराविवेकल्यातेः ॥२८॥

शब्दार्थ — योग-अंग-अनुष्ठानात् = योग के अंगों के अनुष्ठान से । अशुद्धि-लये = अशुद्धि के नाश होने पर । ज्ञान-शिप्तः – ज्ञान का प्रकाश । आविवेक-स्याते = विवेकस्याति-पर्यन्त हो जाता है ।

श्चन्वयार्थ – योग के श्रीगों के श्रनुष्ठान से श्रशुद्धि के नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति-पर्यन्त हो जाता है।

व्याख्या—योग के आठ आंगों के अनुष्ठान से क्लेश (२।३) रूपी अशुद्धि दूर होती है और सम्यक् ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है। इन अंगों का अनुष्ठान जितना-जितना बढ़ता जाता है उतनी ही क्लेश की निष्ठित और ज्ञान के प्रकाश की अधिकता होती जाती है। यहाँ तक कि यह ज्ञान के प्रकाश को चृद्धि विवेकख्याति पर्यन्त पहुँच जाती है, जिसका सूत्र सत्ताईस में वर्णन किया है। योग के अंगों का अनुष्ठान अशुद्धि के वियोग का कारण है और विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है और

टिप्पणी-(सूत्र २८) कारण नौ प्रकार के हैं:-

उत्पत्तिस्थित्यभिन्यक्तिविकारमत्ययाप्तयः । वियोगान्यस्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ॥

अर्थ - कारण नौ प्रकार का माना गया है : उत्पत्ति-कारण, श्विति-कारण, श्रीभ-व्यक्ति-कारण, विकार-कारण, प्रत्यय-कारण, प्राप्ति-कारण, वियोग-कारण, धन्यत्व-कारण, धति-कारण । वा अविद्या संयोग की उत्पत्ति का कारण है। (सूत्र २। २४)

(१) जत्पत्ति-कारण : जैसे बीज वृत्त का या मन विज्ञान का।

- (२) स्थिति-कारण: जैसे आहार शरीर की स्थिति का या पुरुषार्थ मन की स्थिति का, क्योंकि मन तब तक बना रहता है जब तक भोग श्रीर अपवर्ग को सिद्ध नहीं कर देता।
- (३) श्रभिव्यक्ति-कारण : जैसे प्रकाश रूप की श्रभिव्यक्ति (प्रकटता) का कारण है वा रूपज्ञान पौरुषेय बोध की श्राभव्यक्ति का कारण है।
- (४) विकार-कारण: जैसे श्रिप्त से पक कर चावल बदल (गल) जाते हैं. सो श्रिप्त उनका विकार-कारण है, वा मन का दूसरे विषय में लग जाना मन के विकार का कारग है।
 - (५) प्रत्यय-कारण : जैसे धुएँ का देखना र्थाप्त के ज्ञान का कारण है।
- (६) प्राप्ति-कारण: जैसे धर्म सुख की प्राप्ति का कारण है, वा योग के अंगों का श्रनुष्टान विवेकख्याति की प्राप्ति का कारण है।
- (७) वियोग-कारण: जैसे कुल्हाड़ा लकड़ी के दुकड़ों के वियोग का कारण है, वा स्वर्शक्ति और स्वामिशक्ति के स्वरूप की उपलब्धि संयोग के वियोग का कारण है। (सo २ । २३) वा योग के श्रंगों का श्रनुष्ठान श्रग्नुद्धि के वियोग का कारण है । (सo२।२८)
- (८) अन्यत्व-कारण : जैसे सनार सोने के कुएडल को दसरी वस्त अर्थात कहा बना देने का कारण है वा जैसे रूपवती खी का देखना एक ही है, पर वह देखना पति के सख. सपित्रयों के दु:ख, बेगाने पुरुषों के मोह और तत्त्वज्ञानी की उदासीनता का कारण होता है।
- (९) वृति-कारण : जैसे शरीर इन्द्रियों (प्राणों) के धारने का कारण है: और इन्द्रिय (प्राण्) शरीर के धारने का कारण हैं, वा मनुष्य, पश्च, पत्नी, श्रीपधि, वनस्पति एक-दूसरे के धारने के कारण हैं।--(ज्यासभाष्य)

संगति-वे योग के श्रंग ये हैं :-

यमनियमासनपाणायामप्रत्याहारघारणाध्यानसमाधयोऽष्टावंगानि ॥२६॥

शब्दार्थ- यमनियमासमाधयः = यम, नियम, श्रासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि (ये)। अष्टी अङ्गानि = आठ योग के अङ्ग हैं।

अन्वयार्थ-यम, नियम, श्रासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि

(ये) छाठ योग के छङ्ग हैं।

व्याख्या - ये आठ योग के श्रङ्ग विवेकल्याति के साधन हैं। उनमें से धारणा, ध्यान समाधि साजात सहायक होने से योग के अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं। यम-नियम योग के रकावट हिंसादि वितकों को निर्मूल करके समाधि को सिद्ध करते हैं। अन्य तीन आगले-अगले अङ्ग में उपकारक हैं अर्थात् आसन के जीतने पर प्राणायाम की स्थिरता होती है और प्राणायाम की स्थरता से प्रत्याहार सिद्ध होता है।

समाधिपाद में बतलाये हुए अभ्यास, वैराग्य, श्रद्धा, वीर्य आदि और इस पाद में बतलाया हुआ कियायांग इन्हीं आठों अझों के अन्तर्गत हो जाते हैं। अर्थात धारणा, ध्यान श्रीर समाधि विना अभ्यास-वैराग्य के नहीं हो सकते. क्योंकि अभ्यास तो इन आठों अङ्गों का पनः पनः अनुष्ठान-रूप ही है। और बिना वैराग्य के समाधि सिद्ध हो ही नहीं सकती, क्योंकि सम्प्रज्ञात-समाधि में एकामता श्रर्थात् एक वृत्ति रहती है, जिसमें राग बना रहता है, पर उस वृत्ति में राग स्थिर नहीं रह सकता, जब तक उससे इतर अन्य सब प्रकार की वृत्तियों में वैराग्य न हो। सम्प्रज्ञात-समाधि की पराकाष्ट्रा विवेकख्याति है। उसमें भी जो वैराग्य है वह पर-वैराग्य कहलाता है; श्रीर निर्वीज-समाधि का साचात सहायक होने से उसका अन्तरंग साधन है, श्रद्धा वीर्य के विना किसी साधन का अनुष्ठान हो ही नहीं सकता। क्रियायोग के तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रशिधान नियम में आ जाते हैं।

विशेष वक्तव्य - (सूत्र २६) इस पाद में सूत्र ३ से १३ तक बतला आए हैं कि परुष क्रमशः छेशों और सकाम कर्मी द्वारा (श्रविद्या से श्रास्मिता, श्रास्मिता से राग, राग से द्रेष. इन दोनों से श्रभिनिवेश क्षेश उससे सकाम कर्म, सकाम कर्मों की वासनाश्रों से जन्म, श्रायः भोग श्रीर उनमें सकाम कर्मों के पाप पुराय श्रनुसार दुःख सुख) वहिर्मुख होकर नाना प्रकार के द:खों को प्राप्त होता है। इन दुखों की निवृत्ति के लिये इसी क्रमानसार श्रन्तमेख होते का सरल उपाय श्रष्टांग योग है ।

१. यम:--विह्मुखता की सब से अन्तिम अवस्था मनुष्य का अन्य सब शािशयों के माथ व्यवहार है। इसलिये सबसे प्रथम इस व्यावहारिक जीवन को यमों द्वारा सात्त्विक श्रीर दिव्य बनाना होता है। सकाम कर्म जो जन्म, आयु और भोग के कारण हैं निवृत्त हो जाते हैं। बाह्य व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले राग-द्वेष और श्रमिनिवेश हेश तन हो जाते हैं।

२. नियम:--नियमों का सम्बन्ध केवल अपने व्यक्तिगत शरीर इन्द्रियों तथा अन्तः करण के साथ होता है, इसलियं इनकं यथार्थ पालन से श्रपनी व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाला सारा बाह्य व्यावहारिक जीवन राजसी, तामसी विज्ञेप श्रीर श्रावरशहरूप मलीं से धल कर सात्त्विक पवित्र श्रीर दिव्य बन जाता है।

 आसनः — श्रासन का सम्बन्ध शारीरिक क्रिया से हैं। इसके द्वारा शरीर की रज रूप चव्चलता और अधिरता और तमरूप आलस्य और प्रमाद हटकर शरीर में मान्त्रिक प्रकाश श्रीर दिव्यता उत्पन्न होती है।

 प्राणायामः — प्राणायाम द्वारा प्राण की गति को रोक कर अथवा धीमा करके शरीर की श्रान्तरिक गति (प्राण्) को सात्त्विक (दिव्य) बनाया जाता है।

५. प्रत्याहार: - प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को त्रालस्य और प्रमादरूप तमस और विष्ठमेखता रूप रजस से शून्य करके इनको सात्त्विक रूप में वित्त के साथ अन्तर्मख करके दिव्य बनाना होता है।

धारणाः-धारणाद्वारा चित्त के मृद् और ज्ञिप्तरूप तमस और रजस को हटाकर उसको सात्त्वकरूप में वृत्तिमात्र से किसी एक विषय में ठहरा कर दिव्य बनाना होता है। ८. समाधि:—जिस विषय में चित्त को वृत्तिमात्र से ध्यान में अविच्छित्रता के साथ लगाया है उस ध्येयाकार वृत्ति को जो रजस् ध्यान और ध्यात आवा राता रूप में लेजा रहा है और तमस् जो उस ध्यान और ध्यात रूप आकारता को रोके हुए है उस लेशमात्र रजस् और तमस् को भी हटाकर समाधि में चित्त का उस सात्तिक (दिव्य) रूप में ध्यात और

ध्यान से शून्य जैसा होकर केवल ध्येयाकार रूप से भासना होता है।

इन आठों अङ्गों में से पहले पांच योग के बहिरङ्ग साधन कहलाते हैं। उसमें उनका सीधा सम्बन्ध नहीं होता और अन्तिम तीन इसलिये अंतरङ्ग साधन कहलाते हैं क्योंकि जिस विषयमें समाधि लगाई जाती है वे उसी को लेकर चलते हैं, किन्तु यह तीनों भी असम्प्रज्ञात समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं। उसका अन्तरङ्ग साधन परवैराग्य है, जिस के द्वारा आत्मा को चित्त से भिन्न साचात् कराने वाली विवेकख्यातिरूप साच्चिक गृत्ति जो अप्रांग योग की सीमा है उसका भी निरोध होकर गुद्ध परमात्म स्वरूप में अविश्वित होती है।

अविद्या और अस्मितादि हेश धारणा ध्यान और समाधि में ततु हो कर विवेकस्याति रूप अग्नि में दग्धवीजतुल्य हो जाते हैं और असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा धर्मी चित्त के अपने

कारण में लीन होने से उनका भी लय हो जाता है।

श्रष्टांग योग में निचली भूमियों को सान्तिक बनाते हुए ऊंची भूमियों में त्रारोह (Ascent) होता है। उन ऊंची भूमियों की सान्तिकता की श्रिष्ठकता के श्रानुसार ही दिव्यता की शृद्धि होती है। उन ऊंची भूमियों की सान्तिकता और दिव्यता को लेकर ध्रवरोह (Descent) में नीची भूमियों को सान्तिक और दिव्य बनाया जाता है और फिर उन नीची भूमियों की उस साविकता और दिव्यता को लेकर उंची भूमियों को खारोह द्वारा सान्तिक और दिव्य बनाया जाता है। इस प्रकार नीची और ऊंची सारी ही भूमियां, सारे अंग और उनकी क्रियायें अर्थात् बाह्य आध्यन्तर सारा ही जीवन सान्त्विक और दिव्य बन जाता है।

इन खड़ों का पृथक-पृथक साधने का विधान न सममना चाहिये वरन खारन्भ से ही एक साथ सब खड़ों को साधना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार निचले खड़ उपर वाले खड़ों की सहायता करते हैं इसी प्रकार उपर वाले खड़ निचले खड़ों की टढ़ गूमि करने में सहायक होते हैं। ध्यान खौर समाधि धारणा की ही उंची खबशायें हैं। खत: खारम्भ में

केवल धारणा का ही यह हो सकता है।

टिप्पणी—'(सूत्र २९) बौद्ध दर्शन—बौद्ध धर्म में 'हानोपाय' के स्थान में चतुर्थ आर्य सत्य '(दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपद''- ''अष्टांग योग' के स्थान में ''अष्टाक्षिक मार्ग' और ''पांच यमों'' के स्थान में ''पण्डाजील'' बतलाये गये ^{क्ष्}र । यमों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्कचर्य तो समान हैं देवल योगदर्शन के अपरिग्रह यम के स्थान में बौद्ध धर्म में मध का निषेध बतलाया गया है। पाठकों की श्रधिक जानकारी के लिये बौद्ध धर्म के उन सिद्धान्तों का कुछ विस्तार के साथ बतला देना उचित प्रतीत होता है।

दु:खितरोधगामिनी प्रतिपद्—'प्रतिपद्' का ऋर्य मार्ग है। यह चतुर्य आर्य-सत्य दु:ख-निरोध तक पहुचाने वःला मार्ग है। निर्वाण प्रत्येक प्राणी का गन्तेव्य स्थान है उस तक पहुंचाने वाले मार्ग का नाम 'श्रष्टाङ्गिक मार्ग' है। श्राठ श्रंग ये हैं—

(१) (२)	सम्यग् हाष्ट सम्यक् संकल्प	प्रज्ञा
(३) (४) (५)	सम्यग् वाचा सम्यक् कर्मान्त सम्यग् श्राजीविका	शील
(\xi) (\omega)	सम्यक् व्यायाम सम्यक् समृति	स्रमाधि

अच्छांगिक मार्ग यह मार्ग बौद्ध धर्म की त्राचार मीमांसा का चरम साधन है। इस सार्ग पर चलने से प्रत्येक व्यक्ति त्र्याने दुःखों का हठान् नाश कर देता है तथा निर्वाण प्राप्त कर लेता है। इसलिये (प्रष्टांग योग के सदश) यह समस्त मार्गों में श्रेष्ठ माना गया है। जेतवन के पांच सहस्र मिक्षुकों को उपदेश देते समय भगवान बुद्ध ने अपने श्री मुख से इसी मार्ग को ज्ञान की विद्युद्धि के लिये तथा मार को मूर्खित करने के लिये । अयरायिय बतलाया है—

परगानदृष्ट्रिको सेहो सच्चानं चतुरो पदा । विरागो सेहो घम्मानं द्विपदानाश्च चच्खुमा ॥ एसो व मग्गो नत्यञ्जो दस्सनस्स विद्युद्धिया । एतंति तुम्हें परिपज्जथ मारस्सेतं पमोहनं ॥

(धम्मपद २०।१,२)

श्रधीत् निर्वाणगामी मार्गों में श्रष्टांगिक मार्ग श्रेष्ठ है। लोक में जितने सत्य हैं उनमें श्रार्यसत्य श्रेष्ठ है। सब धर्मों में वैराग्य श्रेष्ठ है श्रीर मनुष्यों में चक्कुष्मान् ज्ञानी बुद्ध श्रेष्ठ है। ज्ञान की विद्युद्धि के लिये तथा मार को मूर्छित करने के लिये यही मार्ग (श्रष्टांगिक मार्ग) श्राश्रयणीय है।

अष्टांगिक मार्ग का विशिष्ट-रूप

(१) सम्यक् इच्टि—'इप्टि' का अर्थ झान है (सत्कार्य के लिये झान की भित्ति आवश्यक होती है। आचार और विचार का परस्पर सम्बन्ध नितान्त घनिष्ट होता है। क्विचार की भित्ति पर आचार खड़ा होता है। इसलिये इस आचार मागे में सम्यक् इष्टि

पहिला श्रंग मानी गई है। जो व्यक्ति श्रकुशल को तथा श्रकुशलमूल को जानता है, कुशाल को और कुशलमूल को जानता है, वही सन्यक दृष्टि से सम्पन्न माना जाता है। कायिक. वाचिक तथा मानसिक कर्म दो प्रकार के होते हैं - इशल (भले) श्रीर श्रकुशल (बुरे) इन दोनों को भली प्रकार जानना 'सम्यक-टिप्टि' कहलाती है। 'मज्मिम निकाय' में इन दोनों का वराने निम्न प्रकार है-

	ञ कुशल	कुशल
	((१) प्रागातियात (हिंसा)	(१) श्र-हिंसा
काय कर्म	(२) श्रदत्तादान (चोरी)	(२) इय-चौर्य
	(३) मिथ्याचार (व्यभिचार)	(३) अ-व्यभिचार
	((४) मृषावचन (भूठ)	(४) श्र-मृषावचन
वाचिक कर्म	(५) पिशुन वनन (चुगर्ला)	५) श्रपिशुन वचन
	(६) परुष वचन (कटुवचन)	(६) अ-कटुवचन
	(७) संप्रलाप (बकवाद)	(७) श्र-संप्रलाप
	((८) त्र्रभिष्या (लोभ)	(८) श्र-लोभ
मानस कर्म	(९) व्यापाद (प्रतिहिंसा)	(९) अ-प्रतिहिस
	(१०) मिध्या दृष्टि (भूठी धारणा)	(१०) श्र-मिध्यादृष्टि

अकुशल का मूल है लोभ, दोष तथा मोह। इन से विपरीत कुशल का मूल है अ-लोभ, अदोष तथा अमोह। इन कर्मी का सम्यक् झान रखना आवश्यक है। साथ ही साथ त्र्यार्थसत्यों - दुःख, दुःखसगुदय, दुःखनिरोध, तथा दुःखनिरोधमार्ग का भलीभांति जानना भी सम्यक दृष्टि है ।

- (२) सम्यक् संकल्प-सम्यक् निश्रय। सम्यक् ज्ञान होने पर ही सम्यक् निश्रय होता है। निश्रय निष्कामता का, अद्रोह का तथा अहिंसा का होना चाहिये। कामना ही समग्र दुःस्वों की उत्पादिका है। श्रतः श्रत्येक पुरुष को इन बातों का दृद संकल्प करना चाहिये कि वह विषय की कामना न करेगा, प्राणियों से द्रोह न करेगा और किसी भी जीव की हिंसान करेगा।
- (३) सम्यक् वचन ठीक भाषण्। श्रसत्य, पिशुनवचन, कटुवचन तथा बकवाद-इन सब को छोड़ रना नितान्त श्रावश्यक है। सत्य से बढ़कर श्रन्य कोई धर्म नहीं है। जिन वचनों से दूसरे के हृदय का चोट पहुंचे, जो वचन कटु हो, दूसरे की निन्दा हो, व्यर्थ का बकवाद हो, उन्हें कभी नहीं कहना चाहिये। वैर की शान्ति कटुवचनों से नहीं होती, प्रत्युत 'अवैर' से ही होती हैं-

नहि बेरेन वेरानि सम्मन्तीह कदाचन। अवेरेन च सम्मन्ति एस सम्मो सनन्तनो ।। • व्यर्थ के पदों से युक्त सहस्रों काम भी निष्कल होते हैं। एक सार्थक पद ही श्रेष्ठ होता है जिसे सुनकर शान्ति उत्पन्न होती है। शान्ति का उत्पन्न करना ही वाक्यप्रयोग का प्रधान लक्ष्य है। जिस पद से इस उदेश्य की सिद्धि नहीं होती, उसका प्रयोग नितान्त अयुक्त हैं—

सहस्समिप चे वाचा श्रनत्थपदसंहिता । एकं श्रत्थपदं सेय्यो युं सुत्त्वा उपसम्मति ॥

(धम्मपद ८।१)

(४) सम्यक् कर्मान्त — मनुष्य की सर्गित या दुर्गति का कारण उसका कर्म ही होता है। कमें के ही कारण जीव इस लोक में मुख या दुःख भोगता है तथा परलोक में भी स्वगे या नरक का गामी बनता है। हिंसा, चोरी, व्यभिचार व्यदि निन्दनीय कर्मों का सर्वदा तथा सर्वथा परित्याग अपेतित है। इन्हीं की संज्ञा पश्चशील है। पश्चशील ये हैं — अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अक्षचर्य, सुरा-मैरेय आदिक मादक पदार्थों का असेवन। इन कर्मों का अनुष्ठान सब के लिय विद्वित है। इनका सम्पादन तो करना चाहिये, परन्तु इन का परित्याग करने वाला व्यक्ति धम्मपद के शन्दों में 'मूलं खनित अस्तों' अपनी ही जड़ खोदता हैं —

यो पाणमीतपातेति ग्रुसवादं च भासति । लाके भदिनं मादयति परदारञ्च गन्छति ॥ भ्रुरामेरयपानं च या नरो अनुयुक्तति । इहेबमेसा लाकस्मि मूलं खनति ऋचनो ॥

(धम्मपद १०। १२, १३)

शास्मिवजय श्रपने ऊसर विजय पाना ही मानव की अनन्तशान्ति का चरम साधन है। श्रास्मदमन इन कर्मों का विधान चाहता है। "आत्मा ही अपना नाथ-स्वामी है। अपने को छोड़कर श्रपना स्वामी दूसरा नहीं। श्रपने को दमन कर लेने पर ही दुर्लभ नाथ—(निर्वाण) को जन्त पाता हैं"—

> "मत्ता हि मत्तनो नायो को हि नायो परो सिया। भत्तनो च सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लमं॥" *

> > (धम्मपद १२ । ४)

भिक्षुक्रों के लिये ता आत्मद्मन के नियमों में बहुत कड़ाई है। इन सार्वजनीन कर्मों

* यह आत्मिबज्य का सिद्धान्त वैदिक धर्म का मूख मन्त्र है— नोट:—उद्धरेदात्मनाऽत्मानं नात्मानमवसाद्द्यत् । आत्मेव ह्यःत्मनो बन्धुरात्मेव रिपुरात्मन :॥ बन्धुरात्मात्मनस्तस्य यनात्मेवात्मना जितः । श्रनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ (गीता) के अतिरिक्त उन्हें पांच कर्म - अपराइ-भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण, तथा अमृत्य शस्या का त्याग और भी कर्तव्य है। इन्हें ही 'दशशील' कहते हैं। भिक्षकों के निवृत्ति प्रधान जीवन को आदर्श बनाने के लिये भगवार बुद्ध ने अन्य कमी को भी आवश्यक बतलाया है, जिनका उद्देख 'विनय पिटक' में किया गया है।

(५) सम्यक आजीव (जीविका) — मठी जीविका को छोड़कर सभी जीविका के द्वारा शरीर का पोपण करना। बिना जीविका के जीवन धारण करना असम्भव है। मानवमात्र को कार्राररचाएँ के लिये कोई न कोई जीविका महत्त् करनी ही पडती है. परन्त यह जीविका सभी होनी चाहिये जिससे दूसरे प्राणियों को न तो किसी प्रकार का हैश पहुंचे और न उनकी हिंसा का अवसर श्रावे। समाज व्यक्तियों के समुदाय से बना है। यदि व्यक्ति पारस्परिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपनी जीविका अर्जन करने में लगे तो समाज का वास्तविक मंगल होना है। उस समय के व्यापारों में बुद्ध ने निम्न पांच जीविकात्रों को हिसाववाग होने के कारण से त्रयांग्य ठहराया है-(१) सत्य विशाजा (इस्त्र-हथियार का व्यापार), (२) सत्तविभिज्ञा (शागी का व्यापार), (३) मंस विणिजा (मांस का व्यापार), (४) मज विणिजा (मद्य = शराब का व्यापार). (५) विस विशाला (विष का व्यापार)। 'लक्खण सत्त' ३ में युद्ध ने निम्न जीविकाश्रों की गहरापीय बतलाया है - तराज की ठगी, वंस (बटखरें) की ठगी, मान की (नाप की) ठगी, रिशवा, वंचना, कृतव्रता, साचियोग (कृटिलता), छेदना, वध, बन्धन, डाका, ल्रटपाट की जीविका।

(६) सम्यक् व्यायाम = ठीक प्रयत्न, शोभन उद्योग, सत्कर्मी के करने की भावना करने के लिये प्रयक्ष करते रहना चाहिये। इन्द्रियों पर संयम, ब्ररी भावनाओं को रोकने और श्राच्छी भावनात्रों के उत्पादन रखने का प्रयन्न, उत्पन्न हुई, श्राच्छी भावनात्रों को कायम रखने का प्रयत्न — ये सम्यक व्यायाम हैं। बिना प्रयत्न किये, चंचल चित्त से शोभन भावनायें दर भागती हैं स्त्रीर बरी भावनायें घर जमाया करती हैं। स्त्रतः यह उद्योग आवश्यक है।

(७) सम्यक स्मृति इस श्रंग का विस्तृत वर्णन 'दीघ निकाय' के 'महासित पट्टान' सचा (२।९) में किया गया है। स्मृति प्रस्थान चार हैं—(१) कायानुपश्यना, (२) वेदनानुपश्यना, (:) चित्तानुपश्यना तथा धर्मानुपश्यना । काय, वेदना, चित्त तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप को जानना तथा उसकी स्मृति सदा बनाये रखना नितान्त आवश्यक होता है। काय मलमूत्र, केश तथा नख आदि पदार्थों का समुख्यमात्र है। शरीर को इन क्रपों में देखने वाला पुरुष 'काये कायानुपश्यी' कहलाता है। बेदना तीन प्रकार की होती है-सुख, दु:ख, न सुख न दु:ख। वेदना के इस खरूप को जानने वाला व्यक्ति 'वेदना में वेदनानुपरयी कहलाता है। चित्त की नाना ऋ म्थायें होती हैं - कभी वह सराग होता है. कभी विरागः कभी सद्देष श्रीर कभी वीतद्देषः कभी समोह तथा कभी वीतमोह । चित्त की इन विभिन्न श्रवस्थात्रों में उसकी जैसी गति होती है उसे जानने वाला पुरुष "िंच में चित्तानुपर्यां होता है। धर्म भी नाना प्रकार के हैं (१) नीवरण-कामच्छन्द (कामुकता). व्यापाद (द्रोह) स्त्यानमृद्ध (शरीर मन की श्रालसता), श्रीद्धत्य — कौकृत्य (उद्वेग-खेद) तथा चिकित्सा (संशय) (२) स्कन्ध, (३) श्रायतन, (४) बोध्यगं: (५) श्रायं चत:-सत्य । इन के खरूप को ठीक-ठीक जानकर उनको उसी रूप में जानने वाला पुरुष 'धर्म में धर्मानुपश्यी' कहलाता है। सम्यक समाधि के निमित्त इस सम्यक स्मृति की विशेष त्र्यावश्यकता है। काय तथा वेदना का जैसा स्वरूप है उसका स्मरण सदा बनाये रखने से आसक्ति नहीं उत्पन्न होती। चित्त त्रानासक्त होकर वैराग्य की स्रोर बढता है तथा एकाव्रता की योग्यता सम्पादन करता है। (विशेष विवरण कें लिये देखों 'दिधिनिकाय' हिन्दी अनुवाद पृष्ठ १९०-१९८)

(८) सम्यक् समाधि-योग दर्शन "विवेकख्यातिरविष्तवा हानोपायः" तथा उपनिपद "ऋते ज्ञानात्र मुक्तिः" (ज्ञान के विना मुक्ति नहीं मिलती) के सदश बौद्ध धर्म में ज्ञान को निर्वाण = कैवल्य = मुक्ति का मुख्य साधन माना है। ज्ञान की उत्पत्ति तत्र तक नहीं हो सकती. जब तक उसे धारण करने की योग्यता शरीर में पैदा नहीं होती। ज्ञान के उत्य के लिय शरीर की शद्धि नितान्त आवश्यक है। इस लिये अप्टांग योग के अनुसार ही बुद्ध भगवान ने शील और समाधि के द्वारा क्रमशः कायशद्धि और चित्तशद्धि पर विशेष जोर दिया है।

वुद्ध धमें के तीन महनीय तत्त्व हैं - शील, समाधि श्रीर प्रज्ञा। श्रष्टांगिक मार्ग के प्रतीक ये तीनों ही हैं। झील से ताल्पर्य सात्त्विक कार्यों से है। बुद्ध के दोनों प्रकार के शिष्य थे - गृहत्यागी प्रव्रजित भिक्ष तथा गृहसेवी गृहस्थ। कतिपय कर्म इन दोनों प्रकार के बद्रान्यायियों के लिये समभावेन मान्य हैं जैसे ऋहिंसा, सत्य, ऋस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा मद्य का निरोध, ये 'पचंशील' कहलाते हैं। और इनका अनुष्ठान प्रत्येक बौद्ध के लिये विहित है। भिक्षत्रों के लिये श्रन्य पांच शील की भी व्यवस्था है-जैसे अपराह-भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण-रजत तथा महार्घ शय्या -इन पांचों वस्तन्त्रों का परित्याग। पूर्व शीलों से मिला कर इन्हें 'दश शील' (दश सत्कर्म) कहते हैं। गृहस्थ के लिये अपने पिता माता, श्राचार्य, पत्नी, मित्र, सेवक तथा अमग्र-ब्राह्मणों का सत्कार प्रति दिन करना चाहिये।

बरें कमें के अनुष्ठान से सम्पत्ति का नाश अवश्यम्भावी है। नशा का सेवन, चौरात की सैर, समाज (नाचगाना) का सेवन, जुन्ना खेलना, दुष्ट मित्रों की संगति तथा श्रालस्य में फसंना-ये छश्रों सम्पत्ति के नाश के कारण हैं। (दिधनिकाय, सिगालीवाद सुत्त ३२ प्रष्ठ २७१-२७६)

शील तथा समाधि का फल है प्रज्ञा का उदय। भवचक के मूल में 'अविद्या' विशमान है। जनतक प्रज्ञा का उदय नहीं होता, तबतक अविद्या का नाश नहीं हो सकता । साधक का प्रधान लक्ष्य इसी प्रज्ञा की उपलब्धि में होता है । प्रज्ञा तीन प्रकार की होती है—(१) श्रतमयी—श्राप्त प्रभागों से उत्पन्न निश्चयः (२) चिन्तामयी—यक्ति से उत्पन्न निश्चय तथा (३) भावनामयी – समाधिजन्य निश्चय । श्रत-चिन्ता-प्रज्ञा से सम्पन्न ीलवान पुरुष भावना (ध्यान) का अधिकारी होता है। प्रज्ञावान व्यक्ति नानाप्रकार की

[ं] नोट अभिधर्मकोश ६। ५॥

ऋदियां ही नहीं पाता, प्रत्युत प्राणियों के पूर्व जन्म का झान, परिचत्त झान, दिव्यश्रोत्र, दिव्यचक्षु, तथा दुःखज्ञय—झान से सम्पन्न हो जाता है। उसका चित्त कामान्नव (भोग की इच्छा), भवान्नव (जन्मने की इच्छा) तथा श्रविद्यान्नव (श्रज्ञानमल) से सदा के लिये विमुक्त हो जाता है। साधक निर्वाण प्राप्त कर श्रर्हत् की महनीय उच पदवी को पालेता है। धम्मपद ने बुद्धशासन के रहस्य को तीन ही शब्दों में सममाया है—

(१) सब पापों का न करना (२) पुग्य का सचंय तथा (३) ध्रपने चित्त की परिहाद्वि—

सन्बपापस्स श्रकरणं कुसलस्स उपसम्पदा । स-चित्र परिघोदपनं एतं बुद्धान सासनं ॥

(धम्मपद १४।५)

संगति — यम-नियम के बिना कोई अध्यासी योग का अधिकारी नहीं हो सकता। यह न कंवल अध्यासियों के लिये ही वग्न सब अश्रमवालों के लिये अत्यावश्यक हैं। इन में यमों का सारे समाज में धनिष्ट सम्बन्ध होता है, इस कारण इनके पालन में सब मनुष्य परतन्त्र हैं। अर्थान् ये सब मनुष्यों का परम कर्त्तव्य हैं, जैसा कि मनु महाराज लिखते हैं:—

यमान् सेवेत सततं न नियमान् केवलान् बुधः । यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥ —(मनु॰)

अर्थ-बुद्धिमान को चाहिये कि यमों का लगातार सेवन करे, न केवल नियमों का। क्योंकि केवल नियमों का सेवन करने वाला यमों का पालन न करता हुन्ना गिर जाता है।

यहाँ इस सूत्र में व्याख्या केवल उतनी ही की जावेगी जो योगियों तथा योग के जिज्ञासुत्रों के ऋभिमत है सूत्र ३१ के वि० वि० में उनका सामान्य और व्यापक रूप दिख-लाया जावेगा।

चाहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिव्रहा यमाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ — श्रहिसा-सत्य-श्रस्तेय-ब्रह्मचर्य-श्रपरिमहाः = श्रहिसा, सत्य, श्रस्तेय, ब्रह्मचर्य, श्रपरिमह । यमाः = यम हैं ।

अन्वयार्थ-- ऋहिंसा, सत्य, ऋस्तेय, ब्रह्मचर्य, ऋपरिग्रह यम हैं।

व्याख्या—श्रहिसा = शरीर, वार्णा श्रथवा मन से काम, कोध, लोभ, मोह, भय आदि की मनोवृत्तियों के साथ किसी प्राणी को शारीरिक, मानसिक पीड़ा श्रथवा हानि पहुँचाना, या पहुँचवाना या उसकी श्रनुमति देना या स्पष्ट श्रथवा श्रस्पष्ट रूप से उसका कारण बनना हिंसा है, इससे बचना श्रहिंसा है। गौ, श्ररव श्रादि पशुश्रों का उचित रीति से पालन पोषण करके प्राण हरण न करते हुए उनसे नियमित रूप से दूध श्रारि सामग्री

⁺ दीघनिकाय सामन्त्र फल सुत्त ४० ३०-१२ ॥

प्राप्त करना नथा सेवा लेना हिसा नहीं है, पर यही जब उनकी रचा का ध्यान न रखते हुए सेवा इत्यादि करना के साथ ली जावे तो हिसा हो जाती है।

शिलार्थ नाइना देना, रोग-निवारणार्थ श्रीपिध देना श्रथवा श्रापरेशन करना, मुधारार्थ या प्रायश्रित के लिये दर्ग्छ देना हिसा नहीं है यदि यह बिना द्वेष श्रादि के प्रेम से केवल उनके कल्याणार्थ किये जावें। पर यहीं जब द्वेष, काम, कोध, लोभ, मोह श्रीर भय श्रादि की मनोवृत्तियों से मिश्रित हों तो हिसा हो जाते हैं। प्राणों का शरीर से वियोग करना सब से बड़ी हिसा है। श्री व्यासजी महाराज ने श्रिहंसा की व्याख्या इस प्रकार की है कि सबे काल में सबै कार करा से सम प्राण्यों का शिक्ष के लिये श्रथ्य यम श्रीर निश्म हैं सब यम-नियमों का मृल है, उसी के साधन तथा सिद्धि के लिये श्रथ्य यम श्रीर निश्म हैं श्रीर खसी श्रिहसा की निर्मल रूप बनाने के लिये प्रहण किये जाते हैं।

पश्चशिखाचार्य जी कहते हैं :--

स खन्त्रयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमाद-कृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति ।

अर्थ — निश्रय यह ब्राधाग (वेदवेत्ता योगी) ज्योंज्यों बहुतन्से व्रतों यम-नियमों को धारण करने की इन्छा करता है व्यर्थात् श्रमुष्ठान करता है त्योंत्यों प्रमाद से किये हुए हिंसा श्रादि के कारणु-रूप पापों से नियत्त हुश्चा उसी श्राहिसा को निर्मल करता है।

ऋहिसा तथा अन्य सब यमों के विपरीत आचरण करने में मुख्य कारण अपने को छोटे से भौतिक शरीर में संक्रुित रूप में देखना है, इमलिये योगियों के लिये तो ऋहिंसा का उचतम स्वरूप प्राणिमात्र में अपनी आत्मा को व्यापक रूप में देखना है। यथा—

यस्तु सर्वाणि भृतान्यात्मन्येवातु-पश्यति । सर्वभृतेषु चात्मानं ततो न विज्ञगुप्सते ॥

(ईशो० ६)॥

अर्थ-जो (साधक) सम्पूर्ण भूतों को (अपनी) श्रात्मा में ही देखता है और समस्त भूतों में भी अपनी श्रात्मा को ही देखता है वह इस (सर्वात्म दर्शन) के कारण ही किसी से घृणा नहीं करता ॥

यस्मिन सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभृद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

अर्थ जिस समय झानी पुरुष के लिये सब मृत (अपनी) आत्मा ही हो गये उस समय एकत्व देखने वाले उस विद्वान को क्या शोक और क्या मोह हो सकता है।

इस विशाल व्यापक दृष्टि के सम्बन्ध में यह शंका न करनी चाहिये कि इस समत्व बुद्धि से तामसी, राजसी प्रकृति वाले प्राणियों के प्रति व्यवहार में कठिनाई श्रावेगी, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य के स्वयं श्रपने श्रन्तः करण में तामसी, राजसी और सास्विक तीनों प्रकार की वृत्तियों का उदय और चय होता रहता है। जिस महान योगी ने इन संकीर्ण भावों को हटा हिया है वह सारे अन्त: करणों तथा उनकी वृत्तियों को अपने ही अन्त:करण और वृत्ति जैसे हृप में देखता है। जिस प्रकार अपनी तामसी, राजसी बृत्तियों के निरोधपूर्वक सान्तिक बृत्तियों के उदय करने का यत्न करता है, इसी प्रकार सारे अन्तः करणों की तामसी राजसी वित्तयों के हटाने (चय करने) श्रीर सास्विक वृत्तियों के उठाने (उदय करने) की चेप्रा करता है।

श्रहिसा का सामान्य रूप सूत्र ३१ के विशेष विचार में देखें।

२. सत्य-वस्त का यथार्थ ज्ञान ही सत्य है। उसका शरीर से काम में लाना शरीर का सत्य है, वाणी से कहना वाणी का सत्य है श्रीर विचार में लाना मन का सत्य है। जो जिस समय जिसके लिये जैसा यथार्थ रूप से करना चाहिये वहीं सत्य है अर्थात् कत्तेव्य ही सत्य है। ऋहिंसा तीनों काल में सत्य है। इस कारण यथार्थ रूप से यथार्थ ज्ञान से ऋहिसा के लियं जो कुछ किया जाने वह सत्य है। यदि कोई पुरुष द्वेष से दिल दुखाने के लिये धन्धं को तिरस्कार के साथ अन्धा कहता है तो यह असत्य है, क्योंकि यह हिसा है, और हिंसा सदा श्रमत्य है, श्री व्यासजी महाराज सत्य की व्याख्या इस प्रकार करते हैं : --

श्चर्यानुकल वाणी श्रीर मन का व्यवहार होना श्रयोत जैसा देखा हो, जैसा श्चनमान किया हो और जैसा सना हो वैसा ही वाणी से कथन करना और मन में धारण करना। दसरे पुरुष में अपने बांध के अनुसार ज्ञान कराने में कही हुई वार्णा यदि धोखा देने वाली. भान्ति करानेवाली अथवा ज्ञान कराने में असमर्थ न हो आर सब प्राणियों के उपकार के लिय प्रवत्त हुई हो: और जिससे किसी प्राणी का नाश, पीड़ा श्रथवा हानि न हो वह सत्य है। यदि इस प्रकार भी कही हुई वाणी प्राणियों का नाश करने वाली हो तो वह सत्य नहीं है बल्कि इस पुरायाभास पुराय के प्रतिरूप पाप से महान् दुःख का प्राप्त होगा। इसलिए अच्छी प्रकार परीचा करके सब प्राणियों के हिताथे सत्य बाले। मनु भगवान ने भी ऐसा हा कहा है:--

सत्यं ब्रूयात्त्रियं ब्रूयाञ्च ब्रूयात् सत्यमिषयम् अर्थ – सत्य बोले, प्रिय बोले, वह सत्य न बोले जो स्राप्तय हो स्रथीत् सत्य को मीठा करके बोले, कटु करक न बोले।

योगियों के लिये तो उच्चतम सत्य का स्वरूप श्रात्म-श्रनात्म, चेतन-जड़, पवित्र-श्रपवित्र, नित्य-श्रनित्य में विवेकज्ञान श्रथीत् श्रात्म। को त्रिगुणात्मक श्रन्त:कर्गा, इन्द्रियों शरीर. विषयों तथा भौतिक जगत् से सबेथा भिन्न, निविकार, निर्लेप, निक्किय, श्रसंग. श्रपरिगामी, कृटस्य, नित्य, ज्ञानस्वरूप विवेकपूर्वक देखना है।

प्रकरियेव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वेशः ।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ गीता १३। २९॥

अर्थ:- जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति से हा किये हुए देखता है तथा आत्मा को अकर्ता देखता है, वही देखता है अर्थात् तत्त्वज्ञानी है।

सत्य का सामान्य रूप सूत्र ३१ के विशेष विचार में देखें।

३. अस्तेय — अन्यायपूर्वक किसी के धन, द्रव्य अथवा अधिकार आदि का हरण करना स्तय है। राजा का प्रजा के नागरिक श्रिधिकार दबाना, ऊँचे वर्ण वालों वा धन-पितयों का नीचे वर्ण वालों श्रीर निर्धनों के सामाजिक तथा धार्मिक श्रधिकारों का छीनना स्तेय हैं । श्रिधिकारिंगणों का रिश्वत लेना, दुकानदारों का निश्चित वा उचित मृत्य से ज्यादा दाम लेना अथवा तोल में कम देना इत्यादि स्तय है। पर इस प्रकार किसी वस्तु को प्राप्त करने का मृत कारण लोभ श्रीर राग है। इस हेतु योगी को किसी वस्तु में राग होना ही स्तेय समभ्तना चाहिये। इसका त्यागना श्रस्तेय है।

श्चस्तेय की ऋधिक व्याख्या के लिये सूत्र ३१ का विशेष विचार देखें।

 अ. ब्रह्मचर्य — मैथुन तथा अन्य किसी प्रकार से भी बीर्य का नाश न करते हुए जितेन्द्रिय रहना स्त्रर्थात् स्त्रन्य सब इन्द्रियों के निरोधपूर्वक 'उपश्चेन्द्रिय' के संयम का नाम ब्रह्मचर्य है। पूर्णतया अझचर्य का पालन वहीं कर सकता है जो ब्रह्मचर्य के नाश करने वाले पदार्थों के मत्तरण तथा कामोद्दीपक दृश्यों के देखने श्रीर इस प्रकार की वार्तात्रों के सुनने तथा ऐसे विचारों को मन में लाने से भी बचता रहे ।

्रांगियों के लिये बद्धाचर्य का वास्तविक स्वरूप रिय अर्थात् अन्न के खींचने के लिये जो प्राणों की आध्यन्तर क्रिया होती है उसी का नाम भूख है, वह वृत्तों पशु, पत्ती आदि और मनुष्यों में समान है। वृत्त प्राणों के अनुकूल ही श्रन्न को खींचते हैं। यही कारण है कि विशेष विशेष वृत्त उन विशेष स्थानों में जहां उनके श्रातुकूल पृथ्वी जलादि में परमाणु नहीं होते हैं नहीं उनते हैं। पत्र श्रादि भी प्राणों के श्रतुकूल ही श्रन्न को खींचते हैं, यदि मनुष्य के कुसंग से इस स्वाभाविक वुद्धि को न खो वैठे हों। किन्तु मनुष्य नाना प्रकार की वासनात्रों से भ्रमित होकर इस विवेक युद्धि को खो देता है कि किस समय प्राणों को किस-किस विशेष रिय अर्थात् अन्न की श्रावश्यकता है। कभी-कभी प्राणों में भी कह विशेष कारणों के श्राधीन होकर वाहर रिय श्चर्यात् अत्र को स्नार आकर्षित होने की आध्यन्तर क्रिया होती है। यही काम विषयवासना के पीछे जाना है। इसके वशीकार हा जाने से ब्रह्मचर्म्य का खंडन होता है। इसलिये योगी के लिये ब्रह्मचर्म्य का वास्तिवक स्वरूप प्राणी पर पूरा श्रधिकार प्राप्त कर लेना है और प्राण श्रादि पश्च वायु श्रन्तः करण का सम्मिलित काये हैं। श्रतः श्रन्तः करण पर पूरा श्रधिकार कर लेना त्रावश्यक है। यह ऋषिकार ब्रह्मनिष्ठा से प्राप्त होता है अर्थात् उस क्रम से ब्रह्मनिष्ठ होना ही पूर्ण ब्रह्मचर्ण्य का उनके लिये वास्तविक खरूप है।

श्चिक जानकारी के लिये सूत्र ३१ का विशेष विचार देखें।

५. अपरिग्रह—धन, सम्पत्ति, भोग-सामग्री अथवा अन्य वस्तुओं को अपनी (शरीर-रत्ता आदि) आवश्यकताओं से श्रधिक केवल अपने ही भोग के लिये स्वार्थ-दृष्टि से सभ्बय या इकट्टा करना परिम्रह है। (श्रावश्यक वह वस्तु है जिसके विना श्रभ्यास श्रथवा धार्मिक कार्य निर्विष्नतापूर्वक न चल सकें अर्थात् जो अध्यात्मोन्नति अथवा धार्मिक कार्यों में साधनरूप से द्यावश्यक हो।) इससे बचना व्यपरिमह है। पर योगी के लिये तो सब से बड़ा परिमह, अविद्या आदि क्लेश, शरीर और चित्त आदि में ममत्व और अहडूार हैं जो सब परिप्रह के भूल कारण हैं। इसके लिये इन सब क्लेशों आदि का न रखना ही अपरिप्रह का लक्ष्मण अभिमत है।

शेष सूत्र ३१ के विशेष विचार में देखें।

संगति — इस प्रकार सामान्यरूप से यमों का निरूपण करके अगल सूत्र में उनकी सबसे ऊँची अवस्था बसलाते हैं :—

जातिदेशकालसमयानविष्ठकाः सार्वभौमा महाजनम् ॥ ३१ ॥

द्यार्थ्यार्थ — जाति-देश-काल-समय-अनवच्छित्रा = जाति, देश, काल, और संकेत 'नियमविशेष' की सीमा से रहित । सार्वभौमाः = सब श्रवस्थाओं में पालन करने योग्य । महात्रतम् = महात्रत है ।

अन्वयार्थ — जाति, देश, काल और समय की हद से रहित सर्व भूमियों में पालन

करने योग्य यम, महाव्रत कहलाते हैं।

च्याख्या — जाति, देश काल श्रौर समय (संकेत, नियमविशेष) को हद से रहित होने का यह श्रभिश्राय है कि इनके द्वारा हिंसा श्रादि यम संकुचित न किये जावें।

जाति द्वारा संकुचित : गौ श्रादि पशु श्रथवा ब्राह्मण की हिंसा न करूँगा।

देश द्वारा संकुचित : हरिद्वार, मथुरा छ।दि तीर्थ में हिंसा नहीं करूँगा । काल से संकुचित : चतर्दशी. एकादशी छादि तिथियों में हिंसा नहीं करूँगा ।

समय द्वारा संकुचितः समय के अर्थ यहाँ काल नहीं है बल्क विशेष नियम या विशेष संकेत के हैं। जैसे देव अथवा ब्राह्मण के प्रयोजन-सिद्ध के लिये हिंसा कहँगा अन्य प्रयोजन से नहीं। इसी प्रकार अन्य यमों को समम लेना चाहिये। अर्थात् समयाविष्ठिष्ठ सत्य-प्राणहरण् आदि के संकट से अतिरिक्त मिध्याभाषण् न कहँगा। समयाविष्ठिष्ठ अस्तेय—दुर्भिन्न के अतिरिक्त वोरी न कहँगा। समयाविष्ठिष्ठ अस्तेय—दुर्भिन्न के अतिरिक्त वोरी न कहँगा। समयाविष्ठिष्ठ अपरिमह्-परिवार के परिपालन के लिये हां प्रविद्य प्रहरण कहँगा।

जब ये यम इस प्रकार की संकीर्णता से रिहत सब जातियों के लिय सर्वत्र सर्वदा सर्विथा पालन किये जाते हैं तो महात्रत कहलाते हैं।

विशेष विचार—(सूत्र २१) इस सूत्र का यह भी भाव है कि यमों का पालन किसी जाति-विशेष या देश-विशेष या काल-विशेष या अवस्था-विशेष के मनुष्यों के लिये नहीं है किन्तु यह भूमएडल पर रहने वाली सभी जाति, देश, काल और अवस्था वालों के लिये पालने योग्य है; इसीलिये ये सार्वभौम महान्नत कहलाते हैं। इससे पूर्व के सूत्र में हमने यमों का वह लक्षण किया है जो योगियों को अभिमत है। अब इस सूत्र के वि० वि० में हम उनका वह विशाल व्यापक और सामान्य स्वरूप दिखलाने का यन्न करेंगे जिसका सम्बन्ध सम्पूर्ण मनुष्य समाज और सारे राष्ट्रों से है।

तीसवें सूत्र की संगति में बतला आये हैं कि यमों का सम्बन्ध केवल व्यक्तियों से नहीं है परन्तु सारे मनुष्य-समाज से हैं, इसलिये सारे मनुष्य इनके पालन करने में इर २४९

समष्टि रूप से परतन्त्र हैं। कोई मनुष्य चाहे वह किसी जाति, देश, काल, व्यवस्था, वर्गाश्रम, मत-मतान्तर का क्यों न हो, यिंद उसे मनुष्य-समाज में रहना है तो उसके लिये ये यम सर्वदा माननीय व पालनीय हैं।

संसार में फैली हुई भयद्भर अशान्ति का केवलमात्र उपाय यमों का यथार्थ रूप से पालन करना है। यम के अथे ही शासन और व्यवस्था रखने वाले के हैं। इनके पालन से संसार की अवस्था ठींक रह सकती है। यह शङ्का कि ज्ञिय शासकादि अहिंसा और गृहस्थी ब्रह्मचर्य का पालन नहीं कर सकते, यमों को यथार्थ रूप से न सममने के कारण उपन होती है उसके निवारणार्थ यमों के स्वरूप को और स्पष्ट रूप से दिखलाने का यक्न करते हैं:—

आहेंसा - जिस प्रकार सारे क्लेशों का मूल श्रविद्या है उसी प्रकार सारे यमों का मूल श्रविद्या है। हिंसा तीन प्रकार की है—(१) शारीरिक, किसी प्राणी के प्राण हरण करना श्रथवा श्रन्य प्रकार से शारीरिक पीड़ा पहुँचाना; (२) मानसिक, मन को क्लेश देना (३) श्राध्यात्मिक, श्रन्तःकरण को मलीन करना। यह राग, हेप, काम, कोध, लोभ, मोह, भर्यादि तमोगु, शृद्धि से मिश्रित होती है, जैसा कि सूत्र तीस की व्याख्या में बतला श्राय हैं। किसी प्राणी की किसी प्रकार की हिंसा करने के साथ-साथ हिंसक श्रपनी श्रात्मिक हिंसी करता है, श्रर्थात् श्रपने श्रन्तःकरण को हिंसा के क्रिष्ट संस्कारों के मल से दूषित करता है, श्रर्थात् श्रपने श्रन्तःकरण को हिंसा के श्रिष्ट संस्कारों के मल से दूषित करता है। इन तीनों प्रकार की हिंसा श्रां में सबसे बड़ी हिंसा श्राध्यात्मिक हिसा है, जैसा कि ईशोपनिषद में बतलाया है:—

श्रमुर्या नाम ते लोका श्रन्धेन तमसाऽऽष्टताः । तांस्ते पेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥

अर्थ -जो कोई त्रात्मघाती लोग है (त्र्यर्थात् त्र्यन्तःकरण् को मलीन करने वाले हैं) ने मरकर उन लोकों में (योनियों में) जात है जो त्र्यपुरों के लोक कहलाते हैं और घने बाँधेरे से ढके हुए हैं त्रर्थात् ज्ञानरहित मृद्ध नीच योनियों में जाते हैं।

शरीर तथा मन की श्रपेक्षा श्राह्मा श्रेष्ठतम है, क्योंकि शरीर श्रीर मन तो श्राह्मा के करण (साधन) हैं, जो मनुष्य को उसके कल्याण्ये दिये गए हैं। इसलिए हिंसक श्रिक द्या का पात्र है, उसके प्रति भी द्वेष श्रथवा बदला लेने की भावना रखना हिंसा है। इसलिय जिस पर हिसा की जाती है उसके तथा हिसक होनों के कल्याण्यथे हिंसा पाप को हटाना चाहिय। योगी में श्रिहिसा श्रत की सिद्धि से श्राह्मिक तंज इतना बढ़ जाता है कि उसकी सिश्चि से ही हिसक हिसा की भावना को त्याग देता है। मानसिक शक्ति बाले मानसिक बल से हिसा को हटा दें, वाचक तथा शारीरिक शक्ति वाले जहां तक उनका अधिकार है उस सीमा तक इन शक्तियों को हिसा के रोकने में प्रयोग करें। शासकों तथा न्यायाधीशों का परम कर्तन्य संसार में श्रहिसा श्रत को स्थापन करना है। जिस प्रकार कोई मनुष्य मदोन्मच अथवा पागल होकर किसी घातक शक्त से जो उसके पास शरीर-रक्का

के लिये है, अपने ही शरीर पर आघात पहुँचाने लगे तो उसके शुभाचित्तकों का यह कर्त्तळ होता है कि उसके हिताये उसके हाथों से वह शख़ हरएा कर ले। इसी प्रकार यदि कोई हिंसक शरीर-रूपी शख़ से जो उसको उसकी आत्मा के कत्याणार्थ दिया गया है, दूसरों को तथा अपनी ही आत्मा को हिंसारूपी आघात पहुँचा रहा है और अन्य किसी प्रकार से उसका सुधार असम्भव हो गया है तो अहिंसा तथा उसके सहायक अन्य सब यमों की सुज्यवस्था रखने वाले शासकों का परम कर्त्तच्य होता है कि उसके शरीर का उससे वियोग कर दें। यह कार्य अहिंसा त्रत में बाधक नहीं है वरन् अहिंसा अत का रचक और पोषक है।

पर यदि यह कार्य हेपादि तमोगुणी वृत्तियों अथवा बदला लेने की भावना से मिश्रित है तो हिंसा की सीमा में आ जाता है। अहिंसा के स्वरूप को इस प्रकार विवेक-पूर्वक समम्मना चािवये कि सत्त्वरूपी धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्थ (श्रेष्ठ भावनाओं) के प्रकाश में अहिंसा तथा उसके अन्य सब सहायक यमों में; और तमरूपी अधर्म, अज्ञान, खवैराग्य और अनैश्वर्थ (नीच भावनाओं) के अन्धकार में हिंसा तथा उसके सहायक अन्य चारों वितर्कों में श्रवृत्ति होती है। धर्म-श्वापन के लिये युद्ध करना चृत्रियों का कर्त्तव्य है उससे बचना हिंसारूपी अधर्म में सहायक करना है।

स्वधमेषि चावेच्य न विकम्पितुमहैसि । धर्म्योढि युद्धार्ड्येयोऽन्यत्त्त्तत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥ गीता अ० २

श्रर्थ—स्वधर्म को समजकर भी तुमे हिचिकिचाना उचित नहीं है क्योंकि धर्मयुद्ध की श्रपेछा चत्रिय के लिये श्रीर कुछ श्रप्रिक श्रेयस्कर नहीं हो सकता।

यहच्छया चोपपश्चं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।

मुखिनः चित्रयाः पार्थं लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥६२॥ गीता भ० २

अर्थ—हे पार्थ ! यों श्रवने-श्राव प्राप्त हुआ श्रीर मानो स्वर्ग का द्वार ही खुल गया हो, ऐसा युद्ध तो भाग्यशाली चत्रियों को ही मिलता है। वेद में भी ऐसा वतलाया गया है। यथा:—

ये युध्यन्ते मधनेषु शूरासो ये तनृत्यनः ।

ये वा सहस्रदत्त्रिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतातु ॥

अर्थ — जो संद्रामों में लड़ने वाले हैं, जो अरवीरता से अरीर को त्यागने वाले हैं, द्रीर वे जिन्होंने सहस्रों दिव्यायें दी हैं तु उनको (द्र्यांतु उनकी गति को) भी प्राप्त हो।

श्रपनी दुर्बलता के कारण अयभीत होकर श्रात्याचारियों के श्रात्याचार सहन करना, श्रपनी धन-सम्पत्ति को चार डाकुओं से हरण करवाना, श्रपने समस्र श्रपने परिवार, देश, समाज श्रथवा धर्म को दुर्जनों द्वारा श्रपमानित देखना श्राह्म नहीं है, बल्कि हिंसा का पोषक कायरता-रूपी महापाप है। इतना बतला देना और श्रावस्यक है कि चात्रधर्मानुसार तेजस्त्री बीर ही श्रह्मिंस अत का यथार्थ रूप से पालन कर सकता है। दुर्बल, हरपोक, कायर, नपुन्सक हिंसकों की हिंसा बढ़ाने में भागी होता है।

उदारणार्थ डाकू संगठन और मृत्य से निर्भयता इन दो शक्तियों को लेकर निकलते हैं। जो पुरुष मृत्यु के भय से अपना धन और सम्पत्ति विना मुकाबिला किये हुए आसानी से दे हेते हैं. वे उनके दसरे खानों में डाका डालने श्रीर लटने के उत्साह श्रीर हिम्मत को बढ़ा कर उनके इस प्रकार की हिंसा में पाप के भागी बनते हैं। जो वीर पुरुष उनसे श्रधिक मृत्य से अभयरूप श्रात्मवल श्रीर संगठनरूप हिन्य शक्ति रखते हैं श्रीर संगठित होकर निर्भयता के साथ उन डाकुओं का मुकाबिला करते हैं, वे अपने प्राणों को खोकर भी उन अत्याचारियों के दूसरे स्थानों में डाका डालने के उत्साह और हिम्मत को कम करते हैं, वे उनकी हिंसा को घटा कर श्राहिसा रूपी पराय के भागी बनते हैं। यदि वे इस संग्राम में सफल होते हैं तो अपने धन और सम्पत्ति के ऐश्वर्य्य को भोगते हैं और यदि बलिदान होते हैं तो खर्ग को प्राप्त होते हैं। भारतवर्ष के चत्रियों में यह प्रथा थी कि जब वे अत्याचारी विधमी यवनों के मुका-बिले में अपने धर्म और देश को बचाने की कोई आशा न देखते थे तो उनके छोटे बच्चे और क्षिणं आग की चिता में भस्म हो जाती थीं श्रीर वे वीर ज़त्री हाथों में तलवारें लेकर एक-एक सैकड़ों अत्याचारियों को तलवार के घाट उतार कर बिल हो जाते थे। इस प्रकार धर्म श्रीर देशरता के परमकर्त्तव्य को श्रपने श्रन्त समय तक पूरा कर जाते थे। पर इस वीरता के साथ-साथ उनमें एक संकीर्णता और खार्थ का दुरीए। भी था जो उन्होंने असंख्य गरीब और नीची जाति कहलाने वाले श्रपने भाइयों को उनके धार्मिक, सामाजिक, नागरिक, राष्ट्रीय श्रीर धार्थिक अधिकारों से विश्वत करके उनके अन्दर से मनुष्यत्त्व के अभिमान के संस्कार तक को निकाल दिया था। यह स्तेयरूप पाप ही उनकी असफलता का कारण हुआ। यदि वे इस स्वार्थमय संकीर्ण दृष्टि का परित्याग करके इन सब श्रसंख्य भाइयों में श्रपनी जैसी शर वीरता तथा धर्मप्रेम श्रीर देशभक्ति उत्पन्न करने का यत्न करते तो बहुत सम्भव है कि भारतवर्ष का इतिहास आज के इतिहास से कुछ और ही विचित्र रूप में लिखने योग्य होता । संसार में सारे राष्ट्रों की स्वतन्त्रता का भी मूल उपाय यही हो सकता है कि पराधीन राष्ट्र के सारे व्यक्ति संगठित रूप में निर्भय होकर यह हुढ संकल्प कर लें कि यदि जीना है तो स्वतन्त्र राष्ट्र के वायुमएडल में ही श्रास लेंगे अन्यथा स्वतन्त्रता की देवी पर बलि ह्रो जाएंगे ।

श्राहिसा श्रीर सत्य के श्रवतार महात्मा गांधीजी ने जब एक गाय के बह्न है की श्रात्यन्त क्रग्णावस्था में सारे शरीर में कीड़ पड़ जाने श्रीर उसका कष्ट श्रसहनीय हो जाने पर उसके बचने की कोई सम्भावना न देखी तो उनकी सस्वप्रधान बुद्धि ने इसी को बिवेक-पूर्ण श्राहिसा निश्चय किया कि उसको उस श्रसहनीय कष्ट से बचाने के लिये किसी श्रीषधि द्वारा शीघ उसके रुग्ण शरीर को पूथक् कराने में सहायता की जावे। पर यही कार्य यदि कोई चिकित्सक रोगी की चिकित्सा से तंग श्रावर श्रथवा उसका कोई सम्बन्धी उसकी सेवा-शुश्रुधा से बचने के लिये तमरूपी प्रमाद से करे तो वह धोर हिंसा में प्रमुत्त हो जावेगा। एक राष्ट्र-द्वारा श्राहिसा महाव्रत के पालच का सबसे बड़ा उदाहरण सम्राट श्रशोक के समय में मिलता है।

सर्वसाधारण के लिये अहिंसारूप व्रत के पालन करने में सबसे सरल कसीटी यह है "Do to others as you want others do to you" अर्थात् दूसरों के साथ

व्यवहार करने में पहिले यह भली प्रकार जांच लो कि यदि तुम इनके स्थान पर होते और वे तुम्हारे स्थान पर तो तुम उनसे किस प्रकार का व्यवहार कराना चाहते। बस वैसा ही तुम उनके साथ व्यवहार करो। यही सिद्धान्त सत्य और श्रस्तेय श्रादि यमों में भी घट सकता है।

सत्य—यह अहिंसा का ही रूपान्तर है। सत्य का व्यवहार केवल वाणी से ही नहीं होता है जैसा कि साधारण मनुष्य समम्ति हैं। सूत्र तीस की व्याख्या में सत्य का वास्तिवक खरूप दिखलाते हुए हमने बतलाया है कि कर्तव्य ही सत्य है। इसलिये जो मनुष्य प्रत्येक प्राणी के प्रति जिस अवस्था और जिस काल में वह हो उसके प्रति अपन्य कर्त्तव्य यथार्थरूप से समम्तता है और उसका यथार्थरूप से पालन करता है बही सत्यव्रती है। राजा हरिश्रन्द्र ने अपने पुत्र रोहिताश्व की मृत्यु का शोक और अपनी क्षी को घोर विपदा में अपने समस् खड़ी हुई देखकर उसका मोह छोड़कर अपने खामी चाएडाल के प्रति कर्त्तव्य को समभा और उसका पालन किया। यह उनके सत्य की अन्तिम परीचा थी जिसने उनका नाम सदा के लिये अमर कर दिया। यदि प्रत्येक मनुष्य अपने कर्त्तव्यक्ष्पी सत्य-व्रत को पालन करने लगे तो संसार की अशान्ति स्वतः ही दर हो सकती है।

कई अविवेकी पुरुष दूसरों के हृदय को पीड़ा पहुँचाने वाले वचन कहने में अपने सत्यवादी होने का घमएड करते हैं। इस सम्बन्ध में हम केवल एक ऐतिहासिक घटना

का वर्णन कर देना पर्याप्त सममते हैं।

युधिष्ठिर के राजस्ययं समाप्ति पर मयदानव चित्रकार द्वारा स्कटिक की बनाई हुई युधिष्ठिर की आश्चयंजनक सभा में जल को थल, थल को जल, दीवार को दरवाजा, दरवाजे को दीवार इत्यादि समम्ति हुए दुर्योधन को स्थान-स्थान पर ठोकर स्वाते हुए देखकर पाएडवों और द्वीपदी का उसका उपहास करना तथा परिहास से यह शब्द कहना कि हे महाराज घृतराष्ट्र (अन्धे) के पुत्र ! देखों द्वार इघर है, जिन में इन छिपे हुये अर्थों से उसके दिल को चोट पहुँचाने की भावना थी कि अन्धों के अन्धे ही पुत्र होते हैं" (महाभारत सभापवें अ० २० ऋोक २४) हिंसारूपी असत्य था, जिसका कल महाभारत का युद्ध और उससे भारत का सर्वथा पतन दुआ।

इसी प्रकार, महाभारत में कर्णपर्व की एक घटना है। एक समय कर्ण से परास्त होने के पश्चात् युधिष्ठिर ने अर्जुन को कर्ण-वध के निमित्त उसके गायडीव धतुष को धिकार कर उत्तेजित किया कि 'हे अर्जुन ! तेरे गांडीव धतुष, बाहु-वीर्य, केसरी-सुत हतुमान से श्रक्कित ध्वा और अग्निदत्त रथ को बार-बार धिकार है। तुम अपने गांडीव धतुष को जो तुमसे बलवान होने का दावा करे, इस मित्र-राजा को सौंप दो।' अर्जुन ने यह शतिहा कर रखी थी कि जो उसको धिकार कर यह कहेगा कि तुम अपने गायडीव धतुष को किसी

ट्सरे को दे दो क्योंकि वह तुमसे बलवान हैं उसको वह मार डालेगा। इसलिने उसने अपनी प्रतिज्ञा पालन करते हुए युधिष्ठिर का वध करने के लिये अपनी तलवार खींच ली। उस समय कृष्ण ने अर्जुन को सत्य का खरूप इस प्रकार बतलाया कि 'हें अर्जुन ! अज्ञानी केवल शब्द के स्थृल रूप को देखते हैं पर ज्ञानी उसके सुक्ष्म खरूप अर्थ को देखते हैं और उसके ही अनुसार व्यवहार करते हैं। तेरी प्रतिज्ञा केवल गायडीव धनुष को धिकारने वाले का वध करने की थी, और धिकारना अपमान के लिये देसमाव से होता है। पर युधिष्ठिर ने गायडीव धनुष की प्रश्नास और मान बढ़ाने के लिये प्रेममाव से तुम्में उत्ति करके कर्ण को वध करने के लिये यह शब्द कहे हैं। इसलिये युधिष्ठिर के शब्दों के यह अर्थ नहीं लिये जा सकते; और उसका मारना असलय है। फिर भी यदि तु

होती है, वहीं उनके लिये मृत्यु के महरा है, उसी से उसको मार ।' राष्ट्र को सब परिध्वितियों को ध्यान में रखते हुए योगीश्वर कृष्ण भगवान् सत्यभाषण् को व्यवस्था का उपरेश श्राजन को यहाभारत कर्णपूर्व श्रध्याय ६९ में इस प्रकार करते हैं:—

त्राज्ञानियों के सहश रूढ़िवार में हां पड़ना चाहता है तो मारना केवल शका से श्रौर स्थूल शरीर का ही नहीं होता। युधिष्ठिर झानी है, शरीर उसके लिये कपड़े के तुस्य है, उसके शरीर का प्रथक होना उसके लिये मृत्यु नहीं है। वाणी की चोट शका से श्राधिक तीक्ष्ण

नहि धर्मविभागः कुर्यादेवं धनंजय !।

यथा त्वं पाएडवायेह धर्मभी दरपिएडत: ॥ १७ ॥

क्रर्थ — हे धनश्वय ! धर्भ के विभाग को जानने वाला ऐसा नहीं किया करता जैसा कि तम हे पाएडव, श्राज यहाँ धर्मभीरु श्रौर श्रज्ञानी हो रहे हो ।

श्रकार्याणां कियाणां च संयोगं यः करोति वै।

कार्याणामिकवाणां च स पार्थे ! पुरुषाथमः ॥ १८ ॥

अर्थ —जा श्रकार्यों (न करने योग्य कामों) का क्रिया के साथ संयोग करता है, (अमल में लाता है) श्रीर कार्यों (करने योग्य कामों) का श्रक्रिया से संयोग करता है (अनुष्ठान नहीं करता) हे पार्थ ! वह श्रथम पुरुष है।

अनुसत्य तु ये भ में कथयेयु वपस्थिताः।

समासविस्तरविदां न तेषां वेतिस निश्चयम् ॥ १६ ॥

अर्थ --जं। धर्मातुष्ठान करने वाले (आमिल लोग) हुद्रेता से (निश्चयपूर्वक) धर्म का निरूपण करते हैं उन संचेप और विस्तार से जानने वालों के निश्चय को तुम नहीं जानते।

श्चनिश्चसक्को हिन्दः कार्याकार्यविनिश्चये।

अवशो ग्रुवाते पार्थं ! यथा त्वं मृद एव तु ॥ २०॥

अर्थ-कर्त्तव्याकर्तस्य के निश्चय से हीन मृद्र मनुष्य, हे पार्थ ! तुन्हारी तरह अवस्य ही भूत करता है।

निह कार्यमकार्ये वा छुलं झातुं कथंचन । अतेन ज्ञायते सर्वे तच त्वं नावबुध्यसे ॥ २१॥

अर्थ — कर्त्तन्य और श्रकर्त्तन्य किसी प्रकार भी सुख-पूर्वक (श्रासानी से) नहीं जाना जाता, यह सब-कुछ तो वेद और शास्त्रों के श्रवण से जाना जाता है, तुम इस बात को नहीं जानते।

अविज्ञानाद् भवान्यच धर्मे रत्तति धर्मेवित् । प्राणिनां स्वं वर्धे पार्थे ! धार्मिको नावबुध्यसे ॥ २२ ॥

अर्थ—हे धर्मवित् कौन्तेय ! तुम धर्म के तत्त्व को बिना जाने धर्म की रज्ञा करना चाहते हो। धार्मिक वृत्ति वाले भी तुम, प्राण्यियों का वध कब करना चाहिये, यह नहीं जानते।

> पाणिनामवधस्तात!सर्वेज्यायान् मतो मप। अनुतां वा वदेद्वाचं न तु हिस्यात् कथंचन॥ २३॥

अर्थ—हे तात ! प्राणियों का न मारना ही सब से श्रेष्ट है मेरा यह मत है (निश्चय है) चाहे भूठ बोल दे परन्तु हिसा कभी न करें।

स कथं भ्रातरं ज्येष्ठं राजानं धर्मकोविदम् । इन्याद भवाचरश्रेष्ठ माक्रतोऽन्यः पुमानिव ॥ २४ ॥

अर्थ—सो तुम श्रेष्ठ पुरुष दूसरे श्रज्ञानी मनुष्य की तरह, धर्मतत्त्व के ज्ञाता राजा श्रौर बड़े भाइ को किस प्रकार मारत हो।

> अयुध्यमानस्य वधस्तथाऽरात्रोश्च मानद्! पराङ्ग्रुखस्य द्ववतः शरग्यं चापि गच्छतः॥ २५॥ कृतांजलेः मपन्नस्य ममत्तस्य तथैव च। न वधः पृष्यते सद्धिस्तच सर्वे ग्रुरौ तव॥ २६॥

अर्थ — जो युद्ध नहीं कर रहा है, जो शशु नहीं है, हे मानद! जो पाठ दे चुका है— जो युद्ध से भाग रहा है, जो शरण में आ रहा है, जो हाथ जोड़े सामने आया है (आपद्-प्रस्त है) और जिसका बुद्धि ठिकाने नहीं है, भल आदमी इनके वध को अच्छा नहीं कहते; और यह सब-कुछ तुम्हारे पूज्य (युधिष्ठिर) में विद्यमान है।

त्वया चैवं व्रतं पार्थे ! बालेनेब कृतं पुरा । तस्मादधर्मसंयुक्तं मौरूर्यात्कर्मे ब्यबस्यसि ॥ २७ ॥

हे पार्थ ! तुमने पहले जो यह प्रतिक्षा की है, वह सो बरुचों की-सी है। उसी से अपनी मुर्खता के कारण अधर्म-युक्त कार्य करने का निश्चय कर रहे हो।

स ग्ररुं पार्थे ! कस्पात्त्वं इन्तुकामोऽभिधावसि । असम्प्रधार्य घर्माणां गति सूचमां दुरत्ययाम् ॥ २८ ॥

अर्थ — थर्मों की सूक्ष्म और दुरत्यय गति का निर्णय न करके, हे पार्थ ! तुम अपने बड़े भाई को क्यों मारने को दौड़ते हो ?

> सन्यस्य बदिता साधुर्ने सत्याद्विधते परम् । तत्त्वेनेव सुदुर्क्षेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम् ॥ ३१॥ भवेत्सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनुतं भवेत् । यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यं चाप्यनृतं भवेत् ॥ ३२॥

अर्थ--सत्य का वक्ता साधु है, सत्य से उत्तम ऋछ नहीं है। (तुम) देखो व्याव-हारिक सत्य तत्त्व से ही दुर्विज्ञेय है। जहां भूठ सत्य हो जाय श्रीर सत्य भूठ हो जाय, वहां सत्य बोलना श्रकत्तेच्य हो जाता है श्रीर श्रमृत कर्त्तव्य हो जाता है।

सर्वस्त्रयापशरे तु वक्तव्यमहतं भवेत्। तत्राहतं भवेत्सस्यं सत्यं चाप्यहतं भवेत्।। ताहशं पश्यते बालो यस्य सत्यमनुष्ठितम् ॥ ३४ ॥ भवेत्सत्यमबक्तव्यं न बक्तव्यमनुष्ठितम् । सत्याहते विनिश्चित्य ततो भवति धमेवित्॥ ३५ ॥

अर्थ—(दुराचारी हिसक द्वारा) सर्वस्त्र हरण उनस्त्रित होने पर मूठ ही बोलना योग्य होता है (भूठ बोलना कत्तेत्र्य बन जाता है) वहां पर मूठ सत्य और सत्य मूठ हो जाता है । जो सत्य का अनुष्ठान करना चाहता है, ऐसे बालक को सत्य का यही तत्त्व समम्भना चाहिये । यदि कहीं पर सत्य बात का न कहना ही ठीक हो तो वहां पर किये हुए सत्य को नहीं ही कहना चाहिये । इस प्रकार मूठ और सत्य के तत्त्व को निश्चय करके मनुष्य धर्मवित् होता है । यथा चाल्पश्रुतो मुद्दो धर्माणामऽविभागवित्

> द्वद्धानपृष्ट्वा सन्देई महरुक्ष्यभ्रमिवाईति । तत्र ते लज्ञ्णोद्देश: कश्चिदेवं भविष्यति ॥ ४४ ॥ दुष्करं परमं ज्ञानं तर्केणानुभ्यवस्यति ॥

अर्थ — जो मनुष्य विद्वान् पुरुषों से पूछकर सन्देह का निराकरण नहीं कर लेता है वह श्रज्ञान के बड़े भारी गड़ढ़े में ही पड़ा रहता है। इसलिये यहां डुछ धर्म के लक्षण और उदेश्य को मैं तुमे कहता हैं। धर्म का ज्ञान बड़ा दुष्कर है, तर्क से ही उसका निश्चय हो सकता है।

श्रुतेर्धर्म इति होके पदन्ति चहवो जना:। तत्ते न मस्यम्यामि न च सर्वे विषीयते ॥ ४४ ॥

अर्थ-बहत-से लोग ऐसा कहते हैं कि श्रति से धर्म का ज्ञान होता है। तेरे सामने में इसका खराडन नहीं करता । किन्तु श्रुति से सभी-कुछ नहीं निश्रय हो सकता (देश, काल और परिश्वित अनुसार कहीं तर्क का भी आश्रय लेना पडता है)।

> मभवार्थाय भूतानां धर्मेश्वचनं कृतम् । यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥ अहिंसार्थीय हिंस्नांणां धर्मेमवचनं कृतम् ॥ ५७॥

अर्थ-प्राणियों की रचा के लिये धर्म का प्रवचन किया गया है। जो श्रहिंसा से यक्त है वहीं धर्म है, यह तू निश्रय समक । धर्म का प्रवचन तो हिंसकों की भी ऋहिंसा के लिये किया गया है।

धारणाद धर्मिमत्याहर्धमी धारयते मजाः। यत्स्याद्र धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्रयः ॥ ५८ ॥

अर्थ--धर्म प्रजा को धारण करता है (व्यवस्था में रखता है), धारण करने से ही उसे धर्म कहते हैं। जो धारण (कर्म) संयुक्त है (प्रजा को व्यवस्थित रखता है) वह धर्म है, यह (शास्त्रों का) निश्रय है।

ये न्यायेन जिहीर्षन्तो धर्मेमिच्छन्ति कहिंचित् । श्रकुजनेन मोत्तं वा नानुकुजेत कथंचन ॥ ५६ ॥ श्रवश्यं कुजितव्ये वा शंकेरकृष्यकुजितः। श्रेयस्तत्रानृतं वक्तं तत्सत्यपविचारितम् ॥ ६० ॥

अर्थ - जो न्यायानुकूल आचरण को ही धर्म का लच्चण मानते हैं उनका मत है कि यदि कहीं न बोलने से (चुप रहने से) ही छुटकारा होता हो तो वहाँ कभी न बोले (चुप रहे), यदि बोलना आवश्यक ही हो जाय या न बोलने से शक पैदा होता हो तो वहाँ मूठ बोलने में ही श्रेय है; वह बिना विचारे (नि:सन्देह) सत्य ही कहलाता है।

यः कार्यभ्यो व्रतं कृत्वा तस्य नानुपपादयेत् ।

ततफलपदामोति एवमाहुर्मनीषिणः ॥ ६१॥ अर्थ-जो किसी काम की प्रतिज्ञा करके उसको अनेक प्रकार से (विधि में हेर-फेर करके) करता है मननशील कहते हैं कि वह उसके फल को नहीं पाता।

प्राग्णात्यये विवाहे वा सर्वद्वातिवधात्यये। नर्भग्रयमभिष्रवसे वा न च मोक्तं मृषा भवेत् ॥ ६२ ॥

अर्थ-प्राणों पर संकट आने पर, विवाह-काल में, सर्व ज्ञाति का अत्यन्त वध डप्रियत होने पर वा हँसी बजाक के समय मूठ कहा मूठ नहीं होता। 33

अधर्मे नाम्न पश्यन्ति धर्मतत्त्वार्थेदर्शिनः।

यस्तेनैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शुपर्थेर्ग ॥ ६३ ॥

अर्थ-जोकि चोरों के साथ पाला पड़ने पर (मूठ) शपथें ले लेकर भी उपने को उनके हाथ से छुड़ाले तो धर्म के तत्व को जानने वाले इसको अधर्म नहीं कहते।

श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमविचारितम्।

न च तेभ्यो धनं देयं शक्ये सित कथंचन ॥ ६४ ॥

अर्थ —चोर आदि से सम्बन्ध पड़ने पर मूंठ बोलना अच्छा है, वह बिना विचारे सत्य ही है। सामर्थ्य होते उनको किसी प्रकार भी धन नहीं देना चाहिये।

पापेभ्यो हि धूनं दत्तं दातारमि पीडयेत्।

तस्माद् धर्मार्थमतृतमुक्त्वा नातृतभाग्भवेत् ॥ ६५ ॥

अर्थ—पापियों को दिया धन दाता को भी दुःख देता है। इस कारण धर्म के लिये भूंठ बोलकर भी मनुष्य भूंठा नहीं होता।

> एव ते लक्त्योदेशो मयोदिष्टो यथाविषि । यथा धर्मे यथा बुद्धिः मयाद्य वै हितार्थिनः ॥ ६६ ॥ एतच्छत्या बृहि पाथे यदि वध्यो युधिष्ठिरः ॥

अर्थ-में तुम्हारा हितैर्पा हूँ, आज में ने यह धर्म का लक्षण और उद्देश्य बुद्धियूर्वक विधि-सहित धर्मानुसार कह दिया। इसको सुनकर, यदि युधिष्ठिर वध के योग्य है तो तुम ही कह तो, (अर्थात् वध के योग्य नहीं है)।

राजा श्रान्तो विज्ञतो दुःखितश्च कर्णेन संख्ये निशितैषीणसंघैः । यथानिशं सृतपुत्रेण वीर ! शरैर्भृशं ताहितो युध्यमानः ॥ ७६ ॥ धतस्त्वमेतेन सरोपमुक्ता दुःखान्वितेनेदमयुक्तरूपम् । स्रकोपिता स्रेप यदि स्म संख्ये कर्णे न इन्यादिति चात्रवीत् सः ॥७७ ॥

भर्थ — राजा युधिष्ठिर युद्ध में कर्ण के तेज बाग्यसमृह से घायल हुआ दुःखी और धक गया था; और हे बीर ! युद्ध करते हुए उस पर सूत्वुत्र निरन्तर खूब बाग्य चला रहा था, अतः दुःख से युक्त उस युधिष्ठिर ने रोष में आकर यह अयुक्त-रूप बचन तुमको कहा है। उसने इसलिये ऐसा कहा है कि यदि अर्जुन कुपित न होगा तो युद्ध में कर्ण को नहीं सार सकेगा। (युधिष्ठिर के कथन का अभिन्नाय तुम्हारे या गाएडीव के अपमान करने का नहीं है अपितु तुमको जोश दिलाकर कर्ण का बध कराना है)।

जानंति तं पाएडव एष चापि पापं लोके कर्र्यमसञ्चयः। ततस्त्वमुक्तो भृशरोषितेन राज्ञा समसंपद्यपाणि पार्थ!॥ ७८॥ अर्थ—हे पाएडव ! राजा युधिष्ठिर यह भी सममते हैं कि यह पापी कर्ण लोक में अन्य वीरों से असह है। हे पार्थ ! इसीलिये क्रोधातुर धर्मराज ने तुम्हारे सम्मुख ही तुमको यह कठोर वचन कहे हैं।

नित्योद्युक्ते सततं चापसद्ये कर्णे द्यतं द्वाच रणे निषद्धम् । तस्मिन् इते कुरवो निर्फिताः स्युरेषं बुद्धिः पार्थिवे धर्मपुत्रे ॥ ७६ ॥ अर्थ-- नित्य उदात चौर ऋत्यन्त च्रसद्य कर्णे के भरोसे पर ही च्राज युद्ध में बाजी लगी है, इसके मरने पर कौरव हार जायेंगे; महाराज धर्मपुत्र का यह ऋभिप्राय है।

ततो वधं न।हेति धर्मेषुत्रस्त्वया प्रतिक्वार्जुन पालनीया । जीवन्नयं येन मृतो भवेद्धि तन्मे निवोधेष्ठ तवानुरूपम् ॥ ८०॥ अर्थ —श्रतः धर्मपुत्र त्रयं के योग्य नहीं है, हे ऋर्जुन ! तुमको प्रतिक्वा पालन करनी चाहिये। जिस बात से यह जीते ही मृतवत् हो जाय वह (उपाय) तुम्हारे अनुरूप है, यहाँ मक्तसे समक्त लो।

यदा पानं लभते पाननाईस्तदा स वै जीवति जीवलोके । यदावमानं लभते पहान्तं तदा जीवन मृत इत्युच्यते स: ॥ ८१ ॥ अर्थ – जबतक माननीय पुरुष मान पाता रहता है तबतक ही वह संसार में जीवा है; और जब वह महा अपमान को प्राप्त होता है तब वह जीते-जी मरा कहा जाता है।

सम्मानितः पार्थिवोयं सदैव त्वया च भीमेन तथा यमाभ्याम् । दृद्धैश्र लोके पुरुषेश्र श्रूरेस्तस्यापमानं कलया पर्युच्व ॥ ८२ ॥ अर्थ—यह राजा युधिष्ठिर सदा ही तुमसे, भीम, सहदेव और नकुल से तथा अन्य वृद्ध और श्रूवीर पुरुषों से लोक में सम्मनित रहा है। तुम इसका कुछ थोड़ा-सा अपमान करलो।

> त्विमत्यत्र भवन्तं हि ब्र्हि पार्थे युधिष्ठिरम् । त्विमत्युक्तो हि निहतो ग्रहभैवति भारत्।। ८३ ॥

अर्थ - हे पार्थ ! तुम युधिष्ठिर को 'श्राप' के स्थान में 'तू' कहकर बुला लो । जो पूज्य होता है वह 'तू' कहकर बुलाने से ही सत के तुल्य हो जाता है।

> एवमाचा कौन्तेय ! धर्मराजे युधिष्ठिरे । अधर्मयुक्तं संयोगं कुकवैनं कुरूदृह ! ।। ८४ ॥

अर्थ — हे कीन्तेय ! तुम यही व्यवहार धर्मराज युधिष्ठिर के साथ करो, हे कुरूढ़ह ! इनके साथ यह अधर्म-संयुक्त व्यवहार ही करो (इनके अपमान के लिये तुम्हारा इतना व्यवहार ही पर्याप्त है)।

अथर्वागिरसी होषा श्रीतनाष्ट्रत्तवा श्रुतिः । अक्षित्रार्थेव कार्येषा श्रेयस्कामेर्नरेः सदा ॥ ८५ ॥

अर्थ—अथर्बाद्गिरसी यह श्रुति सारी श्रुतियों में उत्तम है। आत्म-कल्यांग के इन्छुक मनुष्यों का यह बिना विचारे ही करनी चाहिये।

भवधेन वधः पोक्तो यद् गुरुं त्विमिश्विम्प्रसः। तदः ब्रहि त्वं यन्मयोक्तं धर्मराज सः धर्मवित् ॥ ८६॥

अर्थ—प्रभुको जो कि 'तू' कहनाहै, यह उसका विनावध के ही वध है। हे धर्मक्क ! जो मैंने कहाहै वही तू धर्मराज को कह दे।

वधं श्वयं पाएढव ! धर्मराजस्त्वचोऽयुक्तं वेत्स्यते चैवमेव । ततोस्य पादावभिवाद्य पश्चात् समंब्रद्याः सान्त्वियत्वा च पार्थम् ॥ ८७॥

अर्थ हे पाएडव ! यह धर्मराज इस प्रकार 'तू' कहे हुए को अनुषित समक ले तब तुम सब इनके चरणों में अभिवादन करके पृथापुत्र युधिष्ठिर को सान्त्वना के बचन कहना (सान्त्वना देना)।

भ्राता पाइस्तव कोपं न जातु कुर्योइ राजा धर्ममवेच्य चापि। ग्रक्तोऽनृतादु भ्रातृवधास पार्थ ! हृष्टः कर्यो त्व जहि सृतपुत्रम् ॥ ८८ ॥

अर्थ-बुद्धिमान् भाई धर्म को देखते हुए तुम्हारे उत्पर कोप कभी नहीं करेंगे। हे पार्थ ! तुम मृठ त्रौर श्रात्वध से रहित होकर प्रसन्नता-पूर्वक सूत्रपुत्र कर्ण को मार लेना।

शास्त्र के श्रनुसार निरपराधी जीवों की हिसा को रोकना सब से बड़ा सत्य है। कल्पना करो कि कुछ लोग डाकुश्रों से पीछा किये जाने पर तुम्हारे समन्न किसी गुप्त स्थान में लिप जावें और उनके प्रधान डाकू श्राकर तुम से पूछें कि वे श्रादमी कहां गए हैं ? इस अवसर पर तुम्हारा क्या कर्तव्य होगा। ऐसी श्रवस्था में प्रत्येक मनुष्य का श्रपनी श्रपनी सामर्थ्यानुसार हिंसकों की हिसा हटाना और निरपराधी की सहायता करना परम कर्त्तव्य होगा श्रयान् श्रहसाप्रतिष्ठित योगी श्रपने श्रात्मवल से हिसकों की हिंसाधृत्ति का दमन करें। यथा "श्रहसाप्रतिष्ठित योगी श्रपने श्रात्मवल से हिसकों की हिंसाधृत्ति का दमन करें। यथा "श्रहसाप्रतिष्ठियां नत्सिश्रधी वैरत्यागः।"

सम्मोहन और संकल्पशक्ति से युक्त मनोविज्ञानी मानसिक प्रेरणा से हिंसकों की हिंसा वृक्ति को हटावें। वाक्शक्ति में निपुण वक्तागण हिंसकों को इस पाप से बचने का उपदेश दें। शक्तविद्या में कुशल योद्धागण अपने शारीरिक वैल से हिंसकों की हिंसा हटाने का यह करें।

यदि तुम में उपर्युक्त कोई भी सामर्थ्य नहीं है और श्रपनी मृत्यु से भी डरते हो तो ऐसी परिस्थिति में मनु महाराज, योगीश्वर भगवान् कृष्ण श्रीर नीतिशास इस प्रकार व्यवस्था देते हैं:—

"नापृष्टः कस्यचिद् बयाम चान्यायेन पृच्छतः। जानमपि हि मेधावी जहबङ्कोक ऋ।चरेतु"।। (मनु २ । ५२० ॥)

अर्थ:—जब तक (हिंसक) कोई प्रभ न करे तब तक कुछ न बोलना चाहिये और यदि हिंसक अन्याय से पूछे तो भी उत्तर न देना चाहिये। या जानते हुए भी पागल के समान कुछ हां, हूं कर देना चाहिये और यदि इससे भी काम न चले और हिंसक को इस आचरण से शंका होने की सम्भावना हो तो:—

"अवश्यं कृजितच्ये वा शंकेरक्षप्यकृजितः।

श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत्सत्यमिवचारितम् ॥'' (महाभारत कर्णपर्व) अर्थः—स्त्रौर यदि बोलना स्त्रावश्यक ही हो जावे या न बोलने से शक उत्पन्न हो तो वहां मृठ बोलने में ही श्रेय है। वह बिना क्विगरे (निःसंदेह) सत्य ही है। तथा—

सत्यस्य बचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वेदत् ।

यद्भतहितमस्यन्तं एतत्सस्यं मतं मम ॥ (महा० भा० शान्ति पर्व ॥)

अर्थ: सत्य बोलना अन्छा है परन्तु सत्य से भी एसा बोलना अन्छा है जिससे सब प्राणियों का (वास्तविक) हित हो क्योंकि जिससे सब प्राणियों का अत्यन्त

(वास्तविक) हित होता है वह हमारे मत में सत्य है।

यहां इस बात को भली प्रकार समफना चाहियं कि व्यहिंसा (अपने वास्तविक स्वरूप में) तीनों काल में सत्य है। इसलियं व्यहिंसा के लियं नियामित सीमा तक जो कुछ भी किया जाए और कहा जाए वह करना व्योर कहना सत्य रूप ही है न्यांकि जिस समय जिसके लियं जैसा करना चाहियं या कहना चाहियं अर्थान् कर्तव्य ही सत्य है। इसी बात को यहां शास्त्रकारों ने दर्शाया है किन्तु इसको सांसारिक लाभ तथा संकट और आपित के अवसर पर असत्यभाषण में समर्थक समफने की भूल कदाप न होनी चाहियं क्योंकि यहां अवसर सत्य की परीचा के होते हैं सत्य की महिमा इस प्रकार बतलाई गई है:—

"श्रयमेधसइसं च सत्यंच तुलया धृतम्।

श्चश्वमेधसङ्खाद्धि सत्यमेव विशिष्यते ॥"

अर्थ:—हजार अश्वमेध और सत्य की तुलनाकी जावेती सत्य ही अधिक रहेगा। तथा चः—

''आत्महेतोः परार्थे वा नर्भहास्याश्रयात्तथा।

ये मृषा न बदन्तीइ ते नराः खर्ग-गामिनः"।।

अर्थ: — जो लोग इस जगत में खार्थ के लिये, परार्थ के लिये या हंसी में भी कभी भूठ नहीं बोलते उन्हीं को खर्ग की प्राप्ति होती है। इसी के स्पष्टीकरण के लिये महा-भारत में बतलाया गया है कि धर्मावतार युधिष्ठर महाराज ने संकट के समय में एक ही वार " नरो वा कुंजरों वा " "मनुष्य अध्यवा हाथी" कहा था जिस के फलस्वरूप धनका पृथिवी से चार श्रंगुल ऊपर चलने वाला रथ साधारण रथों के समान पृथिवी पर चलने लगा। श्रोर श्रन्त में उनको एक चणा के लिये नरक में भी रहना पड़ा! श्रजुन को शिख्यस्डी को सामने खड़ा करके भीष्म पितामह को तीरों द्वारा वध करने के फलस्वरूप अपने पुत्र वश्रवाहन से पराजित होना पड़ा।

अस्तेय -श्रस्तेय सत्य का ही रूपान्तर है। केवल ब्रिपकर किसी की वस्तु श्रथवा धन का हरण करना ही स्तेय नहीं है जैसा कि साधारण मनुष्य समभते हैं। भूख से तंग श्राकर उदर-पूर्ति के लियं चोरी करने वाला निर्धन स्त्रेय पाप का इतना श्रधिक श्रपराधी नहीं है जिनने कि निम्नथ्रेणी वाले सम्पत्तिशील।

- (१) मंकीर्ण हृदय, सुवर्ग, ऊँची जाति कहलाने वाले, समृद्धिशाली, अपने को धर्म का ठेकेदार समफने वाले जो नीची जाति कहलाने वाले निधनों के धार्मिक, सामाजिक, नागरिक अधिकारों का हरण करने हैं (धार्मिक अधिकारों का हरण करना सबसे बड़ा स्तेय और महापाप हैं। क्योंकि ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति और आस्पोन्नति करना मनुष्यमात्र का न केवलजनम सिद्ध अधिकार ही है, प्रस्युत मनुष्य देह का यही एक मुख्य उदेश्य भी है।)
- (२) श्रत्याचारी राज। जो प्रजा के राजनौतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा नागरिक अधिकार हरण करता है।
 - (३) लोभी जमीदार जो ग़रीब किसानों से श्रत्याचार द्वारा धन प्राप्त करते हैं।
- (४) लोभी फैक्ट्रियों के मालिक जो मजदूरों को पेटभर श्रन्न न देकर सब नका अपने पास रखते हैं।
- (५) लोभी साहकार जो दूना सूद लेते हैं और ग्ररीबों की जायदाद को श्रपने इप्रिकार में लाने की चिन्ता में रहते हैं।
- (६) धोक्षेवाज व्यापारी जो वस्तुर्ज्ञों में मिलावट करके घोखा देकर श्राधिक लाभ कमाना चाहते हैं।
- (७) रिश्वतस्त्रार न्यायाधीश तथा अन्य ऋषिकारी-गण् जो वेतन पाते हुए भी कर्तव्य पालन में प्रमाद करते और रिश्वत लेते हैं।
 - (८) वकील जो कंवल फीस के लोभ से मुठे मुकद्दमे लड़वाते हैं।
 - (९) लोभी वैद्य जो रोगी का ध्यान न रखकर केवल फीस का लोभ रखते हैं।
- (१०) वे सारे मनुष्य जो श्रन्यायपूर्वक किसी भी श्रनुचित रीति से धन, वस्तु श्रथवा किसी मी श्रन्य लाभ को प्राप्त करना चाहते हैं।

इस समय सारे राष्ट्रों में जो बड़े आन्दोलन चल रहे हैं वे अस्तेय व्रत के यथार्थ रूप से पालन करने से शान्त हो सकते हैं।

ब्रह्मचर्य-शारीरिक, मानसिक, सामाजिकादि सारी शक्तियां ब्रह्मचर्य पर निर्भर हैं। एक खत्थ शरीर के सदश ब्रह्मचर्य को पालन करता हुन्ना सारा मनुष्य समाज सुख श्रीर शान्ति को प्राप्त होता है। २५ वर्ष तक श्राबंड ब्रह्मचारी रहने के पश्रात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके शास्त्रानुसार केवल सन्तानोत्पत्ति के लिये ऋतुसमय पर स्त्रीसंयोग करने से ब्रह्मचर्य ब्रत नहीं टूटता है, श्रार्थात् गृहस्थाश्रम में रहत दुये भी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन हो सकता है।

प्राचीन पाश्चात्य देशों में ब्रह्मचर्य व्रत का पूर्ण राष्ट्र द्वारा पालन किये जाने का उत्तहरण यूनान के स्पाटी देश में मिलता है जिसके फलखरूप थर्मापिल के युद्ध में ईरानी उत्तहरण यूनान के स्पाट चैरक्सीचा Xerxes (ईरानी नाम के खुसरो) के तीन लाख सौनिकों को केवल तीन सौ स्पार्टा के वीर ब्रह्मचारियों ने अपना बलिदान देकर आगे बहुने से रोक कर सारे यूनान की स्वतन्त्रता को स्थिर रखा था।

अपरिग्रह इस व्रत का यथार्थ रूप से पालन न होने के कारण ही धन सम्पत्ति त्रादि का ठीक-ठीक विभाग नहीं है। किसी के पास सैकड़ों मकान खाली पड़े हुये हैं, किसी के पास रात में सोने के लिये एक छोटी सी भोंपड़ी भी नहीं है। किसी के पास खत्तियों

श्रमाज भरा हुआ है, कोई भूखा मर रहा है। इत्यादि-इत्यादि।

थोड़े से व्यक्तियों का अपनी आवश्यकताओं से अधिक सम्पत्ति तथा सामग्री रखकर उसको अपने तथा दूसरों के निमित्त यमों का पृरा ध्यान रखते हुए अनावश्यक रूप से व्यय करने में भी समाज की इतनी हानि नहीं है जितनी कि hoarding and locking up कंजूसी से संग्रह करने और उसको बिना काम में लाये बन्द रखने से होती है। क्योंकि धन सम्पत्ति आदि सामग्री जब व्यय अर्थात् काम में लायी जाती है तो उसका अंश किसी न किसी रूप से सारे समाज में बँट जाता है।

यदि हर-एक मनुष्य के पास केवल उसी की आवश्यकताओं के अनुसार ही सारी कम्युचें रहें तो कोई मनुष्य निर्धन, भूखा और वेघर न रहेगा। इस समय आपरिप्रहन्नत के कुछ अंदा में पालन करने वाले रूस देश U. S. S. R. का उदाहरण हमारे समन है। यद्यपि वह भी अपरिप्रह का यथाथे स्वरूप नहीं है और अनेक दोषों, शुटियों तथा नास्तिकता से गुक्त है।

संगति—सर्व समाज से सम्बन्ध रखने वाले धर्म रूप यमों का वर्णन करके अब

वैयक्तिक धर्मरूपी नियमों को बतलाते हैं-

शौचसंतोषतपः स्वाध्येश्वरमणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

शुद्धार्थ – शौच, सन्तोष, तप, स्त्राप्याय (श्रीर) ईश्वरप्रशिधान नियम हैं । ब्यास्या – शौच दो प्रकार का है – बाह्य श्रीर श्राभ्यन्तर ।

बाह्य—मृत्तिका, जल आदि से पात्र, वस्त्र, स्थान आदि को पवित्र रखना तथा मृत्तिका जल आदि से शरीर के अंगों को शुद्ध रखना, शुद्ध सात्तिक नियमित आहार से शरीर को सात्त्वक, नीरोग और स्वस्थ रखना। वस्ती, धौती, नेती आदि तथा औषधि से शरीर कोधन करना ये बाह्य शौच हैं।

आभ्यन्तर—ईर्प, अभिमान, घृषा, अस्या त्रादि मलों को मैत्री (१।३१) आदि से दूर करना, बुरे विचारों को शुद्ध विचारों से हटाना, दुर्व्यवहार को शुद्ध व्यहार से हटाना मानसिक शौच है। अविद्या आदि क्लेशों के मलों को विवेक द्वारा दूर करना चित्त का शौच है।

सन्तोप सामर्थ्यातुसार उचित प्रयक्ष के पश्चात् जो फल मिले अथवा जिस अवस्था में रहना हो उसमें प्रसन्नचित्त बने रहना और सब प्रकार की तृष्णा का छोड़ देना सन्तोष है।

सन्तोषं परमास्थाय मुखार्थी संयतो भवेत् । सन्तोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विषयेयः ॥ मनु॰ ४। १२

अर्थ . मुख का अर्था परम सन्तोष को सहारा लेकर अपने-आप को संयम में रक्खे, क्योंकि सन्तोष सुख की जड़ है और इसका उल्टा (श्रसन्तोष) दुःख की जड़ है।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि सत्त्व के प्रकाश में चित्त की प्रसंज्ञता का नाम सन्ताप है न कि तम के अन्धकार में चित्त का आलस्य तथा प्रमादरूपी आवरण, जिसको सांच्य में तुष्टि कथा है।

श्राध्यात्मिकाश्रतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।

बाह्या विषयोपरमात् पंच नव तृष्ट्यो श्रभिमताः ॥ सांख्यकारिका ५०

अर्थ – तुष्टियाँ (भोज्ञापि से पहिले हो सन्तुष्ट हो जाना) नौ मानी गई हैं, चार आध्यात्मिक हैं, जिनके नाम प्रकृति, उपादान, काल और भाग्य हैं; और पांच बाह्य हैं जो विषयों में उपराम से होती हैं।

चार आध्यात्मिक तुष्टियाँ—१ इस भरोसे पर कि प्रकृति खर्य पुरुष के भोग-व्यवनों के लियं काम कर रही है। व्यात्ममाचान् के लिये धारणा, ध्यान श्रौर समाधि का श्रभ्यास न करना प्रकृति-तुष्टि है।

२ इस भरोसे पर कि सैन्यास के प्रहण से स्वयं श्रपवर्ग प्राप्त हो जावेगा, यह करने की द्यावश्यकता नहीं, उपादान-तष्टि है।

३ इस विचार से कि सब काम काल-आधीन हैं, समय श्राने पर अपवर्ग स्वयं प्राप्त हो जावेगा, यह न करना काल-तृष्टि है।

४ जब भाग्य में होगा स्वयं मुक्ति प्राप्त हो जावेगी, इस भरोसे पर यन न करना

भाग्यतुष्टि है ।

बाह्यतुष्टि: मांच के बाह्य साधनों में इस भय से प्रमाद और व्यालस्य करना कि इन्द्र, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, इन पांचों विषयों में पांच प्रकार के दुःख होते हैं अर्थात् इनके प्राप्त करने में दुःख, रचा में दुःख, भोग में दुःख और दूसरे की हिंसा का दुःख। यहां तुष्टियों का वर्णन इस उदेश्य से दिया है कि कोई अध्यासी-जन अविवेक के कारण कहीं तुष्टि ही को सन्तोष न समक वैठें। तप—जिस प्रकार अश्वविद्या का कुशल सारथी चश्चल घोड़ों को साधता है इसी प्रकार शरीर, प्राय, इन्द्रियों और मन को उचित रीति और अश्यास से वशीकार करने को तप कहते हैं, जिससे सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, मुख-दु:ख, हर्प-शोक, मान-अपमान आदि सर्व इन्द्र अवस्था में विना विचेप के योग-मागे में प्रवृत्त रहे। शरीर में व्याधि तथा पीड़ा, इन्द्रियों में विकार और चित्त में अप्रसन्नता उत्तन करने वाला तामसी तप योग-मागे में निन्दित तथा वर्जित है। तप की विशेष व्याख्या इस पाद के सूत्र एक के विव वव में देखें।

स्वाध्याय — वेद, उपनिषद् शादि श्रीर श्रध्यात्म-सम्बन्धी विवेकज्ञान उत्पन्न करने वाले योग और सांख्य के सत्-शास्त्रों का नियमपूर्वक श्रध्ययन और श्रोंकार सिंदत गायत्री श्रादि मन्त्रों का जप स्वाध्याय है। इस की विशेष व्याख्या इस पाद के सूत्र एक के विश् व॰ में देखें!

ईश्वरप्रणिधान-ईश्वर् की मक्ति-विशेष अर्थात् फलसहित सर्वे कर्मी की उसके

समर्पण करना ईश्वरप्रणिधान है।

ईश्वरप्रशिधान का फल श्री वेद्व्यास जी ने ख्रपने भाष्य में इस प्रकार बतलाया है: — शृष्यासनस्थोऽय पथि व्रजन्ना स्वस्थः परिज्ञी खितक जालः । संसारबीजज्ञयमीज्ञपाणः स्थाश्वरययुक्तोऽप्रतभोगभागी ॥

अर्थ—जो योगी शन्या तथा श्रासन पर बैठा हुआ वा मार्ग में चलता हुआ वा एकान्त में खित हुआ हिसाहि वितके-रूप जाल को नष्ट किए हुए ईश्वरप्रिधान करता है वह संसार के बीज श्रविद्या श्राहि क्लेशों के चय का श्रवुभव करता हुआ नित्य परमात्मा में गुक्त हुआ श्रवुक के मोग का भागी होता है श्रयीन् जीवन्युक्ति के सुख को प्राप्त होता है। सब नियमों में ईश्वरप्रिधान मुख्य है। तथा सब नियमों को ईश्वर-समर्पेश-रूप से करना श्रेयस्कर है। यथा:—

ब्रह्मचर्यपहिंसा च सत्यास्तेयापरिप्रहात । सेवेत योगी निष्कामो योग्यतां मनसो नयन् ॥ स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान् । कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवर्णं मनः॥

अर्थ-- नद्दाचर्य, श्राहसा, सत्य, श्रास्तय और श्रापरमहका सेवन करें। जिसेन्स्थि इन्द्र मन योगी स्वाध्याय, शीच, सन्तोष, तप इनका पर बद्धा में श्रापेण करे।

विशेष व्याख्या इस पाद के सूच एक के विशेष वक्तव्य में देखें। विशेष वक्तव्य

॥ सूत्र ३२ ॥

38

बिना शुद्ध निर्विकार नीरोग श्रीर खस्य शरीर के योग साधन कठिन है। इसिक्रप्र क्रिप्रेर्शोधन संभा शरीर के विकार श्रीर रोग निवृत्ति के चार साधन बढला देना अक्टिय प्रतीत होता है। इन चार साधनों में से (१) हठ योग की छः क्रियायें (२) प्राकृतिक चिकित्सा (३) सम्मोहन और संकल्पशक्ति को इस विरोध वक्तव्य में और चौथे श्रीषधियों को साधन पाद के श्रन्त में परिशिष्ट रूप में दिखलाया जावेगा।

विशेष वक्तव्य - हठ योग की छः क्रियाओं द्वारा शरीर-शोधन-हठयोग में शरीर-

शोधन के छः साधन बतलाये हैं :-

षौतिर्वस्तिस्तथा नेतिनौतिकि त्राटकस्तथा। कपालभातिर्वेतानि षटकर्माणि समाचरेत्॥ (गौरक्षसंहिता)

ऋर्थ-धौति, वस्ति, नीति, नौली, त्राटक और कपालभाति, इन छ: कर्मी को (शरीर-शोधन के निमित्त) करे।

इन कमों को विशेष रूप से किसी जानने वाले से ही सीखना चारिये। यहाँ पाठकों

की जानकारी के लिये उनका साधारण रूप से वर्णन किया जाता है:-

१ घोति — घोति तीन प्रकार की होती है: वारिघोति, ब्रह्मताने और वासघोति। वारि-घोति अर्थात् कुछर-कर्म: खाली पेट लइग्ए-मिश्रित गुनगुना पानी पीकर छाती हिलाकर वमन की तरह निकाल दिया जाता है। इसको गजकरणी भी कहते हैं क्योंकि जैसे हाथी सूंड से जल खींचकर फेंकता है उसी प्रकार इसमें जल को पीकर निकाला जाता है। आरम्भ में पानी का निकालना कठिन होता है। तालु से ऊपर छोटी जिह्ना को सीधे हाथ की दो अंगुलियों से दवान से पानी निकलने लगता है।

ब्रह्म-दातीन: सुत की बनी हुई बारीक, मोम से चिकनी की हुई रस्सी के टुकड़े को अथवा रबढ़ की ट्यूब को, लवर्र-मिश्रित गुनगुने पानी को खाली पेट पीने के पश्चात् बिना बाँत लगाये गले से द्रथ के चूंट के सदश निगला जाता है, फिर खाती हिलाकर उसको

निकाल सारे पानी को वमन के सदश निकाल दिया जाता है।

वास-घौति (वक्ष-घौति): घौति चार घंटाल चौड़ी, सोलह हाय लम्बी, बारीक मलमल-जैसे कपड़े की होती है। खाली पेट लक्ष्य-मिश्रित गुनगुना पानी पीने के पश्चाम् पानी अथवा आरम्भ में दूध में भीगी हुई घौति के एक सिरे को घंटाली से हलक में ले जाकर बिना दांत लगाय शनै:-शनै: दूध के घूंट के सहश निगला जाता है। आरम्भ में निगलना किन होता है चौर उत्तरी आती है इसलिये एक घूंट गुनगुने पानी के साथ निगली जाती है, प्रथम दिन एक-साथ ही नहीं निगली जा सकती है, शनै:-शनै: अध्यास बदाया जाता है। सब घौति निगलने के पश्चान् कुछ खंश गुंह के बाहर रखना पहना है। कुछ देर बाद नौली को चालन करके घौति तथा सब पिये हुए पानी को वमन के सहश निकाल विया जाता है। इन कियाचों से कफ और पिस रोग दूर होकर शरीर हुद्ध चौर हल्का हो जाता है। सन मुगमता से एकाप्र होने लगता है।

इस क्रिया को अत्यन्त सावधानी के साथ करना चाहिये । धौती को तह करके पानी मैं भिगोना चाहिये । जितना भाग अन्दर ले जाना हो उसकी चार तह करते जावें । इस बात का भ्यान रहे कि अन्दर जाकर धौती चलफते न पावे, क्योंकि उसके निकालने में दिक्त होगी। यदि असावधानी से कभी ऐसी श्यित हो जावे तो तुरन्त धौती को वापस खाना शुरू कर दें। दो तीन इन्च खाकर पुनः निकालना प्रारम्भ करें इससे अन्दर उलभी हुई धौती सुलफ जायेगी यदि इस प्रकार भी न निकले तो कोई वमन करने वाली औषधि आदि खालें।

घेरएड-सहिता में धौति कर्म के चार निम्न भेद बतलाए हैं :--

(१) अन्तर्यों ति, (२) दन्त-धौति,(३) हृद्धौतिः और (४) मूलशोधन।

(१) अन्तर्धौति : इसके भी चार भेद बतलाए हैं— (क) वातसार, (स) वारिसार,

(ग) वहिसार श्रीर (घ) बहिब्कृत ।

(क) वातसार अन्तर्जीति : मुख को कौए की चोंच के सदृश करके अर्थात् होनों होठों को सिकोइकर धीरे-धीरे वायु का पान करे, यहाँ तक कि पेट में वायु पूर्णतया भर जावे। फिर वायु को पेट के अन्दर चारों और सञ्चालित करके धीरे-धीरे नासिकापुट द्वारा निकाल दे, इसे काकी मुद्रा और काकी प्राणायाम भी कहते हैं।

फल: हरय, करठ और पेट की व्याधियों का दूर होना, शरीर का शुद्ध तथा निर्मल होना, क्षुधा की बृद्धि, मन्दाग्नि का नाश, फेफड़ों का विकाश, करठ में सुरीलापन होना।

बीर्य के लिये भी लाभदायक बतलाया गया है।

(ख) वारिसार अन्तर्धौति : इसमें मुख-द्वारा धीरे-धीरे जल पीकर करठ तक भर लिया जाता है। फिर उदर में चारों खोर संचालित करके गुदामार्ग-द्वारा बाहर निकास दिया जाता है।

फल : देह का निर्मल होना, कोष्ठबद्धता तथा पेट के आमादि सब रोगों का दूर

होना, शरीर का शुद्ध होकर कान्तिमान होना बतलाया गया है।

(ग) वहिनसार अन्तर्वौति : नाभि की गांठ को मेरुप्र में सौ बार लगाये, स्त्रर्थात् उदर को इस प्रकार बार-बार फुलावे-सिकोड़े कि नाभि-प्रनिथ पीठ में लग जाया करे। इससे

चदर के समस्त रोग नष्ट होतं हैं और जठराप्रि प्रदीप्त होती है। (अनुभूत)

(घ) बहिन्कृत अन्तर्जीति : कीए की चींच के सदश मुख बनाकर इतनी मात्रा में वायु को पान करें कि पेट भर जावे, फिर उस वायु को डेढ़ घराटे तक (अथवा यथाशिक) पेट में धारण किये रहे। तत्पश्चात् गुदामार्ग-द्वारा बाहर निकाल देना बतलाया गया है। जब तक आधे पहर तक वायु को रोकने का अभ्यास न हो जावे तबतक इस किया को करने का यक न करें, अन्यथा वायु के कुपित होने का भय है।

फल: इससे सब नाड़ियां शुद्ध होती हैं। जैसी यह किया कठिन है वैसे ही इसका

लाभ सकथ्य तथा धगम्य वतलाया गया है।

(२) दन्त-धौति : यह भी चार प्रकार की होती है—(क) दन्तमूल, (ल) जिह्नामूल (ग) कण्रेन्छ और (ঘ) कपालरन्छ ।

 (क) दन्तमृत पौति : सैर का रस, सूसी मिट्टी अथवा अन्य किसी भौषि-विशेष से दांवों की जड़ को अच्छी प्रकार साफ करें ।

- (खं) जिह्नामूल-धौत: तर्जनी, मध्यमा और श्रनामिका श्रंगुलियों को गले के भीतर डालकर जीभ को जड़ तक बार-बार धिसे। इस प्रकार धीरे-धीरे कफ के दोष को बाहर निकाल दे।
- (ग) कर्णरन्ध्र-धौति: तर्जनी और अनामिका अंगुलियों के योग से दोनों कानों के छिद्रों को साक करे, इससे एक प्रकार का नाद प्रकट दोना बतलाया गया है।
- (ब) कपालरन्ध-थीति : निद्रा से उठने पर भोजन के खन्त में और सूर्य के खस्त होने पर सिर के गढ़े को दाहिने हाथ के खंगूठे द्वारा प्रतिदिन जल से साफ करे, इससे नाड़ियां खन्छ हो जाती हैं और दृष्टि दिन्य होती है।
- (३) हद्धौति : इसके तीन भेद हैं (क) दग्रड-धौति, (स्र) वमन-धौति श्रौर (ग) वासो-धौति।
- (क) त्यडधौति: केले के द्यड, इत्दी के दंड, चिकने बेंत के द्यड, श्रथवा बटवृत्त की अटा डाढ़ी को धीरे-धीरे हृदयस्थल में प्रविष्ट करते, फिर हृदय के चारों श्रोर घुमाकर युक्तिपूर्वक बाहर निकाल दे। इससे पित्त, कफ, श्रकुलाहट श्रादि विकारी मल शहर निकल जाते हैं और हृदय के सारे रोग नष्ट हो जाते हैं। इसको भोजन के पूर्व करना चाहिशे।

नोट—इसको उपर्युक्त ब्रह्म-दातौन समकता चाहियं श्रीर उसी विधि के श्रनुसार करना चाहिये।

- (ख) वनन-घौति: भोजन करने के पश्चात् करछ तक पानी पीकर भरले और थोड़ी देर तक ऊपर की ओर देखकर उस पानी को मुख-ारा बाहर निकालदे। पानी करठ के अन्दर न जाने पावे। कफ-दोष और पित्त-दोष दूर होते हैं।
- (ग) वासधौति (वस्त्रधौति): चार श्रंगुल चौड़ा और पन्द्रह हाथ का बारीक वस्त्र किंचित् उच्या (गर्म) जल से भिगोकर गुरु के बताये हुए क्रम से श्रर्थात् पहिले दिन एक हाथ, दूसरे दिन दो हाथ, तीसरे दिन तीन हाथ अथवा इससे न्यूनाधिक युक्तिपूर्वक धीरेधीरे ही बाहर निकाल दे। इसको भोजन के पहिले करना चाहिये। इससे गुल्म, ज्वर, द्वीहा, कुछ एवं कफ-पिक्त आदि अन्य विकार नष्ट होते हैं। इसका वर्णन ऊपर आचुका है। (ज्वर की अवस्था में न करे)
- (४) मूलशोधन (गर्णेश-क्रिया): कबी मूली की जब से अथवा बीच की अंगुली से यक्तपूर्वक सावधानी से बार-बार जल द्वारा गुदामार्ग को साफ करें। इसके पश्चात् छुत, मक्खन उस स्थान पर लगाना अधिक लाभदायक है। जब एक अंगुली का अभ्यास हो जाबे तब दो का, कर सकते हैं इससे उदर रोग का काठिन्य दूर होता है। आम-जनित एवं अजीर्ण-जनित रोग उत्यन्न नहीं होते और शरीर की पुष्टि और कान्ति की वृद्धि होती है। यह जठराप्ति को प्रदीप करती है। इससे सब प्रकार के अर्थ-रोग तथा वीर्यदोष भी दूर होते हैं।

२ वस्ति—वस्ति मृलाधार के समीप है। इसके साफ करने के कर्म को वस्तिकर्म कहते हैं। एक चिकनी नली को गुवा में लेजाकर नौलि-कर्म की सहायता से गुवामार्ग द्वारा वस्ति में जल चढ़ाया झौर निकाला जाता है। साधारणतया इस किया का करना कठिन है। इसके स्थान पर एनिमा से काम लिया जा सकता है। इससे आंतों का मल जल के साथ मिलकर पतला हो जाता है श्रीर शीघतापर्वक बाहर निकल जाता है।

जल चढ़ाने के पूर्व सिरिख (एक झीशे की पिचकारी जो अंग्रेजी दवा की दकानों पर मिल सकती है) द्वारा गुदा में तेल चढ़ाना प्रशस्त है। एनिमा के अभाव में सिरिका द्वारा ग्लिसरीन चढ़ाने से भी मल तथा श्राँव के निकालने में वही लाभ हो सकता है। वस्ति में रोगानुसार भिन्न-भिन्न क्वाथादि चदाये जाते हैं, पर साधारण रीति गुनगुने जल में साजुन और लक्स अथवा पोटैशियम परमेंगनेट (कुँवे में डालने की दवा) मिलाने की है।

घेरगडसंहिता में वस्ति का निरूपण इस प्रकार है :-

वस्ति के दो भेव हैं: एक जल-वस्ति और दूसरी पवन-वस्ति (ध्यल-वस्ति अथवा

जष्क-वस्ति) ।

्र जल-वस्ति (ज्ञालन-कर्म) : किसी बड़े पात्र में नाभिपर्यन्त जल भरवाकर, स्रथवा नदी, तालाव आदि जिनका जल शुद्ध हो, उत्कटासन लगाकर बैठ जाय, गुदामार्ग का श्राकुष्यन श्रीर प्रसारण करे अर्थात् उसी जल के श्रन्दर उत्कटासन से वैठा हुन्ना गुदा को इस प्रकार सिकोड़े ब्रौर फैलावे जैसे ब्यश्वादि मल-त्याग के पश्चात् किया करते हैं। इससे प्रमेह, कोष्ठ की करता आदि रोग दूर होते हैं।

पवन-वस्ति (स्थल-वस्ति, शुष्क-वस्ति) : भूमि पर पश्चिमोत्तान होकर लेट जाय फिर अश्विति मुद्रा द्वारा धीरे धीरे विस्त का चालन करे अथवा गुदामार्ग का आकुश्वन और प्रसारण करे। इसके अभ्यास से जठराग्नि भ्रदीप्त होकर उदरगत आम, वात आदि रोगों

को नष्ट कर देती है।

३ नेति - (क) नेति-कर्म के लिये महीन सूत के दस-पन्द्रह तार से बटी हुई एक डोरी की आवश्यकता होती है, जिसका एक किनारा नोकदार और मोम लगा हुआ होता है। नेति को पानी में भिगोकर उसके नोकदार सिरे को एक हाथ से नासिका द्वारा गले में लेजाकर दूसरे हाथ से पकड़ा जाता है तत्पश्चात् एक दो वार अन्दर बाहर चला कर मुख से निकाल दिया जाता है। इसी प्रकार दूसरे नासिका छिद्र से। इस क्रिया से मस्तिष्क तथा गले की सफाई, नाक, कान, ब्यॉब्ब, दाँव के दर्द दूर होते हैं ब्यीर नेत्र की ब्योति बढ़ती है। बारीक मलमल के कपड़े की भी नेती बनाई जा सकती है!

(स) जल-नेति: कम से दोनों नासिका-छिद्रों से जल को पीत हुए मुंह से अथवा

दसरे नासिकापट से निकालने से होती है।

(ग) कपालनेति मुंह में पानी भरकर नासिका-छिद्रों से निकालने से होती है। नोट-नासिका-छिद्रों द्वारा पानी पीने से भी यही लाभ होता है।

४ नौली —चारम्भ में इस क्रिया-को एक-साथ करना कठिन है। इमलिये तीन भागों में विभक्त करके इसका प्रयास करने में सुगमता होती है।

पहिला भाग—सीधा खड़ा होकर उदर का वायु बाहर निकालना । दोनों हाथों से दोनों घुटनों को दबाकर पूरा उड़ीयान करके अर्थात् पेट को बिल्कुल पीठ से मिलाकर दोनों नलों को उभारा जाता है। प्रथम पूरे चड़ीयान का अध्यास पका करना होता है। उसके पश्चात् नल स्वयं बाहर उठने लगते हैं।

दूसरा भाग – एक-एक नल को बारी-बारी से निकाला श्रीर घुमाया जाता है।

पहिले नल निकालने का अध्यास किया जाता है उसके पश्चात् घुमाने का ।

तीसरा भाग—दोनों नलों को बाहर निकालकर पहिले एक और से फिर दूसरी ओर से युमाया जाता है।

इस किया को शौच से निवृत्त होकर खाली-पेट करना चाहिये।

फल : यह क्रिया हठयोग की छ: क्रियाओं में सबसे उत्तम मानी गई है। इससे गोला, तिल्ली, मन्दान्नि, श्राम, वात, पेट का कड़ापन पेचिश, संप्रहर्णी श्रादि पेट के सब

रोग दूर होते हैं तथा वात, पित्त कफ त्रिदोष एक-साथ दूर होते हैं।

प त्राटक किसी सुखासन से बैठकर घातु या परेथर की बनी हुई किसी छोटी बीज अथवा काराज पर काला विन्दु बनाकर बिना पलक मत्रकाय देखते रहना त्राटक है। स्फटिक (विल्लोर) के यन्त्र पर त्राटक करने से किसी प्रकार की होने नहीं हो सकती, नेत्र को ज्यांति बद्दती है, स्वास्थ्य सुधरता है, मन, स्थिर होता है, जिस शान्त और प्रसन्न होता है, यदि किसी इप्टमन्त्र के साथ किया जावे तो उसमें शीघ सफलता हाती है। रात्रि के समय मोमबत्ती अथवा तिल के तेल की बत्ती का प्रकाश स्फटिक पर डालते हुए त्राटक करना अधिक लाभदायक है। यन्त्र पर श्वास-प्रश्वास की गति की भावना करते रहने से पिहले बहि: किसपता, तत्परचान निरन्तर अभ्यास से बहि: अकल्पिता वृत्ति की सिद्धि प्राप्त हो सकती है। (३-४३) त्राटक के अभ्यास से नेत्र और मस्तिष्क में उष्णता बद्द जाती है, इसलिये इस किया के करने वाले को नेति, जलनेति तथा नेत्रों को त्रिफला, हद अथवा गुलाब के पानी से घोना चाहिय; और नेत्र का व्यायाम अर्थात् शान्ति-पूर्वक दृष्टि को वार्षिक अर्थ-नीचे शनै:-शनै: चलाने की किया करना चाहिए।

कई आचार्यों ने त्राटक के तीन भेद बतलाए हैं :--

(क) त्रान्तर त्राटक : नेत्र बन्द करके भूमध्य, हृदयु, नाभि त्रादि श्रान्तरिक स्थानों

में चक्षुवृत्ति की भावना करके देखते रहना आन्तर त्राटक है।

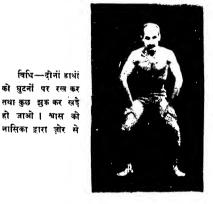
(ख) मध्य-त्राटक : किसी धातु अथवा पत्थर की बनी हुई वस्तु पर अथवा काली स्याही से कागज पर लिखते हुए त्रो३म् अथवा बिन्दु पर अथवा नासिकाम-भाग अथवा भूमध्य अथवा अन्य किसी समीपवर्ती लक्ष्य पर खुले नेत्रों से टकटकी लगाकर देखते रहना मध्य-त्राटक है।

(ग) बाह्य त्राटक: चन्द्र, प्रकाशित नत्त्रत्र, प्रातःकाल व्वय होते हुए सूर्य व्यथवा अन्य किसी ट्रवर्ती लक्ष्य पर दृष्टि स्थिर करने की क्रिया को बाह्य त्राटक कहते हैं ।

६ कपालभाति-धेरएडसंहिता में कपालभाति के तीन भेद दिखलाये हैं :-

वेठ ५७०

उड्डियान



बाहर निकाल कर पेट को अन्दर छे जाओ। यहाँ तक कि अभ्यास करते-करते पेट बिल्कुल पीठ के साथ जाकर लग जाए।

नीली किया

विधि — उड्डियान के
ठीक ही जाने पर उसी
अवस्था में ही पेट के
मध्य की दोनों नलों
को बाहर निकालने का
प्रयत्न करों। जब दोनों
मसल निकालने-निकालने
बारीक हो जायें तो एक
को अम्बर दवा कर बारी-



बारी से एक-एक निका-लने का प्रयक्त करो। जब एक-एक अच्छी तरह निक-लने लगें तो किर धुमाने का प्रयक्त करो। यह किया पेट के लिये जितनी लाम-प्रद है उतनी ही कठिन मी है। अनः इसे किसी अनुभवी गुरु से ही सीचना चाहिये।

(क) वातकर्म कपालभाति, (स) व्युत्कर्म कपालभाति, (ग) शीतकर्म कपालभाति ।

(क) वातकर्म कपालभाति : युखासन से वैठकर दाहिने हाथ के अंगूठ से दाहिने नथुने को किष्कत् दशकर बांगे नथुने से बलपूर्वक वायु को अन्दर खींचे और बिना रोके हुए तुरन्त ही अनामिका और किनश्चिक अंगुलियों से बांये नथुने को बन्द करके दाहिने नथुने से पूरी वायु को लिकाल दे; इसी प्रकार दाहिने नथुने से पूरी वायु को लिकाल दे; इसी प्रकार दाहिने नथुने से वायु खींचकर बांए से लिकाल । इस प्रकार अत्यन्त शीशता से कमशः रेचक, पूरक प्राणाथाम को कपालभाति कहते हैं। आरम्भ में दस बार करे, फिर शनै:-शनै: बढ़ाता जावे। इससे नाड़ीशोधन सिद्ध होता है मह्तिक और आमाशय की शुद्धि होकर पाचनशक्ति प्रदीप्त होती है तथा कफजिनत रोग दूर होते हैं। इससे नाइ, श्वास नाड़ी तथा फेफले शुद्ध होते हैं श्वास रोग तथा खय रोग के लिये लाभदायक है। कुराइलिनी जामत और मन के खिर करने के लिमित्त अभ्यास आरम्भ करते समय इस किया का करना प्रशस्त है। कपालभाति को लिम्न दो विधियों से भी किया जाता है।

दूसरी विधि : दोनों नासिकापुट से एक-साथ उपरोक्त रीति से वायु को अन्दर

स्वींचना श्रीर बाहर निकालना ।

तीसरी विधि : दित्त् ग्यासिकापुट बन्द करके वाम नासिकापुट से उपर्युक्त रीति से पूरकःरेचक करना; इसी प्रकार वाम नासिकापुट बन्द करके दित्त्य नासिकापुट से उसी संख्या में पूरक-रेचक करना।

(ख) व्युत्कर्म कपालभाति : नासारन्ध्रों से जल पीकर मुख से निकाल देवे । इसे

भी अनुलोम और विलोम रीति से किया जाता है।

नोट-इन दोनों को हम नेतिकर्म में जलनेति नाम से बतला आये हैं।

(२) प्राकृतिक नियमों द्वारा शरीर-शोधन अर्थात् विना सौषधि रोग द्र करने के उपाय

- (१) प्राकृतिक जीवन, सादा प्राकृतिक खान-पान, शरीर की सफाई ठरखे पानी से प्रातःकाल स्नान, सदी-नामी सहन करने का अभ्यास। सब कार्यों के लिये निश्चित समय-विभाग, प्रातः और सार्यकाल दो-तीन मील खुली हवा में अमण, भूख से कम और चबा-चबाकर खाना, सप्ताह में एक बार उपवास आदि साधारण स्वास्थ्य के नियमों का पालन करना।
- (२) प्रातः श्रौर सार्थकाल निश्चित समय पर सम्भ्या, ज्यायाम, शीर्षासन, ऊर्ध्व-सर्वोङ्गासन, मयूरासन, सर्पासन श्रादि (साधन पाद सूत्र ४६ वि०व०) प्रात्यायाम, भिक्का श्रादि (साधनपाद स्त्र ५० वि०व०)।

स्वास्थ्य सुवारने, फेफड़े, पसली, झाती आदि के रोगों को इढाने के खिये :--

पेट का फुलाना — गर्दन, कमर, शिर को एक लाइन में रखकर सीधे खड़े हों, दोनों मधुनों से पूरे श्वास को बाहर निकालकर पेट को दोनों हाथों से दवायें। इस प्रकार दोनों 'हाथों से पेट को दवात हुए धीमे-धीमे श्वास को दोनों नधुनों से भरते हुए पेट का फुलावें। इस बात का भ्यान रखें कि इस प्रकार श्वास भरने से फेवल पेट ही फूले, पसलियाँ और छाती बिल्कुल न फूलने पायें। भरसक श्वास भरने के पश्चात् थोड़ी देर उसे वहीं रोके रहें, तत्पश्चात् धीमे-धीमें श्वास को दोनों नथुनों से बाहर निकालें और पेट को भरसक दोनों हाथों से दबाकर अन्दर की और सिकोड़ें, इस किया को पाँच छ: बार करें।

पसलियों का कुलाना — इसके बाद इसी प्रकार दोनों हाथों की हथेलियों से दोनों स्रोर की पसलियों का दवायें, दोनों नथुनों से श्वास की धीमे-भीमे स्वीचते हुए भरसक पसलियों को कुलावें, पेट व झाती बिल्कुल न फूलने पावे। कुछ देर श्वास को पसलियों में रोककर धीमे-धीमे दोनों नथुनों से निकालें, पसलियों को हाथों से दवाते हुए यथाझक्ति सिकोड़ें। इस किया को भी पाँच छ: बार करें।

छाती का कुलाना — इसके बाद दोनों हाथों की हथेलियों से छाती को हँसली की हड़ी के नीचे दबाकर धीमे-धीम श्वास को खींचते हुए भरसक छाती को कुलावें, इस बात का ध्यान रखें कि पसलियों और पेट बिल्कुल न फूलने पावें। कुछ देर श्वास को रोकने के पश्चास् धीमे-धीमे श्वास को बाहर निकालें, छाती को खूब सिकोईं। इस क्रिया को भी पाँछ छः बार करें।

पूरी गहरी रवास — उपर्युक्त तीनों कियाओं के अध्यास के पश्चात् इस प्रकार दोनों नथुनों से पूरा गहरा रवास लें कि पहिले पेट, फिर पसलियों और अन्त में छाती फूले, कुछ देर रोकने के पश्चात् इस प्रकार धांमे-धांमे दोनों नथुनों से रवास निकालें कि पहिले छाती सिकुड़े, फिर पसलियां और अन्त में पेट सिकुड़कर पीठ से लग जावे। इस क्रिया को भी पाँच छ: बार करें। इन क्रियाओं के करने से सब प्रकार के रोग और निवेलता दूर होकर हारीर खस्थ और निरांग हां जावेगा।

(३) जल-चिकित्साः

हिप बाथ (Hip bath)—शौब से निष्टत्त होकर खाली पेट खाती और पैरों को बबाकर बेबल नाभि के पास के पेट को ठएडे पानी में रखकर नाभि के नीचे के भारा को बारों तरफ कपड़ा फिरा कर ठंड पहुँचावें। इसके पश्चात् व्यायाम अथवा घुमना चाहिए।

सन बाथ (Sun bath)--- सुबह को कुछ हलका कपड़ा श्रोदकर धूप में कुछ समय बैठना।

स्टीम बाथ (Steam bath)— कभी-कभी अथवा ज्वर आदि रोग से प्रसित होने पर कुर्सी या चारपाई के चारों ओर कम्बल या कपड़ा डालकर एक चादर ओद कर बन्द कमरे में बैठें। एक श्रंगीठी पर एक डेगर्चा में पानी भरकर उसके मुँह को बस्तेन से ढक कर चारपाई या कुर्सी के नीचे रख दें। जब खूब भाप श्राने लगे तब बर्तन हटाकर भाप लें। पसीना बिलकुल सूख जाने पर और शरीर ठएडा होने पर बाहर निकले।

सिट्स बाथ (इन्द्रिय-स्तान) एक तसले अथवा मिट्टी के बड़े कूंडे में ठंडा पानी भर कर, इन्द्रिय के ग्रुँह के ऊपर वाली खाल को ऊपर करे फिर इन्द्रिय को पानी में रखकर सीचे से उस खाल को बांये हाथ के अंगूठे और उसके पास वाली अंगुली से इस प्रकार पकड़े कि जिस प्रकार पकड़ी हुई मिल्ली का उल्ल भाग इन दोनों अंगुलियों से बाहर रहे। इस मिल्ली को कपड़े से छुआ-छुआ कर ठएड पहुँचानी चाहिए। यदि खाल इन्ट्रिय के ऊपर चढ़ी हो और होनों अंगुलियों से न पकड़ी जा सके तो उस खान को जहां पर यह खाल ऊपर से जुदी हुई है उसको कपड़े से छुआ-छुआ कर ठएड पहुँचावें। पानी जितना ठएडा होगा बतना ही लाभदायक होगा। प्रातःकाल शौच के प्रधात अथवा भोजन के पूर्व व सार्यकाल सोने वा ध्यान से पहिले पाँच मिनट से आध घरटे तक इस क्रिया को करें। यह क्रिया चित्त को शान्त व प्रसन्न, वीर्य-वाहिनी नाड़ियों, मित्तष्क तथा सब मर्म खानों को शक्ति पहुँचाने, ब्रह्मचर्य की रत्ता और प्रमेह आदि सब प्रकार के वीर्य रोगों को टूर करने के लिये उत्तम है इस क्रिया को करके अभ्यास पर बैठने से मन शीघ शान्त हो जाता है। पेशाब और शौच के प्रधात् इन्द्रिय के मुख पर ठएडा पानी धार के साथ डालने से भी लगभग यही लाभ प्राप्त होता है।

शौच साफ़ लाने और आँव के निकातने के लिये :-

एक रूमाल को लपेटकर पानी में भिगोकर अथवा गीली मिट्टी को एक कपड़े में रखकर नाभि के नीचे रात्रि को सांते समय बाधें, जब कपड़ा या मिट्टी सूख जावे तो उसे गीला कर दें। घाव, फोड़े-फुन्सी में गीलीं चिकनी मिट्टी लगायें। छजना आदि में गोवर दही के पानी में घोलकर लेप करें।

सर्यविद्यान :---

खर्गीय श्री परमहंस विशुद्धानन्दजी महाराज (प्रसिद्ध गन्ध बावा) सूर्य-रिमयों को स्फटिक यन्त्रों द्वारा त्राकिषित करके उनके संयोग-वियोग-विशेष से त्रमुत त्रमत्कार विस्नला कर पाश्चात्य देशों के बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को विस्मित कर देते थे। उन्हने सूर्यविज्ञान द्वारा त्रसाध्य रोगों के विकित्सार्थ बनारस में एक सूर्यविज्ञान-मन्दिर की भी। स्थापना की बी देश के दुर्भोग्य से इस कार्थ के पूर्व ही उनका देहान्त हो गया।

मुर्यविकित्साः--

े सूर्य की किरणों को विशेष-विशेष रङ्ग के शीशे द्वारा मनुष्य के पीढ़ित अङ्ग पर डालना तथा उनको जल आदि पदार्थों पर आकर्षण घरके धनका स्वास्थ्य-सुधार और रोगनिवारण में प्रयोग करना बढ़ा प्रभावशाली सिद्ध हुआ है, उसको सामान्य रूप से यहाँ उक्षेत्र किया जाता है।

तत्त्वसम्बन्धी तालिका समाधिपाद सूत्र ३४ के विरोध वक्तव्य में पांचों तत्त्वों का रक्क, विद्वा, स्वाद, गति, परिमाण आदि बतला आए हैं, इन्हीं तत्त्वों से झरीर बना हुआ है, इसलिये इन तत्त्वों की स्वाभाविक परिमाण से न्यूनता या अधिकता ही रूपा अधवा अस्वस्था होने का कारण है। कौनसा तत्त्व बढ़ा हुआ है और कौनस तत्त्व की कमी है;

इसकी जांच नाखून, पेशाब, पाखाने खादि के रङ्ग से की जाती है। जैसे लाल रङ्ग की कमी में आंखें और नाखून नीले रङ्ग के, पाखाना और पेशाब सकेंद्र अथवा कुछ-कुछ नीले रङ्ग का होता है। नीले रङ्ग की कमी में आंख गुलाबी, नाखून लाल, पाखाना और पेशाब कुछ लाल या पीला होता है। इसी प्रकार मनुष्य के खाद, खभाव, श्वास की गति और नाबियों की चाल से भी तस्वों की जांच की जाती है। यदि किसी तस्व की उसके खाभाविक अवस्था में कमी को, उसके रङ्ग को सूर्य की किरणों द्वारा रुग्ण शरीर में प्रवेश करके पूरा कर दिया जावे को रोग-निष्ठित्त हो सकती है। विशेष विशेष रङ्गों को सूर्य की किरणों द्वारा करणा शरीर में पहुँचाने के बहुत उपाय टूंढे गए हैं, उनमें से सबसे सरल चार हैं:—

- (१) विरोप रङ्ग के शीरो द्वारा सूर्य की किरणों को रुग्ण शरीर में पहुँचाना अथवा उस रङ्ग की शीरो की लालटैन द्वारा उस रङ्ग का प्रकाश डालना।
- (२) विशेष रङ्ग की साफ बोतलों में ताजा या वर्षा का जल अथवा गंगाजल भर कर काग लगाकर कम से कम चार घरटे और अधिक से अधिक तीन दिन धूप में रख कर पानी को औपधिरूप में पिलाना तथा रुग्ण-स्थान में लगाना।
- (३) विशेष रंग की बोतलों में मिश्री आदि पदार्थ अथवा श्रौषधि रखकर, काग लगाकर पन्द्रह दिन से एक माह तक धूप में रखकर श्रौषधिरूप में प्रयोग करना ।
- (४) विशेष रंग की बोतलों में सरसों, तिल, श्रलसी श्रादि का तेल रखकर, काग लगाकर कम से कम ४० दिन तक धूप में रखकर पीड़ित स्थान में मलना।

रंगों का प्रयोग :---

- (१) आसमान-जैसा हल्का नीला रंग जिसमें लाली बिल्कुल न हो—यह रंग ठएठा और कब्ज करने वाला होता है; और लाल रंग का जो गर्म और कब्ज दूर करने वाला है, विरोधी है। इसलिये गर्मी से आये हुए बुखार, पेचिश, आंव, दस्तों में, फोड़े-फुल्सी और जहरीले जानवरों की काटने की पीड़ा आदि जो लाल रंग की अधिकता से होती है, वह इस हल्के नीले रंग के पहुँचने से शान्त हो जाती है।
- (२) लाल रंग—यह रंग गरम और कब्ज दूर करने वाला तथा माहे को निकालने वाला होता है। इसलिये ठएड की श्रिथिकता से जो रोग होते हैं, जैसे कालिज, लकवा, गठिया; सर्दी से सूजन श्रादि, इस रंग को तीनों तरह से पहुँचाने से दूर होते हैं।
- (३) गहरा नीला रंग खर्थात् वह नीला रंग जो लाली लिये हुए हो, जैसे वे लम्बी बोतलें जिनमें विलायत से खरएडी का तेल श्राता है। जहां नीले रंग के साथ किश्वित गर्मी पहुँचाकर गन्दे माहे को निकालने की खावस्यकता होती है वहां इस रंग को काम में लाया जाता है, जैसे काली खांसी इत्यादि।
- (४) पीला ऋथवा हल्का नारंगी रंग—यह रंग गहरे नीले रंग की ऋपेक्षा ऋधिक कब्ज खोलने वाला और गन्दे माहे को निकालने वाला है। इसलिये खुजली, कोढ़, रक्तविकार, बलगमी बुखार आदि में काम में लाया जाता है।

लगभग सब प्रकार के बुखार और सिर के दर्द जो गर्मी से उत्पन्न हो उनमें हस्की नीले रंगवाली बोतलों का पानी पिलावें, बुखार की तेजी में हस्के नीले शीशे का प्रकाश डालें और हस्की नीले रंग की शीशी का तेल मलें।

बलरामी बुखार में नारंगी रंग की बोतल का पानी पिलावें।

दिल की धड़कन, दिमारा की गर्मी, विपैले जानवरों के काटने में, पेचिश व स्रांव के दस्तों में इस्के नीले रंग की बोतल का पानी पिलावें स्त्रीर हस्के नीले रंग की बोतलों का सरसों का तेल दिमारा, दिल व पीड़ित स्थानों में मलें, इसी रंग का प्रकाश डालें।

निमोनियाँ में गहरे नीले रङ्ग की बोतल का पानी पियें तथा लाल बोतल बाले अलसी के तेल की छाती व पुसलियों पर मालिश करें।

तिल्ला के रोग के लिये नीले रङ्ग की बोतल का पानी पिलाना श्रीर तेल की मालिश करना लाभवायक है।

मृगी में गहरे नीले या हल्के नीले रङ्ग की बोतल का पानी पिलावें, इसी रंग के तेल की मालिश करें, इसी रंग के शीशे का प्रकाश डालें।

नजला या जुकाम के लिये हस्के नीले रंग की बोतल का पानी श्रयवा नारंगी व हस्के नीले रंग की बोतल का मिश्रित पानो पिलाना । गहरे नीले रंग वाली बोतल का तेल सिर व कनपटियों में मलना, हस्के नीले शीशे का प्रकाश डालना ।

सूखी खांसी के लिये गहरे नीले रंग की बोतल का पानी पिलाना और लाल रंग की बोतल का तेल छाती पर मलना ।

तर खाँसी में नारंगी रंग की बोतल का अथवा नारंगी बोतल व गहरी नीली बोतल, दोनों रंगों का मिश्रित पानी पिलाना, लाल बोतल का तेल छाती पर मलना।

दमा में नारंगी बोतल का पानी पिलाना श्रौर लाल बोतल के तेल को छाती पर मलना।

जिन रंगों (तत्त्वों) की कमी से जो रोग पैदा हुआ है उस रंग (तत्त्व) का ध्यान करने से भी रोग की निवृत्ति होती है।

प्र. श्रन्य माकृतिक चिकित्साएँ:--

(१) ज्वर श्राघे सिर का दर्द श्रथवा इसी प्रकार का श्रौर कोई विकार उत्पन्न होने से पूर्व श्रथवा उसी समय, जिस नथुने से श्रास चलता हो उसे बन्द रखें।

(२) सिर के चक्कर होने पर दोनों हाथों की छुहनी पर जोर से कपड़े की पट्टी बांधें, आपने सिर के ददे में जिस ओर ददें हो उस ओर कपड़े की पट्टी वार्धे।

(३) नाक से पानी पीने से सर दर्द दूर होता है।

(८) बारों का बुखार आने वाले दिन प्रातःकाल ही सकेद अपामार या मौलसरी के पत्ते हार्थों से रगड़ कर हल्के कपड़े में बाँच कर सूंचते रहना चाहिये, काराजी नीबू के पत्ते मलकर सूंचने से भा बुखार को आराम होता है।

- (५) दाहिने स्वर में भोजन श्रादि खाने से और खाने के प्रधान कुछ समय तक बायें करवट लेटने से भी श्रजीर्ण रोग दूर होता है। प्रथम दाहिने करवट से लेट कर १६ गहरी सांसें ले और छोड़े, फिर चित्त लेटकर २२। इसके बाद बायें करवट लेट कर ६४ सांसें ले और छोड़े। प्रति दिन प्रातश्वाल भोजन से श्राध घंटे पूर्व जल पीवे। नाभि के दांये श्रोर से बांये खार बड़ी श्रांतिहयों की मालिश करने और उठने से पूर्व श्राध घंटे पेट के बल लेटने से भी खाजीर्ण रोग दूर होता है।
- (६) कोष्ठबद दूर करना—सौ बार पेट को खूब सिकोंड़ श्रौर फैलावे। पहले एक-एक पैर को घुटने के उत्पर के हिस्से से मिलाकर पूरा उड़ीयान कर पेट की श्रोर खूब दबाय, फिर इसी प्रकार दोनों हाथों से दबायें। प्रातःकाल विस्तर से उठते समय सीधे तथा दोनों करवट से घूमकर हाथ पैरों को सिकोंड़े श्रीर फैलावें।

शीच से पहले नासिका श्रथवा मुँह से ताजा पानी पावें।

ख़ाने के पश्चात् शुद्ध किया हुआ रेत एक फंकी बिना दांतों से लगाये हुए फॉक कर ऊपर से पानी पीना।

रेत को धोकर मिट्टी श्रादि निकाल कर श्रौर बड़ी कंकड़ियों को छान कर साफ किया जाता है।

- (७) दन्तरोग-पास्त्राना जाते या पेशाब करते समय नीचे ऊपर दोनों दांत मिला-कर जोर से दबाये रखें।
- (८) चक्कुरोग—प्रात:काल बिस्तर से उठते ही मुँह में पानी भरकर ऑखों में २०, ३० इंटि पानों के डाल कर धो डालो, स्तान के समय दोनों पैरों के अंगूठे में तेल लगावें। नेती क्रिया करें।
- (९) रक्तपरिष्कार—शीतली शासायाम (साधनपाद सूत्र ५० वि० व०) से रक्त विकार दूर होता है। और रक्त शुद्ध होता है।
 - (१०) ॡ में चलते समय कानों को कपड़े से बन्द रखने से शरीर को ॡ नहीं सताती।
- (११) दिमार्गी काम में थकावट होने पर कुर्सी आदि का सहारा लेकर आँखें बन्द करके शरीर को बिलकुल ढीला छोड़ देना चाहिये, थकावट दूर होने पर स्मरण-शक्ति ठीक काम करने लगेगी।
- (१२) हाथी दांत के कंघे को सर में रगड़ के साथ फेरने से सर दर्द दूर और मस्तिष्क बलवान होता है।
- (१३) नींद न द्याने पर पैर के नाखुनों में तेल लगानें। नाभी से नीचे भाग में गीला कपदा या मिट्टी बांधों या भंग पीस कर पैरों के तलवे तथा नाभि के नीचे भाग में लेप करें।
- (१४) मनुष्य अपने ही विचारों का बना हुषा है। यथा "श्रद्धामयोऽयं पुरुषों यो यच्छुद्धः स एव सः", मनुष्य विचारविरोप का ही पुद्गल है, जिसके जैसे विचार हैं वह वैसा ही है। इसलिए आरोग्यता की भावना करने और "ओ३म् आनन्दम् ओ३म् आरोग्यम्" े जाप से सब रोग दूर होते हैं।

(३) सम्मोहन-शक्ति और संकल्प-शक्ति द्वारा शरीर-शोषन (आरोज्यता) सम्मोहन-शक्ति

सम्मोहन — इस शक्ति को Personal अथवा Animal Magnetism (प्राणी की विद्युत्) और फारसी में शख्सी मिकनातीस या कशिश रूहानी कहते हैं। यह शक्ति मनुष्य में जितनी अधिक मात्रा में होती है उतना ही वह प्रभावशाली. तेजस्वी, उत्साही, आत्मिवश्वासी, आशावादी और कार्यकुशल होता है इसकी न्यूनता ही मनुष्य को निराशावादी, निरुत्साही, उसके जीवनको अशान्तिमय और उसके कार्यों को असफल बनाती है।

सम्मोहन-शिक्त का मुख्य स्थान — इस शिक्त का केन्द्र मतुष्य का सिर है, जो मिस्तब्क और झानेन्द्रियों का स्थान है, इसिलये इसकी किरणें मतुब्य के नहरे, आँख, मुँह, नाक और मिसत्वक द्वारा निकलती रहती हैं। नेहरे के श्रतिरिक्त हाथों और अंगुलियों से भी इसकी किरणें निकलती रहती हैं, इसिलये हमारे जीवन का बहुत-सा कार्य हाथों द्वारा किया जाता है। यह शिक्त जो किरणों की शह में हाथों की अंगुलियों और मुखड़े श्राहि से निकलती है, उसकी संझा हिन्दी में श्रोजस्, तेजस्, अंग्रेजी में Aura कारसी में जलाल और नूर है। इसको प्राण्तत्त्व और विगुत-प्रवाह भी कहते हैं।

सम्मोहन-प्रांकि का प्रयोग — इस इक्ति को बढ़ाकर आँखों से त्राटक द्वारा (निगाह जमा दर), नाक से श्वास द्वारा, मुँह से फूंक द्वारा श्रीर हाथों से मार्जन (Passes) द्वारा और मिलक से शुभ भावनाओं और टढ़तापूर्वक आदेश अर्थात् (Suggestions) सूचनाओं द्वारा शारीरिक तथा मानसिक रोगों की निवृत्ति की जाती है। भारतवर्ष में यह विद्या प्राचीग काल से चली आ रही है। पाश्चात्य देशों में इसका आधुनिक आविष्कार मैस्मेरिक (Mesmerism) और हिपनोटिक्स (Hypnotism) के नाम से प्रसिद्ध है।

योहप में सबसे प्रथम आस्ट्रिया के बीयना (Vienna) नगर के एक व्यक्ति मैस्सर ने लगभग १७७० में यह सिद्धान्त दृंढा था कि मनुष्य के हाथ की श्रेगुलियों के अप्रभाग से वियुत-प्रवाह अर्थात् अहरय शक्ति निकलती है जो रोगों के शरीर में प्रविष्ट होकर रोग निवारण करती है। इसका नाम उसने Animal अथवा Personal Magnetism (प्राणी का विद्युत-प्रवाह) रखा। उसी मैस्सर के नाम पर इस विद्या का नाम मैस्सेरिअ (Mesmerism) और इसके प्रयोगकत्तो का नाम मैस्सेराइजर (Mesmeriser) प्रचलित हुआ। मैनचेस्टर के एक डाक्टर बेड ने सन् १८४१ में यह अनुभव किया कि क्विम निद्रा को उत्पन्न करके रोगों के रोग की सूचना, आहेश (Suggestions) डारा निवृत्ति की जासकती है। कृत्रिम निद्रा को सुणना अपेश हिस विद्या के आयार पर इस विद्या का नाम हिपनोटिज्य (Hypnotism) और इस विद्या के प्रयोगकत्ती का नाम हिपनोटिस्ट (Hypnotist) प्रचलित हुआ।

सम्मोहन-शक्ति के विकास करने के नियम —स्तरु श्रीर नीरोग रहना, ब्रह्मचर्य के नियमों का श्राचरण करना, शारीरिक, मानसिक श्रादि किसी प्रकार की शक्ति को बिना आवश्यकता व्यय न करना, कर्त्तेच्य पर दृढ़ रहना, दृढ़ आत्मविश्वास और सङ्कल्पबल, श्रद्धा और उत्साह, सदाचार, जीवन की प्रत्येक श्रङ्ग में पवित्रता, निर्भयता, वीरता, धैय, शुभ विचार, सर्वदा चित्त की प्रसन्नता, परमार्थ-शुद्धि, प्राश्चिमात्र के लिये शुभकामना, शुद्ध चित्तन, यम-नियम का पालन, आसन और प्राश्चायाम आदि का अभ्यास, मन की एकामता और ईश्वर-भक्ति। ये सब इस शक्ति के विकास के नियम हैं।

सम्मोहन राक्ति के ह्रास के कारण—शरीर तथा मन का अख्य और रोगी होना, ब्रह्मचर्य के नियमों का उल्लंबन, शारीरिक और मानसिक शक्तियों का विना आवश्यकता व्यर्थ व्यय करना, संशयात्मकता (ढिलमिल यक्तीनी), कायरता, निरुत्साह, दुराचार, भय, काम, कोष, मोह, लोभ, राग-द्रेप, ईर्ल्या, घमएड, घृणा, निर्देयता, दूसरों का अहित-चिन्तन, चित्त की चश्चलता, अशान्ति, यम-नियमों का उद्यंघन और नास्तिकता। ये सब इस शक्ति के हास के कारण हैं।

माक्षेण शक्ति को बढ़ाने के साधनः :--

- १ मन को एकाग्र करने का अभ्यास —समाधिपाद ३४ से ३९ वें तक के सूत्रों में बतलाये हुए किसी साधन द्वारा मन को एकाग्र करना।
- २ शरीर की आन्तरिक क्रियाओं का तथा रत्तप्रवाहिनी नाड़ियों के वशीकार करने का अभ्यास:—
- (क) एकान्त स्थान में सुखासन से बैठकर मन को एकाव्र करके एक हाथ को बिस्कुल खोलकर सीधा रखें। एक से दस तक गिनते हुए एक श्रंगुला को बन्द कर श्रन्य चारों को खुली रखे। फिर एक से दस तक गिनती करते हुए दूसरी श्रंगुली को भी बन्द करें, श्रन्य तीनों बिस्कुल खुली रहें। इस प्रकार पाँचों श्रंगुलियों को बन्द करलें। इसी प्रकार दूसरे हाथ की श्रंगुलियों को भी बन्द करें। फिर एक से दस तक गिन्ती गिनकर पहिले हाथ की पहिली श्रंगुली खोलें, श्रन्य सब बन्द रहें। इस प्रकार उस हाथ की सब श्रंगुलियों; और दूसरे हाथ की सब श्रंगुलियों को बन्द करने और खोलने की किया का श्रम्यास करें।
- (स्त) किसी चौकी त्रादि पर दाहिना हाथ कलाई सहित रखकर हाथ को बिल्कुल होला छोड़ दो, मन को सब त्रीर से एकाम करके टट्ट संकल्प से ऐसी भावना करो कि रक्त का प्रवाह बड़ी तेजी से हाथ की त्रीर आरहा है, जिससे हाथ और अंगुलियों की रों फूल रहीं हैं जोर लाल हो रहीं हैं। जब यह होने लगे तो इसी प्रकार यह भावना करो कि हाथ और अंगुलियों से खून अपने-अपने स्थान पर आरहा है। हाथ तथा अंगुलियों अपनी साधारण अवस्था पर आ रहीं हैं। जब हाथों में इच्छानुसार खून का प्रवाह लाने और उतारने में अध्यास हो जावे तो मार्जन (पासों) से इस विद्युत को हाथों की अंगुलियों द्वारा रोगी के रुग्ण स्थान में भरकर उसकी रोग-निवृत्ति कर सकते हैं। 'पासों' का अध्यास इस प्रकार है: हाथों की दोनों हथेलियों को जोर से रगई, जबतक कि गर्म न हो जावें। फिर

हाथों को आगे-पीछे खुब हिलायें और हाथों की अंगुलियों को खुब जोर से खोलें और बन्द करें। फिर एक कपड़े अथवा रहें के तिश्चे पर मनुष्य की कल्पना करके उसके सिर से पैर तक धीरे-धीरे अपने हाथों को ले जायें, अन्त में फटकावें। कुछ समय के पश्चात् इस अभ्यास से अंगुलियों में सनसनाहट होने लगेगी और ऐसा प्रतीत होने लगेगा कि अंगुलियों से विश्वत् का सृक्ष्म प्रवाह वह रहा है।

- (३) त्राटक का अभ्यास—हरुयोग के घटकर्मों में बतलाये हुए स्फटिक स्रथवा काले बिन्दु पर इस भावना से त्राटक करें कि नेत्रों के ज्ञानतन्तु बलवान हो रहे हैं, नेत्र प्रभावशाली स्पीर स्थाकर्षक हो रहे हैं।
- (४) प्राणायाम का अभ्यास—दीर्घ श्रास-प्रश्नास (Deep Breathing) का अभ्यास "प्राकृतिक नियमों द्वारा शरीर-शोधन" में बतलाई हुई चारों कियाओं के अनुसार। तालयुक्त व भक्तिका श्रादि प्राणायाम स्त्र ५० के वि०व० में बतलाई हुई रीत्यनुसार। प्राणायाम ऐसी भावना से करे कि 'मैं प्राणशक्ति को शरीर में खींच रहा हूँ, प्राणशक्ति रोम-रोम में प्रविष्ट होकर मुभे उत्साह, जीवन-शक्ति और आरोग्यता प्रदान कर रही हैं' मैं सूर्य के सदश तेजस्वी बन रहा हूं।'
- (५) आरोग्यता और स्वास्थ्य की दृढ़ भावना—"प्राकृतिक नियमों द्वारा आरोग्यता में" बतलाये दृए 'खोश्म् आरोग्यत्', 'ओश्म् आनन्दम्' के जाप के साथ यह विचार किया करें कि 'मैं स्वस्थ हूँ', 'ग्रुम में आलस्य और प्रमाद नहीं है', 'में जुढ़ापे के पाश से मुक्त हूं', 'में पूर्णत्या नीरोग और बलिष्ठ हूँ', ग्रुम में अपने कर्त्तेच्य कार्यों के करने की पूरी शक्ति हैं', 'में उनको दत्तचित्त होकर कर्त्या', 'अपने कर्त्तेच्य में कश्चित् प्रमाद न कर्त्या', जैसे :—

प्तदस्म वै तद्विद्वानाह महिदास ऐतरेयः स किं पतदुपतपासि योहऽमनेन न प्रेष्यामीति स ह पोडशं वर्षशतमजीवत्स ह पोडशं वर्षशतं जीवति य एवं वेदः। (छा॰ उप॰)

अर्थ—इतरा का पुत्र महिवास जो इस रहस्य का जानने वाला था उसने रोग को लक्ष्य करके कहा कि 'तू मुक्ते यह क्या तपाता है, मैं इस ने न महूँगा', वह ११६ वर्ष जीवित रहा तथा जो कोई भी ऐसा जानता है वह भी ११६ वर्ष पर्यन्त जीवित रहता है।

(६) इष्ट (अच्छी) प्रकातियों का प्रहण और श्रनिए (बुरी) प्रकृतियों का परित्यानः—इस शिक के प्रयोगकर्ता को सबसे प्रथम अपने आपको नियन्त्रण (Self-control) में रखना आदि आवश्यक है, क्योंकि जो खर्य अपने को अपने वश में नहीं रख सकता है वह दूसरों पर किंचित भी प्रभाव नहीं डाल सकता है। इस लिए जो दुष्ट प्रकृतियाँ अपने में हों उनका परित्याग और अच्छी प्रकृतियों का प्रहण निश्चयात्मकरूप से पूरे आत्म- विश्वसास (Self-confidence) और दृद संकल्प (Firm determination) के साथ करना चाहिये।

अच्छे अथवा बुरे विचार मनुष्य के मन में जिस प्रगति से वरावर वठते रहते हैं वसी के अनुसार उनका वल बढ़ता है। अन्त में एक समय वे इतने प्रवल हो जाते हैं कि मनुष्य उनके अनुसार कार्य करने पर वाध्य हो जाता है। जैसे कार्य मनुष्य करता रहता है वैसी ही उसकी प्रकृति बनती जाती है। इससे सिद्ध होता है कि विचार ही मनुष्य की प्रकृति के कारण हैं। इसलिए जिस अनिष्ट प्रकृति को त्यागना है उसको बिना टालमटोल के (जैसे १, २ सप्ताह में छोड़ दूँगा, अथवा २,४ वार करने के पश्चात् छोड़ दूँगा इत्यादि तुरन्त उसके परित्याग का पूरे आत्मविश्वास से टढ़ संकल्प करके उसके विचारों को पूर्णत्वा मन से हटा दें। अथवा जिस समय अन्दर से अनिष्ट कमों को करने का विचार उत्पन्न हो उसी समय उसको हटा दें। इस प्रकार वरावर हटाये जाने से वे विचार दुर्वल होते-होते नष्ट हो जावेंगे। विचारों के न रहने पर उस प्रकार के कमे होने खर्य वन्द हो जावेंगे, बुरे कमों के छूटने से वह अनिष्ट प्रकृति भी छूट जावेगी।

इसी प्रकार जिस प्रकृति को प्रहुण करना हो उसके विचारों को मन में प्रवल करते-करते हुद प्रकृति के रूप में लाया जा सकता है।

अनिए प्रकृतियों के परित्याग और इंट्र प्रकृतियों के ग्रहण की प्रक्रिया:- आपने अनुभव किया होगा कि जितने बजे उठनें का संकल्प करते हुए आप सोते हैं आपकी आँख अवश्य उस समय खुल जाती है। इससे सिद्ध होता है कि जो बात मन अथवा सुक्ष्म शरीर को भलीभांति सुक्ता दी जावे उसके अनुसार कार्य करने के लिए स्थल शरीर बाध्य हो जाता है। विशेषतः उस समय जब निटा छा रही हो श्रीर समस्त श्रङ्ग दीले हों. तब मन के अन्दर विशेष प्रभाव शरीर पर प्रकट होता है। इसलिए आरामकुर्सी या चारपाई पर लेटकर श्रङ्गों को ढीला कर चित्तवृत्ति को एकाम करे। एकामता के साथ माथ हल्की तींद की कल्पना करें। जब नेत्र भारी होने लगें और हल्की सी निदा आने लगे तो जिस अनिष्ट प्रकृति को छोडना हो उसके सम्बन्ध में प्रभावशाली शब्दों में इस प्रकार श्रादेश (Auto-suggestions) दें: 'हे मन तू इस दुष्ट प्रकृति का परित्याग कर दे, तुम में यह दुष्ट प्रकृति नहीं रहनी चाहिए, कदाचित् नहीं रहनी चाहिए, मैं इसको निकाल कर बाहर फैंक रहा हूँ। मैंने इसको बाहर फैंक दिया है। अब तुक्त में इस प्रकार की कोई प्रकृति नहीं रही है।" यह आवश्यकता नहीं है कि इन्हीं शब्दों को दूहराया जाय, इस आशय को लेते हुए आप अपने ही प्रभावशाली शब्दों में इस प्रकार का आदेश (Auto-suggestions) दे सकते हैं। इसी प्रकार जब कोई इष्ट प्रकृति प्रहण करनी हो तो यह प्रवल विचार उत्पन्न करना चाहिये "हे मन, मैं इस शुभ प्रकृति को तुम्हारे अन्दर स्थापना करता हैं। तम अब इसी प्रकृति के अनुसार काम करोगे, तम में यह प्रकृति हद हो गई है, मैंने इसको पूर्णतया टढ कर लिया है।" इसी रीति से किसी बच्चे, श्रदाल शिष्य, भक्त अथवा मित्र की दुष्ट प्रकृति को छुड़ाया जा सकता है। अर्थात् उसको आराम से लिटाकर सम्मोहन निद्वा (कृत्रिम निद्वा में जिसका चारो वर्णन होगा) लाच्यो । जब कृत्रिम

निद्रा आजावे तो उसका नाम लेकर उपर्युक्त प्रकार की आज्ञाओं (Suggestions) द्वारा अर्थात 'हे अमुक, मैं तुम्हारी इस अनिष्ट श्रकृति को तुम्हारे अन्दर से बाहर निकालता हैं, इस अनिष्ट प्रकृति को छोड़ दो, सर्वदा त्याग कर दो, मैंने इसे तुम्हारे अन्दर से बिल्कुल निकाल दिया है।' ऐसा ही इष्ट प्रकृति के स्थापन में 'हे श्रमक, मैं तस्हारे श्रन्दर इस इष्ट प्रकृति को स्थापित करता है इस प्रकृति को मैंने तम्हारे अन्दर हृढ कर दिया है, अब तम इसके अनुसार ही सारे कार्य करोगे, इत्यादि।' इस प्रकार के वाक्यों को दस-पन्द्रह मिनट तक निरन्तर दहराते रहना चाहिए। यदि सर में भारीपन अनुभव कर तो उसके सर पर दाहिना हाथ रखकर, उसके नेत्रों में कुछ अन्तर से फंक मारकर यह सचना देनी चाहिए कि 'मैंने तमको नोरोग कर दिया है, तम श्रव श्रव्छे हो, श्रव तम में भारीपन नहीं है। इस प्रकार का ब्यादेश प्रात: सायंकल दो बार अथवा रात्रि में एकान्त में दें। रात्रि में खाभाविक निदा में सोते हुए भी इस प्रकार के खादेश दे सकते हैं।

आकर्षणदाकि का प्रयोग-जिस प्रकार प्रयोगकर्ता (Hypnotist) के लिये दृढ संकल्प, आत्मविश्वास श्रीर पात्र के प्रति शुभ भावनात्रों की श्रावश्यकता है इसी प्रकार पात्र की प्रयोगकर्ता के प्रति परी श्रद्धा, विश्वास और उसके आदेशों को प्रष्टण करने की इच्छा की भी श्रति आवश्यकता है। पात्र की इच्छा अथवा उसकी उसके प्रति परी श्रद्धा न

होने पर प्रयोग का पूरा प्रभाव न पड़िंगा।

स्चनायें अर्थात् आदेश (Suggestions)—इस शक्ति के प्रयोग में मुख्य चीज सबनायें हैं। सचनायें चाहे त्राटक, माजेन, फूंक आदि के साथ हो, चाहे इनके बिना हों, इद-संकल्प. परे आत्मविश्वास और प्रभावशाली शब्दों में अवश्य होनी चाहिये। प्रयोगकर्त्ता को यह अवश्य देखना चाहिये कि जिसके ऊपर वह प्रयोग कर रहा है उसका उसके साथ क्या सम्बन्ध है। यदि किसी अपने बड़े पूज्य, जैसे पिता, गुरु श्रादि पर प्रयोग किया जावे तो उसके प्रति ये सूचनायें प्रार्थनारूप में होनी चादियें। जैसे "त्राप महान् त्रात्मा क शरीर में कोई विकार नहीं होना चाहिये, आप अपने शरीर से इन सब विकारों को निकाल दीजिये, आप यह प्रार्थना अवश्य खीकार कर लीजिये, आपने यह प्रार्थना खीकार करली. कार्यने हारीर से सब विकारों को निकाल दिया, आप विल्कुल स्वस्य हैं, आपका शरीर बिल्कल नीरोग हो गया है" इत्यादि ।

इस प्रकार की मानसिक प्रार्थना केवल त्राटक के साथ विना मार्जन अथवा फूंक के भी प्रभावशाली होती है। गायत्री आदि वैदिक मन्त्र अथवा ॐ के जाप के साथ सचनायें

अधिक प्रभावशाली हो जाती हैं।

मार्जनिकिया के प्रयोग करने की विधि (Passes)-मनुष्य के शरीर पर हाथ फेरकर अपनी शक्ति को हाथ और अंगुलियों द्वारा प्रवेश करने की किया को मार्जन किया अथवा 'पास' करना कहते हैं। मार्जन दो प्रकार के होते हैं, लम्बे श्रीर छोटे।

लम्बे मार्जन: सिर से पैर की अंगुलियों तक सारे शरीर में जो मार्जन किये जाते

ह्रोटे मार्जन : जो गर्दन, कमर, जंघा श्रादि से पैरों की श्रंगुलियों तक श्रथवा किसी बाजू, दरह, कलाई श्रादि से उस हाथ की श्रंगुलियों तक किये जाते हैं उनको ह्रोटे मार्जन कहते हैं।

मार्जन करने की विधि:--मार्जन स्त्री के बाई श्रीर पुरुष के दाहिनी श्रोर देना चाहिये। मार्जन करते समय पात्र के शरीर से हाथ चार इश्व दूर रहना चाहिये, दोनों हाथों की हथेलियों और अंगुलियों को मिलाकर तथा अंगुठे को दर रखकर पीड़त स्थान पर श्रंगलियों को कुछ देर रखकर धीरे-धीरे पैरों श्रथवा हाथ की श्रंगलियों तक ले जाकर हाथ की अंगुलियों को मटक देना चाहिये। चित्त एकाम्र, हृदय शुद्ध और पूरे दृढ-संकल्प के साथ ऐसी भावना करनी चाहिये कि श्रंगुलियों द्वारा श्रापका तेज (विद्यत-प्रवाह) रोगी के पीड़ित स्थान में प्रवाहित होकर पीड़ा को हटाता हुआ स्वस्थ जीवन प्रदान कर रहा है। रोगी के पैरों अथवा हाथों की अंगलियों तक ले जाकर अपने हाथ की अंग्रालियां को इस प्रकार फटक दे जैसे कि रोगी की पीड़ा और रोग को निकालकर बाहर फेंक दिया है। इसी प्रकार कई बार करें। कोई-कोई प्रयोगकर्त्ता हाथ में छरी श्रथवा लोहे की छोटी छड़ी (hon rod) लेकर मार्जन करते हैं श्रीर पीड़ित स्थान पर उसकी छुत्राकर रोग को खींच लेते हैं। यदि त्रावश्यकता समभें तो रोगी के सन्तोषार्थ और विश्वासार्थ ऐसे शब्दों (Suggestions) का भी कभी-कभी उचारण होता रहे जैसे, "तुम्हारी पीड़ा दर हो रही है. तम स्वस्थ हो रहे हो, अब देखो तम्हारी पीड़ा कम हो गई, अब तम बिल्कल नीरोग और खश्य हो गए" इत्यादि । किसी वैदिक मन्त्र श्रथवा ॐ के मानसिक जाप से संकल्पशक्ति अधिक प्रभावशाली हो जाती है। रोगी को क्रसी, चारपाई अथवा किसी वस्र पर आराम से वैठा अथवा लिटा देना चाहिये। फिर यदि उसके सिर अथवा सारे शरीर में वर्ष हो जैसे ज्वर श्रादि, तो लम्बे 'पास' सिर के पास कुछ देर हाथों को रोककर पैर की श्रंग्रालियों तक पास करें। यदि एक पाँव जंघा. पिडली श्रथवा पंजे में पीड़ा हो तो उसी स्थान-विशेष से लेकर पाँव की श्रांगिलयों के सिरे तक पास करे। यदि एक हाथ में बाज से पहुँचे तक कष्ट हो तो उसी हाथ की श्रंगुलियों के सिरे तक पास करे। यदि पीठ की श्रोर पीड़ा हो तो इसी प्रकार पीछे की श्रोर पास करके पीड़ा को निकालना चाहिये।

त्राटक और फुँक—उपर्युक्त भावना, श्रात्मविश्वास और दद संकल्प के सिहत नीरोगता की सूचनायें श्रीर वैदिक मन्त्र श्रथवा ॐ के भानसिक जाप के साथ त्राटक द्वारा रोगी के रुग्ण श्रथवा पीड़ित स्थान पर टकटकी बाँधकर लगातार देखने तथा पीड़ित स्थान पर मुंह से पूंक मारने से भी रोग-निष्ठत्ति की जाती है। इनका स्वतन्त्र रूप से तथा 'पासों' के साथ, दोनों प्रकार से प्रयोग हो सकता है।

जल, दुग्ध, घृत, तेल त्रादि पदार्थों श्रथवा किसी श्रीषधि पर उपर्युक्त सारी भाव-नाओं के साथ 'पास', त्राटक श्रीर फूंक डारा इस शक्ति का संचार किया जाता है; श्रीर उनके यथायांग्य प्रयोग से रोग-निवृत्ति की जाती है। सूर्यचिकित्सा' में बतलाये हुए जल, तेल, मिश्री श्रादि पर प्रयोग इस कार्य के लिये विशेष हितकर होगा। इसी प्रकार कपड़ों को त**ह करके उनमें इन सब** शक्तियार्त्रों से इस शक्ति को पहुँचाया जाता **है।** इसे रोगी के गीड़ित स्थानों में बाँधने राथवा खोढ़ने से रोग-निवृत्ति हो जाती है।

केवल त्राटक का प्रयोग—सङ्कल्पशक्ति के प्रवल हो जाने पर बिना 'पास' या फूक के दृढ़-संकल्प द्वारा स्वास्थ्य की शुभ भावनाष्ट्रों के साथ ॐ का मानसिक जाप करते हुए केवल दूर से त्राटक करने से भी सारे रोग दूर किये जा सकते हैं परन्तु यह फल पात्र की श्रद्धा और पूरे सहयोग स ही प्राप्त हो सकता है।

दर बैठे रोगी का इलाज-Post Hypnotism :-

भ्यान की अवस्था परिपक्त हो जाने पर ही इसका प्रयोग हो सकता है। इसिलये प्रथम अपने अध्यास के कमरे में विध्युर्क नियत आसन से बैठकर किसी ऐसे पित्रशासा महान पुरुष के चित्र को जिस पर आपकी पूरी श्रद्धा हो, भ्यान में लाने का प्रयक्त करें। प्रथम वह चित्र बड़ी कठिनाई से एक च्या के लिये सामने आवेगा। निरन्तर अध्यास से जब वह चित्र बीस अथवा तीस मिनट के लिये ध्यान के आगे बना रहे तब दूर स्थान पर बैठे हुए रोगी के चित्र को भ्यान में लाकर उपर्युक्त प्रयोगों से उसके रोगों की निवृत्ति की जा सकती है, किन्तु यह प्रयोग एक निश्चित समय पर होना चाहिए और उस समय रोगी अपने कमरे में एकान्त शान्ति-पूर्वक आराम से सहारा लगाकर बैठ जावे या लेट आवे और इस प्रयोग को प्रहुण करने की भावना करें।

श्रपने रोग का खयं उलाज करना :--

श्रपनी दृढ़ सङ्कल्पशक्ति श्रौर श्रारोग्यता की दृढ़ भावना के साथ उपशुक्त विधियों से श्रपना रोग भी निवारण किया जा सकता है। श्रथवा एक वहे द्पेण (श्राइने) में श्रपने प्रतिविम्ब पर उपरोक्त विधि श्रनुसार त्राटक, पास श्रादि द्वारा श्रारोग्यता की सूचनायें (Auto-suggestions) देकर रोग-निवृत्ति की जाती है, परन्तु जब पीड़ा के कारण श्रपनी इस शक्ति का खर्य प्रयोग करने में श्रसमर्थता हो तब किसी दूसरे श्रपने शिष्य श्रथवा श्रन्य किसी श्रनुभवी प्रयोगकर्ता से इस शक्ति का प्रयोग करावे श्रौर उसमें श्रपनी श्रक्ति का नादे।

दूसरे की पीड़ाओं को वस्त्र में ख़ींचना — कोई-कोई प्रयोगकर्चा एक चादर खोढ़ कर बैठते हैं और रोगी को अपने सामने बैठाकर उसकी खांखों से खांखें मिलाकर पूरे संकल्प के साथ उसके रोग को चादर में खींच लेते तत्पश्चात उस चादर को जला देते हैं।

पूज्यपाद स्वर्गीय परमहंस स्वामी विद्युद्धानन्द जी महाराज (प्रसिद्ध गर्धवावा) के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वे अपने शद्धाल शिष्यों के रोग और पीड़ा को अपने शरीर में स्वीच लेते थे, परन्तु यह काये अधिकतर शिष्यों की गहरी श्रद्धा और विश्वास पर निर्मर था।

कृत्रिम निद्रा (Hypnosis)—त्राटक, मार्जन आदि क्रियाओं तथा सूचना (Suggestions) शक्ति से अथवा किसी चमकीली वस्तु पर नजर जमाकर नेत्रों के मजा-

तन्तुओं को थकाकर जो स्वाभाविक निदा के समान तन्द्रा उत्पन्न की जाती है उसको कृत्रिम निद्रा Hypnosis त्रथवा Hypnotic Sleep त्रथवा Mesmeric Sleep कहते हैं। कृत्रिम निद्रा जन्मक कराने की कई सरल विधियां:—

- (१) प्रयोगकर्त्ता पात्र को अपने सम्मुख श्राराम से बैठाकर उसकी आँखों पर त्राटक करें और उससे कहें कि वह भी बिना पलक मन्मकाए टकटकी बाँधकर उसकी ओर देखें, कुछ देर ऐसा करने के पश्चात पात्र से कहें कि श्रव तुम इतने समय तक अथवा नवतक में तुमको श्राज्ञा न दूँ, ऑख नहीं खोल सकते, तुम कृत्रिम निद्रा में श्रागये हो। जो तुमको श्राज्ञा देंगा वैसा ही करोगे।
- (२) एक काग़ज पर सौ बार कृत्रिम निद्रा (Hypnosis) लिखो और पात्र से यह कहकर पढ़वाओं कि तुम अन्तिम शब्द पढ़ोंगे तो गहरी कृत्रिम निद्रा को प्राप्त हो जाओंगे, उस समय सारे कार्य मेरी आज्ञा के अनुसार करोंगे, मेरी आज्ञा से बाहर किसी भी प्रकार न जा सकोंगे।

(३) रुई के फोये को वर्क या बर्फ-जैसे ठरण्डे पानी में भिगोकर पात्र के मध्ये से नीचे की श्रोर रखे, फिर उसकों यह कहकर सूचना दें कि उसको उठाते ही वह गहरी कृत्रिम निज्ञ को प्राप्त होगा।

(४) पात्र के सन्मुख किसी धातु के कटोरे को रखकर लोहे की छुरी से धीमे-धीमे कई बार पात्र को यह सूचना देकर बजावे कि ज्यों ही वह बजाना बन्द करेगा त्यों ही वह

(पात्र) गहरी कृत्रिम निदा को प्राप्त हो जावेगा।

- (५) पात्र के सामने एक प्याला दूध का श्रथवा मिश्री श्रादि के टुकड़े खाने के लिये रखकर यह सूचना दें कि इसके समाप्त करने के कुछ देर बाद वह गहरी कृत्रिम निद्रा को प्राप्त होगा। तत्पश्चात् कई विधान मार्जन दे।
 - (६) भ्रकुटी पर त्राटक करते हुए कृत्रिम निद्रा की सूचना दे।
- (७) पात्र को प्रभावशाली शब्दों में यह सूचना देकर कि पन्द्रह मिनट अथवा आध घरटे में तुम कृत्रिम निद्रा को प्राप्त हो जाश्रोगे। उसको घड़ी में समय देखते रहने को कहो।
- (८) चुम्बक छड़ी (Mesmeric wand) हाथ में लेकर प्रभावशाली शब्दों में यह सूचना दो कि इस छड़ी में ऐसी शक्ति है कि जिसके सामने फिराई जाय वही कृत्रिम निद्रा को प्राप्त होगा, फिर जिस-जिस के सामने घुमाते जाओ वही सोता जावेगा।
- इस प्रकार कृत्रिम निद्रा में लाने के कई उपाय हैं। प्रयोगकर्ता को समय और आवश्यकतानुसार अपनी श्योग-बुद्धि से काम लेना होता है। ऊंची अवस्था वाले तो केवल मानसिक हाक्ति से ही सारे कार्य कर सकते हैं। आरम्भ में प्रयोगकर्ता को किसी बारह वर्ष से सोलह वर्ष तक की आयु वाले लड़के पर अध्यास करने से सुगमता होती है। अपनी हाक्ति की जाँच इस प्रकार कर सकते हैं कि यदि किसी जाते हुए पुरुष के प्रति श्राटक द्वारा ऐसा संकल्प करों कि वह तुम्हारी और देखे। जब ऐसा होने लगे तो सममो कि तुम्हारी शक्ति श्योग करने के योग्य हो गई है।

कृत्रिय निद्रा द्वारा रोग-निवारण:---

कोई कोई प्रयोगकर्ता रोगी को छित्रम निद्रा में लाकर पूर्वोक्त रीति से स्वास्थ्य और नीरोगता की स्वनायें देकर और पीड़ा को निकालते हैं। इसमें दो प्रकार के मार्जन 'पास' दिये जाते हैं। विधान मार्जन (Downward Passes) और विसर्जन मार्जन (Upward Passes) विधान मार्जन ऊपर से नीचे की ओर अर्थान् सर से छाती अथवा पैर तक, छित्रम निद्रा लाने के लिये; और विसर्जन मार्जन नीचे से ऊपर की ओर अर्थान् छाती अथवा पैर से सिर तक, छुत्रिम निद्रा खतारने के लिए दिये जाते हैं।

कृतिम निद्रा लाने की साधारण रीति यह है कि पात्र को पहिले यह सममा दिया जावे कि एक निश्चित समय तक कृतिम निद्रा में लाकर तुम्हारे रोग निकाल दिए जायेंगे। किर उसको कह दे कि शरीर को शिथिल करके लेट जावे और अङ्ग-प्रत्यङ्ग को ढीला छोड़कर नाक से गहरे श्वास-प्रश्यास करें। अकृटि पर त्राटक करते हुए रह सङ्कल्प के साथ कृतिम निद्रा में लाने की सूचनाओं के साथ विधान मार्जन है। इस बारह विधान मार्जन देने से जब कृतिम निद्रा श्वा जावे तो पूर्वोक्त विधि से स्वास्थ्य की सूचना (Suggestions) के साथ लम्बे अथवा छोटे मार्जन यथा-श्वावस्यकता दे। यह सूचना प्रभावशाली शब्दों में होनी चाहिये कि तुम्हारा श्वमुक रोग निकल रहा है, श्वव तुम बिल्कुल निरोग हो रहे हो। जामत होने पर रोग अथवा पीड़ा सब जाती रहेगी, इत्यादि।

दूसरी विधि यह है कि प्रयोगकर्त्ता पात्र को अपने सन्मुख एक पुट दूर कुर्सी पर वैठाकर उसकी दाहिने हाथ की अंगुलियों को अपने बांये हाथ से पकड़कर निगाह से निगाह मिलाकर ऐसा हुद सङ्करप करें कि पात्र को निद्रा आ रही है, और पात्र को बिना म्मपकाए अपनी आंखों की ओर टकटकी बाँधकर देखने के लिए कहे, जब आंखों भारी होकर बन्द होने लगें तो बन्द करने को आझा दे। कृत्रिम निद्रा आजाने पर उपर्युक्त विधि से खारूय-दायक सुचनायें दे।

बालकों अथवा शिष्यों को इसी प्रकार कृत्रिम निद्रा में लाकर सूचनाओं द्वारा उनके दर्शायों को निकालकर सदाचारी बनाया जा सकता है।

ध्यान की परिपक्त अवस्था में दूर स्थान में रहने वाले शिष्य अथवा किसी प्रेमी के चित्र को ध्यान में लाकर इस प्रकार के Suggestions देन से वे दुर्गुण दूर हो सकते हैं और उसका जीवन पित्रत्र बनाया जा सकता है। यदि कोई अपने से द्वेष रखे या प्रतिविक्कार करे तो उसको ऐसे Suggestions देने से कि तुम मेर प्रति द्वेष नहीं रखते हो; जैसा मेरा हृदय तुम्हारे प्रति पित्रत्र है वैसे ही तुम भी मेरे प्रति शुद्ध हृदय हो, इत्यादि से उसका हृदय प्रवित्र और दोषरिहत हो जाता है।

क्रत्रिम निद्रा की भवस्थायें :---

कृत्रिम निद्रा खथवा सम्मोहन निद्रा को छः खबस्थाओं में विभक्त किया जा सकता है। तन्त्रा, निद्रा, प्रगाद सुष्रिम, अनुष्रुत्ति, दिन्य-दृष्टि, और प्रत्यम् दृष्टि। साधारण पात्र १४म तीन श्रवस्थात्रों में ही रहते हैं। उत्तम श्रधिकारी ही वौथी और पांचवी श्रवस्था में १हुँच पाते हैं। छठी श्रवस्था किसी विरले ही को शाप्त होती है।

इस सम्मोहन-शक्ति और संकल्प-शक्ति के ही अन्तर्गत पाश्चात्य देशों की Cliarvoyance दिव्य-दृष्टि, Spiritualism और Telepathy हैं। जब इस शक्ति को रोगनिवारणार्थ प्रयोग किया जाता है तो उसको क्यूरेटिव मैस्मोरिज्म (Curative Mesmerism) कहते हैं। और जब दिव्य दृष्टि आदि के लिये प्रयोग की जाती है तो फिनामिनल मैस्मेरिज्म (Phenominal Mesmerism) कहते हैं।

Clairvoyance—ज्यर्युक्त विधि से पात्र को सम्मोहन निद्रा में लाकर ऐसे आदेश दिए जात हैं कि तुम दिव्य-रृष्टि को शाप्त हो गये हो, तुम प्रत्येक वस्तु को देख सकते हो, तुम सब श्रिपी बातों को बता सकते हो इत्यादि। किर जो श्रिपी हुई बात पृश्ली जाती है तो वह उसका उत्तर देता है। आरम्भ में दिव्य-रृष्टि को क्रमानुसार बढ़ाया जाता है। अर्थम्भ में दिव्य-रृष्टि को क्रमानुसार बढ़ाया जाता है। अर्थम्भ पृश्लि उस कमरे की चीजों के बारे में पृञ्ला जाता है किर अन्य खानों में भेजकर वहाँ के समाचारों को और किर दूर देशों और गुप्त बातों को माल्ल्म किया जाता है। आरम्भ में इसका प्रयोग छोटे बालक पर किया जाता है तत्प्रधात् अत्येक बड़े मनुष्य पर भी कर सकते हैं।

Spiritualism— एक प्रानचेट (एक पान के आकार का लकड़ी का पतला तख्ता जिसके दो और धातु के दो पहिंच और किनारे पर पेन्सिल लगी होती है) पर अंगुली रखने से धनकी मैगनेट पावर से वह चूमने लगती है। मन की एकाप्रता और हृदय की शुद्धता की अपेदा से उसमें पुरुप के उत्तर ठीक-ठीक निकल आते हैं। इसी प्रकार पेन्सिल को हाथ की अंगुलियों से पड़ कर काराज पर रखकर अंगुलियों के मैगनेट पावर से चलने पर प्रभों का उत्तर दिया जाता है इसी प्रकार एक छोटी टेबिल (Table) पर कई प्रयोगकत्ती एकाप्रताप्रवेक विशेष भागनाओं के साथ अपने हाथ की अंगुलियों को रखते हैं। अंगुलियों की विशुत-शक्ति (Personal Magnetism) से उस टेबिल का एक-एक पाँव उठता है और प्रयोगकत्तीओं की एकाप्रता और हृदय की शुद्धता के कारण बहुधा उत्तर ठीक ठीक ही मिलते हैं।

यहाँ इस बात को स्मरण रखना चाहिये कि जो इस प्रकार Planchet द्वारा अथवा किसी Medium द्वारा आस्माओं (Spirits) को बुलाकर उनकी मृत्यु के पश्चात् के जो समाचार माञ्चम किये जाते हैं, उनमें से अधिक प्रयोगकत्ता के अपने ही विचार होते हैं। (Planchet) विद्युत् Nagnet शक्ति से उन्हीं के विचारों की धाराएं घूमती हैं, तथा Nedium अपने ही विचारों को प्रकट करती हैं।

कभी कभी Nedium (पात्र) प्रयोगकर्त्ता के विचारों से प्रभावित होकर कसी के विचारों को प्रकट करने लगता है। यदि Nedium (पात्र) ऊंची दिव्य दृष्टि वाला हो तो वह इस पुरुष के विचारों को ही प्रहृण करने लगता है जिस की आत्मा Shrit को इस पात्र द्वारा बुलाने का यन्न किया जाता है। क्योंकि श्राकाश में सारे ही विचार विश्वमान हैं। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि कोई पुरुष श्रपनी मृत्यु के समय श्रपनी विशेष वातों को किसी श्रपने दूर स्थान में रहने वाले किसी कुटुम्बी या मित्र से कहने की तीत्र इच्छा रखता है तो वे विचार श्रपनी प्रबल शक्ति के कारण स्वयं उस तक किसी न किसी रूप में पहुंच जाते हैं।

Telepathy—इसी प्रकार दो प्रयोगकर्ता अलग-श्रतग बैठकर एक निश्चित समय पर तालयुक्त प्राणायाम इत्यादि करके एक खबर (Message) भेजता है और दूसरा इसको प्रहण करता है (उपर्युक्त बातें केवल जानकारी के लिये लिखी गई हैं आस्म उन्नित चाहने वाले अभ्यासियों को इन में अधिक प्रष्टत न होना चाहिये)।

संकन्पशक्ति (Will-power)-

उपर्युक्त जितने प्रयोगों का सम्मोहन-शक्ति द्वारा होना बतलाया गया है, उन सब में सुख्य भाग संकल्पशक्ति का दी है। बिना संकल्पशक्ति के उनमें से किसी में भी सफलता का होना असम्भव है। किन्तु केवल टढ़ संकल्पशक्ति-मात्र से वे सब तथा उनसे कहीं अधिक बढ़कर चमस्कार दिखलाये जाते हैं। संकल्पशक्ति ही मनुष्य के जीवन में उन्नति और अवनति का कारण होती है। उपनिपदों में बतलाया गया है 'संकल्पमयोऽयं पुरुषः ' अर्थात् मनुष्य संकल्प का ही बना हुआ है। मनु महाराज का कथन है :—

संकल्पमृतः कामो वै यहः संकल्पसम्भवः। व्रत-नियम-धर्माश्च सर्वे संकल्पनाः स्मृताः॥

अर्थ सब प्रकार की कामनाओं का मूल यह संकल्प है। यह संकल्प से उत्पन्न होता है, जल (प्रतिज्ञा), नियम, धर्म सब इसी संकल्प से उत्पन्न होनेवाले माने गये हैं।

आज हमें जितने महापुरुष दीख पड़ते हैं, जिनके नाम पर संसार फूल चढ़ाता है और जिन्हें श्रत्यन्त आदर से स्मरण करता है, उनके जीवन को पवित्र और उद्य बनाने का कारण संकल्पशक्ति ही है।

आयों की ईश्वरीय और जगत् की प्राचीनतम पुस्तक 'वेद' में अनेकों सूक्त इसी विषय के आते हैं जिनमें बारम्बार यही प्रार्थना की गई है :—'तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'

श्चर्यात् मेरा यह मन पवित्र संकल्प वाला हो। यथा:-

ॐ यज्जाग्रतो द्रमुदैति दैवं तदु सप्तस्य तथैवैति । दर्-गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अर्थ — जो दिन्य मन जाप्रत श्रवस्था में दूर निकल जाता है श्रीर इसी प्कार सोने की दशा में भी बहुत दूर चला जाता है, वह दूर जाने वाला ज्योतियों का ज्योति अर्थात् इन्द्रियों का प्रकाशक मेरा मन ग्रुभ संकल्पों वाला हो।

ॐ येन कर्पाएयपसो मनीपिणो यहे क्रुपवन्ति विद्येषु घीराः। यदपूर्वे यस्त्रमन्तः प्रजानां तन्मे मनः श्चितसंकन्यमस्तु॥ अर्थ—कर्मशील, मनीषी, धीर-पुरुष जिसके द्वारा परोपकार चेत्र में तथा जीवन-संघर्ष में बड़े-बड़े कार्य कर दिखाते हैं, जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) के अन्दर एक अपूर्व पूज्य सत्ता है, वह मेरा मन ग्रुभ संकल्पों वाला हो।

ॐ यत्मज्ञानम्रुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं मजासः । यस्माक्षच्यते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्त ॥

अर्थ—जो नये-नये अनुभव कराता है। पिछले जाने हुए का अनुभव कराता है। संकट में धैर्य्य धारण कराता है। जो समस्त प्रजाओं (इन्द्रियों) के अन्दर एक अमर ज्योति है। जिसके बिना कोई कर्म नहीं किया जाता वह मेरा मन शुभ सङ्करप वाला होवे।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतपमृतेन सर्वम् ।

येन यहस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ अर्थ—जिस श्रमृत मन के द्वारा यह भूत, भविष्यन् तथा वर्तमान जाना जाता है, जिससे सात होताश्रों वाला यह फैलाया जाता है. वह मेरा मन शभ संकल्पों वाला हो ।

ॐ यस्पिन्नुचः साम यजूर्षि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविनाराः । यस्पिश्चित्त र सर्वेमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

अर्थ — जिसमें ऋचोयें, साम, यज्ज इस प्रकार टिके हुए हैं जैसे रथ की नाभि में अरे, जिसमें इन्द्रियों की सारी प्रवृत्ति पिरोई रहती है, वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

ॐ मुपारियरश्वानिव यन्मनुष्यान् नेनीयतेऽभीषुभिर्वाणिन इव । हुस्पतिष्ठं यद्जिरं जिवष्ठं तन्मे मनः शिवसंकन्पमस्तु ॥

अर्थ — द्यन्छा सारथी जिस पुकार बेगवान घोड़ों को बागों से पकड़कर चलाये जाता है उसी प्रकार जो मनुष्यों को लगातार चलाता रहता है, जो हृदय में रहने वाला है, बह मेरा मन शुभ संकर्षों वाला हो।

क्यों कि प्रारच्यकर्म संकल्प द्वारा ही क्रियमाण होते हैं, जैसा कि कहा है :—
' विनाझकाले विपरीतलुद्धिः ' इसलिय मनुष्य यदि अपने संकल्प को विशुद्ध रले और
जब वह मिलन और अपवित्र होने लगे तो यह जानकर कि मुक्तपर कोई भारी विपक्ति
आनेवाली है, शीघ ही अपने संकल्प और विचारों को शुद्ध और पवित्र बनाले तो कभी
भी दुर्भाग्य उसको भयभीत नहीं कर सकता। शुद्ध विचारवाले मनुष्य पर यदि अकस्मान्
कोई विपित्त आ भी जाए तो उसका बोक्त तुरन्त ही दूसरे लोग बाँट लेते हैं। अर्थान्
अपनी सहायता और सहानुभूति से उसकी विपत्ति को तत्काल ही दूर कर देने का यक्त
करते हैं। परन्तु इसके विकद्ध दुर्जन को तत्काल दुःख में डालने के लिये सब के सब तैयार
हो जाते हैं। सुतरां जो मनुष्य दुःखों को अपने जीवन में कम करने की इच्छा करता है
असको बाहिये कि वह संकल्य-विद्या-प्रवीण बने और उसका सुप्रयोग करना सी है।

असे उगते हुए पौथे को उखाइकर फेंकना स्वित सुगम है, परन्तु जब वह वृज्ञ बन जाए तो फिर उसको जड़ से उखाइना मतुष्य की शक्ति से बाहर हो जाता है। ठीक ऐसे ही बत्यन्न होते दुष्ट संकल्पों का उच्छेदन और उनके खान में पिवन्न तथा शुद्ध संकल्पों का संयोजन करना श्रतीव सुगम होता है, परन्तु नहीं जब एक वृद्धाकार धारण कर लेता है तो फिर उसका नष्ट करना कठिन हो जाता है। सुतरां जो उठते हुए दुष्ट संकल्प को बसी समय मिटा देते हैं वे उसके परिणामस्वरूप कर्म और कर्म के फल दुःख से भी बच्चे रहते हैं। इसी कारण 'वेद' में बारम्बार यह प्रार्थना स्वाई है— 'यह मेरा मन पिवन्न संकल्पों का स्नोत बने।' 'संकल्पविद्या' की शक्ति का पूरा-पूरा स्वतुभव करना स्वयन्त कठिन है। क्योंकि संसार के प्रत्येक पदार्थ में यह विद्या विराजमान है। स्वाजतक जितनी मानसिक शक्ति (Mental Senses) जैसे मैस्मेरियम, हिप्नोटियम, टेलीपैथी...स्मिनुस्थालिय्म स्वाई मनुष्य को विदित हुई हैं उन सब में यही स्वलीकिक शक्ति काम करती है।

माकोंनी के बिना तार के तार वाले यन्त्र ने संकल्पशक्ति को अध्युत्तमता से सिद्ध किया है। उससे इसके प्रवल अस्तित्व का प्रत्येक बुद्धिमान् को निश्चय हो जाता है।

मार्कोनी महाशय कहते हैं:-

"एक शब्द अथवा वैसा ही कोई अर वायुनग्रहल में उसी पूकार की गति उराष करता है जिस पूकार फील में एक कहूरी के डाल देने से तरक्नें उठने लगती हैं। शब्द की यह तरंगें दूर-दूर तक पहुँचती हैं, चाहे कितनी ही दूर का अन्तर क्यों न हो वह टेलियाफ के प्रत्येक यन्त्र को अपना अस्तित्व अनुभव कराती हैं। आकाश के स्क्ष्म मग्रहलों (ईयर) पर संकल्प की तरंगें दौड़ती, काम करतीं और दूर-दूर तक पहुँचती रहती हैं।" यदि मार्कोनी साहब अपने इस अलौकिक यन्त्र का आविष्कार न करते तो युक्ति तथा तर्क पर ही भरोसा रखने वाले बहुत-से मनुष्यों को विश्वास ही न होता।

ईथर की शक्ति जो आकाश में विद्यमान है, जिस पर संकल्प की तरंगें दूर तक दौड़ती हैं, इमारे मिलाक में भी विद्यमान है। निरन्तर विचार से उसके अन्दर गति उत्पक्त होती है और मिलाक से उसी भकार निकलती है जिस प्रकार विद्युत् की धाराएँ निकला करती हैं। विचार की वह धाराएँ जो अनिच्छित और संकल्पशक्ति की संरक्षा के बिना बाहर को निकलती हैं शीम ही नष्ट हो जाती हैं। परन्तु विचारशक्ति की वह तरंगें जिनके साथ संकल्पशक्ति का प्रवल वल विद्यमान होता है, मनुष्य के मिलाक से निकल कर रुकावट और विरोध के होते हुए भी उस समय तक निरन्तर दौड़ती रहती हैं जबतक उसको ऐसा कोई मन न मिला जाय जो उस विचार के साथ सहात्रभृति और अनुकलता रखता हो।

यदि आप घूया, धिकार, फटकार वा शत्रुता के विचार इसी संकल्पशक्ति की सहायवा से किसी के लिये मेजेंगे तो वे विचार जीवित शक्ति वन जायेंगे और वे तबतक निरन्तर दौढ़ते रहेंगे जबतक कि उसके मन तक न पहुँच जावें जिसके लिये वे मेजे गए थे। वे इसके खतिरिक्त और बहुत से मनों के खन्दर भी खपना प्रतिबन्द छोड़ जाते हैं। प्रेम का जो प्रत्येक विचार बाहर जाता है, खपने परियाम में प्रेम की पूरी शक्ति लेकर इसी के

રેહ

पास वापस त्या जाता है, इसीलिये यह कहावत प्रसिद्ध है कि — 'भन का मन साची है, और कारसी में कहा है कि 'दिल रा वदिल रहे श्रस्त'।

क्योंकि आसमान में अनेक माँति के विचार चक्कर लगाते रहते हैं, इसलिये जिस प्रकार के विचारों की मनुष्य में प्रह्मण करने की प्रकृति होती है, उसी प्रकार के विचारों को आकाश से वह अपनी ओर खींच लेता है। यही कारण है, यदि कोई बुरा विचार मन में उत्पन्न हो जावे तो फिर उसी प्रकार के विचारों की लड़ी मन में बन जाती है और वह तबतक बन्द नहीं होती जबतक कि मनुष्य ख्वयं अपनी प्रवल सङ्कल्पशक्ति से अपने मन को उस ओर से नहीं गोक देता।

आकाश में उत्तम से उत्तम और निकुष्ट से निकुष्ट निचार विद्यमान हैं, इसलिये केवल उन विचारों को प्रह्मण करने के लिये मनुष्य को एकाप्र-चित्त से उद्यत होना और उस ओर चित्तपृत्ति का लगाना ही पर्याप्त है। जब तत्त्ववर्शी किसी पदार्थ पर विचार करता है तो उसी सम्बन्ध में नवीन बातें उसके मन में उठने लगजाती हैं और यह ऐसी बातें होती हैं जो स्वयं सोचने वालों के लिये भी सर्वथा नई और विस्मित करदेने वाली होती हैं। इसी प्रकार आविष्कार करनेवाला जब अपने आविष्कार के सम्बन्ध में विचार करने के लिये अपने चित्त को एकाप्र करके एकान्त में बैठ जाता है तो वह आकाश में से अपने उपर्युक्त विचारों को उसी प्रकार संग्रह करलेता है जिस प्रकार एक ताइ का वृत्त भूमि से मधुर रस को अपने अन्दर खींच लेता है। ठीक इसी प्रकार से एक आविष्कार करनेवाला अपने मन को अन्य विचारों से शून्य और एकाम करके अपने उपयोगी विचारों को अपने अन्दर आने का अवसर देता है; एवं निरन्तर अभ्यास के अन्त में एक विख्यात आविष्कारक वन जाता है।

अध्यात्म-विद्या के गुढ जब अपने किसी शिष्य से कोई काम करवाना चाहते हैं तो उसको पत्र आदि नहीं लिखा करते प्रत्युत अपने विचारों को ही उसके मन में रख देते हैं। यह विचार उसके अन्दर पहुँचकर उसको वहीं काम करने के लिये प्रेरणा करते हैं जिसका कराना उसके गुढ को अभिप्रेत हाता है। यहीं मानसिक प्रेरणा है, यहीं गुप्त आध्यात्मिक सम्बन्ध और आिसक सहायता है, जो पिछले महात्मा अपने शिष्यों के साथ रखते थे। यि तुम किसी के प्रति चुरे विचारों की भावना करोगे तो वे वहाँ दु:ख और ज्याकुलता देने के पश्चात् अपने सजातीय अन्य विचारों को गुन्हारे लिये उत्पन्न करेंगे अर्थात् जितने घृणा के विचार तुम नृसरों के निमित्त उत्पन्न करोगे उससे कहीं अधिक मात्रा में लौटकर तुमको मिलेंग और यदि प्रेम के विचार भेजोगे तो वे भी प्रभाव-रहित न रहेंगे, बल्कि वे उस मन तक अवश्य पहुँचेंगे और अपने परिणाम में अधिक प्रेम को तुन्हारे निमित्त उत्पन्न करेंगे। यहीं कारण है कि जिससे तुन्हारा मन घृणा करता है वह भी उसी प्रकार तुमसे घृणा करता है। हाँ, यदि तुम उसको घृणा को तूर करना चाहते हो तो उसके लिये अपने से प्रेम-भरे विचारों को भेजो। ये विचार उसके मन का सुधार करेंगे और फिर अपने परिणाम में नुन्हारे लिये प्रेम को उत्पन्न करेंगे। इसी कारण हमारे प्राचीन शाकों ने उपदेश किया है कि प्रत्येक मनुष्य को जीवमात्र की भलाई के लिये प्रवल शक्ति के साथ यह प्राधेना करनी चाहिये:—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामगाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्तुपात्॥

अर्थ-सम्पूर्ण जीवों को सुख शप्त हो, सब प्राणी नीरोग हों, सबका कल्याण हो,

किसीको भी दुःखन हो।

जब एकं मनुष्य अपने श्रन्दर से समस्त शश्रुता के विचार निकालकर सारे रंसार के लिये अलाई श्रौर सुख की प्रार्थना करता है तब उसको उसके बदले में (Universal Love) विश्वमात्र का प्रेम प्राप्त होता है श्रौर तब संसार का कोई पदार्थ उसके लिये त्रासोत्पादक नहीं रहता।

ॐ म्राभयं नः करत्यन्तरित्तवभयं द्यावाषृथिवी उभे इमे । म्राभयं पृथादभयं पुरस्तादृत्तराद्वधरादभयं नोऽस्तु ॥

अर्थ-अन्तरित्त में हनारे लिये अभय हो, इन दोनों ही और पृथवी में सभय हो, अभय पीछे से हो, आगे से हो, उत्तर नीचे से हमारे लिये अभय हो।

> ॐ अभयं मित्रादभयमभित्रादभयं ज्ञातादभयं पुरो यः। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा माशा मम मित्रं भवन्तु ॥

अर्थ – इम मित्रों से अभय हों, राष्ट्रकों से अभय हों, जाने हुए परिचितों से अभय हों और जो आगे आनेवाले हैं, अपरिचित हैं उनसे भी अभय हों। रात्रि और दिन में हम निर्भय रहें, समस्त दिशायें हमारे मित्ररूप में हों। (अर्थव० १९-१५-५-६)

वह वनों में भी उसी श्रानन्द और सुख से रहता है जैसे कि श्रपने घर में। स्वामी विवेकानन्द जी महाराज इसी शक्ति को वर्णन करते हुए श्रपने राजयोग में इस प्रकार

योगी को चाहिये कि वह रात्रि को सोते समय खौर भातःकाल जागने पर चारों विद्याओं में मुंह करके प्रवल संकल्पशक्ति से सारे संसार की भलाई और शान्ति के अधे अपने विचारों को छोड़े। यथा:—

ॐ बौ: शान्तिरन्तिरत्त ४ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषषयः शान्तिः। वनस्वतयः शान्तिर्विरवेदेवा शान्तिर्वेद्वः शान्तिः सर्वे शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेषि,। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

अर्थ--- युलांक शान्ति दे, अन्तरित्त शान्ति दे, पृथ्वीलोक शान्ति दे, जलप्र--- । ए शान्ति देवें, रोगनाशक औषधियाँ शान्ति देवें, भोज्य वनस्पतियाँ शान्ति देवें । सबके-सब देव शान्ति-दायक होवें, ज्ञान शान्ति देवे, सब कुछ शान्ति ही देवे, शान्ति भी सचसुच शान्ति ही होबे, बहु ऐसी शान्ति सुक्षे प्राप्त होवें । Erungte |

क्योंकि Every bit of hatred that goes out of the heart of man comes back to him in full force, nothing can stop it and every impulse of life comes back to him. अर्थान घुए। का प्रत्येक विचार जो मनुष्य के अन्दर से बाहर आता है वह वापस अपने परे बल के साथ उसी के पास आ जाता है: और ऐसा करने में उसको कोई वस्तु रोक नहीं सकती। इसी प्रकार कोई मनुष्य श्रनुमान नहीं कर सकता कि सज्जानता से विचारे हुए घुणा, प्रतिकार और कामी तथा अन्य घातक विचारों के भेजने से कितने जीवन नष्ट होंगे और कितनों की हानि होगी। इसलिये विचारशक्ति के महत्त्व की समको और उसको सर्वदा पवित्र तथा निर्मल रखने का प्रयत्न करो और प्रतिदिन समस्त जीवमात्र के कल्यास के लिये प्रार्थना किया करो, इससे तुम्हारा और सबका भला होगा।

विचारों द्वारा मनुष्य के शरीर में 'स्वास्थ्य' श्रीर 'रोग' दोनों ही का सञ्चार किया जासकता है। 'विचार' भूख को उत्पन्न श्रीर नाश कर सकता है। वह मुखमराडल को सहसा पीला कर देता है, मंह और होठों को सखा देता है: और यही विचार मुख-मुख्डल को प्रकृत्लित. रक्त की गति को तीव्र और शरीर पर कान्ति प्रदान करता है। यही देह को कँपाते हुए, नेत्रों से ऑसओं का प्रवाह जारी कर देता है, मन की गति इसी के द्वारा शिथिल और तीक्षण हो जाती है। यही मनुष्य को श्रानन्दमय बना देता है.श्रीर यही मनुष्य को निराशा की चिरकाल खोह में ढकेल देता है, इसी के अकस्मात् प्राप्त आनन्द को न पचाकर मनुष्य फुलकर मर जाता है; और कभी भय के कारण लहु सूख जाने अथवा मन की गति रुक जाने तथा भय. शोक और असछ द:ल के कारण तरन्त और अकस्मात् मृत्यु हो जाती है, अर्थात् अहाँ यह मनुष्य को मृत्य के मुख में तुरन्त ढकेल सकता है वहाँ वही उसे स्वास्थ्य, आनन्द और सुख प्रदान कर सकता है।

वस्ततः हमारी दनिया वह नहीं है जिसको हम मानते हैं प्रत्युत वह है जिसका हम विचार करते हैं। मनुष्य विचारों का एक पुतला है। जैसे इसके विचार होते हैं वैसा ही यह धन जाता है। इसलिए यदि हम रोग के विचार को एक समय तक निरन्तर बनाए रखेंगे तो निराझ होना पड़ेगा, रोग अपना स्वरूप श्रवश्य दिखलायेगा, श्रधीत जैसा विचार करेंगे बैसा ही हो जायेगा।

श्चतः प्रतिदिन प्रतिक्रण मनुष्य को चाहिये कि वह निराश न हो, वरम् सदैव भाशाजनक प्रसन्नता, स्वास्थ्य और सफलता के विचारों को मन में धारण करें। सस्व और आशा की तरंगें रक्त की गति पर ही उत्तम प्रभाव डालेंगी और उसको ग्रद्ध तथा लाल करके स्वास्थ्य के सुप्रभाव को सम्पूर्ण देह में बाँट देंगी, जिससे तुम अपने स्वास्थ्य को अच्छा और शरीर को ज्याधियों से सुरत्तित रख सकोगे।

प्रत्येक मनुष्य सुन्दरता, स्वारथ्य और सुखमय जीवन की इच्छा करता है। प्रस्येक व्यक्ति चाहता है कि वह सौ वर्ष तक जीवित रहें। वह सौ वर्ष तक उस प्रकार का जीवन नहीं चाहता जो रावे-फींकते हुए और खाट पर पड़े हुए औषधियों का सेवन करते हुए

कटे। वह जीवन चाहता है जो काम करते हुए रहे, इँसते-खेलते हुए। वह उसी के लिये ईश्वर के सन्मुख सिर सुकाकर प्रार्थना करता है:—

पश्येम शरदश्शतं जीवेम शरदश्शतं श्रृत्ययाम शरदश्शतं पत्रवाम शरदश्शतमदीनाः स्याम शरदश्शतम् । (यनुः १६। २४)

अर्थ — मैं सौ वर्ष तक देखूं, सौ वर्ष जीवित रहूँ, सौ वर्ष तक सुनूं, सौ वर्ष पर्यन्त बोल्दं, सौ वर्ष तक सुखी और स्वतन्त्र जीवन भोगूं।

धार्मिक और लौकिक दोनों विषयों में मनुष्य उतना ही सफल होता है जितना उसका संकल्प दृढ होता है। यदि कोई किसी कार्य में असफल है, इसका कार्या उसका दर्भाग्य नहीं बहिक उसके संकल्प की निवलता है । मेरा तो विचार है कि मनुष्य के अन्दर यह बहुमूल्य शक्ति ऐसी गुप्त है कि जो कोई इससे काम लेना शुरू कर देता है उसको ही यह महान और उच बना देता है। अटल संकल्प में एक बलवान शक्ति होती है जो अपनी अनुकूल अवस्था को खयमेव अपनी ओर खींच लेती है। इस कार्या यह आप जीवनयात्रा में सफल होना चाहते हैं तो इस शक्ति को अपने अन्दर उत्पन्न करें क्योंकि जीवन की कठिनाइयों को दूर करने वाली यही एक शक्ति है। जिनमें यह शक्ति है वे अपने विचारों को बलवान बनाकर दूर तक भेज सकते हैं। परन्तु जिनमें यह नहीं है वे ऐसा नहीं कर सकते: श्रीर यही कारण है कि कुछ मनुष्य निवेल विचार वाले मनुष्यों की श्रपेता श्रपिक सफल, यशस्त्री और ऐश्वर्यवान हो जाते हैं। सङ्कल्पशक्ति ही मन को एकाम करके मस्तिष्क की स्रोर विचारों के स्राकर्षण में सहायक होती है। स्त्राकर्षण का यह नियम है कि उसका मकाव अपने सहधर्मी पदार्थ की श्रोर श्रधिकतर होता है, श्रर्थात् प्रत्यक पदार्थ श्रपन सह-धर्मी पदार्थ को अपनी श्रोर खींचता है। इसलिए जो मनुष्य जैसा बनना चाहता है, उसको दृढ सङ्कल्प के साथ ऋपने अन्दर वैसे ही विचार उत्पन्न करने चाहियें और यह विचार अपने सहधर्मी को अवश्य अपनी ओर खींच लावेंगे, जिसका परिग्णाम यह होगा कि वह अपने उद्देश्य में अवश्य सर्फल होगा। इसलिए यदि तुम कोई काम करना चाहते हो तो तुम काम की छोटाई-बड़ाई की ओर न देखा करो, प्रत्युत अपने विचारों के न्यूनाधिक्य पर ध्यान रखा करो, क्योंकि काम में उसकी छोटाई व सुगमता के कारण सफलता नहीं हाती प्रत्युत उस काम के करने में तुम्हारी सङ्कल्पशक्ति की न्यूनाधिकता के अनुसार सफलता होगी। जो बात तुम्हें करनी हो, उसके लिये योंही विचार न किया करो, और जब किसी काम को करने का विचार करो तो फिर उसको दूसरे निवेल विचारों की तरङ्गों के नीचे दवन न दो, और किसी ऐसे मनुष्य की सम्मति की परवाह न करा जो तुमको अपने विचार की कठिनाइयों के कारण छोड़ देने का उपदेश कर रहा हो। ऐसे मनुष्य खयं निर्वल हृदय और निर्वल विचारों के होते हैं, इसलिये वे साधारण वातों को असम्भव वातों में गिन लेते हैं। श्रीर सच तो यह है कि ऐसे मनुख्यों ने विचारों की शक्ति को कभी अनुभव नहीं किया, यदि किया होता तो वे कभी भी किसी के साहस और विचार को (यदि वह विचार किसी बुराई क करने

अथवा ऐसे कर्म करने का न हो जिसके करने से उसकी जान जोखों में हो श्रीर मनुष्य-समाज में ऋशान्ति उत्पन्न होने का भय हो) न गिराते वरन उसका साहस तोड़ने के स्थान में अपने प्रवल विचारों को साथ मिलाकर और भी श्रधिक पृष्ट करते और सफलता के श्रादर्श तक पहुँचाने में सहायता देते । जब मनुष्य एकबार हुँ विचार करके खड़ा हो जाता है, तो चाहे उसके मार्ग में कितनी ही कठिनाइयाँ क्यों न हों, वह सब को पार कर जाता है। कोई वस्तु उसको श्रपने उद्देश्य से नहीं रोक सकती. वरन ऐसे प्रवार्थी मनुष्य की सहायता के लिए प्रकृति आप काम करती है । कोई पुरुष पहले से ही महान नहीं होता, प्रत्यत जो अपनी श्राभ्यान्तरिक शक्तियों से काम लेने लग जाता है वहीं महान पुरुष बन जाता है; श्रीर जो इनकी श्रोर ध्यान नहीं देते वहीं श्रपनी जीवनयात्रा में पीछे रह जाते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती को साधारण साध से वर्त्तमान काल का ऋषि बनाने वाली यदि कोई वस्त थी, तो वह केवल उनकी सङ्कल्पशक्ति थी। समस्त भारतवर्ष उनके विचारों से विरोध रखता था, परन्त जब वह मनस्वी एक बार अपने तेत्र पर आरूढ हो गए तो कोई भी मनुष्य उनके सन्मुख खड़ा न हो सका। इसका कारण उनकी श्रमाध विद्या ही न थी, प्रत्युत हद सङ्ख्यशक्ति श्रीर उस शक्ति में पूर्ण विश्वास का होना था। इसी शक्ति के भरोसे पञाब-केसरी भहाराजा रणजीत सिंह ने अटक नदी की छाती को घोड़ों के खरपटों से यह कह कर रींय डाला और अपनी सेना को पार कर दिया कि 'जाके मन में अटक है, सोई अटक रहा, जाके मन में श्रटक नहीं, उसको श्रटक कहाँ "। सचमुच यदि मन के श्रन्दर हकाबट नहीं तो फिर कोई ऐसी शक्ति नहीं जो हमको अपने उद्देश्य की पर्ति से तथा अपने जीवन को सखी और सार्थक बनाने से रोक सके।

महं द्वतस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्व-पवित्रो वाजिनीव स्वमृतपिस्य। द्रविषाण्डं सुवर्षसम्। सुमेषा ममृतोत्तितः। इति त्रिशंकोर्वेदानुवचनम्। तै॰ उप०१। १० ०

अर्थ—मैं (संसाररूप) वृत्त को हिलाने वाला हूँ। मेरी कीर्ति पर्वत के सदस है। मैं वह दूं जिस के झान का पवित्र (अकाश) ऊंचा उदय दुत्रा है मानो सूर्त्य में है। मैं वह दूं जो असली अमृत है। मैं चमकता दुत्रा धन (खजाना) हूं। मैं सुमेधा हूं, अमृत हूं म्रांग्रान होने वाला। यह वेद की शिचा त्रिशंकु से दी गई है।

ट्द्र श्रीर बलवान सङ्कल्पशांक के कारण मनुष्य में ऐसी योग्यता श्रा जाती है कि वह अपने विचार को बहुत बड़ी शक्ति दे सकता है। अपने लक्ष्य पर फिर वह अपने विचार को उस समय वक स्थिर रखता है, जब तक उसका श्रभोष्ट प्राप्त नहीं होता। यदि किसी मनुष्य में श्रानाकानी की प्रकृति है तो यह समम लेना चाहिये कि उसकी सङ्कल्पशक्ति निवेल है और उससे कोई काम न हो सकेगा। जो श्रपना एद विचार बनाकर फिर दूसरों की ट्द सम्मति के कारण उसकी बदल देता है तो उससे भी उसकी सङ्कल्पशक्ति का पता

मिलता है और वह दूसरों की सम्मित का दास है, क्योंकि इसने श्रपनी विवेचना-शक्ति की खो दिया है। वह अपने नहीं, प्रत्युत दूसरों के विचारों के श्रनुसार कार्य कर रहा है। ऐसा करता हुआ वह दिन-पर-दिन अपनी विचारशक्ति को त्तीण कर रहा है, जिसके कारण प्रायः उसे अपने कामों में कठिनाई श्रीर श्रसफलता का मुँह देखना पड़ेगा। इस कारण इस शक्ति के महत्त्व को समस्तो । किन्तु हठ, दुराष्ट्र श्रौर उच्छङ्कलता को ही विचारशक्ति न समस्त लेना। विचारशक्ति और हठ आदि में महान अन्तर है। पहिली आचार की टढ़ता और श्रेष्ट्रता का परिग्णाम है तथा दसरी उसकी निर्वेलता का फल है।

संकल्पशक्ति को पूरा विकास देने के लिए दृढ़ आत्मविश्वास की आवश्यकता है और आत्मविश्वास की दृढ़ता आस्तिकता अर्थात् ईश्वरभक्ति से होती है। जब मनुष्य सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ ईश्वर का सहारा लेकर सारे कार्यों को उसके समर्पण करके अनासक्ति श्रीर निष्काम भाव से उसके लिए ही और अपने को केवल उसका एक करण (साधन) समभकर कर्त्तत्र्यरूप से करता है तो उसकी खर्य अपनी शारीरिक, मानसिक और आस्मिक शक्तियाँ भी ऋगाध श्रौर ऋसीम हो जाती हैं। यही कारण है कि ईश्वरभक्तों द्वारा जो महान् कार्य और अद्भुत चमत्कार त्रानायास साधारणतया प्रकट हो जाते हैं उनके अनुकरण करने में संसार की सारी भौतिक शक्तियाँ अपना पूरा वल लगाने पर भी असमर्थ रहती हैं।

उसके सारे संकल्प ईश्वर के समर्पण श्रीर उसी की प्रेरणा से होते हैं, इसलिए वह

जो संकल्प करता है वही होता है।

उसकी कोई इच्छा श्रनुचित श्रथना स्वार्थमय नहीं होती किन्तु सारे प्राणियों के

कल्याणार्थ ईश्वरार्पण होती है, इसलिये वह जो इच्छा करता है वही होता है।

वह कोई शब्द अनुचित, अनावश्यक और असत्य नहीं बोलता, उसकी वागी ईश्वर-समर्पण होती है, इसलिये उसकी वाणी से जो शब्द निकलते हैं वैसा ही होता है।

उसके कार्य अनावश्यक और स्त्रार्थिसिद्धि के लिये नहीं होते, किन्तु सब प्राणियों के हितार्थ निष्काम भाव से ईश्वर की आज्ञानुसार कर्त्तव्यरूप से होते हैं, इसलिए वह उनको पूरे लगन श्रीर दृहता से करता है। संसार की कोई शक्ति उसको श्रपने कत्तेव्य से नहीं हटा सकती।

संगति - जब यम तथा नियमों के पालन में विघ्न उपस्थित हों तो उसको निम्न प्रकार दूर करना चाहिये :--

बितर्कबाधने मतिपत्तभावनम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ—वितर्क-वाधने = वितर्को डारा यम (और नियमों) का वाध होने पर। प्रतिपत्त-भावनम् = प्रतिपत्त का चिन्तन करना चाहिये।

अन्वयार्थ-वितर्को द्वारा यम और नियमों का बाध होने पर प्रतिपक्ष का चिन्तन

करना चाहिये।

ब्याख्या-वितर्क-विरोधी तर्क अर्थात् यम, नियम आदि के विरोधी अधर्म : १ हिंसा, २ असत्य, ३ स्तेय, ४ ब्रह्मचर्य का पालन न करना, ५ परिग्रह, ६ अशीच, ७ असन्तोष,

वित्र देश

८ तप का सभाव, ९ स्वाध्याय का त्याग, और १० ईश्वर से विमुखता। जब किसी टर्घटनावश यह वितर्क उत्पन्न हों और मन में इन योग के विधर्मी अधर्मों के करने का विचार आवे तो उनके प्रतिपत्ती अर्थात् उन वितकों के विरोधी विचारों का चिन्तन करके उन वितकेरूप श्रधमों को मन से हटाना चाहिये। प्रतिपन्न विचारों के चिन्तन से यह श्राभिप्राय है कि जैसे क्रोध आने पर ज्ञान्ति का चिन्तन करना, हिंसा का विचार उत्पन्न होने पर हया के भाव का चिन्तन करना इत्यादि।

व्यासभाष्य श्रनसार प्रतिपत्तभावना :--

जब इस ब्रह्मज्ञानेच्छक योगी के चित्त में अहिंसा आदि के विरोधी हिंसादि वितर्क उत्पन्न हों कि मैं इस वैरी का हनन करूंगा। इसको दुःख पहुँचाने के लिये असत्य भी बोलंगा, इसका धन भी हरण करूँगा, इत्यादि । इस प्रकार दर्मार्ग वाली, श्रात बाधक, वितर्क-ज्वर से जलती हुई अग्नि के समान यम-नियमों का बाध होने लगे तब इनमें प्रवृत्त न होते. किन्त इन वितर्कों के विरोधी पत्तों का इस प्रकार बार-बार चिन्तन करे कि संसार की घोर श्राग्न में सन्तप्त होकर उससे बचने के लिये सब भूतों को श्रभयदान देकर मैंने योगमार्ग की शरण ली है। अब उन छोड़े हुए हिंसा आदि अधर्मों का पुन: प्रहण करना इस्ते के सन्द्रा अपनी ही त्यागी हुई वमन का चाटना है। धिकार है मुक्ते, यदि मैं योगमार्ग छोडकर श्रद्धानरूपी गढे में गिरूँ। इस प्रकार प्रथम सूत्र यमादि और द्वितीय नियमादि होनों में वितकी की प्रतिपद्मभावना जान लेनी चाहिये।

संगाति-वितकों के खरूप, उनके भेद और उनके फलसहित प्रतिपत्तभावना को बतलाते हैं :--

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमीदिता लोभकोधमोहपूर्वका मुद्रमध्याधि-मात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति मतिपत्तभावनम् ॥ ३४ ॥

डाज्डार्थ-वितर्का:-हिंसा-श्राद्य: = (यम-नियमों के विरोधी) हिंसा श्रादि वितर्क हैं। कृत-कारिता-अनुमोदिता: = वे स्वयं किये हुए, दूसरों से कराये हुए और समर्थन किये हए होते हैं 1 | लोभ-क्रोध-मोह पूर्वका: = उनका कारण लोभ, क्रोध और मोह होता है 🕂 ।

टिप्पणी-।। सूत्र ३४ ॥ ‡ यह तीन प्रकार इसलिए बतलाए गए हैं कि इन तीनों में से किसी एक को यह भ्रम न रह जाये कि 'मैंने हिंसा नहीं की' किन्त इस प्रकार के तीनों ही हिंसक हैं। छोटी बुद्धि के मनुष्य ऐसा सममते हैं कि यह हिंसा मैंने स्वयं तो नहीं की इसलिये मुक्ते दोष नहीं।-'भोजवृत्ति'

ेयद्यपि सत्र में पहिले लोभ का महरा किया है तथापि आत्मभिन्न (शरीरादि) में श्रात्माभिमान-रूपी मोह सब श्रस्मित।दि क्लेशों का कारण है। उसी के होने पर मनुष्य को अपना दूसरा सुमता है। इसलिये लोभ, क्रोध, हिंसा, असत्यभाषणादि का वहीं मूल जानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि दोष-समुदाय मोह से होते हैं। तृष्णा का नाम लोभ है। कर्त्तव्या-कर्तव्य विचार का नाशक अग्निरूप चित्त की एक अवश्या का नाम कोध है।-'भोजवृत्ति' मृदु-मध्य-मधिमात्राः = वं मृदु, मध्य और तीत्र भेद वाले होते हैं। दुःख-स्वज्ञान-अनन्तफला = उनका फल दुःख और अज्ञान का अनन्त (अपिरिमित) होना है ÷ । इति-प्रतिपत्त-भावनम् ≡ यह प्रतिपत्त की भावना करना है।

अन्वयार्थ —यभ-नियमों के विरोधी हिसा आदि वितर्क कहलाते हैं। (वे तीन प्रकार के होते हैं) खर्थ किये हुए, दूसरों से कराये हुए और अनुमादन किये हुए। उनके कारण लोभ, मोह और क्रांध होते हैं, वे मृदु, मध्य और अधिमात्रा वाले होते हैं, यह सब दु:ख और अक्कानरूपी अपरिमित फलों को देने वाले हैं। इस प्रकार प्रतिपत्त की भावना करे।

ब्याख्या—यहां हिंसा वितर्क को उदाहरण देकर बतलाते हैं, इसी प्रकार अन्य सब वितर्कों को समक्त लेना चाहिये।

हिंसा तीन प्रकार की है : खयं की हुई, दूसरों से कराई हुई और दूसरों के किये जाने पर अनुमोदन या समर्थन की हुई । कारणों के अनुसार इसके तीन भेद हैं । लोभ से की हुई, जैसे मांस, चमड़े आदि के लिये । काथ से की हुई अर्थात् किसी प्रकार का हानि पहुँचने पर देखवरा की हुई । माइवश की हुई, जैसे खर्ग आदि की प्राप्ति के लिये पशुओं की बलि करना । इस प्रकार $3 \times 3 = 9$ प्रकार की हिसा हुई । ये नौ प्रकार का हिसा सुदु, मध्य और अधिमात्रा के भेद से $9 \times 3 = 9$ प्रकार की हुई । इसी प्रकार सुदु, मध्य और आधिमात्रा के भेद से $9 \times 3 = 9$ प्रकार की हुई । इसी प्रकार सुदु, मध्य और अधिमात्रा के प्रत्येक का सुदु, मध्य, अधिमात्रा का भेद होने से तीन-तीन भेदवाली $9 \times 3 = 9 \times 9$ प्रकार की हुई । इसी प्रकार असत्य, स्तय आदि वितर्कों के बहुत भेद होकर अनन्त, अपिरिमत अज्ञान और दु:ख इनका फल होता है ।

जब इस प्रकार नितकं उपस्थित हों तब उनको इनके प्रतिपत्ती व्यर्थात् विरोधी विचारों से हटाना चाहिये कि ये हिंसा व्यादि वितके महापाप हैं। रजोगुरण व तमोगुरण को उत्पन्न करके मोह तथा दु:ख में डालने वाले हैं। यदि इनमें फेंसा तो दु:ख और श्रद्धान का व्यन्त न होगा व्यर्थात् यह सब अपरिमित दु:ख और श्रद्धानरूपी फलों को देने वाले हैं। इस कारण इन से सबेदा बचना चाहिये। यह प्रतिपत्त भावना है। इस प्रकार यम-नियमों के विभ्नों को हटाता हुआ योगमागे पर चल सकता है।

श्री व्यासजी महाराज हिसा वितके के प्रतिपत्त की भावना इस प्रकार बतलाते हैं:—
हिंसक पहिले वध्य-पशु के वीये अथोत् बल का नाश करता है, फिर शकाहि से
मारकर दु:ख देता है, फिर उस जीवन से भी छुड़ा देता है। वध्य पशु के बल को नष्ट करने
के कारण हत्यारे के स्वयं शरीर, इन्द्रिय आदि का बल तथा पुत्र, पौत्र, धनादिक
वपकरण नष्ट हो जाते हैं, और शका द्वारा पशु को दु:ख देने के बदले नरक, तियेक्, पशु

अज्ञान : मिध्याज्ञान अर्थात् संशयात्मक और विपरीत ज्ञान को कहते हैं।

[÷]दुःखः अपनी विरुद्ध प्रतीत होनेवाली रजोगुण से उत्पन्न हुई चित्त की एक वृत्ति का नाम दुःख है।

त्रादि योनियों में वैसा ही दु:स्व भोगता है और वध्य पशु के जीवत्व नष्ट करने के फलस्करूप दु:साध्य रोग में पीड़ित होकर प्रार्णान्त सिन्निहित श्रवस्था को प्राप्त होकर मरने की इच्छा करता हुआ भी दु:ख-फल श्रवस्थ भोग्य होने से बड़े कष्ट से ऊँचे-ऊँचे साँस लेकर जीता है। यदि किसी कारण से पुख्य मिली हुई हिसा होने तो भी उस जन्म में उस पुख्य का फल सुख-प्राप्ति श्रवस्था ही होगी। इसी प्रकार यथासम्भव श्रवस्थादि श्रन्य यमों तथा नियमों में भी जान लेना चाहिय। इस प्रकार वितकों में श्रविष्ट-फल का चिन्तन करता हुआ उनसे मन को हटावे।

संगति—इन वितर्कों के प्रतिपत्तों से निर्मल हो जाने के पश्चात् योगी को यम तथा नियमों में जो सिद्धि प्राप्त होती है उसका वर्णन करते हैं :—

अहिंसामतिष्ठायां तत्सिकाषी वैरत्यागः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ — अहिंसा-प्रतिष्ठायाम् = अहिंसा की टढ़ स्थिति हो जाने पर । तन्सिन्नधौ --उस (अहिंसक योगी) के निकट । वैर-त्यागः (सर्वप्राणिनाम् भवति) = सब अणियों का वैर छट जाता है ।

अन्वयार्थ— ऋहिसा की दढ़ स्थिति हो जाने पर उस (ऋहिसक योगी) के निकट सब प्राणियों का वैर छट जाता है।

ध्याख्या—'सर्वत्राणिनां भवति' सूत्र के श्रन्त में यह वाक्यशेष है। जब योगी की श्राहसा-पालन में दृद स्थित हो जाती है तब उसके श्राहंसक प्रभाव से उसके निकटवर्ती सब हिंसक प्राणियों की भी श्राहसक वृत्ति हो जाती है।

श्राहिसानिष्ठ योगी के निरन्तर एसी भावना श्रीर यह करने से कि उसके निकट किसी प्रकार की हिंसा न होने पाने, उसके श्रन्तःकरण से श्रहिसा की सात्त्विक धारा इतने तीव्र श्रीर प्रवल वेग से बहुन लगती है कि उसके निकटवर्त्ती तामसी हिंसक श्रन्तःकरण भी उससे प्रभावित होकर तामसी हिंसक श्रुन्तः करणा भी उससे प्रभावित होकर तामसी हिंसक ब्रन्ति को त्याग देते हैं।

सत्यनतिष्ठायां क्रियाफताश्रयत्वम् ॥ ३६ ॥

शास्त्रार्थ—सत्य-प्रतिष्ठायाम् = सत्य में हद स्थिति हो जाने पर। क्रियाफल-बाध-यत्वम् = क्रिया फल का व्यायय बनती है।

अन्वयार्थ-सत्य में हद शिति हो जाने पर किया फल का आश्रय बनती है।

व्याख्या — जिस योगी की सत्य में टद स्थित हो गई है उसकी वाणी से कभी असत्य नहीं निकलेगा, क्योंकि वह यथार्थ झान का रखनेवाला हो जाता है। उसकी वाणी अमोघ हो जाती है। उसकी वाणी उपमोघ हो जाती है। उसकी वाणी उदारा जो किया होती है, उसमें फल का आश्रय होता है अर्थात् जैसे किसी को यझादिक क्रिया के करने में उसका फल होता है, इसी प्रकार योगी के केवल वचन से ही वह फल मिलजाता है। यदि वह किसी से कहे कि तू धर्मात्मा अथवा सुखी हो जा, तो वह ऐसा ही हो जाता है।

सत्यनिष्ठ योगी के निरन्तर ऐसी भावना और धारणा रखने से कि उसके मुख से न केबल भूत और वर्तमान के सम्बन्ध में किन्तु भविष्य में होने वाली घटनाओं के सम्बन्ध में भी कोई असत्य वचन न निकलने पाने, सत्य की प्रवलता से उसका अन्तःकरण इतना खच्छ और निर्मल होजाता है कि उसकी वाशी से वही बात निकलती है जो क्रिया-रूप में होने वाली होती है।

अस्तेयमिष्ठायां सर्वरक्रोपस्थानम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—अस्तेय-प्रतिष्ठायाम् = श्रस्तेय की दृढ़ स्थिति होने पर । सर्व-स्त्र-खप-स्थानम् = सव रह्नों की प्राप्ति होती है ।

अन्वयार्थ-अस्तेय की दृढ़ स्थिति होने पर सब रह्नों की प्राप्ति होती है।

ब्याख्या—जिसने राग को पूर्णतया त्याग दिया है वह सब प्रकार की सम्पत्ति का स्वामी है, उसको किसी चीज की कमी नहीं रहती। इसमें एक आख्यायिका है :—

किसी निर्धन पुरुष ने वड़ी खाराधना के प्रश्नात् धन-सम्पत्ति की देवी के दर्शन किये। उसके पैरों की एड़ी और मस्तिष्क विसा हुआ देखकर उसको आश्चर्य हुआ। अपने भक्त की अश्वर्य हुआ। अपने भक्त की विवेक स्थागकर मेरे पीछ गारे-मारे किरते हैं उनको टुकराते हुए मेरे पैर की एड़ी धिस गई है; और जिन्होंने ईअर-प्रश्चिधान का आसरा लेकर गुक्तमें राग छोड़ दिया है तथा गुक्तसे दूर भागते हैं उनको रिकान और अथनी और अश्वर्त्त करने के लिये उनकी चौखट पर रगड़ते-रगड़ते मस्तिष्क धिस गया है।

ब्रह्मचर्यमतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ — ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायाम् = ब्रह्मचर्य की टट्ट स्थिति होने पर । वीर्येलाभः = वीर्य का लाभ होता है।

अन्वयार्थ - ब्रह्मचर्य की दृढ़ श्यिति होने पर वीर्य का लाभ होता है।

व्याख्या — वीर्थ ही सब शक्तियों का मूल कारण है, उसके पूर्णतया रोकने से शारीरिक, मानसिक और आस्मिक शक्तियाँ बढ़ जाती हैं, और योगमार्ग में बिना हकावट पूरी उन्नति कर सकता है। वह विनय करने वाले जिक्कामुओं में क्वान प्रदान करने में समर्थ हो जाता है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ॥ ३६ ॥

दाष्ट्रार्थ-- अपरिप्रह्-स्थैर्य-जन्मकथन्ता-सम्बोध: = अपरिप्रह् की स्थिरता में जन्म के कैसेपन का सालान् होता है।

अन्वयार्थ -अपरिग्रह की स्थिरता में जन्म के कैसेपन का साजात होता है।

व्यास्था—सूत्र के श्रन्त में 'श्रस्य भवति' शेष है। श्रपरिप्रह की व्याख्या में बतला आप हैं कि योगी के लियं सबसे बड़ा परिम्रह श्रविद्या, रागादि क्लेश और शरीर में भहुंत्व और ममत्व है। इनके त्यागने से उसका चित्त शुद्ध, निर्मल होकर यथाथे झान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है। इससे उसको भृत और भविष्य जन्म का झान हो जाता है कि इससे पूर्व जन्म क्या था, कैसा था, कहाँ था, यह जन्म किस प्रकार हुआ, आगे कैसा होगा। इस प्रकार इसकी तीनों काल में आत्मखरूप की जिज्ञासा निवृत्त हो जाती है।

संगति-अब नियमों की सिद्धियाँ कहते हैं :-

शौचात् स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—शौचात् =शौच से । स्वाङ्ग-जुगुप्सा = अपने अङ्गों से घृणा होती है । परैं:-असंसगः = दसरों से संसर्ग का अभाव होता है ।

अम्बयार्थ — शौच से अपने श्रङ्गों से घूणा और दूसरों से संसर्ग का अभाव होता है। व्याख्या - शौच के निरन्तर अभ्यास से योगी का हृदय शुद्ध हो जाता है, व्यक्त मल-मृत्रादि अपवित्र वस्तुओं के भगवार इस शरीर की श्रशुद्धियाँ दोखने लगती हैं। इसमें राग और ममत्व छूट जाता है। इसी हेतु से वसका संसर्ग दूसरों से भी नहीं रहता। वह इस शरीर से परे सबसे अलग रहते हुए केवली होने का यत्न करता है। यह शरीरशुद्धि का फल है।

संगति - अव आभ्यन्तर शौच का फल कहते हैं :-

सन्बशुद्धिसीयनस्यैकाइयेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ-सत्त्वशुद्धि = चित्त की शुद्धि । सौमनस्य = मन की ख्वच्छता । ऐकाम्य = एकामता । इन्द्रियजयः = इन्द्रियों का जीतना । आत्मदर्शन-योग्यत्वानि च = श्रौर आत्मदर्शन की योग्यता ।

अम्बयार्थ—चित्त की शुद्धि, मन की खच्छता, एकाप्रता, इन्द्रियों का जीतना और आत्मदर्शन की योग्यता आभ्यन्तर शौच की सिद्धि से प्राप्त होती है।

क्याख्या — सूत्र के ब्यन्त में 'भवन्ति' यह वाक्यरोष है । आध्यन्तर शौच की हृद् स्थिति होने पर तम तथा रज के आवरण धुल जाने से चित्त निर्मल हो जाता है। मन के खच्छ होने से उसकी एकामता बदती है। मन की एकामता से इन्द्रियों का वशीकार होता है क्योन बहिर्मुख से व्यन्तर्भुख हो जाती हैं।

परांचि स्वानि व्यव्यात् स्वयम्भूस्तस्मात् परांक् पश्यति नान्तरात्मन् । कथिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैत्तदाष्ट्रसच्छरमृतत्वमिन्छन् ॥

— कट उपनिषद वस्ली ४ मन्त्र १ अर्थ — स्वयम्भू ने (इन्द्रियों के) होदों को बाहर की ओर हेदा है वहिमुख किया है। इस कारण मनुष्य बाहर देखता है, श्रपने धन्दर नहीं देखता। कोई ही धीर पुरुष अमृत को बाहता हुआ। धपनी आँखों (इन्द्रियों) को बन्द करके धन्तर्भुख होकर उस आत्मा को जो धन्दर है देखता है। इस प्रकार इन्द्रियों के वशीभृत हो जाने से चित्त में विवेकस्थाति-रूपी आत्मदर्शन की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

सन्तोषादनुत्तमग्रखलाभः ॥ ४२ ॥

द्माब्दार्थ—सन्तोषात् = सन्तोषसे। अनुत्तम-सुख-लाभः = अनुत्तम सुख प्राप्त होता है। अन्वयार्थ—सन्तोष से अनुत्तम सुख प्राप्त होता है।

व्याख्या—अनुत्तम सुख—उत्तम से उत्तम सुख त्रार्थात् जिससे बढ़कर कोई श्रीर सुख न हो। सन्तोष में जब पूरी श्विरता हो जाती है तो तृष्णा का नितान्त नाहा हो जाता है। तृष्णा-रहित होने पर जो प्रसन्नता तथा सुख प्राप्त होता है उसके एक श्रंहा के समान भी बाह्य-सुख नहीं हो सकता। व्यासजी का कथन है:—

यच कामसुखं लोके यच दिन्यं महत्सुलम् । तन्यान्यसुखस्यैते नाईतः षोदशीं कलाम् ॥

अर्थ—संसार में जो कामसुख है और जो महान दिव्य सुख है वह तृष्णा के ज्ञय के सुख कें सोलहर्ने त्रांश के समान भी नहीं है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धित्तयात्तपसः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ--काय-इन्द्रिय-सिद्धिः = शरीर श्रीर इन्द्रियों की सिद्धि । श्रश्चद्धिःस्रयात् = श्रश्चद्धि के दूर होने से । तपसः = तप से होती हैं ।

अन्वयार्थ—तप से चशुद्धि के तय होने से शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है।

व्याख्या—जिस श्रकार लोहें को बार बार खाग पर तपाने और श्रहिरन पर कूटने
से उसके मल दूर हो जाते हैं और उसको इच्छानुसार काम में ला सकते हैं। इसी श्रकार
तप के निरन्तर अनुष्ठान से अशुद्धियों के मलों के दूर होने पर शरीर खस्थ खच्छ और
लघु हो जाता है, और उसमें अणिमा आदि सिद्धियें (२।४४,४५) आ जाती हैं और
इन्द्रियें दिव्य-दर्शन, दिव्य-श्रवण, दूर-श्रवण (२।४८) आदि सिद्धियों को शाप्त करने
में समर्थ हो जाती हैं।

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्मयोगः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—स्वाध्यायात् = स्वाध्याय से । इष्ट-देवता-सम्प्रयोगः = इष्ट देवता का साञ्चात् होता है ।

अन्वयार्थ-स्वाध्याय से इष्ट देवता का साज्ञात् होता है।

व्याख्या—स्वाध्यायशील को देवता, ऋषियों और सिद्धों के दर्शन होते हैं ब्यौर वे इसके योग-कार्यों में सहायक होते हैं।—(व्यासभाष्य)

इष्ट मन्त्र के जपरूप स्वाध्याय के सिद्ध होने पर योगी को इष्ट देवता का योग होता है अर्थात वह देवता प्रत्यन्न होता है। (भोजकृति)

उपासना में उपास्य के गुणों को धारण करना, उसमें श्रवस्थित होना अर्थात् उसके तदाकार होना होता है। उपास्य के जिन इष्ट गुणों श्रथवा श्राकारविरोष की भावना के साथ किसी विरोष मंत्र अथवा विना मंत्र के धारणा की जाती है तब ध्यानको परिपक्त श्रवस्था में रजम् और तमस् से शून्य हुआ चित्त सात्त्विक प्रकाश में उस विशेष इष्ट श्राकार में परिणित हो जाता है। जैसा कि समाधिपाद सूत्र १८ के विशेष वक्तव्य में साकार उपासक भक्तों के सम्बन्ध में बतलाया गया है।

समाधिसिद्धिरीश्वरमिखधानात् ॥ ४४ ॥

दाव्यार्थ—समाद्धिसिधिः = समाधि की सिद्धि । ईश्वर-प्रणिधानात् = ईश्वरप्रणिधान में होती है ।

अन्वयार्थ-समाधि की सिद्धि ईश्वर-प्रणिधान से होती है।

व्याल्या—ईश्वर की भक्तिविशेष और सम्पूर्ण कर्मों तथा उनके फलों को उसके समर्पण कर देने में विष्न दूर हो जाते हैं और समाधि शीष्र सिद्ध हो जाती है। इस समाधिपन्ना से योगी देशान्तर, देहान्तर और कालान्तर में होनेवाले श्राभिमत पदार्थों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

यहाँ यह शक्का नहीं करना चाहिये कि ''जब ईश्वर-प्रणिधान से ही समाधि का लाभ हो जाता है तो योग के अन्य सात अल्लों के अनुष्ठान से क्या प्रयोजन हैं'' क्योंकि इन सोतों योग-स्वल्लों के विना ईश्वर-प्रणिधान का लाभ कठिन है। इसलिये यह ईश्वर-प्रणिधान के भी उपयोगी साधन हैं। ईश्वर-प्रणिधान के निन्न उपिथान से निनावकार के विन्न उपिथान हों। ईश्वर-प्रणिधान सहित योग-स्बल्लों के अनुष्ठान से नीनावकार के विन्न उपिथान हों। ईश्वर-प्रणिधान सहित योग-स्बल्लों के अनुष्ठान से निर्विन्नता के साथ शीघ ही समाधि-सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इसलिये योगाभिलाषी-जनों को ईश्वर-प्रणिधान सहित योग के अल्लों का अनुष्ठान करना चाहिये।

संगति—यम-नियम को सिद्धियों सहित बतलाकर श्रव क्रमशः श्रासन का लक्षण कहते हैं:-

स्थिरमुखगासनम् ॥ ४६ ॥

अर्थ-जो स्थिर और सुखदायी हो वह आसन है।

व्याख्या - जिस रीति से स्थिरतापूर्वक बिना हिले-डुले खौर सुख के साथ बिना किसी प्रकार के कष्ट के दीर्घकाल तक बैठ सकें वह खासन है। हठयोग में नाना प्रकार के खासन हैं। जो शरीर के खस्थ, हरका खौर योग-साधन के योग्य बनाने में सहायक होते हैं पर यहाँ उन आसनों से अभिप्राय है जिनमें सुखपूर्वक निश्चलता के साथ अधिक से अधिक समय तक ध्यान लगाकर बैठा जा सके। उनमें से ज्यादा उपयोगी निम्न हैं। जो अध्यासी जिसमें सुगमतया अधिक देर तक बैठ सके वह इसको महुगा करे।

खस्तिकासन, सिद्धासन, समासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, वीरासन, गोमुखासन,

 र खस्तिकासन की विधि – दायें पाँव के श्रंगूठे और श्रन्य चार उंगलियों को कैंची के सहश फैलाकर उसके श्रन्दर बायें पाँव श्रीर जंघा के जोड़ वाले नीचे भाग को दबाओं। स्त्रीर दाये पांव को तली बाई जंघा के साथ लगायें। इसी प्रकार बायें पैर को दायें पैर के नीचे लेजाकर श्रंगूठे और उंगलियों की कैंची में दायों पाँव श्रीर जंघा के जोड़ वाले नीचे भाग को दबाश्रो। और बायें पांव की तली दायीं जांग के साथ लगाएं। दायें पांव के स्थान पर बायें पाँव का तथा बायें के स्थान पर दायें पांव का भी उपयोग किया जा सकता है।

सिद्धासन — बार्थ पैर की एड़ी को सीवनी श्रार्थात् गुदा श्रीर उपस्थेन्द्रिय के बीच में इस प्रकार दृदता से लगावे कि उसका तला दायें पैर की जंघा को स्पर्श करें। इसी प्रकार दाहिने पैर की एड़ी को उपस्थेन्द्रिय के जड़ के ऊपर भाग में इस प्रकार दृद लगावे कि उसका तला बायें पैर को जंघा को स्पर्श करें। इसके प्रधात् बायें पैर के श्रंगुठे श्रीर तर्जनी को दायों जांच श्रीर पिडली के बीच में ले लेवें। इसी प्रकार दायें पैर के श्रंगुठे श्रीर तर्जनी को बायों जंघा श्रीर पिडली के बीच में ले लेवें। इसी प्रकार दायें पैर के श्रंगुठे श्रीर तर्जनी को बायों जंघा श्रीर पिडली के बीच में ले लेवें। सारे शरीर का भार एड़ी श्रीर सीवनी के बीच की हो नस पर तुला रहना चाहिए।

इससे नाई। समृह में आग-सी तप्त होने लगती है। इसलिए नितम्बों के बीच में आध इश्व मोटी गई। अथवा कपड़ा लगा देना चाहिए। यह आसन वीर्थ-रच्चा के लिए अति उपयोगी है। इस आसन के सम्बन्ध में कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि इससे गृहस्थियों को हानि पहुँचती है यह अम-मृलक है।

समासन — सिद्धासन से इसमें केवल इतना भेद है कि इसमें पहले उपस्थेन्द्रिय की जड़ के ऊपर के भाग में बायें पैर की एड़ी को सिद्धासन की विधि से रखत हैं। इससे कमर सीधी तनी रहती है।

४ पद्मासन - चौकड़ी लगाने में दाहिने पैर को बायें रान की मूल में और बायें पैर को दाहिने रान का मूल में जमाकर रखने से पद्मासन बनता है। इस आसन से इर्रार नीराग रहता है और प्राणायाम की क्रियाओं में सहायता मिलती है।

५ बद्ध-पद्मासन —यह पद्मासन सिद्ध होने के पश्चात् किया जा सकता है। इस में दोनों जंघाओं को दानों पैरों से दवाकर रखना होता है और पैरों के अंगूठे भूमितल से लगे रहते हैं।

६ धीरासन—दाहिना पैर वार्यी जंघा पर श्रीर वार्ये पैर को दाहिनी जंघा पर रखकर दोनों हाथों को घुटने पर रखें।

७ गोमुखासन—दाहिन पृष्ठ पार्श्व (चूतड़) के नीचे बायें पैर के गुरूक (गांठ) को ब्रौर बायें पृष्ठ पार्श्व के नीचे दाहिने पैर के गुरूक को रखकर दाहिने हाथ को सिर की ओर से और बायें हाथ को नीचे की ब्रोर से पीठ पर ले जाकर दाहिनी तर्जनी (अंगुट्ठे के बगल वाली अंगुली) से बायीं तर्जनी को टड्डापूर्वक पकड़ लें।

८ बजासन —दोनों जंघात्रों का वज के समान करके दोनों पात्रों के तलुवों को गुदा के दोनों और पाश्वे भाग में लगाकर घुटने के बल बैठ जावे। जिससे कि घुटने सं निचले भाग से पांव की उंगलियों का भाग भूमि को स्पर्श करे। खासन के समय गईन, सिर और कमर को सीधे एक रेखा में रखना चाहिए। और मुलबन्ध के साथ खर्थान गुदा और उपस्थ को खन्दर की ओर खींच कर बैठना चाहिए।

खेचरी महा के साथ अर्थात जिह्ना को ऊपर की ओर ले जाकर ताल से लगाकर बैठने से भ्यान अच्छा लगता है और श्रासन में हढता श्राती है। एक ही श्रासन से शनै:-शनै: अधिक समय वैठने का अभ्यास बढ़ाते रहना चाहिए। पैर आदि किसी अंग में एक श्रासन में बैठे रहन से यदि दर्द मालम हो तो उस श्रंग पर नरम कपड़ा रखकर बैठना चाहिए। यदि श्रधिक पीड़ा हो तो रतन-जोत के तल की मालिश कर सकते हैं। एक श्रासन से जब ३ घंटे ३६ मिनिट तक बिना हिले-इले सुखपूर्वक बैठ सको तब उस श्रासन की सिद्धि समक्तती चाहिये। श्रारम्भ में बीच में दो-एक बार श्रासन को बदल सकते हैं। श्रासन को दृढ़ करने का सरल उपाय यह है कि जब बैठने का श्रवसर मिले उसी एक ज्यासन में बैठने का यज्ञ करें । जो अभ्यासी स्थल अथवा विकारी जारीर होने के कारण उपर्यक्त श्रासनों में न बैठ सके वह श्रर्द्ध पदा, श्रद्ध सिद्ध श्रथवा किसी सुखासन से तथा दीवार का सहारा लेकर बैठ सकते हैं। पर मेहदगढ़ को सीधा श्रीर कमर, गर्दन और सिर का सम रेखा में रखना ऋति आवश्यक है। प्रथम तीन-अर्थात् खस्तिक, सिद्ध श्रीर सम श्रासनों में हाथों को उल्टा करके घटनों पर रखना श्रथवा ज्ञानमदा से बैठना लाभ-दायक है। दोनों हाथों की कलाई को घुटनों पर रखकर तर्जनी अर्थात अंगूठे के पास की अंगुली तथा अंगुठ को एक दसरे की ओर फेरकर दोनों के सिरे आपस में मिलाने और शेष श्रंगुलियों को सीधा फैलाकर रखने को ज्ञानमुद्रा कहते हैं। श्रन्य तीन अर्थात पन्न. बद पदा तथा वीरासन में दोनों हाथों को उठाकर सीने से लगाये रखना हितकर है। सब श्चामनों में बायां हाथ एड़ियों के ऊपर सीधा रखकर उसी प्रकार दायां हाथ उसके ऊपर रख कर अथवा जिसमें सुगमता प्रतीत हो उस विधि से हाथों को रखकर बैठ सकते हैं। मख को पूर्व अथवा उत्तर दिशा की खोर करके बैठना चाहिए।

कश्यास पर बैठने से तीन घंटे पूर्व कुछ न खावे। बैठने के लिए एक चौकी होनी बाहिए जो न अधिक ऊँची हो और न अधिक नीची हो। चौकी के उत्पर कुशासन उसके उत्पर उन का आसन उसके उत्पर उन का आसन उसके अप रेशम या (उसके अभाव में) सूत का वख होना चाहिए। अहिंसा में निष्ठा रखने वाले अभ्यासियों को किसी प्रकार के चर्म को आसन के रूप में प्रयाग न करना चाहिए। देश काल और परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुए किसी-किसी स्मृति में सृगचमें की ब्यवस्था दी गई है किन्तु वर्त्तमान समय में उत्तम से उत्तम उनी आसन सुगमता से पात हो सकते हैं और निरपराधी पशुओं की हिंसा अधिकतर चर्म प्राप्ति के उद्देश्य से ही की जाती है।

विशेष वक्तव्य—।। सूत्र ४६ ॥ अभ्यास ऐसी कोठरी या कमरे में करना चाहिये। जो शुद्ध शान्त, एकान्त चौर निर्विच्न हो। हर प्रकार के शोरगुल, मच्छर, पिस्सू और सील चाहि से रहित हो। हवन अथवा घृत के साथ धूप-दीप चाहि सुगन्धित वस्तुओं के जलाने से बसको सुगन्धित रखना चाहिये। नदीतट अथवा पांच हजार कीट से अधिक ऊँचाई वाले पहाड़ी खानों का वायुमंडल शुद्ध और भजन के लिये अधिक उपयोगी होता है। गरम मैदान वाले खानों में शरद् और वसन्त ऋतु में भजन अच्छा हो सकता है। पराड़ों में अथवा जमीन में खुदी हुई गुफा समाधि लगाने के लिए अति उत्तम है किन्तु उसमें सोल किंचिन्मात्र भी न होने पावे और शुद्ध हो। योगाभ्यास में खान-पान में संयम रखना अति आवश्यक है। और शरीर तथा नाड़ीशोधन से शीव सफलता प्राप्त होती है। जिसका विस्तारपूर्वक वर्णन इन पाद के प्रथम तथा २२ वें सूत्र के विशेष विचार में कर दिया गया है। यहां शरीर के सूक्ष्म, सास्विक, शुद्ध, स्वस्म, नीरोग, अपसन को हद और ध्यान को खिर करने तथा कुण्डलिनी को जागृत करने वाले कुछ उपयोगी, बन्ध, मुद्रायें और आसन वक्षलाये देते हैं:—

१ मूळ-बन्ध-भृल गुदा एवं लिङ्ग स्थान के रन्ध्र को बन्द करने का नाम भूल-बन्ध है। वाम पाद की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्य भाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़ कर योनि स्थान अर्थात् गुदा और लिङ्ग एवं कन्ध्र के बीच के भाग को दढ़तापूर्वक संकोचन द्वारा अर्थागत अपान वायु को बल के साथ धीरे-धीरे अपर को खेंचने को मूल-बन्ध्र कहते हैं। सिद्धासन के साथ यह बन्ध्र अच्छा लगता है। अन्य आसनों के साथ एड़ी को सीबिनी पर बिना लगाये दुए भी मूल-बन्ध्र लगाया जा सकता है।

फल: इससे ध्रयान वायु का ऊर्ध्वन्गमन होकर प्राग्य के साथ एकता होती है। इत्तरहिलनी शक्ति सीधी होकर ऊपर की श्रोर चढ़ती है। कोष्ठबद्ध दूर करने, जठराग्नि को प्रदीप्त करने श्रौर वीर्य को ऊर्ध्व-रेतस् बनाने में यह बन्ध श्राति उत्तम है। साधकों को न केवल भजन के श्रवसर पर किन्तु हर समय मूल-बन्ध को लगाए रखने का श्रभ्यास करना चाहिए।

२ उद्दुडीयान बन्ध —दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलुओं को परस्पर भिड़ाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर के आठ अंगुल हिस्से को बल-पूर्वक खींचकर मेरुद्यु रीद की हुड्डी से ऐसा लगादे जिससे कि पेट के स्थान पर गड़्द्वा-सा दीखने लगे। जितना पेट को अन्दर की ओर अधिक खींचा जावेगा उतना ही अच्छा होगा। इसमें प्राण पूर्वी के सदश सुपुम्ना की ओर डड्ने लगता है इसलिये इस बन्ध का नाम उड्डीयान रखा गया है। यह बन्ध पैरों के तलुओं को बना भिड़ाए हुए भी किया जा सकता है।

फल : प्राया श्रीर वीये का ऊपर की श्रोर दौड़ना, मन्दाप्ति का नाश, क्षुधा की बृद्धि, जठराप्ति का प्रवीस श्रीर फेकड़े का शक्तिशाली होना।

जालन्धर-बन्ध — करेंट को सिकोड़कर ठोडी को टदता-पूर्वक करेंटकूप में इस प्रकार स्थापित करें कि हदय से ठोडी का अन्तर कंवल चार अंगुल का रहें, सीना आगे की ओर तना रहें। यह बन्ध करेंट स्थान के नाड़ी-जाल के समृह को बांधे रखता है इसलिये इसका नाम जालन्धर-बन्ध रखा जाता है।

फल : कराठ का सुरीला, मधुर श्रौर श्राकर्षक होना, कराठ के सङ्कांच द्वारा इड़ा, पिङ्गला नाडियों के बन्द होने पर प्रारा का सुषुम्ना में प्रवेश करना।

39

लगभग सभी आसन, मुद्रायें और प्रायायाम मूलबन्ध श्रौर उड्डीयान-बन्ध के साथ किये जात हैं। राजयोग में ध्यानावस्था में जालन्धर-बन्ध लगाने की बहुत कम श्रावश्यकता होती है।

४ महाबन्ध — पहली विधि : बांये पैर की एड़ी को गुदा और लिङ्ग के मध्य भाग में जमाकर बांयीं जंघा के ऊपर दाहिने पैर को रख, समसूत्र में हो, वाम अथवा जिस नासारन्त्र से बायु चल रहा हो उससे ही पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे। फिर मूलढ़ार से बायु को ऊपर की ओर आकर्षण करके मूलबन्ध लगावे। मन को मध्यनाड़ी में लगाय हुए यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् पूरक के विपरीत वाली नासिका सं धीर-धीरे रेचन करें। इस प्रकार दोनों नासिका से अत्लोम-विलोम रीति से समान प्रणायाम करें।

दूसरी विधि : पदा अथवा सिद्धासन से बैठ योनि और गुझ-प्रदेश सिकोड़ अपान-बायु को उर्ध्वगामी कर नाभिष्य समान-वायु के साथ मिलाकर और हृदयश प्राण्वायु को अधोमुख करके प्राण् और अपान वायुओं के साथ नाभिष्यल पर हृद्दरूप से कुम्भक करें।

फल : प्रारा का उर्ध्वगामी होना, बीये की शुद्धि, इड़ा, पिङ्गला श्रीर सुपुम्ना का सङ्गम प्राप्त होना, बल की बृद्धि इत्यादि।

५ महावेध —पहली विधि: महावन्ध की प्रथम विधि अनुसार मूलबन्ध-पूर्वक कुम्भक करके दोनों हाथों की हथेली भूमि में हद स्थिर करके हाथों के बेल ऊपर उठकर दोनों नितम्बों (चूतड़) को शनै: ज्ञानै: ताइना देवे; और ऐसा ध्यान करे कि प्राग्य इड़ा, पिङ्गला को होड़ेक्तर कुएडिलानी शक्ति को जगाना हुआ सुपुम्ना में प्रवेश कर रहा है। तत्पश्चात् वायु को शनै: शनै: महावन्ध की विधि अनुसार रेचन करें।

दूसरा विधि: मूलवन्ध के साथ पद्मासन से बैठे, ऋषान श्रौर भाखवायु को नाभि-स्थान पर एक करके (मिलाकर) दोनों हाथों को तानकर नितम्बों (चृतकों) से मिलते हुए भूमि पर जमाकर नितम्ब (चूतक्) को श्रासन-सहित उठा-उठाकर भूमि पर ताड़ित करते रहें।

फल : कुराडलिनी शक्ति का जायत होना, प्रार्ण का सुपुम्ना में प्रवेश करना । महा-बम्ध, महावेध और महासुद्रा तीनों को मिलाकर करना श्रधिक फलदायक है ।

सदा

१ खेचरी मुद्रा—जीभ को ऊपर की खोर उस्टी लैजाकर तालु-कुहर (जीभ के ऊपर तालु के बीच का गढ़ा) में लगाये रखने का नाम खेचरी मुद्रा है। इसके निमित्त जिह्ना को बढ़ाने के लिये तीन साधन किये जाते हैं : छेदन, चालन और दोहन।

पहिला साधन—छंदन: जीभ के नीचे के भाग में सूताकार वाली एक नाझी नीचे काले दौतों की जड़ के साथ जीभ को खींचे रखती है। इसलिये जीभ को ऊपर चढ़ाना कठिन होता है। प्रथम इस नाड़ी के दौतों के निकट वाले एक ही स्थान पर स्कटिक (बिक्लैर) का धार वाला दुकड़ा प्रतिदिन प्रातःकाल चार-पौंच बार फेरते रहें। कुछ दिनों ऐसा करने के पश्चात् वह नाड़ी उस स्थान में पूर्ण कट जायगी। इसी प्रकार क्रमशः उससे ऊपर-ऊपर एक-एक स्थान को जिह्नामूल तक काटते चले जावें। रफटिक फेरने के पश्चात् माजूफल का कपड़कान चूर्ण (टैरिन ऐसिड) जीम के ऊपर-नीचे तथा दाँतों पर मलें खौर उन सब स्थानों से दूषित पानी निकलने दें। माजूफल चूर्ण के अभाव में अकरकरा, नृत, हरीतकी और कस्थे का चूर्ण छेंदन किये हुए स्थान पर लगावे। यह छेदन-विधि सबसे सुगम है; और इससे किसी प्रकार की हानि पहुँचने की सम्भावना नहीं है, यद्यपि इसमें समय अधिक लगेगा। साधारणतया छेदन का कार्य किसी धातु के तीक्ष्ण यन्त्र से प्रति आठवें दिन उस शिरा को बाल के बरावर छेदकर घाव पर कत्था और हरड़ का चूर्ण लगाकर करते हैं। इसमें नाड़ी के सम्पूर्ण अंश के एक साथ कट जाने से वाक् तथा आस्वादन शक्ति के नष्ट हो जाने का भय रहता है। इसलिय इसे किसी अभिज्ञ पुरुष की सहायता से करना चाहिये। छेदन की आवश्यकता केवल उनको होती है कि जिनकी जीभ और यह नाड़ी मोटी होती है। जिनकी जीभ लम्बी और यह नाड़ी पतली होती है। उन्हें छेदन की अधिक आवश्यकता नहीं है।

दूसरा व तीसरा साधन—चालन व दोहन : अंगूठे श्रीर तर्जनी अंगुली से अथवा वारीक वस्त्र से जीभ को पकड़कर चारों तरफ डलट-फेरकर हिलाने श्रीर खेचने को चालन कहते हैं। मक्खन अथवा घी लगाकर दोनों हाथों की श्रीगुलियों से जीभ का गाय के स्तन-दोहन जैसे पुन:-पुन: धीरे-धीरे आकर्षण करने की किया का नाम दोहन है। जिस समय जीभ नासिका के श्रापमाग तक पहुँचने लगे तब खेचरी मुद्रा सिद्ध समक्षना चाहिय।

निरन्तर अभ्यास करते रहने से अन्तिम अवस्था में जीभ इतनी लम्बी हो मकती है कि नासिका के ऊपर अमध्य तक पहुँच जावे। कौलाद के खर्क से जिह्ना शीघ बढ़ती है। इस मुद्रा का वड़ा महत्व बतलाया गया है, इससे ध्यान की अवस्था परिपक्व करने में बड़ी सहायता मिलती है।

२ महामुद्रा—मूलबन्ध लगाकर बायें पैर की एड़ी से सीवन (गुदा और कारह-कोष के मध्य का चार अंगुल स्थान) दबाये और दाहिने पैर को फैलाकर उसकी अंगुलियों को दोनों हाथों से पकड़े। पाँच घर्षण करके बायीं नासिका से पूरक करे। फिर जालन्धर-बन्ध खोलकर दाहिनी नासिका से रेचक करे। यह वामाङ्ग की मुद्रा समाप्त हुई। इसी प्रकार दिच्छाङ्ग में इस सुद्रा को करना चाहिये।

दूसरी विधि : बायें पैर की एड़ी को सीवन (गुदा और उपस्थ के मध्य के चार अंगुल भाग) में बलपूर्वक जमाकर दायें पैर को लम्बा फैलावे । किर शनैःशनैः पूरक के साथ मूल तथा जालन्धर-बन्ध लगात हुए दायें पैर का झंगूठा पकड़कर मस्तक को दायें पैर के घुटने पर जमाकर यथाशक्ति हुम्भक करे । कुम्भक के समय पूरक की हुई बायु को पेट में शनैःशनैः फुलावे; और ऐसी भावना करे कि प्राण् कुण्डलिनी को जामत करके सुपुन्ना में भ्रवेश कर रहा है, तत्पश्चात् मस्तक को घुटने से शनैःशनैः रेचक करते हुए उठाकर यथा-स्थिति में बैठ जावे । इसी प्रकार दूसरे अङ्ग से करना चाहिये । प्राख्याम की संख्या एवं समय बढाते रहें ।

फल: मन्दाग्नि, श्रजीर्गा आदि उदर के रोगों तथा प्रमेह का नाश, क्षुया की वृद्धि श्रीर कुरुडिलिनी का जापत होना।

३ अथ्वनी मुद्रा—िसद्ध अथवा पद्मासन से वैठ योनिमग्डल को अश्व के सदश पुनः-पुनः सिकोडना अश्वनी मुद्रा कहलाती है।

फल : यह मुद्रा प्राग् के उत्थान और कुग्डिलिनी शक्ति के जामत करने में सहायक होती है । अपानवाय को शुद्ध और वीर्यवाही स्नायुत्रों को मजबूत करती है ।

४ शक्तिचालिनी मुद्रा—सिद्ध श्रथवा पद्मासन से बैठ हाथों की हथेलियाँ पृथिवी पर जमादे। बीस-पद्मीस बार शनै:-शनै: दोनों नितम्बों को पृथिवी से उठा-उठा कर ताइन करें। तत्पश्चात् मूलवन्ध लगाकर दोनों नासिकाश्चों से श्रथवा वाम से श्रथवा जो स्वर चल रहा हो उस नासिका से पूरक करके प्राग्णवायु को श्रपानवायु से संयुक्त करके जालन्धर-बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करें। कुम्भक के समय श्रश्ननी, मुद्रा करें अर्थात् गुह्मप्रदेश का श्राकर्पग्य-विकर्षण करता रहे। तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर यदि होनों नासिकापुट से पूरक किया हो तो दोनों से श्रथवा पूरक से विपरीत नासिकापुट से रेचक करें और निर्विकार होकर एकाय्रतापूर्वक बैठ जावे।

घेरएडसंहिता में इस मुट्टा को करते समय वालिश्त-भर चौड़ा, चार श्रंगुल लम्बा, कोमल, श्रेत श्रौर सूक्ष्म वस्त्र नाभि पर किटसूत्र से बॉधकर सारे शरीर पर भस्म मलकर करना बतलाया है।

फल: सर्व रोग-नाशक श्रीर खारध्यवर्द्धक होने के श्रीतिरिक्त कुराडलिनी शक्ति के जामत करने में श्रायन्त सहायक है। इससे साधक श्रवश्य लाभ प्राप्त करें।

५ योनिसुद्रा—सिद्धासन से बैठ समन्सूत्र हो ५एसुर्खा सुद्रा लगाकर अर्थात् दोनों अंगुठों से दोनों कानों को, दोनों तर्जनियों से दोनों नेत्रों को, दोनों मध्यमाश्रों से नाक के खिद्रों को बन्द करके और दोनों श्रनामिका एवं किनिष्ठिकाश्रों को दोनों श्रोठों के पास रख कर काकी सुद्रा द्वारा श्रर्थात् जिह्ना को कौर की चोंच के सदश बनाकर उसके द्वारा प्राय्वायु को खेंचकर श्रद्योगत श्रपानवायु के साथ मिलावे। तत्पश्रात् श्रो३म् का जाप करता हुश्रा ऐसी भावना करे कि उसकी धनि के साथ परस्पर मिली हुई वायु कुडरालिनी को जामत करके षड्चकों का भेदन करते हुए सहस्रदल कमल में जा रही है। इससे श्रन्तव्योति का साहात्कार होता है।

६ योगमुद्रा—मूलबन्ध के साथ पद्मासन से बैठकर प्रथम दोनों नासिकापुटों में पूरक करके जालन्धर-बन्ध लगावे, तत्पश्चात् दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर बायें हाथ से दायें हाथ की कलाई को पकड़े, शरीर को आगे मुक्काकर पेट के अन्तर एड़ियों को दबाते हुए सिर को ज्ञमीन पर लगादे। इस प्रकार यथा शक्ति कुम्भक करने के पश्चात् सिर को ज्ञमीन से उठाकर जालन्धर-बन्ध खोलकर दोनों नासिकाओं से रेचन करें।

फल : पेट के रोगों को दूर करने और कुगडिलनी शक्ति के जामत करने में सहायक होती हैं।

७ शास्त्रवी सुद्रा-सृत स्त्रौर उद्दीयान बन्ध के साथ सिद्ध स्थवा पद्मासन से बैठ नासिका के त्राप्रभाग स्थवा भ्रमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान जमाना शास्त्रवी सुद्रा कहलाती है।

८ तङ्गागी मुद्रा — तङ्गाग (तालाब) के सहरा पेट को बायु से भरने को सङ्गागी मद्रा कहते हैं।

शवासन से चित लेटकर जिस नासिका का स्त्रर चल रहा हो उससे पूरक करके तालाब के समान पेट को फैलाकर वायु से भरले। तत्पश्चात् कुम्भक करते हुए वायु को पेट में इस प्रकार हिलावे जिस प्रकार तालाब का जल हिलता है। कुम्भक के पश्चात् सावधानी से वायु को शनै:-शनै: रेचन कर दे, इससे पेट के सर्व रोग समूल नाश होते हैं।

९ विपरीतकरणी मुद्रा —शीर्षासन = कपालासन = पहिले कमीन पर मुलायम गोल लपेटा हुआ वक्ष रखकर उस पर अपने मस्तक को रक्खे। फिर दोनों हाथों के तलों को मस्तक के पीछे लगाकर शरीर को उल्टा ऊपर उठाकर सीधा खड़ा करदे। थोड़े ही प्रयन्न से मूल और उड्डीयान ख्वं लग जाता है। यह मुद्रा पद्मासन के साथ भी की जा सकती है। इसको ऊर्ध्व-पद्मासन कहते हैं। आरम्भ में इसको दीवार के सहारे करने में आसानी होगी।

फल : वीर्यरक्षा, मस्तिष्क, नेत्र, हृद्य तथा जठराग्नि का बलवान होना, प्राग्य की गति स्थिर और शान्त होना, कब्ज, जुकाम, सिर दर्द आदि का दूर होना, रक्त का शुद्ध होना और कफ के विकार का दर होना।

१० वज्रोली मुद्रा— मूत्रत्याग के समय कई बार मूत्र को बलपूर्वक ऊपर की ओर आकर्षण करें। ऐसा करते समय इस बात को ध्यान से देखे कि मूत्रधारा कितने नीचे से आकर्षित होकर लौटती है और पुनः उतरते समय कितना समय लगता है। निरन्तर अभ्यास से जब मूत्रधार दस-बारह अंगुल नीचे से आकर्षित होकर खेंची जा सके और उतारने में कुछ शक्ति लगाना पड़े तो सममना चाहिये कि वज्रोली किया सिद्ध हो गई है। तत्पश्चात् कमशः जल, दूध, तेल अथवा धी, शहद और अन्त में पारा खींचने का अभ्यास करे।

दूसरी विधि : एक चौदह श्रंगुल रबड़ का कैथीटर (जो कि श्रंमेजी दवाखानों में मिल सकता है) लिङ्ग-छिद्र में प्रवेश करने का श्रभ्यास करें । यह श्रभ्यास एक श्रंगुल से प्रारम्भ करके क्रमशः एक-एक श्रंगुल बढ़ाते जावें। जब बारह श्रंगुल प्रविष्ट होने लगे तो चौदह श्रंगुल लम्बी श्रौर लिङ्ग के छिद्र श्रनुसार चौड़ी जस्त की सलाई जो दो श्रंगुल मुझी हुई ऊपर को मुंह वाली हो जिससे कि लिंगेन्द्रिय में प्रविष्ट कर सके उपर्युक्त रबड़ के कैथीटर की रीति से लिङ्ग-छिद्र में प्रवेश करने का श्रभ्यास करे। जब बारह श्रंगुल तक प्रवेष्ट होने लगे तब चौदह श्रंगुल लम्बी लिङ्ग के छिद्र श्रनुसार चौड़ी श्रन्दर से पोली एक बाँदी की

सलाई बनवावें जो दो अंगुल टेड़ी और अर्ष्वमुखी हो। इस टेड़े भाग को लिंग-छिद्र में प्रविष्ट करके दो अंगुल बादर रहने दे, फिर सुनार की धमनी के सहश धमनी से उस सलाई में लगातार फूत्कार कुरे। इस प्रकार लिङ्गमार्ग की अच्छी प्रकार शुद्धि हो जाने पर वायु को स्वीचने और छोड़ने का अभ्यास करे, इस अभ्यास के सिद्ध हो जाने पर लिङ्ग-छिद्र से उपर्युक्त रीति से जल, तेल, दूध, शहद और पारे के खींचने का क्रमशः अभ्यास करे।

क्ल : लिंगेन्द्रिय के छिद्र की शुद्धि श्रीर श्रपानवायु पर पूर्णतया श्रधिकार प्राप्त हो

जाता है, पथरी का तोड़कर निकालने में सहायता मिलती है।

इस मुद्रा का फल हठयोग के शास्त्र में श्रातीकिक सिद्धियाँ बतलाई गई हैं परन्तु जरासी श्रसावधानी होने पर इन्द्रिय-छिद्र में विकार होने से अयङ्कर शारीरिक रोग उत्पन्न होने तथा स्त्री के रज स्वींचन की चेष्टा में ऊँचे से ऊँचे श्रभ्यासी के लिय भी श्राध्यात्मिक पतन होने की श्रियक सम्भावना है। इस प्रकार के बहुत से उदाहरण, दृष्टिगोचर हुए हैं। इन मुद्राश्रों श्रादि को किसी श्रनुभवी की सहायता से करना चाहिये श्रन्यथा लाभ के स्थान में हानि पहुँचने की श्रिक सम्भावना है।

काकी श्रीर भुजङ्गी मुद्रा का वर्णन पचासवें सूत्र के विशेष वक्तव्य में किया जायगा।

चित लेटकर करने के आसन

१ पादांगुष्ट नासाग्र स्पर्शासन - पृथिवी पर समसूत्र में पीठ के बल सीधा लेट जाने । दृष्टि को नासाग्र में जमाकर दायें पैर के श्रंगृठे को पकड़कर नासिका के श्रमभाग को स्पर्श करें, इसी प्रकार पुन:-पुन: करें, मस्तक, बायों पैर श्रौर नितम्ब पृथिवी पर जमें रहें । इसी प्रकार दायें पैर को फैलाकर वायें पैर के श्रंगृठे को नासिका के श्रमभाग में स्पर्श करें । फिर दोनों पैरों क श्रंगृठों को दोनों हाथों से पकड़कर नासिका के श्रमभाग को स्पर्श करें । कई दिन के श्रभ्यास के पश्चात् श्रंगृठा नासिका के श्रमभाग को स्पर्श करने लगेगा ।

फल : कमर का ददे, घुटने की पीड़ा, कन्ध-स्थान की शुद्धि एवं उदर-सम्बन्धी सर्व

रोगों का नाम करता है। यह आसन सियों के लिये भी लाभदायक है।

२ पश्चिमोत्तानासन — दोनों पाँवां को उड्डायान श्रीर मूलबन्ध के साथ लम्बा सीधा फैलावे। दोनों हाथों की श्रंगुलियों से दोनों पैरों की श्रंगुलियों का खींचकर दारीर को भुका-कर माथे को घुटने पर टिकादे, यथाशक्ति वहीं पर टिकाए रहे। प्रारम्भ में दस-बीस बार इनै:-दानै: रेचक करते हुए मस्तक को घुटने पर ले जावे श्रीर इसी अकार पृरक करते हुए उत्पर उठाता चला जावे।

फल : पाचन शक्ति का बढ़ाना, कोष्ठबद्धता दूर करना, सब स्नायु श्रीर कमर तथा पेट की नस-नाड़ियों की शुद्ध एवं निर्मल करना, बढते हुए पेट को पतला करना इत्यादि ।

इस ऋासन को कम से कम दस मिनट तक करते रहने के पश्चात् उचित लाभ श्रतीत होगा।

३ सम्प्रसारण भूनमनासच (विस्तृत पाद भूनमनासन) — पैरों को लम्बा करके ३९०



१. पादांगुष्ट नासाम स्पन्नासन, प्रथम प्रकार





२. पश्चिमोत्तानासन.





४. जानुशिरासन



५. आकर्ण धनुषासन



६ शीषेपादासन



यथाशक्ति चौड़ा फैलावे। तत्पश्चात् दोनों पैरों के श्रंगूठों को पकड़कर सिर को भूमि में टिकादे।

फल : इससे ऊर श्रौर जंघा-प्रदेश तन जाते हैं, टाँग, कमर, पीठ श्रौर पेट निर्दोष होकर बीर्थ खिर होता है।

४ जानुशिरास्तन—एक पाँव को सीधा फैलाकर दूसरे पाँव की एड़ी गुदा और अगड़कोश के बीच में लगाकर उसके पाद-तल से फैले हुए पाँव की रान को दवाव । मूल और उड्डीयान बन्ध के साथ फैले हुए पैर की अंगुलियों को दोनों हाथों से खींच कर धीरे-धीरे आगों को मुकाकर माथे को पसारे हुए घुटने पर लगादे, इसी प्रकार दूसरे पाँव को फैलाकर माथे को घुटने पर लगावे ।

फल : इस खासन के सब लाभ पश्चिमोत्तान खासन के समान हैं। वीर्थ-रज्ञा तथा कुग्डिलिनी जाप्रत करने में सहायक होना, यह इसमें विशेषता है। इसकी भी वास्तविक लाभ प्राप्ति के लिये कम से कम दस मिनट करना चाहिये।

५ आकर्ण धनुषासन --दोनों पाँव एक-दूसरे के साथ जमीन पर फैलाकर दोनों हाथों की श्रंगुलियों से दोनों पाँव के श्रंगुठे पकड़ ले। एक पाँव सीधा रखकर दूसरे पाँव को उठाकर उसी श्रोर के कान को लगावे, हाथों श्रीर पैरों के हेर-फेर से यह आसन चार प्रकार से किया जा सकता है: --

(क) दाहिने हाथ से दाहिने पाँव का श्रंगूठा पकड़कर बायें पाँव का श्रंगूठा बायें हाथ से खींचकर बायें कान को लगावे।

(ख) बायें हाथ से बायें पाँव का श्रांगूठा पकड़कर दाहिने पाँव का श्रांगूठा दाहिने हाथ से खींचकर दाहिने कान को लगावे।

(ग) दाहिने हाथ से बायें पाँव का र्ष्यगूठा पकड़कर उसके नीचे दाहिने पाँव का स्रांगठा बायें हाथ से र्खीचकर बायें कान को लगावे।

(घ) बायें हाथ से दाहिने पाँव का श्रांगुठा पकड़कर उसके नीचे बायें पाँच का श्रांगुठा दाहिने हाथ से खींचकर दाहिने कान को लगावे।

फल : बाह, घुटने, जंघा आदि अवयवों को लाभ पहुँचता है।

६ शीर्ष-पादासन --चित लेटकर सिर के पृष्ठ-भाग और पैरों की दोनों एड़ियों पर इरीर को कमान के सदृश कर दे। इस आसन को पूरक करके करे और ठहरे हुए समय में कुम्भक बना रहे, तत्परचात् धीरे से रेचक करना चाहिये।

फल : मेहदराड का सीधा और मृदु होना, सम्पूर्ण शरीर की नाड़ियों, गर्दन और पैरों

का मजबूत होना।

हृदयस्तम्भासन—चित लेटकर दोनों हाथों को सिर की त्रोर त्रीर दोनों पैरों को द्यारों की त्रोर फेलावे, फिर पूरक करके जालन्धर बन्ध के साथ दोनों हाथों त्रीर दोनों पैरों को द्य:-सात इश्व की ऊँचाई तक धीरे-धीरे उठावे त्रीर वहीं पर यथाशक्ति ठहरावे, जब श्वास निकालना चाहे तब पैरों त्रीर हाथों को जमीन पर रखकर धीरे-धीरे रेवक करे। फल : ह्याती, हृदय, फ्रेफड़े का मजबृत श्रीर शक्तिशाली होना श्रीर पेट के सब

प्रकार के रोगों का दूर होना।

्ट उन्नानपादासन—चित लेटकर शरीर के सम्पूर्ण स्नायु ढीले कर दे, पूरक करके धीरे-धीरे दोनों पैरों को (श्रंगुलियों को ऊपर की श्रोर खूब ताने हुए) ऊपर उठावे, जितनी देर आराम से रख सके रखकर पुनः धीरे-धीरे भूमि पर ले जाने और श्रास को धीरे-धीरे रेचक कर दे। प्रथम बार तीस डिग्री तक, दूसरी बार पैतालीस डिग्री तक, तीसरी बार साठ डिग्री तक पैरों को उठावे । इस श्रासन के श्राधनिक श्रतुभवियों ने नौ भेद किये हैं :—

(क) द्विपाद चक्रासन : हाथों के ५ेंजे नितम्ब के नीचे रख चित लेट एक पैर घुठने में मोड़कर घुटने को पेट के पास लाकर तथा दूसरा पैर किश्वित् ऊपर चठाकर बिल्कुल सीधा

रक्खं; और इस प्रकार पैर चलावे जैसे साइकिल पर बैठकर चलाते हैं।

फल : इससे नितम्ब, कमर, पेट, पैर श्रीर टॉगें निर्दोष होकर वीर्य शुद्ध, पुष्ट श्रीर स्थिर रहता है।

(ख) उत्थित द्विपादासन : चित लेटकर दोनों पैर देंतालीस डिग्री तक ऋपर खठा

कर जमीन से बिना लगाये धीरे-धीरे ऊपर-नीचे करे।

इससे पेट के स्नायु मजबूत होते हैं श्रीर मलत्याग किया ठीक होती है।

(ग) बस्थित एफैक बादासन : चित लेटकर दोनों पैर (एक पैर बीस डिम्री में ऋौर इसरा पैर ४५ डिप्री में) ऋधर में रखकर जमीन से बिना लगाये हुए ऊपर-नीचे करे।

इससे कमर के स्नायु मज्जबृत होते हैं, मलोत्सर्ग क्रिया ठीक होती है, वीर्य ग्रुद्ध श्रौर

स्थिर होता है।

(घ) उत्थितहस्त-मेहदरखासन : हाथ-पैर एक रेखा में सीधे फैलाकर चित लेटे। होनों हाथ उठाकर पैरों की स्रोर ले जावे, इस प्रकार पुन:-पुन: पीठ के बल लेटकर पुन:-पुत्तः उठे ।

इससे कमर, छाती, रीढ़ और पेट निर्दोष होते हैं।

(इ) शीर्षबलहस्त-मेरुदराखासन : पूर्ववत् पीठ के बल लेटकर सिर के पीछे हाथ बाँधे। बिना पैर उठाये कमर से शरीर ऊपर उठावे।

इससे पेट, छाती, गर्दन, पीठ श्रीर रीद के दोष दूर हाते हैं।

(च) जानुरपृष्टभाल-मेरदरण्डासन : उपर्युक्त आसन करके घुटना मोइकर बारीबारी धीर-धीरे माथे में लगावे, नीचे का पैर मूमि पर टिका हुआ सीधा रहे।

इससे यक्तम् (जिगर), प्लीहा (तिल्ली), फेफड़े ब्यादि नीरोग होकर पेट, गर्दन, कमर,

रीद, ऊह बलवान और निर्मिकार होते हैं।

(छ) उत्थित इस्तपाद-मेरुदराहासन : पूर्वमत् पीठ के बल लेटकर हाथ-पैर दोनों एक-साथ ऊपर उठावे और पुनः पूर्ववत् एक रेखा में ले जावे चार-पाँच बार ऐसा करे।

इससे पेट, छाती। कमर और ऊर निर्देश होते हैं।

प्रष्ठ ३१२



८. (क) द्विपाद चक्रासन



८. (ख) उश्थित द्विपादासन



८. (ग) उल्थित एकैक पादासन



८. (घ) उश्थित हस्त मेरुदण्डासन



८. (इ) शीपंबद इस्त मेरुदण्डासन



८. (व) जानु स्ट्रष्ट भारू मेरुद्ण्डासन





८ (ज) डारथतपाद-मेरुदण्डासन



८. (म) भारुस्प्रष्ट द्विजानु मेरुद्व्हासन



९ हतस्पादांगुष्टा । न (पहिला प्रकार)



११, पवनमुक्तासन





९. हस्तपादांगुष्ठासम् (असमा ग्रह्मा)

- (म) भालस्पृष्ट द्विजानु भेरुद्यखासन : ऊपर कहे अनुसार ही करे, किन्तु इसके अतिरिक्त सिर दोनों घुटनों में लगादे।

इससे पीठ, छाती, रीढ़, गर्दन और कमर के सब विकार दूर होते हैं।

९ हस्त-पादांगुष्टासन—चित लेटकर दोनों नासिका से पूरक करके बाबें हाथ को कमर के निकट लगाये रक्खे, दूसरे दाहिने हाथ से दाहिने पैर के आंगूठे को पकड़े; और समूचे शरीर को जमीन पर सटाये रक्खे। दाहिने हाथ और पैर ऊपर की ओर उठाकर तना हुआ रक्खे। इसी प्रकार दाहिने हाथ को दाहिनी और कमर से लगाकर बायें हाथ से बायें पैर के आंगूठे को पकड़कर पूर्ववत् करना चाहिये। फिर दोनों हाथों से दोनों पैरों के आंगूठे पकड़कर पूर्ववत् करना चाहिये।

फल : सब प्रकार के पेट के रोगों का दूर होना, हाथ-पैरों का रक्तसश्वार व बलवृद्धिं।

१० स्नायु संचालासन — चित लेटकर दोनों पैरों को पूथियी से एक इश्व खठा-कर पूरक करके जातुन्धर-बन्ध लगाले और हाथों को शिर की ओर ले जाकर एक इश्व ऊपर उठावे, बायें पैर व बायें हाथ को मोड़े और फैलावे, फिर दाहिन हाथ व वाहिने पैर को मोड़े और फैलावे, जबतक कुम्भक रह सके इसी प्रकार उलट-फेर से हाथों और पैरों को मोइता और फैलाता रहे, तत्पश्चात् जालन्धर-बन्ध खोलकर हाथ व पैरों को जमीन पर रखकर धीरे-धीरे रेचक करें।

फल : शरीर के सब स्नायुक्षों में प्रगति उत्पन्न होना, पेट की शिरायें, घुटने एवं

मेरदराड का पुष्ट होना।

११ प्यन-सुकासन — चित लेटकर पहिले एक पाँव को सीधा फैलाकर दूसरे पाँव को घुटने से मोड़कर पेट पर लगाकर दोनों हाथों से अच्छी प्रकार दवाये, फिर इस पाँव को सीधा करके दूसरे पाँव से भी पेट का खुब इसी प्रकार दवावे। तत्प्रधात दोनों पाँवों को इसी प्रकार दोनों हाथों से पेट पर दवाये। पूरक करके कुम्भक के साथ करने में अधिक लाभ होता है।

फल : उत्तानपाद आसन के समान इसके सब लाभ हैं। वायु को बाहर निकालने में तथा शौचशुद्धि में विशेषरूप से सहायक होता है, विस्तर पर लेटकर भी किया जा सकता

है, देर तक कई मिनट तक करते रहने से वास्तविक लाभ की प्रतीति होगी।

१२ ऊर्ध्व सर्वागासन—भूमि पर चित लेटकर दोनों पैरों को तानकर धीरे धीर कन्धों और शिर के सहारे से पूर्ण शरीर को ऊपर खड़ा करदे। आरम्भ में हांगों के सहारे से खड़ाड़े, कमर और पैर सीधे रहें, दोनों पैरों के बंगूठे दोनों आंख़ों के सायने रहें। मलक कमखोर होने के कारण जो शीपीसन नहीं कर सकते हैं उनको इस आसन से वहीं लाम प्राप्त हो सकते हैं। एक पांव को खागे खौर दूसरे को पीछे इत्यादि करने से इसके कई प्रकार हो जाते हैं। इसमें ऊर्व्व-पद्मासन भी लगा सकते हैं।

फल : रत्तशुद्धि, भूख की वृद्धि और पेट के सब विकार दूर होते हैं। सब लाभ शीर्षासन-समान जानना चाहिय।

१२ सर्वागासन (इलासन)—िचत लेटकर दोनों पाँवों को उठाकर सिर के पीछ जमीन पर इस प्रकार लगावे कि पांव के शंगुठे और श्रंगुलियां ही जमीन को स्पर्श करें, घुटनों साहत पांव सीधे समसूत्र में रहें, हाथ पांछे भूमि पर रहें।

दूसरा प्रकार-दोनों हाथों को सिर की तरफ ले जाकर पैर के अंगूठों को पकड़

कर ताने।

फल : कोष्ट्रगद्ध का दूर होना, जठराग्नि का बदना, श्राँतों का बलवान होना, श्रजीर्ण, प्लीहा, यकुत् तथा श्रन्य सब प्रकार के रोगों की निवृत्ति श्रौर छुधा की वृद्धि ।

१४ कर्णपीडासन - हलासन करके घुटने कानों पर लगाने से कर्णपीडासन बनता

है, इसमें दोनों हाथों को पीठ की श्रोर जमीन में लगाना चाहिये।

कल : सर्वाङ्कासन के समान, पेट के रोगों के लिए इसमें कुछ द्यधिक विशेषता है। नादानुसन्धान में भी सदायक है। देर तक करने से वास्तविक लाभ की प्रतीति होगी।

१५ चक्रासन—चित लेटकर हाथों और पैरों के पंजे भूमि पर लगाकर कमर का भाग ऊपर अठावे। हाथ-पैरों के पंजे जितने पास-पास आसकें उतने लाने का यक्न करें। यह आसन खड़ा होकर पींखें से हाथों को जमीन पर रखने से भी होता है।

फल : कमर और पेट के स्थान को इससे अधिक लाभ पहुँचता है, पृष्ठवंश सदा आगे की ओर भुकता है, उसका दोष इस आसन द्वारा विरुद्ध भुकाव होने से दूर हो जाता है।

१६ गर्भासन—चित लेटकर दोनों पैरों को उपर उठाकर सिर की आर जमीन में लगावे, फिर दोनों पैरों को गर्दन में एक पर दूसरे पैर को देकर फॅसावे, तत्पश्चाक दोनों हाथों को पैरों के अन्दर की ओर से ले जाकर कमर को एक-दूसरे हाथ से पकड़ कर बांचे। इससे पेट के सब प्रकार के रोग, कोष्टबढ़ यक्टन, प्लीहा (तिझी) आदि दूर होते हैं।

१७ शवासन (विधामासन) शरीर के सब झंगों को दीला करके मुर्दे के समान लेट जाबे। सब आसनों के पश्चात थकान दर करने और चित को विशाम देने के लिये इस

भासन को करे।

पेट के बल लेटकर करने के आसन

१८ मस्तक-पादांगुष्ठासन—पेट के बल लेटकर सारे झरीर को मस्तक और पैरों के कॅंगूठे के बल पर चठाकर कमान के सदद्य झरीर को बना दे। झरीर को चठाते हुए पूरक ठहरात हुए कुम्भक और खतारते हुए रेचक करे।

फल: मस्तक, छाती, पैर, पेट की आंतें, तथा सम्पूर्ण झरीर की नाड़िकां शुद्ध और

बलवान होती हैं। प्रश्नवंश एवं मेहदएड के लिये विशेष लाभ पहुँचता है।

१९ नाभ्यासन-पेट के बल सममूत्र में लेटकर दोनों हाथों को सिर की घोर आगे



१३. सर्वांगासान (इलासन)



11. दूसरा प्रकार सर्वांगासन (इलासन)



14. चक्रासन



१८ मस्तक-पादांगुष्टासन



१९ नाभ्यासन



२०. मयूरासन





२१. (ख) भुजंगासन



२२, शकभासन

हो हाथ की दूरी पर एक-दूसरे हाथ से अच्छी तरह फैलावे, दोनों पैरों को भी दो हाथ की दूरी पर ले जाकर फैलावे। फिर पूरक करके केवल नाभि पर समूचे शरीर को उठावे, पैरों और हाथों को एक या डेढ़ हाथ की ऊँचाई पर ले जादे, सिर और छाती को खागे की खोर उठाये रहे, जब श्वास बाहर निकलना चाहे तब हाथों खोर पैरों को जमीन पर रखकर रेचक करे।

फल : नाभि की शक्ति का विकास होता, मन्त्रामि, श्रजीर्गाता, वायु-गोला तथा श्रन्य पैट के रोगों का तथा विथेदोष का दर होना ।

२० मयूरासम — दोनों हाथों को मेज अथवा भूमि पर जमाकर दोनों हाथों की कोहनियां नाभिस्थान के दोनों पार्श्व से लगाकर मृल उड्डीयान बन्ध के साथ सारे शरीर को उठाये रहे। पांव जमीन पर लगे रहने से हंसासन बनता है।

फल: जठराग्नि का प्रदीप्त होना, भूख लगना, वात-पित्तादि दोषों को तथा पेट के रोगों गुल्म कब्जादि का दूर करना श्रीर शरीर को बारोग्य रखना। बस्ती तथा इनेमा के पश्चात् इसके करने से पानी तथा श्रांव जो पेट में रह जाती है वह इससे निकल जाती है, मेक्टवरड सीधा होता है।

२१ भुजंगासन (सर्पासन) आधुनिक आसन-व्यायाम के अनुभवियों ने भुजङ्गा-सन के निम्न तीन भेद किये हैं :—

- (क) उत्थितैकपाद-मुजङ्गासन: पेट के बल लेटकर हाथ छाती के दोनों स्रोर से कोहनियों में से घुमाकर भूमि पर टिकाबे, मुजङ्ग के सटश छाती ऊपर को उठाकर दृष्टि सामने रक्खे, एक पैर भूमि पर टिका रहे, दूसरा पैर घुटने को बिना मोड़े जितना जा सके ऊपर उठावे; इसी प्रकार बारी-बारी से पैरों को नीचे-ऊपर करें। इससे किट-दाष यकुत्, प्रीहादि के विकार दूर होते हैं।
- (स्व) मुजङ्गासन: पैरों के पंजे उल्टी श्रोर से भूमि पर टिकाकर हाथों को भी भूमि पर किश्वित् टेट्रे रखकर धड़ को कमर से उठाकर मुजङ्गाकार होवे। इससे पेट, छाती, कमर, ऊढ़, मेहदयह श्रादि के सब दोष नाश होते हैं।
- (ग) सरतहस्त-सुजङ्गासन: हाथों को भूमि पर सीधा रखका पैरों को पीछे की खोर ले जाकर दोनों हाथों के बीच कमर आजाय इस रीति से कमर सुकाकर छाती खोर गर्दन भरसक ऊपर उठाकर सीधे आकाश की खोर देखे। इससे पेट की चरबी निकल जाती है, पेट, कमर खोर गर्दन के सब विकार दूर होते हैं।

२२ द्वाळभासन—शलभ टिड्डी को कहते हैं। पैट के बल लेटकर दोनों हाथों की अंगुलियों को मुट्टी बॉधकर कमर के पास लगावे, तत्पश्चात् धीरे-धीरे पूरक करके छाती व सिर को खमीन में लगाये हुए हाथों के बल एक पैर को यथाझांक एक-बेढ़ हाथ की ऊँचाई पर ले जाकर ठहराये रहे, जब श्वास निकलना चाहे तब धीरे-धीरे पैर को खमीन पर रखकर झनै:-बानै: रेचक करे। इसी प्रकार दूसरे पैर का उठावे, फिर दोनों पैरों को उठावे।

फल : जंघा, पेट, बाहु आदि भागों को लाभ पहुँचता है, पेट की आतें मजबूत होती हैं और सब प्रकार के उत्तर-विकार दर होते हैं।

धनुरासन — पेट के बल लेटकर दोनों हाथों को पीठ की खोर करके दोनों पैरों को पकड़ लेवे और शरीर को वक्र-भाव से रक्खे। कहीं-कहीं इस खासन को वजासन की भौंति एडियों पर बैठकर पीछे की खोर मुककर करना बतलाया है।

फल:कोष्ठबद्धादि उदर के सब विकारों का दूर होना, भूख तथा जठरामि का प्रदीप्त होना।

बैठकर करने के भासन

२४ मत्स्येन्द्रासन-इसको पाँच भागों में विभक्त करने में सुगमता होगी :-

(क) बार्ये पाँव का पर्जा दाहिने पाँव के मूल में इस प्रकार रखे कि उसकी एड़ी टुंडी में लगे और श्रङ्कलियें पाल्थी के बाहर न हों।

(ख) दांयाँ पाँव बायें घुटने के पास पत्जा भूमि पर लगाकर रक्खे ।

(ग) बायाँ हाथ दाहिने घुटने के बाहर से चित डालकर उसकी चुटकी में दाहिने पाँव का ऋँग्ठा पकड़े, उस दाहिने पाँव के पंजे को बायें घुटने के बाहर सटाकर रक्खे।

(घ) दाहिना हाथ पीठ की श्रोर से फिराकर उससे बायें पैर की जंघा पकड़ ले।

(रू) मुख तथा खाती पीछे की खोर फिराकर तानें तथा नासात्र में दृष्टि रक्खे। इसी प्रकार दूसरी खोर से करें।

फल: पीठ, पेट के नल, पाँव, गला, बाहु, कमर, नाभि के निचले भाग व छाती के स्नायुओं का अच्छा खिंचाव होता है, जठराप्ति प्रदीप्त होती है; श्रीर पेट के सब रोग आमवात, परियाम-राल, तथा श्राँतों के सब रोग नष्ट होते हैं।

२५ ष्टुश्चिकासन - कोइनी से पंजे तक का भाग भूमि पर रखकर उसके सहारे सब इरीर को संभालकर दीवार के सहारे पाँव को ऊपर ले जावे, तत्पश्चात् पाँव को घुटनों में मोक्कर सिर के ऊपर रखदे।

दूसरे प्रकार से केवल पश्जों के ऊपर ही सब शरीर को संभालकर रखने से भी यह आसन किया जाता है।

यह आसन कठिन है। मोइचाल से चलनेवाले लड़के इस आसन को शीघ्र कर सकते हैं।

फल : हार्यो और बाहों में बलष्टिंड, पेट तथा आँतों का निर्दोष होना, शरीर का कुर्तीला और हल्का होना, मेरदराड का शुद्ध और शक्तिशाली होना, विल्ली, यकुत्, एवं पारङ्करोग आदि का दूर होना।

२६ उच्ट्रासन—बंजासन के समान हाथों से एड़ियों को पकड़कर बैठे। पश्चात् हाथों से पाँबों को पकड़े हुए चूतकों को घठाये, सिर पींछ पीठ की चौर मुकावे और पेट अरसक चारो की चौर निकाले। फल : यक्तन, प्लीहा, आमवात आदि पेट के सब रोग दूर होते हैं और कएठ नीरोग होता है।

२७ सुत वजासन—वजासन करके चित लेटे, सिर को जमीन से लगा हुआ रक्से, पीठके भाग को भरसक जमीन से ऊपर उठाये रक्से; और दोनों हाथों को बाँधकर छाती के ऊपर रक्से अथवा सिर के नीचे रक्से।

फल : पेट, छाती, गर्दन श्रीर जंघाश्रों के रोगों को दूर करता है।

२८ कन्द्र-पीड़ासन — पृथिवी पर बैठकर दोनों हाथों से दोनों पैरों को पकड़कर ठीक पेट के ऊपर नाभि के पास ले जाकर इस प्रकार मिलाये कि पैरों की पीठ मिली रहे और तल्लए कुचियों की ओर हो जावें, दोनों पैरों के अंगुठे और किनष्ठिकायें भिली रहें, हाथ इस प्रकार जोड़कर बैठ जाये कि हाथ की हथेली पैरों के अंगुठे पर और अंगुलियाँ झाती के ऊपर आ जावें।

फल : पैर, घुटने तथा पेट के रोग दूर होते हैं, क्षुधा की वृद्धि, तिल्ली श्रौर वायुगोले का नाश होता है, स्कन्ध-स्थान के पवित्र होने से शरीर की सब नाड़ियों का शोधन होता है।

२९ पार्वती आसन—दोनों पैरों के तछए इस प्रकार मिलावे कि अंगुलियों से अंगुलियों और तछुए से तछुषा मिल जावे; और मिले हुए भागों को इस प्रकार घुमावें कि अंगुलियों नितम्बों के नीचे आ जावें और एड़ियाँ अरहकोश के नीचे मिलकर सामने विसाई देने लगें।

फल : घुटने, पैरों की अंगुलियों, मिण्डनमों, श्रायडकोश और सीवनी के सब रोगों का नाश दोना, वीर्थवादी नसों का पवित्र दोना । ब्रह्मचारियों खियों के लिये भी यह आसन लाभदायक है।

30 गौरह्मासन—दोनों पैरों के तलुओं को पूर्ववत् मिलाकर दोनों एडियों को सीवनी पर जमाकर पैरों को इस प्रकार चौदा करें कि बायें पैर की अंगुलियाँ वार्यों पिंडली की ओर आ जावें और दायें पैर की अंगुलियाँ दायें पैर में जा मिलें, फिर दोनों हाथों को पीठ की ओर जंघा के नीचे से लाकर घुटने के पास से पैरों की अंगुलियों को पकड़कर जालन्धर बन्ध लगाकर चित्त को स्थिर करके बैठे।

फल : करठ, स्कन्ध, बाहु और हृदयादि ऊपर के अङ्गों तथा जंघा, पिंडली, पैर,

सीवनी, अरहकोश और कटिप्रदेश की व्याधियों का दूर करना।

३१ सिंहासन—दोनों पैरों को नितम्बों के नीचे इस प्रकार जमावे कि बायाँ पैर वार्ये नितम्ब के नीचे आर दायाँ पैर बार्ये नितम्ब के नीचे आ जावे, फिर दोनों हाथों की पैट की ओर अंगुलियाँ करके जंघा पर जमावे। पेट को अन्दर खींचत हुए, खाती को बाहर निकाले हुए, मुंह को खोलकर जिह्ना को बलपूर्वक बाहर की आर निकाल ठाढ़ी पर जमावे।

फल : बाहु और पैरों का शक्तिशाली होना, गईन का नीरोग होना, काट और सीवनी

बादि की शुद्धि, इकलाना बन्द होना।

३२ वकासन - दोनों हाथों के पंजे जमीन पर रखकर दोनों घुटनों को बाहुओं के

सहारे ऊपर चठाकर पांव सहित सारे शरीर को ऊपर उठावे, केवल हायों के पंजे भूमि पर रहें शेष शरीर ऊपर उठाये रहे। घुटनों को अन्दर रखकर भी यह आसन किया जा सकता है।

फल: मुजदरडों में बलवृद्धि, सीने का विकास, रक्त की शुद्धि और क्षुपा की वृद्धि। ३३ लोलासन—वकासन के अनुसार दोनों पंजों को भूमि पर रखकर केवल उन पर ही सारे शरीर को उठावे। वकासन में पाँव पीछे की खोर मुकते हैं और इसमें आगे की खोर।

फल: वकासन के समान।

पश्चासन लगाकर करने के आसन

३४ ऊर्ध्व पद्मासन-शीर्षासन श्रीर अर्ध्व सर्वाङ्गासन के साथ।

३५ उत्थित पद्मासन—पद्मासन लगःकर दोनों हाथ दोनों श्रोर जमीन पर रखकर उनके ऊपर सारे झरीर को पेट श्रन्दर खींचे हुए श्रीर छाती को बाहर निकाले हुए भरसक पृथिवी से ऊपर उठाये। जितना पृथिवी से ऊपर उठा रहेगा उतना ही श्रिधिक लाभ होगा।

फल : बाहुबल की वृद्धि, छाती का विकास, पेट के रोगों का नाश और क्षुधा की वृद्धि।

३६ कुक्कुटासन — पद्मासन से बैठकर दोनों पाँवों के पंजे भीतर रहें इस प्रकार दोनों जाँघों और पिडलियों के बीच में से दोनों हाथ कोइनी तक नीचे निकालकर पंजे भूमि पर टिकाकर सारे शरीर को तोलकर रक्खे।

े फल : उत्थित पद्मासन के समान लाभ । जठराग्नि का प्रदीप्त होना, श्रालस्य का दूर होना श्रादि ।

३७ गर्भासन-कुक्कुटासन करके हाथों का श्रंगुलियों से दोनों कान पकड़े।

३८ क्रूर्मासन—कानों को न पकड़कर हाथों की अंगुलियां एक-दूसरे के साथ मिलाकर गला पीछे से पकडे।

फल: आंतों के विकार का दूर होना, शौच-शुद्धि, क्षुधा-वृद्धि।

३९ मत्स्यासन—पद्मासन लगाकर चित लेहैं, दोनों हाथों से दोनों पानों के झंगूठे पकड़े और दोनों हाथों की कोहनियाँ जमीन पर टिका दे। सिर को पीछे मोड़कर झाती तथा कमर को भरसक जमीन से उत्पर उठाए रखे।

फल: शौच-शुद्धि, अपानवायु की निम्न गति, आंतों के सब रोगों का नाझ इत्यादि। दस-पन्द्रह मिनट तक करने से विशेष लाभ की प्रतीति होती है। इस आसन से देरतक जल में तैर सकता है।

४० तोलांगुलासन—पद्मासन लगाकर नितम्बों के नीचे हाथों की मुट्टियां रखकर इन पर तराजू के सहश सारे शरीर को तोल रक्खे ।

फल: मत्स्यासन के समान है।

४१ त्रिवन्धासन - मूलवन्ध, उड्डीयान-बन्ध और जालन्धरबन्ध लगाकर पद्मासन



२३. धनुरासन



२४, मत्स्येन्द्रासन















३४ अर्ध्व पद्मासन

३५. उत्थित पद्मासन

३६. कुनकुटासन







३९ मत्स्यासन

से बैठे। फिर निम्न कियायें करें:—दोनों हाथों को मिलाकर भरसक ऊपर बठावें दोनों हाथों को गौमुख करके रक्खे। दोनों हाथ पीछे फेरकर दाहिने दाथ से बायें पांव के कंगूठे को और बायें हाथ से दाहिने पांव के अंगूठे को पंकड़े। दोनों हाथों को भूमि पर जमाकर उन पर सारा शरीर अर्थान् पूरे आसन को खठावे और नितम्बों को पुन: भूमि पर ताइन करे।

फल : तीनों बन्धों के फल के आतिरिक्त इससे कुराडिलनी की आगृति और प्राणों के

उत्थान में विशेष सहायता मिलती है, किन्तु सावधानी के साथ करे।

४२ एक पादांगुष्ठासन — एक पैर की एड़ी को गुदा और अरखकोश के बीच में लगाकर उसी के अंगूठे को अंगुलियों सहित पृथिवी पर जमाकर दूसरे पैर को ठीक उसके घुटने पर रखकर उस पर सारे शरीर का भार सँभालकर बैठे। नासाम भाग पर दृष्टि जमाकर झाती को किश्वित् उभारे रहे, दार्थ-बार्ये दोनों सङ्ग से बारी-बारी से करे।

फल : वीर्यदोष का दूर होना और वीर्यवाही नाड़ियों का शुद्ध और पुष्ट होना।

खहे होकर करने के आसन

४२ ताड्।सन—गला, कमर, पाँव की एड़ी आदि सबको समरेका में करके सीधा खड़ा हो एक हाथ को भरसक सीधा ऊपर ताने और दूसरे को जंघा से मिलाये रक्खे। अपरवाले हाथ को धीरे-धीरे तानता हुआ नीचे ले जावे और नीचेवाले को ऊपर। इसी प्रकार कई बार करे।

कल : सारे शरीर को आरोग्य रखना, मेरुद्गड का सीधा करना, शौच-शुद्धि, अर्श

रोग का नाश करना इत्यादि।

. ४४ गरुड़ासन — सीधे खड़े होकर एक पैर को दूसरे पैर से लपेटे, तत्प्रधात् दोनों हाथों को भी उसी प्रकार लपेटकर हथेली में हथेली मिलाकर दोनों हाथों को नाक के पास ले जावे।

फल : पैरों के स्नायु की शुद्धि, अगडकोश की युद्धि का रोकना, घुटने और कोहनियों आदि के दर्व का नाश करना।

४५ द्विपाद मध्यशीर्घासन—दोनों पैरों को भरसक फैलावे, मसक को आगे की ओर सुकाकर दोनों पैरों के बीच में ले जाकर प्रथियी पर लगावे।

कल : पेट के स्नायु, कमर, मेहदराड, और वीर्यवाही नसी का पुष्ट होना ।

४६ पाइहस्तासन—सीधे खड़े होकर धीरे धीरे आगे की ओर सुककर दोंनों हाओं से दोनों पैरों के अंगूठे पकड़े, उड़ीयान और मूलबन्ध के साथ बिना घुटने तथा पाँव मुकाए घुटने पर सिर को लगादे।

फल : तिझी, यक्रम्, कोष्ठबद्धता आदि का दूर होना । देर तक करने से विशेष लाभ की प्रतीति हागी ।

४७ इस्सपादां जुष्डासम — सीधा समसूत्र में दोनों पैरों की मिलाकर सदा हो एक

पैर को सीधा उठाकर कटिप्रदेश की जगह तक ले जावे, दूसरे हाथ से इस पैर के श्रंगूठे को पकड़कर सीधा ताने, दूसरा हाथ कमर पर रहे। इसी प्रकार दूसरी श्रोर करे। जब यह श्रासन लगभग एक मिनट तक टिकने लगे तो मस्तक को फैलाये हुए घुटने पर लगावे।

फल : पेट, पीठ, जंघा, कमर, कएठ आदि अवयवों का बलवान् होना ।

४८ कोणासन — टांगों को फैलाकर समसूत्र में खड़ा हो, तत्पश्चात् एक हाथ को सीधा रखकर दूसरे हाथ से बायीं खोर मुककर बायें पैर के घुटने को पकड़े। इसी प्रकार दूसरी खोर करे।

फल: पीठ, कमर का नीरोग होना, स्नायुओं में रक्त व खून का संचार इत्यादि।
यहाँ लगभग सभी मुख्यासन उनके फल-सिहत बतला दिये हैं। किन्तु बहुत-से
आसनों को करने की श्रपेता श्रपनी श्रावश्यकतानुसार थोड़े-से विशेष-विशेष श्रासनों को
निम्न-लिखित सूची-श्रनुसार विधिपूर्वक देर तक करना श्राधिक लाभदायक होगा। श्रासनों
को श्रांश्म के मानसिक जाप तथा स्थान विशेष पर ध्यान के साथ करना श्रम्का रहेगा।

44	नारम् म नानाराम जात तथा स्थान विद्याप न	र ज्यान क ल	। भाष्यकरमा ३	4 7423 ।	(641)
8	शीर्षासन (विपरीतकरग्गी मुद्रा) (९)		२०	मिनट	कम से कम
२	मयुरासन (२०)		१०	33	11
3			१०	33	19
8	पश्चिमोत्तानासन (२)		१०	13	33
ч	जानुशिरासन (४)		१०	15	93
Ę	उत्तानपादासन (८)		પ	19	3.
v	पवन-मुक्तासन (११)		ષ	>1	93
ሪ	भुजङ्गासन (२१)		ષ	,	37
٩	शलभासन (२२)		લ	"	**
१०	त्रिबन्धासन (४१)		4	33	"
११	ताङ्(सन (४३)		ષ	"	**
१२	पादहस्तासन (४६)		4	33	39
१३	सम्भसारण भू-नमनासन (३)	l	ધ	"	19
18	हृदयस्तम्भासन (७)	•	ધ	"	19
१५	शीर्षपादासन (६)		ધ	15	33
१६	सर्वाङ्गासन (हलासन) (१३)		१०	19	93
१७	कर्णपीड़ासन (१४)		१०	73	33
१८	म्स्तक-पादाङ्गुष्ठासन (१८)		ધ	19	33
१९	नाभ्यासन (१९)		ધ	19))
२०	धनुरासन (२३)		4	"	19
२१	उ ष्ट्रासन (२६)		4	15	,,
२२	सुप्तवकासन (१७)		4	19	59

२३ मत्स्यासन(३९)

२४ द्विपाद मध्यशीषीसन (४५)

१० ,, ,,

श्रासन का उठना : — ध्यान की श्रवस्था में प्राग्त के दवाव से सुक्ष्म और शुद्ध कारीर वाले साथकों का कभी-कभी श्रासन खर्य उठने लगता है । बहुधा साथकों को प्राग्त के उत्थान में श्रासन के उठने का भ्रम हो जाता है ।

श्रासन उठाने की विधि—वस्ती श्राथवा एनेमा श्रादि से पेट की सकाई करके मूल श्रीर उड्डांयान बन्ध लगाकर पद्म श्रासन से बैठे किर नीचे से पेट में वागु को भरना चाहिये। कुछ दिनों के श्रभ्यास के पश्चान् एक विशेष श्रकथनीय स्वयमेव होने वाली श्रान्ति किया द्वारा सूक्ष्म श्रीर शुद्ध शरीरवालों का श्रासन उठने लगता है। किन्सु श्रासन का उठना केवल शारीरिक क्रिया है। इसमें श्राध्यात्मिकता का लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। इसके अदर्शन में श्राध्यात्मिक हानि ही है।

गुफा में बैठना : साधारण मनुष्य श्रधिक समय तक गुफा में बैठने को ही समाधि इन्मित्ते हैं।

गुफा में बैठने की पहिली विधि—इसमें एक लम्बे समय तक खान-पान तथा अन्य सब शारं।रिक क्रियाओं को छोड़ देने का अभ्यास होता है। गुफा में जाने से कई दिन पूर्व वस्ती धौती आदि यौगिक क्रियाओं द्वारा शरीर-शोधन और दूध तथा बादाम का छोंका आदि स्क्षम और अल्प आहार लेना होता है। गुफा में जाने वाले दिन वस्ती, धौती, नेती आदि क्रियाओं तथा Cathetar (कैथेटर) से शरीर-शोधन करना चाहिये। गुफा में नमी सील लेशमात्र भी न हो। पक्की होनी चाहिये। कई दिन पूर्व तैयार करा ली जावे जिससे उसकी धील सब निकल जावे। वायु-प्रवेश के लिये एक जालीदार खिड़की होनी चाहिये। दो एक अनुभवी देखभाल करते रहें जिससे किसी दुर्घटना की व्यक्थित में उसका प्रतीकार किया जा सके। युवक और पुष्ट शरीर वाले ही अपनी शिक्त से कम समय के लिये ही बैठने की चेष्टा करें। इसके लिए शीतकाल उपयोगी समय है।

गुफा में बैठने की दूसरी विधि—इसमें पिहली विधि में बतलाई हुई सब बातों के अतिरिक्त किसी विशेष किया से प्राप्त की बाह्य गित को रोक कर एक ही आसन से निश्चित समय तक बैठना होता है। इसमें लेचरी मुद्रा अधिक उपयोगी होती है। बाह्य प्राप्त की गित के अभाव में प्राप्तों की केवल आन्दारिक किया होती रहती है। इसलिये बाहर की हवा की आवश्यकता नहीं रहती। इसमें गुफा को बिस्कुल बन्द कर दिया जाता है। इसमें बेहोशी जैसी अवस्था रहती है। इसलिये श्रोत्र और जीर नासकादि के छिद्रों को बिशेष रीति से बन्द कर दिया जाता है जिससे कोई जीव-जन्तु अन्दर प्रवेश न कर सके। शरीर में दीमक न लगने पावे इसलिये गुफा में राख डाल दी जावे अथवा अन्य किसी प्रकार से इसका उपचार करना चाहिये। इस किया में पहिली विधि की अपेदा अधिक शारीरिक बल और देखभाल की आवश्यकता है। इस्स क्रिया में पहिली विधि की अपेदा अधिक शारीरिक बल और देखभाल की आवश्यकता है। इस्स क्रिया में पहिली विधि की अपेदा से सब बातें सम्मा कर नियुक्त कर

देना चाहिये। अपनी सामध्ये से कम समय के लिये बैठना चाहिये तथा गुफा में कोई ऐसी बिजली की घरटी आदि होनी चाहिये कि जिससे दुर्घटना की उपस्थिति में सूचना की जा सके।

वास्तविक समाधि तो तीव्र वैराग्य होने पर ध्यान द्वारा वृत्तियों के निरोधपूर्वक होती है जैसा कि योग दरोन में बतलाया गया है। उपर्युक्त दोनों प्रकार से गुका में बैठना न तो वास्तविक समाधि ही है और न इसका आध्यात्मिकता से कोई विशेष संबन्ध ही है। पहिली विधि में ऋति कठिन शारीरिक तप है और दूसरी विधि में उससे भी भयंकर प्राम्पसंबन्धी तप श्रीर उसकी विशेष क्रियाश्रों का श्रम्यास है। यदि इन दोनों प्रकार की कियाओं में कार्य्य-कुशल साधक जनसमृह में प्रतिष्ठा मान और धन प्राप्ति की अभि-लाषा की उपेत्ता करके वैराग्य और ध्यान द्वारा वृत्तिनिरोध की श्रोर प्रवृत्त हों तो बहुत शीघ आत्म-उन्नति के शिखर पर आरूढ हो सकते हैं। इस प्रकार की समाधि का सब से कठिन और आश्चर्य जनक प्रदर्शन महाराजा रणजीतसिंहजी के समय में एक इसक इठयोगी हरिदास ने किया था। वह प्राणों की बाह्य गति को किसी विशेष किया द्वारा अन्तमुंख करके खेचरी मुद्रा लगा कर एक विशेष आसन से बैठ गया। उसके नाक व कानों के छिद्रों को मोम तथा अन्य कई श्रीषिधयों द्वारा बन्द कर दिया गया। एक लोहे के बक्स में रख कर ताला लगाकर उसको जमीन खुदवाकर गड़वा दिया गया। तदु-परान्त उस भूमि पर चने बवा दिये गये। छ: मास पश्चात जर्मान को खोद कर इक्स में से उसे निकाला गया और उसकी बतलाई हुई विधि अनुसार होश में लाया गया। इतना सब कुछ होते हुये भी कहते हैं कि उसमें वैराग्य तथा ध्यान द्वारा वृत्तिनिरोध के श्रश्यास की कमी थी जिसके फलस्वरूप (बहुत सम्भव है बकोली किया की सिद्धि की चेटा में) एक क्वांरी लड़की को भगा कर लेजाने के प्रयक्त ने उसकी सारी प्रतिष्ठा और मान पर पानी फेर दिया । इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार के योग के नाम पर प्रदर्शन आरम्भ में जनसमूह में योग शब्द के प्रति अगाध श्रद्धा और अन्ध विश्वास उत्पन्न कर देते हैं किन्त उनके प्रदर्शकों की सांसारिक और खार्थमय चेष्टायें अन्त में उससे कहीं अधिक योग के सम्बन्ध में अश्रदा की उत्पादक होजाती हैं।

धासन मुद्राये धादि सभी यौगिक क्रियाओं का हमने वर्णन कर दिया है। इनमें से जो जिसके अभ्यास में सहायक हों उनको महुए। करना चाहिये। किन्तु मुख्य ध्येय आस्म क्यति को छोड़कर केवल इन शारीरिक क्रियाओं और खान-पान के चिन्तन में ही लगा रहना धाहतकर है।)

संगति-आसन की सिद्धि का उपाय बताते हैं:-

मयज्ञशैथिन्यानन्त्यसमावित्रभ्याम् ॥ ४७ ॥

शान्तार्थ—१यझ-रौधिस्य = ५यझ की शिथिलता । ञानन्त्य-समापत्तिभ्याम् = श्रीर शानन्त्य में समापत्ति द्वारा । (श्रासन सिद्ध होता है)। अन्वयार्थ—(व्यासन) प्रयत्न की शिथिलता और ब्यानन्त्य में समार्गात्त द्वारा सिद्ध होता है।

ब्याख्या—सूत्र के अन्त में 'भवति' वाक्य शेष है। प्रयक्ष-शैथिल्य = स्वाभाविक शरीर की चेष्टा का नाम प्रयक्ष है। उस स्वाभाविक चेष्टा से अङ्गमेजयत्व (शरीर कम्पन) के निमित्त उपरत होना प्रयक्ष की शिथिलता है। इस प्रयक्ष की शिथिलता से आसन सिद्ध होता है। अथवा आनन्त्यसमापित = आकाशादि में रहनेवाली अनन्तता में चित्त की व्यवधान-रहित समापित अथोत् तद्भपता को प्राप्त हो जाने से आसनसिद्धि होती है अर्थात् शरीर को प्रयक्ष शृत्य और मन को व्यापकिविषयी पृत्तिवाला करके आसन पर बैठना चाहिये। इस प्रकार शरीर और मन को क्यारहित करने से शरीर का अध्यास छूट जाता है और उससे मुला-जैसा होकर बहुत समय तक स्थिरता के साथ सुख्यूर्वक बैठ सकता है। आनन्त्य-समापित से यह अभिप्राय है कि चित्त पृत्तिक्ष्य से प्रतिक्षण अनेक परिच्छित्र पदार्थों की ओर धूमता रहता है। उनकी परिच्छित्रता में वह अस्थिर रहता है। अपरिच्छित्र आकाशादि में जो अनन्तता है उसमें चित्त को तदाकार करने से चित्त निर्वषय होकर स्थिर हो जाता है।

टिप्पणी —॥ सूत्र ४०॥ इस सूत्र में श्रनन्त पाठ मानकर श्रनन्त-समापत्ति का श्रर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न श्रपने-श्रपने विचारों के श्रनुसार किया है। इसका कारण यह है कि व्यासभाष्य से इसका पूरा स्पष्टीकरण नहीं होता है। व्यासभाष्य में केवल इतना बतलाया है:—

अनन्ते वा समापन्नं चित्तमासनं निर्वर्तयतीति ।

अर्थ-अनन्त में समापन्न किया हुआ चित्त आसन को सिद्ध करता है।

इसीलिये किसो ने अनन्त के अधे अनन्त पदार्थ, किसी ने ईश्वर किय है। और वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानिभक्ष ने अनन्त रोषनाग का नाम बताया है जो अपने सहस्र फनों पर पृथिवीम्गडल को धारण किये हुए है। इन सबका यह तास्पर्य हो सकता है कि समाधिसिद्धि से आसनसिद्धि हो जाती है। पर समाधि से पूर्व प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ज्यान इन चारों अङ्गों की पृति रोष रहती है। आसन साधन हैं और समाधि साध्य है। समाधिसिद्धि से आसनसिद्धि बतलाना साध्य से साधन को सिद्ध करना है, इसलिय इसके अर्थ हमने "भोजवृत्ति" के अनुसार किये हैं, जो इस प्रकार है:—

यदा चाऽऽकाशादिगत मानन्त्ये चेतसः समापत्तिः क्रियतेऽध्यदघानेन तःदारुयमापद्यते तदा देहाइंकाराभावामाऽऽसनं दुःखजनकं भवति ।

अर्थ--जब आकाश आदि में रहनेवाली श्रानन्तता में वित्त को व्यवधान-रहित तदाकार किया जाता है तब उसकी तद्रुपता प्राप्त हो जाने पर शरीराभिमान का श्रभाव हो जाने से देह की सुध न-रहने से आसन् दुःख का उत्पादक नहीं होता।

सगति-इसका फल बतलाते हैं :--

ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८॥

शब्दार्थ--ततः उससे । द्वन्द्व-श्वनभिषातः = द्वन्द्व की चोट नहीं लगती । अन्वयार्थ-श्वासन की सिद्धि से द्वन्द्वों की चोट नहीं लगती ।

व्याक्या—श्रासन सिद्ध होने पर योगी को गर्मी-सर्दी भूख-प्यास श्रादि इन्द्र नहीं सताते।

संगति - आसन्सिद्धि के अनन्तर प्राणायाम का बताते हैं :-

तस्मिन् सति श्वासमश्वासयोर्गतिविच्छेतः पाणायामः ॥ ४६ ॥

श्रव्यार्थ —तस्मिन्-सित = उस त्र्यासन के शिर हो जाने पर । श्रास-प्रश्नासयोः = श्रास श्रीर प्रश्नास की । गति-विच्छेदः = गति को रोकना । प्राणायामः = प्राणायाम है ।

अन्ययार्थ—श्रासन के स्थिर होने पर श्रास-प्रश्नास की गति का रोकना प्राणायाम है। स्याख्या—श्रास: बाहर की वायु का नासिका द्वारा श्रन्दर प्रवेश करना श्वास कडलाता है।

प्रश्वास: कोष्ठ-स्थित वायु का नासिका द्वारा बाहर निकालना प्रश्वास कहलाता है। श्वास-प्रश्वास की गतियों का प्रवाह रेचक, पूरक और कुम्भक द्वारा बाह्याध्यन्तर दोनों स्थानों में रोकना प्राणायाम कहलाता है। रेचक प्राणायाम की बहिगीत होने के कारण उसमें श्वास की खाभाविक गति का तो अभाव होता ही है पर कोष्ठ की वायु का बहिर-विरेचन करके बाहर ही धारण करने से प्रश्वास की खाभाविक गति का भी अभाव हो जाता है। इसी प्रकार पूरक प्राणायाम में प्रश्वास की गति का तो अभाव होता ही है, पर बाह्य बायु को पान करके हारीर के अन्दर धारण करने से श्वास की खाभाविक गति का भी अभाव हो जाता है। और कुंभक प्राणायाम में रेचन पूरण प्रयक्त के बिना केवल विधारक प्रयक्त से प्राणवायु को एकदम जहाँ के तहाँ रोक देने से श्वास-प्रश्वास दोनों की गति का अभाव हो जाता है।

जब ठीक बासन से बैठ जावे तब ऊपर बतलाई हुई रीति से प्राणायाम करना बाहिये। प्राणायाम के इन तीनों भेदों का विस्तारपूर्वक वर्णेन अगले सूत्र में है। आसन यम-नियम की नाई योग का स्वतन्त्र खड्ड नहीं है, वह प्राणायाम की सिद्धि का उपाय है। इसलिये 'तिसम्म सित' उसके बर्थान् बासन के हो जाने पर यह शन्द लाया गया है।

संगति - मुखपूर्वक प्राणायाम की प्राप्ति के लिये उसका भेद करके खरूप बताते हैं।

बाह्मभ्यन्तरस्तम्भव्वतिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसुच्मः ॥ ५० ॥

शस्त्रार्थ — बाझ-साध्यन्तर-स्तन्भ-वृत्तिः = बाझ-वृत्तिः, स्वाध्यन्तर-वृत्तिः स्त्रीर स्तन्भ-वृत्तिः (तीनों प्रकार का प्राणायाम)। देश-काल-संख्याभिः-परिटष्टः = देशः, काल स्त्रीर संख्या से देखा हुसा। दीर्षसूक्मः = लम्बा स्त्रीर हल्का होता है।

अम्बयार्थ — (यह प्राणायाम) बाझ-बृत्ति आध्यान्तर-बृत्ति और स्तम्भ-वृत्ति (तीन प्रकार का होता है) देश, काल और संख्या से देखा हुआ (नापा हुआ) लम्बा और हल्का होता है ।

ब्याख्या—बाह्य-वृत्ति (प्रश्नास): श्वास का बाहर निकालकर उसका खाभाविक गति का खभाव करना रेचक प्राणायाम है।

श्राभ्यन्तर-युत्ति (श्रास) : श्रास श्रन्दर खींचकर उसकी खाभाविक गति का श्रभाव

पूरक प्राणायाम है।

स्तम्भवृत्ति : श्वास-प्रश्वास दोनों गतियों के श्वभाव से प्राण को एकदम जहाँ का तहाँ रोक देना कुम्भक प्राणायाम है। जिस प्रकार तप्त-लोहादि पर डाला हुश्चा जल एक-साथ संकुचित होकर सूख जाता है, इसी प्रकार कुम्भक प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास दोनों की गति का एक-साथ श्वभाव हो जाता है।

इन तीनों में प्रत्येक प्राणायाम तीन-तीन प्रकार का होता है :-

१ देश-परिदृष्ट : देश से देखा हुआ अर्थात् देश से नापा हुआ। जैसे (१) रचक में नासिका तक प्राण का निकलना; (२) पूरक में मूलाधार तक श्वास का ले जाना, (३) कुम्भक में नाभिचक आदि में एकदम रोक देना।

२ कालपरिटष्ट : समय से देखा हुन्ना त्र्यांत् समयोपलित्तत = समय की विशेष मात्रात्रों में श्वास का निकालना, श्रन्टर ले जाना त्रीर रोंकना । जैसे दो सेकिएड में रेचक, एक सेकिएड में पूरक और चार सेकिएड में कुम्भक।

६ संख्यापरिदृष्ट : संख्या से उपलिन्ति । जैसे इतनी संख्या में पहिला, इतनी संख्या में दूसरा; और इतनी संख्या में तीसरा प्राणायाम । इस प्रकार अभ्यास किया हुआ प्राणा-याम दीचे और सुक्ष्म अर्थात् लम्बा और हरका होता है ।

भाव यह है कि ज्यों-ज्यों योगी का श्रभ्यास बद्दता जाता है त्यों-त्यों रेचक, पूरक, कुम्भक, यह तीनों प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या के परिमाण से दीघे (लम्बा) सूक्ष्म (पतला, हत्का) होता चला जाता है। श्रधीत पहले-पहल रेचक प्राणायाम में बाहर फेंकते समय जितनी दूर तक प्राण जाता है, घीरे-घीरे श्रभ्यास से खसका परिमाण बदता चला जाता है। इसकी जांच इस प्रकार की जाती है कि रेचक प्राणायाम के समय पहले-पहल नासिका के सामने पतली-सी रुई रखने से जितनी दूर वह श्रास के स्पर्श से हिलती है, कुछ दिनों के श्रभ्यास के पश्चात् उससे श्रिक दूरी पर हिलने लगती है। इस प्रकार जब बारह श्रंगुल-पर्यन्त रेचक स्थिर हो जावे तब उसको दीघे-सूक्ष्म समक्षना चाहिये।

जिस प्रकार रेचक प्रायायाम में श्वास की लम्बाई बाहर बद्ती जाती है इसी प्रकार पूरक प्रायायाम में अन्दर बद्ती जाती है। अन्दर श्वास खींचने में श्वास का स्पर्श चींटी जैसा प्रतीत होता है। यह स्पर्श अभ्यास के कम से नीचे की खोर नाभि तथा पादतल और अपर की ओर मिसक्ष तक पहुंच जाता है। नाभि-पर्यन्त पूरक श्विर हो जाने पर उसको भी दीर्घ-सूक्ष्म सममन्ता चाहिये। इस तरह केवल रेचक, पूरक की परीचा की जाती है, कुम्भक में न बाहर कुछ हिलता है, न अन्दर स्पर्श होता है। यह देशद्वारा परीचा हई।

काल-द्वारा परीचा

इसी प्रकार तीनों प्रकार का प्रारायाम अध्यास द्वारा काल के परिमाण में भी बढ़ता जाता है। आरम्भ में जितने कालतक प्रारायाम होता है, धीरे-धीरे उससे अधिक कालतक बढ़ता जाता है। हाथ को जातु के ऊपर से चारों और फिराकर एक चुटकी बजा देने में जितना काल लगता है उसका नाम मात्रा है। दिनों-दिन बृद्धि को प्राप्त किया हुआ प्रारा याम जब इत्तीस मात्राओं पर्यन्त श्वास-प्रशास की गति के अभाव में होने लगे तब उसको दीर्घसूक्ष्म जानना चाहियें।

संख्या-द्वारा परीचा

इसी प्रकार संख्या के परिमाण से प्राणायाम बद्गा जाता है। प्राणायाम के बल से कई स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास का एक-एक श्वास बनता जाता है। जब बारह श्वास-प्रश्वास का एक श्वास बनता जाता है। जब बारह श्वास-प्रश्वास का एक श्वास बनते लगे तो जानना चाहिये कि दीये-सृक्ष्म हुआ। यह प्रथम उद्घात, मृदु द्वांचे-सृक्ष्म, बोबीस श्वास-प्रश्वास का एक श्वास, द्वितीय उद्घात मध्य दीये-सृक्ष्म और इत्तीस श्वास-प्रश्वास का एक श्वास, तृतीय उद्घात तीव्र-सृक्ष्म कहलाता है। उद्घात का अर्थ नाभिमृल से प्रेरणा की हुई वायु का सिर में टक्कर खाना है। यह प्राणायाम में देश, काल और संख्या का परिमाण है। इस प्रकार प्राणायाम अध्यास से लम्बा (घड़ी, पहर, दिन, पन्न, आदि पर्यन्त) और सृक्ष्म बड़ी निषुण्वता से जानने योग्य होता चला जाता है।

विशेष यक्तव्य—।।सूत्र ५० ।। प्राण् का विस्तार-पूर्वक वर्णन पहले पाद के चौंतीसवें सूत्र के वि० व० में कर श्राय है। यहाँ प्राण्याम का क्रियात्मक रूप बतला देना आवश्यक है। एक ख़ख्य मनुष्य खाभाविक रीति से एक मिनट में पन्द्रह बार श्रास लेता है। साधारण ख़ित में श्रास की गति इस कम से होती है: (१) श्रास का भीतर जाना, (२) भीतर इकना, (३) बाहर निकलने को प्रश्नास की गति के श्रास, बाहर निकलने को प्रश्नास श्रीर अन्दर तथा बाहर रुकने को विराम कहते हैं। इस खाभाविक श्रास-प्रश्नास की गति के वशीकरण से शरीर के भीतर प्राण् की समस्त सूक्ष्म गतियों का वशीकार हो सकती हैं। इन दोनों गतियों के नियम-पूर्वेक रोक देने के अध्यास से आयु बदती है, शरीर ख़ख्य रहता है- कुराइ-लिनी जामत होती है, और मन जो श्रांत चश्चल तथा दुर्निग्रह है, प्राण् से सम्बन्ध रख़्ते के कारण उसके रुकने से शीप्र खिर हो जाता है। योग का श्रांत्म लक्ष्य चित्त की दृत्वियों का रोकना है, इसलिय सूत्रकार ने प्राण्याम को योग का चौथा श्रंग मानकर उसका लक्षण (नियमपूर्वेक) श्रास-प्रश्नास की गति का रोकना किया है। तीन नियमित क्रियाशों से इस गति का निरोध किया जाता है। इसलिय प्राण्यायाम के तीन भेद: पूरक = श्राभ्यन्तर-वृत्ति, रेचक = बाह्य-वृत्ति, श्रीर कुम्भक = स्तम्भ-वृत्ति किये हैं।

(१) पूरक (आध्यन्तर-वृत्ति) द्वारा श्वास को देश (नाभि, मूलाधार आदि आध्य-न्तर प्रदेश तक ले जाकर), काल (श्वास की मात्रायें बढ़ाकर) और संख्या (कई श्वासों का एक श्रास बनाकर) के परिमाण से दीर्घ और सुस्म करके उसकी गति का श्रभाव किया जाता है। इस प्रकार पूरक द्वारा श्रास की गति को रोक देने को पूरक सदित कुम्भक, अथवा आभ्यन्तर कुम्भक कहते हैं।

- (२) इसी प्रकार रेचक द्वारा प्रश्नास को देश, काल और संख्या के परिमाण से दीचे और सुक्ष्म कर्युके उसकी गति को रोक दिया जाता है। इस प्रकार प्रश्नास की गति को रोक देने को रेचक सिंहत कुम्भक ध्यथा बाह्य कुम्भक कहते हैं। जहाँ पूरक, रेचक दोनों से श्वास-प्रश्नास की गति को रोक दिया जाता है वह सिंहत-कुंभक कहलाता है।
- (३) बिना पूरक रेचक किये हुए श्रास-प्रश्नास दोनों की गतियों को कुम्भक द्वारा एकदम जहाँ का तहाँ रोक दिया जाता है। यह भी देश (हृदय की धड़कन, हाथ की नाड़ी आदि की चाल को देखकर) काल (कितनी मात्राओं में गति का अभाव रहा) संख्या (कितनी विराम की संख्या में गति का अभाव रहा) के परिमाण से दीघे और सूक्ष्म होता है। इसको केवल कुम्भक कहते हैं।
- (४) इन तीनों प्रकार के प्राणायामों से भिन्न एक चौथी विलक्षण क्रिया श्वासप्रश्वास की गति को रोकने की है। इसकी संज्ञा योगदर्शन में "चतुर्थ प्राणायाम" की है। इसमें श्वास-प्रश्वास की गति को रोके विना केवल रेचक, पूरक किया जाता है। इसके निरन्तर अभ्यास से श्वास-प्रश्वास की गति देश, काल और संख्या के परिमाण से दीघे और सूक्ष्म होती हुई स्वयं निरुद्ध हो जाती है।

समाधिपाद के चौंतीसवें सूत्र के वि० व० में मुख्य प्राग्त के पाँच भेद : प्राग्त, ख्रपान, समान, ज्यान और उदान तथा प्राग्त का निवास-स्थान हृदय, ख्रपान का मूलाधार, ख्रीर समान का नाभि बतला श्राये हैं। पूरक में प्राग्त समान से नीचे जाकर ख्रपान के साथ मिलता है और रेचक में ख्रपान समान से ऊपर जाकर प्राग्त से मिलता है। इसलिय कई योगाचार्यों ने प्राग्तायाम का लच्छा 'प्राग्त और ख्रपान का मिलना किया है। यथा :—

माणापानसमायोगः माणापाम इतीरितः। माणापाम इति मोक्तो रेचक-पूरक-कुम्भकैः॥

—योगिया**जवल्य ६**।२

अर्थ - प्राण और अपान वायु के मिलाने को प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम कहने से रेचक पूरक और कुम्भक की क्रिया सममी जाती है।

वर्णत्रयात्मका स्रोते रेचक-पूरक-कुम्भकाः। स एव मणवः मोक्तः माणायामश्र तन्मयः॥

-योगियाज्ञवस्त्य ६।३

अर्थ - रेचक, पूरक और कुम्भक यह तीनों तीन वर्णरूप हैं अर्थात् इन तीनों में तीन-तीन वर्ण होते हैं। वहां यह प्रणव कहा गया है। प्राणायाम प्रणव-रूप ही है। अर्थात् जिस प्रकार भोम में था, उ, म, ये तीन वर्ग हैं, इसी प्रकार पूरक, कुंमक, रेचक तीनों में तीन-तीन वर्ग हैं, इसलिये यह तीनों प्रगुव ही हैं। ऐसा जानकर इन तीनों के अलग-अलग अभ्यास में प्रगुव उपासना की भावना करनी चाहिये। प्राग्गायाम की क्रियाओं की भिन्नता से कुम्भक के आठ अवान्तर भेद बतलाये गये हैं। यथा:—

सहितः सूर्यभेदश्च बज्जायी शीतली तथा । 🔊 भिक्तका भ्रागरी मूर्जा केवली चाष्टकुंभकाः ॥

- गोरक्षसंहिता १९५, घरण्डसंहिता

अर्थ - सहित, स्थेभेदी, उज्जायी, शीतली, मिस्नका, श्रामरी, मुर्खी, श्रौर केवली भेद से कम्भक खाठ प्रकार का है।

हठयोगप्रदीिपका में कुम्भक का आठवाँ भेद प्लाविनी माना है। इन सब प्रकार के जपर्युक्त कुम्भकों के वर्णन करने से पूर्व इनके सम्बन्ध में कई विशेष सूचनायें दे देना अचित

प्रतीत होता है।

बन्धों का प्रयोग—िक्षरासन में लेचरी मुद्रा के साथ नेत्रों को बन्द करके प्राणायाम का अध्यास करना चाहिये। सिर, गर्दन और मेरुद्रण्ड सीधे रहें; मुके न रहें। शरीर को तानकर नहीं रखना चाहिये बिल्क ढीला छोड़ देना चाहिये। मूलबन्ध आरम्भ से अन्ततक तीनों प्राणायामों में लगा रहना चाहिये। उड्डीयान को भी लगाए रखने का प्रयन्न करें। रेचक में पूरा उड्डीयान करके पेट को पीठ से मिला देना चाहिये। पूरक और अम्भक के समय पेट की नाहियों को फुलाकर आगे की और नहीं बढ़ाना चाहिये। तरन् मिकोइकर ही रखना चाहिये। पूरक करके कुम्भक के समय जालन्धर-बन्ध लगाकर वायु को अन्दर रोकना होता है। कुम्भक की समाप्ति पर जालन्धर-बन्ध लगाकर वायु को अन्दर रोकना होता है। कुम्भक की समाप्ति पर जालन्धर-बन्ध लगाकर वायु को अन्दर रोकना होता है। कुम्भक की समाप्ति पर जालन्धर-बन्ध खोलकर रेचक किया जाता है। जालन्धर-बन्ध यद्यपि बहुत लाभदायक है तथापि तनिक-सी असावधानी होने पर इनमें हानि पहुँचने की भी सम्भावना रहती है। तथा इसके द्वारा गर्दन मुकाने की आदत भी कई अध्यासियों को पड़ जाती है। इसलिये राजयोग के अध्यासियों के लिये अधिक हितकर नहीं है। बिना जालन्धर-बन्ध लगाये दोनों नासिकापुट को अंगुलियों से बन्द करके अथवा इसके बिना भी कुम्भक किया जाता है।

२ अंगुलियों का प्रयोग—वाम नासिकापुट से पूरक करते समय दाहिने नासिकापुट को दाहिने हाथ के अंगुले से दवाना होता है। कुम्भक के समय वाम नासिकापुट को भी दाहिने हाथ की अनामिका तथा किनिष्ठिका से दवाकर वायु को अन्दर रोकना होता है। अर्थात् यदि जालन्धर-बन्ध न लगाना हो तो कुम्भक में दोनों नासिकापुट (नथुने) सीधे हाथ की नियुक्त अंगुलियों से बन्द किये जाते हैं। दक्तिण नासिकापुट से रेचक करते समय केवल वाम नासिकापुट को बन्द रखना होता है, दाहिने पर से अंगुलियों इटाली जाती हैं, इसी अवस्था में दाहिने नथुने से पूरक किया जाता हैं, और कुम्भक के समय इसको भी पूर्ववन् बन्द कर दिया जाता है। बायें नथुने से रेचक के समय इस नथुने पर से अंगुलियों इटाली

जाती हैं। दोनों नधुनों से रेचक तथा पूरक करते समय दोनों नधुनों पर से अंगुलियाँ इटाली जाती हैं। आरम्भ में ही अंगुलियों के प्रयोग की आवश्यकता होती है। आभ्यास परिपक्व हो जाने पर नधुनों को अंगुलियों से दबाये बिना भी रेचक, पुरक, कुम्भक किया जा सकता है। यदि कुम्भक में जालन्धर बन्ध लगाया हा तो अंगुलियों द्वारा नधुनों को बन्द करने की आवश्यकता नहीं होती।

न्नागे बतलाये जाने वाले रेचक, पूरक, कुम्भक में श्रंगुलियों द्वारा नासिकापुट का खोलना, बन्द करना पाठकगण स्वयं समभ लें, हमें श्रव उनके बतलाने की श्रावश्यकता नहीं रही।

 श गणायाम के त्रारम्भ में जिस नासिकापुट से पूरक करना हो उससे प्रथम पूरा श्वास बाहर निकाल देना चाहिये।

सगर्भ (सबीज) सिहत कुम्भकः -

सिहतो द्विषिधः शोक्तः प्राणायामं समावरेत् । सगर्भो बीजमुच्चार्यं निगेर्भो बीजवर्गितः॥

अर्थ — सहित-कुम्भक सगर्भ और निगर्भ भेद से दो प्रकार का कहा गया है। उसका आचरण करें। सगभे बीजमन्त्र के उच्चारण के साथ किया जाता है और निर्गर्भ बीजमंत्र को छोड़कर किया जाता है।

सगर्भ अर्थात् सबीज प्राणायाम की विधि - पूरक का बीजमन्त्र "खं" है कुम्भक का 'इं' बौर रेचक का 'मं' है। इस प्रकार सहित-प्राणायाम को प्रण्वास्मक समम्प्रकर उसमें 'प्रण्व' की उपासना की भावना करते हुए पूरक में 'खं' का, कुम्भक में 'इं' का और रेचक में 'मं' का जाप करते हुए अथवा पूरक कुम्भक और रेचक तीनों को अलग अलग प्रण्वात्मक जानकर उनमें 'प्रण्व' की उपासना की भावना करते हुए तीनों में 'ओम्' की निश्चित मात्रा से जाप करना सबीज अथवा सगर्भ प्राण्याया है।

१ साधारण सहित अथवा अनुलोम विलोम कुम्मक—बीजमन्त्र 'चं' अथवा ओश्न का छ: बार मानसिक जाप करते हुए बार्ये नासिकापुट से धीमे-धीमे बिना श्रावाज किये हुये वायु को मूलाधार तक पूरक करें । चौबीस बार बीजमन्त्र 'उं' अथवा खोश्न का मानसिक जाप करते हुए कुम्मक करें । बीजमन्त्र 'मं' अथवा खोश्न का-बारह बार मानसिक जाप करते हुए धीरे-धीरे बिना खावाज किये वायु को रेचक करें । थोड़ी देर (एक सेकिएड) वायु को बाहर रोककर पूर्वतत् बारह मात्रा में 'श्रं' अथवा खोश्न का जाप करते हुए पूरक करें पूरक के प्रश्नात् पूर्वतत् कुम्मक सत्यश्चात् रेचक करें, ये दो प्राणायाम हुए, इस प्रकार दोनों नासिकापुटों से एक साथ पूरक, कुम्मक और रेचक करके प्राणायाम किया जा सकता है। प्राण्याम की संख्या यही रहें मात्राएं पूरक, कुम्मक और रेचक १-४-२ के हिसाब से यथाझिक बढ़ाते रहें।

निम्नलिखित क	मानुसार मात्राच्यों को शनैः-शनै	बढ़ाया जा सकता है:—
मात्रा से वरक	६ माना से कस्प्रक	र मात्रा से रेचक

Ę:	मात्रा :	से पूरक	ँ ६ ३	मात्रा	से कुम्भक	6	मात्रा :	धे रेचक	१५ वि	न तक
Ę	91	"	१२	"	"	९	19	"	91	71
Ę	**	11	१८	1,	,,	१०	"	"	11	19
Ę	11	**	२४	11	11	१२	,,	,,	11	"
•	11	11	२८	91	91	१४	13	,,	11	,,
6	11	,,	३२	"	1,	१६	11	"	11	"
٩	91	>>	३६	"	"	१८	11	93	"	19
१०	"	93	80	"	33	२०	19	19	,,	19
१ १	11	19	88	"	"	२२	"	19	33	19
१२	"	91	86	33	19	ર૪	"	"	,,	33
१ ३	93	11	५२	33	11	२६	"	93	"	33
१४	**	11	५६	,,	**	२८	19	;;	11	11
१५	19	15	६०	,,	1,	३०	19	,,	77	33
१६	19	1)	६૪	"	11	३२	13	33	,,	,,
१७	33	33	६८	;;	**	३४	,,	"	19	"
१८	93	19	७२	"	19	३६	1,	,,	,,	99
१९	1,	11	७६	11	11	३८	,,	19	,,	91
२०	,,	11	८०	11	91	४०	1,	33	91	,,

इसके पश्चान् यदि चाहें तो केवल कुरुभक कर सकते हैं। मात्राक्यों को बढ़ाने में शीव्रता न करें, यथाशक्ति शनै:-शनै: बढ़ावें।

साधारण सहित-कुम्भक के अन्तर्गत कई अन्य उपयोगी प्राणायाम:--

(क) तालयुक्त प्राराणयाम : हाथ की कलाई पर अंगूठे की कोर नवज वाली नाड़ी पर अक्टुलियों को रखकर उसकी धड़कन (गिति) की चाल को अच्छी प्रकार पहचानने का अध्यास करने के पश्चात इस प्राराणयाम को निम्न प्रकार करे:—

किसी मुखासन से विधि अनुसार बैठकर उस नाड़ी की धड़कन को १ से ६ तक गिनते हुए पूरक, १ से ३ तक गिनते हुए आध्यन्तर कुम्भक १ से ६ तक गिनते हुए रेक्क और १ से ३ तक गिनते हुए बाह्य कुम्भक करे। यह १ प्राणायाम हुन्या, इस प्रकार सात प्राणायाम करे। मात्रायें इसी क्रम-बनुसार यथाशक्ति बढ़ात जावें। इसी प्रकार अनुलोम-बिलोम रीति से यह प्राणायाम किया जा सकता है।

फल: मन की एकामता तथा बिना तार के तार वाले यन्त्र (Wireless Telegram) अथवा रेडियो (Radio) के सदश दूर-दूर खानों में बैठे हुए दो मनुष्य एक निम्नित समय पर इस प्राणायाम द्वारा तालयुक्त होकर अपने विचार की तरेगें (धारें) एक-दूसरे तक पहुँचा सकते हैं (सूत्र ३२ वि० व० सम्मोहन शक्ति)। दूसरी विधि—उपर्युक्त विधि के परिपक्त होने पर सातों चक्रों पर क्रमानुसार ध्यान करते हए इस प्राणायाम को करें:—

मूलाधार चक्र — पूरक में ऐसी भावना करे कि श्रास उस स्थान में अन्दर आ रहा है। आध्यन्तर कुम्भक के पश्चात् रेचक में ऐसी भावना करे कि शास वहाँ से बाहर निकल रहा है। किर बाह्य कुम्भक करे। इस प्रकार सात प्राणायाम करे। इसी प्रकार कमानुसार स्थाधिष्ठान चक्र, मिंत्पूरक चक्र, अनाहत चक्र, विशुद्ध चक्र, श्राह्माचक्र, तथा ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान करते हुए प्राणायाम करे।

फल : चक्रभेदन में सहायता, शरीर के किसी विशेष आंग के विकारी होने पर उस

श्यान पर इस प्राणायाम द्वारा प्राण को भरकर विकार का हटाना।

२ सूर्यमेदी कुम्मक —बलपूर्वक सूर्यनाड़ा अर्थात् दाहिने नासिकापुट से धीरे-धीरे आबाज के साथ पूरक करें (प्राणावायु को पूर्णतया पेट में भरकर नख से शिखा-पर्यन्त फैलाकर) बलपूर्वक जबतक वायु को रोक सके छंभक करें। इसके पश्चात् चन्द्र-नाड़ी अर्थात् वाम नासिकापुट से धैर्य के साथ आवाज करते हुए वेग-पूर्वक रेचक करें। यह एक प्राणायाम हुआ। आरम्भ में इस प्रकार पांच प्राणायाम करें, शनै-शनै: शिक्त अनुसार संख्या बदाते जावें। इस प्राणायाम में पुन:-पुन: केवल सूर्यनाड़ी से ही पूरक और वाम नाडी से ही रेचक किया जावे।

सूर्यभेदी प्राणायाम से शरीर में उष्णता तथा पित्त की दृढ़ि होती है। बात और कफ से उत्पन्न होनेवाले रोग, रक्त-दोष, खचा-दोष, उदर-कृषि आदि नष्ट होते हैं। जठराप्ति बदती है; और कुरुडलिनी-शक्ति के जागरण करने में सहायता मिलती है। इस प्राणायाम का अध्यास गर्मी के दिनों में तथा पित्त-प्रधान प्रकृति वाले पुरुषों के लिये दितकर नहीं है।

चन्द्रभेदी प्राणायाम सूर्यभेदी प्राणायाम से बिल्कुल उल्टा व्यर्थात् चन्द्रस्तर (वार्ये नासिकापुट) से पूरक और सूर्यस्तर (दाहिने नासिकापुट) से रेचक करने से चन्द्रभेदी

प्राणायाम होता है। इससे थकावट और शरीर की उप्णता दूर होती है।

३ उज्जाई कुम्मक—मुख को किसी-क़दर सुकाकर क्यठ से हृदय-पर्यन्त शब्द करते हुए दोनों नासिकापुट से (अथवा दाहिने नासिकापुट से) शनै:-शनै: पूरक करें । कुछ देर तक कुम्मक करने के पश्चात् बायें नासिकापुट से इसी प्रकार रेचक करें । यह एक प्राणायाम हुआ । इस प्राणायाम में कुम्भक, पूरक, रेचक खरप परिमाण में किये जात हैं । कुम्भक में वायु हृदय से नीचे नहीं जाना चाहिये । रेचक में जितना हो सके शनै:-शनै: वायु को विरेचन करना चाहिये । इसमें पूरक में नासिका-छिद्र हारा वायु को बाहर से खांचकर मुख में, मुख से कएठ में और कएठ से ले जाकर हृदय में घारण किया जाता है । फिर यथाक्रम रेचक में हृदय से कएठ में, कएठ से मुख में और मुख से बायु को बाहर निकाला जाता है । पाँच मे आरम्भ करके शनै:-शनै: यथाशक्ति संख्या बढ़ाते जावें ।

फल : कफ-प्रकोप, वदर-रोग, श्रामवात, मन्दाग्नि, प्लीहा श्रादि का दूर होना, श्राप्ति का प्रवीप्त होना एवं कपट. मुख श्रीर फेफडों की खब्छता। दीर्घसूत्री उज्जाई—इसमें करठ की सहायता से लम्बी, दीर्घ श्रीर हल्की स्थावाज उत्पन्न करते हुए मन की एकायता के लिये केवल पूरक रेचक किया जाता है।

४ शीतली कुम्भक—काक के चोंच की आकृति में जिह्ना को बोष्ठ से बाहर निकालकर वायु को शनै: शनै: पूरक करे। धीरे-धीरे पट को बायु से पूर्ण करके सूर्यभेदी प्राणायाम के सदश कुछ देर कुम्भक करने के पश्चात् दोनों नासिकापुट से रेचक करे। पुनः पुन: इसी प्रकार करें।

फल : अजीगो, पित्त से उत्पन्न होनेवाले रोग, रक्तपित्त, रक्तविकार, पेप्विश, व्यन्त-पित्त, प्लीहा, तृषा आदि रोग इससे दूर होते हैं, बल और सौन्दर्य की धृद्धि होती है। कफ प्रकृति वाले मनुष्यों के लिये तथा शीतकाल में इस प्राग्णायाम का अभ्यास हितकर नहीं है।

निम्नलिखित प्रायायामों को शीतली के श्रन्तर्गत समम्प्रना चाहिये। इनकी विधि तथा फल भी लगभग उसी के समान है। शरीर में ठराड पहुँचाने तथा चयी (थाइसिस Phthisis) राजयक्ष्मा श्रादि रोगों के नाश करने में श्रति उपयोगी हाते हैं।

- (क) शीतकारी—जिह्ना को त्रोष्ठों से बाहर निकालकर और उसका बिल्कुल त्र्याला भाग दोनों दाँतों की पंक्ति एवं त्र्रोष्ठों से साधारण हल्का दबाकर छिद्रों से वायु को शीत्कार-पूर्वक त्रार्थात् शीस्कार की त्र्रावाज उत्पन्न करते हुए पूरक करें, त्रान्य सब विधि शीतली के समान।
- (ख) काकी प्राणायाम—इसमें श्रोष्ठों को सिकोङ्कर काक की चोंच के समान बनाकर वायु को शनै: शनै: पूरक किया जाता है, श्रन्य सब विधि शीतली के समान ।
- (ग) किव प्राणायाम—दोनों दाँतों की पंक्तियों को दबाकर उनके छिद्रों हारा वायु को शनै:शनै पूरक करे, अन्य सब विधि पूर्ववत्। वाणी का मीठा और कराठ का सुरीला काना यह इसमें विशेषता है।
- (घ) भुजङ्गी प्राणायाम—भुजङ्ग के सहरा मुख को खोलकर वागु को पूरक करें। अन्य सब विधि पूर्ववत्। इन प्राणायामों में कहीं-कहीं पाँच बार केवल पूरक रेचक करने के प्रधास छठी बार कुम्भक करना वतलाया है।
- प मिलाका कुम्भक-भिलाका प्रायायाम कई प्रकार से किया जाता है। इसके मुख्य चार मेव हैं:

मध्यम मिलका, वाम मिलका, दृत्तिग् मिलका और अनुलोम विलोम मिलका

(क) मध्यम भिक्षका—जैसे लुहार की धोंकनी से वायु भरी जाती है इसी प्रकार दोनों नासिकापुट से वायु को आवाज के साथ धोमे धोमे लम्बा, दीर्च और वेगपूर्वक मूलाधार तक पूरक करे। विना कुम्भक किये इसी प्रकार दोनों नासिकापुट से रेचक करे इस प्रकार बिना आम्यन्तर और बाझ कुम्भक के आठ वार पूरक रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथा शिक कुम्भक करके दशवीं बार उसी प्रकार धोमे धोमे दोनों नासिका पुट से रेचक करने वहा इस प्रकार तीन प्राण्याम करे।

- (ख) वाम अख्यिका—दिच्या नासिका पुट को बन्द करके उपर्युक्त रीति से वाम नासिका पुट से मूला धार तक आठ बार पूरक रेचक करके नवीं बार पूरक करके यथा शक्ति कुम्भक करें। तत्पश्चात् उपर्युक्त विधि अनुसार दिच्या नासिका पुट से धीमे-धीमे रेचक करदे। यह एक प्रायायाम हुआ।
- (ग) दक्षिण भक्तिका—वाम नासिका पुट बन्द करके दिन्त नासिका पुट से चाठ बार बिना चाभ्यन्तर और बाद्य कुम्भक के उपयुक्त विधि अनुसार पूरक रेचक करने के प्रधान् नवीं बार पूरक करके यथाशक्ति कुम्भक करें। तत्प्रधान् वाम नासिका पुट से रेचक करे। यह एक प्राम्यायाम हुआ।

वाम भिक्का और दिल्ला भिक्का को मिलाकर करने की विधि पहिले वाम भिक्का का एक प्राणायाम करे किर दिल्ला भिक्का का एक प्राणायाम तत्वश्चात् वाम भिक्का का एक प्राणायाम तत्वश्चात् वाम भिक्का का एक प्राणायाम। इस प्रकार इन तीन प्राणायामों में दो बार वाम भिक्का और एक बार दिल्ला भिक्का होगा।

(घ) अनुलोम-विलोम भिक्ता— जैसे लोहार की धौंकनी से वायु भरी जाती है इसी प्रकार बायें नासिकापुट से वायु को आवाज के साथ धोमे-धोमे लम्बा, दीचे और वेग-पूर्वक मूलाधार तक पूरक करें। बिना कुम्भक किये इसी प्रकार दिल्ला नासिका-पुट से रेचक करें। बिना बाध कुम्भक के उसी नासिका-पुट से पूरक करके फिर बायें नासिका-पुट से विधि अनुसार रेचक करें। यह चार प्राणायाम हुए। इस प्रकार आठ बार बिना कुम्भक किये केवल पूरक, रेचक करते हुए नवीं बार वाम नासिकापुट से पूरक करके यथाशकि कुम्भक करें। तत्वरचान् दसवीं बार दांचण नासिकापुट से रेचक करें। यह दस प्राणायाम का पहिला प्राणायाम हुआ। अब दिल्ला नासिकापुट से आरम्भ करके नवीं बार कुम्भक के प्रधात् दसवीं बार वाम नासिकापुट से रेचक करें। यह दूस प्राणायाम का सालिकापुट से राणायाम को भौंति तीसरा प्राणायाम करें।

इन विधियों में पूरक की समाप्ति पर मूलाधार चक्र पर एक सेकिएड (कुछ देर) ध्यान के पश्चात् रेचक करें। इसा प्रकार रेचक की समाप्ति पर नासिका के अप्रभाग पर कुछ देर (एक सेकिएड) ध्यान के पश्चात् पूरक करें। इस्भक्ष के समय नाभि-स्थान मणिपुर-चक्र पर ध्यान लगावें। यह प्रायायाम तीन बार ही करें। अधोत् तीन से अधिक बार कुम्भक बढ़ाने का यक्ष न करें। किन्तु तीनों प्रायायामों की संख्या दस से ऊपर हानै:-हानै: यथाहाकि चार-चार बढ़ाते हुए १४, १८, २२ इत्यादि करते हुए चले जायें। पूरक, रेचक और कुम्भक का समय भी यथाहाकि बढ़ाते जावें।

इस प्राणायाम से त्रिधातु-विकृति से उत्पन्न हुए सब रोग नष्ट हो जाते हैं, कारोग्यता बढ़ती है, जठराग्नि प्रवीप्त होती है। गर्मी, सर्दी सब ऋतुकों में किया जा सकता है। कृम्भक बढ़ाने, मन के स्थिर करने और कुण्डलिमी जामत करने में ऋति उपयोगी है। अभ्यासीगया स्थान करने से पूर्व इसे अवश्य करें। भिक्षका में रेचक, पूरक श्रायिक लाभदायक होते हैं, इसलिये इनकी संख्या श्राधिक श्रीर क्रम्भक की कम बतलाई गई है।

(१) बलहीन श्रशक्त साधकों को साधारण वेग-पूर्वक, (२) ख्रश्च, शक्तिशाली साधकों को लम्बा, दीर्घ वेगपूर्वक और (३) श्रभ्यस्त साधकों को श्रति वेगपूर्वक पूरक रेचक करना चाहिये।

रेचक में पूरक से ऋधिक समय देना चाहिये । इसलिये पूरक और कुम्भक में उतना ही समय देना चाहियं जिमसे रेचक करने के लिये काफी दम बना रहे ।

निम्नलिखित दो प्राणायामों को भिन्नका के अन्तर्गत सममना चाहिये:-

- (क) अन्तर्गमन प्राणायाम—सिद्धासन से बैठकर वाम नासिकापुट से रेचक करते हुए पूरे उर्द्वायान के साथ वाम घुटने पर सिर को टैक देना तत्पश्चात् पूरक करते हुए सीधा हो जाना। इस प्रकार रेच ं, पूरक करते हुए दसवीं बार पूरक करके जालन्यरबन्ध के साथ सिर को घुटने पर रखकर यथाशांक कुम्भक करना, तत्पश्चात् जालन्थर-बन्ध खोलकर सीधे हो जाना। फिर रेचक करके तीनों बन्धों वे साथ सिर को घुटने पर रखकर यथाशिक बाह्य कुम्भक करना। इसी प्रकार दिस्ण की और करे।
- (ख) सिंद्ध अथवा पद्मासन से बैठकर वाम नासिकापुट से पूरक करें, फिर जाल-न्धर बन्ध लगाकर दोनों हाथों की श्रक्कुलियों को श्रापस में साठकर उनको उल्टा करके सिर को दबाते हुए यथाशक्ति कुम्भक करें; श्रीर ऐसी भावना करें कि प्राग्ण ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ रहा है। तत्पश्चान् दोनों हाथों को सिर पर से हटाकर श्रीर जालन्थर बन्ध खोलकर दिच्या नासिकापुट से रेचक करें। इसी प्रकार कई बार करें।

६ आमरी कुम्मक—इस प्राणायाम में पूरक और रेचक की विशेषता है। पूरक वैग से और भेंच के कहन के सदश शब्द पुक्त होता है; और रेचक श्रृक्ती, भेंचरी के सहश मन्द-मन्द शब्द से गुक्त होता है। रेचक का महस्त्व अधिक है, इसलिये इसका नाम आमरी रखा गया है।

नेत्र बन्द करके भूमध्य में ध्यान करते हुए दोनों नासिकापुट से श्रृंग अर्थात् भौँरे के सदश ध्वनि करते हुए लम्बे स्वर में पूरक करें। यथाशक्ति कुम्भक करके श्रृङ्गी अर्थात् भौँरी के मंद्र-मंद शब्द के सदश ध्वनि करते हुए कएठ से रेचक करें। श्रावाज मीठी, सुरीली और एक तान की होनी चाहिये। इसके साथ-साथ मूल और उद्दीयान बन्ध लगाते जाना चाहिये। कहीं-कहीं साधारण रीति से वेगपूर्वक पूरक करके दढ़तापूर्वक जालन्धर-बन्ध लगाकर कर्फ से उपर्युक्त रीति से शब्द करते हुए रेचक करना बतलाया है।

घरराइसंहिता में दोनों कानों को अंगुलियों से बन्द करके शब्द सुनने का आध्यास करना बतलाया गया है। इस प्रकार पहिले मींगुर, भीरे और पित्रयों के चहचहाने-जैसे शब्द सुनाई देत हैं। फिर क्रमश: पुंचल, शब्द, शब्द, ताल, भेरी, सृदङ्ग, नकीरी और नगाड़े के सदश शब्द सुनाई देते हैं। इस प्रकार उन शब्दों को सुनते हुए 'ॐ' शब्द का अवसा होने लगता है।

श्चनुलोम-विलोम भ्रामरी प्राग्णायाम—उपर्युक्त विधि-श्रनुसार वाम नासिकापुट से पूरक करके कुछ देर कुम्भक के प्रश्नात् दिवाग् नासिकापुट से उसी प्रकार रेचक, फिर दिवाग् नासिकापुट से पूरक, वाम से रेचक, वाम से पूरक, दिवाग् रेचक। यह एक प्राग्णायाम हुचा।

फल : इस प्राणायाम से वीर्य का शुद्ध होकर ऊर्ध्वनामी होना, रक्त एवं मज्जातन्तुओं

का शुद्ध होना और मन का एकाप्र होना है।

ध्वन्यात्मक प्राणायाम—इस प्राणायाम को भी भ्रामरी के श्रन्गेत समम्मना चाहिए। विधि यह है कि दोनों नासिकापुट से पूरक करके किष्मित् ग्रंह को खोलकर जिह्ना और कएठ के सहारे 'श्रोम्' का मीठी, सुरीली लगातार एक ध्वनि के साथ उवारण करो। आवाज के साथ-साथ मूल और उद्दीयान बन्ध लगाते जाना चाहिये और रेचक करते जाना चाहिये। इसे प्रणावानुसंधान भी कहते हैं।

फल: भ्रामरी प्राणायाम के सहश।

७ मूच्छो कुम्भक (षयमुखी सर्वद्वार बन्द मुद्रा)—इस प्राणायाम में पूरक, रेचक भ्रामरी प्राणायाम के सहश किया जाता है। उससे इसमें केवल इतनी विशेषता है कि यह दोनों कान, नेत्र, नासिका श्रीर मुँह पर क्रमशः दोनों हाथों के श्रंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यम्म श्रीर अनामिका तथा कनिष्ठित को रखकर किया जाता है। पूरक के समय नासिकापुट पर से मध्यमा को किश्वित ऊपर चडाकर पूरक किया जाता है। इसके पश्चात् नासिकापुट को मध्यमा से दबाकर कुम्भक किया जाता है। कुम्भक की समाप्ति पर फिर नासिकापुट से मध्यमा को शिथिल करके रेचक किया जाता है। यह प्राणायाम श्रमुलोम-विलोम रीति से भी उपर्युक्त विधि-श्रमुसार किया जा सकता है।

फल : इससे मन मुर्छित श्रीर शान्त होता है, श्रतः इसका नाम मुर्छा है।

८ प्ळावनी कुम्मक — यथाविधि आसन से बैठकर दोनों नासिकायुट से पूरक करे। नाभि पर मन को एकाम कर सब शरीर-मात्र की वायु को उदर में भरकर पैट को चारों ओर से मसक या रवड़ के गोले सहश फुलाकर ऐसी भावना करे कि सारे शरीर का वायु पैट में एकत्र हो गया है; और शरीर के किसी अङ्ग-प्रत्यङ्ग में वायु नहीं रहा है। यथाशिक इस खिति में कुम्भक करके दोनों नासिका से शनी-शनैः रेचक कर दें।

फल: प्राणवायु पर पूर्णतया ऋधिकार, पेट के सब प्रकार के रोग, कोष्ठबंद्धता ऋादि का नाश, ऋपानवायु की शुद्धि, जठराग्नि की बृद्धि, वीर्य तथा रक्त की शुद्धि, जल में सुख-पूर्वक तैरना इत्यादि।

केवल कुम्भक — केवल कुम्भक विना पूरक रेचक किये हुए एकदम श्वास-प्रश्वास की गित को जहाँ का तहाँ रोक देने से होता है।

अवाने जुहति माखं माखेऽवानं तथा परे।

माणापानगती रुद्रध्वा माणायामपरायणाः ॥ — गीता ४ । २९

अर्थ-कोई अपानवायु में प्राण को हवन करते हैं (पूरक सहित अथवा आध्यान्तर

कुम्भक करते हैं) कोई शाया में अपानवायु को होमते हैं (रेचक सहित अथवा बाह्य कुम्भक करते हैं) कोई शाया अपान (दोनों) की गांत को रोककर (केवल कुम्भक) प्रायायाम करते हैं।

सहित-कुम्भक के निरन्तर अभ्यास से केवल कुम्भक होने लगता है।

केवल कुंभक की विधि हठयोग द्वारा – तीनों बन्धों के साथ प्राग्य को हृदय से नीचे ले जाकर और अपान को मृलाधार से ऊपर उठाकर समान वायु के खान नाभि पर दोनों को टक्कर देकर मिलाने से हठयोग विधि से केवल कुम्भक किया जाता है। पर इसमें हानि पहुँचने की सम्भावना है और राजयोगियों के लिये अधिक हितकर नहीं है, उनके लिये सबसे उत्तम प्रकार निम्नलिखित है:—

साधारण स्वस्थ श्रवस्था में मनुष्य के श्वास की गति एक दिन रात में २१६०० बार बतलाई जाती है। इस स्वाभाविक श्वास की गति की संख्या गायन, भोजन करने, चलने, निद्रा, मैथुन, व्यायाम आदि में क्रमशः बढ़ जाती है। जिस प्रकार साधारण घटनात्रों को क्षोड़कर एक घड़ी श्रथवा श्रान्य यन्त्रों की श्रायु उसके काम करने की शक्ति पर निश्चित की जाती है। इसी प्रकार मनुष्य की श्रायु उसके श्वास-प्रश्वास की गति पर निभेर बतलाई जाती है। श्वास-प्रश्वास की गति का संख्या जिस परिमाण से बढ़ती जावेगी उसी परिमाण से श्रायु का चय; और जिस परिणाम से घटती जावेगी उसी परिमाण से श्रायु की बृद्धि होती जावेगी। केवल कुम्भक में श्वास-प्रश्वास की गति का निरोध होता है। प्राण श्रीर मन का घनिष्ट सम्बन्य है, इसलिये प्राण के इकने से मन का भी निरोध हो जाता है। जो योग का श्रन्तम ध्येय है।

केवल कुम्भक की विधि राजयोग द्वाराः—श्वास-प्रश्वास की गति में प्रणव उपा-सना की भावना करे, अर्थात् हर समय यह भावना रहे कि श्वास में 'ओ' और प्रश्वास में 'आप' रूप से प्रत्येक श्वास-प्रश्वास में ओम् का जाप होरहा है, इस ओम् के अजपाजाप को केवल कुम्भक में परिणित करने की विधि यह है कि 'ओ' से श्वास लेकर जितनी देर तक शान्तिपूर्वक रोक सकें रोके, उसके प्रश्चात् 'अम्' से छोड़ दें। क्रमशः कुम्भक का अभ्यास बदता रहे। इसका अभ्यास नासिका-अप्रभाग, भुकुटि, ब्रह्मरन्ध्र आदि स्थानों पर गुरु-आक्षानुसार करना चाहिये। 'ओ' और 'अप' के उचारण की आवश्यकता नहीं है। केवल अपने नियत स्थान पर श्वास-प्रश्वास की गति पर इस भावना से स्थान देना होता है। इसको ५१ वें सूत्र में बतलाये हुए चोथे प्राणायाम के अन्तर्गत ही समकना चाहिये।

विशेष सूचना —।। सूत्र ५० ॥ प्रायायामां को किसी अनुभवी से सीस्तकर उनका अभ्यास करना चाहिये, अन्यथा लाभ के स्थान पर हानि पहुँचने की संभावना है। नियमित्त आहार आदि (१।३४) तथा (२।३२) में बतलाये हुए नियमों का पालन करना भी अति आवश्यक है।

यद्यपि सभी प्राणायाम स्वास्थ्य नीरोगता, जठराप्ति, दीर्घन्रायु, नाडी तथा रक्तकोषन भौर मन की स्थिरता के लिये र्जात उपयोगी हैं, और सबकी जानकारी जावस्थक

साधनपाद

है, पर सबके अभ्यास के लिये पर्याप्त समय मिलना कठिन है, इसलिये राजयोग के साधकों के लिये चतुर्थ प्राणायाम का अभ्यास दी अधिक हितकर हो सकता है। निक्र तीन प्राणायामों को चौथे प्राणायाम और ध्यान तथा अन्य सब प्रकार के प्राणायामों का पूर्व अक्स बनाने में शीघ्र सफलता प्राप्त हो सकती है।

१ नाई। द्योधन प्राणायाम—वाम नासिक। पुट से कई बार एकदम बाहर सांस फैके फिर उसी नासिक। पुट से बाहर से वायुको खींचकर बिना रोके हुए एकदम दूसरे दाहिने नधुने से बाहर फैंक दे। पुनः दाहिने से वायुको खींचकर बायें से फैकें। इस प्रकार कई बार करें। रेचक पूरक में नासिक। पुट को बतलाये हुए नियम। नुसार निश्चित अंगुलियों से खोलते और बन्द करते रहें।

२ कपालभाति — जिसकी विधि (२ । ३२) तथा (१ । ३४) के वि०व० में बधलाई है।

३ अनुलोम-विलोम भस्त्रिका प्राणायाम—इसकी विधि सहित-कुम्भक में पांचवें प्राणायाम में बतलाई है।

संगति-चौथे प्राणायाम का लच्चण बताते है:-

बाह्याभ्यन्तरविषयात्त्वेषी चत्रर्थः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ--बाह्य-श्राभ्यन्तर-विषय-श्राचेपी = बाहर श्रन्दर के विषय को फेंकने वाला श्रर्थात् श्रालोचना करने वाला । चतुर्थ: = चौथा प्राणायाम है ।

े अन्वयार्थ—बाहर श्रन्दर के विषय को फैकने वाला श्रर्थात् श्रालोचना करने वाला चौथा प्राणायाम है।

व्याख्या—व्यासभाष्यः -

देशकालसंख्याभिर्वाद्वविषयपिरदृष्ट श्रान्तिः । तथाऽऽभ्यन्तरविषयपिरदृष्ट्व श्रान्तिः । उभयथा दीर्घसुरुमः । तत्पूर्वको भूमिजयात्क्रमेखोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः भाषायायः । तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकुदारन्थ एव देशकाल-संख्याभिः परिदृष्टो दीर्घमुक्तः । चतुर्थस्तु श्वासमश्वासयोविषयावधारणात्क्रमेख भूमिजयादुभयाचेषपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः भाषायाम इत्ययं विशेष इति ५१

अर्थ — देश काल और संख्या से परिदृष्ट जो बाह्य-विषय (नासा द्वादशान्तादि बाह्यप्रदेश) है उसके आज्ञेपपूर्वक (आलोचनपूर्वक महानपूर्वक विषयपूर्वक विषयपूर्वक कि विषयप्रविक कि विषयप्रविक कि विषयप्रविक कि विषयप्रविक विषयप्रविक कि विषयप्रविक कि विषयप्रविक विषयप्रविक विषयप्रविक कि विषयप्रविक विषयप्रविक विषयप्रविक विषयप्रविक विषयप्रविक विषयप्रविक विषयप्रविवयप्यप्रविवयप्यप्रविवयप्यप्रविवयप्रविवयप्रविवयप्ययप्रविवयप्रविवयप्ययप्ययप्रविवयप्ययप्रविवयप्रविव

83

होकर देश काल श्रीर संख्या से परिटष्ट दीर्घ श्रीर सूक्ष्म होजाता है। चौथे प्राणायाम में यह विशेषता है कि यह श्रास प्रश्नास के (श्राध्यन्तर श्रीर बाझ) विषय को श्रवधारण करके उन दोनों (विषयों) के श्राचेप पूर्वक क्रमातुसार भूमियों के जय से (श्वास प्रश्वास की) गति के श्रभाव से होता है।

व्यास-भाष्य का भावार्थ-पिछले सूत्र में प्राणायाम के तीन भेद रेचक; पूरक और क्रम्भक बतलाते हैं।

१ रेचक प्राणायाम से जब श्वास को बाहर निकाल कर उसकी गाँत का श्रभाव किया जावे श्रथांत उसको बाहर ही रोक दिया जावे तो वह रेचक सिहत-कुम्भक श्रथवा बाह्य कुम्भक कहलाता है।

२ पूरक प्राणायाम से जब श्वास को अन्दर खींचकर उसकी गति का आमाव किया जावे आधीत उसको अन्दर ही रोक दिया जावे तो वह पूरक सहित-कुम्भक अथवा आभ्य-न्तर कुम्भक कहलाता है।

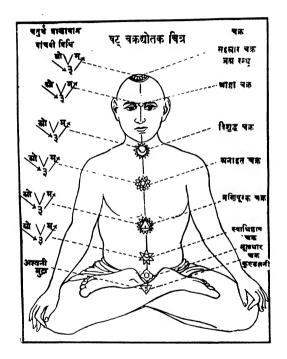
३ जब प्राणवायु को जहाँ का तहाँ एकदम बिना रेचक-पूरक के केवल विधारण प्रयत्न से रोककर र्वास-प्रश्वास की गति का स्थाय किया जावे तो वह केवल कुम्भक कहलाता है।

४ चौथा प्राणायाम बाह्य तथा आध्यन्तर कुम्भक के बिना केवल रेचक, पूरक द्वारा बाह्य तथा आध्यन्तर विषय (प्रदेश) के केवल आलोचन-पूर्वक खर्य ही श्वास-प्रश्वास की गति के निरोध से होता है। इसमें तीसरे प्राणायाम से यह विशेषता है कि जहाँ तीसरा प्राणायाम रेचक, पूरक के बिना एकदम दोनों श्वास-प्रश्वास की गति के विषय अभाव से होता है, वहाँ चौथा प्राणायाम रेचक, पूरक द्वारा बाह्य तथा आध्यन्तर (प्रदेश) के आलोचन-पूर्वक उत्त-रोत्तर भूमियों के जय के क्रम से खर्य ही श्वास-प्रश्वास की गति के अभाव से होता है। उदाहर लागे उसकी चार विधियं बतलाये देते हैं:—

पहली विधि—केवल रेचक द्वारा जहाँतक जा सके श्वास को बाहर ले जावें। बिना रोके हुए वहाँ से पूरक द्वारा जहाँतक जा सके अन्दर ले जावें। यह एक प्रायायाम हुआ। इस प्रकार ११, १५, २० हत्यादि की संख्या में बिना कुम्भक किये हुए केवल रेचक, पूरक देर-तक करते रहने से स्वयं दीर्घ और सूक्ष्म होकर दोनों श्वास-प्रश्वास की गतियों का स्वयं ही अभाव हो जाता है।

दूसरी विधि—धोशम् के मानसिक जाप के साथ यह भावना करें कि 'धो' से रवास धन्दर आ रहा है और 'अप्' से बाहर निकल रहा है। इस कम से श्वास-प्रश्वास द्वारा ओम् का मानसिक जाप करते रहें अथात् बाह्यप्रदेश तथा आभ्यन्तरप्रदेश हृदय, नाभि आदि तक जहाँतक श्वास जावे वहाँतक उसकी गति को आलोचनपूर्वक दीर्घकाल तक ओम् का इस वि-िष् से जाप करें तो खयं श्वास-प्रश्वास दीर्घ और सूक्ष्म होते-होते निरुद्ध हो जायेगा।

तीसरी विभि — नासिका-अपभाग, भुकुटी, अद्यरन्त्र अथवा अन्य किसी चक्र पर इस भावना से बोश्म् का मानसिक जाप करें कि 'श्रो' से क्सी प्रदेश में श्वास अन्दर आ रहा है और 'अम' से बाहर निकल रहा है। इस प्रकार उस विशेष स्थान को श्वास-प्रश्वास का



केन्द्र बनाये हुए जाप के निरन्तर श्रभ्यास से श्वास-प्रश्वास की गति दीर्घ श्रौर सूक्ष्म होते हुए स्वयं निरुद्ध हो जाती है।

चौथी विधि—ज्ञह्मरन्ध्र में ध्यान करते हुए श्वास-प्रश्वास की गति में ऐसी भावना करना कि 'द्यो' से श्वास मेरुदएड के भीतर सुपुम्ना नाड़ी में होता हुद्या मूलाधार तक जा रहा है और 'द्यम्' के साथ वहाँ से ज़ह्मरन्ध्र तक ज़ीट रहा है।

चक्रमेदन में इस प्राणायाम का अध्यासः—इसी प्रकार निचले चक्रों : मूलाधार, स्वा-धिष्ठान, मिण्णिपूरक इत्यादि में ध्यान करते हुए 'ओ' से श्वास और 'अप' से प्रश्वास की गति की भावना करते हुए उसको ऊपर के चक्रों में आलोचन करने से किया जाता है।

विद्रोष वक्तव्व:—॥सूत्र ५१ ॥—इस सूत्र के ऋर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न किये हैं। 'आचेष' के ऋर्थ फैंकने के हैं। इससे किसीने उलाँघने = त्यागने = हटाने से अभिनाय लिया है। और किसीने विषय करने = जानने = आलोचन से अभिनाय लिया है। यहाँ सूत्र के दूसरे 'आलोचन' आर्थ किये गये हैं। सूत्र के आशय को अधिक स्पष्ट करने के उदेश्य से मूल व्यासभाष्य, उसके शब्दार्थ, भावार्थ तथा चतुर्थ प्राणायाम के चार उदाहरण भी देदिये हैं। चौथे प्राणायाम की विधियें राजयोग के उक्तम अधिकारी के लिये हैं तथा गोप-नीय और गुरु-गन्य हैं।

श्राचेत्री के अर्थ उलाँघने श्रर्थात् त्यागने करने से सूत्र का अर्थ इस प्रकार होगा:— बाहर और अन्दर के विषय को श्रर्थात् रेचक और पूरक को त्यागने वाला चौथा प्राणा-यास है। उसकी विधि निम्न प्रकार होगी :—

पांचवी विधि—मूलाधार, श्राह्मा, ब्रह्मरन्ध्र श्रादि किसी चक्र श्र्यवा नासिका-श्रम्भाग श्रादि किसी स्थान को विना रेचक पूरक के श्वास-प्रश्वास की गति बनाते हुए श्रम्थोत् ऐसी भावना करते हुए कि 'श्रो' से उसी विशेष स्थान पर श्वास श्रा रहा है और 'श्रम्, से छूट रहा है, श्रोम् का मानसिक जाप करें। उसके निरन्तर श्रभ्यास से श्वास-प्रश्वास की गति का निरोध हो जाता है। इस विधि को सब से प्रथम स्थान देना चाहिए चक्रभेदन में इस विधि से श्रीष्ठ सफलता प्राप्त हो सकती है। (समाधिपाद वि० व० सूत्र ३४)।

संगति-प्राणायाम का फल बताते हैं:-

ततः ज्ञीयते प्रकाशावरणम् ॥ ४२

शब्दार्थ-तत: = उस प्राणायाम के अभ्यास से। त्तीयते = नाश हो जाता है। प्रकाश्चावरणम् = प्रकाश का आवरण (विवेक-ज्ञान का पर्ता)।

अन्वयार्थ—उससे प्रकाश का आवरण (विवेक-क्षान का पर्दा) चीण हो जाता है। ब्याख्या—विवेक-क्षानरूपी प्रकाश, तम तथा रजोगुण के कारण श्रविद्यादि क्लेशों के मलों से ढका हुआ है। प्राणायाम के अभ्यास से जब यह आवरण चीण हो जाता है तब वह प्रकाश प्रकट होने लगता है। जैसे पश्चशिखाचार्थ ने कहा है:—

तषो न परं भाषायामात् ततो विद्युद्धिर्मलानां दीप्तिश्र झानस्य ॥

अर्थ—प्राणायाम से बदकर कोई तप नहीं है, उससे मल धुल जाते हैं श्रीर ज्ञान का प्रकाश होता है।

इसी प्रकार मनु भगवान का ऋोक है :--

द्वान्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः । तथेन्द्रियाणां द्वान्ते दोषाः माणस्य निप्रहात् ॥

अर्थ—जैसे अग्नि से धौंके हुए स्वर्ण अदि धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार प्राणायाम के करने से इन्द्रियों के मल नष्ट हो जाते हैं।

संगति-प्राणायाम का दूसरा फल:-

धारणासु च योग्यता मनसः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ-धारणासु = धारणाश्रों में । च = श्रौर । योग्यता-मनसः = मन की याग्यता होती हैं ।

अन्वयार्थ-श्रीर धारणात्रों में मन की योग्यता होती है।

ब्याख्या—प्राणायाम से मन स्थिर होता है। जैसे कि 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' पाद १ सूत्र २४ में बतलाया है। और उसमें धारणा की (जिसका वर्णन् ऋगले पाद में किया जायगा) योग्यता प्राप्त हो जाती है।

संगति-प्रत्याहार का लच्चण बताते हैं :-

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ॥ ५४ ॥

द्याच्यार्थ — स्व (वपय = अपने विषयों के साथ । असम्प्रयोगे = सम्बन्ध न होने पर । चित्तस्य-स्वरूप-अनुकारः, इव = चित्त के स्वरूप का अनुकरण अर्थात् नकल-जैसा करना । इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों का । प्रत्याहारः = प्रत्याहार कहलाता है ।

अन्ययार्थ—इन्द्रियों का अपने विषयों के साथ सम्बन्ध न होने पर वित्त के स्वरूप का अनुकरण (निकल) जैसा करना श्रत्याहार है।

ज्याख्या—प्रत्याहार का अर्थ है पीछ हटना, उल्टा होना, विषयों से विमुख होना । इसमें इन्द्रियाँ अपने बहिमुख विषय से पीछे इटकर अन्तर्मुख होती हैं। इस कारण इसको प्रत्याहार कहा गया है। जिस प्रकार मधु बनाने वाली मिक्खयां रानी मक्खी के उड़ने पर उड़ने लगती हैं और बैठने पर बैठ जाती हैं इसी प्रकार इन्द्रियां चित्त के आधीन होकर काम करती हैं। जब चित्त का बाहर के विषयों से उपराग होता है तब ही उनको प्रहण करती हैं। यम, नियम, प्राणायामादि के प्रभाव से चित्त जब बाहर के विषयों से विरक्त होकर समाहित होने लगता है तो इन्द्रियाँ भी अन्तर्भुख होकर उस जैसा अनुकरण करने लगती हैं और चित्त के निरुद्ध होने पर स्वयं भी निरुद्ध हो जाती हैं। यही उनका प्रत्याहार है। इस

श्रवस्था में चित्त तो बाह्य विषयों से विमुख होकर श्रात्मतत्व के श्रिभिमुख होता है, पर इन्द्रियाँ केवल वाह्य-विषयों से विमुख होती हैं। चित्त के सदृश श्रात्भतत्व के श्रिभमुख नहीं होतीं। इसलिए ''श्रतुकार इव'' श्रर्थात् नकल जैसा कहा गया है। इस प्रकार चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियों के जीतने के लिए श्रन्य किसी ज्याय की श्रपेक्षा नहीं रहती।

परांचि खानि व्यवखत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मम् । कश्चिद्धीरः प्रस्यगात्मानमैत्तदावृत्तचन्नुरमृतत्विमच्छन् ॥ क्वोपनिषद् (२१४११)

अर्थ — स्वयम्भू ने (इन्द्रियों के) छेदों को बाहर की ओर छेदा है अर्थान् इन्द्रियों को बिहर्मुख बनाया है। इस कारण मनुष्य बाहर देखता है, अपने अन्दर नहीं देखता। कोई विरत्ना धीर पुरुष अमृत को चाहता हुआ आंखों अर्थान् इन्द्रियों को बन्द करके (अन्त-र्मुख होकर प्रत्याहार द्वारा) अन्तर आत्मा को देखता है।

संगति-प्रत्याहार का फल बतलाते हैं।

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाखाम् ॥५५॥

इाट्यार्थ — तत: = उससे (प्रत्याहार से) । परमा = सबसे उत्तम = उत्कृष्ट । **वश्यता**-च वशीकरण होता है । इन्द्रियाण।म् = इन्द्रियों का ।

अन्वयार्थ-उस प्रत्याहार से इन्द्रियों का उत्कृष्ट वशीकार होता है।

ब्याख्या — सूत्र में प्रत्याहार से इन्द्रियों की परमवश्यता बतलाई है यह परमवश्यता किस अपरमवश्यता की अपेना से है, इसको व्यासभाष्य में इस प्रकार बतलाया है:—

१ कोई कहते हैं कि शब्द आदि विषयों में आसक न होना अर्थात् विषयों के आधीन न होकर उनको अपने आधीन रखना इन्द्रियवश्यता अर्थात् इन्द्रियजय है।

२ दूसरे कहते हैं कि वेद-शास्त्र से श्रविरुद्ध विषयों का सेवन श्रौर उनसे विरुद्ध विषयों का परित्याग इन्द्रियजय है ।

३ तीसरे कहते हैं कि विषयों में न फँसकर अपनी इच्छा से विषयों के साथ इन्द्रियों का संप्रयोग होना इन्द्रिय जय हैं।

४ चौथे कहते हैं कि राग-देष के श्रभावपूर्वक सुख-दुःख से शून्य शब्दादि विषय का ज्ञान होना इन्द्रियजय है।

इन सब वपर्युक्त इन्द्रियजय के लक्त्यों में विषयों का सम्बन्ध बना ही रहता है। जिससे गिरने की श्राशङ्का दूर नहीं होसकती। इसलिये यह इन्द्रियों की परमवश्यता नहीं वरम श्रपरमवश्यता है।

भगवान् जैगोषव्य का मत है कि चित्त के एकामता के कारण इन्द्रियों की विषय में प्रवृत्ति न होना इन्द्रिय जय है। इस एकामता से चित्त के निरुद्ध होने पर इन्द्रियों का सर्वधा निरोध हो जाता है और श्रम्य किसी इन्द्रिय-जय के उपाय में प्रयत्न करने की श्रावश्यकता नहीं रहती। इसलिये यही इन्द्रियों की परमवश्यता है जो सुत्रकार को श्रामित है।

साधनपाद का उपसंहार

पूर्वोक्त प्रकार से पूर्व पाद में कहे हुए योग के अङ्गभूत, क्लेशों को सूक्ष्म बनाने वाले कियायोग को कहकर और क्लेशों के नाम, खरूप, कारण, फलों को कहकर कमीं के भी भेद, कारण, खरूप और फल को कहकर विपाक के कारण और खरूप को कहा। फिर क्लेशों को त्याज्य होने से, क्लेशों को विना जाने त्याग न कर सकने से, क्लेश-ज्ञान को शाखाधीन होने से, शास्त्र को हेय, हेयहेतु, हान, हान-उपाय के बोधन-द्वारा चतुर्व्यूह को अपने-अपने कारण सहित कहकर मुक्ति के साधन विवेकज्ञान के कारण जो अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग भाव से खित यम-नियमादि हैं उनके फल-सहित खरूप को कहकर आसन से लेकर प्रत्याहार तक जो कि परस्पर उपकार्यों प्रकारक भाव से खित हैं, उनका नाम लेकर प्रत्येक का लच्चा और कारणपूर्वेक फल कहा है।

इस इपसंहार में व्याख्याता के अपने विशेष-वक्तव्य, विशेष-विचार, टिप्पणी इत्यादि श्रार्थात् (प्रथम सूत्र में) तप का वास्तविक खरूप, युक्ताहार, युक्त-विहार, युक्त-खप्न, युक्त बोध, उपवास श्रादि के नियम, गायत्री मन्त्र की विशेष व्याख्या, (सूत्र ४ में) 'विदेह' बधा 'प्रकृतिलयों' के सम्बन्ध में संकीर्ण श्रीर श्रयक्त विचारोंका युक्तियों, व्यास भाष्य श्रीर भोजवृत्ति द्वारा निराकरण, (सूत्र ५ में) श्रविद्या के उत्पत्तिस्थान का निर्देश सत्त्वित्तों में लेशमात्रतम, (सूत्र १३ में) प्रधान कर्माशय, नियत विपाक, अनियत विपाक, अनियत विपाक की तीन गृतिगाँ, श्रावागमन के सम्बन्ध में विकासवादियों की शङ्काश्रों का समाधान, श्रावागमन द्वारा ईश्वर की दया तथा न्याय, सर्वशक्तिमत्ता, कल्याग्यकारिता तथा श्रावागमन का मनध्य के विकास के लिये अनिवाये होना (सूत्र २७ में) व्यासभाष्य का भाषार्थ, (सन्न २०, २१, २२ २३, २४, २५ में) व्यासभाष्य योगवार्त्तिक, तथा भोजवृत्ति का भाषार्थ. (सत्र० ३० में) यमों का योगियों के अभिमत स्वरूप, (सत्र ३१ में) यमों का मार्बभीम स्वरूप तथा संसार में फैली हुई अशान्ति को मिटाने का एकमात्र उपाय, केवल उनका यथार्थ रूप से पालन, महाभारत कर्णपर्व अध्याय ६९ के श्लोक जिनमें श्रीकृष्ण जी महाराज ने राष्ट्र की सारी परिश्वितियों को इष्टिगोचर रखते हुए सत्य का स्वरूप बताया है. (सत्र ३२ में) नियमों का विस्तारपूर्वक वर्णन, हठयोग की छहों कियाश्रों द्वारा शरीर-क्रोधन, श्रीषधियों, प्राकृतिक नियमों, सम्मोहन शक्ति, संकल्प-शक्ति द्वारा नीरोगता, पाश्चात्य देश की आधुनिक विद्यार्थे : हिपनोटिज्म मैस्मेरिज्म, क्लेयरवायन्स, टैलीपैथी, स्प्रीच्युलिज्म का विधिपर्वक वर्णन. (सत्र ४६ में) ध्यान पर बैठने के सब प्रकार के आसन. योगसाधन के नियम, सब प्रकार की मुख्य-मुख्य मुदायें, बन्ध और श्रासन उनके फलसहित: (सन्न ५० में) बाठ प्रकार के प्राणायाम उनके अवान्तर भेद सहित; (सूत्र ५१ में) चौथे प्राणायाम की पांच विधियाँ इत्यादि भी उपसंहत कर लेना चाहिये। इस प्रकार यह योग यम-नियमों के बीज भाव को प्राप्त हुआ, आसन प्राणायाम आदिकों से अंकुरित हुआ और प्रत्याहार से पुक्पवाला होकर धारणा, ध्याम और समाधि से फलित होगा। इस प्रकार पातळ्जल योग प्रदीप में साधनपाद वाले दसरे पाद की व्याख्या समाप्त हुई।

इति पांतजल योग-प्रदीपे साधनपादी द्वितीय: ।

परिशिष्ट

साधनपाद सूत्र २२ के विशे षवक्तव्य में बदलाए हुए शरीरशोधन के चार साधनों में से चौथा साधन औषधि यहां परिशिष्ट रूप से दिया जाता है।

भोषधि द्वारा शरीर शोधन (श्रांरोग्यता)

शरीर का शोधन औषधि द्वारा भी होता है। आजकल लगभग निन्यानवे प्रतिशत मनुष्यों को कोष्ठबद्ध अर्थात् पूर्णतया मलत्याग न होने का विकार रहता है। जिससे भजन अर्थात् मन की एकाप्रता में नानाप्रकार के विका उपिथत होते हैं, उनके निवारणार्थ चिकित्सक के अभाव में कब्ज तथा अन्य साधारण रोगों के शान्त करने के लिये अभ्यासियों के उपयोगी कुछ अनुभूत तथा अनुभवी संन्यासियों, वैद्यों, डाक्टरों और हकीमों से प्राप्त की हुई औषधियां लिखे देते हैं।

कोष्ठबद्ध द्र करने की कुछ रेचक श्रीषधियां-

(१) त्रिफला (इड्, बहेड़ा, ऑवला सम भाग) दो मारो से छ: मारो तक अथवा केवल बड़ी हड़ का चूर्ण दो मारो से छ: मारो तक अथवा इतरीफल जमानी दो मारो से छ: मारो तक रात को सोते समय दूध अथवा पानी के साथ।

बड़ी हैंड का प्रयोग पूरे वर्ष के लिये :--

चैत और वैशाख हड़ का चूर्ण तीन माशे शहद एक तोला से दो तोला के साथ ज्येष्ठ और अपाद ,, ', गुड़ ,, ', सेंधा नमक एक माशे से तीन माशे के साथ आश्विन और कार्तिक ,, ,, मिश्री एक तोला से दो तोला के साथ मागंशींप और पीप ,, ', पीपल एक माशे से तीन माशे के साथ मागंशींप और पीप ,, ,, सोंठ ,,

(२) गुलाब के फूल एक तोला, सेंघा नमक एक तोला, बड़ी हड़ का बक्कल एक तोला, सोंफ एक तोला सोंठ एक तोला, सनाय की पत्ती चार तोला, इनका चूर्ण दो मारो से छ: मारो तक रात को सोते समय पानी के साथ अथवा दिन में आवश्यकतानुसार। (अनुभूत)

(३) सनाय की फली छ:, चार घरटे तक थोड़े से (आधी छटांक) पानी में भिगो कर

फली निकाल कर पानी को पीना। (अनुभूत)

(४) रब्बूस्सुस एक तोला, बंसलोचन एक तोला, पछ्छा दो तोला, रेवनचीनी हो तोला, रूमी मस्तर्गी एक तोला, सब का चूर्ण खरल करके थोड़ा-सा पानी डालकर चने के बराबर गोली बनावे, एक गोली सोते समय दूध या पानी के साथ लें। (अनुभूत)

(५) रूमी मस्तगी, श्रसार रेवन्द, एलुबा, सुरक्षान शीरी वरावर-बराबर लेकर चूर्या करके चने के बराबर गालियाँ बनावे, एक गोली सोते समय पानी या दूध के साथ लें। (अनुभत)

- (६) खील सुहागा छः मारो, एलुआ छः मारो, रसौत तीन मारो, बड़ी हड़ का बक्कल दो तोला, सनाय की पत्ती दो तोला, सकमोनिया विलायती एक माशा, सबको घीकुमार के रस में खरल करके चने के बराबर गोलियाँ बनावें। सोते समय एक गोली दूध या पानी के साथ लें। (अनुभूत)
- (७) सकमोनिया विलायती एक तोला, जुलाका हड़ एक तोला एळुश्रा एक तोला, रेवन्द इसार एक तोला, रूमी मस्तगी एक तोला, सोंठ छ: मारो, भरमुकी छ: मारो, सब को पानी में खरल करके चने के बरावर गोली बनावें, सोते समय एक गोली दूध के साथ। (अनुभूत)

बातविकार-नाशक तथा रेचकः-

- (१) रेवन्दर्चानी (रेवनचीनी), सोडा खाने का, सोंठ, बराबर-बराबर लेकर चूर्ण कर लें, सोते समय चार रत्ती से एक मारो तक दूध या पानी के साथ लें।
- (२) त्रिकुटा अर्थात् पीपल, काली मिर्च, सोंठ बराबर-बराबर लेकर चूर्ण करलें, सोते समय तीन मारो से छ: मारो तक दूध के साथ लें। कफ तथा वातनाराक।
- (३) एलुआ, तिर्वी सकेद (निसौत), सुरखान मीठा, सब सम भाग—उनके चूर्ण को घीकुमार के गूदे में खरल करके चने बराबर गोली बनावे, एक या दो गोली रात को सोते समय दूध या ताजे पानी के साथ। रेचक, पाचक, वातिवकार (दर्द श्रादि) कड़्ज और श्राम को दूर करता है। (श्रतुभूत)

कफ़-नाशक, पाचक व रेचकः---

बड़ी हरड़ की बकुली तीन तोला, काली मिर्च चार तोला, भीपल छोटी दो तोला, चव्बह एक तोला, तालीसपत्र एक तोला, नागकेशर छ: माशे, पीपलामूल दो तोला, पत्रज डेंद्र माशा, छोटी इलायची तीन माशे, दारचीनी तीन माशे, नीलोकर के फूल तीन माशे, इन सबका चूर्ण बनावें। इन सब की चारगुणी मिर्शा की चासनी बनाकर उसमें उस चूर्ण को मिलावें, तीन माशे से एक नोला तक सोते समय दूध के साथ या दोपहर को खाने के बाद लें। (अनुभूत)

(१) बिगड़े हुए जुकाम, खाँसी, सिर का भारी रहना, सिर तथा आधे सिर का दर्द व हर प्रकार के मस्तिष्क तथा पेट के विकारों के लिये अत्युत्तम रेचक अनुभूत औषधि:—

अयारज फिकरा (यूनानी दवा, कई औषधियों का चूर्ण) एक मारो से तीन मारो तक इतरीफल करानीची एक तोले से दो तोले तक में भिलाकर प्रातः सायं दूध के साथ का सकते हैं।

अथारज फिकरा का तुसला—घालछड़, सलीका, दारचीनी, असार्वन, जाकरान, उत्पल्लधान, हुव-बलसान, रूमी मस्तगी एक-एक तोला; एलुवा एक पाव इन सब का चूर्ण। अथारुज फिकरा का दूसरा तुसला—जो स्वयं बनवाना होगा अचारों के पास न मिल सकेगा— पोस्त इन्द्रायन (तिजल) पांच तोला, गाजीकोन पांच तोला, सकमोनिया विलायती पांच तोला, श्रकतीमृन तीन तोला, गृगल शुद्ध तीन तोला श्रनीसृन तीन तोला, तज तीन तोला, काली मिर्च तीन तोला, सोंठ तीन तोला, उस्तल्लइस तीन तोला, गुलाब के फूल तीन तोला, वादरंज बोया तीन तोला पोदीना दो तोला इन सब के चूणे से दुगना शहद मिलाकर चालोस दिन के पश्चात् तीन मारो से एक तोले तक खुराक।

(२) हर प्रकार के बिगड़े हुए जुकाम दिमाग़ी खराबी व हाजमे के लिये निहायत अनुभूत (मुजर्रव) नुसखा :—

लोंग एक तोला, पत्रज दो तोला, बड़ी इलायची का दाना तीन तोला अकरकरा चार तोला, दारचीनी पांच ताला, पीपलामूल छः तोला, पीपल छोटी सात तोला, काली मिर्च आठ तोला, सोंठ नौ तोला, लाल चन्दन का चूर्ण दस तोला, इस मात्रा में इनका चूर्ण होना चाहिए। इसलिये इन सबके चूर्ण का अलग-अलग नाप लें। सब को एक करके सुबह और शाम चार रत्ती से एक माशा तक शहद के साथ खावें।

(३) जुकाम का बन्द होना, सर का दर्द तथा खांसी व दमा में बहुत लाभ दायक (अनुभूत)

नौसादर उड़ाया हुआ अथवा शुद्ध किया हुआ दो रसी, भस्म फटकरी एक रसी, स्त्रील सुहागा एक रसी,

साधारण जुकाम के लिए:--

(४) गुलबनकशा छ: मारो, तुख्न खतमी (खतमी के बीज) श्रथवा खतमी का गूरा चार मारो, उस्तखुद्दूस चार मारो, मुलहुठी चार मारो, गाजुवाँ चार मारो, बड़ी हुड़ छ: मारो, उन्नाव विलायती सात दाने, रहसीड़ा ग्यारह दाने, इनका जोशांदा मिश्री या चीनी ढालकर सुबह व सात समय पीवे। (श्रमुमृत)

भजन (पाणायाप, ध्यानादि क्रिया) से उत्पन्न होनेवाली खुरकी के लिए:-

- (१) मीठे वादाम की गिरी ग्यारह से पन्द्रह तक, काली मिर्च ग्यारह दाने, सौंफ चार माशे, गुलाव के फूल चार माशे, कासनी चार माशे, गुलबनकशा (फूल) चार माशे, बड़ी इलायची के दाने दो माशे, इन सबको पीस व छानकर मिश्री या बूरा एक छटांक डाल-कर पियें। सर्द मौसम में इनको घी में छौंककर पियें। (अनुभूत)
- (२) इलायची के दाने, जीरा, बादाम की गिरी, मुनका, गुलबनकशा, मिश्री को आवश्यकतानुसार मात्रा में पीसकर चाटे। (अनुभूत)
- (४) रूमी मस्तर्गा, इलायची के दाने, वंशलोचन सम मात्रा, इससे दुगुनी मिश्री, सबका चूर्ण एक मारो थी या मक्खन में खूब खरल करके सोते समय दूध या बिना दूध के खावें। (खनुभृत)

भाव का रोग मरोड़ व पेचिश केलिए:-

- (१) सौंक आधी भुनी हुई और कच्ची पीसकर उसमें मिश्री या चीनी मिला कर दिन में कई बार दो-तीन चुटकी लें। (अनुभुत)
- (२) सौंफ, सोंठ, बड़ी हड़ के बहुत, सब बराबर-बराबर लेकर सोंठ व हड़ को किसी कदर घी में भूनकर सब को कूटकर चीनी मिलाकर सोते समय चार मारो से छ: मारो तक पानी या दूध के साथ खावें। यह रेचक भी है। (अनुभूत)
- (३) ईस अगोल का सत अर्थात् उसकी अर्मी छ मारो से एक तोला तक दूध में घोलकर पीना। (अनुभूत)
- (४) गर्मी से आांव पेचिश व दस्त के लिये : गोंद कतीरा एक तोला, बिलगिरी दो तोला, ईसव गोल चार मारो, विहीदाना तीन मारो, अर्क वेद मुश्क छ: छटांक में सब का चूर्ण मिलाकर खिलावें। (अनुभूत)
- (५) बालंगू के बीज तीन माशे, गुलाब का श्रके एक पाव, गंग्नन बादाम एक माशा, शर्वत शहतूत दो तोला सबको पकाकर रात को खिलावें और उस रात खाने को कुछ न दें। (श्रनुभृत)

साधारण ज्वर के पश्चात निवंताता दर करने के लिए:--

दारचीनी तीन मारो, छोटी इलायची के दाने छ: मारो, पीपल छोटी एक तोला, वंशलोचन दो तोला, गिलोय का सत दा तोला, मिश्री खाठ तोला, इनका चूर्ण एक माशा कुछ घी में चिकना करके शहर मिलाकर खाना। (श्रनुभूत)

स्वांभी ख़श्क व तर:--

- (१) गोंन्द बबूल छः माशे, कतीरा छः माशे, बहेड़ा छः माशे, मुलहठी एक तोला, काकरासिगी तीन माशे, रब्बुस्तूस (मुलहठी का सत) छः माशे, नमक काला एक तोला, सुने हुई लाल इलायची के दाने एक तोला, कूट-छानकर चने के बरावरा गोलियां बनावें एक गोली मुंह में डालकर रस चूसें। (श्रनुभूत)
- (२) रब्बुस्सूस एक तोला, मुलहर्टी चार तोला, काकरासिगी दो तोला, सोंठ एक तोला, काली मिर्च एक तोला, पीपल एक तोला, बिहीदाना एक तोला, मगज बादाम (बादाम की गिरी) एक तोला पीसकर शहद में चने के बराबर गोलियाँ बनावें, एक या दो गोली सोते समय मुंह में डाले रहें, खाँसी के वक्त भी मुंह में डाले रहें रस चूसते रहें। (अनुभूत)
 - (३) श्रनार का छिकल जला हुआ चार रत्ती पान के साथ।

साँस, दमा, खाँसी आदि के लिये:--

पारा शुद्ध, गन्धक शुद्ध, मीठा तेलिया शुद्ध, त्रिकुटा (सोंठ, पीपल, काली भिर्च), शुद्दागा भी खील, काली भिर्च सम भाग लेकर सबका चूर्य बनाकर श्रदरक के रस में खरल करें, एक रत्ती श्रदरक के रस के साथ लें। (श्रुतुभूत)

द्या के अनुभूत नुसखे :--

(१) दमे की अनुभूत अति उत्तम एलोपेशिक औषधि श्वास उखड़ने की अवस्था में तरन्त आराम करने वाली एक-एक मात्रा दिनमें दो तीन बार :—

Potsi Iodide 5 gr., Syrup coillaua 30 drops, yincture Labelia Athcrata 10 drops (श्वास ठीक करने के लिये) Syrup Ferri Iodide 20 drops, Extract Gly cyrthse 30 drops, Aqua (पानी) 1 oz. एक सप्ताह के लिए सब जीविध मिलाकर रख लें। पीते समय एक ऑस पानी मिला लें (अनुभूत) यदि कफ की अधिक युद्धि हो तो Tincture Belladrona 5 drops और मिला लें।

(२) उपर्युक्त औषिध के श्रमाव में तथा उसके साथ भी Ephedrine Tablet है gr. (इफेद्दिन टैबलेट है प्रेन) श्वास उखड़ने के समय तथा प्रात: व सार्यकाल सेवन कर सकते हैं। श्वास के रोगी श्रभ्यासी गोली को खाकर दोनों समय श्रभ्यास पर वैठें। इस

से मन के ज्ञान्त होने में भी सहायता मिलती है। (अनुभत)

जिस बूटो से यह दवा बनाई जाती है उसका देशों नाम सोमकल्प तथा सोमलता है जो बड़ी-बड़ी देशी फार्मेंसी से मिल सकती है। इसका चूर्ण चार रत्ती पानी के साथ ले सकते हैं। इससे भी अधिक और शीव्र प्रभाव करने वाली एक दूसरी पेटेंट दवा Arthmindon है जो Indo Pharma Bomphay की बनाई हुई गोलियों के रूप में है।

(३) यदि श्वास उखड़ने की श्रवस्था में ये दोनों श्रोपिघयें नाकाम रहें तो फेल सोल (FELSOL) (एक एलोपैथिक पेटन्ट दवा) की एक पुड़िया पानी के साथ लेवे (श्रतुभूत)।

(४) भयंकर दौरे की अवस्था में यदि उपर्युक्त तीनों श्रौषधियें नाकाम रहें तो

Ephedrine इफेड्रेन के इन्जेक्शन सामयिक कप्ट दूर करने के लिये।

(५) दमें में स्थायी रूप से ताक़त के लिए श्वासकुठार, श्रभ्रक मस्म, लोह भस्म प्रातः व सार्यकाल शहद के साथ लेवें (श्रतुभूत) किन्तु दौरें की श्रवस्था में इसको न लें। कक्र के सूख जाने से हानि पहुँचने की सम्भावना हो सकती है)।

श्रन्य साधारण श्रीवधियाँ:---

(६) नोसादर धतूरे के रस में उड़ाया हुआ दो रत्ती पानी या दूध के साथ लेवें। इस के सभाव में छुद्ध श्रथवा साधारण नौसादर भी लाभदायक है। (अनुभूत)

डड़ाये हुये नौसादर के साथ भस्म फटकरी व खील सुहागा मिलाना अधिक लाभ-दायक रहेगा।

(७) चने के छिलकों का पाताल यन्त्रसे निकाला हुआ। तेल एक बून्द बताशे के साथ।

(८) पीली कौड़ी तीन दिन पानी में नमक मिलाकर रखें, फिर गरम पानी से धोकर एक उपले पर कोड़ियों को रखकर दस उपले ऊपर से रखकर जलावें, जब कौड़ियाँ जल जावें तो आक के दूध में खरल कर टिक्की बनाकर एक मिट्टी के बर्चन में रखकर कपड़े से लपेटकर जल।यें, उसको पीसकर त्राक के दूध में फिर पकार्वे, तीन बार ऐसा ही करें, फिर इसको पीसकर एक रत्ती शहद के साथ प्रातः सायं खावें, ऊपर से गाय का दूध पियें।

- (९) लोहे की कढ़ाई में चार तोले क़लमी शोरा रखकर उसके ऊपर और चारों चोर एक छटौंक भलावा फैलाकर किसी वर्चन से ढक दें। एक खंगीठी में कांग्रले जलाकर उसको ऐसी जगह पर रख दें जहाँ किसी को धुआँन लगे। जब जलकर जम जावे तो खुरचकर शीशी में रख लें। खुराक : दो रची बताशे में। परहेच : खटाई, लाल मिर्च इत्यादि। (अनुभूत)
- (२०) भांग के पत्ते डेढ़ तोला, धत्रे के पत्ते डेढ़ तोला, इनको कूटकर दो तोले कलमी झोरा पानी में भिगोकर उसमें मिलाकर धूप में सुखा लो। एक मासा युकैलिप्टस आइल (Eucalyptus Oil) मिलाकर रख छोड़ो। इसका सिगरेट बनाकर पिलावें, धुआँ कुछ देर रोककर छोड़दें, तुरन्त दमा का दौरा रक जावेगा। (अनुभूत)
- (११) क़लमा शोरा को पानी में डालकर श्रांच पर पकार्वे उसमें जाजिव (स्याही-चुस Blotting paper) को भिगो कर सुखालें। दौरे के समय उसका धुवां दें।
- (१२) सं०६ व ९ को वसूटी के खार के साथ दो से चार रत्ती तक गले में डालकर ऊपर से दुध या पानी पीले।
- (१३) मदार, धत्रा, वसूटी का खार, उडाये हुये नौसादर के साथ अथवा अलग-अलग चार रती तक उपर्यक्त विधि अनुसार ।
- (१४) कड़वे तमाकू के पत्ते एक पाव मिट्टी के वर्त्तन में डालकर मदार के दूध से खूब भिगो दें। सूख जाने पर वर्त्तन को सम्पुट करके उपलों में भस्म करलें। एक रत्ती भस्म प्रातः काल उबले दुये चनों के पानी के साथ। घी दूध का सेवन रहें। दवा की मात्रा धीमे-धीमे बदात जावें।

बदहज़भी, दस्त व क़ै के लिए:-

श्वमृतधारा की दो-चार बूंदें पानी या बताशे के साथ लें।

श्रमृतधारा का नुस्ला:—पीपरमेयट एक तोला, काफूर एक तोला, श्रजवाइन का सत इ: मारो, दारचीनी का सत एक तोला, लौंग का सत छ: मारो, छोटी इलायची का सत छ: मारो सबको मिलाकर एक शीशी में रख लें। दो बुंद पानी श्रथवा बतारो में लें। (श्रतुश्तु)

(२) सञ्जीवनी वटी, जो वैद्यों के पास बनी हुई मिलती है, ऋदरक या सोंठ के रस के साथ लें। (ऋतुभृत)

सर्जीवनी वटी का नुस्लाः बायबिडङ्ग, सोंठ, पीपल, कालीमिर्च, बड़ी हड़, आँवला,

मीट:—दमे में निहार मुंह गुनगुना पानी नोंन मिश्रित पीकर उछटी करे घोती नेती और न्योकी अधिक छाभदायक हैं। बहेड़ा, बल्ल, गिलोय, भलावा शुद्ध, मीठा तेलिया शुद्ध, सब समभाग, इनका चूर्ण सात दिन तक गोमत्र में खरल कर गोलियाँ बनावें ।

भेलावे की शोधन-विधि : बिना ब्याई गाय (बछेरी) के गोबर के साथ एकावें और कबी ईट के चूर्ण में डालकर उसके नोंक काटें और गरम पानी में धोवें। इसके शोधन में सावधान रहें, धुएँ से बचें। मीठा तेलिया दूध मे पकावें, जब सींक उसमें गड़ने लगे तब सममना चाहिये कि वह पक गया है। अजीर्ण रोग में अदरक के रस के साथ एक गोली, हैजें में दो, साँप के काटे में तीन, सिन्नपात अर्थात् सरसाम में चार; और खाँसी में सोंठ के साथ लेना बतलाया गया है।

मजीर्ण (वदहज़मी) के लिए:--

- (१) अष्टक गोली: सोंठ, काली मिर्च, पीपल जीरा काला व सकेद, अजमोद, प्रत्येक एक-एक तोला, हींग घी में भुनी हुई छ माशे, नमक काला डेढ़ तोला, गन्धक शुद्ध दो तोला, सबको पीसकर कागजी नीवृ के रस में खरल करके चने के बराबर गोली बनावें, खाने के बाद एक या दो गोली लें। (असुभूत)
- (२) भुना हुचा भुहागा, पीपल बड़ी, हुड़ का बकल, हिगुल अर्थान् शिगरफ शुढ, एक-एक तोला, सबको कागजी नीयू के रस में खरल करके मटर के बराबर गोली बनावें। (अनुभूत)
- (२) होंग घी में भुनी हुई छ: माशे, जीरा सफेद व काला, मिर्च सफेद (दिल्ला) सेंधा नमक, पीपल, प्रत्येक ढाई तोला, नीबू का सत छ: तोला, मिश्री छ: तोला, सबका चूर्ण खुराक चार मारो ।
- (४) अर्जार्ण, पेट का फूलना, वायुविकार, खांसी, श्रासादि सव विकारों को इटाकर जठराग्नि बढाने वाली अनुभूत दवा आनन्द भेरों रस—हिगुल अर्थात् शिंगरफ शुद्ध दो तोला, गन्धक आवलसार (शुद्ध) एक तोला, मीठा तेलिया शुद्ध एक तोला, खील सहागा एक तोला, सोंठ एक तोला, पीपल एक तोला, काली मिर्च एक तोला, घतूरे के बीज एक तोला अदरक के रस में खरल करके काली मिर्च के बराबर गोली बनावे। एक या दो गोली शातः व सायंकाल दुध या पानी के साथ (अनुभूत)!

संब्रहणीः--

- (१) बड़ी हड़, मोचरस, पठानी लोद, धावे के फूल, बेलिगरी, इन्द्रजी, श्रफीम, पारा शुद्ध, गन्धक श्रांवलेसार, सब सम भाग, गन्धक श्रौर पारे की कजली करके श्रन्य सब दवाशों का चूर्ण मिलाकर खरल करें। तीन रत्ती प्रातःकाल गौ के झाझ के साथ, तीन रत्ती सायंकाल बकरी के दूध अथवा खसखस के दूध के साथ। भोजन चांवल मूँग की खिचड़ी के साथ।
- (२) एक तोला शुद्ध गन्धक श्रांवलेसार को एक मारो त्रिकुटै के साथ खूब वारीक पीसकर तीन भाग बनावें । तीन मलमल के टुकढ़ों पर एक-एक भाग रख्न कर तीन बत्तियां

बनावें । एक बत्ती को तिल के तेल में भिगो कर जलावे । तीन बूँद एक पान में टफ्का कर सममें दो रत्ती शुद्ध पारा डाल कर खिलावें । तीन दिन तक ऐसा करें । खुराक-दूध चावल । रेजा:—

मदार का गृहा तीन तोले बारीक पीस कर दो तोले अदरक के रस में खरल करके चने के बराबर गोली बनावे। गुलाब के अर्के या ताजा पानी के साथ एक गोली खिलावें।

श्रम्लिपत्त से हानुमा ठीक न रहना श्रविपत्तिकरचूर्णः-

सोठ, काली मिर्च, पीपल, हड़, बहेड़ा, श्रॉवला, बायबिड्झ, नागरमोथा, पत्रज, छोटी इलायची के दाने, बिड़ नमक, एक-एक तोला, लोंग ग्यारह तोला, निसीत चवालीस तोला, मिश्री छियासठ तोला, इन सबका कपड़छन चूर्ण घी में चिकनाकर शहद मिलाकर रखलें। तीन माशे में एक तोला तक रात को सोते समय दूध के साथ या दिन में खाने के बाद ताजे पानी के साथ लें। यह रेचक भी है। (श्रुतुभृत)

बात-विकार के लिए रेचक:---

- (१) वातारि गूगल : गूगल शुद्ध, गन्धक शुद्ध, हव, बहेदा, श्रॉवला का चूर्ण सब बराबर वजन में लंकर कैस्टर-श्राइल (श्ररगर्डी का तेल) में एक एक मारो की गोली बनावें, सोते समय एक गोली दूध के साथ लें। यह रेचक भी है। वायु का दर्द दूर करता है। (श्रनभूत)
- (२) वातव्याधि के लिये अरएडी पाक—यह रेचक हैं, शीतकाल में अधिक लाभ-दायक है। त्रिकुटा डेढ़ तोला, लोंग तीन मारो, बड़ी इलायची के दान छ: मारो, दारचीनी छ: मारो, पत्रज छ: मारो, नागकेसर छ: मारो, असगन्ध एक तोला, सौंफ एक तोला, सनाय एक तोला, पीपलामूल छ: मारो, माले के बीज (निर्मुएडी) छ: मारो, सतावर छ: मारो, बिसखपरा (पुतर्नवा सफेद) की जड़ का बक्कल छ: मारो, खस छ: मारो जायफल चार मारो, जावित्री चार मारो। इन सबका चूर्ण करें। छ: तोले अरएडी के बीज की गिरी बारीक पीसकर एक सर गाय के दूध में मावा बनावें, उसको दो छटांक गाय के घी में भूनें। फिर दवाओं का चूर्ण और एक सर बूरा मिलाकर छ:-छ: मारो के लड्डू बनावें। खुराक : एक लड्डू गाय के दूध के साथ अथवा बिना दूध के प्रातःकाल व सायङ्काल स्तावें। यह रेचक्र भी है। (अनुभूत)
- (३) गठिया और प्रत्येक वातविकार के लिये—एक छटाँक अरपडी के बीज रेत में या भाइ में भूनकर चवार्ये और उसके ऊपर आधसेर या जितना पिया जा सके गाय का दूध पिलावें, इससे दस्त आयेंगे। सात दिन तक ऐसा करें। ख़ुराक: दाल मूंग और चांवल की पत्तती खिचड़ी। इवा से बचाये रखें।
- (४) वात के रोग की श्रत्यन्त पीड़ा में चरस (सुलका) आर्थारत्ती खिलाकर उत्पर से गाय का दूध गाय के घी के साथ पिलावें।

आधे सिर का दर्द, नथनों का बन्द रहना, सिर का भारी रहना:-

- (१) बनफरो के फूल, उस्तखुद्दूस, वर्ग सिन्वत, बराबर वजन में लेकर कपड़छन चूर्ण बनावें, श्रङ्कुली से नथनों के श्रन्दर लगावें। (श्रनुभृत)
 - (२) नौसादर एक बोला, काफूर तीन माशे, पीसकर माथे पर लेप करे और सुंघायें।
- (३) जमालगोटा द्युद्ध, यदि द्युद्ध न मिल सके तो श्रशुद्ध पानी में पीस लिया जावे, एक सींक से भवों के ऊपर मस्तिष्क पर बिन्दी लगावें। फौरन दर्द दूर हो जावेगा। उसी वक्त कपड़े से पोंछ्कर घी या मक्खन लगावें।

(४) नारक्री के छिलके का रस दर्द से दूसरी श्रोर वाले नथने में डालना।

(५) रीठे का छिलका पानी में भिगोकर जिस कनपटी में दर्द हो उसके दूसरी श्रीर वाले नधुने में डालना। कपड़छन रीठे का चूर्ण भी नाक में लगाने से सिर का दर्द दूर होता है।

(६) नौसादर उड़ाया हुआ या शुद्ध किया हुआ, फिटकरी की भस्म गर्मे दूध या

पानी के साथ सेवन। ये सब श्रीषिधयें श्रनुभृत हैं।

पमेड, पेशाव में शकर आना, स्वप्तद्योदि वीर्य के डर पक्रार के विकार के लिये:-

- (१) चन्द्रप्रभा। चन्द्रप्रभा का तुस्ला: वच, नागरमोथा, चिरायता, गिलोय, देव दाह, दाहहत्दी, अतीस, चव्य, गज्रपीपल, सोनामक्खी भस्म, सज्जीखार, काला नमक, कचूर दाहहत्दी, पीपलामूल, चीता की छाल, धनियाँ, हड़, बहेड़ा, आँवला, बायबिड़ंग, त्रिकुटा, जवाखार, संधा नमक, बिड़ नमक, प्रत्येक चार-चार माशे, निसौता, तेजपात, छाटी इलायची के दाने, गौदन्ती, दारचीनी, वंशलोचन, प्रत्येक एक तोला-चार माशे, लोह भस्म दो तोला, आठ माशे, मिश्री पांच तोला चार माशे, शिलाजीत शुद्ध दस तोला आठ माशे, गूगल शुद्ध दस तोला आठ माशे, सबका चूर्ण कपड़छन करके चने के बराबर गोली बनावे। वैद्यों के पास बनी हुई मिलती हैं। सोते समय रात को अथवा प्रातःकाल दूध के साथ एक गोली।
- (२) सूर्यप्रभावटी । सूर्यप्रभावटी का तुस्खा : चित्रक, हुइ, बहेइा, आँवला, नीम के अन्दर की छाल, पटोलपत्र, मुलहठी, दालचीनी, नागकेशर, अजवायन, अमलवेत, चिरायता, दाइहस्दी, इलायची के दाने, नागरमोथा, पित्तपापड़ा, नीला थोथा की मस्म, कुटकी, भारंगी, चव्य, पद्माक, खुरासानी अजवायन, पीपल, कालीमिच, निसोत, जमालगोटा शुद्ध, कचूर, सोंठ, पोकरमूल, जीरा सफेद, देवदाह, तमालपत्र, कूड़ा की छाल, रासना, दमासा, गिलोय, निसौत- वालीसपत्र, तीनों नमक (सेंथा, काला और कचिया), धनियां, अजमोद सौंक, सुवर्णमादिक (सोनामक्खी) भस्म, जायफल, वंशलीचन, असगन्ध, अनार की छाल, कमकोल, नेत्रवाला, दोनों चार यानी सज्जी और जवाखार, काली मिच, प्रत्येक चार-चार तोला, शुद्ध शिलाजीत बत्तीस तोला, गूगल शुद्ध बत्तीस तोला, लोहभस्म बत्तीस तोला, रूपामादिक (चाँदी मक्खी) भस्म आठ तोला, सबका चूर्ण बनाकर मिश्री चौंसठ तोला, गाय का घी सोलह तोला, शहद बत्तीस तोला, मिलाकर चीनी क वर्त्तन में रखें अथवा गोलियां बनावें । सुराक : एक माशा प्रात: अथवा सायं दूध के साथ । सूर्य प्रभावटी Diabetes पेशाब में शकर आना इस रोग के लिये अति लाभदायक सिद्ध हुई है (अनुभूत)

चन्द्रप्रभा श्रीर सूर्यप्रभा सब मौसम श्रीर तब श्रवस्था में सब प्रकार के रोगों में श्रवस्था से हो है। इनसे सब प्रकार के प्रमेह, मूत्रकृच्छ, पेशाब में शक्कर श्राना इत्यादि, सब प्रकार की बातन्याधि; उदर-रोग, गोला, पायडु, संप्रहणी, हृदय-रोग, शूल, खाँसी, भग-न्दर, पथगी, रक्तपित्त, विषम-ज्वर तथा बातजन्य, पित्तजन्य रोग दूर होकर शरीर खक्ष श्रीर जठराग्नि प्रदीप्त होती है। श्रभ्यासियों के लिये श्रवकृत्त है।

- (३) बंगभरम चार रत्ती पान श्रथवा शहद के साथ प्रमेह के लिये। (श्रनुभूत)
- (४) इरी गिलाय का रस चार तोला, शहद छः मारो के साथ सुबह को प्रमेह के लिए पियें। (ऋतुभृत)
 - (५) सत बड़ चार रत्ती गाय के दूध के साथ सिर्फ एक सप्ताह तक लें। (श्रनुभूत)

यड़ का सत वनान की विधि—बड़ की कोपलें दस सेर बारीक काटकर चालीस सेर पानी में पकावें। जब पत्ते गल जावें तो मल छानकर लोहे की कढ़ाई में पकाकर खोया बना लें। किर दस तोला बहूकली का चूर्ण मिलाकर चार-चार रत्ती की गोली बनावें। एक गोली को पानी में घोलकर उस पानी को दूध में मिलाकर दूध को जोश दें। केवल सात दिन तक ईसवगोल की भूसी छ: माशे खौर चीनी डालकर दूध को पांवें। बड़ सत तैयार न हो तो बड़ की कोपल दो तोला को एक पाव पानी में पकावें। जब पानी एक छटांक रह जावे तो उसको छानकर आधसेर गाय के दूध में भिलाकर पकावें। किर ईसबगोल की भूसी और बूरा मिलाकर सिर्फ सात दिन तक पियें। बिना ईसबगेल की भूसी के भी ले सकते हैं। यह बीर्य को गादा करके खप्रदोप इस्यादि सब प्रकार के वीर्यपात को रोकता है। अनुभूत, साधुओं की गुप्त औपधि दें। यह औपधि पीष्टिक है इसलिय कब्ज न होने दें।

(६) ब्राह्मी घृत: ब्राह्मी के पश्चांग का रस दो सेर निकालें।

ब्राह्मी के पञ्चांग का रस निकालने की विधि :—

यदि बाझी हरी हो तो दो सेर कूट कर निकालें, सूखी हो तो दो सेर को आठ सेर पानी में पकावें जब दो सेर रह जावे तो छान लें। आंवले का छिलका, हस्दी, कठमटी (कुरत शिरीं) निसीत (तिवीं), बड़ी इड़ का छिक्लल, पीपल छोटी, मिश्री, प्रत्येक दो-दो तोला, बच, सेंधा नमक छ: छ: मारो, सबको दो सेर पानी में पकावें, जब आधसेर रह जावे तो मल छानकर बाझी का रस मिलाकर लोहे की कड़ाई या कलई के बर्चन में रखकर आग पर चढ़ावें और आधसेर गुद्ध गौ का घृत उसमें डालकर हस्की आंच से पकावें। जब घृत बाकी रह जावे तो उतार कर छान लें और साफ बर्चन में रख लें। खुराक: छ: मारो से तीन तोले तक गौ के दूध में प्रातः व सोते समय।

लाभ : वीर्य के सब प्रकार के रोगों की निवृत्ति, वीर्यशुद्धि, स्मृति व मस्तिष्क की शक्ति को बढ़ाने के लियं, बुद्धि को तीक्ष्ण करने, क्एठ को साफ करने, बवासीर, प्रमेह, खांसी आदि रोगों के लिये अति लाभदायक हैं। वीर्यदोष से जिन पुरुषों अथवा क्रियों के सन्तान उत्पन्न न हो उन दोनों के लिये अति लाभदायक हैं। नाझी छुत की दूसरी विधि—हरी नाझी हो तो पांच सेर, स्खी हो तो दो सेर, इंख पुष्पी एक पाव, आंबला एक पाव, त्रिफला एक पाव, घुडवच एक छटांक, बायबिडक्कं, पीपल, धिनयां, निसीत की जड़, लौंग. छोटी इलायची, तज, सम्भाळ के बीज और इस्दी एक-एक तोला, गिलोय दो तोला, सबको मोटा कूट कर दस सेर पानी में भिगो कर आप्त में खूब पकांवें। जब छ: सेर रस के लायक पानी रह जावे तो मलकर छान लेवें। इस रस को लोहे की कढ़ाई या कलई के बर्चन में चढ़ाकर ढाई सेर शुद्ध गौ का घृत डालकर पकांवें, आप्ति धीमी-धीमी आठ-इस घंटे तक देते रहें। जब पानी का भाग जल जावे और रस का सब भाग इकट्ठा हो जावे तब उतार कर कपड़े में छान लें, खुराक—हेद तोले से ढाई तोले तक आवश्यकतानुसार गाय के दूध के साथ प्रातः सार्यकाल।

सोते समय पेशाच निकल जाना :--

श्रॉवले का गूदा, काला जीरा सम-भाग शहद मिलाकर।

पेशाव के साथ शकर भाना :--

- (१) गुड़मार दो तोले, जामुन की गुठली दो तोले, बंशलोचन छ: माशे, इलायची छ: माशे, गिलोय का सत एक तोला, पीपल की छाल तीन माशे, मयहूर-भस्म एक माशा, चांदी-भस्म चार रत्ती, शिलाजीत शुद्ध तीन माशे सब का चूर्ण करके चार माशे प्रातः व सार्यकाल गाय खथवा बकरी के दूध के साथ। (अनुभूत)
- (२) गुड़मार, बबूल या गूलर की जड़ की श्रंतर छाल, जामुन की गुठली, सींठ सम-भाग कट छानकर छ: मारो से नी मारो तक गरम पानी के साथ।
 - (३) गिलोय सब्ज का रस निकालकर उसमें पाशानभेद और शहद मिलाकर पिलावें।
 - (४) सूर्यप्रभावटी इस रोग में चाव्यप्र्यंजनक लाभदायक सिद्ध हुई है (चनुभूत)
- बहुम्तः --(१) चत्रक की लकड़ी एक तोले क्टकर पावभर पानी में मिट्टी के बर्तन में रात को भिगोदें, सुबह को पकावें जब दो तोले रह जावे तो मल छानकर पीनें। पन्द्रह दिन तक पीना चाहिए।
- (२) फरीद बूंटी साये में सुखाई हुई एक तोला, मूसली सफेद एक तोला घोटकर सात दिन तक पिलावें।
- (६) श्रजनायन देशी छः मारो, नागर मोथा छः मारो, कन्दर छः मारो, काले तिल एक तोला सब को बारीक पीसकर दो तोले गुड़ में मिलावें। खुराक छः मारो प्रातः बा सायंकाल।
- (४) पीली **इरड़** का छिलका और अनार का छिलका समभाग कूट छानकर चार मारो प्रातः व सार्थकाल पानी के साथ।
- (५) बढ़िया किस्म के बड़े अच्छे गृहेदार छुवारे दिन में खाने के प्रधात्, रात को वृद्ध से पहिले। (अञ्चन्त)

हर मकार के बुखार के लिए:---

तुरुम कासिनी दो तोला, गुल नीलोफर छ: माशे, बर्ग गावजुवां छ: माशे, तुरुम खरबूजा छ: माशे, तुरुम शिलोय छ: माशे (सन्ज न मिल सके तो सूखा हुआ काम में लावें), छोटी इलायची छ: अवद, मुनका पाँच अवद, गुलकन्द पाँच तोला सब दवाओं को एक सेर पानी में जोश दें फिर गुलकन्द मिलावें ठंडो होने पुर कई बार पियें।

बलगुमी बुलार के लिए:--

गुलबनफशा छ: माशे, नीलोकर छ: माशे, गाजुवाँ छ: माशे, कासनी छ: माशे, मुनका पाँच श्रदद, छोटी इलायची पाँच श्रदद, नागरमोथा छ: माशे, श्रव्यीर पाँच श्रदद, गिलोय एक तोला, इन सबको पानी में भिगो दें, सुबह को जोश देकर मिश्री के साथ मिला-कर रख लें, ठएडा होने पर थोड़ा-थोड़ा पिलावें।

बुलार के लिए, हर प्रकार के अम्लिपित्त, ग्रुरदज आदि रोग में :--

गिलोय, धनियाँ, लाल चन्दन; पद्माक, नीम की छाल, इन सबको बराबर वजन में लेकर चूर्ण बनावें। शामको आधसेर पानी में ढाई तोला भिगो दें, सुबह को जोश दें, अब छटाँक-भर रह जावे तब पिलावें।

विश्वज्वर पर 'सफाई' खून के लिये :--

मुनका, अमलतास, कुटकी, पित्तपापड़ा, बड़ी हरड़ का बक्कल, नागरमोथा, सब बराबर वजन में लेकर ऊपर वाले तुस्त्ते की तरह ढाई तोला लेकर तैयार करके पियें। बुखार के लिये कुछ भौर भृतुभूत नुस्लेः—

(१) मगज करला (करंजुए की गिरी) दो तोला, संधानमक दो तोला, इनका बूर्ण बनालें। बार रत्ती सुबह और शाम ताजे पानी के साथ। चढ़े बुखार में भी दिया जा सकता है।

्र) करंजुए के पत्ते तवे पर कि चित्र आँच देकर चूर्ण बनाया जावे। चार रत्ती

विन में तीन दफा ताजे पानी के साथ खिलावें। (अनुभूत)

(३) फिटकरी लाल एक पाव पीसकर आक के दूध में भिगोवें, जब आक का दूध सूख जावे तो मिट्टी के बत्तन में रखकर सम्पुट कर पाँच से दस उपलों की आँच में जलावें, ठगडा हो जाने पर इस दवा को निकालकर पीसलें। खुराक: एक रत्ती गाय के दूध के साथ। खाँसी, दमा, बुखार, तपेदिक धादि के लिये लाभदायक है।

(४) गेरू दो तोला, फिटकरी भुनी हुई दो तोला, शकर मुर्ज पांच तोला मिलाकर

दिन में दो-तीन बार छ:-छ: माशे ताजे पानी के साथ।

(५) मृत्युंजय रस — शिगरफ दो तोला, गन्धक व्यांवलेसार, मीठा तेलिया शुद्ध, कील सुद्दागा, सोंठ, पीपल, काली मिचे एक-एक तोला, कागजी नीवृके रस में करण इरहे कालीमिचे के बराबर गोली बनावे। एक गोली ताजा पानी के साथ (अनुभूत)

- (६) तीसरे दिन का बुखार—प्रात:काल लाल फिटकरी की भस्म चार रत्ती से एक माशा तक अर्क गुलाब के साथ। (अनुभूत)
- तपेदिक के लिये:--
- (१) गिलोय का सत, वंशलोचन, छोटी इलायची के दाने, काली मिर्च, भलाबा शुद्ध, समभाग पीसकर काली मिर्च के बराबर गोली बनावें। पिहले दिन एक गोली एक पाब गाय के दूध के साथ लें, प्रत्येक दिन दूध दो तोला बढ़ाते जावें, एक सेर तक। भलावे की शोधनविधि संजीवनी वटी के तुस्ले में देखें।
- (२) एक पोई का लहसुन यदि न मिल सके तो साधारण लहसुन को ही कूटकर दुगुने पानी में उबालें, फिर मल झानकर उस पानी को पकावें, जब गादा हो जाबे तो चने के बराबर गोली बनावें, प्रात: व सार्यकाल एक या दो गोली ठएडे पानी के साथ। (अनुभूत)
- (३) बर्ग करेला (करेले के पत्ते) चार तोला, मुश्क काफूर एक तोला, इनको बारीक घोटकर एक माशे की गोली बनावें, बुखार आने के चार घरटे पृष्ठिले पानी के साथ खिलावें। (अनुभूत)

पायोरिया के लिये दाँतों का मंजन:-

- (१) लाहौरी नमक, तेजवल, फिटकरी शुनी हुई, तम्बाकू के पत्ते शुने हुए गेरु, काली मिर्च, सीठ, सब एक-एक तोला लेकर चूर्य बनावें, दाँतों में मलकर पानी निकलने हैं। (अनुभूत)
- (२) नमक व सरसों का तेल मिलाकर दाँतों पर मलें। दातौन से दांत साफ करें। लाहौरी नमक और सरसों का तेल पकाकर रखलें, दाँतों पर लगा कर सोवें।
 - (३) मिट्टी के तेल के गरारे करने से भी पायोरिया दूर होता है।

दाइ का दर्दः-

- (१) छ: सात माशे कुचला दरदरा करके पानी में श्रीटाकर गरारे करना।
- (२) मदार (ऋाक का पेड़) की लक्ष्ड़ी जलाकर, दुखती दाद से दबाकर राल निकालते रहना। (ऋतुभूत)
- (२) पेट की सफाई तथा उपयुक्त किसी रेचक वातनाशक औषधि का सेवन लाभदायक है।

दाँतों के सब रोग-नाशक:--

कुचला एक तोला, देशी नीलाधोधा तीन तोला, इनको सम्युट करके जलावें। जब राख हो जावे तो माजूफल का चूर्य एक तोला, फिटकरी सफेद छ: मारो, सबको बारीक बीसकर बढ़ की ढाढी की दातीन से लगावें।

फल : मसुकों का साफ होना, दांतों का जमना, पायोरिया तथा गुंह की बदबू का दूर होना (अञ्चभूत)

साँत अथवा दाइ के दर्द के लिये:-

तुष्क्रम रवासन चार मारो, नरकचूर चार मारो, फिटकरी चार मारो, अफीम चार रत्ती, इनकी दो पोटली बनाना, एक पोटली दुखते दांत अथवा दाद में दबाए रखना, दो घरहे में आराम हो जावेगा। (अनुभूत)

गोरत खुरदा भीर पीय आने की दवाः-

मुरक काफूर तीन भाग, बोरक-ऐसिड (Boric Acid) एक भाग मिलाकर शोशी में रखलें, बई की फुरैरी से लगावें। (अनुभृत)

दाँतों को साफ़ और चमकीला बनाने के लिये:-

- (१) समन्दरमाग एक तोला, फिटकटी भुनी हुई छ: मारो, माजूफल छ: मारो, चुना बुक्ता हुआ छ: मारो, बारीक कपड़छन करके दांतों पर मलें।
- (२) मौलसिरी की छाल का चूर्ण दांतों पर मलना श्रौर लकड़ी से दातौन करना अति लाभदायक है।
- (३) दांतों व मस्दू के सब प्रकार के रोग दूर करने के लिये आति उत्तम एलोपैधिक पैटेंट दवा Camphenal (U.S.) केमफीनल पांच बूँद गरम पानी में डालकर दिन में तीन-चार बार तथा खाना खाने के पश्चात गरारे करें (अनुभूत) यदि यह न मिले तो सेंधे नमक को पानी में खूब औटा कर रखलें। उसके कई बार व सोते समय गरारे करें। फोडे-फ्रन्सी आदि रक्त की शब्द के लिये:—
 - (१) सलकर नं०३० (होमोपैथिक दवा) खाने के लिये। (श्रमुभूत)
 - (२) सलकर बिटसे (एक एलोपैथिक दवा) पीने के लिये। (धनुभूत)
 - (३) शुद्ध गन्धक त्रिफला के साथ।
- (४) सकेवा कासगरी छ: मारो, मुदारसंग आधा माशा, सिन्दूर तीन रसी, हस्दी बार रसी, फिटकरी सुनी हुई एक माशा, तूतिया सुना हुआ तीन रसी, सरसों का तेल तीन मारो, मोम एक माशा मोम को तेल में पिघलाकर, सब दबाइयों को छानकर, मिलाकर मरहम तैयार करें। यह मरहम फोड़े-फुन्सी व पाव आदि के लिये आति लाभदायक है।
- (4) खुजली के लिये इस्दी की छुगदी श्रीर श्राक के क्तों का पानी सरसों के तेल में क्कावें, जब छरदी रह जावे तो लगावें।
- (६) फिटकरी दो मात्रा, बोरिक एसिड तीन मात्रा, गन्धक चार मात्रा। उनका चूर्ण सात मारो, चाथ छटाँक मकखन मिलाकर खुजली तथा दाद वाले स्थान पर मलें।

सफाई खन के लिये :-

(१) सत्यानाची (कटैया की जड़ नौ मारो, काली मिर्च नौ दाने पीस-घोटकर पिलावें, स्नाने के लिये मूंग की दाल अथवा स्त्रिचहीं दें, सब प्रकार के रक्तविकार, कोद, खुजली आदि के लिये सत्यानाची का सिंचा हुआ सकी पीना और इसके बीजों का तेल लगाना स्रति लाभदायक है। पूत अधिक स्तावें। (सनुभूत) (२) चिरायता, गिलोय, पित्तपापड़ा, नीम के अन्दर की छाल, नहादयडी, सुयडी, इन्ह्रायया की जड़ समभाग, इनका कपड़छन चूर्य प्रातः व सायहाल पानी अथवा गी के दूध के साथ आवश्यकतानुसार लें।

सफेद कोइ की दवा :-

चीते की छाल दो भाग, सफ़ेद छु गची एक भाग, बावनी तीन भाग, खखीर जङ्गली एक भाग सब मिलाकर गोमूत्र में खरल करके कोढ़ पर लगावें, छाला फूटकर जब मबाद निकल जावे तो नीम के तेल का मरहम लगावें।

क्षाजन, लाहौरी फोड़े, बगदादी फोड़े तथा अन्य घाव वाले दादों के लिये अनुभूत औषधिः—

(१) यलो वैसलीन, जिंक आक्साइड को मिलाकर रखें। दाद अथवा जख्म को नीम के पानी से धोकर महरम का फोया लगाकर पट्टी बाँध दें। इससे जख्म का मवाद निकलता रहेगा और जख्म भरता रहेगा आंख तथा पलकों के जखमों के लिये भी प्रयोग करें। (अनुभूत)

मुखे दाद के लिये:-

(२) बादाम के জिलकों अथवा गेहूँ का तेल दाद पर लगावें। यह भी ऋति उत्तम অনুসুत औषधि दै।

तेल निकालने की विधि:—एक मिट्टी की हाँडी में एक कटोरा रखें, उस हाँडी पर तली में सुराख की दुई एक दूसरी हाँडी रखें। सुराख में कुछ सीकें इस प्रकार रखें कि कटोरे में गिरें। उस हाँडी को मोटे गेहूँ से भरकर उस पर ढक्कन रखदें। कपड़े को चिकनी मिट्टी में सानकर दोनों हाँ डियों पर लपेटदें। फिर एक गढ़ा खोदकर दोनों हाँ डियों को इस प्रकार रखें कि नीचे वाली हाँ डि मिट्टी में दबी रहे ऊपर वाली हाँडी के चारो तरक अने उपले रखकर आंच दें, इस तरह उसका तेल कटोरे में आवेगा। ठएडा होने पर निकाल लें।

बादाम के छिलकों का तेल निकालने की सब से आसान तरकीव यह है कि एक चौड़े मुँह वाली हांडी में बादाम के छिलके भर कर उसमें एक कटोरा रख दें। हांडी के मुंह पर एक तसला रख कर आटे और मिट्टी से मुंह बन्द करके उसकी चूल्हे पर रखदें। तसले में पानी भरदें। पानी बदलते रहें अधिक गर्म न होने पावे। कटोरे में टिंचर की शक्ल का पानी भर जावेगा। यह न केवल दाद व इच्चमा के लिये अकसीर है अपितु जहरीले जानवरों के काटे पर भी लाभदायक है। इसके अतिरिक्त सारी बातों में टिंक्वर का काम देता है। (अनुभूत)

(३) जक्तली गोभी के पत्तों को सरसों के तेल में जलावें; और इसको पीसकर रखतें। दाद पर इसे लगावें। इस मरहम के अभाव में जक्तली गोभी के पत्तों को दाद पर खुजलाने

से भी बढ़ा लाभ होता है।

- (४) एसिटिक-ऐसिड (Ascetic Acid) और टैरिन-ऐसिड (Tarin Acid) को मिाकर क्षीक्षी में रखलें। फुरैरी से लगावें, यदि पानी निकले तो उपर्युक्त मरहम नंव १ लगावें।
- (4) कलमी शोरा एक भाग, नौसादर दो भाग, सुद्दागा चार भाग, सबको मिला कर खरल करके फुरैरी से लगावें।

भैंसिया दाद अर्थीत काले दाद के लिये :--

मूंग अथवा मूंग की दाल छिलके सिहत बारीक पीसकर लगावें।

खात्रन का नुस्खाः---

(१) सीसा एक छटाँक लोहे के चम्मच में पिघलाकर उसमें तीन तोला पारा डाल कर किसी बर्तन में डालदे, जब ठएडा हो जावे तो एक छटाँक गन्धक के साथ बारीक पीस लें। इसके चूर्ण को सरसों के तेल में मिलाकर लगावें।

(२) जहरीला पानी देनेवाले छाजन त्र्यादि पर गूलर को दही के पानी में बारीक पीसकर उसका लेप करें, जब सूखकर छुट जावे तो किर लेप करें, कष्ट को सहन करलें

घबरायें नहीं।

चम्बल की दवा:

पुनर्नवा श्रर्थात् सांठे (Itsit) की जड़ आधपाव सरसों के तेल में मिलाकर पीसकर एक छटाँक सिन्दूर मिलाकर मरहम तैयार करें।

नामूर, भगन्दर मादि के लिये :-

- (१) पारा और रसकपूर दोनों को खरल करें, फिर मुद्दासङ्ग, प्रवाल की जड़, सुपारी का फूल, कत्था, राल, सिन्दूर, सब एक-एक तोला, वंदालोचन, छोटी इलायची डेढ़ माझा खरल करें। फिर १०१ बार धुले हुए पन्द्रह तोला मक्खन में मिलावे। पतले कपड़े की बत्ती बनाकर महरम में भिगोकर चाव में लगावें।
 - (२) नीजवान श्रादभी की खोपड़ी की भरम नासूर श्रीर भगन्दर में लगावे।

कमर के अन्दर का फोड़ा:--

अर्गड की गिरी को पीसकर मीटा प्लास्टर लगावें, कपड़े के किनारों को सेंजने के गोंद से बन्द कर दें जब यह पीव से भर जाय तो इसी तरह दूसरा प्लास्टर लगावें।

गांठवाले फोड़े की दवा :--

- (१) नीम के पत्तों को इतना पीसा जावे कि लेस आजावे, फिर उसे किसी कपड़े में लपेटकर गारा या मिट्टी लपेटकर भूषल में पकावें, मिट्टी सूख जाने पर निकालें। लगभग एक अंगुल मोटी टिकिया बनाकर लगावें।
- (२) ऐन्टीफ्लोजिस्टीन या ऐन्टीफ्लेमिन (अंग्रेजी दवा) भी लाभदायक है। (अनुभूत)।

मनन्दर तथा ग्रदा के सब मकार के रोगों के लिये अनुभूत औषधि :--

- (१) बोरिक-ऐसिड एक ड्राम अथवा चार मारो, जिङ्क आक्साइड (सफेदा कारत-कारी) दो मारो, आइडोफार्म पांच रत्ती, ऐसिड कार्बोलिक एक माशाः या पन्द्रह बूंद सरसों अथवा तिल का तेल ढाई तोले, ऐकुवा (पानी) ढाई तोले, इन सबको मिलाकर इसका हुई या कपड़े का कोया गुदा में लगाया जाय। (अनुभूत)।
- (२) एक सेर गाय के दूज में एक छटांक भङ्ग डालकर उसकी भाप गुदा में पहुँचाना, फिर ऊपर वाले मरहम की बत्ती गुदा में रखकर इस भङ्ग को गुदा में लंगोट- जैसे पट्टी से बांध देना अधिक लाभदायक होगा। (अनुभृत)
- (३) भगन्दर, नासूर और पुराने फोड़े के लिये खनुभृत फिटकरी पांच तोला, संग जराहत पांच तोला, सिद्रूर एक तोला। पिसी हुई फिटकरी तवे पर जलावें। पिसा हुआ संगजराहत एक-एक चुटकी उस में डालते जावें और हिलाते जावें। फिर सिद्रूर को तवे पर भस्म करके उसमें मिला हैं। ठराडे किये हुये गाय के दूध में थोड़ी-थोड़ी डालते जावें और पिलाते जावें। एक-एक दिन नासा करते जावें। २१ दिन तक।

मर्श (बवासीर):---

- (१) एक तोला संख्या को दस रीठे के तीन पान पानी में खरल करे, जब सब पानी उसी में खप जाय तो एक चानल इस संख्या को पानी में घोलकर मस्से में लगानें, सात-आठ दिन में मस्सा गिर जानेगा। फिर सफेदा काश्तकारी घिसकर लगानें। एक अनुभवी संन्यासी से प्राप्त किया हुआ नुसखा, किन्तु अपना उन्तुर्त नहीं है)।
- (२) जङ्गली बेरी के दो तोले सूखे हुए पत्ते चिलम में रखकर उसमें श्राग रखकर पिये इसके पश्चात् दो छटाँक गाय का ची पियें। एक हफ्ते तक ऐसा करें, भूख लगने पर गेहूँ का दिलया या रोटी गाय के ची के साथ खावें। खूनी बवासीर के लिये अनुभूत श्रीषधि हैं। (एक श्रनुभवी डाक्टर का श्रनुभूत किन्तु श्रपना श्रनुभूत नहीं)

बवासीर के परसों का जड़ से उखाइनाः-

- (३) इर्ब झा, सिन्दूर, नीलाथोथा, समभाग मिलाकर चूर्ण करें, मस्से को फिटकरी से खुजलाकर तुरन्त उस पर इस चूर्ण को पानी में घोलकर सींक से लेप करें, ऊपर से पके हुए चावल दही मिलाकर बाँध हैं, मस्से जड़ से निकल जावेंगे। फिर राल का मरहम लगावें। यह ब्रीचिध एक ब्रनुभवी फक्षीर से प्राप्त हुई है, परन्तु ख्रपनी श्रनुभूत नहीं है।
- (४) रीठे की गिरी निकाल कर उसके छिलके का चूर्णे आध पाव, रसौत एक छटांक के साथ खूब खरल करें। फिर दो छटांक पुराने से पुराना गुड़ उसमें डालकर खरल करें। मटर के बरावर गोली बनावें। प्रातः व सार्यकाल एक-एक गोली दूध के साथ निगल लें। खटाई, लाल मिर्च, तेल और कब्ज करने वाली चीजों से परहेज।
- (५) कुचला मिट्टी के तेल में घिसकर मस्सों पर लेप करें सोते समय । मस्से सूख जायेंगे ।

- (६) छ: मारो बोतल पर लगाने का काग, दो तोले सरसों के तेल में जलावें फिर उसमें पीली भिड़ के छत्ते को मिलाकर खरल करें, मरहम को मस्से पर लगावे।
- (७) सौंफ, किशमिश, भक्न, दक्षिणी मिर्च, इलायची सफेद समभाग, इन सबके बराबर मिश्री मिलाकर चार रत्ती से व्यपनी व्यावश्यकतानुसार सेवन करें।
- (८) गैंदे के फूल दस तोला, नीम निवोली दस तोला, केले के दरह का रस दो तोला, श्रकीम तीन रत्ती; दो दा रत्ती की गोली बनाकर प्रातः सायङ्काल पानी के साथ खावें।
 - (९) जिङ्क आक्साइड और यलो वैसलीन का मरहम गुदा में लगावें ।
- (१०) रूमी मस्तगी एक ताला, सफेद इलायची के दाने छ: माशे मिलाकर वहीं के साथ खाने से खूनी ववासीर बन्द होती है।
 - (११) भड़बेरी के पत्ते एक तोला, तीन काली मिर्च के साथ घोटकर पियें।
- (१२) राठे का छिलका आठ तोला, तूत अथवा अरग्रड के पत्ते एक तोला, दोनों को मिलाकर इतना कूटें कि मोम-जैसे हो जावें, यदि चिमिटने लगें तो घी लगालें, आठ टिकियाँ बनालें। एक गदा खोदकर उसमें कोयले जलाकर चिलम रख दें उसके सूराख द्वारा गुदा को धुआं दें। आठ दिन तक इसी श्रकार करें।
- (१२) करेल द्मर्थात् करेट जो एक प्रसिद्ध फाइदार वृत्त है, उसकी ताजी जड़ का पातालयन्त्र से तेल निकाले, दिन में दो-तीन बार रुइं की फुरैरी भिगोकर मस्सों पर लगावें, खुनी व बादी दोनों प्रकार की बवासीर बन्द हो जावेगी।
- (१४) चिरचिट की छार एक रत्ती लें, इसके ऊपर छ: माशे चिरचिट के बीज, ग्यारह काली मिर्च एक सप्ताह तक घोटकर पियें। गेहैं की रोटी या दलिया घी के साथ खावें।
 - (१५) जक्क्ली गोभी के तीन पत्ते और तीन काली मिर्च घोटकर पियें।
 - (१६) भक्क को पीसकर घी में पकाकर टिक्की बांधें।

तिस्ली:---

- (१) अजनाइन देशी को श्राक के दूध में भिगोकर खाया में सुखावें, फिर कागची नीबू के रस में खरल करके श्राधी रत्ती की गाली बनावें, एक एक गोली प्रात: सायंकाल बासी पानी के साथ खावें।
- (२) नौसादर, क़लमी शोरा, सुद्दागा सफेद, लौंग, रेवन्द चीनी, सब एक-एक तोला, जवाखार, सज्जीखार, सूचल नमक, नौ-नौ माशा, घीग्वार के रस में खरल करके गोली बनावें, प्रात:-सायंकाल एक-एक गोली खावें, वादी व खट्टी चीजों से परदेखा।

दर्द गुर्दा :---

(१) संगद्युद (पत्थर का बेर) को दूध में डवाल कर साफ कर कूटकर सात दिन मूली के रस में खरल कर टिक्का बनाकर मिट्टी के बर्चन में रखकर उसकी सम्युट करके जाग में रखकर भस्म बनावें। चार रत्ती शरवत नीलोफर के साथ खिलावें।

- (२) सूखा पोदीना का चूर्य, सूखे धत्रे के पत्तों का चूर्य प्रत्येक दस-दस मारो, पीपल के पेड़ का दूध सोलह बूंद मिलाकर तम्बाकू के समान चिलम में रख कर पिलावें, तुरन्त त्याराम होगा।
- (२) लरवूजे के बीज नौ मारो, हिजहलाडूद (पत्थर का बेर) साढ़े तीन मारो, खार खुरक सात मारो, तुल्मी लयारैन नौ मारो, राई छ: मारो, पानी में घोट छानकर पिलावें। पथरी तोडकर निकालने के लिए:——
- (१) Athelian एथेलियन, Peprazine पेपरेजिन दोनों एलापैथिक पेटेंट दवा (अनभूत)।

बन्द पेशाव का खोलना :--

- (१) गोखुरू, इन्द्रजी, सांय के बीज, एक एक तोला पाषानभेद दो तोला सबको कूटकर एक सेर पाना में श्रीटालो । दिन में दो-तीन बार दो रत्ती पत्थर बेर की भस्म दो रत्ती जवाखार के साथ पीवें (श्रतभूत)
- (२) कलमी शोरा एक तोला, तुस्म खियारैन चार माशे, छोटी इलायची के दाने दो माशे, दिल्ला मिर्च दो माशे, सीतल चीनी चार माशे सबको पीसकर एक सेर पानी में छान कर दो छटोक सफेर खांड डालकर कई बार पिलावे, पेशाब जोर के साथ आवेगा।

हेसू के फूल उबालकर पेडू पर लेप करें।

(२) राई, कलमी शोरा, मिसरी, सम भाग पीसकर पानी के साथ दिन में दो बार दें। पेड़ पर कलमी शोरे का लेप करें।

रुक-इककर पेशाव आना :--

बड़ी हड़ का गूदा, गोखुरू, श्रमलतास का गूदा, पाषानभेद, दर्मासा, धनियां । इनका काढ़ा पिलावें ।

बायुगोला:--

प्छवा, खीलसुद्दागा, काली मिर्च, द्दींग, काला नमक, सबको धीरावार के गृदे में स्वरल करके चना बराबर गोली बनावें। एक गोली पानी के साथ।

पेट के कीड़े :--

- (१) ऋरंड ककड़ी के बीज पांच या सात ताजा पानी के साथ खिलाने से सब कीड़े मर जाते हैं। पाँच दिन में ऋाराम हो जाता है।
- (२) आहु, अनार व नीम के पत्तों को पीसकर अथवा अकेले आहु के पत्तों को पीसकर खिलाने से पैट के कीड़े मर जाते हैं। (अनुभूत)

दिमागु के कीड़े :

इस रोग का कष्ट देखने वाले को भी असद्य हो जाता है। उसका एक अनुभूत तुरुका—

खरगोश की मैंगनी को गुड़ में लपेट कर निगल जाने, ऊपर से चादर ग्रंह तक चोद्रकर ' ४६ ३६१ धूप में बैठावें। कीड़े स्वयं थोड़ी देर में निकलना आरम्भ हो जावेंगे, जब ये निकलना बन्द होजावें तो उठ जावें। एक दिन छोड़कर फिर तीसरे दिन इसी तरह खिलावें, जब कीड़े निकलना बन्द हो जावें तो इसे खिलाना बन्द कर दें।

गढिया का नुस्ला:

- (७) सांठ एक तोला, पीपल छोटी एक तोला, मदार के पेड़ का गूदा एक तोला, कुचला शुद्ध दो तोले इन सबको सेंजने के पत्तों के रस में खरल करके बराबर गोली बनावें प्रातः सार्यकाल एक एक गोली गी के दूध के साथ खायें।
- (२) धत्रं का फल तीन तोला, अजवायन, सोंठ, छोटी पीपल, कायफल, कब्बी तम्बाकू, बचनाक, अफीम, जायफल, सब एक-एक तोला, केशर खालिस छ: माशे सब को कूटकर दो सेर पानी में पकावें। जब आध सेर रह जावे तो मल छानकर एक सेर सरसों के तेल में (मलाकर फिर पकावें) जब सिर्फ तेल रह जावे तो छान कर बोतल में रखकर एक तोला मुश्क काफुर मिलावें, दिन में दो बार मालिश करें।
- (३) शिंगरफ रूमी एक तोला, भंग की छुटधी में रखकर ऊपर से धागा बांधकर कदाई में अलसी के तेल में पकार्वे। जब भंग जलकर राख हो जावे तब निकालकर भंग को प्रथक् कर दें। इस प्रकार चालीस बार करें। फिर शिगरफ की डली को पीस कर रखलें। आधी रत्ती मलाई के साथ खिलावें।
- (४) Leucotropin "Silbe" intravenour invection दस (अधिक दर्दे की तकलीक में)
- (५) ईसबगोल एक तोला, खशखश के डोड़े एक तोला दोनों को पीसकर एक तोला रोतनगुल स्नालिस श्रीर कुछ पाना डालकर पकावें। दर्श वाले स्थान पर बांध दें (श्रनुभृत)

श्रांख के रोग:

. क्रलमी शोरा दो तोला, नमक शीशा दो तोले, पहिले शोरे को बारीक कर क्टोरे में बिद्धावें। उसके ऊपर नमक शीशा बारीक किया हुट्या बिद्धायें। इलकी आंच पर कटोरे को रख दें। जब नमक काला हो जावे तो उतार कर खरल करके शीशी में रख लें, सलाई से लगावें। आंख की धुन्ध, खुजली, रतौंध, पानी आना, सुर्खी दुखने आदि के लिये लाभ-दायक है।

- (२) भलावा भुना हुआ दो तोले, फिटकरी भुनी हुई एक तोला, खरल करके रखलें। आंख के जाले व फूले के लियं लगावें।
- (३) काल गधे की दाइ गुलाब के अर्क़ में विसकर फूले और जाले हटाने के लिए लगावें। (अलुभूत)
- (४) चर्कि के फूले के लिये—चाक के दूध के साथ जलाई हुई नीलेथोथे की अस्म झडद के साथ सलाई से लगावें।

- (५) झांख की उथोति बढ़ाने के लिये —सीसा, रांगा का बुरादा और पारा सम भाग एक खोखले बेल में बन्द करके खूब श्रन्छी प्रकार डाट लगाकर बन्द करदें, उसको खूब हिलाते रहें। चालीस दिन के पश्चात् इसको निकाल कर खूब खरल करके सोने या चांदी की सलाई से श्रांखों में लगावें।
 - (६) रतींध -पीपल गौमूत्र में धिसकर द्यांखों में लगावें।
 - (७) मोतिया बिन्द तम्बोकू श्रौर नील के बीज समभाग पीसकर लगावें।
- (८) खांख के पलक के खन्र का बाल—पुराना गुड़ खौर सिंदूर समभाग मिलायें। बाल उखाड़ कर तीन चार बार लगावे। (खनुभूत)
 - (९) नीम की कोंपल को गाय के घी में भूनकर मरहम बना कर लगावें।
- (२०) त्रांख दुखने और लाली के लिये—श्रकीम, फिटकरी, रसौत और गोंद का पलास्टर दुखती श्रांख की कनपुटी पर लगावें। खट्टे श्रनार का रस एक तोला, मिश्री तीन मारो मिलाकर दो-दो बूंद दोनों समय श्रांख में डार्ले। सरस के बीज एक तोला, मिश्री एक तोला पीसकर तीन मारो शहद मिलाकर चाटें। रसौत श्रीर छोटी हड़ थिस कर लगावें।
- (११) द्यांबों के रोहे--चाकस्को उवाल कर अन्दर का बीज निकाल कर बारीक पीसकर खांख में लगावें।

कान का दर्द :--

लहसन का रस ढाई तोले, श्रकीम दो रत्ती, दस तोले सरसों या तिल के तेल में पका-कर छानकर कान में डाले । गेंदे के फूल का रस कान में डाले श्रथवा गौमूत्र कान में डाले ।

में इ के छाले :---

तरबूजे के छिलके जलाकर लगावें।

दिल की धहकन के लिए :-

- (१) भरम मूंगा सेवती के गुलकन्द या मुख्या सेव के साथ।
- (र) Corvotone कोरवोटोन (एलोपेधिक पेटेन्ट दवा) दिल की धड़कन के लिये १५ या २० बूंद नींद लाने के लिय Theonimal श्रूनिमल (ऐलो पैधिक पेटेन्ट दवा) एक पिल (गोली) (अनुभूत)

पागलपन या उन्माद की श्रनुभूत दवाः--

धवल वरुआ जिसको श्वेत वरुआ तथा संपान्या भी कहते हैं, जो बड़ी वैदिक फार-मेसी से मिल सकती है उसका चूर्ण चार मारो, खालिस गुलाव के अर्थ एक छटांक में १२ घरडे भिगोकर सात काली मिचे के साथ पीसकर प्रातः व सायंकाल दांनों समय बिना छानै पिलावें। खटाई लाल मिचे, गुड़, तेल व गर्म खुरक चीजों का सख्त परहेज । घी, दूध, मखन मलाई अधिक से अधिक मात्रा में। (अनुभूत)

नीन्द का न व्याना (१), धवल विषया एक मारो बादाम के शीरेया दूध के साथ सोते समय।

- (२) Potassium Bromide (पोटाशियम त्रोमाईह्) qr. X to XX with water, पानी के साथ
- (३) पीपलामूल एक माशा पुराना गुड़ एक मारो में मिला कर सोते समय दूध या शीरा बादान के साथ।

बुद्धिवर्धक व उन्माद दूर करने के लिये—सरस्वती चूर्णः वच, ब्राह्मी, गिलोय, सोंठ, सत्तावर, संखपुष्पी, वायविंडंग, श्रपामार्ग की जड़ समभाग का कपड़हान किया हुआ चूर्ण दो तीन मारो शहद या घी के साथ।

कायाकत्य तथा पारा खादि रसायन का यौगिक रूप से प्रयोग कराने वाले खनुभवी इस समय दुर्लभ हैं। इसलिये क्रियात्मिकरूप से खनुपयोगी और खनावश्यक समम्क कर उनका यहाँ बक्केस नहीं किया गया।

यहां साधकों तथा पाठकों के हितार्थ केवल पारा बांधने की एक श्रानुभूत सरल और गोपनीय विधि लिखी जाती है।

पारा बांधना— पारा एक तोला. नीलाधोथा अर्थात् तृतिया एक तोला; नीला थोथा को पीस कर आधा कड़ाई में रख दें उसके ऊपर पारा रख कर बाकी आधा तृतिया रख दें । दो छटांक पानी उसमें डाल कर कड़ाई को तज आंच पर रख दें नीम की लकड़ी से उस को इस प्रकार घोटें जिस प्रकार हलवा को कड़छी से घोटते हैं। पानी जल जाने पर कड़ाई को तुरंत नीचे उतार लें और दूसरे शुद्ध पानी से घो डालें। तत्पश्चात् श्रंहुन्लयों से पारे को इक्टा करके गोलियां बनालें। चार पांच घएटे पश्चात् पारा धातु जैसा सख्त हो जावेगा। घीरों के गिलास और कटारों के अन्तर इस मुलायम पारे को लपेटन से पारे वे गिलास और कटोरों भे अन्तर इस मुलायम पारे को लपेटन से पारे वे गिलास और कटोरों को अन्तर इस मुलायम पारे को लपेटन से पारे वे गिलास और कटोरों को अन्तर इस मुलायम पारे को लपेटन से पारे वे गिलास और कटोरों को अन्तर इस मुलायम पारे को लपेटन से पारे वे गिलास और कटोरों को अन्तर इस मुलायम पारे को लपेटन से पारे वे गिलास और कटोरों को अन्तर हो जी की स्वाप्त स्वाप

(यह प्रकरण हमने श्रावश्यकतानुसार काम निकालने खाँर जानकारी के उद्देश्य से विया है। साथकों की केवल खाँपिध खादि शारीरिक थातों में ही खप्पिक प्रवृत्ति न होनी चाहिये)

इति पारंजर-योग-प्रदीपे द्वितीयः साधनपादः समाप्तः

विभृतिपाद

पहले पाद में योग का स्त्ररूप उत्तमाधिकारी के लिये, दूसरे में उसके साधन मध्यमाधिकारी के लिये वर्णन करके अब जीसरे में उसका फल विभूतियाँ अश्रद्धालु को श्रद्धापूर्वक उसमें श्रष्टत्त करने के लिये दिखाते हैं। साधनपाद में योग कं पाँच बहिर इस्साधन यम, नियम, आसन, श्राणायाम, श्रत्याहार बनलाये थे। इस पाद में उसके अन्तर इस्माधन, समाधि का निरूपण करते हैं। इन तीनों को मिलाकर 'संयम' कहा जाता है। इनका विनियोग इस पाद में बताई हुई विभूतियों के साथ है, इसी कारण इसको इस पाद में वर्णन किया है।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥१॥

शब्दार्थ—देश = देशविशेष में । बन्धः = बांधना । चित्तस्य = चित्त का (धृत्तिमात्र से) धारणा = धारणा कहलाता है ।

अन्वयार्थ - चित्त का वृत्तिमात्र से किसी स्थानविशेष में बांधना 'धारणा' कहलाता है।

व्याख्या — चित्त बाहर के विषयों को इन्द्रियों द्वारा वृत्तिमात्र से प्रह्ण करता है। व्यानावस्था में जब प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों अन्तर्मुख होजाती हैं तब भी वह अपने ध्येय विषय को वृत्तिमात्र से ही प्रह्ण करता है। वह वृत्ति ध्येय के विषय के तदाकार होकर स्थित रूप से असके स्वरूप को प्रकाश करने स्थात है। अर्थात् स्थिर रूप से उसके स्वरूप को प्रकाश करने लगती है।

देश: — जिस स्थान पर वृत्ति को ठहराया जावे वह नाभि, हवय कमल, नासिका अग्रभाग, भूकुटी, ब्रह्मरन्ध्र आदि आध्यात्मिक देश रूप विषय हो अथवा चन्द्र ध्रव आदि कोई बाह्म देश रूप विषय हो, इसी को ध्यय कहन हैं। अर्थान् जिसमें ध्यान लगाया जावे।

बन्ध: — अन्य विषयों से हटाकर चित्त को एक ही ध्येय विषय पर पृत्तिमात्र से ठःशाना।

इस प्रकार खासन, प्रायायाम, प्रत्याहार खादि द्वारा जब चित्त क्षिर हो जावे तब उसको खन्य विचयों से हटाते हुए एक भ्येय विचय में वृत्तिमात्र से बांधना अर्थात् ठहराना धारणा कहलाता है।

तत्र प्रत्यवैकतानता ध्यानम् ॥२॥

द्याच्यार्थ—तत्र = उसमें । प्रस्थय = वृत्ति का । एकतानता = एकसा बना रहना । इयानम = भ्यान है ।

अन्वयार्थ-- इसमें वृत्ति का एकसा (घटोऽयं घटोऽयम् आदि) बना रहना व्यान है। ३६५ व्याख्या—तत्र = उस प्रदेश श्रर्थात् ध्येय विषय में जिसमें चित्त को वृत्तिमात्र से ठहराया है।

प्रत्यय = ध्येय की श्रालोचना करने वाली वृत्ति श्रर्थात् वह वृत्ति जो धारणा में ध्येय के तदाकार होकर उसके खरूप से भासती है।

एकतानता = एकसा बना रहना ऋर्थात् उस ध्येय ऋालम्बन वाली वृत्ति का समान प्रवाह से लगातार उदय हात रहना और किसी ऋन्य वृत्ति का बीच में न ऋाना।

धारणा में चित्त जिस वृत्तिमात्र से ध्येय में लगता है जब वह वृत्ति इस प्रकार समान प्रवाह में लगातार उदय होती रहे कि दूसरी कोई श्रीर वृत्ति बीच में न आये तो उसको ध्यान कहन हैं।

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशूर्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

इाव्हार्थ—तदेव = वही ध्यान । अर्थमात्र-निर्भासम् = अर्थमात्र से भासने वाला । स्वरूप-ग्रन्थम-इव = स्वरूप से शुन्य-जैसा । समाधिः ⇒ समाधि कहलाता है ।

अन्वयार्थ—वह ध्यान ही समाधि कहलाता है, जब उसमें केवल ध्येय अर्थमात्र से भासता है और उसका (ध्यान का) खरूप शन्य-जैसा हो जाता है।

व्याख्या—पूर्वोक्त ध्येय विषयक ध्यान ही अध्यास के बल से जब अपने ध्यानाकार रूप से रहित जैसा होकर केवल ध्येय स्वरूप-मात्र से अवश्यित होकर प्रकाशित होने लगे तब वह समाधि कहलाता है। ध्यानावस्था में जो ध्येय आलम्बन वाली वृत्ति, समान प्रवाह से उदय होती रहती है, वह ध्याल, ध्यान और ध्येय तीनों से मिश्रित रहती है अर्थान् वह तीनों में तदाकार होती हुई ध्येय के स्वरूप से भासनेवाली होती है। इसी कारण उसमें ध्यान और ध्यान दोनों बने रहते हैं। इन दोनों के बने रहने से ध्येयाकार वृत्ति अपने ध्येय विषय को सम्पूर्णता से नहीं प्रकाशित करती। जितना ध्यान बढ़ता जाता है उतनी ही उस वृत्ति में ध्येय स्वरूप कारता बढ़ती जाती हैं जैस ध्यान तथा ध्यान उसके प्रकाशन करने में अपने स्वरूप से शृत्य औसे होते जाते हैं। जब ध्यान इतना प्रवत्त हो जावे कि ध्यान और ध्यान अपने स्वरूप से सर्वथा शृत्य औसे होते जाते हैं। जब ध्यान इतना प्रवत्त हो जावे कि ध्यान और ध्यान अपने स्वरूप से सर्वथा शृत्य औसे होकर ध्यान इतना प्रवत्त से भासने लगें और ध्येय का स्वरूप ध्यान और ध्यान से अभिन्न होकर ध्यान स्वरूप पत्ति में सम्पूर्णता से भासने लगे तो ध्यान की इस अवस्था को समाधि कहते हैं।

'श्रथेमात्र निर्भासं' में 'मात्र' पद से यह बात बतलाई है कि ध्यान में ध्येय का भान होता है, ध्येयमात्र का नहीं। किन्तु समाधि में ध्यान ध्येयमात्र से भासता है और इस शङ्का के मिटाने के लिये कि ध्यान के श्राधीन ही ध्येय का भान होता है, समाधि में यदि ध्यान स्वरूप से राज्य हो जाता है तो ध्येय का भान किस प्रकार हो सकता है, (खरूपराज्यम् इत्र) '६व' पद दिया है अर्थात् समाधि की श्रवस्था में ध्यान का सर्वथा अभाव नहीं होता किन्तु ध्येय से श्रमित्र रूप होकर भासने के कारण स्वरूप से श्रम्य-जैसा हो जाता है, न कि वास्तव में स्वरूपश्च्य हो जाता है।

श्री० भोज महाराज समाधि का ऋर्थ इस प्रकार करते हैं:--

''सम्यगाधीयत एक।भ्री क्रियते विज्ञेपान्परिहत्य मनो यत्र स समाधिः''

ऋथे:- ''जिसमें मन विद्तेषों को ट्टाकर यथाथेता से धारण किया जाता है ऋर्थात् एकाम किया जाता है वह समाधि हैं"।

विशेष चक्तड्य ।। सूत्र १।। योग के अन्तिम तीन श्रंगों : धारणा, ध्यान और समाधि में समाधि श्रङ्गी है और धारणा, ध्यान उसके श्रङ्ग हैं। जब किसी विषय में चित्त को ठहराया जाता है तब चित्त की वह विषयाकार ग्रृति त्रिपुटी सिहत होती है। तीन आकारों के समाहार अर्थात् इकट्ठे होने का नाम त्रिपुटी है। वह त्रिपुटी ध्यात्, ध्यान और च्येयरूप है। ध्यात् ध्यान करनेवाला चित्त है। चित्त की वह ग्रुति जिसके द्वारा विषय का ध्यान होता है, ध्यान है। श्रौर ध्यान का विषय ध्येय है। किसी विषय में चित्तको ठहराते समय उस विषयाकार ग्रृति में त्रिपुटी का इस प्रकार श्रालग-श्रलग भान होता है कि में ध्यान कर रहा हूँ। यह ध्यान है, इस विषय का ध्यान हो रहा है।

धारणा: जबतक त्रिपुटी से भान होनेवाली इस विषयाकार वृत्ति का समान प्रवाह से बहना चारम्भ न हो किन्तु व्यवधान-सहित विच्छित्र हो व्रर्थात् इस वृत्ति के धीच-बीच च्यन्य वृत्तियें भी खाती रहें तबतक वह धारणा कहलावेगी।

ध्यान : जब यह त्रिपुटी से भान होनेवाली विषयाकार वृत्ति व्यवधान-रहित हो जावे अर्थात् अन्य विजातीय वृत्तियें बीच-बीच में न आवें, किन्तु सहश वृत्तियों का प्रवाह बना रहे तब तक वह ध्यान कहलाता है।

समाधि: जब इस ध्यान अर्थात् व्यवधान-रहित त्रिपुटी से भासने वाली विषयाकार वृत्ति में त्रिपुटी का भान जाता रहे और ध्यातृ तथा ध्यान भी विषयाकार होकर अपने सक्तप से शून्य-जैसे भासने लगे अर्थात् जब यह भान न रहे कि मैं ध्यान कर रहा हूँ, यह ध्यान की अवस्था है, किन्तु केवल ध्येय विषय के स्त्ररूप का ही भान होता रहे तब यह समाधि कहलाती है।

पहिलें पार में इसी त्रिपुटी को सवितके श्रीर निर्वितके समापत्त में ध्येयविषयक

शब्द, ऋर्थ और ज्ञान से बतलाया गया है।

शब्दार्थज्ञानविकन्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः । १ । ४२ अर्थ-काब्द, अर्थ और ज्ञान के विकल्पां से संयुक्त सवितर्क समापत्ति कहलाती है।

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशूर्यवार्थनिर्भासा निर्वितर्का । १।४२

अर्थ-स्मृति के परिशुद्ध होने पर खरूप से शुस्य-जैसे केवल श्रर्थमात्र (श्येयमात्र) से भासनेवाली निर्वितर्क समापत्ति कहलाती है।

ः . इसलिये सिवतके समापत्ति को भ्यान की ही एक अवस्था और निर्वितके समापत्ति को समाधि की श्रवस्था समऋनी चाहिये ।

यह सम्प्रज्ञात कोग अथवा सवीज समाधि है, क्योंकि यद्विप इसमें त्रिपुटी का - २६७ श्रभाव हो जाता है तथापि संसार का बीज विषय के ध्येयाकार दृष्टि रूप से विद्यमान रहता है। जब इस ध्येयाकार वृत्ति का भी श्रभाव हो जावे तब सब वृत्तियों के निरोध होजाने पर श्रसम्प्रज्ञात योग श्रथवा निर्वीज समाधि हाती है।

संगति-पूर्वोक्त धारणादि तीनों योगांगों का एक शब्द से व्यवहार करने के

लिये अपने शास में पारिभाषिकी संज्ञा करने को यह सूत्र है:--

त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥

दाब्दार्थ — त्रयम् = तीनों (धारणा, भ्यान, समाधि) का । एकत्र = एक विषय में होना । स्यमः = संयम कहलाता है ।

अम्बयार्थ – तीनों (धारणा, ध्यान श्रीर समाधि) का एक विषय में होना संयम

कहलाता है।

व्याख्या—समाधि श्रङ्गी है और धारणा, ध्यान उसके श्रङ्ग है। धारणा और ध्यान समाधि की ही प्रथम श्रवस्था है। विभूति श्रादि में इन तीनों की ही श्रावश्यकता होती है। इसीलिये योग-शास्त्र की परिभाषा में इन तीनों के समुदाय को संयम कहा जाता है। जब धारणा ध्यान व समाधि एक ही विषय में करनी हों तब उसकी संयम संज्ञा होती है। अर्थान उसका संयम शब्द से कहते हैं।

संगति-संयम के अभ्यास का फल बतलाते हैं :-

तज्जयात्मद्वालोकः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ-तज्जयात् = उस संयम के सिद्ध होने से। प्रज्ञा = समाधि प्रज्ञा का। चालोकः = प्रकाश होता है।

अन्ययार्थ-उस (संयम) के जय से समाधि प्रज्ञा का प्रकाश होता है।

ब्याख्या—तःजय = संयमजय = घ्रभ्यास के बल से संयम का दृढ़ = परिपक्त हो जाना संयम-जय है।

प्रज्ञालोक = अन्य विजातीय प्रत्ययों के अभाव-पूर्वक केवल भ्येय-विषयक शुद्ध,

सारिवक प्रवाह रूप से बुद्धि का श्यिर होना प्रज्ञालोक है।

जब संयम अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि को एक विषय पर ऊपर बतलाये हुए कार से लगाने का अध्यास परिपक्व हो जावे तब समाधि-प्रक्वा उत्पन्न होती है जिससे ध्येय का ज्ञान यथार्थ रूप से होने लगता है और नाना प्रकार की विभूतियाँ सिद्ध होने लगती हैं। अन्त में विवेकस्थाति का साझात् होने लगता है।

संगति-संयम का उपयोग :--

तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥

हाम्बार्थ—तस्य = उस संयम का। भूमिषु = भूमियों में । विनियोगः = विनियोग करना पाहिये।

अन्वयार्थ-इस संयम का भूमियों में विनियोग करना चाहिये।

ब्याक्या—भूमि से श्रमिशाय चित्तभूमि से है श्रीर तिनियोग के अर्थ लगाने के हैं अर्थात् उस संयम का स्थूल-सूक्ष्म श्राल-बत भेद से रहती हुई चित्त की वृत्तियों में विनियोग करना चाहिये। चित्त की स्थूल वृत्ति वाली भूमि जो नीची भूमि है प्रथम उसके विजय करना चाहिये। कित विना अपने स्थूल वृत्ति वाली भूमि में संयम करना चाहिये। नीची भूमियों के जीत बिना ऊपर की भूमियों में संयम करने वाला विवेक ज्ञान रूपी फल को नहीं प्राप्त होता। जैसे घतुर्घारी लोग पहिले स्थूल लक्ष्य का वैधन करके फिर सुक्ष्म का वैधन करते हैं, वैसे ही योगी को चाहिय कि क्रम से पिर्टले वितर्क श्रमुगत, विचार श्रमुगत, बानन्द अनुगत फर श्रमियों को चाहिय कि क्रम से पिर्टले वितर्क श्रमुगत, विचार श्रमुगत, बानन्द अनुगत फर श्रमियों को जीतकर उंची भूमियों में संयम करे, इस प्रकार विवेकक्रान-रूपी फल प्राप्त होता है। यदि ईश्वर के श्रमुगह से योगी का चित्त पूर्व ही उत्तर भूमियों में लगने योग्य होगया हो तो पूर्व भूमियों में लगाने की श्रावश्यकता नहीं। 'चित्त किस योग्यता का है' इसका ज्ञान योगी को स्वयं योग-द्वारा हो जाता है। जैसा कि कहा है :---

योगेन योगो ज्ञातच्यो योगो योगात्प्रवर्तेते । योऽनमत्त्रस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥

अर्थ--पिहले-योग से बत्तर-योग जानने में खाता है खौर पिहले-योग से बत्तरयोग प्रवृत्त होता है। इसलिये प्रमाद से रहित जो यत्नशील खभ्यासी है वह पहिले-योग से बत्तर-योग में चिर-पर्यन्त रमण करता है।

विशेष वक्तव्य-।। सूत्र ६ ॥ वास्तव में धारणा, ध्यान और समाधि तीनों एक ही संयमक्तप किया के भाग हैं अर्थात किसी विषय में चित्त का ठहराने का नाम 'धारणा' है। जब देर तक लगातार चित्त इसमें ठहरा रहे तब वही 'ध्यान' कहलावेगा। श्रीर जब बड़ी ध्यान इतना सक्ष्म और तर्स्लानता के वाथ हो जावे कि ध्यान करने वाले को ध्येय विषय के श्रांतरिक्त और कुछ भी सुध्वध न रहे तब वही भ्यान की श्रवस्था 'समाधि' कहलावेगी। यह संयम की क्रिया चित्त के वशीकरण श्रीर श्रासमन्द्रशति अथोत सारी आध्यात्म के भूमियों के विजय पर्चन्त विवेकख्याति द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् स्वरूपावस्थिति के लाभाथे हैं। किन्तु इसके दुरुपयोग द्वारा अधोगात तथा आत्म अवनति की सम्भावना भी हो सकती है क्योंक सारी बातें प्रयोग पर ही निर्भर होती हैं। एक **उत्तम से उत्तम बन्द भी हानिकारक हो सकती है कि यदि उसका प्रयोग उचित रूप से न** किया जावे। साधारण मनुष्यों द्वारा बहुत सी श्राक्षय्यंजनक बार्टे जिनके सममने में बुद्धि चकरा जाती है इसी संयम की सहायता से की जाती हैं यद्यपि करने वाले और देखने वाले दोनों इस बात से अनिश्व होते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने सुक्ष्म रूप में अधिक शक्ति की ख्यादक हाती है। जितनी सूक्ष्मता बढ़ती जाती है उतनी ही उसकी शक्ति में भी शृद्धि होती जाती है। उदाहरणार्थ औषधियों के स्थूल रूप की अपेना उनके सत्तों में कई गुना बल बढ जाता है। धातुएं धांप्र द्वारा भस्म होकर अपने सक्ष्म परमाणु रूप में कितनी

प्रभावशाली बन जाती हैं। स्थूल भूतों के सूक्ष्म परमाणुश्रों में जिस श्रद्धुत शक्ति का प्राचीन भारतीय दर्शनकारों ने वर्णन किया है उसका झान श्रव पाश्रात्य देश वालों को भी होता जा रहा है। इनके सद् उपयोग से संसार की श्रिषक से श्रिषक उनति और प्राण्मिमत्र का कल्याय हो सकता है किन्तु इनके दुरुपयोग का रामाँचक उदाहरण भी हमारे समज्ञ है। केवल गंधक, पारा, फौलाद तथा रेडियम (Radium) श्रादि के सूक्ष्म परमाणुश्रों से बने हुये परमाणुबम द्वारा सारे अन्तर्राष्ट्रीय नियमों को उद्ध वन करते हुयं हेरोशेमा और नागासाकी नामक जापान के नगरों पर श्रमीरीका ने जो उत्पात उत्पन्न किया है और युद्ध से सबंधा श्रमंबियत लाखों की, पुरुष, बालक, बृद्ध निरपराधी नागिरकों तथा करोड़ों प्राण्धारियों का जो प्राण्हरण किया है और जो श्रकथनीय पीड़ा पहुँचाई है उसका उदाहरण सारे भूमएडल के इतिहास में दूढे न मिल सकेगा। इन अमानुष राज्ञसीय कार्यों द्वारा देशभक्त खतन्त्रताश्रमी मृख्यु से सदेश निर्भय वीर जापानियों को श्रपनी श्रद्धितीय निर्भयता वीरता श्रीर युद्ध कला कौशल को दिखलाये बिना श्रम्य जो त्रपन को सफल और इतहास में हो समफले किन्तु भविष्य में भूमएडल के निष्पन्न और तटस्थ इतिहासलेखकों के लिये यह चित्र श्रमरीका के सबन्ध में एक लोखन का विषय बना रहेगा।

संयम को भी इसी प्रकार एक परमाणुबम समक्त लेना चाहिये जिसमें सबे प्रकार की अद्भुत शक्तियाँ हैं। कई स्थानों में इस बात को बतला आये हैं कि स्थुल भूतों की भपेता सक्ष्म भूत सक्ष्मतर हैं। उनकी अपेता तन्मात्रायें और इन्द्रियें हैं और उनकी अपेता श्रष्टकार सक्ष्मतर है और श्रष्टकार की श्रपेत्ता चित्त । चित्त-जो गुणों का प्रथम विषम परिणाम है. संसार के सारे पदार्थों की प्रकृति होने के कारण सब के सदाकार हो सकता है तथा सब से सक्ष्म होने के कारण सब में प्रवेश होकर उनमें यथोचित्त परिशाम कर सकता है। संयम में चित्त का ही सारा खेल होता है। इस लिये विभृतिपाद में बतलाई हुई सारी सिद्धियाँ तथा श्रन्य सब प्रकार के श्रद्भुत चमत्कार संयम द्वारा किये जा सकते हैं। हिपनोटिक्म, मैसमरिक्म आदि में एक प्रकार से संयम ही का प्रयोग होता है। कई साधकों के संबन्ध में कहा जाता है, कि वे बिना टिकट रेल में सफर करते हैं। मांगन पर बहत से टिकट दिखा देते हैं और काई कोई ट्रोन को भी रोक देता है तथा कई, अधीरी मनध्यों का मांस खाते हुये दृष्टिगोचर होने पर मांस को कलाकन्द के रूप में दिखला देते हैं। इन में भी दृष्टिबन्ध (sightism) सम्बधी तथा इन्जिन की गति में एक प्रकार से संयम ही काम करता है यद्यपि वे इस बात से सवेद्या अनिभन्न होते हैं। संयम में सब से पहिला और सब से कठिन काम धारणा है। साधारण परिमित-ज्ञान और अल्प-बद्धि बाले मनुष्यों को बेलिर-पैर और बेतुके मन्त्रों-यथा " कांगरू देश कमज़ा देवी जहां वसे अजयपाल जोगी। अजयपाल जोगी ने कुत्ते पाले चार, हरा पीला, काला लाल। इन कुत्तों का इसा न मरे। जोगी वौजयपाल की आन "। तथा अपरिचित भवानक शब्द वथा:--" डी. क्ली ". इत्यादि अधिक प्रभावित कर देते हैं। इस अन्धविश्वास द्वारा वे उस विशेष विषय संबन्धी धारणा में योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार असभ्य जंगली जातियों के कई परिवारों में विशेष मन्त्रों तारा विशेष धारणार्थे परंपरा से गुप्त चली आती हैं, और वे इस कार्य्य को उस मन्त्र का ही परिगाम सममते चले आते हैं। उदाहरणार्थ एक बाजीगर तमाशा करने वाला कहता है " आकाश में राज्ञसों और देवताओं में युद्ध हो रहा है। मैं देवताओं की सहायता के लिये जाता हूँ। इस भीच में आप मेरे परिवार और सामान की रज्ञा करने की कृपा करें " वह एक रस्सी ऊपर आकाश में फेंक कर इसके द्वारा ऊपर चढ़ता हुआ दृष्टि से ओमल हो जाता है। थोड़ी देर में क्रम से उसके हाथ, पैर, धड़ और सिर ऊपर से पृथिवी पर गिरते हैं। उसकी की उनको लेकर सती हो जाती है। उसके कुछ ही समय पश्चात् वह बाजीगर नीचे उतरता है। राज्ञसों पर विजय के शुभ समाचार सुना कर स्त्री को तलाश करता है और दर्शकों में से मुख्य व्यक्ति की कुर्सी के नीचे से निकाल लाता है। इस सारे खेल की जब फोटू ली गई तब वह बाजीगर आसन लगाये हुये अपने परंपरा से प्राप्त किये हुये एक विशेष मन्त्र का जाप करता हुआ पाया गया जिसमें इस सारे दृष्टवन्ध सम्बन्ध विषय के संयम की धारणा थी।

एक समय एक जगह मुक्ते योगसम्बन्धी सात श्वाठ व्याख्यान (लैक्चर) देने थे । एक सन्यासी महात्मा उनसे प्रभावित होकर यह समक्तने लगे कि मैंने कभी पिशाच सिद्धि की होगी अथवा मुक्ते पिशाच-सिद्धि की किसी विशेष किया का ज्ञान है। और बड़ी श्रद्धा और नम्रतापूर्वक उसकी दीचा के लिये एकान्त में मुक्तसे प्रार्थना करने लगे। बार-बार मना करने पर भी मेरी इस प्रकार की बातों से उपेचाधृत्ति का उन्हें विश्वास नहीं होता था। उन्हीं के हिताथे उस दिन यह संयम की विवेचना की गई थी।

पिशाच-सिद्धि और भूत-सिद्धि के श्रीभलाषी कई प्रकार की हिंसा करते हैं। मर-घटादि भयभीत तामसी स्थानों में तामसी भावना वाले बेतुके मन्त्रों से भूत पिशाच की भावना में घारणा करते हैं। यह सारी बातें श्रपने तामसी प्रभाव से चित्त को शीव्रतम भूत पिशाचाकार में पिरिण्त करने के उदेश्य से की जाती है। इस तामसी भूत पिशाचादि के श्राकार में टढ़ स्थिति होने के पश्चात् इस प्रकार के संयम की धारणा द्वारा कभी-कभी बनसे भूत पिशाच जैस कार्य भी प्रकट होने लगते हैं।

वपर्युक्त सारी बार्तों को परमाणु बम के सहा संयम का दुरुपयोग समम्मना चाहिए। इस प्रकार की बार्तों को योग, सिद्धि अथवा चमस्कार और उनके करने वार्तों को योगी, सिद्ध अथेवा चमस्कार और उनके करने वार्तों को योगी, सिद्ध और चमस्कारी पुरुष समम्मना भी अत्यन्त भूत है। प्रत्युत इन प्रयोगों को युणा और दिरस्कार की दृष्टि से और उनके प्रयोगकत्ताओं के उपेत्ता वृत्ति से देखना चाहिए, क्योंकि रेल में बिना टिकट जाना एक प्रकार का स्तय (चारी) है और मांसभन्तग्र स्वयं हिसास्पी पाप है। चोरी की पुष्टि करने वाली और हिंसा को छिपाने वाली कोई भी किया योग, सिद्ध अथवा चमस्कारी पुष्टि करने वाली और न उनका करने वाला योगी, सिद्ध अथवा चमस्कारी पुष्टि में सकती और न उनका करने वाला योगी, सिद्ध अथवा चमस्कारी पुष्टि में सकती और न उनका करने वाला योगी, सिद्ध अथवा चमस्कारी पुष्टि में स्वयं पुष्टि में

परिणित करना मनुष्यत्व से नीचे गिर कर श्रधोगित को प्राप्त होना है। श्रीमद्भगवद्गीता ने इस विषय को कितन सुन्दर शब्दों में वर्णन किया गया है —

यजन्ते सात्वका देवान्, यज्ञस्त्रांसि राजसाः । प्रेतान्ध्रुतगणांश्रान्ये, यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥ अशास्त्रविद्वितं घारं, तप्यत्ते ये तपो जनाः । दम्भाहक्कारसंयुक्ताः, कामरागवज्ञान्विताः ॥ ५ ॥ कर्षयन्तः शरीरस्यं भूतग्राम-चेतसः । मां चैवान्तः शरीरस्यं सान्विद्धयासरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

गीता अ० १७।

अर्थ—सालिक पुरुष देवताओं को पूजते हैं, राजस पुरुष यह श्रौर राइसों को और तामस पुरुष भूत और देतों को पूजते हैं ॥ ४ ॥ जो लोग दम्भ और श्रहक्कार से युक्त होकर ामना श्रासिक और बल के श्रीममान पर शास्त्रविरुद्ध घार तप नपत हैं ॥ ५ ॥ तथा जो ूसे शरीर रूप से क्षित भूत समुदाय को अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन श्रादि के रूपों में परिणित हुए पांचों पृथ्वा, जल श्रादि स्थूल भूतों का और श्रन्तःकरण में क्षित मुक्त अन्तरात्म। को भी व्यथे कष्ट देत हैं, उन श्रह्मानिओं को श्रामुरी स्वभाव वाला जान ॥ ६ ॥

चान्ति देवव्रता देवान्, पितृत्यान्ति पितृव्रताः। भूतानि चान्ति भूतेष्या, चान्ति मद्याभिनोऽपि माम्॥

(गीता अ ९ इक्षो० २५)

अर्थ—देवताओं को पूजने वाले देवताओं को प्राप्त होत हैं, अर्थात् उनका चित्त देवताओं के खरूप को धारण करता है। पित्रों (तथा यन शन्तस) को पूजने वाले पित्रों (तथा यन शन्तसों) को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनका चित्त पित्र यन राम्नसों के तदाकार हो जाता है। भूतों को पूजने वाले भूतों (और प्रेतों) को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनका चित्त भूतों अर्थों को प्राप्त होते हैं, अर्थात् उनका चित्त भूतों अर्थों जैसे तामसी खभाव में परिणित हो जाता है। और शुद्ध परमद्या परमास्मा के ख्वासक उसकी प्राप्त होते हैं अर्थात् वे शुद्ध परमद्या परमास्मा के स्वरूप में अवस्थित होते हैं वि

नोट—यहाँ सांख्य की निष्ठा वाले अहङ्कारादेश "माम और मव्" शुद्ध परम्बर परमाला के बोभक हैं (विशेष -वहदर्शन समन्वय के शीसरे और चौथे प्रकरण में हेलें ।)

संगति—शङ्का : योग के चाठ चङ्कों में से कवल पहिले पाँच चङ्कों का साधनपाद में बर्णन किया गया । धारणा, ध्यान और समाध का क्यों नहीं किया 🎙

उत्तर : पहिले पाँच चङ्ग समाधि के सालात् साधन नहीं बहिरङ्ग साधन हैं। घारखा ज्यान, समाधि अन्तरङ्ग साधन हैं। इसलिय इनका विश्रृतिपाद में लक्ष्य किया। इसी को अगले सुत्र में बतलाते हैं:—

त्रयमन्तरक्षं पूर्वभयः ॥ ७ ॥

हाब्दार्थ — त्रयम-श्रन्तरङ्गम् = ये तीनों श्रन्तरङ्ग हैं। पूर्वेभ्यः = पृत्वलों से। अन्वयार्थ- पहलों की अपेला से तीनों (धारणा,ध्यान और समाधि) अन्तरङ्ग हैं। व्याख्या—पहिले पाद में बताये हुए यम, नियम, श्रासन, प्राणायाम और प्रत्याहार

ह्याख्या—पहिले पाद में बताये हुए यम, नियम, श्रासन, प्राणायाम श्रीर प्रत्याहार की अपेला से ये तीनों धारणा, ध्यान और समाधि सम्प्रज्ञात-समाधि के अन्तरङ्ग हैं अर्थात् साधनीय सम्प्रज्ञात समाधि का जो विषय है वही धारणादि का विषय है, इसलिय समान विषय होने से ये धारणादि तीनों सम्प्रज्ञात-समाधि के अन्तरङ्ग हैं और यम-नियमादि पाँकों यद्यपि चित्त को निर्मेल बनाकर योग के उपयोगी बनात हैं तथापि समान विषय न होने से बहिरङ्ग हैं, इसलिए इन पाँचों को साधनपाद में और धारणादि तीनों को विभूतिपाद में वर्णन किया।

संगति — ये धारणादि तीनों भी निर्वीज-समाधि की अपेता से बहिरक हैं, यह अगले सूत्र में बतलाते हैं :—

तद्पि बहिरक्नं निर्वीतस्य ।। = ।।

शब्दार्थ-तत्-अपि = वह (धारणा, भ्यान, समाधि) भी । बहिरङ्गम् = बाहर का अङ्ग है । निर्धीजस्य = असम्प्रज्ञात-समाधि का।

अन्वयार्थ-वह धारणा, ध्यान, समाधि भी श्रसम्प्रज्ञात-समाधि का बाहर का अब है।

ब्याख्या — ये धारणा, ध्यान, समाधि सम्प्रज्ञात-समाधि के अर्थात् सवीज-समाधि के अन्तरङ्ग हैं, पर असम्प्रज्ञात (निर्वीज समाधि) के य भी बहिरङ्ग साधन हैं। अर्थात् जिस प्रकार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार परन्परा से उपकारक होत हुए भी समान विषय न होने से सम्प्रज्ञात-ममाधि के बहिरङ्ग साधन हैं, उसी प्रकार धारणा, ध्यान, समाधि परम्परा से उपकारक होते हुए भी समान विषय न होने से असम्प्रज्ञात-समाधि के बहिरङ्ग साधान हैं। उसका साखान् साधन पर-वैराग्य है। अर्थात् जो साधन साध्य के समान विषयवाला होता है अथवा जिस साधन के टढ़ होने के अनन्तर साध्य की सिद्ध अवश्य ही हो वह अन्तरङ्ग होता है। धारणा, ध्यानादि सालम्बन (किसी को आलम्बन = सहारा = ध्येय बना-कर) ध्येयरूप समान विषय वाले होते हैं और उनके टढ़ होने पर सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है, इसलिए वे सम्प्रज्ञान-समाधि के अन्तरङ्ग हैं। किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि निरालम्बन (विना आलम्बन = सहारा = ध्येय कं) निविषय होती है और धारणादि स्थम के टढ़ होने पर असम्प्रज्ञात योग अवश्य ही सिद्ध हो जावे, ऐसा भी कोई निश्चित नियम नहीं है। इस-लिए निर्भीज समाधि के प्रति धारणादि तीनों विहरङ्ग हैं। इसका अन्तरङ्ग पर-वैराग्य है जो निर्वीज समाधि के सट्छ निगलम्ब और निर्विषय है और जिसके टढ़ हाने पर असम्प्रज्ञात समाधि के सट्छ निगलम्ब और निर्विषय है और जिसके टढ़ हाने पर असम्प्रज्ञात समाधि के सट्छ निगलम्ब और निर्विषय है और जिसके टढ़ हाने पर असम्प्रज्ञात समाधि के सट्छ निगलम्ब और निर्विषय है और जिसके टढ़ हाने पर असम्प्रज्ञात समाधि के सट्छ निगलम्ब और निर्विषय है और जिसके टढ़ हाने पर असम्प्रज्ञात समाधि अवश्य ही सिद्ध होती है।

संगति-अब वह शङ्का होती है कि गुरा की वृत्ति चलायमान है अर्थात् वह दक

चुण भी बिना परिणाम नहीं रहती। चित्त त्रिगुणात्मक है, निर्बीज समाधि में जब चित्त निक्क हो जाता है तब उसका परिणाम कैसा होता है ? इसी शङ्का की निवृत्ति में खगले चार सूत्र हैं। परिणामों का वर्णन तेरहवें सूत्र में है। पर जबतक परिणामों को ठीक-ठीक न जॉच लिया जावे उसके समम्मने में कठिनाई आवेगी। इस कारण उसका संचेप से वर्णन करते हैं:—

परिखाम तीन प्रकार के हैं : धर्मपरिखाम, लन्नखपरिखाम, श्रवस्थापरिखाम। ये तीन परिखाम तीनों गुखों से उत्पन्न हुए सब द्रव्यों में पाय जाते हैं। जिसमें ये परिखाम होते हैं उसको धर्मी कहते हैं और वे परिखाम धर्म कहलाते हैं। निरपेत धर्मी केवल कारखरूप प्रकृति है। श्रव्य उसके सब विकार महत्तरत से लंकर पाँचों स्थूलभूत पर्यन्त सापेन्न धर्मी हैं। इन धर्मियों में जिस प्रकार ये तीनों परिखाम होते हैं उनको उदाहरण देकर समम्माते हैं :—

१ धर्मपरिणाम—जैसे मिट्टी के गोले बनाकर कुम्भकार नानाप्रकार के बर्चन बनाता है, यहाँ मिट्टी द्रव्य धर्मी है, उसमें नानाप्रकार के बर्चन के खाकार जो क्रम के बद्द- लने से हो गए हैं, धर्म हैं। मिट्टी धर्मी ज्यों की त्यों बनी रहती है उसमें कोई परिणाम नहीं होता। यह बर्चन के खाकार जा भित्र प्रकार के क्रम के बदलने से बने हैं, उसके धर्म हैं। इनमें से एक धर्म का दबना, दूसरे धर्म का प्रकट होना मिट्टी धर्मी का धर्म परिणाम कह- लाता है।

२ लक्कणपरिणाम— ऊपर बतलाए हुए धर्मपरिणाम में, बर्चन, मिट्टी का एक नया आकार है। यह आकार उसमें छिपा हुआ था, अब प्रकट होगया। यह बर्चन के आकार मिट्टी ही के धर्म हैं जो जिसमें छिपे रहत हैं। उस छिपे हुए धर्म (आकार) का प्रकट होना अर्थात् भविष्य से वर्तमान में आना लच्चए-परिणाम है। लच्चए-परिणाम कालभेद से हांता है। बर्चन का आकार प्रकट होने से पहिले धर्मी मिट्टी में छिपा हुआ था। जबतक प्रकट नहीं हुआ था तबतक वह अनागत (भविष्य) लच्चण वाला था, जब प्रकट हो गया तो वर्चन मान लच्चण वाला हो गया; और जब टूटकर मिट्टी में भिल गया तो भूत लच्चण वाला हो गया। बर्चन तीनों काल में मिट्टी में वर्चमान है। भूत, भविष्य में छिपे रूप से, वर्चभाग में प्रकट रूप से। इस कार कालभेद से धर्मी में तीन लच्चण-परिणाम होते हैं : अनागत (भविष्य) लच्चण-परिणाम, वर्चमान लच्चण-परिणाम, अर्तीत (भूत) लच्चण-परिणाम।

३ अवस्थापारिणाम अपर बतला धाये हैं कि बर्चन का प्रकट होना उसका बर्चमान लक्षण-परिणाम है। यह बर्चन ज्यों-ज्यों पुराना होता जाता है त्यों-त्यों जायां होता चला जाता है, यहाँ तक कि एक समय इतना जीखे हो जाता है कि हाथ लगान से टूटने लगता है। यह जीखे होने की अवस्था प्रतिच्च होती रहती है। इस कारण उसको अवस्था-परि-साम कहते हैं।

इन परिणामों में धर्म और लक्त्या-परिणाम वस्तु के उत्पत्ति समय में होता है और अवस्था-परिणाम उसके अन्त होने तक होता रहता है । अन्य कई दर्शनों में गुण और गुणी को धर्म और धर्मी कहा गया है, परन्तु योगदर्शन में धर्म, धर्मी शब्द कार्य कारण अर्थ में लाये गए हैं।

•युत्याननिरोधसंस्कारयोर्शभभवपादुर्भावौ निरोधक्तणविकान्ययो निरोध-परिणामः ॥ ६ ॥

राब्दार्थ — ज्युत्थान-निरोध-संस्कारयोः = ब्युत्थान के और निरोध के संस्कारों का। अभिभव-प्रादुर्भोवी = दबना और प्रकट होना। निरोधत्तरा-चित्त = यह जो निरोधकाल में होनेवाले चित्त का (दोनों संस्कारों में)। अन्वयः = अनुगत अर्थात् सम्बन्ध होना है। निरोध-परिस्मामः = वह निरोध परिस्माम कहा जाता है।

अन्वयार्थ-- ज्युत्थान के संस्कार का दबना और निरोध के संस्कार का प्रकट होना, यह जो निरोधकाल में होनेवाले चित्त का दोनों संस्कारों में अनुगत होना है वह निरोध परिणाम कहा जाता है।

व्याख्या—व्युत्थान दिस, मूद, विद्यित इन तीन पूर्वोक्त भूमियों को व्युत्थान कहते हैं । यह एकामता (सम्प्रज्ञात-समाधि) की अपेत्ता से व्युत्थान हैं । निरोध (असम्प्रज्ञात-समाधि) की श्रपेत्ता से एकामता (सम्प्रज्ञात-समाधि) भी व्युत्थानरूप ही है । इसलिये व्युत्थान पद का श्रथे यहाँ एकामता (सम्प्रज्ञात-समाधि) जानना चाहिये ।

निरोध : ज्याकरण की रीति से यदि निपूर्वक रुध् धातु के आगे करण में "धक्" । 'पक्य । 'प्रत्यय' म; ने तो निरोध शब्द का अर्थ पर वैराग्य होता है, तथा पर वैराग्य का संस्कार निरोध शब्द का अर्थ होता है, और यदि भाव में प्रत्यय माने तो निरोध शब्द का अर्थ रुकता है । इसिलये सूत्र में 'पहिले निरोध शब्द का अर्थ पर वैराग्य है', 'दूसरे निरोध शब्द का अर्थ किसी वृत्ति का उदय न होना अर्थात् सब वृत्तियों का रुक जाना' और 'तीसरे निरोध पद का अर्थ पर वैराग्य का संस्कार' जानना चाहिये।

अभिभव = छिपना = कार्य करने की सामध्ये से रहित निर्वल रूप से रहना। वर्तमानावस्था से भूतावस्था में जाना।

प्रादुर्भाव: अनागतावस्था से वर्तमान काल में प्रकटरूप से आना।

निरोधच्याचित्तान्वयः निरोधकाल में होनेवाले धर्मी चित्त का व्यपने धर्म व्युखान (एकामता वर्धात् सम्प्रज्ञात समाधि) और निरोध (पर-वैराग्य) के संश्कारों में अनुगत होना।

योग की सिद्धियों की न्याख्या करने की इच्छा से सूत्रकार संयम का विषय शोधने के लिये कम से तीन परिणामों को कहते हैं। इस सूत्र में निरोध-परिणाम का वर्णन है।

निरोध-परिणाम = चित्त त्रिगुत्गास्मक होने से परिणामी है। उसमें प्रतिवृत्य वृत्तिरूप परिणाम हो रहा है। निर्वीज समाधि में न्युत्थान की सारी वृत्तियाँ हक जाती है और पकाप्रता-वृत्ति भी नहीं रहती। तब उस निरोधवृत्य वाले चित्त में कैसा परिग्राम उस समय होता है ? इसको इस प्रकार समम्बाते हैं:—

श्चित्त धर्मी है, व्युत्थान तथा एकामता के संस्कार इसके धर्म हैं। ये संस्कार वृत्तिकृप नहीं हैं। जैसा कि व्यास भाष्यकार ने कहा है:—

ब्युत्थानसंस्काराश्चित्तधर्मा न ते प्रस्ययात्मकाः । इति प्रस्ययनिरोधे न निरुद्धाः ।

अर्थ-व्युत्थान के संस्कार चित्त के धर्म हैं, प्रत्ययात्मक अर्थात् वृत्तिरूप नहीं हैं।

इसलिये वृत्तिया के निरोध होने पर भी इनका निरोध नहीं हो सकता।

इसिलयं वृत्तियों के दकने पर यह संस्कार नहीं दकते, धर्मी-वित्त में बने रहते हैं। इसी प्रकार निरोध (पर-नैराग्य) के संस्कार भी वित्त के धमे हैं। इन दोनों संस्कार-रूपी धर्मों में से एक धमे का दबना, दूसरे का प्रकट होना वित्तरूपी धर्मी का धर्मे-परिणाम है। निरोधच्चण ((निर्वीज-समाधिकाल वाले) वित्त के अन्दर उस समय यह परिणाम होता है कि ब्युत्थान (एकानदा) के संस्कार आभभूत होत हैं। दबत हैं। और निरोध (पर-नैराग्य) के संस्कार प्रादुर्भृत होते हैं। प्रकट होने हैं।।

उजुत्थान के संस्कार जो पिहले वर्तमानरूप में थे अब भूतरूप में हो गए। यह उनका भूत लक्षण-परिणाम है और निरोध के संस्कार जो पिहले अनागतरूप में थे, अब वर्तमानरूप में हो गए। यह उनका वर्तमान लक्षण-परिणाम है। निरोध समय का धर्मी चित्त अपने धर्म इन दोनों उजुत्थान (एकामता) और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कारों के बदलने में (आविभोव-प्रादुर्भाव होने में) अनुगत रहता है। इस प्रकार एक चित्त के एकामता और पर-वैराग्य के संस्कारों का बदलना निरोध-परिणाम है। उस समय संस्कार-शेष बाला चित्त होता है, जैसा कि (१।१८) में बवजाया गया है कि असम्प्रझात समाधि में चित्त के संस्कार रोष रहत हैं।

ग्रंका—शृत्तयों से संस्कार उत्पन्न होते हैं। जैसे उग्रुख्यान की शृत्त्यों से उग्रुख्यान के संस्कार, समाधि (आरम्भ) की शृत्त्यों से समाधि (आरम्भ) के संस्कार, एकामता की शृत्त्यों से एकामता के स्वित्यों से एकामता के संस्कार; और सब शृत्त्यों के निराध का कारण जो पर-वैराग्य है उसकी शृत्त्यों से पर-वैराग्य (निरोध) के संस्कार उत्पन्न होते हैं। इसलिये शृत्त्यों ही संस्कारों क कारण हैं। निरोध खर्थान् असम्प्रज्ञात समाधि में जब पर-वैराग्य की शृत्त्व का भी निरोध हो जाता है तब उसके कार्य निरोध के संस्कार कैसे शेष रह सकते हैं।

समाधान—कारण दा प्रकार के होत हैं, एक निमित्तकारण, जैसे कुलाल घट का निमित्त कारण है, दूसरा उपादान जैसे मिट्टी घट का उपादान कारण है। निमित्त कारण के बाभाव से कार्य का खभाव नहीं होता वेवल उसके खागे की उत्पत्ति बन्द हो जाती है, किन्त उपादान कारण के खभाव में कार्य का खभाव हाता है।

शृत्वायों संस्कारों के निर्मत्त कारण हैं, उपादान कारण नहीं हैं। संस्कारों का उपा-दान कारण बित्त है। इस ज्यादान कारण को ही सांख्य तथा योग की परिभाषा में अभी कहते हैं और उसके कार्यों को धर्म। इसलिये निरोधचण (असम्ब्रह्मात-समाधि) में सब श्वतियों के निरोध के निर्मित्त कारण पर-वैराम्य की शृत्वि भी निश्चत हो खाती है, पर कनके कार्य निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार वर्तमान रूप से रोष रहते हैं क्योंकि उनका उपादान कारख धर्मी चित्त विद्यमान रहता है। कैवल्य में जब चित्त अपने उपादान कारण धर्मी में लय हो जाता है तब उसके साथ उसके कार्य निरोध के संस्कार (संस्कारशेष) भी निवृत्त हो जाते हैं।

संगति - उस निरोध-संस्कार का फल कहते हैं :-

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात ॥ १० ॥

शृष्यार्थ—तस्य = उस (चित्त) का । प्रशान्त-वाहिता = प्रशान्त बहना । संस्कारात् = निरोध-संस्कार से (हाता है)।

अन्वयार्थ -- निरोध-संस्कार से चित्त की शान्त-प्रवाह वाली गति होती है।

ब्याख्या—प्रशान्तवाहिता = निरोध-संस्कार के श्रम्यास से जब निरोध-संस्कार प्रवल होता है तब ट्युत्थान के संस्कार सर्वथा दब जाते हैं और ट्युत्थान-संस्काररूप मल से रहित जो निर्मल निरोध-संस्कारों की परम्परा प्रवृत्त होती है, यही चित्त का प्रशान्त वा एकरस बहुना, चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति है।

भाष्यकार इस सूत्र का श्राशय यह बतलाते हैं कि निरोध-संस्कारों के श्रश्यास को हृद करने की श्रावश्यकता है जिससे चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति हो जावे। क्योंकि निरोध के संस्कार मन्द होते ही ब्युत्थान के संस्कार उनको फिर दवा लेते हैं। यहाँ यह बाव भी समफ लेनी चाहिये कि निरोध-समाधि के भङ्ग तक, जो चित्त में उन्हीं संस्कारों के हुई श्रीर दुवेल होते हुए प्रशान्त प्रवाह का बहाना है, वह उसका श्रवस्था-परिणाम है।

संगति—निरोध-परिणाम बताकर अब चित्त में समाधि (सम्प्रज्ञात) परिणाम

बताते हैं :--

सर्वार्थेतैकाव्रतयोः चयौदयो चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—सर्वाधेता-प्रकामतयोः = सर्वार्धेता और एकामता का। त्य-उदयो = त्रय और उदय होना। चित्तस्य समाधि-परिग्णामः = चित्त का समाधि अवस्था में परिग्णाम होता है।

अन्वयार्थ -चित्त (धर्मी) के सर्वार्थता और एकाप्रतारूप धर्मी का (क्रम से) नाश

होना और प्रकट होना चित्त का समाधि अवस्था में परिसाम है।

व्याख्या—सर्वाधेता = सब विषयों की ओर जाना। यह शब्द चित्त की विद्वेप अव-स्था के लिये यहाँ आया है। विद्वेप अवस्था में सत्त्वगुण प्रधान होता है पर रजोगुण बना रहता है और अपने कार्य करता रहता है। इस कारण चित्त सारे विषयों की ओर जाता है। यह अवस्था समाधि के आरम्भ-काल में होती है।

एकामता : समाधि की खबस्या जिसमें चित्त सब विषयों को त्यागकर एक विषय पर टिकता है अर्थात् एक ही खालम्बन (सहारा) होने पर सजातीय प्रवाह में परिश्वित होना चित्त की एकामता कहलाती है। विद्यासता खौर एकामता दोनों चित्त के धर्म हैं, चित्त वर्मी दोनों में खनुगत है। जब विद्यासता का धर्म दबता है और एकामता का धर्म प्रकट होता है तोइस प्रकार होनों धर्मों में अनुगत धर्मी-चिक्त में समाधि-परिखाम अर्थात् सम्प्रज्ञात-समाधि काल में होनेवाला चिक्त का परिखाम है। चिक्त का यह एकाव्रता का आकार धारण करना चिक्त में धर्म-परिखाम होता है। एकाव्रता जो चिक्त की सर्वार्थता (विक्तिव्रता) में अनागत रूप से छिपी हुई थी अब वर्तमान रूप में आगई। यह एकाव्रतारूप चिक्त-धर्मी का वर्तमान लक्त्य-परिखाम है।

समाधि-परिखाय और निरोध-परिखाम में भेड

निरोध-परिणाम से समाधि-परिणाम में यह भेद है कि निरोध-परिणाम में च्युत्थान-(एकामता) के संस्कारों का अभिभव और निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है और समाधि-परिणाम में संस्कार-जनक जो व्युत्थान अर्थात् सर्वार्थतारूप चित्त का विचेष है उसका चय और एकामतारूप धर्म का उदय होता है अर्थात् प्रथम सम्प्रज्ञात में व्युत्थान का चय और एकामता का उदय किया जाता है फिर असम्प्रज्ञात में निरोध-संस्कारों के प्रादुर्भाव से ख्युत्थान (एकामता) के संस्कारों का भी विरोभाव (दवना) होता है।

संगति—समाधि अवस्था में जब विज्ञिप्तता बिल्कुल दब जाती है तब चित्त की

समाहित अवस्था में एकाप्रता-परिणाम बताते हैं :--

ततः पुनः शान्तोदितौ तुश्यमत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—ततः पुनः = तब फिर । शान्त-उदितौ = शान्त और उदय हुई । तुत्य-प्रस्ययौ = समान वृत्तिये । चित्तस्य-एकाप्रता-परिणामः = चित्त का एकाप्र परिणाम है ।

अन्वयार्थ — तब फिर समान वृत्तियों का शान्त और उदय होना चित्त का एकाप्रता-

परिगाम है।

ब्याख्या—समाहित चित्त की 'विशेष-पृति' ही एक-प्रत्यय कहलाती है। यह ऋतीत (भूत) मार्ग में प्रविष्ट हुई शान्त, और वर्तमान मार्ग में बर्तती हुई उदित कहलाती है।

यह दोनों ही, चित्त के समाहित होने के कारण, तुस्य अर्थात् एक विषय को ही आलम्बन करने से सदश-प्रत्यय हैं। इन दोनों में समाहित चित्त का अन्वयी (अनुगत) भाव से रहना एकाप्रता-परिणाम कहलाता है। अर्थात् समाधि-परिणाम के अप्र्यास-बल से जब चित्त का चित्तेष विस्कुल दब जाता है तो वह समाहित हो जाता है। इस अवस्था में भी चित्त बराबर बदलता रहता है, किन्तु जिस प्रकार विजेप में एक वस्तु को छोड़कर दूसरी को पक्वता था इस प्रकार समाहित अवस्था में नहीं होता। इसमें जिस वस्तु को पकक्ता है उसी में लगा रहता है। चित्त के बदलने के कारण वृत्तियाँ बदलती तो हैं पर जैसी वृत्ति दबती है वैसी ही खदय होती रहती है; जबतक समाधि भन्न न हो जावे। यह धर्मी चित्त का एका-प्रता-परिणाम है।

समाधि के भङ्ग होने तक एकामता प्रवल होती रहती है उसके पश्चात् दुर्वल होती आती है। यह उसकी स्वस्था का बदलना व्यवस्था-परियाम है।

सावधामी-सम्प्रज्ञात-समाधि की प्राप्ति से ही योगी अपने-आप की कृतकृत्य न

मान बैठे, किम्तु ब्युत्थान के विद्येप की निवृत्ति के लिये क्यसम्प्रज्ञात-समाधि का अनुष्ठान करना चाहिये।

संगति—अब प्रसङ्घ से चित्त के सदश ही भूत और इन्द्रियों के परिणाम बताते हैं:— एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्भक्षत्त्रणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ-एतेन = इससे ही (चित्त के परिगाम से ही) भूत-इन्द्रियेषु = भूत और इन्द्रियों में । धर्मलक्ष्य-अवस्था-परिगामाः-व्याख्याताः = धर्म-परिगाम, लक्ष्य-परिगाम और अवस्था-परिग्राम व्याख्यान किये हुए जानने चाहियें।

अम्बयार्थ-चित्त के परिणाम से ही भूतों और इन्द्रियों में धर्म, लच्चण और

अवस्था परिगाम व्याख्या किये गए जानने चाहियें।

ब्याख्या—जिस प्रकार चित्त के धर्म, लत्ताण और अवस्था परिणाम होते हैं इसीं प्रकार पाँचों भूतों और इन्द्रियों में समक्तना चाहिये यधाप पूर्व चार सूत्रों में धर्म, लत्त्रण और अवस्था-परिणाम का नाम नहीं लिया गया है तथाप उनमें चित्त के ये परिणाम दिस्लाये गए हैं। पाठकों के सुभीते के लिये नवें सूत्र की सङ्गति में वे उदाहरणसहित समका दिये गए हैं; और पिछले चार सूत्रों में चित्त के निरोध आदि परिणामों में भी इनको यथान स्वतलाते चले आये हैं। यहां उनको संनेप से फिर सतलाये देते हैं:—

धर्म-परिणाम-धर्मी के अवस्थित रहते हुए पूर्व धर्म की निवृत्ति होने पर उसके

श्रन्य धर्म की प्राप्ति होना धर्म-परिणाम है। -(भोजवृत्ति)

चित्त में धर्भ-परिणाम: नवें सूत्र में निरोध-परिणाम बतला छाये हैं। धर्मी-चित्त के दो धर्म व्युत्थान-संस्कार छौर निरोध-संस्कार में से व्युत्थान-संस्कार का दबना और निरोध-संस्कार का प्रकट होना धर्मी-चित्त का धर्म-परिणाम है इसी प्रकार सूत्र ग्यारह में समाधि-परिणाम में धर्मी-चित्त के सर्वार्थता धर्म के दबने और एकामता धर्म के प्रकट होने में धर्मी-चित्त का धर्म-परिणाम है।

भूतों में धर्म-परिणाम: पृथ्वी का अदाहरण-मृत्तिकारूप-धर्मी का पिगडरूप धर्म

को छोड़कर घटरूप धर्म को खीकार करना उसका धर्म-परिखाम है।

इन्द्रियों में धर्म-परिणाम : नेत्रेन्द्रिय का खदाइरण—धर्मी-नेत्र का अपने धर्म नील, पीत, रूपादिक विषयों में से एक रूप को छोड़कर दूसरे रूप का आलोचन-झान धर्म-परिणाम है।

छक्षण-परिणाम—काल-परिणाम को लक्त्या-परिणाम कहते हैं । वह तीन भेद बाला है: अनागत (भविष्य), उदित, (वर्तमान) अतीत (भृत)। प्रत्येक धर्म इन

तीन लच्चणों से युक्त होता है।

अनागत लक्ष्या-परिणाम: किसी धर्म का वर्तमान काल में प्रकट होने से पहिले अविष्यत् काल में क्षिपा रहना उसका अनागत लक्ष्या-परिणाम है। उस धर्म का अविष्य काल को छोड़कर वर्तमान काल में प्रकट होना वर्तमान लक्ष्य-परिणाम है और वर्तमान काल को छोड़कर मून काल में क्षिप जाना अतीत लक्ष्या-परिणाम है। सूत्र ९ में धर्मी-चित्त के निरोध-परिणाम में उसके दोनों धर्म, ज्युत्थान-संस्कार तथा निरोध-संस्कार इन तीनों लक्त्यों से युक्त हैं। उनमें से ज्युत्थान-संस्कार का, वर्तमान लक्त्य को झोड़कर, धर्मभाव को न त्यागते हुए, अतीत काल में छिप जाना उसका अतीत (भूत) लक्त्य-परिणाम है। इसी प्रकार निरोध-संस्कार का, अनागत मार्ग को झोड़कर, धर्मभाव को न झोड़त हुए वर्तमान काल में प्रकट होना, उसका वर्तमान लक्त्य-परिणाम है। ऐसे ही सूत्र ग्यारह में चित्त के समाधि-परिणाम में उसके धर्म सवार्थता और एकाप्रता दोनों लक्त्य वाले हैं। उनमें से सर्वार्थता का वर्तमान लक्त्य को त्यागकर धर्मभाव को न झोड़ते हुए अतीत लक्त्य को त्यागकर धर्मभाव को न झोड़ते हुए वर्तमान लक्त्य में प्रकट होना उसका वर्तमान लक्त्य को त्यागकर धर्मभाव को न झोड़ते हुए वर्तमान लक्त्य में प्रकट होना उसका वर्तमान लक्त्य परिणाम है।

मृत्तिका के घटरूप धर्म का, प्रकट होने से पहिले, अनागत काल में छिपा रहना उसका अनागत लन्न्या-परियाम है। अनागत लन्न्या से वर्तमान काल में प्रकट होना वर्तमान लन्न्या और घटरूप धर्म का वर्तमान लन्न्या से अतीत काल में छिप जाना उसका अतीत लन्न्या-परियाम है।

इसी प्रकार धर्मी-नेत्र के, धर्मों अर्थात् तील, पीत रूपादिक विषयों के आलोचन में इन तीनों लक्त्या-परियामों को समक्त लेना चाहिये। अर्थात् धर्मी नेत्र के धर्म नीलादि झान के प्रकट होने से पूर्व अनागत काल में क्षिपा रहना उसका अनागत लक्त्या-परियाम है। अनागत काल से वर्तमान काल में प्रकट होना वर्तमान लक्त्या-परियाम है और वर्तमान काल से अर्तात मागे में क्षिप जाना अर्तीत लक्त्या-परियाम है।

अवस्था-परिणाम—एक धमे के अनागत लच्चा से वर्तमान लच्चा में प्रकट होने तक उसकी अवस्था को हद करने में, और इसी प्रकार वर्तमान लच्चा से अतीत लच्चा में जाने तक उसकी अवस्था को दुर्बल करने में जो प्रतिच्चा परिणाम हो रहा है वह अवस्था-परिणाम है। सूत्र १० में निरोध-समाधि के भङ्ग तक जो निरोध-संस्कार के प्रतिच्चा हद और उसके पश्चात् उनका दुर्बल होते हुए प्रशान्त प्रवाह का बहना है वह उनका अवस्था परिणाम है। इसी प्रकार मृत्तिका के घटधमें के अनागत लच्चण से वर्तमान लच्चण में आने तक और वर्रमान लच्चण से अतीत लच्चण में जाने तक उसकी अवस्था को कम से दृद्ध और दुर्बल करने में जो प्रतिच्चा परिणाम हो रहा है वह घटधमें का अवस्था-परिणाम है। ऐसे ही धर्मी नेत्र के धर्म नील, पीत, रूपादिक विषय के आलोचन में अवस्था-परिणाम को जानना चाहिय । अर्थात् वर्तमान लच्चण वाले नीलार विषय के आलोचन (ज्ञान) रूपधर्म की स्कृटता अस्सुटता रूप अवस्था परिणाम है।

धर्मी का धर्मों से, धर्म का लक्षणों (अनागत, वर्तमान, अतीत) से और लक्षणों का अवस्था से परिणाम होता है। इस प्रकार गुणवृत्ति एक क्षण भी धर्म लक्षण और अवस्था-परिणाम से शून्य नहीं रहती। गुणों का स्वभाव ही प्रवृत्ति का कारण है।

यथार्थ में यह सब एक ही परिशाम है। धर्मी का स्वरूप-मात्र ही धर्म है, कोई भिन्न

बस्तु नहीं। क्योंकि धर्मी का विकार ही घमें नाम से कहा जाता है। धर्मी के विकाररूप धर्मे का ही, धर्मी में वर्तमान रहते हुए, अतीत, अनागत, वर्तमान मार्ग में अन्यथा भाव होता है, न कि धर्मी द्रव्य का अन्यथापन होता है। जैसे सुवर्ण का कोई आभूषण तोड़कर अन्य प्रकार का आभूषण बनाने से भूषण आकार अन्यथा होता है, सुवर्ण का स्वरूप नहीं बदलता, ज्यों का त्यों रहता है। इसी प्रकार चित्त आदि धर्मियों का स्वरूप नहीं बदलता, उनके निरोध आदि धर्मी को स्वरूप नहीं बदलता, उनके निरोध आदि धर्मी के भाव बदलते रहते हैं।

भाष्यकार ने प्रतिपित्त्यों की शङ्काश्रों का युक्तिपूर्वक समाधान करते दूए स्वपक्ष का विस्तार के साथ वर्णन किया है। इसने सूत्र ९ की सङ्गति और इस सूत्र की व्याख्या पर्याप्त समम्रकर विस्तार के भय से उसे छोड़ दिया है। इतना और बतला देना श्रावश्यक है कि सांख्य तथा योग में धर्मी उपादान कारण के श्राथं में है और धर्म उसका विकार कार्य है, वैशेषिक वालों के गुण के श्राथं में नहीं है।

ढिप्पणी-च्यास भाष्य का भाषानुबाद ॥ सूत्र १३ ॥

इस पूर्वोक्तः धर्मेलच्या श्रीर श्रवस्थारूप चित्त के परिणाम से भृत श्रीर इन्द्रियों में धर्मपरिणाम, लच्चणपरिणाम श्रीर श्रवस्थापरिणाम भी व्याख्यात सममने चाहिए। उनमें धर्मी में व्युत्थान श्रीर निरोध धर्मों का श्रीभव श्रीर प्रार्ट्सभाव धर्मपरिणाम है।

लच्चणपरिणाम निरोध — त्रिलच्चण होता है। तीन अध्य से युक्त होता है, वह अनागत लच्चण प्रथम अध्य को छोड़ कर धर्मत्व को न छोड़ता हुआ वर्तमान लच्चण को प्राप्त होता है जहां कि इसकी स्वरूप से अभिन्यक्ति होती है, यह इसका दितीय अध्य है, वह अतीत और अनागत लच्चण से विगुक्त नहीं है। तथा न्युत्थान त्रिलच्चण तीन अध्य से युक्त होता है। वर्तमान लच्चण को छोड़ कर धर्मत्व का परित्याग न करके अतीत लच्चण को प्राप्त होता है, यह इसका तृतीय अध्य है, और वह वर्तमान ज़ौर अनागत लच्चण से जुदा नहीं है। इसी भांति पुनः न्युत्थान । विश्वपंपाद्यमान अनागत लच्चण को छोड़कर धर्मत्व का द्वांचन न करता हुआ वर्तमान लच्चण को प्राप्त होजाता है जहाँ कि इसके स्वरूप की अभिन्यक्ति होने पर न्यापार होता है, यह इसका द्वितीय अध्य है वह अतीत और अनागत लच्चण से वियुक्त नहीं है, इसी भाँति पुनः निरोध और पुनः न्युत्थान होता रहता है।

तथा अवस्थापरिणाम होता है। उसमें निरोध के चर्णों में निरोध के संस्कार बलवान होते हैं और ज्युत्थान के संस्कार दुर्बल होते हैं, यह धर्मों का अवस्थापरिणाम है उसमें धर्मी का धर्मों से परिणाम होता है, और लच्चणों का अवस्थाओं से परिणाम होता है, और लच्चणों का अवस्थाओं से परिणाम होता है इस मांति धर्मे, लच्चण और अवस्था परिणामों से शूर्य एक च्चण भी गुर्जों की हित नहीं रहती हैं, क्योंकि गुर्जों की हित्त चन्बल स्थाय वाली है गुर्जों का गुर्ज्य मांत को प्रत्य एक च्चण स्थाय वाली है गुर्जों का गुर्ज्य मांत तो प्रवृत्ति का कारण कहा है, इससे भूत और इन्द्रियों में धर्म धर्मी भेद से तिविध परिणाम जानना चाहिए, और परमार्थ से तो एक ही परिणाम है, धर्मी का स्वरूपमात्र ही धर्म है, धर्मी की विक्रिया ही यह धम द्वारा विस्तार से कहा है। इस

धर्मी में बर्तमान धर्म के ही अतीत, धनागत और वर्तमान ध्रष्टों में भाव का धन्यथात्व होता रहता है। द्रव्य का श्रम्यथात्व नहीं होता, जैसे सुवर्ण पात्र को तोड़ श्रम्यथात्व करने पर भाव का धन्यथात्व होता है सुवर्ण का श्रम्यथात्व नहीं होता।

दूसरे कहते हैं—धमें से धर्मी अन्यूनाधिक होता है, क्योंकि वह पूर्व तत्त्व का अतिक्रम नहीं करता, पूर्व, अपर अवस्था भेद से अनुपतित हुआ कौटस्थ्य से परिवर्तित होगा, यदि वह अन्वर्था है ? समाधान—यह दोष नहीं है, क्योंकि यह बात एकान्ततः नहीं मानी है, यह प्रैलोक व्यक्ति से च्युत होता है क्योंकि इसके नित्यत्व का निषेध किया है, च्युत हुआ भी है, क्योंकि इसके विनाश का शित्षेध किया है, च्युत हुआ भी है, क्योंकि इसके विनाश का शित्षेध किया है, संसर्ग से इसकी सूक्ष्मता है और सूक्ष्म होने से उपलब्धि नहीं होती।

लस्एपिरणाम—धर्म अध्वों में वर्तमान अतीत होता है अतीत लग्न्य से युक्त होता है अनागत और वर्तमान लग्न्य से वियुक्त नहीं होता है, तथा अनागत-अनागत लग्न्य युक्त होता है, वर्तमान और अतीत से वियुक्त नहीं होता, तथा वर्तमान-वर्तमान लग्न्य युक्त होता है, अतीत और अनागत लग्न्य से वियुक्त नहीं होता, जैसे पुरुष एक आ में रक्त है, बह रोषों से विरक्त नहीं है। यहां लग्न्यपरियाम में सर्व का सर्व लग्न्यों के साथ योग होने से अध्वसंकर प्राप्त होता है यह दसरे दोष देते हैं ?

उसका यह परिदार है—धर्मों का घमेल अप्रसाध्य है, धमेल के होने पर ही लज्ञ्या— भेद भी कहना होगा ? उसको धमेल वर्तमान समय में ही नहीं है, इस भांति ही जित्त. रागधमें वाला नहीं होगा क्योंकि क्रोध के समय राग समुदाचार नहीं है। और भी ? तीनों लक्ष्णों का एक साथ एक व्यक्ति में संभव नहीं ? क्रम से तो उसके व्यंजक की सहायता से भाव होसकता है। उक्तंच—रूपातिशय और यृत्ति व्यतिशय परस्पर विराधी हैं, सामान्य तो अतिशय के साथ रहा करते हैं इस कारण से संकर दोष नहीं हैं। जैसे राग का ही कहीं समुदाचार है, इसलिए उस समय वन्यत्र वभाव नहीं है किन्तु केवल सामान्य से समन्वा-गत है बत: उस समय उसका वहाँ भाव है, तथा लक्षण का भी भाव है।

धर्मी त्र अध्य (तीन मार्ग वाला) नहीं होता, धर्म त्रि अध्य हुआ करते हैं, वे धर्म लिखन और अलिखन उस-उस अवस्था को प्राप्त हुए अवस्थान्तर के कारण अन्यत्व निर्देश किय जाते हैं द्रश्यान्तर से नहीं, जैसे एक रेखा हात स्थान में इत, दश स्थान में दक और एक स्थान में एक होती हैं, यथा च एकत्व होने पर भी एक की माता कहलाती है, पुत्री कहलाती है, बहन कहलाती है। अवशापरिणाम में कीटरच्य प्रसंग दोष कुछ लोगों ने कहा है किस प्रकार कि अध्यों के व्यापार से व्यवहित होने से जब धर्म अपने व्यापार को नहीं करता, तब अमागत है, जब करता है तब वर्तमान है जब करके निष्टुच होजाता है तब अतीत है, इस प्रकार धर्म और धर्मी लक्षण और अवस्था इन सबको कूटस्थ मानना पढ़ेगा— यह दूसर सजन दोष देते हैं।

वह दोष नहीं हैं, क्योंकि गुणों के नित्य होने पर भी गुणों के विमर्द की विचित्रता है, जैसे विनाशी और अविनाशी शब्द आदिकों का आदिमत् संस्थान भर्ममात्र होता है. वैसे ही बिनार्शा और अविनाशी सत्त आदि गुणों का आदिमान लिंग धर्ममात्र है, उसमें विकार संज्ञ है (उसी को विकार कहते हैं) उसमें यह उदाहरण है मिट्टी धर्मी अपने पिएडाकार धर्म से धर्मान्तर को प्राप्त होता हुआ धर्म से परिणित घटाकार होता है यह घटा-कार अनागत लच्चण (काल) को छोड़ कर वर्तमान लच्चण (काल) में आगया है यह लच्चण से परिणाम होता है, घट नवीनता और पुराणता का प्रतिच्चण अनुभव करता हुआ अवस्थापरिणाम को प्राप्त होता है—यह धर्मी की भी धर्मान्तर अवस्था है और धर्म की लच्चणान्तर अवस्था, यह एक ही द्रज्य को परिणामभेद से दिखलाया है। इसी भांत पदार्थान्तर में भी योजित कर लेना चाहिए। धर्म, लच्चण और अवस्था परिणाम धर्मी के स्कर्म का उस्लंघन न करते हुए है इससे एक ही परिणाम उन सब विशेषों को ज्याप्त कर रहा है।

अब यह परिणाम क्या है ? इसका उत्तर देते हैं-

अवस्थित द्रव्य के पूर्व धर्म की निवृत्ति होने पर धर्मान्तर की उत्पत्ति (प्रादुर्भाव) परिणाम है ॥ १३ ॥

" वार्त्तिक" का भाषानुवाद ।। सूत्र १३ ॥

इस प्रकार योग—योग के घंगों के परिणाम रूप की विलक्षणता उनके विवेक के लिए दिखलादी है, इसी रीति से ज्युत्थानकालीन चित्त के परिणाम भी ज्याख्यात प्राय: ही हैं। यहां से 'परिलामत्रयसंयमात्' इस आगामी सूत्र की छपोद्घात संगति से सर्वत्र वैराग्यरूपी खप्ति को प्रज्वलित करने के लिए चित्तवत् ही अन्यों में भी अतिदेश से ही

परिणामों की व्याख्या सूत्रकार करते हैं।

"एतेन भूतिन्द्रयेषु धर्मलच्यावस्थापरिखामा व्याक्याताः" धर्मों से, लक्ष्यों से जीर अवस्थाओं से जो परिणाम हैं वे धर्मलच्याक्या परिणाम हैं उनकी भाष्य में व्याक्या करनी है। यही परिणाम भूत और इन्द्रियों में होते हैं कोई तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होते। इस असाधारण आध्य से ही यहाँ प्रकृति आदि में परिणाम नहीं कहे, इससे तत्त्वान्तर-परिणामवत् ये परिणाम भी सब ही यथायोग्य प्रकृति आदि में भी जानने चाहिष्, ऐसा ही भाष्यकार कहेंगे। इस प्रकार धर्म, लक्ष्य और अवस्था परिणामों से शून्य च्या भर भी गुण वृत्त नहीं ठहरता (नहीं रहता) इससे सर्व वस्तुओं में तीन परिणाम हैं। सूत्र की व्याख्या करते हैं—एतेनेति (इस पूर्वोक्त धर्मलच्या और अवस्थास्य चित्रा के परिणाम से भूत और इन्द्रियों में धर्मपरिणाम, लक्ष्यपरिणाम और अवस्थापरिणाम की व्याख्या समक्र लेनी चाहिष्) भाष्य।

रांका—पूर्व सूत्र में चिरा का परिस्ताम मात्र कहा है धर्मपरिस्ताम, लक्क्खर्बास्ताम और अवस्थापरिस्ताम नहीं कहे ? इस रांका को परिस्तामों के विभाग विस्तृत कर दूर करने के लिए उपकम करते हैं अत्र—क्युत्थानेति—इनमें से व्युत्थान और निरोध के अभिभव और प्रादुर्भाव ही धर्मी चिर्च में धर्मपरिस्ताम प्रथम सूत्र ने ही कहा है, 'अवस्थित' धर्मी के पूर्व धर्म का तिरोभाव होने पर धर्मान्तर के प्रादुर्भाव को ही धर्मपरिस्तामल है,

यह भाव है। यद्यपि प्रथम सूत्र में व्युत्यान और निरोध के संस्कारों का ही अभिभव और प्रादमोव कहा हैं. तथापि व्यत्थान और निरोध का अपाय और उपजन भी अर्थात् लब्ध है, धर्म द्रव्य है या गुण यह बात दूसरी है, तथा उसी सूत्र ने अभिभव और शादर्भाव शब्दों से धर्म का लन्नगण्यिगाम भी कहा है, अतः भाष्यकार कहते हैं. लन्नगण्यिगाम इचेति - लक्तरापरिस्ताम अवस्थित धर्मे का अनागत आदि लक्तरा के त्यागने पर वर्तमान आदि लक्षण के लाभ का नाम है, और वह अभिभव और प्रादर्भाव वचन से ही लब्ध है, क्योंकि अतीतता और वर्तमानता का ही अभिभव और प्रादर्भाव हुआ करता है। यह भाव है। उनमें से पहिले निरोधकप धर्म के शदर्भाव शब्द से कहे लच्चणपरिणाम का चदाहरण देते हैं निरोधिकलत्त्रण इति-इसी का विवरण, है तीन अध्व से यक्त है. कम के सम्बन्ध से अध्व के तत्य होने से अनागत आदि भाव अध्व कहलाते हैं: तथा धर्मी और धर्मों के अन्योन्य के ज्यावर्तन से और लक्त्मा शब्द से तंत्र में कहा है, इससे क्या आया ? इसको कहते हैं - खिल्वित - वह निरोध प्रादर्भाव काल में अनागतलन्नए रूप अभ्य नाम को छोड़ कर इत्यादि अथे है। यहां सत्कार्य की सिद्धि के लिए और धमे परिणाम के उपपादनाथे 'धर्मत्वं मनति कान्तः' कहा है । खरूप से अवस्थित ही धर्म के रूपान्तर के हटने पर रूपान्तर की उत्पत्ति में धर्मपरिशाम शब्द का व्यवहार होता हैं, वर्तमान अवस्था को इतर दो अवस्थात्रों से विवेचन करके दिखलाते हैं यत्रेति-स्तरूप से, अर्थोक्रयाकारित्व से अभिव्यक्ति उपल्हिध है। वह अनागत की अपेना से द्वितीय अध्व है, यह शिष्य के व्यत्पादन के लिए प्रसंग से कहते हैं एषोऽस्येति-असत की उत्पत्ति और सत के विनाश के प्रतिषेध के लिए कहते हैं नचेति-निरोधच्चण में ही निरोध के लक्त गुपरिगाम का दिखलाकर ज्युत्थान को भी दिखलाते हैं तथा ज्युत्थान-मिति—सब पूर्वत है। विशेष है वर्तमानता, को छोड़ कर श्रतीतता को प्राप्त होता है यह त्तीय अध्व है। इस भांति ब्युत्थान काल में भी ब्युत्थान और निरोध के लच्चएपिरएामों को कम से दर्शाते हैं, एवं पुनन्येत्थानमुपसम्पद्यमान-मिति उपसंपद्यमान जायमान का नाम है, श्रीर वह व्यक्ति अन्दर है, क्योंकि अतीत व्यक्ति का अनुत्पाद आगे कहेंगे। अन्य सब पूर्ववत् है। एव पुनर्निरोध इति यहां एवं पद से तथा व्युत्थानं इत्यादि वाक्य से कहे निरोध के तृतीय अध्व की प्रक्रिया निर्देश की है। अतः निरोध के तृतीय अवस्था के कथन के अभाव की श्रन्यता नहीं हैं. (अर्थात् त्तीय अध्व की प्रक्रिया के निर्देश से निरोध की त्तीय अवस्था के कथन का अभाव है यह व्यत्थान निरोध परिस्ताम का चक्र अपवर्ग पर्यन्त ही है-यह संदोप से कहते हैं। एवं पुनन्यत्थानमिति -पुनर्व्यत्थान आदि अर्थ है। चित्रा के धर्मों के लक्षण परिणाम को दर्शाकर उस लक्ष्य के श्रवस्थापरिणाम की 'तस्य प्रज्ञान्तवाहिता संस्कारात' इस सूत्र पर व्याख्या हो चुकी है यह दिखलाते हैं-तथा श्रवस्था परिग्राम-इति- श्रवस्था-परिगाम को कहते हैं - संस्कारों का बलवत्व और दुर्बलत्व घट के नये और पुरान के परिमाध से भेद की अमुपपिश है लक्षण की भांति है, बृद्धि और हास-उत्पत्ति और विनाशरू, हैं, लक्षण परिगाम से भेद की अनुपपत्ति है लक्षण के ही नवपुरागुत्व आदि अवस्था परिगाम आगे कहेंगे. डांका-टब्य के ही वृद्धि और चय देखे जाने हैं गुरा के नहीं।

समाधान-यह बात नहीं है रूप आदि गुणां के भी वृद्धि और हास का अनुभव होता है। बृद्धि हास को रूप का अन्य भेद मानें तो गौरव होगा, वही रूप अब बढ गया है ऐसी जो प्रत्यभिज्ञा होती है वह भी न बनेगी अतः संस्कार और अहुए आहि का श्रवस्थापरिगाम होता है। ज्ञान श्रीर इच्छा श्रादि के उत्पत्ति और विनाश का श्रनभव होता है, दो क्यामात्र स्थायी होने पर भी द्वितीय क्या में वर्तमान लक्ष्य का अवस्था-परिणाम होता है. वह चण्ल से ही उस परिणाम का हेत है, यदि ऐसा न मानें तो सब वस्तश्रों के प्रतिवास परिसाम की जो कि आगे कहेंगे उपपत्ति ही न होगी, इस कथन से उसका भी खंडन हो गया, जो किसो ने कहा है कि उत्तर पृत्ति विभु विशेष गुण की ही आनादि के नाशक होने से एकामता दशा में भी ज्ञान के बहुत चुण खायी होने से अवस्था परिणाम सम्भव नहीं है, तब इस प्रकार तीनों परिणामों की व्याख्या करके उनके आधार की व्यवस्था को कहते हैं, तत्र धर्मिण इत्यादि से लच्चणों का भी श्रवस्थाश्रों से परिणाम होता है, बरापि बाल्य आदि अवस्थाओं का भी लक्षणपरिणाम होता है, तथापि यथोक्त क्रम मानने में कोई अनुपपिश नहीं है।

इंका-वर्तमान लच्च का नव पुराण आदि अवस्थापरिणाम हो सकता है। श्चनागत और अतीत लंबण का श्चन्याभेद हिस प्रकार होगा ?

समाधान-शीघ भविष्यता, विलम्ब भविष्यता आदि रूप विशेष उन लक्ष्यों का भी अनुमान हो सकता है, क्योंकि सत्त्व आदि की भांति ही गुण्ल से, प्रतिच्चा परिणामित्व सिद्ध है। यथोक्त चित्ता के परिणामों से सर्व वस्तुत्रों के परिणामों का अतिदेश करते हुए वैराग्यामि को प्रश्वलित करने के लिए उनकी प्रविच्न्य परिग्रामिता दिखलाते हैं, एवं धमें लुब्रेणेति -वह मन आदि में भी कहा है-

घोरे ऽ स्पिन् इत संसारे नित्यं सततघातिनाम्। कदलीस्तम्भनिःसारे संसारे सार्यागंणम् ॥ यः करोति स सम्मृदो जलबुदुबुदसिश्मे ।

इति नित्य सतत घातियों के इस घोर ससार में जोकि केले के स्तम्भ के समान निःसार है जल के बुलबुले के सदश पाल श्रीर चुणभंगुर है जो प्राणी सार दृढ़ता है वह सम्मृढ है।

गुण वृत्त-सत्त्व आदि गुणों का व्यापार है, वह अपने कार्य धर्मादि परिणामों से चए भर भी शुम्य नहीं रहता, प्रतिवृत्त परिश्चित होता रहता है।

शंका-अन्यावार दशा में तो अविरिणामी होगा ?

समाधान-चलं हि गुण-वृत्तिनि-चलं यह भावप्रधान निर्देश है-गुणों का चांचल्य खभाव है यह तात्पयोथं है।

प्रश्न-प्रति चेण चांचल्य में प्रमाण क्या है ? उत्तर-गुण्लाभाव्यं लिति -गुणों का खभाव है, राजा के गुणों, उपकर्मी नौकर आदि का खामी के लिए प्रतिच्चा ही व्यापार दिखाई देता है, अतः गुणस्त्रभावता 28

ही सत्वादि पुरुषगुणों की भी प्रवृत्ति में पूर्व ब्याचार्य ने प्रमाण कही है। पर के ही भोग बीर अपवर्ग का हेतुत्व गुण्स्व है। चित्र के हष्टान्त में तीनों परिणामों की व्याख्या करके दाष्ट्रीत्वक में भी उसकी व्याख्या का आरम्भ करते हैं एतेनेति — इस से भूत और इन्द्रियों में धर्म धर्मी भेद से धर्म धर्मी का आश्रय लेकर तीन प्रकार का परिणाम जानना चाहिये। उन पृथिवी आदि धर्मियों में घट आदि धर्म का परिणाम धर्मपरिणाम है, घट आदि धर्मी की वर्तमान अतीतता, लच्नणपरिणाम है, वर्तमान आदि तीनों लच्चणों का भी बाल्य—यौवन आदि अवस्थापरिणाम हैं।

शंका—तीनों परिणाम भूत और इन्द्रियों में किस प्रकार कहे हैं, क्योंकि वे धर्मी हैं उनमें धर्म मात्र परिणाम होगा ?

समाधान—तीनों धमें धर्मी परिणाम ही परमार्थ से तो एक ही परिणाम हैं, क्योंकि धर्मी खरूप ही धर्म होता है ज्यतः धर्मपरिणाम ही यह लच्चणांद परिणाम है—जो कि धर्मादि के ज्ञवान्तर विभाग ही हैं।

श्वव प्रतिवृत्य परिणाम में चिण्कता श्वादि के प्रसंग को (श्वित व्याप्ति) को हटाने के लिए तीनों परिणामों की कम से परीचा करनी है। प्रथम धर्मपरिणाम की परीचा करते हैं, तश्र धर्मस्पेत्यादिना—उन परिणामों के मध्य में धर्मी के सत्य होने पर ही धर्म की श्वतीत श्वादि श्रवस्थाशों में धर्मी का भावान्यथाल, धर्मान्यथाल ही होता है, द्रध्यान्यथाल नहीं होता सकरपान्यथाल होने पर ही प्रतिचृत्य परिणाम से चृणिकता की श्वापत्ति, प्रत्यभिक्षा श्वादि की श्रवपत्ति होती है, यह भाव है।

सुवर्ण का बतेन आदि रूप हटने पर कटकादि धर्म की श्राभन्यिक भावान्यधाल है, प्रत्यभिक्षा के बल से सर्वेबकारानुगत सुवर्ण सामान्य सिद्ध है, यह सामान्य ही श्रवयवी रूप धर्मी है। वैशेषिक के श्रनुयायी तो कहते हैं कि सुवर्ण के श्रन्यधाल होने पर भी श्रवयकों के संयोग के नाश से पूर्ण सुवर्ण व्यक्ति नष्ट हो ही जाती है उसमें जो प्रत्यभिक्षा होती है (यह वही सुवर्ण हैं) वह जातिविषयक होती है—

बहु ठीफ नहीं हैं ऐसा मानने से प्रतिक्षण अवयवों के उपचय और अपचय के लिए अवयवों का संयोग और विभाग अवश्य ही मानना होगा और उस से शरीर आदि अखिल बस्तुओं की क्षिणकत्व की आपशि को ब्रह्मा भी न हटा सकेगा और जाति से ही सर्वत्र प्रत्यभिक्षा की उपपिश होने में प्रत्यभिक्षा से घटादि के स्थैये का जो स्व सिद्धान्त है उससे विरोध आवेगा। इसलिए अवयव के संयोग का नाश द्रष्ट्य के नाश का हेतु नहीं है किन्तु बह्वि आदि में रूग अर्थाण और मिण आदि की भांति अञ्चवस्थित ही कल के बल से कारण की कल्पना करनी चाहिय। अथवा विजातीय अवयव विभाग विशेष है यह स्वकृपान्यथालवादी बौद्धों के धर्म परिणाम में कहे दोषों को निराकरण करने के लिए उठाते हैं—

अपर आह—धर्मों से धर्मी अतिरिक्त नहीं होता, अत्यन्त अभिन्न होता है, इसमें हेतु हैं, पूर्व तस्य का अतिक्रम न होने से, पूर्वतस्य धर्मी के अनतिक्रम की आपश्चि से, कोटस्ट्य की आपश्चि से, यह प्रयोजन है। इसी का विवरण करते हैं पूर्वापरीत (पूर्व और अपर अवस्था भेद के अनुपतित कौटस्थ से च्युत हो जायगा, यदि अन्वयी होगा। बिद धर्मी धर्मी में अन्वयी होगा, तब पूर्व अपर सकल, श्रवस्थाभेदों में अनुगत होने से अतीत आदि अवस्था में भी सस्व मानना होगा और वह चिति शक्ति के समान कृटस्थ रूप से रहेगा, क्योंकि नित्यत्व और कृटस्थ का एक ही अर्थ है और वह गुमको भी अनिष्ट है।

इसका परिहार करते हैं अयमदोष: -- यह दोष नहीं है -- एकान्तेति -- क्योंकि हम एकान्त नित्यत्व नहीं मानते हैं। एकान्तेन का अर्थ है, सबेधा स्वरूप से श्रीर धर्म से नित्यत्व ही कौटस्थ्य हम मानते हैं, और वह निति शक्ति का ही है, धर्मरूप से, अनित्य

धर्मी की कटस्थता नहीं है।

विकारव्यागृतत्वं प्रकृतिनित्यत्वम — विकार से व्याग्निश ही प्रकृति की नित्यता है, सत्य की अर्तात और अनागत श्रवस्था से शून्यत्व नित्यत्व है, खरूप से और धर्म से नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों रूपता इस प्रपंच की प्रतिपादन करते हैं तदेवदिति—यह कार्य कार्य आत्मक त्रिलोकी, चौबीस तत्व श्रपने कार्यों के सहित, यथायोग्य धर्म रूप से और खतः व्यक्ति से वर्तमान श्रवस्था से च्युत होते हैं क्योंकि इनके नित्यत्व का श्रुति निषेध करती है नैत्रेह किचनाप्र आसीत् यह श्रीय कुछ भी नहीं था, श्रसहा इदमप्र आसीत् यह प्रपंच पहिले असत् था इत्यादि श्रुतियों ने नित्यत्व का प्रतिषेध किया है।

व्यक्ताव्यक्तात्मिका तस्मिन् प्रकृतिः सम्प्रतीयत इत्यादि । उसमें व्यक्त श्रीर श्रव्यक्त रूप प्रकृति भलीभांति प्रतीत होती है इत्यादि स्मृतियां से जो सावयत्र होता है वह श्रानत्य होता है जैसे कि घट श्रादि इस श्रानुमान से भी नित्यत्व का प्रतिषेध है।

शंका-तब तो अत्यन्त उच्छेद ही हो जायगा ?

समाधान — अपेत — अतीत भी प्रकृति आदि धर्मी रूप से अतीत रूप से हैं क्योंकि विनाश का प्रतिषेध किया है अत्यन्त उच्छेद का श्रुति ने निषेध किया है 'तर्देक आहुरसदेवैकमम आसीत् ' उसको एक कहते हैं असद् ही एक आगे था इत्यादि अति से अत्यन्त उच्छेद की आशंका करके जब "कथमसतः सजायत्" सत्त्यमेव सोम्येद ममकासीद् इति असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है ? हे सौम्य ! सत् तो यह आगे था, इस प्रकार अति ने उस असत् का प्रतिषेध किया है।

विनाशित्व होने पर श्रनादित्व भाव की श्रनुपर्पत्त होती है यद्यपि सच्यमेव इस श्रुति में सत् शब्द का श्र्य परमात्मा ही है, क्योंकि उत्तरवाक्य में तदैवृत श्राया है, तो भी सत् के एकी भाव से इदमासीत यह था इस बचन से प्रपंचे की भी प्रलयकाल में सत्ता सिद्ध होनी ही है। इसी प्रकार "तद्धेदं— तद्यों व्याष्ठतमासीत्तमसैवेदमासीत् " यह श्रव्याकृत था, तमस ही यह था—

' आसीदिदं तमाभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् '---यह प्रपंच तमरूप अलक्षण और सज्जात

था इत्यादि श्रुंति चौर स्मृति भी कत्यन्त उच्छेद की निषेध करने वाली प्रमाण हैं। युक्ति भी—श्रसत् से सत् की उत्यक्ति में शश्रुण श्रादि की वश्यक्ति माननी पषेणी चौर बन्ध मोस्न भी अकारण ही होंगे जो कि नहीं हो सकते यह युक्ति भी श्रमाण हैं। यहि आतीत होने पर भी है तो उपलब्ध क्यों नहीं होते ? इस पर कहते हैं— संसर्ग से उपलब्ध नहीं होते । इस कार्य जगत् का अपने कारण प्रकृति में संसगे होने, विभक्त न रहने, लय हो जाने से उपलब्ध नहीं होती है, क्योंकि उसके लौकिक सालात्कार में उनकी सृक्ष्मता प्रतिवन्धक है । इस प्रकार कार्य कारण के अभेद मे सभी परिणामी प्रकृति आदिकों के प्रकारभेद से नित्य और अनित्य उभय रूप की व्यवस्था हो जाने से उनके सद् और असद् और रूपता का सिद्धान्त सिद्ध हो गया । 'सदसत्व्यातिवध्यायाधाभ्याम ' बाध और अवाय से सद्असत् व्याति है । यह सांव्यदर्शन का सूत्र भी प्रभाण हो जाता है । यही जबों की व्यवहारिकी सत्ता पुराण आदि में कहा गई है जो निःसत्तासत्तं प्रधानं भाष्यकार ने पूर्व कहा है वह पारमार्थिक सत्त् और असत् के अभिप्राय से कहा है । इसने उसकी वहीं व्याव्या करदी है । इससे आत्मा ही सत् है अन्य सब असद् है । यह श्रुति और स्मृति के बाद के भी विदद्ध नहीं है । एकान्त नित्य की ही पारमार्थिक सत्ता है और वह बूटस्थ नित्य की ही है, क्योंकि वह असत्ता के संपर्क से रहित है । प्रकृतियों की व्यवहारसत्ता नित्य नहीं है, इसी प्रकार—

नासद्रूषा न सद्रूष्ट्या माया नैवोभयात्मिका । सदसद्रुभ्यायनिर्वाच्या विध्या भूता सनातनी ॥

माया न सद्रूपा है न असद्रूपा है न उभयरूपा ही है। सत् और असत् से अनिर्वचनीया मिध्यारूपा सनातनी है इत्यादि वाक्य भी संगत हो जाते हैं। आधुनिक वेदान्तियों के अनिर्वचनीयवाद में संगत नहीं होते क्योंकि उन्होंने माया नामक जगत् के कारण का भी विनाश या अत्यन्त तुच्छत्व ही परमार्थ से माना है। उनके मत में सनातन शक्य का विरोध है।

धर्मपरिणाम की परीचा करके श्रव लच्चणपरिणाम की परीचा करते हैं। लच्चण परिणाम इति, श्रध्यसु वर्तमान इति—धर्मों का नित्यत्व कहा है। बिना नित्यत्व श्रतीत श्रमागत लच्चण के संयोग श्रसम्भव है। यहां एक एक लच्चण के श्रीम व्यक्ति के काल में भी धर्म सुक्ष्म लच्चणान्तर के बिना नहीं होता। यह ससुदाय का श्रध है। तथा धर्मों की आंवि लच्चण भी नित्य ही है। श्रवः न सद् की उत्पाच होती है और न सद् का श्रत्यन्त उच्छेद होता है। यह प्रसंग वोव नहीं है।

शंका— एक लद्मण की व्यक्ति के काल में लद्मणान्तर की अनुवर्लाध्य से उनका अभाव ही युक्त है।

समाधान—उनकी उपलब्धि अनुमान से होती है उसको दर्शाते हैं—यथेति न रोषासु विरक्त इति—रोषों में विरक्त नहीं है। राग के भावी होने में विरक्त व्यवहार नहीं देखा जाता, तथा च एक विषयक रागादि के काल में अन्यों की सत्ता अनुमान से सिद्ध होती है। लक्त्य परिमास में भी दूसरों के दूषस्य की उद्भावना करते हैं अवेति—सब अनागतादि को वर्तमानादि सब लक्त्यों से योग होने से अनागत आदि भी बर्तमान ही हो जायेंगे तब अध्वों का संकर हो जायगा, यदि उनमें क्रम मानें तो असत् का उत्यक्ति माननी पड़ेगी, अतः वर्तमान लक्ष्ण ही सब वस्तु होंगी पूवे और उत्तर काल में उनका अभावमात्र होगा, और अभाव के प्रतियोगी होने से उनमें श्राताबि व्यवहार हो जायेगा, इसमें पहिले धर्मों में लक्ष्ण त्रय के सम्बन्ध की व्यवस्था करते हैं। धर्माणामिति—धर्मों का धर्मत्व पूर्व सिद्ध कर चुके हैं, यहां सिद्ध नहीं करना है, धर्मत्व के सिद्ध हो जाने पर धर्मों का लक्ष्ण, भेद, और लक्ष्ण बहुत्व भी कहना चाहिए, अर्द्ध—वैनाशिक के कहे वर्तमान मात्र एक लक्ष्ण नहीं है क्योंकि वर्तमान समय मात्र में ही इस धर्म का धर्मत्व नहीं है, किन्तु अर्तातादि समय में भी धर्म का धर्मत्व है। यहां हेतु कहते हैं एवं हीति—क्योंकि इस प्रकार वर्तमान काल में ही धर्मत्व होने पर सब ही चित्त साध्य के काल में राग का आर्थिन नहीं होता।

भाव यह है- जैसे कि जब कभी चिद्राग की सत्ता से आपके मन में चित्तरक्त है यह व्यवहार होता है, तथा जब कभी चिद्राग के श्रभाव से चित्त विरक्त है यह व्यवहार होना चाहिए, अत: अतीतादि काल में भी राग आदि चित्त आदि के धर्म हैं धर्मों का जिल-चगुरुव सिद्ध है। जो उन्होंने कहा है कि अभाव की प्रतियोगिता मात्र से अतीत आदि व्यवहार होता है वह भी हेय है क्योंकि घट के न होने पर ध्वंस के प्रतियोगिता आदि रूप अतीतत्व की वृत्ति ही नहीं बन सकती. संयोगित्व आदि की भांति प्रतियोगित्व आदि की दो सम्बन्धियों के बिना श्रानुपपत्ति है, क्योंकि सत् श्रीर श्रासत् सम्बन्ध देखा नहीं जाता. श्रातः भ्वंस और प्रागभाव असिद्ध हैं, घट वर्तमान है। इसकी भांति, घटोऽतीत, घट अतीत हो गया. घट होगा इन प्रतीतियों से घट की अतीत और होने वाली अवस्था विशेष ही सिद्ध है। यदि ऐसा न मानें तो भाव का अभाव भी अतिरिक्त सिद्ध होने लगेगा, इत्यादि होषों की स्वयं ऊहा कर लेनी चाहिए। इस प्रकार धर्मों की तीन लच्च ए (काल) की स्थापना करके अब उसके सांकये का परिद्वार करते हैं-कि चेति-तीनों अनागतादि कालों का एक वस्त में सम्भव नहीं है किन्तु अपने व्यंजक दएड, चाक आदि वस्तु के व्यंजन के समान जिसके उस प्रकार के लक्त्या का कम से भाव होता है उस वस्तु की अभिव्यक्ति होती है। अतः अभिव्यक्ति में सांक्ये नहीं है, स्वरूप से तो सांक्ये इष्ट ही है। अव्यक्त लक्षणों का व्यक्त लक्ताणों के साथ विरोध नहीं है, इस विषय में पचिश्वाचाये के वाक्य को प्रमाण हेते हैं डकंचेति - रूपातिशया वृत्त्यतिशया च परस्परेण विरुद्ध्यन्ते सामान्यानि तु श्रतिशयै: सह बतेन्ते । रूप अतिशय और वृत्ति अतिशय आपस में विरोधी हैं । सामान्य तो अतिशयों के साथ रहा करते हैं। धम से लेकर अनैश्वर्य तक आठ चित्त के रूप हैं। ज्ञान आदि आशय ज्ञान्त घोर मृद विश्व परिणाम वृत्ति हैं, इनका श्रांतशय-श्राभिव्यक्ति रूप-उत्कटता है। इस बाक्यकी व्याख्या गुरा वृत्तिविरोधाश्च 'इम सूत्र पर कर दी है।'

उपसंहार करत है—तस्मान् इति— असंकर में दृष्टान्त कहते हैं यथेति रागस्यैनेति—-धर्मों के तीन लच्छों के सम्बन्ध में राग का ही यह अर्थ है। कचिन् विषय में अन्यन्न विषयान्तर में अभाव है—सामान्याभाव है यह अर्थ है, दार्शन्तिक को कहते हैं तथा लच्च एस्यति — कहीं समुदाचार है इत्यादि अर्थ है यह लच्च परिणाम धर्मी का नहीं होता किन्तु धर्मों का ही होता है, इस प्रकार धर्म परिणाम से विशेष कहत हैं —न धर्म इति।

शंका - लक्ष्म परिणाम लक्ष्म में है या नहीं ? यदि है तो व्यनावस्था दोष है। यदि नहीं है व्योग लक्ष्म में लक्ष्म परिणाम नहीं है तो लक्ष्म परिणाम में परिणाम लक्ष्म असम्भव है, क्योंकि पूर्व लक्ष्म के अर्तात होने पर लक्ष्मणन्तर की अभिन्यक्ति को ही लक्ष्म

परिशामत्व है।

समाधान — ऐसा नहीं है क्योंकि बीज और अंकुर की भांति प्रामाणिक होने से यह अनावस्था दाप नहीं है। यदि इसको भी दाप माने तो धमें का धमें उस धमें का भी धमें इत्यादि अनवस्था को भी दाप की आपित्त से धमें धभी भाव आदि भी सिद्ध न होंगे। अधि क तो निर्वितक सूत्र पर कह दिया है। इस प्रकार सब धमों का सदा ही तीन लच्चणों से सम्बन्ध है और अभिव्यक्ति तीनों की कम से हाती है। यह बात सिद्ध हो गई।

शंका - यहां हो '''लज्ञण की श्रिभिव्यक्ति के भी नित्य होने से क्रमिकस्व किस प्रकार होगा । यदि उसमें क्रमिकस्व सम्भव है तो लज्ञ्ण क्रमिकस्व ने क्या श्रपराध किया है जो

इसमें क्रमिकत्व नहीं माना।

समाधान - इस विषय में कहते हैं नित्य और श्रनित्य उभयरूप के कहने से नित्य होने पर भी सब कार्यों में श्रानित्य रूप से कम सम्भव है। लच्चणों का भी कम इट ही है। लच्चणाभिन्यिक का कम तो लच्चण सांकर्य के लिए प्रकृत में प्रदिश्त है। श्रीधक तो निर्वित्त के समापान सूत्र में हमने कहा है। लच्चण परियाम की परीचा करके श्रवस्था परियाम की परीचा करने के लिए धमेगत विभाग को कहते हैं।

ते लाजता इति—लाजता-व्यक्ता वर्तमान श्रलाजत, श्रव्यक्त, श्रतीत श्रीर श्रनागतउस उस वाल, यौवन श्रीर वार्षक्रय श्रारि श्रवस्थाओं को प्राप्त होते हुए श्रन्थोन्य-श्रन्थस्व से—
भेद मे बोल जाते हैं। यह वालक है युवा नहीं है इत्यादि रूप से बोले जाते हैं। वह निर्देश
अवस्थान्तर से, श्रवस्था भेर से ही होता है, द्रव्य के,भेर से नहीं होता है। तब पूर्व
अवस्था के हटने पर श्रवस्थान्तर की प्राप्ति सिद्ध है। वहीं श्रवस्था परिणाम है। यह भाव
है। यद्यपि इस प्रकार का श्रवस्थान्तर परिणाम श्रनागत श्रीर श्रतीत लच्नणों में भी पूर्व
कहा है, तथापि वतेमान लच्नण के ही श्रवस्था परिणाम स्पुटतया उपलब्ध होते हैं। इस
आश्रय से वर्तमान लच्नण को श्रालम्य करके ही वह उदाहरण दिया है। धर्मी के एक होने
पर भी निमित्ताभेद से श्रन्थस्व व्यवहार में दृष्टान्त देते हैं। यथैकेति—जैसे एकस्व की व्यंजक
रेखा—श्रंक विशेष जब दो बिन्दु श्रों के ऊपर (प्रथम बाई श्रोर) रहता है तब सो है एक
नहीं एसा व्यवहार होता है। इनमें से एक बिन्दु के लोग होने पर यह दश है, सी नहीं है
यह व्यवहार होता है श्रीर श्रवशिष्ट बिन्दु के स्थान में श्राने पर एकस्व की व्यंजक देखा
देने पर ग्यारह है—दश नहीं यह व्यवहार होता है। दृष्टान्तान्तर कहते हैं। यथाचेति-उच्यते
चेति—पुत्र पिता भ्राताओं से जनकस्व श्रादि निमित्ता भेद से व्यवहार होता है।

श्रवस्था परिग्राम में भी बौद्धों के कहे दूषण् को कहते हैं। श्रवेस्थित-श्रवस्था परिग्राम के मानने में धर्म धर्मी लच्चण श्रवस्था इन चारों को कूटस्थ की श्रापित है। इसमें हेतु पृद्धते हैं कथिमिति—किस प्रकार से। उत्तर—श्रव के ज्यापार से ज्यवहित होने से। क्योंकि ज्यापार के निमित्त से ही सब वस्तुश्रों में श्रनागत श्रादि श्रध्यों के श्रन्थोंन्य ज्यवधान को माना है, और विभाग माना है, भाग रूप से नहीं माना, क्योंकि धर्म और लच्चण को सदा सस्य खीकार किया है। श्रव विभाग के ज्यापार-निमित्तक होने का विवरण् करते हैं। यदा 'धर्म' इससे लेकर 'तदाश्रतीत' इस तक। धर्म शब्द यहाँ श्राधित वाचक है। नक्तां है नकरेगा श्रादि और श्रन्त के श्रध्वों को ज्यापार की निमित्तता ज्यापार के श्रभाव के निमित्त से परस्परा से हैं। ऐसा होने पर पूर्व धर्म की श्रतीतता मे धर्मान्तर की श्रभिज्यिक होती है, इस प्रकार परिणाम लच्चण की श्रनित्यता श्रवस्थाओं की भी श्रापको कहनी होगी विनाश नहीं कह सकते। श्रवस्थाओं के नित्य होने पर तो कुछ भी श्रनित्य नहीं होगा। इस मांति तो सभी धर्म धर्मी जगत कृटस्थ होगा। यह दूसरों ने दोष कहा है।

जयसंद्रार-नित्यत्व मात्र कीटरध्य नहीं है किन्तु एकान्त नित्यत्व कीटरध्य है इस श्चाज्ञा से पर्ववत उक्त दोष का परिदार करते हैं। नासी दोषा इति-कौटस्थ्य दोष नहीं है। गुरा नित्यत्वे देपेति - धर्मी के नित्य होने पर ही धर्मी के विमर्द-विनाश की कृटस्थ से विचित्रता है। विलच्चणता है. अपरिणाम नित्यता ही कौटरथ्य है और वह पुरुष के अतिरिक्त दसरे में नहीं है, यह भाव है। गुणों के नित्य होने पर भी गुणों के विमर्द का उदाहरण देते हैं। यथेति- हुपान्त में नहीं किन्त उदाहरण में है। संस्थानमिति अर्थ के विनाश से अविनाशी शब्द तन्मात्रा श्रादि के पंचभूतरूप संस्थान धर्म मात्र श्रादि वाले हैं श्रतः वे विनाशी हैं। यह अर्थ है एवं इत्यादि की इसी भांति व्याख्या करनी चाहिए, लिंग महत्तत्व का नाम है। इसी भांति अहंकार आदि और घट आदि भी अपने विनाश से अविनाशी कारणों के धर्म मात्र श्रीर विनाशी हैं यह बात जाननी चाहिए। वह ही यह श्रति ने कहा है-'बाचारस्मग्रां विकारो नामधेयं मृशिकेत्येव सत्यमिति' वाचारम्भण-प्रथम मात्र विकार नाममात्र है. मृत्तिका है इतना ही सत्य है। सत्य यहां विकार की अपेता क्षिर का नाम है। उस धर्म में ही विकार संज्ञा या परिणाम संज्ञा है। श्रतः धर्मियों मे परिणामी होने से कौटरथ्य नहीं है और भलीभांति तो धर्म लत्तरण और श्रवस्थाओं को कौटरथ्य नहीं है। तीनों परिसामों की विस्तार से परीचा कर दी श्रव भूत और इन्द्रियों में तीनों परिणामों को क्रम से दिखलाते है उसमें यह उदाहरण हैं धर्मत इति-धर्म से परिणामित होते हैं। धर्म परिणाम के स्वरूप को दशात हैं घटाकार इति-परिखाम घटाकार है । नव पुराखतामिति-नवीनता के अनन्तर पराखता को प्राप्त होता हुआ सब ही धर्म आदिकों के अवस्थात्व से अविशेष होने पर भी गोवलीवर्द-न्याय से ही इनका तांत्रिक भेदनिर्देश है यह कहते हैं - धमियों के भी-लक्षण की पुराणत्व आदि अवस्था प्राप्त होने से ही नहीं कही हैं। एक एवेति-एक अव-स्थामात्र ही परिग्णाम है यह अथे है इस भांति अवस्था और लक्षण के भी धर्म होने से धर्म परि-शाम भी गोवलीबर्द-न्याय से ही जानने चाहिए । इसी भांति पदार्थान्तर में भी जानना चाहिए

भूतान्तर में इन्द्रियों में, पर प्रत्यय खादि में—यह खर्य है। जिसकी विशेषता को जो पूर्वोक ही परिएगाम भंभी के खरूप का खित-कामण करते हुए भर्मी में ही खतुगत हैं, खतः धमे भर्मी के ख्रमेद से एक धर्म परिएगम मात्र ही है। सामान्य से धर्मी होता है वहीं सब परिएगमों को प्राप्त करता है। सूत्रक्ष परिएगम परिएगम परिएगम परिएगम परिएगम परिएगम परिएगम की प्राप्त की प्रभपूर्वक व्याख्या करते हैं, ख्रथकोयं परिएगम इति—यह परिएगम की है क्या है ? उत्तर—अवस्थितस्थेति— संस्कारों में भी परिएगम कहा है। ख्रतः द्रव्यस्थेति— धर्मी का यह श्रथे है। धमे शब्द खाश्रित मात्र का वाचक है। निवृत्ति खतीतता है और क्यांस वर्तमानता है।

ग्रंका—धर्म से ऋतिरिक्त धर्मी का ऋतुभव नहीं होता जिसमें कि धर्म ऋादि परिस्ताम हैं। इस शंका पर धर्म से विवेचन करके धर्मी का प्रतिपादन सूचकार करेंगे।।१३॥

संगति—ऊपर बतलाये हुए तीनों परिग्णाम जिसके धर्म हैं उस धर्मी का स्वरूप निरूपण करते हैं :--

शान्तोदिताच्यपदेश्यवर्माजुपाती धर्मी ॥ १४ ॥

शब्दार्थ — (तत्र = उन परिएामों के)। शान्त = श्रर्तात । उदित = वर्तमान । श्रव्यपदेश्य = भविष्यत् । धर्मान्त्रपाती = धर्म में रहनेवाला । धर्मी = धर्मी है ।

अम्बयार्थ—(उन परिणामों के) अतीत, वर्तमान और भविष्यत् धर्मों में अनुगत धर्मी है।

व्याख्या—सूत्र को तत्र शब्द से पूरा करके पहें। (व्यासभाव्य) उपर उदाहरण देकर सममा आए हैं कि मिट्टी-द्रब्य वर्मी है और मिट्टी के गले बक्तेन और बक्तेन के दुकड़े आदि भिन्न-भिन्न आकार जो हो चुके हैं और जो होंगे, उसके धर्म हैं। अर्थात् धर्म धर्मी के बिशेष रूप आकार है, और धर्मी सामान्यरूप द्रब्य है जो सारे आकारों में अनुगत है। द्रब्य के दां रूप हैं सामान्य और विशेष। विशेष धर्म है और सामान्य धर्मी है। विशेष भी अपने अगले विशेष के प्रति धर्म बन जाता है।

शास्त—इसमें शान्त वे धर्म हैं जो अपना-अपना व्यापार करके आतीत (भूत) मागे (काल, में चले गये। जैसे बर्चन टूटकर (घट) टूटकर मिट्टी में मिलने पर वर्तमान धर्म से अनीत धर्म में चला गया।

उदित—उदित वे धर्म हैं जो अनागत मार्ग (काल) को त्यागकर वर्तमान मार्ग (काल) में अपना व्यापार कर रहे हैं। जैसे घट (बर्चन) के आकार, मिट्टी के धर्म, जो उसमें छिपे हुए थे, अब उसकी छोड़कर वर्तमान धर्म में आगए।

अवयपदेश्य—जां अनागत या भावष्यत् में शक्तिरूप से रह रहे हैं और जिनका निर्देश नहीं किया जा सकता है अर्थात् जो शक्तिरूप से स्थित हुए व्यवहार में न लाए जा सकें और बतलान में न आ सकें। जैसे घट (वर्चन) के आकार मिट्टी धर्नी में प्रकट होने से पहिले क्षिपे रहते हैं जो वर्णन में नहीं आ सकत। इस प्रकार नियम से कार्य-कारणरूप योग्यता से युक्त शक्ति ही धर्म पदार्थ है, उस शक्तिर धर्म के उक्त तीन भेद हैं। उन तीनों में जो अन्वयी रूप से रहनेवाली मिटी है वह धर्मी है अर्थात जो मिटी के विशेष रूप. आकार आदि हैं वह उसके धर्म हैं: और सामान्यरूप से मिटी दृब्य जो उन सब में अनुगत है वह धर्मी है। यहाँ यह समक्ष लेना भी आवश्यक है कि धर्मी का धर्मों तथा धर्म का धर्म से परस्पर भेद प्रतीत होते हए भी वस्तुतः इनमें अभेद है । धर्मी की वर्तमान अनुस्था का प्रत्यन्न और भतावस्था का स्मरण होता है पर उनकी श्रनागतावस्था श्रनमेय होती है । यदि धर्भी मुत्तिकादि में अनागत धर्म घटादि न हों तो "मृत्तिका में ही घट होता है, तन्तुओं में ही पट होता है" यह नियम नहीं बन सकता। इससे सिद्ध है कि मत्तिका आदि धर्मी में घटादि अनागत धर्म रहते हैं। अनागतावस्था नैयायिक का प्रागभाव श्रौर अतीतावस्था उनका प्रध्वंसाभाव है। वर्तमानावस्था की कारण अनागतावस्था है। अनागत धर्म तो वर्तमान मार्ग में त्राते हैं और वर्तमान धर्म त्रातीत मार्ग में चले जाते हैं परन्त अतीत धर्म वर्तमान में नहीं आते. क्योंकि वर्तमान के कारण आतीत धर्म नहीं हैं बल्कि अनागत धर्म हैं। इसलिये जो घट चर्ण होकर मिट्री में मिलकर अतीत मार्ग में चला गया वह फिर वर्तमान मार्ग में नहीं आयेगा। क्योंकि स्वकारण मिट्टी में लीन हो जाने से सक्ष्मता को प्राप्त होकर वह दर्शन के अयोग्य हो गया है। इसलिये उपलब्धि अर्थात प्रत्यच ज्ञान का विषय नहीं बन सकता (किन्तु पूर्व श्रनतु भूत श्रतीत लोकों स्त्रादि को खदेह में देखा था इत्यादि सिद्ध योगियों के वाक्य हैं। क्योंकि योगियों के इस प्रत्यत्त में विषय और उस श्रतीत विषय का सिन्नकर्ष कारण है।) उसके सदृश अन्य घट अवश्य आ सकते हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि न्याय, वैशेषिकादि दर्शनों में गुरा-गुराी को प्राय: धर्मे श्रीर धर्मी कहा गया है। परन्त योगदर्शन में धर्म श्रीर धर्मी शब्द कार्य श्रीर उपादान कारण के लिये प्रयक्त हुए हैं।

इस उपादान कारणहरूप धर्मी में उसके कार्य अञ्चयदेश्य (अनागत) धर्म शिक्त-मान्न अञ्चक रूप से छिपे रहते हैं उनको अञ्चयदेश्य (अनागत) से उदित (वर्तमान) धर्म में ज्यक्तरूप से प्रकट करने और फिर उदित धर्म से शान्त (अर्तीत) धर्म में अञ्चक रूप से छिपाने में चेतन पुरुष (ईश्वर तथा जीव) देश, काल और संयोग विशेषादि निमित्त कारण होते हैं। अपने-अपने निमित्तों के मिलने से धर्मी के धर्म प्रकट होते हैं।

टिप्पणी—ज्यास भाष्य का भाषानुवाद ॥ सूत्र १४ ॥

योग्यतावच्छित्र धर्मी की शक्ति ही धर्म है। उस शक्ति (धर्म) की सत्ता फल की इस्पत्ति के भेद से अनुमान की जाती है और वह शक्ति (धर्म)एक की अन्योन्य देखी जाती है।

उनमें बर्तमान खन्यापार का अनुभव करता हुआ धर्म धर्मान्तर जो शान्त और अन्यपदेश उनसे भेदित होता है, जब सामान्य से समन्वागत होता है, तब धर्मी खरूपमात्र होने से कौन किससे भेदित होवे, उस धर्मी में तीन धर्म हैं;—शान्त, उदित और अन्यदेश, उनमें से वे शान्त हैं जो अपना ज्यापार कर के उपरत हो गये हैं, सज्यापार उदित हैं, और वे अनागत लाइण के समनन्तर होते हैं, वर्तमान के अनन्तर अतीत होते हैं, अवीत के

श्रनन्तर वर्तमान नहीं हुश्रा करते, क्योंकि उन श्रतीत श्रीर वर्तमान में पूर्व पश्चिमता का स्नभाव है, जैसी श्रनागत श्रीर वर्तमान की पूर्व पश्चिमता है वैसी श्रतीत श्रीर वर्तमान की पूर्व पश्चिमता नहीं है, इसलिये श्रतीत की समनन्तरता नहीं है, वह श्रनागत ही वर्तमान के समनन्तर है।

श्रव श्रव्यपदेश कीन हैं ? "सर्व सर्वात्मकं" श्रव्यपदेश हैं जिसके विषय में कहा है कि जल और भूमि का पारिएए।मिक रसादि का वैश्वरूप्य स्थावरों (वृत्तादि) में देखा है, तथा स्थावरों का वैश्वरूप्य जंगमों में देखा जाता है और जंगमों का स्थावरों में देखा जाता है । इस प्रकार जाति के श्रनुच्छेद से सर्व सर्वात्मक हैं । देश काल श्राकार निमित्त का सम्बन्ध न होने से, समान काल में श्रात्माश्रों (स्वरूपों) की श्रमित्यिक नहीं होती, जो इन श्रमित्यक्त और श्रनभिव्यक्त धर्मों में श्रनुपाती सामान्य विशेष श्रात्मा (स्वरूप) है वह श्रम्वयी धर्मी है । जिसके मत में यह प्रपश्च धर्ममात्र निरन्वय है, उसके मत में भोग का श्रमाव है क्योंकि श्रम्य विज्ञान से किये कर्म का श्रम्य भोक्ता कैसे होगा ? और श्रम्य के श्रमुभव की स्पृति का श्रमाव होगा, क्योंकि लोक में श्रन्य के देखे का श्रम्य को स्मर्एए नहीं होता है, वस्तु के प्रत्यभिद्यान से (यह वही है जो पूर्व देखा था इससे) श्रम्वयी धर्मी स्थित है जो धर्म के श्रन्यथात्व को प्राप्त होकर भी वही प्रतीत होता है, इसलिये यह प्रपश्च धर्ममात्र निरन्वय नहीं है (इसमें श्रम्वयी धर्मी श्रव्यवी विद्यमान है) ॥ १४ ॥

विज्ञानभिज्ञ के योगवार्त्तिक का भाषानुवाद ॥ सूत्र १४ ॥

उस सूत्र को तत्र शब्द से पूरा करके पढ़ते हैं इन परिणामों के शान्तोदिता व्यप-देशधर्मानुपाती धर्मी—श्रतीत, वर्तमान, श्रनागत धर्मों में श्रनुपाती वर्तमान रूप से श्रनुगत धर्मी होता है, यहाँ अव्यपदेश विशेषण धर्म श्रीर धर्मी के विवेक प्रदर्शन के लिये है। तथा च वर्तमानस्व श्रीर अवतेमानस्व वैधर्म्य से धर्मी श्रीर धर्म का विवेक है, यह भाव है।

धर्मशन्दाथं की न्याख्या करते हैं। योग्यता से खबच्छित धर्मी की शक्ति ही धर्म है, योग्यताबच्छित्रा यह विशेषण् दग्धशक्ति के संप्रहार्थ दिया है, वर्तमानता का खर्थ खरूप की योग्यता है उससे खतीतादि साधारण्य का भी लाभ होता है, वर्तमान आदि विशेष न्यवच्छे-दार्थ एवकार का प्रयोग है।

शक्तित्व यहाँ अनागन्तुकल है (खाभाविकी है) तथा च अग्नि के दाहशक्तिवस भी धर्मी में यावदूद्रव्य भावी है, शक्तिभान् से शक्ति का वियोग नहीं हुआ करता, क्योंकि शिक्त और शक्तिमान् का अभेद सम्बन्ध है। धर्म शब्द के अर्थ को कह कर उसके शान्त उदित के उपपादन के लिये अनिभव्यक्ति दशा में भी उनकी सशा को सिद्ध करते हैं, स चेति—और वह धर्म शक्तिरूप फल की उत्पत्ति से उस समय अनुमित है, अव्यक्त अबस्था में विद्यमान है, आकस्मिक मानने में मिट्टी से ही घट की उत्पत्ति और तन्तु से ही पट की उत्पत्ति और तन्तु से ही पट की उत्पत्ति अग्निस कहना होगा; जब अनादि कहेंगे तो अनन्तता भी माननी पड़ेगी (क्योंकि भाव वस्तु अनादि होने पर अनन्त होती है यह नियम देखा जाता है)।

एकत्व और अनेकत्व के वैधर्य से भी धर्म धर्मी के विवेक के लिये कहते हैं एकस्येति — वे धर्म एक धर्मी के अनेक भी देखे गये हैं। सूत्र के तात्पर्य के विषय धर्म से धर्मी के विवेक का प्रतिपादन करके पहिले धर्मों के ही अन्योन्य का प्रतिपादन करते हैं तत्रेति — उन धर्मों के मध्य में वर्तमान धर्म वर्तमानातिरिक्त धर्मान्तरों से, शान्त और अव्यपदेश्यों से भेहित है, विवेचित है, भिन्न है क्योंकि उनसे इसका वर्तमानल और अवर्तमानल वैधर्म्य है, । वर्तमान का विवरण है स्वयापारमनुभवन् — अपने ज्यापार का अनुभव करता हुआ।

डांका-तो क्या इस प्रकार धर्मी के एक का दूसरे से अत्यन्त भेद है ? भेद अभेद नहीं है ? समाधान-न इत्याह-नहीं-जब तो शान्त और श्रव्यपदेश्य श्रवस्था में धर्म सामान्यता से श्राभिव्यक्तिविशेष के विना धर्मी में अनुगत होता है, विलीन होता है तब धर्मिस्वरूप-मात्रतया अवस्थित होने से धर्मी से तिभागरहित होने से कौन वह धर्म किस व्यापार से भेदित हो, भिन्न हो, अयोगी उसका विवेचन कैसे करें, क्योंकि धर्म वा धर्म का लक्ष्मा वपलब्ध नहीं है. अतः उस समय अविभागरूप अभेद भी होता है। इससे भाष्यकार ने वेहान्तोक ब्रह्माद्रैत भी प्रायः व्याख्यात कर दिया है प्रलय में सब वस्तुत्रों के परमात्मा में ही अविभाग होने से जैसा कि आकाश में बादलों का लय होता है, तथा च श्रतिः 'स यथा' सर्वासामपां समुद्र एकायनिमत्यादिना" वह जैसे कि सब जलों का समुद्र एक स्थान है इत्यादि से समष्टि जीव के प्रलय को दिखा कर आत्माद्वेत को कहता है "यत्र हि दैतमिव भवति नदेतर इतरं पश्यति यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभृत् तत्केन कं पश्येदिति" जब द्वैतवत् होता है तब एक दसरे को देखता है जब तो इसका सर्व आत्मा ही हो गया है तब कौन किसको देखे। अब शान्त, उदित और अन्यपदेश्य शन्दों के अर्थ की न्याख्या करते हैं तत्र त्रय इति-वहाँ धर्मी के तीन धर्म होते हैं शान्त, उदित और अव्यपदेश्य । वे शान्त हैं जो व्यापारों को कर के उपरत हो गये हैं। जो ज्यापार कर रह हैं वे उदित हैं। उसकी ज्याख्या करके उसके पाठ के क्रम से क्रम के अम को दूर करने के लिये कहते हैं, ते चेति - वे उदित अनागत लच्चा के समतन्तर होते हैं। इस प्रकार वरूयमाण अञ्चयदेश्य में भी पाठ क्रम का आदर नहीं करना चाहिये। यह कहते हैं कि वर्तमान के अनन्तर अतीत यह पाठ कम क्यों त्याग दिया इस आशय से पछते हैं-अतीत के अनन्तर वर्तमान क्यों नहीं होते, उत्तर देते हैं-पूर्वपश्चिमता के अभाव से पूर्व पश्चिम के द्वारा, उसी का विवरण करते हैं - जैसी अनागत और वर्तमान की पूर्व पश्चिमता है वैसी अतीत की वर्तमान के साथ नहीं है, तथा च अनागत अवस्था को जो कि प्रागमाव स्थानीय है वर्तमान अवस्था में हेतुता है अतः अतीत अवस्था के अनन्तर वर्तमान अवस्था नहीं होती है। उदित और अन्यपदेश्य के पाठकम के त्याग में भी यही ही बीज है, (यह ही कारण है)। उपसंहार करते हैं तस्मादिति - अतीत का समनन्तर नहीं है-पश्चिम लक्सण भेद नहीं है, सत्त्वतः श्रनागत ही वर्तमान के समनन्तर है, । पूर्व है, इससे सत्कार्थवाट में भी पूर्व अभिव्यक्त घटादि फिर उत्पन्न नहीं होते, यह सिद्धान्त याद रखना चाहिये ।

हांका-क्यों जी ! अनागत और वर्तमान के कार्य कारण भाव सम्बन्ध में ही क्या

ः मारा हैं १

समाधान — यदि अवीत की पुनः वर्तमानता हो तो अनिर्मोन् होगा। विनष्टान्तः धर-णाविद्याकर्मादि का पुनः उद्भव होने में मुक्तको भी फिर संसारी होना सम्भव हो जायेगा ? किंच यदि अतीत घट भी पुनः वर्तमान हो जाय तब वह ही यह घट है इस प्रकार की प्रत्य-भिज्ञा कभी होनी चाहिये ? (परन्तु होती नहीं) अतः योग्य की अनुपलव्धि से अतीत वस्तु का अनुन्मउन्न निर्ण्य होता है। यहाँ अनागतः और अतीत अवस्थाओं के प्रागभाव और प्रध्वंस रूपों के कार्य के उत्पादक और अनुत्यादक वैधर्म्यवचन में अञ्चक्त अवस्था के ही अवा-नतर भेद अनागत और अतीत हैं और ये परस्पर विलक्षण हैं यह मानना चाहिये।

शंका—यदि यह बात है तो अतीत के पुनः अनुत्पाद से अतीत की करूपना ही व्यर्थ है ?

समाधान -- नहीं कह सकते, अतीत लोकों को खदेह में देखा था इत्यादि सिद्ध योगियों के सैकड़ों वाक्यों की अनुपपत्ति से उस अतीत की सिद्धि होती है क्योंकि योगियों के इस प्रत्यत्त में विषय और उस अतीत विषय का सिन्निक्ष कारण है। यह भी नहीं कह सकते कि अतीत अर्थ का वह स्मरण्मात्र है, क्योंकि योगी को पूर्व अनुभूत का भी दर्शन होता है। जो योगज धर्म का भी सिन्निक्ष चाहते हैं उनके मत में भी असत् पदार्थ के सिन्निक्ष की अनुपपत्ति होगी। प्रत्यत्त के प्रति अनेक सिन्निक्ष के अनुगम से हेनुता के प्रह की अनुपपत्ति होगी। क्रान आदिकां के विषयता आदि रूप सम्बन्ध भी असत् में सम्भव नहीं है, क्योंकि सतों का ही सम्बन्ध देखा जाता है, प्रत्यत्त आदि में संयोग आदि ही प्रत्यासत्ति होती है, योगज धर्म से तो अधर्म—तम आदि प्रतिबन्धमात्रकी निवृत्ति होती है।

शान्त और उदित की ज्याख्या कर के अब अज्यपदेश्य की ज्याख्या करने के लिये पूछत हैं अधाज्यपदेश्या के इति — अज्यपदेश्य कीन हैं ? जो ज्यापार करेंगे वे अज्यपदेश्य हैं यह तो कह नहीं सकते क्योंकि अकरिष्यमाण ज्यापार (जो ज्यापार नहीं करेंगी) भी केवल अनागत लहाण वस्तुओं को (योग सिद्धान्त में) स्वीकार किया है, अतः प्रकारान्तर से अज्यपदेश्य का लहाण करते हैं सर्व सर्वात्मक मिति। सर्व सर्वात्मक हैं, सर्वात्मक, सर्वझ-क्तिक, सब शक्ति धर्म वाले हैं, तथा च सर्वत्र परिणामी में अवस्थित सर्वविकार-जनन-शक्ति ही अज्यपदेश्य है।

शंका—वर्तमान और अतीत अवस्थाओं में तो अनुभव और स्मरण प्रमाण हैं। शक्ति नाम की अनागत अवस्था में क्या प्रमाण है ? और सर्वत्र सर्वशक्तिमत्व में क्या प्रमाण है ?

समाधान—यत्रोक्तमिति—छभिन्यक्तिरित्यन्तेन छन्वय है, जिस सर्वत्र सर्व शक्ति मत्त्र में पूर्वाचार्यों ने यह वक्ष्यमाण प्रमाण कहा है, पहिले प्रत्यस्थल में शक्ति का अनुमान कराते हैं —जलभूस्योरित—जल और भूमि का पारिणामिक रसादि वैश्वरूप्य रस खादि से खावर चादि में देखा जाता है, मधुर-अम्ल-सुरभि-असुरभि-मृदु-कठिन चादि से जो अनन्तरूपत है वह जल और पृथिवी के परिणाम के निमित्त से है। इस अन्वय और व्यतिरेक से प्रत्यन देखा जाता है, अतः जल और भूमि खावरात्मक हैं, श्वावर शक्ति वाले हैं। शक्ति के विना भी कार्य करना मानने में श्रविप्रसंग होगा, तथा जंगमों में जो वैश्वरूप्य

है वह स्थावरों के परिणाम के निमित्त से देखा जाता है। मनुष्य आदि के विवय में धान्य आदि स्थावर के कार्य्यों का धान्य आदि विशेषों के सेवन से रूपादि विशेष देखा जाता है, तथा स्थावरों का जो वैश्वरूप्य है वह जंगमों के परिणाम के निमित्त से देखा जाता है। गोवर दुग्धादि से धान्य चम्पक आदि स्थावरों के विचित्र रूप रस आदि देखे जाते हैं, इत्यादि हानों से सब वस्तुओं में सब विकारों के जनन की शक्ति सिद्ध होती है, यह कहते हैं। इत्येवमिति—जैसे जलादि स्थावरात्मक हैं ऐसे ही अन्य भी सर्वविकारात्मक, सब शक्ति वाले हैं।

शंका - अतीत कार्य में भावी वस्तु उत्पादन की शक्ति नहीं हैं।

समाधान—जाति के श्रनुच्छेद से—यद्यपि श्रतीत कार्य व्यक्ति उच्छिन्न हो नुकी है तथापि उसकी जाति की श्रन्य व्यक्ति उच्छिन्न नहीं है उनमें शक्ति है, तथा च सर्वात्मक-त्व सर्वेजातीयशक्तिमत्व यहाँ विविच्चत है। यह भाव है, इससे श्रन्य द्रव्य की परिणाम व्यक्तियों के श्रन्यत्र श्रभाव होने पर भी नियम का भंग नहीं होता है, क्योंकि उसकी जाति वाली श्रन्य व्यक्तियों में जनन शक्ति का होना सम्भव है। यह बात विष्णुपुराण में कहीं हैं—

यया च पोदपो मृतस्कन्धशाखादिसंयुतः।
गादिबीजात् मभवति बीजान्यन्यानि वै ततः ॥
सम्भवन्ति ततस्तेभ्यो भवन्त्यन्ये परे द्वुमाः।
तेऽपि तद्वचणद्रस्यकारणातुगता मुने !॥
एवमस्याकृतात्पूर्वे जायन्ते महदादयः।
सम्भवन्ति सुरास्तेभ्यस्तेभ्यशाखिलजन्तवः॥

जैसे वृत्त मूल-स्कन्ध और शाखादि से युक्त आदि बीज से उत्पन्न होता है और उससे दूसरे बीज उत्पन्न होते हैं फिर उन बीजों से दूसरे वृत्त उत्पन्न होते हैं, हे मुने! वे वृत्त भी तक्ष्णणद्रव्यकारण के अनुगत ही होते हैं, इसी भाँति पहिले अव्यक्त से महत् आदि उत्पन्न होते हैं, उस महद् से सुर, तथा सुरों से अखिल प्राणी उत्पन्न होते हैं।

यदि सर्वत्र सर्वजातीय वस्तुओं के जनन की शक्ति न मानी जाय तब एक ही बझा से खखिल देव दानव नर पशु आदि कैसे उत्पन्न हो सकते हैं—अगस्त के जठर (जाठरामि) से समुद्र का शोषण् कैसे हो सकता है ? बझा, विष्णु, रुद्र, पार्वती के शरीर आदि में विश्व का दर्शन कैसे हो सकता है ? योगियों के अपने शरीर और मन से अनन्त विभूति कैसे उत्पन्न हो सकती है ? बहुत कहने से क्या लाभ—

उपदेचयन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वद्शिनः । येन स्तान्यशेषेण द्रस्यस्यात्मन्यशो विधा।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मिन । ईत्तते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

तस्वदर्शी ह्वानी तुमको ह्वान का उपदेश देंगे जिस ह्वान से अशेषतया इन भूतों को मेरे अन्दर देखोगे। सबेत्र समदर्शी योग्युक्ताप्मा सबेभूतस्य आप्मा को और सबे भूतों को आप्मा में देखता है। इप्यादि वाक्यों से सर्व प्राणियों के शरीरों में सर्व जातीय वस्तु की सत्ता का वचन शक्ति रूपता के विना आसानी से ठीक-ठीक उपपन्न नहीं हो सकता। अर्जुन आदि ने शिक्त रूप से आवस्थित भावी भीष्मवध्य आदिक ही कालाप्मक कृष्ण के शरीर में दिव्य चक्कु से देखे थे, जैसे कि योगी अतीत और अनागत को देखता है। इससे 'स इदं सर्व भवति, तक्ष्मान सर्वमभवन्' वह यह सब हो जाता है, इससे वह सब हो गया था, इप्यादि श्रुति से ब्रह्मविन् की सर्वभावरूपा श्रुत्युक्त सिद्धि भी उपपन्न हो जाती है।

तथा—जीवोपाधि में जो महैश्वर्य शक्तिमान् होने से जीवों के ईश्वरत्व की प्रति पादक श्रृति और स्मृति हैं वे भी उपपन्न हो जाती हैं। वैसे ही 'वे ये सत्य हैं, श्रमृत से ढके हैं यह श्रृति भी माननी चाहिये।

रंका—इस प्रकार सर्वत्र सर्व शक्ति मानने में नाना विकारों की एक साथ उप्पत्ति क्यों नहीं होती ? और पत्थर के टुकड़े से भी अंकुर उपन्न क्यों नहीं होता ! हम लोगों के शरीरों से ब्रह्मा की भाँति संकल्पमात्र से श्राखिल प्राणियों की उप्पत्ति क्यों नहीं होती ?

समाधान — देशकालेति — देश मुलोक श्रादि काल-कलयुग श्रादि. संस्थान — श्रव-यवों का संयोग विशेष, निमित्त अधर्मादि के प्रतिवन्धक होने से, (हमारे शरीरों से सर्व प्राण्यों की उत्पत्ति नहीं होती)। एक काल में विरुद्ध श्रात्मशक्ति रूपों की अभिन्यिति । वर्तमान लच्चण परिण्याम भी नहीं होता है। इस प्रतिवन्ध वचन से श्रन्य शंकाश्रों का भी परिहार हो गया। सहकारी के श्रभाव से ये सब नहीं होते हैं ऐसा भी कोई परिहार करते हैं। उसका भी प्रतिवन्धनिमत्तकः श्विलम्ब में ही तालप्त्ये है, 'निमित्तमथ्योजकं प्रकृतीनां वरण्यभिरत्तु ततः चेत्रिकवद् 'इस श्रागामी सूत्र में सब निमित्त कारणों को स्वतन्त्र प्रकृति के परिण्यामों प्रतिवन्ध के निवर्तकतामात्र ही मानी है, श्रतः पथ्यर के दुकड़े से श्रंकुर उत्पक्त नहीं होता, क्योंकि श्रवयव संयोगविशेष श्रंकुर की उत्पत्ति में प्रतिवन्धक हैं। हमारे शरीर से विश्व की उत्पत्ति नहीं होती क्योंकि उसमें श्रप्यमें प्रतिवन्धक है। ब्रह्माखाइ श्रिति शक्ति वाले घट श्रादि ब्रह्मायड श्रादि के उत्पादन के विना ही नष्ट होते देखे गये हैं वह शिक्त उत्पन्न होकर घटादि के साथ ही नष्ट होजाती है, क्योंकि उसके आधार घट का नाश हो चुका है। कभी नहुष शरीर श्रादि के सर्पादिभाव की भांति परमेश्वर श्रादि के संकल्प से घट श्रादि के भी प्रकृत्यापुरवश से श्रवयवों में क्षित श्रविल परिणाम होते ही हैं। जैसा कि लौकिक लोगों ने भी कहा है—

विषमप्यमृतं कषिद् भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छयेति ॥

विष भी कहीं असृत हो जाता है और ईश्वर की इच्छा से कहीं असृत भी विष बन जाता है। इससे तथा ज्ञान के द्वारा पुरुषार्थ की समाप्ति से चित्त के अत्यन्त विलय के काल में अनागत शक्तिरूप दुःख भी चित्त के साथ ही नष्ट हो जाता है अतः 'हेयं दुःखमनागतम्' इस सूत्रोक्त अनागत दुःख की हेयता भी उपपन्नहो जाती है, ऐसा होने पर विकारों का कहीं लच्चण्मात्र भी होता है वह अनागत अतीतता रूप कहना चाहिये। अन्यथा अनागत दुःख की हेयता नहीं वन सकेगी; दूसरों के मन में अनागत दुःख की हान सिद्ध ही होने से पुरुषार्थ ही नहीं है, और इसमें अनागत दुःख अभावितया नहीं घटेगा। पदार्थों की ज्या- ज्या करके समग्र सुत्रार्थ को कहते हैं—

य एतेषु — जो इनमें अन्वयी-सर्वधमों में अन्वयी-स्थिर है (वह अन्वयी धर्मी है) तथा च अभिन्यक्त अनिभ्यक्त वैधर्म्य से धर्म और धर्मी का विवेक-भेद ज्ञान होता है यह सूत्र का तात्पर्थ्यार्थ है। इस भांति अन्योऽन्य वैधर्म्य से धर्मी का विवेक-भेद ज्ञान होता है यह सूत्र का तात्पर्थ्यार्थ है। इस भांति अन्योऽन्य वैधर्म्य से धर्मी का सिद्ध किया है। अब उसके न मानने में भाष्यकार बाधक भी कहते हैं। यस्य तु-जिनके मत में धर्ममात्र ही यह सब है और तिरन्वय हैं उसके मत में भोग नहीं बन सकता, धर्म मात्र कड़ने से चिल्कित भी आ जाता है। अनेक च्रण स्थायी होने पर ही च्रण सम्बन्धस्प धर्मवत्व ही पदार्थमात्र होगा ? धर्ममात्र का विवरण है—तिरन्वय-निर्धर्मिक (धर्मी रिहत धर्म)। धर्मी के निराकरण से आक्ष्म चिल्कित विज्ञान है यह भी आजाता है, तब तो प्रथम पाद में कहे ही दूषण हैं—तस्य भोगाभाव:— (भोग का सिद्ध न होना)। शेष सुनम है।। १४।।

संगति-एक धर्मी के अनेक परिगाम (धर्म) किस प्रकार हो सकते हैं। इस शङ्का

के निवारणार्थ अगला सूत्र है :--

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥१४॥

शब्दार्थ-कम-अन्यत्वम = कम का भेद। परिणाम-अन्यत्वे = परिणाम के भेद में। हेतु: = हेतु है।

अन्वयार्थ-क्रमों का भेद परिणाम के भेद में हेतु है।

व्याख्या—एक क्रम से एक परिणाम होता है। एक धर्म में अनेक प्रकार के क्रम होते हैं। जितने प्रकार के क्रम होते हैं उतने ही उनके परिणाम होते हैं। पिछले उदाहरण के अनुसार मिट्टी के चृणे से पिएड, पिएड से बत्तेन बनना, बत्तेन टूटकर कपाल होना, कपाल से ठीकरे होना, ठीकरे से चृणे। यह सब क्रम हैं। इन्हीं कमों के मेद से इनके परिणाम-भेद होते हैं। जो जिस धर्म के पीछ होता है वह उसका क्रम है। जैसे पिएड नष्ट होकर बत्तेन का उत्पन्न होना। इस प्रकार के क्रम से धर्म-परिणाम होता है। इसी प्रकार लक्षण-परिणाम भी क्रम से होता है, जैसे बर्चन के अनागत भाव का वर्तमान मार्ग (भाव) में आना एक क्रम है। इससे वर्तमान लक्षण-परिणाम होता है। पराड के वर्तमान भाव से अतीत भाव में जाना भी एक क्रम है। इससे अतीत-तक्षण-परिणाम होता है। अतीत

का वर्तमान में कोई कम नहीं होता । जैसे पूर्व सूत्र में बतला चुके हैं । इसी प्रकार वत्तन के पकने से लेकर चूर्ण होने तक भी जो. कम प्रतिच्चण होता रहता है जससे अवस्था-परिणाम होता रहता है । यहाँ यह भी समफ लेना चाहिये कि धर्भ और लच्चण-परिणान तो कभी-कभी होते हैं पर अवस्था-परिणाम प्रतिच्चण सूक्ष्मरूप से होता रहता है और स्थूल भाव को प्राप्त होकर अकट होता है । इसी परिणाम के कारण जो चावल आदि सुरचित सुखारियों में रखे गये हैं, बहुत वर्षों के पश्चात् ऐसी दशा में हो जाते हैं कि हाथ लगाने से चूर्ण हो जाते हैं । ऐसी दशा उनकी अकस्मात् नहीं हुई, किन्तु चण-चण में कमकम से होता रही है । इसलिये अवस्था-परिणामों के कम यद्यपि प्रत्यच्च देखने में नहीं आते तथापि अनुमान से जाने जाते हैं । इस प्रकार कमों के भेदरूप हेतु से एकधर्मी के अनेक धर्म-परिणामों का; और धर्मों के तीन प्रकार के लच्चण-परिणामों का; और वर्तमान धर्मों के च्या-च्या में होने वाले असंख्यात अवस्था-परिणामों का निश्चय होता है ।

यद्याप वास्तव में धर्म, धर्मी-स्वरूप, ही होता है, तथापि धर्म-धर्मी के किश्वित् भेद की अपेता से यह तीन प्रकार के कमों का भेद कहा है अर्थात् पृथ्वी आदि विकारों से लेकर महत्तत्त्व पर्यन्त यह सब धर्म-धर्मी भाव अपेतित हैं। वास्तव में यह नियम नहीं है कि यह धर्म है और यह धर्मी है, क्योंकि घटादिकों की अपेता से जो मृत्तिका धर्मी है वह मृत्तिका भी गन्ध-तन्मात्रा का धर्म है। गन्ध-तन्मात्रा जो मृत्तिका की अपेता से धर्मी है, अहङ्कार का धर्म है। अहङ्कार भी जो गन्ध-तन्मात्रा जो अपेता से धर्मी है, महत्तत्त्व का धर्म है; और महत्तत्त्व भी जो अहङ्कार की अपेता से धर्मी है प्रधान (मृल प्रकृति) का धर्म है। इस प्रकार महत्तत्त्व पर्यन्त धर्म-धर्मी भाव सापेत्र है, नियत नहीं है। वास्तव में निर्पेत्त तो मुख्य धर्मी प्रधान ही है जो किसी का धर्म नहीं है। उस धर्मी के ही यह सब परिणाम हैं। ये किश्वित् भेद को लेकर तीन प्रकार के कहे गए हैं। वास्तव में यह एक धर्मी के ही धर्म-परिणाम का विस्तार है। यह प्रधान धर्मी ही परिणामी नित्य है।

जिस प्रकार वाह्य परार्थों के अनेक धर्म-परिणाम हैं, इसी प्रकार वित्त में भी अनेक प्रकार के धर्म-परिणाम हैं। वित्त के धर्म दो प्रकार के हैं: एक परिदृष्ट अर्थात् अपरोत्त (प्रत्यत्तरूप)। प्रमाणादि (प्रमाण, विपर्ध्य, विकल्प, निद्रा, स्पृति, राग, हेषादि) वित्त की वृत्तियें प्रध्यत्तरूप हैं; और निरोधादि वित्त के धर्म परोत्त (अप्रत्यत्त) रूप हैं, क्योंकि वे प्रध्यत्त से नहीं जान जाते, शास्त्र अथवा अनुमान द्वारा ही उनका ज्ञान होता है। वे अपरिदृष्ट सात हैं, जैसा श्री भगवान व्यासजी ने निम्न ऋतंक में बतलाया है:—

निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽय जीवनम् । चेष्टा शक्तिश्व चित्तस्य धर्मा दशैनवजिताः ॥

अर्थ-निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा, शक्ति चिला के दर्शन वर्जित (परोच) धर्म हैं अर्थात् अप्रत्यच रूप हैं।

- (१) असम्भक्कात-समाधि की अवस्था में सब वृत्तियों का निरोध, "संस्कारशेष " आगमगम्य है अर्थात् केवल योगशास्त्र से जाना जाता है और अनुमानगम्य है क्योंकि सर्व वृतियों के अभाव से अनुमान किया जाता है।
- (२) चित्ता के धर्म पुराय-पाप केवल सुखदर्शन श्रौर दु:खदर्शन श्रादि से श्रातुमेय श्रीर श्रागमगन्य हैं।
 - (३) चित्त का संस्काररूप धर्म स्मृति द्वारा अनुमान किये जाने के कारण अनुमेय है।
 - (४) चित्त का चए-चए में होनेवाला परिणाम श्रतिसूक्ष्म होने के कारए श्रनुमेय है।

(५) चित्त का जीवनरूप धर्म श्वास-प्रश्वास द्वारा अनुमेय है।

- (६) चित्त की चेष्टा (क्रिया) इन्द्रियों तथा शरीर के खङ्गों की चेष्टा से अनुमेय है। क्योंकि इनकी चेष्टा, बिना चित्त के संयोग के, नहीं हो सकती खौर संयोग विना चित्त कीं चेष्टा के नहीं हो सकता।
- (७) चित्त में जो कार्यों की सुक्ष्मावस्थारूप शक्ति है वह भी स्थूल कार्य के ज्ञान से अनुमेय है अर्थात् स्थूल राग-द्रेषादि को देखकर सुक्ष्म राग-द्रेषादि अनुमान किया जाता है। इस प्रकार उपयेक्त सातों चित्त के धर्म अप्रत्यक्तर हैं।

संगति — अब यहाँ से पाद की समाप्ति तक र्स्यम का विषय और संयम की विभूतियाँ दिखलायेंगे । उनमें से पहिले तीनों परिणामों में संयम और उसकी सिद्धि बतलाते हैं :—

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ-परिणाम-त्रय-संयगत् = तीनों परिणामों में संयम करने से। अतीत-अनागत-ज्ञानम् = भृत और भविष्यत् का ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ—तीनों परिणामों में संयम करने से भूत और भविष्यत् का झान होता है। व्याख्या—पिछले सूत्र में बतलाया गया है कि कमों से परिणाम होते हैं इसिलये तीनों कालों में हानेवाले संसार के समस्त पदार्थ धर्म, लक्ष्ण और अवस्था-परिणाम के अन्तरीत रहते हैं। इसिलये जब योगी किसी बस्तु के इन तीनों परिणामों को लक्ष्य में रखकर संयम करता है तो उसका इन तीनों परिणामों के साजान् होने से उस वस्तु के सब कमों का अर्थान् जिस-जिस अवस्था में होकर वह वस्तु इस रूप में पहुँची है और आगे जिस-जिस अवस्था में पहुँचेगी और जितने-जितने काल में पहुँचेगी, सब ज्ञान हो जाता है।

संगति - संयम-साध्य दूसरी विभूति बतलातं हैं :-

शब्दार्थे पत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्मविभागसंयमात् सर्वभूतकत्रज्ञानम्॥१७

शब्द(र्थ—शब्द-अर्थ-प्रत्ययानाम् = शब्द, अर्थ और ज्ञान के। इतर-इतर-अध्यासात् = परस्पर के अध्यास से। संकरः = अभेद भासना होता है। तत्-प्रविभाग-संयमात् = वनके विभाग में संयम करने से। सर्वभृत = सब प्राण्यों के। इत-ज्ञानम् = शब्द का ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ-शब्द, अर्थ और ज्ञान के परस्पर के अध्यास से अमेद भासना होता है।

क्नके विभाग में संयम करने से सब प्राणियों के शब्द का झान होता है।

व्याख्या – शब्द : वाचक, जिसको जिह्ना से उचारण करते हैं श्रौर कानों से सुनते हैं जैसे 'गौ ' शब्द ।

ऋर्य : वाच्य, जो शब्द से जाना जाता है, जैसे दूध देने वाला, घास खाने वाला पशुविशेष 'गौ'।

प्रत्यय : ज्ञान अर्थात् विषयाकार चित्त की वृत्ति जो शब्द-गौ और श्रथ-गौ दोनों की मिलाकर इनका ज्ञान करानेवाली है।

यह तीनों अलग-अलग अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं। पर निरन्तर अभ्यास के कारण तीनों मिले हुए प्रतीत होते हैं। इस कारण किसीसे कहा जाता है कि गौ को घास-चारा दे आओ, तो वह उस पशुविशेष के पास घास चारा ले जाता है। वह इन तीनों में कोई भेद प्रतीत नहीं करता। पर यदि किसी विदेशी पुरुष से जिसने अभी तक गौ का शब्द नहीं सुना है, कहा जाय कि गौ को घास-चारा दे आओ तो वह इन तीनों के भेदों को विचारेगा। वह अनुमान करेगा कि पुरुष घास नहीं खाते हैं। इस कारण वह अनुमान से ही शब्द-गौ से ही अर्थ-गौ और उसके ज्ञान को समम्मने का यत्न करेगा। इसी प्रकार सब प्राणी जो शब्द बोलते हैं उसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों होते हैं। योगी को संयम-अभ्यास से समाधि-प्रज्ञा (३-४) प्राप्त होती है। इसलिये वह शब्द, अर्थ और ज्ञान के विभाग में संयम करने से इस शब्द का अर्थ, और शब्द-अर्थ दोनों के सम्यन्धी ज्ञान को जान लेता है और सब प्राण्यों की बोली को समम्म लेता है।

टिप्पणी - इस सूत्र के प्रसङ्ग में भाष्यकारों ने स्कोटवाद का बहुत विस्तार के साथ विचार किया है। यह विषय योग-जिज्ञासुओं के लिये उपयुक्त नहीं है इसलिये उसको व्याख्या में छोड़दिया गया है, किर भी इस विषय से प्रेम रखनेवाले पाठकों के लिये भोजवृत्ति व्यास भाष्य तथा वार्त्तिक का भाषानुवाद और अन्त में इन सबका संत्तेष विशेष वर्णन रूप में यहाँ दिये देते हैं—

भोजहत्ति का भाषानुवाद ॥ १७ ॥

कर्गेन्द्रिय से महर्ग के योग्य और नियम से स्थित है कम (पूर्वापर भाव) जिनका ऐसे जो कि नियम से किसी एक कार्य के बोधक हों वे वर्ग 'शब्द' कहलाते हैं वा कमरान्य स्काटरूप ध्विन से संस्कृत जो बुद्धि, उससे महर्ग करने योग्य 'शब्द' कहलाते हैं । कोनों ही प्रकार से यह रूप (सुमक्त्त्रसमुदाय) शब्द होता है। क्योंकि उन दोनों की ही एक किसी कार्य के बोधन कराने में शक्ति है। गोलादि जाति, रूपादि गुग्ग, पचनादि किया, देवदत्तादि संज्ञा, शब्दों के अर्थ हैं। ज्ञान अर्थात् विषयाकार से परिणित बुद्धि-बृत्ति का नाम प्रत्यय है। व्यवहार (कथनादि) में शब्द, कार्य प्रत्याकार से परिणित बुद्धि-बृत्ति का नाम प्रत्यय है। व्यवहार (कथनादि) में शब्द, कार्य प्रत्याकार से परिणित बुद्धि-बृत्ति का नाम प्रत्यय है। व्यवहार (कथनादि) में शब्द, कार्य प्रत्याकार से परिणित बुद्धि-बृत्ति का नाम प्रत्यय है। व्यवहार (कथनादि) में शब्द, कार्य प्रत्याकार से परिणित बुद्धि-वृत्ति का नाम प्रत्यय है। व्यवहार (कथनादि) में शब्द, कार्य प्रत्याकार कार्य होने से सङ्गर (मेल) हो जाता है। देखिये, 'गौ को ले का' ऐसा कहने पर गोल जाति से युक्त सास्ना (गले का कम्बल) वाले पिएडरूप कार्य को, वसके कहनेवाले शब्द को

बौर उसके ज्ञान को विना भेद के ही पुरुष निश्चित करता है। यह भेद नहीं होता कि इस बर्ध का 'गो' शब्द वाचक है, यह गो' शब्द का बर्ध है, बौर यह शब्द क्ये होनों का प्राह्क ज्ञान है। जैसे—यह कौन वर्ध है ? कौन यह 'शब्द' है ? कौन यह ज्ञान है ? ऐसे पूछने पर एक रूप से ही पुरुष उत्तर देता है। कि गौ है' यह 'शब्द' 'क्यरे' 'ज्ञान' इन तीनों का अभेदाध्यवसाय न हो तो एकाकार उत्तर नहीं वन सकता ऐसी स्थित है। तथापि शब्द में वाचकत्वरूप, अर्थ में वाच्यत्वरूप, ज्ञान में शब्दार्थ-प्रकाशत्वरूप, विभाग है।

इस विभेद को करके इसमें जो योगी संयम करता है उसको सब प्राणियों के अर्थात् पशु पत्ती सर्पोदिकों के शब्द से ज्ञान होजाता है कि इस अभिप्राय से उस प्राणी ने यह शब्द

चबारण किया है। ऐसा ज्ञान होने से सबको जान लेता है।। १७॥

व्यासभाष्य का भाषानुवाद ॥ सूत्र १७ ॥

इस विषय में वाग—इन्द्रिय वर्णों में ही अर्थवती है (वर्ण का उचारण मात्र ही उसका काम है)। ध्विन के परिणाम मात्र को विषय करने वाला श्रीत्रेन्द्रिय है (श्रीत्र का काम ध्विन के परिणाम को प्रहण करना मात्र है) उसके अर्थ को जतलाना नहीं है, पद वर्णात्मक है। जिससे अर्थ का कथन होना है—जैसे घटादि—वह नादानुसंहार बुद्धि से निर्माह्य है (नाद—वर्णों का नाम है, उनके अनुसंहार की बुद्धि—एकत्व के आपादन की बुद्धि से निर्माह्य है, क्योंकि वर्णों को बुद्धि से इकट्टे करके पद का मह्ण होता है)।

सब वर्णों का एक काल में उबारण श्रसम्भव है। श्रतः परस्पर निरतुप्रहात्मक हैं। पर-स्पर श्रसंकीर्ण हैं। वे वर्ण समाद्वार रूप पद को बिना छुए — विना वपश्यित किये — विना बनाये ही श्राविभूत — प्रकट सौर तिरोभूत — लीन होते रहते हैं — श्रतः प्रत्येक श्रपदस्वरूप कहे जाते हैं।

किर एक एक वर्ण पदासा। है—पद के निर्माण में उपादान रूप है, सर्वाभिधान शक्ति से प्रचित है (सर्व अभिधानों की शक्ति संचित है जिसमें), सहकारी वर्णान्तर का प्रतियोगी—सम्बन्धी होने से वैश्वरूप्य की भांति आपका है (असंख्य पद रूप जैसा बना हुआ है)। पूर्व वर्ण उत्तर वर्ण के साथ और उत्तर वर्ण पूर्व वर्ण के साथ विशेष में अवश्यापित है। इस प्रकार बाइत वर्ण कम के अनुरोधी, अर्थ संकेत से अविच्छित्र (संकेती कृत अर्थ मात्र के वाचक) हैं, इतने ये वर्ण सर्वाभिधान शक्ति से परिवृत्त हैं, गकार औकार और विसर्जनीय सास्तादिमान अर्थ (गौ पशु) को चोतित करते हैं। जो अर्थ संकेत से अविच्छत्त हैं। जो जर्थ संकेत से अविच्छत्त हैं। जिनका ध्वनिकम। उपसंहत हैं—उन वर्णों का जो एक बुद्धि निर्मास है वह पद वाचक । वाच्य का है संकेतित है, वह एक पद, एक बुद्धि विचय—एक प्रयक्ष से आत्तिम—अभाग—अक्रम—अवर्ण—वौद्ध—अन्त्य वर्णों के प्रत्यय के व्यापार से उपश्चापित, दूसरे पर प्रतिपादन की इच्छा से अभिधान कर्ताओं से अभिधीयमान और श्रोताओं से श्रुयमाण वर्णों से ही अनादि वाग् व्यवहार की वासनाओं से अनुविद्ध लोक बुद्धि से स्रित्तिपत्ति से प्रतीत होता है। उसका संकेत बुद्धि से प्रविभाग है कि इतने वर्णों का इस प्रकार का अनुसंहार एक अर्थ का वाचक है।

संकेत तो पद स्वीर पदार्थ के इतरेतराध्यासरूप स्मृत्यात्मक होता है, जो यह शब्द है वही यह अर्थ है और जो यह अर्थ है वही यह शब्द है, इस प्रकार इतरेतराध्यासरूप संकेत होता है। इस प्रकार ये शब्द, अर्थ और प्रत्यय इतरेतर अध्यास से संकीर्ण रहते हैं,--गौ अर्थ है, गौ शब्द है, गौ झान है। जो इनके विभागों का जाता है, वह सर्ववित है। सब पदों में वाक्य की शक्ति होती है। बृत्त इतना कहने पर—श्रस्त (है) क्रिया स्वयं भासने लगती है. क्योंकि पदार्थ सत्ता रहित नहीं रहा करता। तथा क्रिया भी असाधन (कारकरहित) नहीं हवा करती, तथा-पचित (पकाता है) यह कहने पर सब कारकों का अध्याहार होता है-चैत्र कर्ता, अग्नि कर्म, तएइल करण का कथन तो अनुवाद मात्र होता हैं। वाक्यार्थ में पदों की रचना देखी जाती है श्रोत्रियश्छन्दों ऽधीते (श्रोत्रिय श्रर्थात जो छन्द पदता है) जीवति—प्राणान्धारयति (जीता है अर्थात प्राण धारण करता है), उस वाक्य में पदार्थ की अभिव्यक्ति होती है, उससे पद का विभाग कर के क्रियावाचक है या कारक वाचक है यह न्याख्या करनी चाहिये। अन्यथा (यदि वाक्य में पदार्थ की अभिव्यक्ति न हो तो भवति (है), अन्न, अजावय इत्यादि में नाम और आख्यात के समान रूप होने से किया और कारक में अनिर्झात की व्याख्या कैसे की जा सकती है। उन शब्द, अर्थ क्योर प्रत्ययों का विभाग है, जैसे कि श्रेतते प्रासादः (महल सफेद होता है) यह क्रिया का अर्थ है, श्रेतः प्रासादः (महल सफेद है) यह कारक का अर्थ है। शब्द किया और कारक रूप है, उस शब्द का अर्थ प्रत्यय (ज्ञान) है-व्योंकि सोऽयम्- वह यह इस एका-कार ही प्रत्यय संकेत है। जो श्रेत अर्थ है—वह श्रेत शब्य—और श्रेत प्रत्यय (झान) का आलम्बनीमृत है (विषय है), वह श्वेत अर्थ अपनी अवस्थाओं से विकृत होता हुआ न तो शब्द के साथ रहता है और न प्रत्यय (ज्ञान) के साथ रहता है, ऐसे ही शब्द और प्रत्यय भी विकृत होते हुए एक दूसरे के साथ नहीं रहते, शब्द अन्य प्रकार का है, अर्थ अन्य भाँति का श्रीर प्रत्यय इन से भी विलच्चण है। इस प्रकार से इनका विभाग है, इस भाँति उनके विभाग में संयम करने से योगी को सब प्राणियों के शब्द का ज्ञान होता है ॥ १७॥

विज्ञानभिद्ध के योगवाचिक का भाषानुवाद ॥ सूत्र १७ ॥

संयमान्तर की सिद्धिको कहते हैं—शब्दार्धप्रत्यायानामितरेतराभ्यासात संकरस्तत् प्रविभागसंयमात् सर्वभूतकतज्ञानम्—गौ—इत्यादि शब्द हैं, गौ इत्यादि अर्थ है, गौ इत्यादि अर्थ है, गौ इत्यादि अर्थ है, गौ इत्यादि अर्थ है, गौ इत्यादि प्रत्यय (ज्ञान) है—इनके वश्यमाग्र संकेतरूप अध्यास से संकर—अविवेक—मह होता है, वास्तव में इनका भेद है। अतः उनके प्रविभाग में—भेद में संयम द्वारा साचात् करने पर सर्व भूतों के शब्दों का ज्ञान होता है—यह काग इस अर्थ को समस्क कर इन शब्दों से कहता है।

'यद्यपि साचात्कते सित' यह पाठ सूत्र में नहीं है तो भी संस्कारसाचात्करणात्— इस ष्टतर सूत्र से—साचात्कार पर्यन्त ही संयम की सिद्धि कही हैं, बतः सर्वत्र सूत्रों में संयम की साचात्कार द्वारा ही व्याख्या करनी चाहिये। इसीलिये भाष्यकार भी व्यनेक सूत्रों में हग्दर्शनार्थ सात्तात्कार पर्यन्त ही संयम की व्याख्या करेंगे, तीन प्रकार के ही शब्दों के साथ बार्थ और प्रत्यों का, श्रीर उन शब्दों के श्रन्योऽन्य संकर को दर्शाने के लिये पहिले शब्दों के ही तीन प्रकार भाष्यकार दिखलाते हैं—तत्र वागिति – तत्र शब्द के मध्य में वागि-न्द्रिय वर्णों में ही प्रयोजनवाली है, वागिन्द्रिय जन्य शब्द वर्ण ही हैं—श्रंग श्रादि शब्द और वाचक पद वागिन्द्रिय जन्य नहीं हैं। उर: (छाती)श्रादि,श्रानों में उत्पद्यमान शब्द—वर्ण है।

महौ स्थानानि वर्णानाष्ट्रपः कपटः शिरस्तथा । भिद्यामृतं च दन्ताभ नासिकोष्टी च तालु च ॥

उरः, करठ, शिर, जिह्नामूल, दन्त, नासिका, आष्ट और ताल वर्णों के उचारण के ये आठ खान हैं। इस स्मरण से वागिन्द्रिय की शरीर से बाहर वृत्ति (ज्यापार) नहीं है, अतः श्रोत्र प्राप्त विस्थमाण शन्द, तदनन्तर शोल्युद्धि प्राप्त वाचक शन्द वागिन्द्रिय के कार्य नहीं हैं। क्योंकि श्रोता के श्रोत्र देश में वक्ता की वागिन्द्रिय का सम्यन्थ न होने से शन्द की उत्पादकता असम्भव है। वागिन्द्रिय जन्य शन्द से शन्दान्तर को कहते हैं—श्रीत्र चेति!— वागिन्द्रिय द्वारा शंख आदि में अभिहत उदानवायु का परिणाम भेद ध्विन हैं जिस परिणाम से उदान वायु वक्ता की देह से उठकर शन्द धारा का उत्पन्न करता हुआ श्रोता के श्रोत्र को प्राप्त होता है, उस ध्विन का परिणाम भूत वर्णावर्णे साधारण नाद नामक शन्दसामान्य ही श्रोत्र-इन्द्रिय का विषय होता हैं। ध्विन का अपरिणाम भूत वाचक पद श्रोत्रेन्द्रिय का विषय नहीं होता। वह शन्द वर्ण जाति वाला होने से वर्ण कहलाता है। इतीय शन्द को कहते हैं—पदे पुनर्नादानुसंहारबुद्धिनिर्माद्यमिति—यथा प्रतीति सिद्ध नाद नामक गकारादि वर्णों को प्रत्येक पद—है—ऐसा अत्येक को प्रहण करके अनु पीछे जो बुद्धि संहार काती है—एकत्व का सम्पादन करती है—गौ: यह एक पद है इस भाँति—उस बुद्धि से निर्माद्य वर्णों से अतिरिक्त अखरड—एक काल में उत्पर्धमान वश्चमाण स्कोट नामक पद है। इस प्रकार यह तृतीय शन्द अन्तःकरण से ही प्राप्त है (अन्तः करण का ही विषय है)।

उस पद को ही यदि श्रोत्र इन्द्रिय से प्राझ माने, तो अन्तःकरण निष्ठ अनुसंहार बुद्धि को भिन्न अधिकरण में होते हुए हेतु मानना होगा, और वह अनुक्त है—क्योंकि प्रत्या-सित्त में समानाधिकरण को ही लावव है। अनुसंहार बुद्धि भी श्रोत्रादि की ही है। —यह नहीं कह सकते, क्योंकि यह असम्भव है। आनुपूर्वी की एकता से वर्णों की एकता का आपा-दन होता है और वह आनुपूर्वी गकार के उत्तर औकारादि रूपिणी है, वह अनेक वर्ण पदों में श्रोत्रेन्द्रिय से प्रहण नहीं हो सकता। आशुविनाशी होने से वर्णों का मेल नहीं हो सकता, पूर्व पूर्व वर्णों के संस्कार और उन संस्कारों से स्मृतियों जो कि अन्तःकरण्विष्ठ हैं, उनको अन्तःकरण की सहकारिता ही उचित है। अतः स्मृत वर्णों की आनुपूर्वी का मन से ही प्रहण हो सकता हैं—यह भाव है।

इंका—क्यों जी। स्कोट नामक शब्द किस प्रकार का है ? और उसका कारण क्या है ? तथा उसमें प्रमाण क्या है ?

समाधान-श्रत्रोच्यते-जैसे बीज, शंकर श्रादि श्रनेक श्रवस्थाश्रों में स्थित वृत्त धर्मी उन क्रमिक अवस्थाओं से अतिरिक्त पड़न आदि रूप अशेष अवस्था से व्यक्त होता है कि यह आम्र वृत्त है। दूसरा वृत्त नहीं है। वह वृत्त बीजादि से भिन्न-ऋभिन्न है क्योंकि उसमें भेट और अभेट दोनों का अनुभव होता है, ऐसे ही गुकार औकारादि अनेक अवस्था वाला गौ: इत्यादि अखगड स्फोट शब्द क्रमिक गकारादि अवस्थाओं से अतिरिक्त आनुपूर्वी विशेष विशिष्ट विसजनीय श्राटि रूप चरम श्रवस्था से व्यक्त होता है कि यह 'गी' है यह पद. गी: इति इत्यादि रूप से व्यक्त नहीं होता, वह स्फोट पद गकार आदि वर्णों से भिन्न श्रीर श्रभित्र है, क्योंकि उसमें भेद श्रीर श्रभेद दोनों का श्रनुभव होता है, श्रीर वह पद नामक शब्द अर्थ के स्फूट (साफ प्रकट) करने से स्फोट कहलाता है। स्फोट शब्द का कारण एक प्रयत्न तत्य ध्वति विशेष है. प्रयत्नभेद से उचारण में व्यवधान होने पर एक पद व्यवहार नहीं, हो सकता। गौः यह एक पद ही यह व्यवहार स्कोट में प्रमाण है। वर्णी के अनेक होने से, उनसे एकत्व व्यवहार सरलतया नहीं बन सकता, तथा प्रत्येक वर्ष से उत्पद्यमान ऋथे प्रत्यय का हेतुत्व स्फोट में प्रमाण हु । यदि आनुपूर्वी विशिष्ट समृह के एक होने से एकत्व व्यवहार होता है श्रीर उसी रूप से श्रर्थ प्रत्यय (ज्ञान) के प्रति हेत्ता मानें, तो संयोगिवशेष से अविच्छन्न (यक्त) अवयवसमृह से ही एकत्व व्यवहार और (घट से) जलादि के लाने की सिद्धि हो जायेगी. जिससे कि घटादि श्रवयवी मात्र का उच्छेद हो जायेगा, क्यों(क दोनों दशा में युक्ति समान है।

शंका-तब तो युक्तिसाम्य से एक-एक वाक्य भी स्फोट रूप हो जायेगा ?

समाधान—यदि वाक्यरफोट में कोई बाधक न हो तो वाक्यरफोट मानना हमको इष्ट ही है। भाध्यकार ने तो वर्णों के पद होने का संत्तेप से निराकरण किया है। वर्णा एकेति — अनेक वर्ण एक काल में खिति के योग्य न होने से परस्पर निरनुमहास्मा असम्बद्ध स्वभाव हैं। बता वे पद को न छूकर—पदस्व को प्राप्त न होंकर—(पद न बन कर) इसी लिये अर्थ को उपिक्षित न करके (अर्थ को विना प्रकट किये ही) आविर्भृत होकर ही त्रण भर में तिरो भूत हो जाते हैं। इस लिये प्रत्येक को अविवेकी अपदस्वरूप कहते हैं। यहाँ स्वरूप पद के महण से अवस्था और अवस्था वाले के अभेद से वर्णों के पदस्व का निराकरण नहीं किया है।

शंका-यदि वर्ण पदस्वरूप नहीं है तो लोग इतने वर्ण क्रमविशेष से युक्त इस

पर्थ के वाचक हैं ऐसा संकेत किस प्रकार कर लेते हैं ?

समाधान - 'वर्णाः पुनित्यादि' यहाँ से लेकर संकेत्यते इस पर्यन्त वाक्य से समाधान किया है। उसका अर्थ यह है, यदापि वर्ण पद से भिन्न हैं, तथापि अवस्था और अवस्था वाले के अभेद की भी सत्ता है। (अभेद भी है) अतः एक-एक भी वर्ण पदरूप है। पद से अभिन्न होते हैं। इसीलिये पदरूप से सर्व पदार्थों के अभिन्न की योग्यता से सम्पन्न होते हैं। इसमें हेतु कहते हैं—सहकारीति-पद्भाव में सहकारी जो वर्णान्तर उनका प्रवियोगी-सम्बन्धी होने से अनन्त पद रूपतां

को प्राप्त की माँति श्रापत्र होता है (बन जाता है)—यहाँ उन शब्द का प्रयोग भाष्यकार ने वैश्वरूप्य की योग्यतामात्र के प्रतिपादन के लिये किया है।

वैश्वरूप का प्रकार कहते हैं—पूर्व गकार उत्तर औ: इस वर्ण्डय के साथ गण् इत्यादि पद से व्यावृत्त होता है (प्रथक होता है) उत्तर विसर्जनीय पूर्व गौ: इन वर्ण्डय से गौ: इत्यादि पदों से व्यावृत्त होकर (प्रथक होता है) उत्तर विसर्जनीय पूर्व गौ: इन वर्ण्डय से गौ: इत्यादि पदों से व्यावृत्त होकर (प्रथक होता है इस हेतु से इस प्रकार के कमा- जुरोधी बहुत से वर्ण, आतुपूर्वीविशेष की अपेदा रखने वाले, पद के अभेद से अर्थ संकेत से अवबच्छित (युक्त) नियमित होकर सर्व अभिधान में समर्थ भी इतने इतनी संख्या वाले ये गकारादि गौ को ही अवस्थापित करते हैं (गौ का ही कथन करते हैं) अतः उस प्रकार से वर्ण मुख से, वह पद ही अविवेक से संकेत किया जाता है—यह भाष्य का अन्वय है। उसमें हेतु है वाच्यस्य वाचकमिति—पद ही वाच्य का वाचक है—उपक्षापक है (वाच्य को कहने वाला है)। अन्य का अन्य रूप से संकेत में हेतु है। एतेषाम से लंकर निभासः तक। जो पद नामक बुद्धिमात्रमाझ अर्थ संकेत से अवच्छित्र (युक्त) इन वर्णों का स्कोट है, तथा समाप्त ध्वनिजन्य कम आतुपूर्वी विशेष जिन उस प्रकार के वर्णों की है, वह एक है, अभिन्न है, यह पद के स्वरूप का कथन किया है। वाक्यार्थ समाप्त हुआ।

भाव यह है, जैसे मिले हुए दो कपाल जल लाने के हेतु होते हैं—यह श्रविवेक से बालकों के लिये कहा जाय, क्योंकि पट से घट को पृथक् करने वाला श्रन्य असम्भव है, उससे बालक कपाल के श्रविवेक से घट को ही जल लाने का हेतु समकता है ऐसे ही स्कोटान्तर के न्यावर्त्तन के लिये वर्णों के श्रविवेक से ही स्कोट में संकेत का उपदेश और संकेत का प्रहण होता है, श्रतः वर्णों में संकेत का श्रवण होता है, श्रतः वर्णों में संकेत का श्रवण होता है, श्रतः वर्णों में संकेत ता की श्रवणपत्ति, श्रसिद्ध नहीं है।

त्रिविध शब्द को दशी कर अब उनमें से संकत के कारण का प्रतिपादन करते हैं, तदेकिमिति—प्रतीयते, इसके साथ अन्वय है। अर्थ यह है, यद्यपि वह पद स्फोट नामक एक ही है, वर्णों के समान अनेक नहीं है, और एकत्व में प्रमाण है एकबुद्धिविषयत, तथा वक्ता के एक ही प्रयक्ष से ध्वनि आदि द्वारा उत्पादित है, (उत्पन्न होता है), वर्णो तो प्रयक्षमें से भी उत्पन्न होते हैं, तथा यह पद अभाग है, निरंश है वर्णसमूह तो वन के सदश सांश है, तथा यह पद (स्फोट) अक्रम है, एक काल में ही उत्पद्यमान है। वर्णों के समान क्रम से उत्पन्न नहीं होता, अतः इन हेतुओं से पद स्फोट वर्णों से भिन्न है। कि च—स्फोट बौद्ध है बुद्धिमात्र से प्राह्म है, तथा अन्य वर्ण के प्रत्ययहूप व्यापार से व्यक्त होता है, वर्णों ऐसे नहीं हैं तो भी दूसरों के प्रति प्रतिपादन की इच्छा से वक्ता के बोले और श्रोता के सुने इस प्रकार के वर्णों के द्वारा हो सिद्धवन्, परमार्थवन् एक दूसरे की संप्रतिपत्ति के संवाद से प्रतीत होते हैं, व्यवहार में अते हैं, वर्णों से भिन्न हूप से व्यवहार में वर्णों के प्रति, उसमें हेतु हैं—अनादि वाग् व्यवहार की वासनाओं से वर्णाग्रुत लौकिक बुद्धि। यहाँ अभिधीयमानी इससे पद के शोन्नविषयक शान्त अधिवेक जानना चाहिये।

इस प्रकार तीन प्रकार के शब्दों के अन्योऽन्याभ्यास से संकर को दशोया है। अब विविध शब्द से अर्थ और प्रत्यय के अभ्यास का प्रतिपादन करने के लिये शब्द व्यवहार के संकेतप्रहम् लक होने को कहते हैं तस्येति—उस पद का प्रविभाग विषय की व्यवस्था के संकेत के प्रह्मा से ही होता हैं। प्रविभाग को ही कहते हैं एतावतामिति—इस प्रकार का, ऐसी आतुपूर्वी वाला-अनुसंहार-मिलन, इस अर्थ का वाचक है, उपस्थापक है, इस भाँति का विभाग होता है एकस्यार्थस्य—इस प्रकार का पाठ माने तो उसका अर्थ होता है — अर्थविशेष का,।

संकेत का शब्दार्थ कहते हैं-" संकेतिस्वित " अध्यास संकेतकत्ती का आहार्य आरो। है जिसका अथे है आरोपित का अभेद, उस ही का ज्ञान पदार्थ का उपस्थापक होता है. उसमें आधनिकों की कल्पना की व्यावृत्ति के लिये स्मृत्यात्मक पद का प्रयोग है. द्यत: विषय और विषयों के अभेद से पाणिनी आदि की स्मृति है। यह भी नहीं कह सकत कि कल्पित अभेद असत से वह असत संकेत कैसे हो सकता है ? क्योंकि असतख्याति तो स्वीकार ही नहीं है, अन्यत्र सत् की अन्यत्र कल्पना होती है, (अन्यत्र सत् रजत की श्चन्यत्र सीप में कल्पना होती है) श्रध्यास के संकेतत्व में प्रमाण कहते हैं - योऽयं शब्द: इससे लेकर 'भवति' तक । श्रोमित्येकाचरं ब्रह्म इत्यादि शास्त्रों में, कम्बुमीवादिमान घटः इत्यादि लोक में पद और पदार्थ का अभेद आरोप ही संकेत दिखलाई देता है, क्योंकि श्रोमित्यादि के शब्द वाच्यत्व की लच्चणा में कोई प्रमाण नहीं है, अत एव कोशों में अमरा िर्जारा: देवा इत्यादि शब्द और अथे का आरोप्यमाए। अभेद ही संकेत दिखाई देता है. श्चतएव इस श्रनादि श्रभेद के श्रारोप से श्रामामा लोग मन्त्र और श्रथे के श्रभेद दपासना का उपदेश करते हैं, श्रीर मीमांसक मन्त्रमयी देवता कहते हैं। जो तो - इस शब्द से यह अधे जानना चाहिय इस अकार की ईश्वर की इच्छा का विषय शक्ति दूसरे तन्त्रों में लिवत है वह अप्रामाणिको है और लच्या शक्ति जैसी ही है। दूसरी बात यह है कि ईश्वर को न जानने वाले को भी शब्दार्थ प्रत्यय देखा जाता है, तथा पद और पदार्थ के अभेट से संबेत भी यक्त न हो सकेगा, इत्यादि दोष जान लेने चाहियें।

अब संकेत बुद्धि निमित्तक तीनों का संकेत है इसको कहते हैं एवमेव इति—इस प्रकार संकेत बुद्धि के कारण से वे तीन, प्रकार के शब्द, अर्थ और प्रत्यय संकारा— अविविक्त हैं, उनमें संकेत का प्रह ही शब्द और अर्थ का इतरेतर अध्यास है, क्योंकि शब्द और अर्थ का तो प्रत्यय के साथ एकाकार होने से अन्योन्याध्यास प्रसिद्ध ही है। यह भाव हैं

संकर के आकार को कहते हैं – गौरिति य इहि—वह ही शब्द आदि का तत्त्वझ है अन्य नहीं। वर्ग्न, ध्विन पदों के अन्योग्य संकर की भौंति अब पद-वाक्य और उनके अथों के संकर से भी शब्द-अर्थ और शब्यों का संकर दिखलाते हैं सवेपदेष्विति—वाक्य की शक्ति-पदार्थान्तर के सहकार से वाक्य भवन शक्ति है (वाक्य बनने की शक्ति है) तथा बुख इत्यादि पदों की बुलोऽस्ति (बुल है) बुलअलिति (बुल चलता है) बुलच्छियते (बुल कटवा है) इत्यादि वाक्यों से संकर—अविवेक होता है यह भाव है। पदों में वाक्य शक्ति का उदाहरण देते हैं— इल इस्युक्त-इति इस्र ऐसा कहने पर आकांता को पूर्ण करने के लिये योग्यता आदि के वहा से अस्ति (है) इस क्रिया का अध्याहार होता है। तथा पर में व क्य का संकर है यह भाव है।

राका—शब्द का अध्याहार सम्भव नहीं है क्योंकि एक ही अर्थ में अनन्त शब्दों का प्रयोग होता है और किसी विशेष शब्द का अनुमापक लिंग उपस्थित नहीं है ?

समाधान — यह बात नहीं है क्योंकि अपनी इच्छा से स्वयं किल्पत किसी भी आकांचा के पूरक शब्द से बक्ता के ताल्पर्य विषयक अधे का बोध हो सकता है, अर्धविरोध के अनुमान में तो थोग्यता, आकांचा, ताल्पर्यादक लिग हैं ही। यही कहते हैं, न सत्तामिति योग्यता के दिखलाने से आकांचा ताल्पर्य आदि भी उपलक्षित हो गये हैं, क्योंकि केवल योग्यता तो अर्थान्तर में भी साधारण है, उदाहरणान्तर कहते हैं, तथा नहींत — असाधनकारक रहित कोई किया नहीं होती, पचित कहने पर सब कारकों का आच्छेप, अर्थात् अनुमान होता है।

शंका-यह बात है तो कारकवाचक पदों का कहीं भी प्रयोग नहीं होगा ?

समाधान—नियमार्थ इति—कारकवाचक पदों का नियम के लिये अनुवाद होता है, योग्यता आदि से सर्वत्र विशेष अर्थ का अनुमान सम्भव नहीं है, अतः अनुमित कारकों का भी सामान्य से ''नियमार्थ दूसरे कारकों से ज्यावृत्ति (पृथक करने के लिये) प्रयोग होता है'' चैत्रोऽपिना भजनम इत्यादि पदों से चैत्र अपि भजन—इस कर्ता, कमे करण का अनुवाद है। अब अध्याहार के विना भी अर्थ के अमेदिनिमत्तक पद और वाक्य के संकर को दिखलाते हैं, इप्रश्ने ति-छन्दोऽधीते (छन्द पढ़ता है) इस वाक्य के अर्थ में श्रोत्रिय इस पद की नत्या प्राणान् धारयति—(प्राणों को धारण करता है) इस वाक्य के अर्थ में जीवित—इस पद का वचन है—कथन है।

जन्मना ब्राह्मणो होयः संस्काराद् द्विज उच्यते । बिद्यया याति विमरनं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ॥

जन्म से ब्राह्मण जानना चाहिये और संस्कार (यक्कोपवीत संस्कार) से द्विज कहा जाता है, विद्या से विप्रत्व को पाता है और तीनों से (जन्म, संस्कार और विद्या-वेद विद्या-से) श्रोत्रिय कहलाता है। इस स्मृति प्रमाण से। और जीव = बलप्राणधारणयोः इस अनुजासन से (धानुपाठ प्रमाण से)

शंका - यदि वाक्यार्थ की सिद्धि पद से भी होती है तो 'गुरुतरस्य छन्दोऽधीत' इस

वाक्य का वचन कभी भी न होगा ?

समाधान—तत्र वाक्य इति—एस वाक्य में पद के अर्थ की अभिव्यक्ति होती है, (उससे पद का विभाग करके क्रियाव चक है या कारक वाचक है विवरण करना चाहिये,) अतः पद और वाक्य के संकर से संशय के खल में पद का वाक्य से विवरण करना चाहिये !

प्रसंग से कहते हैं.तत हति—क्योंकि वाक्यार्थ में भी पर रचना होती है। खत: सन्देह खल में पद का श्रंश भेदों के द्वारा वाक्य से विवरण करना चाहिये। व्याकरण न होने पर अर्थ का बांध न होने से वाक्य का व्यवहार ही व्यर्थ हो जावेगा । इसके लिये कहत हैं, अन्यथेति - भवति यह प्रयोग करने पर नाम और आख्यात के समान रूप होने से 'भवति घटो' 'भवति भिन्नां देहि' इन दो अथौं में सन्देह होने पर अनवधारित पद का किस प्रकार किस प्रयोजन से किया या कारक में विवरण किया जाय ? श्रोता को अर्थ का ज्ञान श्रसम्भव है, इसी. भांति 'श्रश्न' यह कहने पर 'गतिमकाषींघोंटको वा' चला था या घोड़ा है यह संन्देह होता है क्योंकि नाम श्रीर श्राख्यात में समानरूपता है। तथा 'म्रजापयः' यह कहने पर 'खाग्याः पयः, शत्रन पराभावितवान वा' इस ऋथे में सन्देह होता है क्योंकि नाम और आख्यात समान रूप हैं। इस प्रकार अर्थ और प्रत्ययों के संकर को दिखना कर श्रव प्रविभाग को दिखलाते हैं, तेपामित्यादि से उनमें से पहिले शब्द का भेद होने पर भी अर्थ और प्रत्यय के अभेद से शब्द और अर्थ के भेद को दिखलात हैं-श्वेततं इससे लेकर प्रत्ययश्च इस तक से (श्वेतते शासादः यह क्रिया का अर्थ है, श्वेतः प्रासादः यह कारक का अर्थ है - शब्द कियाकारक रूप है, उस शब्द का अर्थ और प्रत्यय ज्ञान होता है – यह भाष्य है) किया साध्यरूप है अर्थ जिसका वह कियार्थ है, श्वेतते यह चसका शब्द है, तथा कारक: सिद्धरूप है अर्थ जिसका वह कारकार्थ है-श्रेत: यह उसका शब्द है। ये शब्द भिन्न हैं, इनका अर्थ क्रियाकारकरूप श्वेतगुरामात्र एक ही है, इसी प्रकार प्रत्यय भी जानना चाहिये। क्रियाकारकात्मक गुणाकार हैं। इसमें प्रमाण प्रक्षते हैं. कस्मान इति - किस प्रकार ?

उत्तर देते हैं, सां ऽयिमित्यभिसम्बन्धात्—यह वही है इस सम्बन्ध कियाकारकात्मक गुणाकार है श्वेतन जो किया है वही यह श्वेतरूपकारक गुण है, और जो श्वेतते इससे श्वेताकार प्रत्यय है वही प्रत्यय श्वेतः इस शब्द से भी श्वेताकार प्रत्यय ही अभेद की इत्यभिक्वा से हांता है।

शब्द और अर्थ के अभेद से संकेत कैसे होता है ? इस विषय में कहते हैं — एकाकार इति — एकाकार — आरोपरूप शस्यय ही संकेत आरोपित के अभेद में ही संकेत है, पार-मार्थिक अभेदरूप में संकेत नहीं है।

र्राका — शब्द और अर्थ के अभेद प्रत्यय से प्रत्यभिज्ञा का ही बाध क्यों नहीं हो जाता?

समाधान—तत्राह—यस्त्रिवित—जो श्वेत कर्य वह शब्द और प्रत्यय (ज्ञान) का विषय होने से, अपनी शब्द आदि से भिन्न नई-पुरानी अवस्थाओं से विक्रियमाण होने से शब्द और प्रत्यय के सहगत (साथ) नहीं रहता काल से काल रूप अधिकरण के भिन्न होने से सहचार नहीं रहता। ऐसे ही देश से भी सहचार नहीं रहता, क्योंकि शब्द का अधिकरण आकाश है और प्रत्यय (ज्ञान) का अधिकरण बुद्धि है और अर्थश्वेत गुणादि प्रासाद आदि में रहते हैं। यह भाव है। एवमिति—इस प्रकार शब्द भी

अपनी अवस्थाओं से विक्रियमाण अर्थ और बुद्धि का भी सहस्वारी नहीं है, इस प्रकार प्रस्वय (ज्ञान) भी शब्द और अर्थ का सहस्वारी नहीं रहता। उपसंहार करते हैं—इत्यन्यथेति—अन्यथा शब्द है अन्यथा अर्थ है और अन्यथा प्रस्वय है यह विभाग है। सूत्र के अर्थ का उपसंहार करते हैं—एवं —तत्प्रविभागेति (इस प्रकार उनके विभाग में संयम करने से योगी को सब भूतों के शब्द का ज्ञान होता है। इस प्रकार मनुष्य के विषय में शब्द अर्थ और प्रस्वयों में (जो प्रविभाग है) उसमें संयम करने से साचात्त पर्यन्त संयम करने से सब भूतों के शब्द उसके अर्थ और प्रत्यय (ज्ञान) को योगी जान लेता है, क्योंकि योगज धर्म अधिक्त्य शक्ति वाला है, स्वसहश फल देना धर्मों का स्वाभाविक है। हमारे सहशों को शब्द अर्थ और प्रत्यय के भेद का साचात्कार होने पर भी उस साचात्कार के संयमजन्य न होने के कारण सब भूतों के शब्द का ज्ञान नहीं होता, संयम की ही यह सिद्धि है—ऐसे ही अर्थाले सुत्रों में भी यथाध्यल यही समाधान है।। १७।।

विशेष वर्णन-॥ सूत्र १७ ॥ शब्द तीन प्रकार का है:-

१-वर्णात्मक: (क, ग आदि) जो वाणीरूप इन्विय से उत्पन्न होता है।

२—ध्वन्यात्मक वा नादात्मक: (शंख आदि का शब्द) यह प्रयक्ष प्रेरित उदान वायु का परियाम विशेष है। यही शब्दों की धारा को उत्पन्न करता हुआ ओता के श्रान्न इन्द्रिय तक जाता है।

३—स्फोट नामक शब्द है: (स्फुटल्यथाँऽस्मादिति स्फोट:) यह अर्थ का बोधक और केवल बुद्धि से गृहीत होता है। निरवयव, नित्य और निष्कम है। वर्ण शीव उत्पन्न होकर नष्ट होजाते हैं। इनका मेल नहीं हो सकता, क्योंकि 'गौ' यहां पर गकारोबारण के समय में औकार नहीं श्रंथा और औकार के उवारण के समय में गकार नहीं श्रंथादि। मेल नहों ने पर भी, वर्णों के संस्कार और उन संस्कारों से स्मृति होती है, अन्तिम वर्णे (जैसे 'पर्चात' में इकार) स्काट का व्यश्वक है। यदि इसे न माना जाय तो 'गौः' यह एक पद है; ऐसा व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि एकता को महरण करने वाली बुद्धि न वर्णों में (जो विनाशी हैं) हो सकती है और न स्फोटबाधक ध्विन में; यह स्फोट-नामक शब्द दो प्रकार का है: पद-स्फाट और वाक्य-स्फोट (स्फाट का विषय नागेशकृतमंजूषा और वैयाकरण भूषण में विस्तृतरूप से लिखा है; व्याकरणाचाये और योगाचाये इनका स्फोट विषय में एक मत है, नैयायिक शब्दाना को अनित्य मानते हैं। मीमांसक शब्दों को नित्य मानते हैं, वस्त स्फोटवादी नहीं हैं)।

स्कोट का बड़ा शास्त्राथे है। इन तीनों अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान का परस्पर अध्यास (भिक्षों में अभिन्न बुद्धि) होता है। आरोप को अर्थात् अन्य में अन्य बुद्धि करन को 'अध्यास' कहत हैं। इन शब्दां का अर्थ-और-ज्ञान के साथ संकेत रूप (इस पद का यह अर्थ है एतदूप) अध्यास है। पर वस्तुतः शब्द, अर्थ, प्रस्यय तीनों मिन्न हैं। जब उनके भेद में योगी चित्त की एकाव्रता करता है, तब उनका प्रत्यक्तर वानर, कीवे आदि की बोली को जान लेता है कि इस अर्थ को लेकर यह बोल रहे हैं। योगियों में विचित्र शक्ति होत्ती है। धारणा, ध्यान और समाधि की बड़ी महिमा है। हम लोगों को जो शब्द, अर्थ और ज्ञान का भेद प्रतीत होता है वह समाधिजन्य नहीं है इससे हम नहीं जान सकते।

संगति-दूसरी सिद्धि कहते हैं :-

संस्कारसासात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८॥

शब्दार्थ--संस्कार-सानात्-करणात् = संस्कार के सान्नात् करने से। पूर्व-जाति-ज्ञानम् = पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ-संस्कार के साजात करने से पूर्वजन्म का ज्ञान होता है।

ब्याख्या—संसार दो प्रकार के होते हैं, एक स्पृति के बीज रूप से रहते हैं जो स्पृति और ड्रेक्शों के कारण हैं। दूसरे विपाक के कारण वासनारूप से रहते हैं जो जन्म, आयु, भोग और उनमें सुख-दु:ख के कारण होते हैं। वे धमे और अधर्मरूप हैं। ये सब संस्कार इस जन्म तथा पिछले जन्म में किये हुए कमों से बनते हैं और प्रामोफोन के प्लेट के रेकडे (Records) के सहश चित्त में चित्रित रहते हैं। वे परिणाम, चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन और धमे की भांति अपरिष्ट चित्त के धमे हैं। उनमें संयम करने से योगी को उनका सानात हो जाता है। इससे उसका जिस देश, काल और जिन निमित्तों से वे संस्कार बने हैं, सब स्मरण हो जाते हैं। यही पूर्वजन्म झान है। (योगियों के अविरक्त बहुत से शुद्ध संस्कार वाले बालक भी अपने पूर्वजन्म का हाल बतला देते हैं)। जिस प्रकार संस्कारों के सानात् करने से अपने पूर्वजन्म का झान होता है इसी प्रकार दूसरे के संस्कारों के सानात् करने से टूसरे के पूर्वजन्म का झान होता है। (विज्ञान मिछु के अनुसार) 'पर ' अर्थात् भावी जन्मों का भी इसी भांति संस्कार के सानात् करने से झान होता है।

टिप्पण्डी:—II सूत्र १८ II पूर्वोक्त इप्रथे में श्रद्धा उत्प्रम करने के लिये भाष्यकारों ने झावट्य नामक योगिश्वर का योगीराज जैगीवच्य के साथ एक संबाद उपन्यस्त किया है। उसका यहां निरुपण्ड किया जाता है। भगवान जैगीवच्य जो प्रसिद्ध योगीश्वर हुए हैं उनके सम्बन्ध में एसा प्रसिद्ध है कि वे संस्कारों के साचात्कार से दश महा-करणों में व्यतीत हुए अपने जन्म परिणाम परम्परा का अनुभव करते हुए विवेकज़ झान सम्पन्न थे। और योगिराज भगवान आवट्य के सम्बन्ध में कहा जाता है कि योगवल से संवच्छामय दिव्य विष्ठह को धारण् करके विचरते थे। किसी समय इन दोनों योगियों का संगम होगया। तथ आवट्य ने जैगीवच्य से यह बात पूछी कि दश महा-कर्लों में देव मनुष्यादि योनियों में उत्पन्न होते हुए आपने जो अनेक प्रकार के नरक तिर्यक् योनियों में और गर्भ में दुःखों को अनुभव किया है वह सब आपको परिज्ञात है, क्योंकि स्वच्छ और अनभभूत बुद्धि सक्त होने के कारण् आपको सारे पूर्व जन्मों का ज्ञान है। इस लिये आप यह बतलाएं कि दश महाकर्लों में जो आपने अनेक प्रकार के जन्म धारण् किए हैं, उन जनमों में आपने सुस और दुःख में आधिक किस को जाना अर्थात् संसार सस्बबद्ध है वा जनमों में आपने सुस और दुःख में आधिक किस को जाना अर्थात् संसार सस्बबद्ध है वा

दुःख-बहुल तब जैगीषव्य जी ने बतलाया कि इन दश महा कहनों में अनेक प्रकार के नरक तिच्येग् योनियों में दुःखों को अनुभव करते हुए वारम्वार देव और मनुष्यादि योनियों में उत्पन्न होते हुए मैंने जो अनुभव किया है, उन सब को दुःख रूप ही जानता हूं अर्थात् विषय

सुख दु:स्व रूप होने से संसार दु:खबहुल ही है सुखबहुल नहीं।

आवट्य मुिन ने फिर पूछा "हे जैगीयव्य मुने ! दीर्घायुवाले जो आप को प्रधान विद्याल और अनुत्तम संतोष मुख का लाभ हुआ है क्या वह भी दुःख पत्त में निष्तिम है "तब भगवान जैगीवव्य ने कहा "हे आवट्य मुने ! विषय मुख की अपेता से ही यह संतोष मुख अनुत्तम कहा जाता है। कैबल्य की अपेता से तो यह दुःख रूप ही है, क्योंकि संतोष मुख अनुत्तम कहा जाता है। कैबल्य की अपेता से तो यह दुःख रूप ही है, क्योंकि संतोष मुख अनुत्तम कहा जाता है। कैबल्य की अपेता से तो यह सम त्रिगुणात्मक प्रथ्य होने से हेय पत्त में पतित है "अर्थात् मुखि का अमे होने से सन्तोष भी मुख स्वरूप नहीं है। सूत्रकार ने "सन्तोषादनुत्तममुखलाभः " इस सूत्र से सन्तोष को जो अनुत्तम मुख का हेतु कहा है। उस का तात्पर्त्य यह है कि रज्जु के सहश पुरुषों को बान्धने वाली जो दुःख स्वरूप तर्हणा तन्तु है उस तृष्णारूप दुःख का संतोष से नाश होता है। तब तृष्णा के अभाव से चित्त पीडा से रहित होकर प्रसन्न हो जाता है। इस प्रकार तृष्णा की निवृत्ति द्वारा सर्वानुकूल संतोष मुख को उत्तम कहा है। कैवल्य की अपेता से तो यह सब दुःख रूप ही है।

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ प्रत्ययस्य = दूसरे के चित्त की बृत्ति के साक्षात् करने से। परिचत्त-ज्ञानत् = दूसरे के चित्त का ज्ञानं होता है।

अन्वयार्थ-दूसरे के चित्त की वृत्ति के साज्ञात् करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान

होता है।

च्याच्या—जब योगी किसी के चेहरे तथा नेत्र व्यादि को बाहति देखकर उसके चित्त की द्वात में संयम करता है तो उसको उस चित्त का साजात हो जाता है। इससे उसको झान हो जाता है कि इस समय उसका चित्त राग, द्वेषादि संसार की वासनाओं से रंगा हुआ है बथवा बैराग्ययुक्त है।

संगति-शक्का: दूसरे के चित्त की वृत्ति में संयम करने से यह चित्त चित्त-मात्र

प्रत्यत्त होता है अथवा स्वविषय सहित ? इसका उत्तर देते हैं :--

न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥

शब्दार्थ—न-च-तत् = पर नहीं वह (चित्त)। स-श्रालम्बनम् = विषय-सहित (साचात् होता है)। तस्य = उस विषय सहित चित्त के। श्रविषयी-भृतत्वात् = संयम का विषय न होने से।

अन्वयार्थ-पर वह (दूसरे का चित्त) अपने विषय-सहित साम्रात् नहीं होता, योंकि वह (विषयसहित चित्त) स्तका (संयम का) विषय नहीं है।

व्याख्या-पिछले सूत्र में दूसरे के चित्त की वृत्ति में संयम करना बतलाया है। इससे इतना ही ज्ञान हो सकता है कि चित्त राग-द्वेषादि से यक्त है अथवा चीतराग है। राग, देष आदि का विषय ज्ञात नहीं होता कि किस विषय में राग है, किस विषय में देष है, इत्यादि । क्योंकि यह उस संयम के विषय न थे । संयम-द्वारा उसी का साजात होता है जी उसका विषय है। श्रीर संयम का विषय वही होता है जिसको किसी न किसी प्रकार से पहिलो जान लिया है। बाहरी चिन्हों अथोत् नंत्र अथवा चेहरे की आकृति से केवल राग-द्वेषादि जाने जा सकते हैं न कि राग-द्वेषादि के विषय । इसलिए वे सालम्बन चित्त के संयम क विषय नहीं बन सकते। यदि राग द्वेषादि आध्यन्तर लिङ्गों द्वारा संयम किया जाने तो उनके विषय का भी अर्थात सालम्बन चित्त का भी ज्ञान हो सकता है।

टिप्पणी-विज्ञानिभक्ष ने इस सूत्र को भाष्य मानकर उन्नीसवें सूत्र में ही सिम्मिलित कर दिया है। भोज श्रीर वाचरपति मिश्र ने इसको श्रलग सूत्र माना है।

कायरूपसंयमात् तद्द्रप्राधशक्तिस्तम्भे चत्तुः पकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम् ॥२१॥

शब्दार्थ-काय-रूप-संयमात् = अपने शरीर के रूप में संयम करने से । तद्-प्राह्य-शक्ति-स्तम्भे = उसकी (रूप की) प्राध-शक्ति हरू जाने पर । चक्ष:-प्रकाश-श्रसम्प्रयोगे = दसरे की आँखों के प्रकाश का संयोग न होने पर । अन्तर्धानम् = योगी को अन्तर्धान प्राप्त होता है।

अन्वयार्ध-अपने शरीर के रूप में संयम करने से रूप की प्राध-शक्ति हक जाती है इससे दूसरे के आंखों के प्रकाश से योगी के शरीर का सिन्नकर्ष न होने के कारण योगी

के शरीर का अन्तर्धान (छिपजाना) हो जाता है।

ब्याख्या - चक्ष प्रहणु-शक्ति है और रूप प्राह्म-शक्ति है। इन दोनों शक्तियों के संयोग से ही देखने का काम होता है। इन दोनों में से किसी एक की शक्ति के रुक जाने से देखने का कार्य बन्द हो जाता है। योगी संयम द्वारा शरीर के रूप की प्राह्मशक्ति को रोक देता है। इस कारण चक्षु की प्रहण-शक्ति होते हुए भी दूसरे पुरुष उसके शरीर को नहीं देख सकते । यह उस योगी का अन्तर्धान अर्थात् छिप जाना है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध में संयम करने से उस-उसकी प्राह्म-शक्ति इकजाती है और उनके वर्तमान रहते हुए भी वे अपने विषय करने वाली इन्द्रियों से महरा नहीं किये जा सकते।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तक्कानमरिष्टेभ्यो वा ॥२२॥

शब्दार्थ-सोपक्रमम = उपक्रम सहित (तीत्र वेगवाले) अथवा आरम्भ सहित । च-निरुपक्रमम् = और उपक्रम-रहित (मन्द् वेगवाले) श्रथवा आरम्भ-रहित । कर्म = (दो प्रकार के) कर्म होते हैं। तत् संयमात् = उनमें संयम करने से। अपरान्त-ज्ञानम = मृत्य का ज्ञान होता है। अरिष्टेभ्यः वा = अथवा उल्टे चिन्हों से।

अन्वयार्थ - कर्म सोपक्रम और निरुपक्रम दो प्रकार का होता है। उनमें संयम करने

से मृत्य का ज्ञान होता है अथवा अरिष्टों से मृत्य का ज्ञान होता है।

द्याख्या—चायु नियत करनैवाले पूर्वजन्म के कर्म दो प्रकार के होते हैं। एक सोपक्रम चर्थात् वे कर्म जो चायु समाप्त करने का काम पूरे वेग से कर रहे हैं, जिनका बहुतसा फल हो गया है, कुछ रोष है। दूसरे निरुपक्षम चर्थात् वे कर्म जो मन्द वेग वाले हैं, जिनकों का कायु समाप्त करने नहीं किया है। जैसे गीला वस्त गरम देश में विस्तारपूर्व फैताया हुआ शोध ही सूख जाता है खथवा जैसे शुक्क रुखों के उपर फेंकी हुई चित्र वारों खोर वायु से युक्त होकर शीध ही तृखों को जला देती है वैसे ही शीध फल करने वाले सोपक्षम कर्म हैं। और जैसे वही गीला वस्त इकट्टा लपेटकर शीत देश में रखा हुआ देर सुखता है खथवा जैम हरित तृखों पर फेंकी हुई खित्र वायुरिहत स्थान में देर में तृखों को जलाती है वैसे ही विलम्ब से फल देने वाले निरुपक्षम कर्म को जानना चाहिये। अपरान्त शरीर के वियोग को कहते हैं। इन दोनों कर्ों में संशय-रहित यह ज्ञान हो जाता। है कि खायु कितनी शेष रही है। किस काल खोर किस देश गे शरीर का वियोग को

अथवा ऋरिष्टों से अर्थात् उत्टे चिन्हों से जो मृत्यु के बतलाने वाले हैं, अपनी मृत्यु

का ज्ञान हो जाता है।

श्चरिष्ट तीन प्रकार के हैं:--

१ आध्यात्मिक — अभ्यास होते दुए भी कानों को बन्द करने पर अन्दर की ध्वनि कान सुन इंदेना। अथवा आँखों को हाथों से दबाने पर भी क्योति के कनकों का न दिखलाई देना।

२ आधिभौतिक-मरे हुए पुरुषों का इस प्रकार दिखलाई देना मानों सामने

खड़े हैं।

३आधिदैविक—अकस्मात् सिद्धों का दिखाई देना, अथवा आकाश के नत्तप्र तारा आदि का उल्टा-पुल्टा दिखाई देना । इन अरिष्टों के देखने से मृत्यु के निकट होने का ज्ञान होता है।

इसी प्रकार प्रकृति का बदल जाना अर्थात् उदार का कृपण और कृपण का उदार हो जाना इत्यादि; तथा विपरीत ज्ञान का होना, जैसे धर्म को अधर्म अधर्म को धर्म मनुष्यलोक को स्वर्गलोक और स्वर्गलोक को मनुष्यलोक समम्मना इत्यादिभी अरिष्ट अर्थात्

सिन्निहित-मरण के चिन्ह हैं।

पहिला संयम द्वारा मृत्यु का ज्ञान तो केवल योगियों को ही होता है। दूसरा घरिष्टों द्वारा योगियों और साधारण मनुष्यों को भी होता है। मृत्यु के जानने के प्रसङ्ग में घरिष्टों का भी वर्णन कर दिया है, इन घरिष्टों से भी घयोगियों को साधारण रीति से और संशया-तमक ज्ञान होता है। योगियों को संशय-रहित प्रत्यक्त के तुल्य देश और काल सिंहत मृत्यु का ज्ञान होता है।

संगति—पूर्वोक्त परिक्रम अर्थात् चित्तग्रुद्धि से हुई सिद्धियों को बतलाते हैं :— मैक्यादिश सक्तानि ॥ २३ ॥ दाब्दार्थ — मैत्री-आदिषु = मैत्री आदि में (संयम करने से)। बलानि = मैत्री आदि बल पात होते हैं।

अन्वयार्थ-मैत्री आदि में संयम करने से मैत्री आदि बल प्राप्त होता है।

व्याख्या — पहिले पाद के तेंतीसवें सूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता, वपेका चार भाव-नायं बतलाई गई हैं। इनमें से पहली तीन भावनाओं में साक्षात्-पर्यन्त संयम करने से योगी का क्रमानुसार मैत्री, करुणा, मुदिता बल बढ़ जाता है। अर्थात् योगी को मैत्री आदि ऐसी उस्कृष्ट हो जाती है कि सबकी मित्रता आदि को प्राप्त होता है। जब मैत्री,में संयम करता है तो सबे प्राण्यों का सुखकारी मित्र बन जाता है। करुणा में संयम करने से दुखियों के दुःख दूर करने की शक्ति आजाती है। मुदिता में संयम करने से पक्तपती नहीं होता । चौथा उपेक्षा अर्थात् उदासीनता अभावात्मक पदार्थ है इस कारण वह संयम का विषय नहीं बन सकता।

बलेष इस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

राष्ट्रार्थ—बलेषु = बलों में (संयम करने से)। इस्ति-बल-आदीनि = हाथी आदि के बल (प्राप्त होते हैं)।

अन्वयार्थ — हाथी खादि के बलों में संयम करने से हाथी खादि के बल प्राप्त होते हैं। ज्याख्या — जब योगी हाथी, सिंह खादि के बल और वायु खादि के बेग में तदाकार होकर साह्यान् पर्यन्त संयम करता है तो उन-जैसे बलों को प्राप्त होता है खर्थात् जिसके बल में संयम किया जाता है वही बल प्राप्त होता है।

महत्त्वालोकन्यासात्म्वचम्बवहतविमक्रष्टद्वानम् ॥ २५ ॥

ग्राध्यार्थ—प्रवृत्ति-स्रालोक-न्यासात् = प्रवृत्ति के प्रकाश के डालने से । सूक्ष्म = सूक्ष्म (इन्द्रियातीत)। व्यवहित = व्यवधान वाली (स्राङ्ग में रहनेवाली)। विप्रकृष्ट ⇒ दूर की वस्तुओं का। ज्ञानम् - ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ-प्रवृत्ति के प्रकाश डालने से सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तु का ज्ञान होता है।

ब्याख्या — पहिले पाद के छत्तीसर्वे सूत्र में बतलाई हुई मन की ज्योतिब्मती अवृत्ति के प्रकाश को जब योगी संयम द्वारा किसी सृक्ष्म (इन्द्रियातीत) जैसे च्रहरय परमाणु स्नादि, ब्यवहित (ढके हुए) जैसे भूमि के खन्दर दबी हुई खानें दीवार की चोट में छिपी हुई बस्तुयें, शरीर के खन्दर के भाग इत्यादि, विप्रकृष्ट = दूरस्य वस्तु पर जहाँ चाँख नहीं पहुंचती, डालता है तब उनका उसको प्रत्यच झान हो जाता है जैसे सूर्यादि के प्रकाश से घटादि प्रत्यच्च होते हैं वैसे ही ज्योतिब्मती के प्रकाश में सूक्ष्म, व्यवहित चौर विप्रकृष्ट वस्तु का झान होता है।

श्चवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥ शब्दार्थ-अवन-ज्ञानम् = सुवन का ज्ञान । सूर्ये-संयमात् = सूर्ये में संयम करने से होता है। अभ्वयार्थ - सूर्य में संयम करने से मुवन का ज्ञान होता है।

व्याख्या—प्रकाशमय सूर्य में साचात्-पर्यन्त संयम करने से भूः, भुवः, स्रः आदि सातों लोकों में जो भुवन हैं अर्थात् जो विशेष हरवाले स्थान हैं, उन सबका यथावत् ज्ञान होता है। पिछले पच्चीसवें सूत्र में साच्चिक प्रकाश के आलम्बन से संयम कहा गया है, इस सुत्र में भौतिक सूर्य के प्रकाश द्वारा संयम बताया गया है। यह इसमें विशेषता है।

दिप्पणी—कई टीकाकारों ने सूर्य का अर्थ इड़ा नाड़ी से लगाया है जो सुबुझा के दिल्ला और से चली गई है। पर यह अर्थ न भाष्यकार को अभिमत है, न वृत्तिकार को

चौर न इसका प्रसङ्घ से कोई सम्बन्ध है ।

भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में श्रमेक लोकों को बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है उसको इस विषयवालों के लिये उपयोगी न सममकर हमने व्याख्या में छोड़ दिया है और सूत्र का श्रम्थ भोजवृत्ति के श्रमुसार किया है।

इस भाष्य के सम्बन्ध में कई-एकों का मत है कि यह व्यासकृत नहीं है, इसीलिये

भोजवृत्ति में इसका कोई श्रंश भी नहीं मिलता।

इसमें अलङ्काररूप से बर्णेन की हुई तथा सन्देहजनक बहुतसी वातें स्पष्टीकरणीय मी हैं, इन सब बातों के स्पष्टीकरण के साथ व्यास भाष्य का भाषार्थ पाठकों की जानकारी के लिये कर देना उचित समकते हैं —

व्यासभाष्य का भाषानुवाद सूत्र ॥ २६ ॥

भूम आदि सात लोक, अवीचि आदि सात महानरक (सात अयो लोक जो स्थूल भूतों की स्थूलता और तमस के तारतम्य से कमानुसार पृथिवी की तली में माने गये हैं) तथा महातल आदि सात पाताल (सात जल के बड़े भाग जो पृथिवी की तली में माने गये हैं) तथा महातरक संझक प्रत्येक स्थूल भाग के साथ माने गये हैं); यह मुदन पद का अर्थ है। इनका विन्यास (अन्व-अयोक्ष्य से फैताव) इस प्रकार है कि अवाचि (पृथिवी से नीचे सबसे पहिला नरक अर्थात् तामसी स्थूल भाग। अवीचि के पृथ्यात् कमानुसार स्थूलता और तामस् आवरण की न्यूनता को लेते हुए छ: और स्थूल भाग हैं) से सुमेद (हिमालय प्रवेत) की पृष्ट पर्यन्त जो लोक है वह मुलोक, है और सुमेद पृष्ठ से ध्रुव-नार (PoleStar पोलस्टार)पर्यन्त जो मह, नचन, तारों से चित्रित लोक है वह अन्तरित्त लोक हैं। उनमें भूलोक और अन्तरित्त लोक से परे जो तीसरा स्वगेलोक है वह महेन्द्र लोक (स्वःलोक) कहलाता है। इससे परे पाँच प्रकार के खर्ग लोक के कहलाता है। इससे परे पाँच प्रकार के खर्ग लोक कहलाता है। वाधा जो मह: लोक है वह प्राजापस्य-स्वर्ग कहलाता है। इससे आगे जो जनः लोक, तपः लोक और सस्यलोक नाम के तीन खर्ग हैं, वे तीनों नदालोक कहे जाते हैं। इन पाँचो स्वः महः, जनः, तपः और सस्यलोक को ही दी: लोक कहते हैं)। इन सब लोकों का संप्रह निम्न श्लोक में है—

बाहासिभ्मिको लोकः माजापत्यस्ततो महान्। माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि तारा स्ववि मजा।। (जनः, तपः, सत्यम्) तीन ब्राह्म लोक हैं उतसे नीचे यहः नाम का प्राजापत्य लोक है उनसे नीचे स्वः नाम का माहेन्द्र लोक है, उनसे नीचे श्वम्तरिच्च में मुवः नामक तारा लोक है। उनसे नीचे प्रजा-मनुष्यों का-लोक-भुलोक है।

जिस प्रकार पृथिवी के ऊपर छ: श्रीर लोक हैं, इसी प्रकार पृथिवी से नीचे चौदह श्रीर लोक हैं उनमें सबसे नीचा श्रवीचि नरक है। उसने उपर महाकाल नरक है जो भिट्टी, बंकड़, पाषाणादि से यक्त है। उससे ऊपर अम्बरीय नरक है जो जल परित है। उससे ऊपर रौरव नरक है जो श्रिप्त से भरा हुशा है। उससे ऊपर महारौरव नरक है जो वायू से भरा हुआ है। उसके उत्तर महासूत्र नरक है जो अन्तर से खाली है। उसके उत्तर अन्धता-मिस्र नरक है जो अन्धकार से व्याप्त है। इन नरकों में वही पुरुष दुःख देने वाली दीर्घ-आय को प्राप्त होते हैं जिनका अपने किये हुए पाप कमी का दु:ख भोगना होता है। इन नरकों के साथ महातल, रसातल, श्रतल, सतल, वितल, तलातल, पाताल, ये सात पाताल हैं। श्राठवीं इनके ऊपर यह भूमि है जिसको वसमित करहते हैं जो सात द्वीपों से युक्त है, जिसके मध्य भाग में सुवर्णमय पर्वतराज रुमेह विराजमान है। उस समेह पर्वतराज के चारों दिशाश्रों में चार शूंग (पहाड़ की चोटी) हैं। उनमें जो पूर्व दिशा में शूंग है वह रजतमय है (सम्भवतः यह शान स्टेट का पर्वत श्रद्ध हो । वर्मा की शान स्टेट के नमर पर्वत में आज कल रजत निकलती भी है), दिल्या दिशा में जो शृङ्ग है वह वैदृर्ध्य-मिश्यमय (नीली मिश्र के सददा) है, जो पश्चिम दिशा में शृङ्ग है वह स्फटिक-मणिमय (जोकि प्रतिविम्ब महरा कर सकती है) और जो उत्तर दिशा में शृह है वह सुवर्णमय (या सवर्ण के रंग वाले पुष्प विशेष के वर्णवाला) है। वहाँ वैदुर्य-मिए की प्रभा के सम्बन्ध से सुमेह के दक्षिण भाग में श्वित आकाश का वर्ण नीलकमल के पत्र के सहश श्याम (दिखलाई देता) है। पूर्व भाग में स्थित त्र्याकाश श्वेत वर्ण (दिखलाई देता) है। पश्चिम भाग में तिस्थ आकाश स्वच्छ वर्ण (दिखलाई देता) है। श्रीर उत्तर भाग में स्थित श्राकाश पीत वर्ण (दिखलाई देता) है। अर्थान जैसे वर्ण वाला जिस दिशा का शृद्ध है वैसे ही वर्ण वाला उस दिशा में स्थित आकाश का भाग (दिखलाई देता) है। इस समेर पर्वत के ऊपर उसके दिवस भाग में जम्ब-वृत्त है जिसके नाम से इस द्वीप का नाम जम्ब-द्वीप पड़ा है (प्राय: विशेष देशों में विशेष वृत्त हुन्ना करते हैं। सम्भव है यह प्रदेश किसी काल में जम्बू-बृत्त्-प्रधान देश हो। वर्तमान समय में जम्मू रियासत सम्भवतः जम्बू-द्वीप का अवशेष हो)।

इस सुमेर के चारों चोर सूर्य भ्रमण करता है, जिससे यह सर्वदा दिन और रात से संयुक्त रहता है। (जब कोई बड़े मोटे बेलन के साथ पतला छोटा बेलन घूमता है तब बह भी अपना पूरा चक्र करता है इस ट्रांष्ट से उस पतले बेलन के चारों चोर बड़े बेलन का चक्र हो जाता है। इसी इकर जब पृथिवी सूर्य के चारों चोर घूमती है तो चौबीस घरटे में सूर्य जा भी पृथिवी के चारों चोर घूमना हो जाता है। इस भांति सुमेर पवेत के एक चोर खजाला और एक चोर खंधेरा है। उजाला दिन है और अन्धेरा रात्रि है। इसी प्रकार दिन और रात सुमेर पवेत से मिले जैसे माल्यम होते हैं)। सुमेर की उत्तर दिशा में नील, श्वेत

श्रीर शक्ष्मान नामवाले तीन पर्वत विद्यमान हैं जिनका विस्तार दो दो हजार वर्ग योजन है। इन पर्वतों के बीच में जो श्रवकाश (बीच के भाग = घौटी = valley) है उनमें रमण्क हिरगमय, उत्तर कर (शृह्मवान के उत्तर में समुद्र पर्यन्त उत्तर कर है। टालेमी ने लिखा है कि चीन के एक प्रदेश का नाम उत्तर कोई Ottarokarrha है, जो कि उत्तर कह शब्द का अपभंग प्रतीत होता है, इससे आस-पास का समुद्र पर्यन्त प्रदेश उत्तर क्रुह प्रतीत होता है।) नामक तीन वर्ष (खएड) हैं जो नौ-नौ हजार वर्ग-योजन विस्तार वाले हैं (नीलिंगिर मेर के .साथ लगा है। नीलगिरि के उत्तर में रमणक है। पदा पुराण में इसे रम्यक कहा है। श्रेतिगिरि के उत्तर में हिरएमय है।) और दिल्ला भाग में तीन पर्वत निषध, हेमकूट, हिमरील होन्हों हजार वर्ग योजन विस्तार वाले हैं (लंका के उत्तर पूर्व सागर तक विस्तृत हिमगिरी है। हिमगिरी के उत्तर हेमकूट है। यह भी समुद्र तक फैला हुआ है। हेमकूट के उत्तर में निषध परेत है। यह जनपद झायद विन्ध्याचल पर अवस्थित था। दमयन्ती-पति नल निषम् के राजा थे)। इनके बीच के अवकाश में नी-नी हजार वर्ग योजन विस्तार वाले तीन वर्ष (खरड) हरिवर, किपुरुष श्रीर भारत विद्यमान हैं. (सम्भवतः हिमालय के इला-वत प्रदेश और निषध पर्वत के बीच के प्रदेश को भारत कहा गया हो, हरिवर्ष सम्भवतः वह प्रदेश हो जो कि हरि अर्थात बानर जाति के राजा समीव द्वारा कभी शासित होता था)। समेर की पूर्व दिशा में सुमेर से संयक्त माल्यवान पवेत है (माल्यवान पर्वत से समूद्र पर्यन्त प्रदेश भद्राश्व नामक है। आजकल बर्मा के नीचे एक मलय प्रदेश है। सम्भवतः यह प्रदेश और इसके ऊपर का बर्मा प्रदेश माल्यवान हो)। माल्यवान से लेकर पूर्व की श्रोर समुद्र प्रथेन्त भद्राश्र नामक प्रदेश हैं ! वर्मा श्रीर मलय से पूर्व की श्रोर श्याम श्रीर श्वनाम (इएडो चाइना) के प्रदेश सम्भवतः भद्राश्व नामक हैं । सुमेर के पश्चिम में केत-माल और गन्धमादन देश हैं। और केंत्रमाल तथा भद्राश्व के बीच के वर्ष का नाम इलावत हैं सिमेर के दिल्ला में जो उपत्यका (अर्थात् पर्वतपाद की ऊँची भूमि) है उसे यहाँ इला-बत कहा गया है ।।

पचास हजार वर्ग योजन विस्तार वाले देश में सुमेर विराज मान है श्रीर सुमेर के चारों खोर पचास हजार वर्ग योजन विस्तार वाला देश है। इस प्रकार सम्पूर्ण जम्बूद्धीप का परिमाण सी हजार वर्ग योजन है। इस परिमाण-वाला जम्बू द्वीप श्रपन से दूराने परिमाण वाले वल्याकार (कंड्रण के सदश गोल खाकार वाने) चार समुद्र से विष्ठत (चिरा हुखा) है। जम्बू-द्वीप से श्रागे दुराने परिमाण वाला शाक-द्वीप है, जो अपने से दुराने परिमाण वाले बलयाकार इक्षरस (एक प्रकार का जल) के समुद्र से वेष्ठित है (भारत में शक जाति ने श्राक्रमण किया था। कार्स्पायन सागर के पूर्व की खोर साकी "नाम की एक जाति का निवास है। युरोपीय पुराविदों ने स्थिर किया है कि वर्तमान तातार, एशियाटिक रूस, साईबेरिया, किमिया, पोलेण्ड, हङ्गरी का कुछ हिस्सा, लिश्चयनिया, जर्मनी का उत्तरांश, स्वीडन, नारवे श्रादि को शाकडीप कहा गया है)। इससे आगे इससे दुराने परिमाण बाला कुश-द्वीप है, जो अपने से दुराने परिमाण बाला कुश-द्वीप है, जो अपने से दुराने परिमाण बाला

वलयाकार मिदरा (एक प्रकार का जल) के समुद्र से वेष्टित है। इससे कागे दुगुने विस्तार वाला की अन्द्रीप है जो अपने से दुगुने पिरमाण वाले वलयाकार पृत (एक प्रकार का जल) के समुद्र से वेष्टित है। इससे आगे इससे दुगुने पिरमाण वाला झाल्मिल द्वीप है जो अपने से दुगुने पिरमाण वाले वलयाकार दिथ (एक प्रकार का जल) के समुद्र से वेष्टित है। इससे आगे दुगुने पिरमाण वाला मगध-द्वीप है जो अपने से दुगुने पिरमाण वाले वलयाकार क्षीर (एक प्रकार का जल) के समुद्र से वेष्टित है। इससे आगे दुगुने विस्तार वाले वलयाकार क्षीर (एक प्रकार का जल) के समुद्र से वेष्टित है। इससे आगे दुगुने विस्तार वाले वलयाकार क्षिर (एक प्रकार का जल) के समुद्र से वेष्टित है। इस लोकाऽलोक पर्वत से पिरवृत जो सात समुद्र सिहत सात द्वीप हैं वे सब मिल कर प्रचास कोटि वर्ग योजन विस्तार वाले हैं [वर्षोमान समय में पृथिवी का क्षेत्र फल १९६५००००० वर्ग मील तथा घन फल २५९८८०००००० घन मील माना जाता है। साथ ही वर्षोमान समय में योजन ४ कोसों का तथा कोस २ मील के लगभग माना जाता है। यह जो लोकाऽलोक पर्वत से पिरवृत विश्वम्भरा (पृथिवी) मण्डल है वह सब मझाएड के अन्तर्गत संक्षिप्त रूप से वर्षोमान है और यह मझाएड प्रधान का एक सूक्ष्म अवयव है, क्योंकि जैसे आकाश के एक अति अरूप देश में खयोत विराजमान होता है वैसे ही प्रधान के अति अरूप देश में यह सारा मझाएड विराजमान है।

इन सब पाताल, समुद्र, पर्वतों में असुर, गन्धर्व, कन्नर, किपुरुष, यस्, रासस, भृत, प्रेत, पिशाच, अपस्मारक, अप्सराय, अधराज्ञस, कृष्मार्ड, विनायक नाम बाले देवयोनि-विशेष (मनुष्यों की अपेचा निकृष्ट अर्थात राजसी तामसी प्रकृति वाले प्राराधारी) निवास करते हैं। श्रीर सब द्वीपों में पुएयात्मा देव-मनुख्य निवास करते हैं। सुमेह पर्वत देवताओं की उद्यान-भूमि है, वहाँ पर मिश्र-वन, नन्दन-वन चैत्ररथ-वन, सुमानस-वन चार बन हैं। समेठ के ऊपर सुधर्म नामक देव सभा है. सुदर्शन नामक पुर है और वैजयन्त नामक प्रासाद (देव-महल) है। यह सब पूर्वोक्त भूलोक कहा जाता है। इसके ऊपर अन्तरिज्ञ-लो ह है जिसमें प्रह (बुध, शुक्र आदि जो कि सूर्य के चारों और घुमते हैं), नक्षत्र (अश्चिनी आदि जिसमें कि चंद्रमा गति करता है), तारका (शहों और नसुत्रों से भिन्न ध्यन्य तारें तथा तारा मएडल) भ्रमण करते हैं। यह सब प्रह, नज्ज श्राहि, ध्रव नामक ज्योति (Pole star पोल स्टार) के साथ, वायुरूप रज्जु से बाँधे हुए (वायु मएडल में श्यित) वाय के नियत सञ्चार से लब्ध सञ्चार वाले होकर, ध्रुव के चारों आर अमण करते हैं। ध्रवसंक्रक ज्योति मेडिकाष्ट (एक काठ का स्तम्भ जो कि खलिहान के मध्य में खड़ा होता है जिसके चारों स्रोर बैल घूमते हैं) के सदृश निश्चल है। इसके उत्पर खर्गलोक है जिसको माहेन्द्र-लोक कहते हैं। माहेन्द्र-लोक में त्रिदश, अग्निष्वाचा, बास्य, तुषित, अपरिनिर्मित-वशवर्ती, परिनिर्मित-वशवर्ती; ये छ: देवयोनि-विशेष निवास करते हैं। ये सब देवता संकल्पसिद्धि अश्विमादि ऐश्वये-सम्पन्न और कल्पायुक वाले तथा बन्दास्क (प्रजने योग्य) कामभोगी भौर भौपपादिक देहवाले (विना मात-पिता के दिव्य झरीर वाले) हैं: और उत्तम भानकुल अप्सरायें इनकी स्त्रियों हैं।

इस स्वर्गलोक से बागे महान नामक स्वरी-विशेष हैं, जिसको महालोक तथा प्राजापत्य-लोक कहते हैं। इसमें कुमद, ऋभ, प्रतदेन, अध्वताभ, प्राचताभ ये पाँच प्रकार के देवयोनि-विशेष काम करते हैं। ये सब देवविशेष महाभूतवशी (जिनकी इच्छामात्र से महाभूत कार्यरूप में परिएत होते हैं) और ध्यानाहार (विना अन्नादि के सेवन किये ध्यानमात्र से रुप्त और पुष्ट होने वाले) तथा सहस्र करूप चाय वाले हैं। महलेंक से चारो जनःलोक है जिस को प्रथम बद्धा लोक कहते हैं। जनःलोक में ब्रह्मपुरोहिस, ब्रह्मकायिक, ब्रह्ममहाकायिक और श्रमर, ये चार प्रकार के देवयोनि-विशेष निवास करते हैं। ये भूत तथा इन्द्रियों को खाधीन करणशील हैं। जनः लोक से आगे तपःलोक है जिसको दितीय ब्रह्मलोक कहते हैं। तपोलोक में अभाखर, महाभाखर, सत्य-महाभास्वर: ये तीन प्रकार के देवयोनि-विशेष निवास करते हैं, जो भूत, इन्द्रिय, प्रकृति (अन्त:करण) इन तीनों को खाधीन करणशील हैं और पूर्व से उत्तर-उत्तर दुगुने-दुगुने श्रायुवाले हैं। ये सभी भ्यानाहार ऊद्भ्वरतस् (जिनका वीर्यपात कभी नहीं होता) है। ये उद्भव-सत्यादि लोक में अप्रतिहत झानवाले और अधर, अवीचि आदि लोक में अनावृत झानवाले अर्थात् सब लोकों को यथार्थ रूपसे जानने वाले हैं। तपोलोक से आगे सत्यलोक है जिसको एतीय ब्रह्मलोक कहते हैं। इस गुख्य ब्रह्मलोक में श्रुच्युत, शुद्धनिवास, सत्याभ, संक्रासंक्री ये चार प्रकार के देवता विशेष निवास करते हैं। ये श्रकृत-भवनन्यास (किसी एक नियत गृह के अभाव होने से अपने शरीररूप गृह में ही स्थित) होने से खप्रतिष्ठित हैं और यथाक्रम से ऊँची-ऊँची स्थिति वाले हैं। ये प्रधान (अन्तःकरण्) को स्वाधीन करण्शील और पूरी संगे आयु वाले हैं। अच्यूत नामक देव-विशेष सवितके भ्यानजन्य सुख भोगने वाले हैं. शुद्धनिवास सविचार ध्यान से सुप्र हैं। इस प्रकार ये सभी सम्प्रज्ञात (समाधिपाद सूत्र १७) निष्ठ हैं। ये सब्भुक्त नहीं हैं, किन्तु त्रिलोकी के मध्य में ही श्रविष्टित हैं। इन पूर्वीक सातों लोकों को ही परमार्थ से ब्रह्मलोक जानना चाहिये। (क्योंकि हिरएयगर्भ के लिझ-देह से यह सब लोक व्याप्त है)।

विदेह और प्रकृतिलय नामक योगी (समाधिपाद सूत्र १९) मोल्लपह (कैवस्य पद) के तुस्य स्थित में हैं इसिलये वे किसी लोक में निवास करने वालों के साथ नहीं उपन्यास किसे गए।

स्पेंदार (सुषुम्ना नाड़ी) संयम करके योगी इस भुवन-विन्यास के झान को सम्पा-इन करें । किन्तु यह नियम नहीं है कि सूर्यद्वार में संयम करने से ही भुवन-झान होता हो, अन्य स्थान में संयम करने से भी भुवन-झान हो सकता है, परन्तु जब तक भुवन का साम्रात्कार न हो जावे तब तक टद्वित्त से संयम का अभ्यास करता रहे और बीच-भीच में बढ़ेग से उपराम न हो जावे।

बपर्युक्त व्यास भाष्य में बहुत सी बातों का इस ने स्पष्टी करण कर दिया है । कुछ एक बार्ते जो पौराणिक विचारों से सम्बन्ध रखती है बनको इसने बैसा ही छोड़ दिया है । भूलोक अर्थात् पृथिवी लोक को विरोष रूप से वर्णन किया गया हैं। उस के उपरी भाग को जो सात द्वीपों और सात महा सागरों में विभक्त किया गया है उनका इस समय ठीक ठीक पता चलना किठन है क्यों कि उस प्राचीन समय से अब तक भूलोक सम्बन्धी बहुत कुछ परिवर्तन हो गया होगा तथा योजन चार कोस को कहते हैं। यहां कोस का क्या पैमाना है यह भाव्यकार ने नहीं बतलाया है। यह वही हो सकता है जिसके अनुसार भाव्यकार का परिमाण पूरा हो सके। वतंमान समय के अनुसार सात द्वीप और सात सागर निम्न प्रकार हो सकते हैं। सात द्वीप:—?. एशिया का दिशण भाग अर्थात् हिमालय पवंत के दिचण में जो अफगानिस्तान, भारतवषे, वर्मा और स्थाम आदि देश हैं। २. एशिया का उत्तरी भाग अर्थात् हिमालय पवंत के उत्तरी भाग अर्थात् हिमालय पवंत के उत्तरी अमेरिका, ६. दिवणी अमेरिका ७. भारतवषे के दिचण पूर्व म जो जावा सुमाट्टा और आस्ट्रेलिया आदि का द्वीप समृह है।

सात महा सागर :--१. हिन्दु महासागर (Indian Oceon)

- २. प्रशान्त महासागर (Pacible Ocean)
- ३. श्रन्थ महासागर (Atlantie Ocean)
- ४. उत्तर हिममहासागर (Arctie Ocean)
- ५. दिल्ल हिममहासागर (Antaritie Ocean)
- ६. अरव सागर (Arabian Sea)
- ७. भूमध्य सागर (Meaitranian Sea)

सुमेर वर्षात् हिमालय पर्वत उस समय भी ऊर्ची कोटि के योगियों के तप का स्थान था।

स्थूल भूतों की स्थूलता श्रीर तमस् के तारतम्य के कमानुसार पृथित्री के नीचे भाग को सात अधो लोकों में नरक लोका के नाम से विभक्त किया गया है। इनके साथ जो जल के भाग हैं उनको सात पातालों के नाम से दर्शाया गया है बधा इन त्यमसी स्थानों में रहने वालों मनुष्य से नीची राजसी तामसी बोनियों को अधुर राज्ञस आदि नामों से वर्शन किया गया है।

भूव: — लोक अन्तरित्त लोक है जिस के अन्तर्गत पृथिवी के अतिरिक्त इस सूर्य्य मगडल के ध्रुव पर्य्यन्त सारे यह नत्तन्न तारका आदि तारा गण है। यह सब भूलांक अर्थात् हमारी पृथिवी के सददा स्थूल भूतों वाले हैं। इनमें किसी में पृथिवी किसी में जल

किसी में अप्रि और किसी में वायु तस्व की प्रधानता है।

अन्य पांच सूक्ष्म और दिव्य लोक हैं जिनकी सिम्मिलित संझा चौःलोक है। यह सारे भू मुनः अथोत् प्रथिषी और अन्तरित्त लोक के अन्दर हैं। इनकी सूक्ष्मता और सास्विकता का क्रमानुसार तारतस्य चला गया है अर्थात् भू और भुवः के अन्दर खः, स्नः के अन्दर महः, महः के अन्दर जनः, जनः के अन्दर तपः और तपः के अन्दर सत्य लोक है। इनके सुक्सता और सास्विकता के तारतम्य से और बहुत से अवान्तर भेद भी हो सकते हैं। इनमें से स्व:, मह:, खगेलोक, बोर जन:, तपः और सत्यलोक ब्रह्म लोक कहलाते हैं। इनमें वे योगी स्थूल शरीर को छोड़ने के पश्चात् निवास करते हैं जो वितर्का नुगत भूमि की परिपक्ष अवस्था, विचारानुगत भूमि तथा आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमि की आर्गन्भक अवस्था में सन्तुष्ट हो गए हैं और जिन्होंने विवेक ख्याति द्वारा सारे छुशों को दग्ध बीज करके असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा स्वरूपावस्थिति के लिये यह नहीं किया है। आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भूमि की परिपक्ष अवस्था वाले उच्चतर और उच्चतम कोटी के विदेह और प्रकृतिलय योगी सूक्ष्म शरीरों सूक्ष्म इन्हियों और सूक्ष्म विषयों को अतिक्रमण्ड कर गए हैं इसलिये वे इन सब सूक्ष्म लोकों से परे कैवल्य पर जैसी स्थिति को प्राप्त किये दूप हैं।

सूर्य के भौतिक स्वरूप में संयम द्वारा योगी को भूलोक ष्यर्थात् पृथिवी लोक और मुवः लोक अर्थात् अन्तरिच लोक के अन्तर्गत सारे स्थूल लोकों का सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है और इसी संयम में पृथिवी का आलम्बन करके अथवा केवल पृथिवी के आलम्बन सिद्देत संयम द्वारा पृथिवी के उत्पर के द्वीपों सागरों पर्वतों आदि तथा उसके अथी लोकों

का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।

ध्यान की अधिक सूक्ष्म अवस्था में इसी उपर्युक्त संयम के सूक्ष्म हो जाने पर अथवा सूर्य्य के अध्यात्म सूक्ष्म स्वरूप में संयम द्वारा सूक्ष्म लोकों अर्थात् स्त्रः, महः, जनः, तपः और सत्य लोक का ज्ञान प्राप्त होता है।

वाचरपति मिश्र ने सूर्य्य द्वार को सुचुन्ना नाड़ी मान कर सुचुन्ना नाड़ी में संयम करके मुवन विन्यास के झान को सम्पादन करना बतलाया है। वास्तव में कुराइलिनी जागृत होने पर सुचुन्ना नाड़ी में जब सारे स्थूल प्रायादि प्रवेश कर जाते हैं तभी इस प्रकार के श्रानुभव होते हैं।

उस समय संयम की भी आवश्यक्ता नहीं रहती किन्तु जिधर वृति जाती है अथवा

जिसका पहिले ही से संकल्प कर लिया है उसी का साज्ञातकार होने लगता है।

ं संगति - अन्य भौतिक श्रकाश को संयम का विषय बनाकर भिश्न-भिन्न सिद्धियें कहते हैं :--

चन्द्रे ताराब्युहज्ञानम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ-चन्द्रे = चन्द्रमा में (संयम करने से) तारा-च्यूह-झानम = ताराओं के व्युह का (नत्त्रजों के स्थानविशेष का) झान होता है ।

अन्वयार्थ - चन्द्रमा में संयम करने से ताराओं के ब्यूह का ज्ञान होता है।

ज्याक्या—ताराओं की स्थिति का अर्थात् अपुक तारा अपुक स्थान पर है इसका यथावत् झान चन्द्रमा में संयम करने से होता है। पृथिवी एक दिन में, शयः दो दो चयटों में एक एक राक्षि के हिसाब से, बारह राशियों को एक बार देखा करती है। और एक एक राशियों से एक एक मास तक निवास करती हुई १२ राशियों का चकर १२ मासों में अर्थान् एक वर्ष में करती है। परन्तु चन्द्रमा चूँकि अपने चान्द्रमास में एक वार पृथिवी के चारों ओर घूमता है, अर्थान् एक चान्द्रमास में १२ राशियों में एक वार धूम लेता है, इस लिय एक वर्ष में चन्द्र बारह राशियों में घूमेगा। इस कारण चन्द्र में संयम द्वारा योग को राशि चक्र का ज्ञान अग्राम रीति से हो सकता है। ज्योतिष का यह सिद्धान्त है कि जितने प्रह हैं उन सब में चन्द्र एक राशि पर सब से कम समय तक रहता है, इस हिसाब से प्रत्येक तारा व्यूह राशि की आकर्षण विकर्षण शक्ति के साथ चन्द्र का अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उस आकर्षण विकर्षण शक्ति के अवलम्बन से युक्त तारा व्यूह के झान में चन्द्र की सहायता ली जा सकती है।

टिप्पणी—कई टीकाकारों ने चन्द्रमा से पिंगलानाड़ी अर्थ लिया है जो सुचुन्ना के वाम ओर से गई है। यह अर्थ न्यासभाष्य और भोजन्ति के अभिमत नहीं है और म

इसका प्रसंग से कोई सम्बन्ध है।

ध्रवे तदुगतिशानम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—ध्रुवे = ध्रुव में संयम करने से । तद्-गति-क्रानम् = उनकी (ताराक्यों की) गति का ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ-ध्रुव में संयम करने से तारात्रों की गति का ज्ञान होता है।

व्याख्या—ध्रुवं सब ताराओं में प्रधान श्रौर निश्चल है। इसीलिए उसमें संयंम करने से प्रत्येक तारा की गति का झान, नियत काल श्रौर नियत देश सहित हो जाता है। सर्थात् इतने समय में यह तारा श्रमुक राशि, श्रमुक नसूत्र में जावेगा।

टिप्पणि—कई टाकाकारों ने धुव से सुपुन्ना नाड़ी अर्थ लिया है जो मेहदपढ़ में मूला-धार से लेकर सदस्रदल तक चली गई है। पूचे सूत्र की टिप्पणी में इस सम्बन्ध में जो लिखा आये हैं वही यहाँ भी समभना चाहिए।

व्यास भाष्य में इतना और है-ऊर्ध्व (श्राकाश में उड़ने वाले) विमानों में संयम करने

से उनका ज्ञान होता है।

संगति - बाहर की सिद्धियों का प्रदिपादन करके अब आध्यन्तर सिद्धियों का आर-म्भ करते हैं:-

नाभिचक्रे कायम्यूइइानम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ —नाभि चक्रे = नाभि चक्र में संयम करने से। काय-च्यूद-झानम् = शरीर के व्यूह का ज्ञान होता है।

अन्वयार्थ-नाभि चक्र में संयम करने से शरीर के व्यूह का झान होता है।

ब्याख्या—१६ बरों (सिरों) वाला नाभिचक, झरीर के मध्य में है बौर सब बोर फैली हुई नाड़ियों आदि का विशेष खान है। इसीलिए इसमें संयम करने से झरीर में रहने वाली वात, पित्त, कफ तीनों दोष और खचा, रक्त, मांस, नाड़ी, हड्डी, चरबी, बीर्य सातों धातुकों की खिति आदि का पूरा-पूरा झान हो जाता है।

क्रपटकूपे चुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ - करठ-कृपे = करठ-कृप में (संयम करने से) क्षत-पिपासा-निवृत्ति: = क्षुधा श्रीर पिपासा की निवृत्ति होती है।

अन्वयार्थ-कएठ-कूपमें संयम कने से क्षुधा और पिपासा (भूख-प्यास) की निवृत्ति होती है।

व्याख्या-जिह्नाके नीचे सुत के समान एक नस है उसके नीचे कएठ है। उस कराठ के नीचे जो गढ़ा है उसे कराठकप कहते हैं। उस स्थान में प्राराादिकों का स्पर्श होने से पुरुष को भुख-प्यास लगती है। इसलिये इस कएठ-कृप में संयम द्वारा प्राणादिकों के स्पर्श की निवृत्ति होजाने से योगी को भूख प्यास नहीं लगती है।

कर्षनाड्यां स्थेयम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ - कूर्मनाड्यां = कूर्म नाड़ी में (संयम करने से) शैर्यम = श्विरता होती है। अन्वयार्थ-कूर्म नाड़ी में संयम करने से श्थिरता होती है।

व्याख्या-कएठ-कृपके नीचे छाती में फछुवे के आकार वाली एक नाड़ी है। उसे कर्म-नाड़ी करते हैं। उसमें संयम करने से स्थिरता की प्राप्ति होती है। जैसे सर्प श्रीर गोह स्थिर होते हैं। (प्रसिद्धि भी है श्रीर वास्तविक घटना भी है—सर्व छिद्र में श्राधा घुसा हो तो स्राधे को पकड़ कर कितना ही बलपूर्वक खींचे वह ऐसा जम जाता है कि चाहे टूट जाये परन्तु खिचता नहीं। यही बात गोह के सम्बन्ध में भी प्रसिद्ध है, प्रायः चोर किसी छत्त पर चढ़ने के निमित्त गोह के कमर में रस्सी बाँध कर उसको ऊपर चढ़ा देते हैं। जब वह मुंडेर पर पहुँच जाती है तब पैर जमा लेती है श्रीर चोर रस्सी के सहारे ऊपर चढ़ जाते हैं। श्री श्रंगद जी के पैर न डठने की बात भी इसी संयम के सिद्धि की सूचक है।)

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥

इान्द्रार्थ - मूर्ध-ज्योतिषि - मूर्धा की ज्योति में (संयम करने से)। सिद्ध-दर्शनम = सिद्धों का दर्शन होता है।

अन्वयार्थ - मूर्घा की ज्योति में संमय करने से सिद्धों का दर्शन होता है।

ब्याक्या-शरीर के कपाल में ब्रह्म-रन्ध्र नामक एक छिद्र है। उसमें जो प्रकाश वाली ज्योति है वह मूर्घा-ज्योति कहलाती है। उसमें संयम करने से दिसों के दर्शन होते हैं। शौ शौर पृथिबीलोक में विचरने वाले सिद्ध (व्यासभाष्य) शौ श्रौर पृथिवीलोक के श्रन्तराल में विचर-नेवाले सिद्ध, अर्थात दिन्य-पुरुष जो दूसरे शाणियों को ऋदश्य रहते हैं, योगी उनको ध्यानावस्था में देखता है और उनके साथ भाषण करता है। (भोजवृत्ति)

विशेष विचार—इस ज्योति का सम्बन्ध भूकुटी अर्थात् आज्ञाचक से है। इसलिये ब्रह्मरन्ध्र में प्राण् तथा मनको स्थिर करने के पश्चात् जब आज्ञाचक में ध्यान किया जाता है तो इस मूर्घी ज्योति के सत्त्वगुण के प्रकाश में सूक्ष्म जगत् का अनुभव होने लगता है। विशेष

१।३४ के वि० व० देखों।

ू संगति-सब वस्तुत्रों को जानने का उपाय कहते हैं :--

मातिमाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ - प्रातिभाडा = श्रथवा प्रातिभ-ज्ञान से । सर्वम् = सबकुछ जाना जाता है।

अन्वयार्थ-अथवा प्रातिभ-ज्ञान से योगी सबकुछ जानलेता है।

व्याख्या -प्रातिम (Intutional insight) वह प्रकाश व्यथवा ज्ञान हैं जो बिना किसी बाहर के निमित्त के खर्य व्यन्दर से प्राप्त हो। प्रातिम ही तारक-ज्ञान (३-५४) का नाम है। यह विवेक-ज्ञान का प्रथम रूप है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होने का प्रथम ज्ञापक विन्ह प्रमा है इसी प्रकार प्रसंख्यान के उदय होने का प्रथम लिङ्ग प्रातिभज्ञान है। जैसे सूर्य की प्रभा के उत्पत्त होने पर सबकुछ जाना जा सकता है इसीप्रकार प्रातिभ-ज्ञान की उत्पत्ति होने पर योगी विना संयम के ही सबकुछ जान लेते हैं। वा (अथवा) शब्द इस व्यभिप्राय से लगाया गया है कि इससे पूर्व जो-जो संयम कहा गया है उससे जिन-जिन विषयों का ज्ञान होता है यह सब प्रातिभ-ज्ञान से होजाता है।

हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ-हृदये = हृदय में (संयम करने से) । चित्त-संवित् = चित्तका ज्ञान होता है । अन्वयार्थ-हृदय में संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है ।

व्याख्या—हृद्यकमल चित्त का निवासस्थान है, उसमें संयम करने से वृत्तिसहित चित्त का साम्रास्कार होता है। विशेष व्याख्या ११२४ के वि० व० में ब्रनाहतचक्र देखें।

टिप्पणी:—हृदय शरीर में विशेष स्थान है उसमें सूक्ष्म कमलाकार जिसका मुख नं चे को है उसके अन्दर अन्दाकरण चित्त का स्थान है। उसमें जिस योगी ने संयम किया है उसको अपने और दूसरे के चित्त का झान उत्पन्न होता है। अपने चित्त में प्रविष्ट सब वासनाओं और दूसरे के चित्त में प्रविष्ट रागाढ़िको जान लेता है। यह अर्थ है। भोजवृत्ति

सस्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः मत्ययाविशेषो भोगः परार्थान्यस्तार्थसंयमा-स्युरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥

हास्त्रार्थ — सरव-पुरुषयोः = वित्त स्त्रीर पुरुष। कास्यन्त-कासंकीर्ययोः = जो परस्पर कास्यन्त भिन्न हैं (इन दोनों की)। प्रत्यय-काविशेषः = प्रतीतियों का काभेद। मोगः = मोग है। उनमें से। परार्थ = परार्थ प्रतीति (से)। कान्य-स्वार्थ-स्थान् = भिन्न जो स्वार्थ प्रतीति (पौरुषेय प्रस्थय) है उसमें संयम करने से। पुरुष-क्वानम् = पुरुष का ज्ञान होता है कार्थान् पुरुष-विषयक प्रज्ञा उत्पन्न होती है।

अन्वयार्थ—चित्त और पुरुष जो परस्पर अस्यन्त भिन्न हैं इन दोनों की प्रतीतियों का अभेद भोग है। उनमें से प्राथे प्रतीति से भिन्न जो स्वार्थ प्रतीति है उसमें संयम करने

से पुरुष का ज्ञान होता है अर्थात् पुरुष-विषयक प्रज्ञा ब्ल्यम होती है।

ब्याक्या—सत्त्व मर्थात् चित्तं प्रकाश और पुस्तरूप होने से, और पुरुष झानकारूप

होने से तुल्य-जैसे प्रतीत होते हैं। किन्तु बास्तव में ये दोनों अत्यन्त भिन्न हैं क्योंकि किस परिएए।मी, जब और भोग्यरूप है और पुरुष निर्विकार, चैतन्य और भोक्ता-खहर है। इस जब चित्त में चैतन्य पुरुष से प्रतिबिन्यित होकर जो दु:ख, सुख और मोह्यरूप हिन्त्यों का उदय होना है यह अत्ययाविशेष है क्योंकि इससे चित्त के धर्म सुख, दु:ख और मोह आदि का चित्त में प्रतिबिन्यित चैतन्य पुरुष में अध्यारोप होता है। यही अत्ययाविशेष अर्थात् चित्त और चित्त में अतिबिन्यित चेतन के अत्ययों (पृत्तियों) का अमेद भोग है। यह भोगरूप प्रत्यय यद्यपि चित्त का धर्म है तथापि चित्त को (परार्थत्वात्) पुरुष के अर्थवाला होने से और पुरुष का चित्त का भोक्ता होने से यह भोगरूप प्रत्यय मी परार्थ अर्थात् पुरुष के अर्थ है। और जो भोगरूप प्रत्यय से भिन्न चेतनमात्र को अवलम्बन करने वाला पीरुषेय प्रत्ययरूप चित्त का धर्म है वह स्वार्थ प्रत्यय है।

अर्थात यद्यपि सुख, दु:खादिकों के अनुभव का नाम भोग है और भोग का अनु-भव करनेवाला भोक्ता कहलाता है ऐसा भोग-कर्तृत्वरूप-भोक्तव निर्विकार-चेतन-पुरुष में भी बास्तव में सम्भव नहीं है। तथापि चित्त के धर्म इस प्रश्ययरूप भोग सुख, दु:ख आहिकों का परुष के प्रतिविभ्व द्वारा पुरुष में आरोप-स्वरूप ही है। जैसे खच्छ जल में प्रतिबिम्बत चन्द्रमा में जल के कम्पन से चन्द्रमा कॉपता है, ऐसा कम्पन का आरोप होता है। बास्तव में चन्द्रमा में कम्पन नहीं होता है, वैसे ही यह भोग चित्त का परिणाम होने के कारण वास्तव में चित्त ही में होता है। परन्त प्रतिबिम्ब द्वारा निर्विकार परुष में सख-द:खादिकों का आरोपरूप भोग है। इसलिए आरोपित भोग वाला होने से पुरुष भोत्ता कहलाता है। ऐसा चित्ता का परिग्णाम प्रत्ययस्वरूप-भोग जड़ होने से परार्थ है श्रीर परार्थ होने से भोग्य है क्योंकि जो वस्तु परार्थ होती है वह भोग्य होती है। इस परार्थ जड़ भीग से भिन्न जो पुरुष का श्रतिविम्बत रूप प्रत्यय है वह स्वार्थ कहलाता है । वह पौरुषेय प्रत्यवरूप भोग किसी का भोग्य नहीं है। इस प्रतिविम्बरूप स्वार्थ प्रत्यय को पौल्येय प्रत्यय और पौरुषेय बोध भी कहते हैं। इस खार्थ प्रत्यय में संयम करने से पुरुष (विषयक) ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् पुरुष को विषय करनेवाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है । इससे यह नहीं सममना चाहिये कि चित्त के धर्म पुरुष प्रत्यय से पुरुष जाना जाता है किन्तु पुरुष ही चित्त में प्रतिविम्बित हुआ स्वात्मावलम्बन (अपने स्वरूप को प्रकाश करने वाली) रूप प्रत्यय को देखता है। क्योंकि ज्ञाता पुरुष का वास्तविक खरूप वित्त द्वारा नहीं जाना जा सकता है, जैसा बृहदारएयकोषिकषद में कहा है-

विद्यातारमरे केन विजानीयात्

अर्थ-सबको जानने वाले विज्ञानी को किससे जाना जा सकता है व्यर्थात् किसी

से नहीं जाना जा सकता है।

विशेष वक्तव्य — । सूत्र ३५ । वाचस्पति आदि ने इस सूत्र में "परार्थ स्वार्थ संवमात्" पाठ पढ्कर 'अन्य' शब्द का अध्याहार करके अर्थ पूरा किया है। पर भोजवृत्ति का पाठ "परार्थान्यस्वार्थसंयमात्" अध्याहार की अपेवा नहीं रखता । इसलिए यहाँ यही

पाठ रखा गया है। इस सूत्र के भाव को और अधिक स्पष्ट करने के वहेश्य से भोजवृत्ति का भाषार्थ भी दिये देते हैं—

भोजवृत्ति का मांवार्थ — । सूत्र ३५ । सत्त्व (चित्त = बुद्धि) जो प्रकाश और सुस्वरूप है वह प्रकृति का परिग्णाम-विरोष है । पुरुष उसका भोक्ता और अभिष्ठाता (स्न्नामी) रूप है । ये दोनों भोग्य-भोक्ता और जङ्गेतनरूप होने से अत्यन्त भिन्न हैं । इन दोनों के प्रत्यचों (वृत्तियों = ज्ञानों) का जो अविशेष अर्थात् अभेद का भासित होना है उससे सत्त्व (चित्त = बुद्धि = अन्तःकरण्) की कर्तृत्व-वृत्ति द्वारा जो सुस्त्र, दुःस्व का ज्ञान होना है वह भोग है । सत्त्व (चित्त = बुद्धि) स्वार्थ अर्थात् अपने किसी प्रयोजन की अपेत्ता नहीं रखता इसलिए वह भोग उसके लिये 'स्वार्थ' नहीं है किन्तु 'परार्थ' दृसरे के निमित्त अर्थात् पुरुष के निमित्त है । उससे भिन्न 'स्वार्थ' नुष्ति है किन्तु 'परार्थ' दृसरे के निमित्त अर्थात् पुरुष के निमित्त है । उससे भिन्न 'स्वार्थ' पुरुष का अपने स्वरूप-मात्र का आलम्बन (अपने स्वरूप का विषय करना) अर्थात् अहंकार-रहित सत्त्व (चित्त = बुद्धि) में जो चेतन के छाया (प्रतिविग्व) का संक्रमण् है उसमें संयम करने वाले योगी को पुरुष-विषयक ज्ञान उत्पन्न होता है । इस प्रकार पुरुष स्वावलम्बन (अपने स्वरूप को विषय करनेवाले) सष्त्र (चित्त) में रहने वाले ज्ञान को जान लेता है । यह नहीं है (इससे यह न समम्मना चाहिये) कि इस प्रकार ज्ञाता चेतन पुरुष ज्ञान से जाना जाता है क्योंकि ऐसा मानने में ज्ञाता पुरुष क्षेत्र क्षेत्र क्षेत्र है ।

संगति - स्वार्थ-प्रत्यय के संयम के मुख्य-फल अर्थात् पुरुष-झान के उत्पन्न होने से पूर्व जो सिद्धियाँ होती हैं उनका निरूपण करते हैं:—

ततः पातिभश्रावणवेदनादशीस्वादवार्ता जायन्ते ॥ ३६ ॥

द्यार्था—ततः = उस स्वार्थसंयम के अभ्यास से । प्रातिभ-श्रावणःवेदना-स्रादर्ध-स्थास्वाद-वार्ता-जायन्ते = प्रातिभ, श्रावण, वेदना, स्रादर्श, स्थास्वाद, श्रीर वार्ता झान उत्पन्न होता है ।

अन्वयार्थ — उस स्वार्थ-संयम के अध्यास से प्रातिभ, श्रावरा, वेदना, स्वादधों, स्वास्ताद और वार्ता ज्ञान उत्पन्न होता है।

र्व्याख्या—स्त्रार्थ-संयम के काभ्यास से पुरुष-झान उत्पन्न होने से पूर्व निम्न ऽकार की छ: सिद्धियाँ प्रकट होती हैं—

१ प्रातिभ—मन में सूक्ष्म (श्रतीन्द्रिय) व्यवहित (छिपी हुई) विश्कृष्ट (दूरस्थ) श्रतीत श्रीर श्रनागत वस्तुश्रों के जानने की योग्यता । सूत्र ३।३३

२ श्रावण-शोत्रेन्द्रिय की दिन्य और दूर के शब्द सुनने की योग्यता ।

३ वेदना-त्वचा इन्द्रिय की दिव्यस्परो जानने की योग्यता ।

'वेदातं अनया' इस ब्युत्पत्ति के द्वारा स्पर्होन्द्रिय में उत्पन्न ज्ञान की 'वेदना' संज्ञा है।

—(भोजवृत्ति)

४ आदर्श—नेत्रेन्द्रिय की दिव्य रूप देखने की योग्यता । भा समन्ताद्व हृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेन

इस ज्युत्पत्ति से नेत्रेन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञान का नाम श्रादशें है । —(भोजवृत्ति) ५ आस्वाद—रसनेन्द्रिय की दिव्य रस जानने की योग्यता । ६ वार्ता — प्रायोन्द्रिय की दिव्य गन्ध संघने की योग्यता ।

शास्त्राय परिभाषा में घृत्ति शब्द घार्येन्द्रिय का वाची है 'वर्तते गन्धविषये इति वृत्तिः गन्ध जिसका विषय है वह वृत्ति है अर्थात् नासिकाप्रवर्ती घार्येन्द्रिय है, उससे उत्पन्न हुआ ज्ञान 'वार्ता' कहलाता है। —(भोजवृत्ति)

संगति — स्वार्थ प्रत्यय का र्ययम पुरुष-ज्ञान के निमित्त किया है उससे पूर्व इन सिद्धियों को पाकर योगी अपने-आप को छतार्थ मानकर उपराम को प्राप्त न हो जावे किन्तु पुरुष-ज्ञान के लिए बराबर प्रयत्न करता रहे, इस हेतु से कहते हैं:—

ते समायानुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय: ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—ते = वे उपर्युक्त छः सिद्धियाँ । समाधौ-उपसर्गाः = समाधि (पुरुष दर्शन) में विन्न हैं । व्युत्याने-सिद्धयः = व्युत्थान में सिद्धियाँ हैं ।

अन्वयार्थ – वे उपर्युक्त छुः सिद्धियाँ समाधि (पुरुष दर्शन) में विन्न है, व्युत्थान में सिद्धियाँ हैं।

व्याख्या—पिछले सूत्र में बतलाई हुई छ: सिद्धियाँ एकाम चिरा वालों को समाधि-प्राप्ति (पुरुष दर्शन) में विम्नकारक हैं। क्योंकि चनमें हुपे, गौरव, आश्चर्यादि करने से समाधि शिथिल होती है, पर व्युत्थान-दशा में विशेष फलदायक होने से सिद्धिरूप होती हैं अर्थान् जैसे जन्म का कॅंगला अत्यस्प द्रव्य को पाकर ही अपने-आपको छतार्थ सममने लगता है वैसे ही विचिन्न चित्तवालों को ही पुरुष-झान से पूर्व होने वाले उपर्युक्त प्रातिभादि छ: ऐश्वर्य सिद्धिरूप दीखते हैं।

समाहित चित्त वाला योगी इन प्राप्त ऐश्वर्यों से दोष-दृष्टि द्वारा उपराम होकर इनको समाधि में हकावट जानकर अपने अन्तिम लक्ष्य आत्मसान्नात्कार के लिए खार्थ संयम का निरन्तर प्रमाद-दृष्टित होकर अभ्यास करता रहे ।

संगति—पुरुष-दर्शन पर्यन्त संयम का कत ज्ञानरूप ऐश्वर्य-विभूतियों का निरूपण करके अब क्रियारूप सिद्धियों को विखलाते हैं :—

बन्धकारणशैथिन्यात्मचारसंवेदनाच चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ —बन्ध-कारण-शैथिल्यात् = बन्ध के कारण के शिथिल करने से । प्रचार-संवेदनात्-च = और घूमने के मार्ग जानने से । चित्तस्य = चित्त का (सूक्ष्म शरीर का)। पर-कारीर-कावेशः = दूसरे के शरीर में कावेश होता है ।

अन्वयार्थ - बन्ध के कारण के शिथिल करने से और घूमने के मार्ग के जानने से

व्याक्या—चित्र का शरीर में बन्ध रहने का कारण धर्माऽधर्म वर्धात् सकाम कर्म कौर उनकी वासनायें हैं। योगी जब धारणा, ध्यान, समाधि के अध्यास से सकाम कर्मों को छोड़कर निश्काम कर्मों का आसरा लेवा है तो इन बन्धों के कारणों को ढीला कर देता है और नाड़ियों में संयम करके चित्त (सूक्ष्म-शरीर) के उनमें आने जाने का मार्ग प्रस्यक्त कर लेवा है। इस प्रकार जब बन्ध के कारण शिथिल हो जाते हैं और नाड़ियों में चित्त (सूक्ष्म-शरीर) के घूमने के मार्ग का पूरा-पूरा झान हो जाता है तब योगों में यह सामध्ये हो जाती है कि वह अपने शरीर से चित्त (सूक्ष्म-शरीर) को निकालकर किसी दूसरे शरीर में डाल सके। चित्त के अनुसार ही इन्द्रियों भी यथाक्षान आवेश कर जाती हैं।

टिप्पणी-भोज वृत्ति का भाषार्थ-। सूत्र ३८। अन्य सिद्धि कहते हैं :-

श्वातमा और वित्त व्यापक है, पर नियंत कमों (भले-बुरे कमों) के वश से ही हारीर के भीतर रहते हैं। उनका जो भोक्ता (श्वातमा) और भोग्य (वित्रा) बनकर बँध जाना है वह ही शरीर का बन्धन है। इस बन्धन का कारण, धर्म और श्रधम जब समाधि से शिथल अर्थात् कृश हो जाता है तब हृदय से लेकर इन्द्रियों के द्वारा विषयों के सम्मुख जो वित्त का प्रचार (फैलाव वा गमनागमन का मार्ग) है उसका ज्ञान हो जाता है कि यह वित्त को बहाने वाली (वित्त के गमनागमन की) नाढ़ी है। इससे वित्त बहुता है अर्थात् विषयों में जाता है। और यह नाड़ी रस और प्राणादि को बहानेवाली नाड़ियों से भिन्न है। जब अपने और दूसरों के शरीरों में वित्त के सम्बार को जान जाता है तब दूसरे के मृतक शरीर में वा जीते हुए शरीर में वित्त के सम्बार द्वारा प्रवेश करता है। दूसरे के शरीर में प्रवेश होने पर चित्त के पीछे अन्य सब इन्द्रियाँ भी साथ हो लेती हैं, जैसे रानी मक्खी के पीछे अन्य मिक्खाँ। दूसरे के शरीर में घुसा हुआ योगी अपने शरीर की तरह उस शरीर में वर्तता है, क्योंक चित्त और पुरुष दोनों ब्यापक हैं इसलिये भोगों के संकोच का कारण्हप कमें (क्रिया) यदि समाधि से हट गया तो स्वतन्त्रता के कारण सवेत्र ही भोग सन्यादन हो सकता है।

उदानजयाज्ञलपंककएडकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्र ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—ख्दान-जयात् = संयम द्वारा ख्दान के जीतने से। जज़ = जल। पंक = कीचड़। करटक-घादिषु = काँटों चादि में। घसङ्गः = घसङ्ग रहना होता है। स्टकांतिःच ⇒ स्रोर ऊर्ष्व गति होती है।

अन्ययार्थ—(संयम द्वारा) उदान के जीतने से जल, कीचड़, कॉटों खादि में असङ्ग रहना और ऊर्ष्व गति होती है।

ब्याख्या — शरीर से समस्त इन्द्रियों में वर्तने वाले जीवन का आधार प्रायावायु है। इसके क्रियाभेद से पाँच अुख्य नाम हैं :—

१ प्राण-यह इन पाँचों में सब से प्रथम है, यह मुख और नासिका द्वारा गति

करने वाला है। नासिका के अप्रभाग से लेकर हृदय-पर्यन्त वर्तता है।

२ अपान—नीचे को गति करनेवाला है। मूत्र, पुरीष और गर्भ आदि को नीचे ले जाने का हेतु है। नाभि से लेकर पादतल तक अवस्थित है।

३ समान — खान-पान के रस को सम्पूर्ण शरीर में अपने-अपने स्थान पर समान रूप से पहुँचाने का हेतु है। हृदय से लेकर नाभि तक वर्तता है।

४ व्यान - सारे शरीर में व्यापक होकर गति करनेवाला है।

५ उदान — ऊपर की गित का हेतु हैं। क्यूठ में रहता हुआ शिर-पर्यन्त वर्तने वाला है। इसी के द्वारा शरीर के व्यष्टि शाया का समिष्टि शाया से सम्बन्ध है। मृत्यु के समय सूक्ष्म-शरीर इसी उदान द्वारा स्थूल-शरीर से बाहर निकलता है। जब योगी संयम द्वारा उदान को जीत लेता है तो उसका शरीर रुई की तरह हत्का हो जाता है। वह पानी पर पैर रखते हुए उसमें नहीं झूबता। कीचकु-काँटों में उसके पैर नहीं फँसते क्योंकि वह अपने शरीर को हत्का किये ऊपर उठाये रखता है। और मरण समय में उसकी ब्रह्मरन्ध्र द्वारा शायों के निकलने से † ऊर्ष्य गिति (शुक्त गिति) उत्तर-मार्ग से होती है।

विशेष वक्तव्य सं०१ ‡। सूत्र ३९। — अन्तः करण की दो प्रकार की वृत्तियें होती हैं:-

(१) बुद्धि का निश्चय, चित्त का स्मृति, श्रद्धार का श्रभिमान, मनका संकल्प

करना यह इन सबका अलग-अलग काम बाह्य-वृत्ति है ।

(२) इन सबका साधारण सामा (मिश्रित) काम आभ्यन्तर-वृत्ति है। जैसे सुसे हुए तृत्यों में श्रीम लगाने से एकदम श्रीम प्रज्वितित हो जाती है श्रथवा जैसे एक कबूतर विंजरे को नहीं हिला सकता और बहुत से मिलकर एक साथ चला सकते हैं इसी प्रकार शरीर-धारण्हणी काये जो श्रन्तःकरण की मिश्रित श्राभ्यन्तर वृत्ति से चल रहा है, इसी का नाम जीवन है। यह जीवनरूप प्रयन्न शरीर में उपगृहीत वायु की क्रियाशों के भेद का कारण है। इस जीवनरूप प्रयन्न शरीर में उपगृहीत वायु की क्रियाशों के भेद का कारण है। इस जीवनरूप प्रयन्न से पांच प्रकार के वायु की क्रिया होती हैं। उन क्रियाशों सोर स्थानों के भेद से वायु के प्राण, श्रपान, समान, न्यान और उदान पांच मुख्य नाम हैं।

स्त्रातच्चययं दृषिस्रयस्य सैषा भवत्यसामान्या । सामान्यकरणदृष्टिः प्राणाद्या बायवः पंच ॥ (सांस्यकारिका २९)

अर्थ—अपना-अपना लच्च तीनों (अन्तःकरणों) का काम है। सो यह सामा (काम) नहीं है, अन्तःकरणों का सामा (काम) प्राण् आदि पांच वायु हैं।

अर्थात् बुद्धि का निश्चय, अहंकार का अभिमान और मन का संकल्प यह तीनों

अन्तः करणों का अपना-अपना काम है। सामा काम नहीं है।

प्राया, अपान, समान, ज्यान, उदान यह पांच वायु इनका सामा काम है। यह पांच प्रकार का जीवन-कार्य मन, आईकार और लुद्धि के आश्रित है इनके होते हुए होता है।

विद्योष वक्तव्य सं०२ १ — । सूत्र ३९ । मृत्यु के समय लिङ्ग (सूक्ष्म) गरीर की

इपयेक्षयोध्व उदानः पुरायेन पुरांकोकं नयति पापेन पापप्रभाभ्यामेव

मनुष्यलोकम् ॥ (प्रश्न उप॰ ६-७)

अर्थ — अब उदान जो ऊपर को जानेवाला है वह एक (नाड़ी, सुयुम्ना) के द्वारा (लिक्क-शरीर को) पुरुष से पुरुषलोक आदित्य लोक वा चन्द्र लोक) को ले जाता है (इन दोनों लोकों में अन्तर्मुख होकर जाना होता है)। पाप से पापलोक (पशु-पत्ती, कीट-पत्क्वादि की योनि को) और दोनों (मिले हुए पुरुष-पाप) से मनुष्यलोक को ले जाता है।

वे मनुष्य जिनकी रुचि सदा पाप में रहती है, जो खार्थसिद्धि अथवा विना खार्थ के भी दूसरों को हानि पहुँचाने तथा नाना प्रकार से हिंसात्मक और नीच कर्मों में लगे रहते हैं उनका लिंग (सूक्ष्म) शरीर मृत्यु के समय वर्त्तमान स्थूल-शरीर को छोड़कर कीट, पशु, पत्ती आदि तिर्थक् योनियों को प्राप्त होता है। और पाप-पुर्यय, शुभ-अशुभः हिसात्मक और श्रिहिंसात्मक इन दोनों प्रकार के मिश्रित कमें करनेवाला जीव मनुष्ययोनि को प्राप्त होता है। इन दोनों प्रकार के मनुष्यों के लिङ्ग शरीर की मृत्यु के समय श्रिथः तथा मध्यम गति स्थूल लोकों में बाहर की ओर से होती है।

पितृयाण व देवयान

पुरायात्माओं के लिङ्ग (सूक्ष्म) झरीरों की कृष्ण श्रौर ब्रुक्न गतियों का पिठयाण श्रौर देवयान नाम से वेदों, उपनिषदों श्रौर गीता में सिवस्तार वर्णन किया गया है। यथा—

द्वे स्ती अश्रुणवं पितणामहं देवानाम् त मर्त्यानाम् । ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरं च ॥

(यजुर्वेद १९/४७ ऋग्वेद १०।८८।१५)

अर्थ—(अन्तरित्त लोक और पृथ्वीलोक के बीच में) मनुष्यों के जाने के लिये मैंने दो मार्ग सुने हैं। जिनमें से एक का नाम देवयान और दूसरे का नाम पितृयाण है। इन्हीं दोनों मार्गों से समस्त संसारी पुर्यात्माओं के लिक्क शरीर जाते हैं।

यत्र काले त्वनाष्ट्रतिमात्रतिं चैव योगिनः।

मयाता यान्ति तं कालं बच्यामि भरतर्षभ ॥ (गीता ८।२३)

अर्थ-चौर हे अर्जुन ! जिस काल (मागे) में शरीर त्यागकर गये हुए योगीजन लौटकर न आनेवाली गति को और लौटकर आनेवाली गति को भी प्राप्त होते हैं उस काल (मागे) को कहूँगा ।

शुक्रकृष्णे गती शेते जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्यनाहत्तिमन्यया वर्तते पुनः॥ (गीता ८।२६)

अर्थ-- क्योंकि जगत् के ये दो प्रकार शुक्त और कृष्ण अर्थात् देवयान और पितृयाण्य मार्ग सनातन माने गए हैं (इनमें) एक के द्वारा (गया हुआ) पीछे न आनेवाली गति को प्राप्त होता है और दूसरे के द्वारा (गया हुआ) पीछे आता है अर्थात जन्मसत्य को श्राप्त होता है।

पितयाग - सकामी पुग्यात्मात्रों (तथा सम्प्रज्ञात समाधि की नीची भूमियों में आसक्त योगियों) का लिङ्ग (सक्ष्म) शरीर पितृयाण मार्ग द्वारा चन्द्रलोक (स्वर्गलोक) में जाकर अपने सकत कमों को भोगने के पश्चात उसी मार्ग से लौटकर मनुष्यलोक में मनुष्य-शरीर धारण करता है। " सकाम कर्म " अविद्या और अज्ञानरूपी अन्धकार से मिश्रित होते हैं। इसलिए ऐसे लिङ्ग-शरीरों की गति निष्काम-कर्म थोगियों की व्यपेता रात्रि. कुद्रुगपन्न और दिन्निगायन जैसे अन्धकार के समय (मार्ग) तथा अन्धकार के लोकों में होकर बतलाई गई है।

धुमो रात्रिस्तया कृष्णः पर्यमासा द्त्रिणायनम् । तत्र चान्द्रमसं ज्योतियोंगी प्राप्य निवर्तते ॥ (गीता १।२५)

अर्थ-धूमरात्रि तथा कृष्णपत्त (जब चन्द्रमा का कृष्ण भाग पृथ्वी के सामने रहता ह जो कृष्ण प्रतिपदा से श्रमावस्या तक श्रथवा कृष्ण पश्चमी से शुक्रपत्त पश्चमी तक अथवा करुण अष्टमी से गुरू अप्रमी तक माना गया है) और दिल्लायन के छः महीने (जब उत्तर ध्रुव-स्थान पर रात होती है अथवा सूर्य के कर्क में संक्रमण से लेकर छः मास) उस काल (माग) में मरकर गया हुआ सकाम-कम योगी का लिक्कशरीर चन्द्रलोक (स्वर्गलोक) को प्राप्त होकर (वहाँ अपने ग्राभकर्मों का फल भागकर) फिर लौटता है (मनुष्य-शरीर धारणा करता है)।

ते घूपमभिसम्भवन्ति, घूपाद्रात्रि द रात्रेश्परपत्तमपरपत्ताद् यान् षड्दिचिर्यति मासार्धस्तान्, नैते सम्बत्सन्पिभाष्त्रुवन्ति ॥३॥ गासेभ्यः विवलोकं विव्वोकादाकाशमाकाशाचन्द्रवसम्। एष सोमो राजा। तद् देवानामझं, तं देवा भक्तयन्ति ॥ ४ ॥ तस्मिन्, यावरसंयातग्रुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तनते ॥ ५ ॥ (छाम्दोग्य उप० ५।१०)

अर्थ - उनके लिङ्ग (सूक्ष्म) शरीर धूम को अपना मार्ग बनाते हैं। धूम से रात्रि के अन्धकार को, रात्रि से कृष्णपत्त के अन्धकार को. कृष्णपत्त से छः मास दित्तिणायन के अन्धकार को जिनमें सूर्य दिच्या को जाता है, मागे बनाते हुए आगे जाते हैं। वे सम्बत्सर (कल्प) को प्राप्त नहीं होते ।

दिवागायन के छ: महीनों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को मार्ग बनाते हैं। आकाश से चन्द्रलोक को शप्त होते हैं। यह सोम राजा (चन्द्रमा अर्थात् चन्द्रलोक 'स्वर्गलोक') है। यह पितरों का अङ्ग (ग्रुभ कमें के फलों का भोगत्थान) है इसकी पितर भन्नण करते हैं, अर्थात् चन्द्रलोक में अपने अमृतकर्पा सहम फर्झों को भोगते हैं।

44

वे वहाँ (चन्द्रलोक में) उतनी देर रहते हैं जब तक उनके कर्म ज्ञीया नहीं होते । तब वे उसी मार्ग को फिर लौटते हैं, जैसे गये थे ।

उपनिषदों में लिङ्ग-झरीर का बृष्टिद्वारा पृथ्वीलोक में आना इत्यादि जो बतलाया गया है वह केवल अधोगित का सूचक है, और कई एक भाष्यकारों ने स्थूलटृष्टि वाले सकाम-कर्मियों की सकाम-कर्मों को निःसारता दिखलाकर उनसे आसक्ति छुड़ाने के लिये इस अधोगित को और अधिक स्थूलरूप से वर्णन किया है। यथा—लिङ्ग-झरीर का औषधियों आदि. में जाकर मनुष्यों से खाये जाना और वीर्यद्वारा रज से मिलकर जन्म लेना इत्यादि। वास्तव में लिङ्ग-झरीर का इस भाँति स्थूल-पदार्थों नैसा व्यवहार नहीं है। लिङ्ग-झरीर की गित स्थूल-झरीर तथा स्थूल-पदार्थों से अति विलक्त्या है। जैसा (सूत्र ११२८ व ४१९० की) व्याख्या में विस्तारपूर्वक बतलाया गया है।

यहां चन्द्र से ऋभिप्राय यह भौतिक चन्द्र नहीं है जो आकाश में हमें दीखता है। यह तो हमारी पृथिवी के सदश एक स्थूल जगत् है। हमारे मत्येलोक पृथिवी की अपेचा से चन्द्र शब्द अमृत के ऋथे में सारे स्क्ष्म लोकों के लिये प्रयोग हुआ है, जिनको युलीक स्वर्गलोक और कहीं-कहीं बद्धालोक भी कहा जाता है (वि०पा० सूत्र २६ का वि०व०) ये स्क्ष्म लोक तो भू: और मुबः अर्थात पृथ्वीलोक और सारे स्थूल अन्तरिस्न लोकों के अन्दर हैं, नीकि बाहर। उत्तर बतला आए हैं कि सूक्ष्म लोकों में अन्तर्भुख होकर जाना होता है। उसी के उलटे कम से सूक्ष्म लोकों से मनुष्य लोक में बिह्मुख होना होता है। इस लिये लिङ्ग शरीरों का यृष्टि द्वारा पृथिवी लोक में गिरना और औषधियों आदि द्वारा मनुष्यों आदि से खाए जाने की करवना भ्रममृतक है। देवस्थान से पग्र पत्ती आदि नीची योनियों में जाने की बात भी अयुक्त है, क्योंक सूक्ष्म लोकों में विच्य शरीर को देने वाले नियत विपाक के प्रधान कम्मीशयों की निचलों भूमि में मनुष्य शरीर को देने वाले नियत विपाक के कमीशय ही हो सकते हैं।

खान्दोग्योधनेषद् ६।१० में अधोगति दिखलाने के लिये उस स्थूल गर्भ का वर्णन है, जिसमें सकामियों का चन्द्रलोक के आनन्द भोगने के पश्चाम् मनुष्य लोक में प्रवेश करना होता है अर्थात् '' अप्रमेघ होकर वरसता है उससे चावल औषधियाँ तिल आदि उत्पन्न होते हैं। इनसे बड़ी कठिनाई से वीन्यं बनता है अर्थात् जब मनुष्य उनको खाता है तो उनका आति सुक्ष्म अंश वीन्यं वनता है। उस वीर्य्य को जब वह (की को योनि में) सींचता है तब रज से मिलकर गर्भ बनता है। उस गर्भ में सकामियों का सूक्ष्म शरीर चन्द्र लोक से (वृतिक्रप से) प्रवेश करता है "

सूक्ष्म शरीर का वीर्य द्वारा प्रवेश करना श्रुति के विरुद्ध भी है। श्रुति में श्रद्धारन्त्र द्वारा प्रवेश होना बतलाया है। यथा:—

> " स एतमेव सीमानं विदार्येतया द्वारा प्रापयत " (ऐतरेय व्यध्या० १ स्वयद ३ । १२ ।

अर्थ: -- तब उसने इसी सीमा ब्रह्मरम्प्रको फोइन, जीर वह इस द्वार से प्रविष्ट हुआ। जीर मन्त्र ७ में इस बात को दशीया गया है कि इस लोक में अच्छे कम्मे वाले अच्छे गर्भों में और तुर कम्मों वाला तुरे गर्भों में अर्थात् वे जो इस लोक में ग्रुम आचरण वाले हैं वे तत्काल ही ग्रुम जन्म को पाते हैं जैसे ब्राइण जन्म ज्ञात्रिय जन्म, वैश्य जन्म, और जो इस लोक में निन्दित आचरण वाले हैं शीध हो नीच जन्म को पाते हैं जैसे कुत्ते के जन्म, सुकर के जन्म, तथा चायडाल के जन्म।

देवयान — निष्कामकर्मी (तथा असम्प्रज्ञात समाधि की भूमि को प्राप्त किये योगी) पुरायात्माओं का लिङ्ग-शरीर देवयान मार्ग द्वारा आदित्य लोक में आकर मुक्ति को प्राप्त होता है। उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती है। निष्काम-कर्म विद्या और ज्ञान के प्रकाश से युक्त होते हैं इसीलिये उन की गति सकामकर्मियों की अपेदा दिन, ग्रुकुपच और उत्तरायय-जैसे प्रकाश के समय (मार्ग) तथा प्रकाश के लोकों में होकर बतलाई गई है। यथा —

अग्निवर्गेतिरहः शु: पर्यमासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छिन्त श्रम श्रमिवदो जनाः ॥ [गीता ८।२४] अर्थ — श्रमि क्योति दिन गुरूपत् (जय चन्द्रमा का गुरू-भाग पृथ्वी के सामने रहता है अर्थात् गुक्ल प्रतिपदा से पूर्तिमा तक अथवा गुक्ल प्रश्मी से कृष्ण पश्चमी तक अथवा गुक्ल अष्टमी से कृष्णपत्त अप्टमी तक) उत्तरायण के छः मास (जब उत्तर प्रृव स्थान पर दिन होता है अथवा सूर्य के मकर में संक्रमण से लेकर छः मास) इस प्रकार के समय (मागे) में मरकर गये हुए योगीजन आदित्य लोक को प्राप्त होते हैं।

द्यय यदु चैवास्मिञ्ज्ञहर्य कुर्वन्ति यदि च न, ऋचिषमेवाभिसम्भवन्त्यचिषो-ऽहरह् ऋापूर्यमाणपत्तमापूर्यमाणपत्ताद् यान् षहुदक्ति मासौँस्तान्, मासेभ्यः संबत्सरं संबत्सरादादित्यमादित्याचन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषो-ऽमानवः ॥ ४ ॥

अर्थ — अब चाह वे (ऋखिज) उनके लिये शवकर्म (अन्त्येष्टि संस्कार) करते हैं, चाहे न, सबंधा वे (उपासक) किराएं अर्चि को प्राप्त होते हैं। अर्चि से दिन को दिन, से शुक्लपत्त को, शुक्लपत्त से उन छ: महीनों को जिनमें सूथे उत्तर को जाता है। महीनों से बरस को, बरस से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से बिजली को। वहाँ एक अमानव (जो मानुषी सृष्टि का नहीं) पुरुष अर्थात् पुरुष विशेष = ईश्वर = अपलक्ष) है।

स एतान् ब्रह्म गमयस्येष देवपथी ब्रह्मपयः । एतेन मतिप्रयमाना इमं मानवभावर्ते नावर्तन्ते नावर्तन्ते ॥ ६ ॥ [छान्त्रान्य ११९५]

अर्थ — वह इनको परनद्या को पहुँचाता है। यह देवपथ (देवताओं का मार्ग है, नद्मपथ है (वह मार्ग जो पर-नद्म को पहुँचाता है) वे जो इस मार्ग से जाते हैं। इस मानवचक (मानुषी जीवन) को वापिस नहीं खाते हैं। हाँ, वापिस नहीं खाते हैं। उपर्युक्त सारे प्रकाशनय मार्गों के वर्णन से सकामकर्मियों की श्रपेत्ता निष्काक मियों की केवल ऊर्ध्व तथा शुक्त गति का ही निर्देश समम्मन। चाहिये। वास्तव में तो—

स यावत् चिष्यंन्मनस्तावदादित्ये गच्छति । एतद्दै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधाऽविदुषाम् ॥ —(छान्दोल्य टाणापः)

अर्थ — वह जितनी देर में मन फेंका जाता है उतनी देर में आदित्य लोक में पहुँच जाता है। क्योंकि यह आदित्य लोक पर-ब्रह्म का द्वार है। ज्ञानियों के लिये यह खुला हुआ है और अज्ञानियों के लिये बन्द है।

इसी ऊर्श्व गति को योगदर्शन के उपर्युक्त सूत्र में 'उत्कान्तिः' शब्द से बतलाया गया है। यथा---

शतं चैका च हृद्यस्य नाड्यस्तासां मुर्धानमभिनिःस्तिका। तयोध्वैमा-पत्रमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति॥

(छान्दोग्य ८१६–६ कठ ६११६) अर्था —एकसौ एक हृदय की नाड़ियाँ हैं। उनमें से एक मूर्धा की त्रोर निकलती है। की से कल चटना हुन्या (जानी) सम्मनन (जनानोक्ष) को लग होता है। उससी

प्स नाड़ी से ऊपर चढ़ता हुआ (ज्ञानी) खम्तत्व (ज्ञद्धलोक) को प्राप्त होता है । दूसरी (नाड़ियाँ) निकलने में भिन्न-भिन्न गति (देने) वाली होती हैं । हां, निकलने में भिन्न-भिन्न गति देनेवाली होती हैं ।

मक्ति के दो भेद

वेदान्त में मुख्यतया मुक्ति के दो भेद माने हैं :-

१ फ्रममुक्ति:-जिसमें निष्कामकर्म योगी जो शवल ब्रह्म को तो साह्मात् करचुके किन्तु शुद्ध ब्रह्म को साह्मात् करचे से पूर्व ही इस लोक से चल देते हैं। वे वपर्युक्त देवयान द्वारा आदित्यलोक में पहुँचकर वहां शुद्ध ब्रह्म को साह्मात् करके मुक्त होते हैं। यथा—(तथा श्रसम्प्र-क्क्षात समाधि की भूमि को प्राप्त किये हुए वे योगी जो निरोध के संस्कारों द्वारा बहुत श्रंश में ब्युख्यान के संस्कारों को नष्ट कर चुके हैं कुछ शेष रह गए हैं जिस श्रवस्था में उन्होंने स्थूल शरीर को त्यागा है वे श्रादित्यलोक विशुद्ध सत्वमयचित्त को प्राप्त होते हैं। वहां ईश्वर के श्राद्ध से उनके ब्युत्थान के शेष संस्कार निष्टुत हो जाने पर कैवल्य श्रर्थात् पर ब्रह्म को प्राप्त होते हैं।

कार्यास्यये तदध्यक्षेण सहातः परमिश्वानात् ।—(वेदांतदर्शेन ७ । ३ । १०)

अथं — आदित्यलोक में पहुँचकर वह कार्य (शबल नहां) को उलांघकर उस कार्य से परें जो उसका अध्यत्त परनहां है, उसके साथ ऐश्वर्य को भोगता है। (आदित्यलोक यहां आकाश में दिखलाई देने वाले भौतिक सूर्य्य का बोधक नहीं है जो हमारी पृथिवी के सदश एक भौतिक स्थूललोक है। इससे अभिप्राय विशुद्ध सत्वमयचित्त है, जिसका वर्णन हमने कई

स्थानों में ईश्वर के चित्त के रूप में किया है। जो सारे सूक्ष्म लोकों से सूक्ष्मतम, कारण लोक व्यर्थात कारण जगत है।)

२ सद्योमुक्ति—ने निष्काम-कर्म योगी जो शुद्ध ब्रह्म को पूर्णतथा सावात् करचुके हैं (तथा असम्ब्रह्मात समाधि की भूमि को शाप्त (कये हुए ने योगी जो व्युत्थान के सारे संस्कारों के निष्कृत्त कर चुके हैं) उनको आदित्यलोक में जाने की श्रपेत्ता नहीं है। वे देह को छोड़ते ही मुक्त हो जाते हैं। यथा—

यांऽकामो निष्काम श्राप्तकाम श्रात्मकामो न तस्य पाणा उत्कामन्ति ब्रह्मोव सन् ब्रह्माप्येति । (बृहरु उपर शशक्)

अर्थ-जो कामना:श्रों से रहित है, जो कामनाओं से बाहर निकल गया है, जिसकी कामनायें पूरी हो गई हैं या जिसको केवल आत्मा की कामना है उसके प्राण नहीं निकलते हैं वह ब्रह्म ही हुआ ब्रह्म को पहुँचता है।

ब्रह्म के शबल स्वरूप की उपासना और उसका सालात्कार कारणशरीर (चित्त) से होता है. शुद्ध चेतनतत्त्व में कारण शरीर तथा कारण जगन परे रह जात हैं। यथा—

यतो वाचो निवर्तन्ते अमाप्य मनसा सह, स्थानन्दं ब्रह्मणो विद्वान न विभेति इतिथन । (तै॰ उप॰)

अर्थ—जहाँ से वाणियाँ (इन्द्रियाँ) मन के साथ विना पहुंचे लौटती हैं। मझ के उस आनन्दको अनुभव करता हुआ (गुद्ध परमात्म-स्वरूप में एकी भाव को प्राप्त करता हुआ) सर्वतो अभय हो जाता है।

समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥

शुब्दार्थ--समान-जयात् = (संयम द्वारा) समान के जीतने से व्वलनम = योगी का दीप्रिमान् होना होता है।

अन्वयार्थ—(संयम द्वारा) समान के जीतने से योगी का दीप्तिमान होना होता है। व्याख्या—जब संयम द्वारा योगी समानवायु को वश में कर लेता है तो समान प्राण् के आधीन जो शारीरिक र्याप्त है उसके उत्तेजित होने से उसका शरीर र्याप्त के समान चम-कता हुआ दिखाई देता है।

संगति—छत्तीसवें सूत्र में स्वार्थसंयम के अवान्तर फलरूप श्रावणसिद्धि को बतलाया

है. अब श्रावण्सिद्धि वाले संयम को बतलाते हैं :-

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाहिब्यं श्रोत्रम् ॥ ४१ ॥

श्चाब्दार्थ-श्रोत्र-आकाशयोः = श्रोत्र श्चौर आकाश के। सम्बन्ध-संयामात् = संबन्ध में संयम करने से। दिव्यं-श्रोत्रम् = दिन्य श्रोत्र होता है।

अन्ययार्थ-श्रोत्र और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य श्रोत्र होता है। ज्याख्या-शब्द की प्राहक श्रोत्रेन्द्रिय अहङ्कार से उत्पन्न हुई है और अहङ्कार से चत्पत्र हए शब्द-तन्मात्रा का कार्य आकाश है। इन दोनों का सम्बन्ध देश-देशी, आश्रवाश्रव भाव से है। इस सम्बन्ध में संयम करने से योगी को दिव्य श्रोत्र प्राप्त होता है जिससे कि वह दिव्य, सक्ष्म, व्यवहित (श्रावृत्त) श्रौर विप्रकृष्ट श्रर्थात दरस्थ शब्दों को सन सकता है। इसी प्रकार (त्वचा, वाय, चक्षुत्तेज, रसना-जल, प्राण-पृथ्वी) के संस्वन्ध में संयम करन से हिन्य त्वचा, हिन्य नेत्र, हिन्य रसना श्रीर दिन्य घाए। प्राप्त होता है। ये सब सिद्धियाँ सूत्र छत्तीस में पुरुष-ज्ञान से पूर्व भी बतलाई गई हैं।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमान्खपुत्तलसमापत्तेश्वाकाश्चगमनम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ-काय-श्राकाशयोः=शरीर श्रीर श्राकाश के । सम्बन्ध-संयामात=संबन्ध में संयम करन से। लघ-तल समापत्ते: च = श्रीर हल्के, हुई श्रादि में समापत्ति करने से। आकाश-गमनम = आकाश-गमन (सिद्धि प्राप्त होती है)।

अन्वयार्थ-शरीर श्रीर श्राकाश के सम्बन्ध में संयम करने से श्रीर हल्के हुई श्रादि

में समापत्ति करने से श्राकाश-गमन सिद्धि प्राप्न होती है।

व्याख्या-जहाँ शरीर है वहीं उसको अबकाश देनेवाला आकाश है इस प्रकार इन दोनों में श्राधेय-श्राधार व्याप्य-व्यापक भाव का सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में संयम करने से श्रथवा रुई सदृश हल्की वस्तुओं में समापत्ति (१-४१) करने से (तदाकार होने से) योगी का शरीर लघुता को शप्त करता है। इसलिए जलपर पाँव रखता हुआ चल सकता है। इसके पश्चात मकड़ी के जाले सदश सुक्ष्म तारों पर चलने की सामध्ये था जाती है। श्रन्त में शरीर के अति सक्ष्म हो जाने से आकाश-गमन की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

बहिरकन्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः पकाशावरणत्त्रयः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ - वहि:-अस्पिता = शरीर से बाहर कल्पना न की हुई। वृत्ति: = वृत्ति । महा-विदेहा = महाविदेहा कहलाती है। ततः = उससे । प्रकाश-आवरण-स्वयः = प्रकाश के आव-रण का नाश होता है।

अन्वयार्थ-शरीर से बाहर कल्पना न की हुई वृत्ति महाविदेहा है उससे प्रकाश के

आवरण का नाश होता है।

व्याख्या-मन को शरीर से बाहर धारण करना "विदेहा-वृत्ति" तथा मन की "विदेहा-धारणा कहलाती है। जब तक मन शरीर के अन्दर ही स्थित रहे पर उसको वृत्तिमात्र से बाहर ही धारण किया जावे तब तक वह ''कल्पिता'' कहलाती है। अभ्यास के परिपक्व हो जाने पर बिना कल्पना के मन शरीर से बाहर यथार्थ रूप से स्थित हो जाता है। तब विदेहा-यूत्ति श्रकल्पिता कहलाती है। इसी को महाविदेहा कहते हैं। यह योगी को पर-शरीर-आवेश तथा लोक-लोकान्तरों में सूक्ष्म-शरीर से भ्रमण करने में सहायक होती है। इन दोनों मं किल्पत-विदेहा-धारणा साधन है और अकिल्पत-विदेहा-धारणा साध्य है, क्योंकि पहिले किल्पत-विदेहा का अभ्यास किया जाता है उसके प्रधात अकल्पित-विदेहा को साधा जाता है। इसके अभ्यास से चित्त के प्रकाश को रोकने वाले अविद्यादि क्लेश, कर्मविपाक

चादि मल जो रजस्-तमस् के मूलक हैं, नाश हो जाते हैं और चित्त में निरावरण होने के कारण यथा इच्छा विचरने की सामर्थ्य हो जाती है।

संगति—सोलहवें सूत्र से लेकर तैतालीस्वें सूत्र तक समाधि में श्रद्धा क्ष्यन्न करने के लिये भिन्न-भिन्न संयम खौर उसकी सिद्धियाँ वर्णन करके श्रव श्रपने दर्शन के उपयोगी सबीज खौर निर्वीज-समाधि की सिद्धि में विविध उपाय दिखाते हैं। खगले सूत्र में प्राध्य पाँचों भतों का संयभ बताया है:—

स्थुलखरूपसूर्वमन्वयार्थवत्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥

शान्दार्थ — स्थूल = (पाँचों भूतों के) स्थूल । खरूप = खरूप । सूक्ष्म = सूक्ष्म । श्रान्वय = श्रान्वय अर्थवत्य = अर्थवत्व में । संयसात् = संयम करने से भूत-जय = भूतों का जय होता है ।

अन्वयार्थ--पाँचों भूतों के स्थूल, स्तरूप, सुक्ष्म अन्वय और अर्थवल में संयम करने से भूतों का जय होता है।

ब्याख्या-पृथ्वी श्रादि पाँच भूतों के पाँच-पाँच रूप हैं :-

- १ स्थूळ—पृथ्वी, जल, श्राप्त, वायु, श्राकाश का श्रपना-श्रपना विशिष्ट আकार स्थूल रूप है।
- २ स्वरूप उपर्युक्त पाँच भूतों का अपना-श्रपना नियत धर्म जिनसे यह जाने जाते हैं — जैसे पृथ्वों की मूर्ति और गन्ध, जल का स्तेह, श्रिप्त का उष्णता, वायु का गति व कम्पन और श्राकाश का अवकाश देना खरूप है।
- ३ सद्म —स्थूल भूतों के कारण गन्ध-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा श्रीर शब्द-तन्मात्रा सुक्ष्म रूप हैं।
- ४ अन्वय रूप—सस्व,रजस् तथा तमस् जो तीनां गुण् श्रपने प्रकाश, किया और श्चिति धर्म से पाँचों भुतों में श्चन्वयी भाव से मिले रहत हैं, श्चन्वयी रूप हैं।
- 4 अर्थवरव पुरुष का भोग अपवर्ग। जिस प्रयोजन का लेकर ये पाँचों भूत कार्यों में लगे हुए हैं वह अर्थवत्व रूप है। इस प्रकार पांचों भूतों के धमे, लक्षण और अवस्था भेदों से पत्नीसों रूपों में क्रम से साचात् पर्यन्त संयम करने से पांचों भूतों का सम्यक्ज्ञान और उन पर पूरा वर्शाकार होता है। इस प्रकार भूतों के खाधीन होने पर जैसे गाये बछड़ों के अनुकुल होती हैं वैसे ही सब भूतों की प्रकृतियों योगी के सङ्करपानुसार हो जाती हैं।

टिप्पणी-ड्यासभाष्य की ड्याख्या सूत्र ४४:-

पांचों भूतों के जो अपने-अपने धर्मों इन्दर, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नाम वाले विशेष और आकार आदि सिंहत जो एक-एक रूप हैं वे स्थूल रूप हैं। जैसे पृथ्वी के गोत्वादि आकार (अवयवों का सिन्नवेश विशेष), गुरुत्व (भारीपन), रूसता (रुवाई), आच्छादन (ढांपना), स्थिरता, सर्व भूताधारता, मेद (विदारण ', सहनशीलता (सिंहण्युता), कृशता, मूर्ति (कठोरता) सबेभोग्यता रूप धर्मों सिंहत शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध हैं यह

पृथ्वी का एक रूप है; और जल के जो स्तेह (चिकतापन) सूक्ष्मता, प्रभा (कान्ति), शुक्लता, मृदुता, गुरुत्व (भारीपन), श्रांतल स्पर्श रूत्तता, पित्रता, सम्मेलन सिंहत शब्द, स्पर्श, रूप, रस हैं यह जल का एक रूप है; अग्नि के जो उच्याता, उर्द्धगति, पित्रता, दाह-शीलता, लघुता, भास्वरता प्रध्वंसन, बलशीलता, रूप धर्मों सिंहत शब्द-स्पर्श रूप हैं यह अग्नि का एक रूप है; वायु के जो वहनशीलता (तिर्यगित) पित्रता, आसेप (गिरा देना) कंपन, बल, चश्चलता, अनच्छादन (आच्छादन का अभाव), रूचता रूप धर्मों सिंहत शब्द स्पर्श हैं यह वायु का एक रूप है; और आकाश के जो व्यापकता, विभाग करना, अवकाश देना आदि रूप धर्मों सिंहत जो शब्द है वह आकाश का एक रूप है। इस प्रकार पांचों भूतों के अपने-अपने धर्मों सिंहत जो शब्द हिं वे सूत्र में 'स्थूल' पद से कहे हुए पांच भूतों के एक रूप हैं।

पांचों भूतों का जो स्व-स्व सामान्य धर्म है वह सूत्र में 'स्वरूप' पद से कहे हुए भूतों का द्वितीय रूप है। अर्थात् मृर्ति (किठनता), स्निग्धता (चिकनापन), उच्पाता, वहनशीलता, और सर्वत्र विद्यमानता, कम से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के जो द्वितीय, रूप हैं वे स्वरूप हैं। ये मृर्ति (किठनता) आदि धर्म ही स्व-स्व सामान्य पद के वाच्य हैं। इन किठनतादि सामान्य धर्म वाल पृथ्वी आदिकों के परस्पर भेद करने वाले शब्दादि हैं। इस लिये शब्दादि का विशेष कहा जाता है। जैसे स्निग्ध, उच्चादि रूप जल, अग्नि, आदिकों से किठन पृथ्वी का भेदक (भिन्नता का झापक) मृर्ति (किठनता) धर्म है; और किठन, उच्चादि रूप पृथ्वी, अग्नि आदिकों से जल का भेदक स्वह हैं; और किठन स्निग्ध आदि रूप पृथ्वी, जल आदिकों से अग्निन की भिन्नता का झापक उच्चादा धर्म है। इस प्रकार भूतों के परस्पर भेदक होने से मूर्ति (किठनता) आदि आदि धर्म विशेष कहलाते हैं। ऐसे ही पश्चिद्यावाये जी ने कहा है—

''एकजातिसमन्वितानामेषां धर्ममात्रव्यावृत्तिः''

श्रयात् एक जाति वाले पृथ्वी श्रादिकों की श्रम्ल मधुरादि धर्म मात्र से व्यावृत्ति होती है। यद्याप कठिनतादि धर्म भी पृथ्वी श्रादिकों के परस्पर भेदक हैं तथापि नीवू रूप पृथ्वी से श्रंपूर रूप पृथ्वी का भेद है उसका करने वाला केवल खट्टा भीठा रस ही कहा जावेगा। इससे रस श्रादि को विशेष जानना-श्रयात् पृथ्वी का जल श्रादिकों से जो भेद है वह तो कठिनतादि रूप श्रसाधारण धर्मों से परिज्ञात हो सकता है, परन्तु पृथ्वी से श्रम्य पृथ्वी का भेदक रस श्रादि हैं। इस श्रभिपाय से "एकजाति समन्विताना" इन दोनों सामान्य श्रीर विशेष का जो समुदाय है वही योगमत में द्रव्य कहा जाता है। प्रसंग से समुदाय का निरूपण करते हैं।

समुदाय दो प्रकार का होता है। एक 'प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगत' दूसरा 'शब्दे-नोपासभेदावयवानुगत' अर्थात् श्रवान्तर विभाग के बोधक शब्द से जिन अवयवों का अवान्तर विभाग बोधन न किया गया तो उन अवयवों में अनुगत जो द्रव्य है वह' 'प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगत' कहलाता है जैसे कि शरीर, वृत्त यूथ, वन ये समुदाय हैं। इनके अवान्तर विभाग के बोधक शब्द का उन्नारण नहीं किया गया है श्र्यान् हस्तादि अवयवों का समुदाय शरीर पद का वाच्य है, शाखादि अवयवों का समुदाय वृत्त पद का वाच्य है, वृत्तादि का समुदाय वन पद का वाच्य है, किन्तु इन सब समुदायों में अवान्तर विभाग का बोधक कोई शब्द नहीं उन्नारण किया गया है केवल समुदाय मात्र उन्नारण किय, गया है इस लिये यह 'प्रत्यस्तमितभेदावयवानुगत' समुदाय कहा जाता है।

जहां अवान्तर विभाग के बोधक शब्द का उचारण किया जाता है वह 'शब्देनोपास्नेवावयवानुगत' समुदाय कहा जाता है। उभये देवमनुष्याः' (देवता और मनुष्य दोनों हैं) यह समुदाय है। इस आकांना पर कि वे दो अवयव कीन हैं जिनके लिये शब्द का अर्थ है— कहते हैं देव और मनुष्य अर्थात् इस समृह का एक भाग देव है और दूसरा अवयव मनुष्य है। ये दोनों 'देवमनुष्याः' इस शब्द से उचारण किय गये हैं इस लिये यह समुदाय 'शब्देनों पास्तेववयानुगत' कहा जाता है। यह शब्द 'शब्देनोपास्त्रेववययानुगत' समुदाय भेद विवत्ता और अभेद विवत्ता से दो प्रकार का है। यह भेद विवत्ता से दो प्रकार का समृह है। अर्थे विवत्ता से दो प्रकार का समृह है। अर्थे विवत्ता से 'आन्नवप्ता' आम ही वह वन है और 'शान्नणसंघः' नान्नयण ही संघ है। ये दो समृह हैं। इस प्रकार समृह है। वह वन है और 'शान्नणसंघः' नान्नयण है। पुनः यह समुदाय दो प्रकार का है एक 'युतिसद्धावयव'। दूसरा अयुतिसद्धावयव' पुनः सह समुदाय वह है जिसके अवयव विरले अर्थात् जुदः-जुदा हो जैसे वृत्त और संघ रूप समुदाय में वन के अवयव वृत्त जुदे-जुद और विरले प्रतीत होते हैं तथा यूथ के समुदाय गाय वैल आदि भी पुथक-पुथक प्रतीत होते हैं।

'अगुनिसिद्धावयव समुनाय' वह है जिसके श्रवयन प्रथक् प्रतीति से रहित निरन्तर मिले हुए हों जैसे कि घरीर, दून, परमाणु श्रादि । यहां त्वक, रुधिर, मांस, मजादिकों का जो समुनाय घरीर है उसके ये श्रवयन मिले हुये होते हैं श्रीर मूल शास्त्रादिकों का समुदाय जो दून है उसके भी ये श्रवयन मिले हुए होते हैं।

यह 'अगुतिसद्धावयव' समुदाय' ही पत्रश्वाली मुनि के मत में द्रव्य कहलाता है। यही भूतों का द्वितीय रूप है और यही स्वरूप पर का अर्थ है। अर्थात् मूर्ति (कठिन) रूप सामान्य का और कठोरता आदि धर्मों सिंहन शब्दादि रूप विशेषों का 'अगुतिसद्धावयव समुदाय' रूप पृथ्वी द्रव्य है। क्रिग्ध (विकता) रूप सामान्य का और केहादि धर्मों सिंहत शब्दादि दियोषों का 'अगुतिसद्धावयव समुदाय' रूप जल द्रव्य है। इसी प्रकार सामान्य विशेषों का 'अगुतिसद्धावयव समुदाय' रूप जल द्रव्य है। इसी प्रकार सामान्य विशेषों का 'अगुतिसद्धावयव समुदाय' रूप अपित आदि द्रव्य भी जानलेना चाहिये। यहीं सामान्य विशेषों का समुदाय रूप द्रव्य सूत्र में 'स्वरूप' शब्द से बतलाये हुए पांचों भूतों का दूसरा रूप है।

इन पृथ्वी आदि पांचों भूतों के कारण पश्चतन्मात्रायें हैं और तन्मात्राकों के परिणाम परमाणु हैं कर्यात् तन्मात्रायें परमाणुकों का 'क्युत सिद्ध व्यवयवातुगत समुदाय' हैं। इस लिये परमाणु और पश्चतन्मात्रायें सूत्र में सूक्ष्म पद से बतलाये हुऐ पांचों भूतों के तृतीय रूप

्रिम् त्र ४५

हैं बर्धात पांचों भतों के जैसे परमाण सक्ष्म रूप हैं वैसे हा पंचतन्मात्रायें परमाणुकों के सक्ष्म रूप हैं।

भतादि सर्व कार्यों में अनुगत जो प्रकाश-क्रिया-स्थित शील तीन गुए हैं वे सूत्र में

अन्वय शब्द से बतलाये हुए पांचों भूतों का चतुर्थ रूप हैं।

पुरुष के भोग और अपवर्ग के सम्पादन करने का जो गुर्णों में सामर्थ विशेष हैं, वह

सूत्र में धर्थवत् शब्द से कथन किया हुआ भूतों का पांचवां रूप है।

यहां इतना श्रीर जान लेना चाहिये कि गुर्णों में तो भोगापवर्ग संपादन की सामर्थ्य साचात् अनुगत है श्रीर तन्मात्रा-भूत श्रादिकों में परम्परा से (गुर्गों द्वारा) श्रनुगत है तथा साज्ञात् श्रीर परंपरा से सब ही पदार्थ ऋर्थवत्ता वाले हैं। इस प्रकार पांच भूतों के पांच रूपों में जिस-जिस रूप में योगी संयम करता है उस-उस रूप का योगी को साज्ञात्कार श्रीर जय होता है। स्थल खरूप सक्ष्मादि रूपों के क्रम से पांचों भूतों के पाचों रूपों में संयस करने से योगी को पाँचों भतों का प्रत्यन्त श्रीर वशीकार हो जाता है। ऐसे योगी को भत जया कहते हैं। सब भूतों की प्रकृतियाँ उसके संकल्पानुसार हो जाती है ऋथीत भूतों का स्वभाव उसके संकल्पानसार हो जाता है।

खपर्यंक्त कथित भूतजय की कई सिद्धियाँ पुज्य पाद परमहंस श्री विशुद्धानन्दजी महा-राज में देखी गई थीं जिनके जीवन के अन्त समय में लेखक को लगभग छ: मास सेवा में रहने का सौभाग्य प्राप्त हका था।

संगति - भूतजय का फल बतलाते हैं :--

ततोऽणिमादिमादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिषातश्च ॥ ४५ ॥

इाब्दार्थ-ततः = उससे (भूतजय से) अशिमादि-प्रादुर्भावः = अशिमादि आठ सिद्धियों का प्राद्धभीव । काय-सम्पत् = काया सम्पत् । तत्-धर्म-श्रनभिघात:-च = श्रीर पांचों भूतों के धर्मों से चोट का न लगना = इकावट न होना होता है।

अम्बयार्थ - उस भूतजय से श्राणिमा श्रादि श्राठ सिद्धियों का प्राद्धभीव श्रीर काय-सम्पत् होती है और उन पांचों भूतों के धर्नों से हकावट नहीं होती।

ब्याख्या—चीवालीसर्वे सूत्र में बताये हुए भूतजय से निम्न प्रकार की आठ सिद्धियें शाप्त होती हैं।

१ अणिमा-शरीर का सूक्ष्म कर लेना।

२ लिधमा-शरीर का हल्का कर लेना।

३ महिमा - शरीर का बड़ा कर लेना।

४ प्राप्ति - जिस पदार्थ को चाहें प्राप्त कर लेना। ये सिद्धियाँ भूतों में संयम करने से प्राप्त होती हैं।

५ प्राकाश्यम्-विना रुकावट के इच्छा पूर्ण होना । यह पांचों भूतों के खरूप में संयम करने से सिद्ध होती है।

- द वाशित्व—पांचों भूतों तथा भौतिक पदार्थों का वश में कर लेना (भूतों के सूक्ष्म रूप में संयम करने से)
- ७ ईशिल्स्य भूत भौतिक पदार्थी के उत्पत्ति-विनाश का सामध्ये। (यह सिद्धिः अन्वय में संयम करने से प्राप्त होती है)।
- ८ यत्रकामावस्तायित्व प्रत्यक संकल्प का पूरा हो जाना अर्थान् जैसा योगी सङ्कल्प करे उसके श्रनुसार भूतों के स्वभाव का अवस्थापन हो जाता है। वह योगी यदि सङ्कल्प करे तो श्रमृत का जगह विष खिलाकर भी पुरुष को जीवित कर सकता है। (यह सिद्धि अर्थवत्व में संयम करने से प्राप्त हाती है)।

ये सब संकल्प होते हुए भी योगी के संकल्प ईश्वरीय नियम के विपरीत नहीं होते। अपने परमगुद्द नित्यसिद्ध यागराज ईश्वर के संकल्पानुसार ही योगियों का संकल्प होता है।

भगवन्-भाष्यकार कामावसायी योगी के सम्बन्ध में लिखते हैं कि यद्यपि यह योगी सर्व सामध्ये वाला है तथापि वह पदार्थों की शिल्यों को ही विपर्रात करता है न कि पदार्थों को । अथोत् चन्द्रमा को सूर्य और सूर्य को चन्द्रमा तथा विष को अभृत नहीं करता है, किन्तु विष में जो शाप्त-वियोग करने की शांक है उसको निष्टत्तकर उसमें जीवन-शक्ति का सम्पादन कर देता है। क्योंकि पदार्थों का विपरीत होना निल्यांसद्ध ईश्वर के संकल्प के विरुद्ध है। इसलिये ऐसा नहीं होता है। और शक्तियां पदार्थों की अनियत हैं। इसलिये उनके विपरीत करने में कोई दोष नहा अर्थात् पूर्वसिद्ध अन्यकामावसायी सत्यसङ्कल्प ईश्वर का यह सङ्कल्प है कि सूर्य सूर्य ही रहे और चन्द्रमा चन्द्रमा ही रहे। इसलिये उसकी आज्ञा के विरुद्ध योगी सङ्कल्प नहीं कर सकता।

यहां यह भी जान लेना चाहिये कि कामावसायी योगी शुद्ध चित्त श्रीर न्यायकारी होते। हैं। उनका सङ्कल्प, ईरवर-संकल्प और उसकी श्राज्ञा के विपरीत नहीं होता है। इस लिए जब कभी वे श्रपन इस ऐरवये को काम में लाते हैं तो वह ईरवर के संकल्प और उस की श्राज्ञातुसार न्याय और ज्यवस्था के धारणार्थ ही होता है।

२ कायसंपत् - शरीर की संपदा । इसका वर्णन अगले सूत्र में दिया है।

३ तद्धमानिभिद्यातः — इन पाँचों भूतों के कार्य योगी के विरुद्ध रकावट नहीं डालते , अर्थात् मूर्तिमान् कठिन पृथ्वी योगी की शरीरादि किया को नहीं रोकती । शिला में भी योगी प्रवेश कर जाता है। जल का स्नेहधर्म योगी को गीला नहीं कर सकता। अग्निक की उच्छता उसको नहीं जला सकती। वहनशील वायु उसको नहीं उड़ा सकता। अनावरणरूप आकाश में भी योगी अपने शरीर को ढक लेता है और सिद्ध पुरुषों से भी अदृश्य हाजाता है।

संगति - अगले सूत्र में कायसंपत् को बतलाते हैं:

रूपलावएयवज्रसंहननत्वानि कायसंपत् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ — रूप = रूप । लावस्य = लावस्य । बल = बल । बलसंहननत्वानि = वक्त की सी बनावट । कायसंपत् = शरीर की सम्पदा कहलाती है । अन्वयार्थ—हप, लावरय, बल, वज की सी बनावट। कायसंपत् (शरीर की सम्पदा) कहलाती है।

ब्याख्या-१ रूप-मुख की आकृति का श्रच्छा श्रौर दर्शनीय होजाना।

२ लावएय-सारे अङ्गों में कान्ति का होजाना।

३ बल-बल का श्रधिक होजाना।

४ वजूसंहननत्वानि — शरीर के प्रत्येक श्रङ्ग का वल्र के सहश हद और पुष्ट हो जाना । यह कायसंपत कहलाती हैं ।

संगति – प्राद्य भूतों में संयम करने की विधि दिखलाकर श्रगले सूत्रों में प्रहण ईद्रियों में संयम दिखलाते हैं।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थेवत्वसंघमादिन्द्रियजयः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ—प्रदृण् = महुण् । स्वरूप = स्वरूप । खिस्मता = श्रस्मिता । अन्वय = ख-न्वय । क्यर्थवल = श्रर्थवल में । संयमात् = संयम करने से इन्द्रिय-जयः = इन्द्रियजय होता है ।

अन्वयार्थ-ग्रहण्, स्वरूप, श्रारेमता, श्रन्वय और श्रर्थवत्व में संयम करने से इन्द्रिय-जय होता है।

व्याख्या—इन्द्रियों के निम्न पांच रूप हैं। इन पांचों रूपों में क्रम से साज्ञात् पर्यन्त संयम करने से इन्द्रिय-जय सामध्ये प्राप्त होती है।

१ प्रहण-इन्द्रियों की विषयाभिमुखी वृत्ति प्रहरण कहलाती है।

२ स्वरूप – सामान्य रूप से इन्द्रियों का प्रकाशकत्व जैसे नेत्रों का मेत्रत्व आदि स्वरूप कहलाता है।

३ अस्मिता-इन्द्रियों का कारण श्रहंकार जिसका इन्द्रियाँ विशेष परिणाम हैं।

४ अन्वय-सत्त्व, रजसू व तमस् तीनों गुण जो श्रपने प्रकाश, किया, स्थिति धर्म से इंद्रियों में श्रन्वयी भाव से श्रमुगत हैं।

५ अर्थवस्य - इनका प्रयोजन पुरुष को भोग अपवर्ग दिलाना।

टिप्पणी-च्यासभाष्य का भाषा अनुवाद ॥ सुत्र ४७ ॥

सूत्र की उपर्युक्त सरल और संचित्र न्याख्या कर दी गई है यहां न्यासभाष्य का स्पष्टी करण के साथ अनुवाद किया जाता है:

पांच ज्ञानेइन्द्रियों में एक-एक इन्द्रिय के पांच-पांच रूप हैं।

(१) इनमें सामन्य विशेष रूप जो शब्दादि प्राष्ट्र विषय और श्रोत्रादि इन्द्रियों की जो विषयाकार परिणामरूप वृत्ति हैं वह मह्णु पद का अर्थ है। यह इन्द्रियों की वृत्ति केवल सामान्य मात्र विषयक नहीं होती है। यि किन्तु सामान्य-विशेष दोनों विषय वाली होती है। यि विशेष विषयक इन्द्रियों की वृत्ति न मानी जावे तो इन्द्रियों से अगृहीत होने के कारण वह विशेष मन से निश्चित न किया जा सकेगा क्योंकि वाह्य इन्द्रियों के आधीन होकर ही मन बाह्य विषयों में अनुस्थवसाय वाला होता है स्वतन्त्र नहीं होता है इसलिए सामान्य विशेषकर

विषयाकार ही इन्द्रयों की बृत्ति होती है। यद सूत्र में प्रह्म पद से कथन किया हुआ इन्द्रियों का प्रथम रूप है।

- (२) प्रकाशात्मक महत्तरन का परिगाम जो अगुतसिद्ध अवयव सारिनक अहंकार है उसमें कार्यकर से अनुगत जो सामान्य विशेष रूप द्रव्य है वह इन्द्रियों का स्वरूप है अर्थात् सारिनक अहंकार का कार्य जो प्रकाशस्वरूप द्रव्य 'इन्द्रिय' है वह इन्द्रियों का 'स्वरूप' नामक दूसरा रूप है।
- (३) इन्द्रियों का कारण जो खदंकार है वह इन्द्रियों का श्रास्मिता नामक तीसरा रूप है। इस सामान्य रूप श्रद्धकार के इन्द्रयों विशेष परिणाम हैं।
- (४) व्यवसायात्मक (निश्चयात्मक) महत्तत्त्व के आकार से परिणाम को प्राप्त हुए जो प्रकाश-प्रवृत्ति-रिथित शील ग्रुण हैं वह अन्वय नामक इन्द्रियों का चौथा रूप हैं अथोत् अहंकार के साथ इन्द्रियों को प्रहत्तत्त्व का परिणाम होने से और महत्तत्त्व को ग्रुणों का परिणाम होने से और महत्तत्त्व को ग्रुणों का परिणाम होने से तीनों ग्रुण इन्द्रियों में अनुगत हैं इसलिए ग्रुणों को अन्वय रूप कहा जाता है।

(५) गुणों में अनुगत जो पुरुष के भोग अपवर्ग सम्पादन की सामध्ये है वह अर्थवत्त्व

नामक इन्द्रियों का पांचवा रूप है।

इन पाचों इन्द्रियों के रूप में क्रम से संयम करने से उस-उस रूप के जय द्वारा पांचों रूपों का जय होने से योगी को इन्द्रियजय प्राप्त होता है।

संगति-इंद्रियजय का फल बताते हैं।

ततो मनोजवित्वं विकर्णभावः मधानजयश्च ॥ ४८ ॥

द्याध्यार्थ—ततः=उससे (इद्रियजय से)। मनो-जिन्ह्यं =मनोजिदित्व । विकरगाभावः = विकरण भावः प्रधान-जयः च=और प्रधान का जय होता है ।

अन्वयार्थ - इंद्रियजय से मनोजवित्व विकरणभाव और प्रधान का जय होता है।

व्याख्या-उपर्युक्त इंद्रियजय से निम्न फल प्राप्त होते हैं:-

१ मनोजवत्वि—मन के समान शरीर का वेग वाला होना (प्रहण के संयम से)।

२ विकरणभाव:— इारीर की अपेता के विना इंद्रियों का वृत्तिलाभ अर्थात् विना इारीर की परबाह के इंद्रियों में काम करने की शक्ति आजाना। दूर के और वाहर के अर्थों का

जान लेना। (स्वरूप में संयम करने से)

३ प्रधानजय—प्रकृति के सब विकारों का वशीकार (श्रास्मिता, श्रव्यय श्रीर अर्थवस्व में संयम से) ये सिद्धियां जितेन्द्रिय पुरुष से ही प्राप्त की जासकती हैं। योगशास्त्र में ये तीनों सिद्धियां मधुप्रतीका कहलाती हैं क्योंकि इन सिद्धियों के प्राप्त होने पर योगी को प्रत्येक सिद्धि में मधु समान स्वाद प्रतीत होता है। श्रथवा योग से उत्पन्न श्रद्धतम्भरा प्रज्ञा का नाम "मधु" है उस मधु का प्रतीक श्रयोत् कारण जिस से प्रत्यन्न किया जावे वह मधुप्रतीक है।

संगति-प्राह्म और प्रहृण के प्रश्चात् प्रहीत (चित) में संयम का फल बतलांत हैं

अर्थात् जिस विवेकख्याति के लिये यह सब संयम निरूपण किये हैं उसका अवान्तर ए.ल बतलाते हैं।

सन्बपुरुषान्यताख्यातिपात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वेद्वातृत्वं च ॥४६॥

द्यार्थ्यार्थ—सत्व-पुरुष-अन्यता-ख्यातिमात्रस्य = चित्त श्रीर पुरुष के भेद जाननेवाले को । सर्व-भाव-श्रिधिष्ठातृत्वम् = सारे भावों का मालिक होना । च-सर्वज्ञातृत्वम् = श्रीर सर्वज्ञ (सबका जाननेवाला) होना प्राप्त होता है ।

े अन्वयार्थ—चित्त और पुरुष के भेंद जाननेवाले की सारे भावों का मालिक होना और सर्वेज्ञ होना शप्त होता है।

ब्याख्या—सबेभाव श्रीधष्टातृत्वं—गुर्गो का कर्तृत्व श्रीभमान शिथिल होने पर उनके सब परिग्रामों और भावों को पुरुष के प्रति स्वामी के समान वर्तना है।

सर्वद्वातृत्व — वं गुण जो अतीत, अनागत और वर्तमान काल में धर्मी भाव से अवस्थित रहतं हैं, उनका यथार्थ विवेकपूर्ण ज्ञान सर्वज्ञातृत्व कहलाता है । सूत्र (११२) में बतला आये हैं कि गुणों का सब से प्रथम परिणाम महत्तत्त्व अर्थान् समष्टि चित्त है । इसी में सृष्टि के सब नियम बीजरूप से रहते हैं । पुरुषों के व्यष्टि चित्त प्रहीतृरूप हैं, जिन के द्वारा गुणों के परिणामों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके स्वरूप अवस्थित होते हैं । पुरुष चित्त का स्वामी, ज्ञान स्वरूप है पर अविवेक के कारण चित्त में आत्मा का अध्यारोप होजाता है । यही सर्व कलेशों की मूल अविद्या है । सारिवक चित्त के प्रकाश में संयम करने से पुरुष और चित्त में भेद कराने वाला विवेक-ज्ञान उत्पन्न होता है । जिसका विवेक-ख्याति कहते हैं । इस विवेक-ख्याति के हो जाने पर पुरुष अपने को चित्त से पृथक् देखता हुआ गुणों क परिणामों का संपूर्ण ज्ञान प्राप्तकर लेता है और उन पर पूर्ण अधिकार रखते हुये उनका अधिष्ठाता होकर नियम में रखता है । इस सिद्धि का नाम विशाका है । क्योंकि इसकी प्राप्ति से योगी छेशों के बन्धनों के संगण होने से सब का अधिष्ठाता और सर्वज्ञ हाकर शाक से रहित विचरता है ।

विष्यणी:--व्यासभाष्य का भाषा अनुवाद सूत्र ॥ ४६ ॥

जब बुद्धि सरत्र के रज श्रीर तम धुल जाते हैं, वह परवैशारण परवशी⊅ार श्रवस्था में श्रवस्थित होता है। सरत्र श्रीर पुरुष की श्रन्यताख्याति-मात्ररूप प्रतिष्ठित होता है, तब बुद्धि सर्च को सबेभावों का श्रविष्ठाहत्व हो जाता है। सर्वात्मकगुण व्यवसाय श्रीर व्यवसंयरू पुगुण स्वामी चेत्रज्ञ के प्रति श्ररोष दृश्य रूप से उपस्थित होजाते हैं।

सर्वज्ञातृत्व-सवोश्मकगुण जो कि शान्त उदित श्रीर श्रव्यपदेश्य धर्म से श्रवस्थित है, इनके विषय में श्रकमोपारूढ (क्रियारहित) विवेकज ज्ञान होता है, यह विशोका नाम की सिद्धि है, जिसको प्राप्त करके योगी सवेज्ञ जो एक्षेशयन्थन और वशी विदार करता रहता है। ४५

योग वार्तिक का भाषा अनुवाद ॥ सूत्र ॥ ४६ ॥

पूर्वोक्त प्रकार से प्राध्य और प्रहण विश्य के संयोग की सिद्धि को कह कर ब्रहीत संयम की सिद्धि को कहते हैं: सूत्र में मात्र शब्द से संयम रूप ख्याति उपलब्ध होती है, तथा सस्व श्रीर पुरुष को अन्यता के संयम वाले (धर्म-धर्मी के श्रभेद से) चित्त का सर्व भावों में-प्रकृति श्रीर प्रकृति के कार्यों श्रीर पुरुष के विषय में श्राधिष्ठातृस्व स्वदेह समान स्वेच्छ्या विनियोक्त्व होजाता है.

तथा प्रकृति और पुरुष आदि में सर्वज्ञातृत्व होजाता है । यहां भी साज्ञातकार तक ही

सममना चाहिये, नयांकि संयम् की सिद्धि ही अन्य सिद्धियों का हेतु है।

शङ्का:-- "परार्थात् स्वार्थसंयमात्" इस सूत्रोक्त संयम से इस संयम का क्या भेद है,

जिससे कि वहां पुरुषज्ञानरूप सिद्धि होती है और यहाँ दूसरी सिद्धि होती है।

समाधानः--वहां सुखादि के अनुभव रूप परिच्छिन्न में पौरुपेय प्रत्यय ही संयम कहा है और अपशिच्छित्र पुरुष में संयम नहीं कहा यहां तो उस संयम से परिपूर्ण पुरुष का क्कान होजाने पर बुद्धि विवेक संयम कहा है, यह विशेषता है।

राङ्का:—सत्त्व यह विशेष वचन अनुचित है गुरापुरुषान्यता आदि कहना ही ठीक है। समाधान:—यह राङ्का ठीक नहीं, क्योंकि रजस और तमस से पुरुष में साजात् अदिवेक हो नहीं सकता, नुद्धिसत्त्व के अविवेक हारा ही देह और इन्द्रियादि में श्रविवेक से स्वप्न और वाधिर्य (बहरापन) आदि अवस्थाओं में चेतन में देह और इन्द्रियादि के विवेक का योग के आरम्भकाल में ही साधारण पुरुष भी जानते हैं।

इस सूत्र की व्याख्या करते हैं— निर्धूतित, परवैशारद्य परम स्वछता को कहते हैं अर्थात् अतिसुक्ष्म वस्तु के प्रतिविश्व को प्रह्मण करने के सामध्ये का नाम है परम वशीकार संज्ञा " परमाणु परममहत्वान्तोऽस्य वर्शाकार" यह कहा है, 'रूपेण प्रतिष्ठस्य रूपप्रतिष्ठस्य, यह तृतीयातत्पुत्रप समास है। रूप से प्रतिष्ठित अन्तःकरण बुद्धि सत्व का सर्वभावाधिष्ठात्रल होता है इसका विवरण करते हैं सर्वात्मान इति = इसका भी विवरण है व्यवसाय व्यवसेयात्मक इन्द्रिय और इन्द्रिय विषयात्मक गुण, अरोष दश्यित संकल्पमात्र से पुरुषों के साथ संयुक्त और अर्थगुक्त अरोष वस्तुओं के आकार से परिण्यत होकर योगी उपस्थित होते हैं। उस में स्वामिन सेत्रज्ञं, यह दो हेतु गर्भित विरोषण हैं क्योंकि वह स्वामी सेत्रज्ञ भोक्ता होने से प्रेरक है। अतः और अयस्कान्त मिण् के पास लोडा खिच आता है बैसे ही गुण दश्य रूप बन कर स्वामी सेत्रज्ञ गुणों के परिणाम सेत्राहित को प्रेरित करता है, प्रवृत्त करता है या परिण्यमन प्रकार को जानता है। अतः समके प्रति वे वर्णस्थत होजाते हैं। अयदा क्योंकि वह स्वामी सेत्रज्ञ गुणों के परिणाम सेत्राहित को प्रेरित करता है, प्रवृत्त करता है या परिण्यमन प्रकार को जानता है। अतः समके प्रति वे वर्णस्थत होजाते हैं।

यद्यपि सब पुरुष सब गुर्खों के ऋशेषतया स्त्रामी हैं तथापि पापादि के प्रतिबन्ध से सब गुर्ख सब समय सब पुरुषों के ऋादि भोग्यरूप से उपस्थित नहीं होते यह भाव है ।

ऐसी श्रुति भी इस विषय में प्रमास है 'स यदि पितृलाककामः संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्तीत्यादि" जब यह पुरुष पितर लोक की कामना वाला होता है ती संकरूप भात्र से ही उसको आदि पितर उपस्थित होजाते हैं।

क्रियेश्वर्यरूप सिद्धि व्याच्या करके ज्ञानैश्वर्यरूप सिद्धि की व्यास्था करते हैं। सर्वज्ञा-तृत्वियति = सब बात्मा सब पुत्रथ बद्ध मुक्त और ईश्वरों का और शान्त उदित तथा अन्य- पदेश्य रूप धर्म विशिष्ट गुर्गों का ज्ञान सर्वज्ञातृत्व है। इस का नाम है विवेकज ज्ञान-विवेक से जायमान ज्ञान है। यह संज्ञा सान्वय है। विशेष संज्ञा के श्रम्वर्थ को कहते हैं याम्प्राप्येति-क्षेशबन्धन के ज्ञीग्रा होने से विशोका नाम की सिद्धि है। जिसका श्रर्थ है शोकशून्यता

संगति-विवेकख्याति भी चित्त की ही खबस्था है, इसलिये उसमें भी वैराग्य बताते हैं, अर्थात् विवेकख्याति का खवान्तरफल कहकर खब उसका मुख्य फल कैंवल्य को बतलाते हैं।

तक्कैराग्यादपि दोषबीजन्तये कैवरुयम् ॥ ५० ॥

इाब्दार्थ —तत् -वैराग्यात्-ऋषि = उसके (विवेक-ख्याति के) वैराग्य से भी। दोषबीज-स्रये = दोषों के बीज-स्नय होने पर। कैवस्यम् = कैवस्य होता है।

अन्वयार्थ-विवेक-ख्याति से भी वैराग्य होने पर दोषों के बीज चय होने पर कैवल्य होता है।

व्याख्या — यह विवेक-ख्याति जिससे योगी सर्वभाव-अधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त करता है, और जिसमे अपने शुद्ध, अपरिणामी और ज्ञान-स्वरूप को त्रिगुणामक, परिणामी और जड़ चित्त से अलग करके देखता है, चित्त ही का एक धर्म है, उसी का एक परिणाम है, अपना वास्तविक स्वरूप नहीं। इसलिए अपने वास्तविक शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होने के लिए इस विवेक ख्याति से भी विरक्त होजाता है। इसीको परवैराग्य कहते हैं। जब परवैराग्य पूर्ण तथा परिपक्व होजाता है, तो चित्त को बनाने वाले गुण पुरुष को भोग अपवर्ग दिलाने के कार्य को पूर्ण करके अपने कारण में लीन होजाते हैं। उन के साथही अविद्या आदि होशों के संस्कार भी विवेकस्याति द्वारा दृश्य बीज के सटश उत्पत्ति के अयोग्य होकर लीन होजाते हैं, तब आत्मा के सामने कोई टश्य नहीं रहता। यह पुरुष का गुणों से श्रायन्त पृथक् होकर अपने कैवली स्वरूप में अवस्थित होना कैवस्य है।

टिप्पणी-च्यासभाष्य का भाषानुवाद सूत्र ॥ ५० ॥

हुश और कमों के तथ होने पर जब इस योगों का ऐसा भाव होता है कि विवेक प्रत्यय बुद्धिरूप सत्त्व का धर्म है और बुद्धि अनात्म होने से हैय (त्याज्य) पत्त में मानी गई है। और बुद्ध स्वरूप सत्त्व का धर्म है और बुद्धि अनात्म होने से हैय (त्याज्य) पत्त में मानी गई है। और बुद्ध स्वरूप अपरिणामी पुर्व बुद्धि से भिन्न है। तब इस प्रकार के विवेक से विवेक- ख्याति में भी वैराग्य बदय होजाता है। उस परवैराय वाले पुरुष के चित्त में जो हुश बीज विद्युप्त मान हैं वे शालि (चावलों) के दग्ध बीज के सहश अपने अंकुरोत्पादन में असमर्थ हुये मन के सहित ही नष्ट होजाते हैं। उस हुश आध्यात्मक-आधि- के महित ही नष्ट होजाते हैं। उस हुश आध्यात्मक-आधि- भीतिक आधिदैविक इन तीनों तापों को नहीं भोगता है और कर्म हुश विपाक रूप से चित्त में विद्यमान चरितार्थ हुये गुणों का प्रतिप्रसव अर्थात् मन के सहित ही स्वकारण में लय हो जाता है। यह पुरुष का आत्यन्तिक गुण वियोग (गुणों से अत्यन्त पृथक होजाना) कैवस्य है। इस दशा में चितिशक्तिरूप पुरुष सरूपप्रतिष्ठित होता है। ५०।

संगति - योग के मार्ग में मनुष्य ज्यों-ज्यों जागे बढ़ता है त्यों-त्यों उसके सामने बढ़े-

बड़े प्रलोभन, दिष्यविषय और विभूतियां उपस्थित होती हैं। उनसे सावधान रखने के लिये अगला सूत्र है।

स्यान्युपनिमन्त्रणे संगस्पयाकरणं पुनरनिष्टमसंगात् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ-स्थानि-उपनिमन्त्रऐ = स्थान वालों के आदर भाव करने पर । सङ्गस्मय-श्रकरणम = लगाव और घमंड नहीं करना चाहिए । पुन: अनिष्ट-प्रसङ्गात् = फिर अनिष्ट के प्रसंग से (अनिष्ट के लगने के भय से) ।

अन्वयार्थ—स्थान वालों के चाहर-भाव करने पर लगाव व घमंड नहीं करना चाहिए। क्योंकि (इसमें) फिर ऋनिष्ट के प्रसंग का भय है।

ब्याख्या —योगियों को भूमियों के बातुसार चार श्रेषियों में विभक्त कर सकते हैं, जो निम्न प्रकार हैं: —

१ प्रथम काल्पिक—आरम्भिक अभ्यास वाले जो सवितर्क समाधि का अभ्यास कर रहे हैं। (१-४२)

२ मधु-मूमिका—जो निर्वितके समाधि नामी ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त करके भूत और इन्द्रियों के जीतने का अध्यास कर रहे हैं। (१-४३) (३-४४-४७)

३ प्रज्ञा-ज्योति—वे जिन्होंने सविचार समाधि द्वारा भूत इन्द्रियों, को जीत लिया है, श्रीर स्वार्थ संयम द्वारा विशोका-भूमि का श्रभ्यास कर रहे हैं। (३१,३५,४९)

४ श्रातिकान्त-भावनीय —जो निर्विचार समाधि द्वारा मधु-प्रतीका श्रौर विशोका भूमियों को शाप्त करके उनसे विरक्त होगये हैं, जिनको श्रव कुछ साधना शेष नहीं रहा केवल श्रसम्प्रज्ञात समाधि द्वारा चित्त का लय करना बाकी है । जो सात प्रकार की प्रान्त-सूमि प्रज्ञा वाले हैं। (२। २७)

अपनी-अपनी भूमियों के खानपित देवता बड़े आदर से नानाश्कार के भोगों और पेश्वयों का योगियों को प्रलोभन देते हैं, अर्थात् इन भूमियों में नाना प्रकार के भोग, ऐश्वर्यर, दिख्य-विषय, और विभूतियों के प्रलोभन आते हैं। इनसे योगियों को सदा सावधान और सचेत रहना चाहिए। इनमें यिद फँसा. तो सब किया हुआ। परिश्रम च्यर्थ जायगा। इस कारण इनसे सदा अलग रहना चाहिए। परन्तु इन प्रलोभनों को देखकर और अपने में उनको हटाने की सामध्ये समफ कर अभिमान भी न करना चाहिए। क्योंकि अभिमान से उन्नति कक जाती है और पतन होने लगता है। प्रथम भूमि वाला अभ्यासी इस योग्य ही नहीं होता कि उसके लिये यह प्रलोभन आदे, तीसरे और चौथे भूमि के अभ्यासी इतनी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं, कि आसानी से इनके फन्दे में नहीं आसकते। दूसरी भूमि वालों के गिरने की बहुत सम्भावना है, इस कारण उनको सबसे अधिक सावधान रहने की आव-रवकता हैं।

संगति —सूत्र ४९ से जो फलरूप विवेक ज्ञान कहा है बसी के विषय में पूर्वोक्त संयम से भिक्ष दूसरा चपाय बतलाते हैं।

च्चतत्क्रमयोः संयमाद्विनेकणं शानम् ॥ ५२ ॥

द्माच्दार्थ—स्या-तत्-क्रमयोः = त्या और उसके क्रमों में । संयमात् = संयम करने से । विवेकजं-क्रानम = विवेकज-क्रान उत्पन्न होता है ।

अन्वयार्थ — च्राण और उसके क्रमों में संयम करने से विवेकज ज्ञान उत्पन्न होता है।
व्याख्या — जिस प्रकार द्रव्य का सबसे छोटा विभाग जो कि भागरिहत है वह
परमाणु है, वैसे ही समय की सबसे छोटी विभागरिहत गति च्राण है। अथवा जितने समय
में चलाया हुआ परमाणु पूर्वदेश को छोड़कर उत्तर देश को प्राप्त होने वह काल की मात्रा
बक्क है। उन च्राणों के प्रवाह का विच्छेद न होना अर्थात् बने रहना क्रम कहलाता है।

स्या और उसका कम दोनों एक वस्तु नहीं हैं। यह बुद्धि के निर्माण किये हुए सुहूरे, दिन, रात, मास आदि होते हैं। अथवा इसको यों समक्तना चाहिये कि काल वास्तव में वस्तु से झून्य है केवल बुद्धि ही की निमाण की हुई वस्तु है। वस्तु से झून्य होते हुए भी काल को झब्द-झान के पीछे विकल्प (१।९) से व्यवहार दशा में लोग वस्तु के समान जानते हैं। स्या, क्रमाश्रित होने से कोई वस्तु नहीं है। एक स्या के पीछे दूसरे स्या का आना क्रम कहलाता है। योगी-जन इसी को काल कहते हैं। दो स्या एक साथ नहीं हो सकते और क्रम से भी दो स्या एक साथ नहीं हो सकते। क्योंकि पूर्व वाले स्या से उत्तर वाले स्या का अन्त न होना ही स्यां का कम है। इसलिए वर्तमान ही एक स्या है, पूर्व और उत्तर संया नहीं है। इसलिए इन दोनों का एकत्व भी नहीं है। अतीत और अनगत स्या वर्तमान स्या के ही परियाम कहने योग्य हैं। उस एक वर्तमान स्या से ही सम्यूर्ण लोक परियाम को प्राप्त होते हैं। सब धर्म उस एक स्या के ही आश्रित हैं। इसलिए स्या और उसके क्रम में संयम करने से इन दोनों का सासात्वार पर्यन्त विवेक्क झान उत्पन्न होता है।

भाव यह है कि जैसे नैयायिक सबसे छोटे निर्विभाग पदार्थ को परमाणु मानते हैं बैसे ही योगाचार्य सत्त्वादि के एक परिणाम-विरोध को द्रव्यरूप च्रण मानते हैं। च्रणों के प्रवाह का अविच्छद अर्थात् पूर्वापरभाव होना कम कहलाता है। पर यह कम वास्तव में सत्य नहीं है, कल्पित है। क्योंकि दो अगले पिछले च्रणों का एक समय में समाहार होना असम्भव है। इसलिए घटिका, मुहूर्त, प्रहर, दिन, रात, मास, वर्ष आदि रूप काल भी वास्तव में वस्तुरूप हैं। इनमें विकल्प से व्यवहार हो रहा है। वास्तव में एक वर्तमान च्रण है। उसी पक वर्तमान च्रण का परिणाम यह सारा ब्रह्माएड है। ऐसा जो एक वर्तमान च्रण है और उसमें स्वम करने से विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है।

विवेकज-झान = विवेक से उत्पन्न झान योग का पारिभाषिक शब्द है जिसका लच्च्या सत्र ५४ में बतलाया जावेगा।

टिप्पणी-भोजहत्ति का भाषानुवाद ॥ ५२ ॥

पूर्व जो फलरूप विवेक झान् कहा है उसी के विषय में पूर्वोक्त संयम से भिन्न उपाय कहते हैं— सबके अन्त का, काल का ऐसा अवयव, जिसके किर हिस्से न होसकें बह चया कहलाता है। उस प्रकार के कालचाणों का जो क्रम अर्थात् पूर्वापरभाव से परिणाम है, उसमें संयम करने से भी पूर्वोक्त विवेकज ज्ञान उत्पन्न होजाता है। तात्पर्य यह है कि यह च्चण इस च्चण से पूर्व और इस च्चण से उत्तर है, इस प्रकार काल क्रम में संयम करने वाले को जब अत्यन्त सूक्ष्म च्चण-क्रम का प्रत्यच्च होता है तो अन्य बुद्धि आहि सूक्ष्म पदार्थों का भी प्रत्यच होजाता है ऐसे विवेकज्ञान से ज्ञानान्तर होते हैं।

संगाति—इस विवेकज ज्ञान का मुख्य फल भतलाने से पूर्व अवान्तर फल अगले सत्र में बतलाते हैं :---

जातिकत्तपादेशीरम्यतानवच्छेदात् तुम्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ — जाति-लच्चए-देशैः = जाति, लच्चण, देश से । श्रन्यता-श्रनवच्छेदात् = भेद का निश्चय न होने से । तुल्ययोः = दो तुल्य वस्तुत्रों का । ततः = उस विवेकज ज्ञान से । श्रत्यपत्तिः = निश्चय होता है ।

अन्वयार्थ — एक दूसरे से जाति, लक्ष्मण, देश से भेद का निश्चय न होने से दो कुस्य बस्तुओं का, विवेकज ज्ञान से निश्चय होता है।

व्याख्या—जाति: अनेक व्यक्तियों में जो अनुगत सामान्य धर्म है वह जाति है। जैसे गायों में गोल: भैंसों में महिषलादि।

लक्षण-जाति से समान वस्तुओं को, प्रथक् करने वाले असाधारण धर्म का नाम लक्षण है। जैसे लाल गाय, काली गाय, इत्यादि।

देश-देश नाम पूर्वत्व तथा परत्व का है।

पदार्थों के, एक दूसरे से, भेद निश्चित कराने के कारण जाति, लक्षण और देश होते हैं। जैसे एक देश में समान लक्षण आर्थात् काले रङ्ग की एक गौ और एक भेंस हो तो कन दोनों में जाति से भेद होता है। जाति और देश समान होने पर जैसे एक जितकशरी गाय और एक लाल गाय हो, उनका भेद लक्षण से होता है। जाति और लक्षण समान होने पर जैसे एक लाल गाय हो, उनका भेद लक्षण से होता है। जाति और लक्षण समान होने पर जैसे दो आँवले समान जाति और लक्षण के हों तो उनका पूर्व व उत्तर देश से भेद जाना जाता है। जिसने इन दोनों आंवलों को पहले देखा है, उसकी दृष्ट बचाकर यदि कोई पूर्व देश के आंवले को उत्तर देश में और उत्तर देश के आंवले को पूर्व देश में रखदे तो तुस्य देश होने पर इन दोनों में संशयराहत यथार्थ ज्ञान द्वारा यह विभाग निश्चय नहीं हो सकता कि यह पूर्व वाला है यह उत्तर वाला है। इसका निश्चय विवेकज ज्ञान से हो सकता है। यह ज्ञान योगी को विवेकज ज्ञान से किस प्रकार होता है ? इसका उत्तर आध्यकार ने इस प्रकार दिया है—कि उत्तर आँवले के क्यण-सहित-देश से पूर्व आँवले का क्यण-सहित-देश भिन्न है। जब बे आँवले अपने देश-क्यण अनुभव में भिन्न हैं तब उन दोनों के देश-क्यण का अनुभव उन दोनों के भेद का कारण है। इसी दृशन के समान जाति, लक्षण, देश के परमाणुकों में पूर्व देश बाले परमाणु के देश, क्यों सहित, साक्षान करने से उस करार देश बाले परमाणु का व

देश निश्चय न होने पर उत्तर नाले के देश का भिन्न श्रनुभन, चर्यों सहित भेद से, होता है । उन दोनों देश-चर्या-सहित परमाणुओं के ज्ञान में समर्थ योगी ही को उन दोनों के भेद का आच होता है ।

वैशेषिक सिद्धान्त वाले जो यह कहते हैं कि (छ: पदार्थों द्रव्य गुण कमें सामान्य विशेष और समवाय में) जो विशेष पदार्थ है वही द्रव्यों का भेदक है। सो उन विशेषों में भी (१) देश (२) लक्षण (३) मूर्ति (अवयव सिन्निक्त विशेष) (४) व्यविध (व्यवधान विशेष) और (५) जाति, भेद-झान का कारण होते हैं। यहाँ यह और जान लेना चाहिए कि जाति आदि के भेद से पदार्थों का भेद-झान होना तो साधारण है किन्सु च्या-भेद से भेद-झान होना लेवल योगी के ही खुद्धिगम्य है। इसीसे ही वार्षगण्याचार्य ने कहा है ''मूर्तिव्यवधिजातिभेदाभावान्तास्ति मृत्यूथक्लिमित'' मूल प्रकृति में भेद नहीं होसकता, क्योंकि उसमें मूर्ति, व्यविध, जाति आदि जो भेद के कारण हैं इनका अभाव है।

संगति—इस प्रकार विवेक-ज्ञान का अवान्तर फल दिखलाकर श्रव लक्ष्या द्वारा इसका गुरूय फल बतलाते हैं:—

तारकं सर्वविषयं सर्वयाविषयमकमं चेति विवेकजं ज्ञानम् ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ--तारकम् = विना निमित्त के खपनी प्रभा से खर्य उत्पन्न होनेवाला। सके-विषयम् = सबको विषय करने वाला। सवेथाविषयम् = सब प्रकार से विषय करने वाला। शक्रमम् = विना क्रम के (एक साथ ज्ञान को) विवेकजं-ज्ञानम् = बिवेकज-ज्ञान कहते हैं।

अभ्वयार्थ – विना निमित्त के श्रपनी प्रभा से स्वयं उरपन होनेवाला, सबको विषय करने वाला, सब प्रकार से विषय करने वाला, विना क्रम के एक साथ झान को विवेकजन झान कहते हैं।

ब्याख्या-विवेक जज्ञान चार लच्चणों वाला होता है:

१ तारकम्—विना बाद्या निमित्त के अपनी प्रभा से स्वयं उत्पन्न होनेवाला और संसारसागर से तारने वाला।

२ सर्वविषयम्-महदादि पर्यन्त सब तस्वों का विषय करने वाला।

३ सर्वधाविषयम् – सब तरवों को सब धवस्था में स्थूल, सूक्ष्म ब्रादि भेद से दनके तीनों परिणामों सहित सब प्रकार से विषय करने वाला ।

४ अक्रमम्—क्रम की क्रिपेत्ता-रहित होकर सबको एक क्त्या में सब प्रकार से विषय करने वाला ।

ये सम्पूर्ण विवेक-झान हैं। इक्यावनवें सूत्र में बतलाई हुई ऋतम्भरा प्रझा बाली माधु-मती भूमि इसका एक अंश है। उससे झान की वृद्धि करता हुन्ना योगी इस अवस्था बक पहुँचता है। यह ज्ञान की श्रन्तिम गति है क्योंकि इसमें कोई वस्तु इसका श्रविषय नहीं रहती। संगति—योगी को उपर्युक्त प्रकार से विवेक-ज्ञान उत्पन्न हो श्रथवा न हो, चित्त और पुरुष दोनों की समान शुद्धि ही कैवस्य का कारण् है।

सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैषण्यमिति ॥ ५५ ॥

श्रान्दार्थ-सत्त्व-पुरुषयोः = चित्त श्रीर पुरुष की । शुद्धि-साम्ये = शुद्धि समान होने पर कैवल्यम् = कैवल्य होता है । इति = यहाँ तीसरा पाद समाप्त होता है ।

अन्वयार्थ-चित्त और पुरुष की समान शृद्धि होने पर कैवल्य होता है।

ब्याख्या-सत्त्व-चित्त का पुरुष के समान शुद्ध होना यह है कि उसमें रजस-तमस का मैल यहाँ तक दर हो जावे कि वह पुरुष श्रीर चित्त का भेद दिखाकर गुणों के परिणामों का यथार्थ ज्ञान कराकर पुरुष को अपना स्वरूप साज्ञात कराने के योग्य होजावे। पुरुष की शुद्धि यह है कि चित्त में श्रात्म-श्रध्यास के कारण उसके भोग को जो उपचार से श्रवना समस रहा था उसका चित्त और पुरुष के भेद के यथार्थ ज्ञान से सर्वथा स्रभाव हो जावे। यही कैवल्य है। इस पाद में बताई हुई कुछ विभृतियाँ कैवल्य-प्राप्ति में सहायक हो सकती हैं. पर यह श्रावश्यक नहीं कि इन भिन्न-भिन्न संयमों द्वारा भिन्न-भिन्न विभृतियों श्रीर भिन्नों को प्राप्त करने के प्रधात कैवल्य हो। ये विभित्तयां श्रीर भूमियां प्राप्त हों वा न हों कैवल्य के लिये परुष और चित्तमें यथार्थ रूप से भेद कराने वाला प्रसंख्यान अर्थात् विवेक-ज्ञान अत्याव-श्यक है। विवेक-ज्ञान से ऋविद्या का नाश होता है। अविद्या के नाश से अस्मिता, राग, द्वेष श्रीर श्रमिनिवेश क्लेश दग्धबीज सदृश नष्ट हो जाते हैं। उनके न रहने पर सकाम कार्यों का भी श्रभाव हो जाता है। सकाम कार्यों के श्रभाव से उनकी वासना से फल की भावना का वन्न भी पैदा नहीं होता । वृत्त के अभाव में उसके फल, जन्म, आयु और भोग भी नहीं लगते । फिर उनका स्वाद दुखःसुख भी नहीं चला जा सकता । इस प्रकार गुणों का प्रयोजन परुष को भोग-अपवर्ग दिलाने का, समाप्त हो जाता है, श्रीर वे चरितार्थ होकर अपने कारगा में लीन हो जाते हैं और पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही कैवल्य है (४।३४) कैवल्य, अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति, मोत्त, स्वरूपावस्थित, गुणाधिकार समाप्ति, परम-धाम और परमपद एकार्थक शब्द हैं।

उपसंहार

इस प्रकार समाधि के बन्तरङ्ग तीनों खंग (धारणा, ध्यान और समाधि) को कहकर, उन तीनों की संयम र हा करके, संयम के विषय दिखलाने को तीन प्रकार के परिणाम बताकर संयम के बल से उत्पन्न पूर्वान्त, परान्त और मध्य की सिद्धियों को दिखाकर, समाधि में अभ्यास करने के लिये भुवन-झानादि रूप बाहर की और कायव्यूह-झानादि रूप भीतर की सिद्धियों को कहकर, समाधि के उपकाराधे इन्द्रियजय, प्राण्जयादि-पृथेक सिद्धियों को दिखाकर सुक्ति सिद्धि के लिये कम से अवस्था सिहत भूतों के जय और इन्द्रियों के जय से

उत्पन्न होने वाली सिद्धियों की व्याख्या करके, विवेक-झान के लिये उन-उन उपायों को बत-लाकर, सब समाधियों के अन्त में होने वाले 'तारक' के स्वरूप को कहकर, उसमें समाधि से कत्तंव्य को समाप्त करके चित्त को अपने कारण में लीन हो जाने से 'मुक्ति' उत्पन्न होती है यह कहा गया है। सूत्र २६ 'मुवनझानं सूर्य संयमात्' की दिप्पणी में व्यासमाध्य का भाषाथ उसमें अलङ्कार रूप से वर्णने की हुई और संदेह जनक वातों का स्पष्टीकरण तथा सूत्र ३९ विशेषवत्तव्य में मृत्यु के समय सूक्ष्म शरीर की चार अवस्थाओं, पितृयाण व देवयान इत्यादि का विस्तारपूर्वक वर्णन किया, गया है। इस प्रकार पात अल योग प्रदीप में विभूति नाम वाले तीसरे पाद की व्याख्या समाप्त हुई।

६ति पांतंजल योगप्रदीपे विभृतिपादस्तृतीयः

कैवल्यपाद

पहले पाद में योग का स्वरूप समाधि, दूसरे पाद में उसका साधन, तीसरे में उससे होने वाली सिद्धियाँ वर्णन करके अब चौथे पाद में कैवस्य को बताते हैं। कैवस्य का निर्णय चित्त और चित्ति के अधीन है, इस कारण कैवस्य के उपयोगी चित्त का निर्णय करने के हेतु सबसे पहले पांच प्रकार की सिद्धियां और उनसे उत्पन्न होने वाले पांच सिद्ध चित्तों को बताते हैं:—

जन्मीषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिळयः ॥ १ ॥

दाब्दार्थ—जन्म-श्रौषधि-पन्त्र-तप:-समाधिजा:=जन्म, श्रौषधि, मन्त्र, तप श्रौर समाधि से उत्पन्न होने वाली। सिक्षयः= सिद्धियाँ हैं।

अन्वयार्थ--जन्म, श्रौषिध, मन्त्र, तप श्रौर समाधि से चत्पन्न होने वाली सिद्धियाँ हैं। व्याख्या--शरीर, इन्द्रियों श्रौर चित्त में विलक्षण परिणाम छत्पन्न होने श्रथीत इनकी प्रकृति में विलक्षण परिवक्तन होने को सिद्धि कहते हैं। इनके निमित्त पाँच हैं। जन्म श्रौषिध, मन्त्र, तप श्रौर समाधि।

इसलिये सिद्धियाँ भी इन निमित्तों के कारण पाँच प्रकार की हैं।

१ जन्मजासिदि—वह सिद्धियाँ हैं जिनकी क्यिति में केवल जन्म ही निमित्त है। जैसे पित्त्वयों त्र्यादि का त्र्याकाश में उड़ना अथवा किएल त्र्यादि महर्षियों का पूर्व जन्म के पुरावों के प्रभाव से जन्म से ही सांसिद्धिक ज्ञान का क्युल होना। ये चित्त जन्म से ही इस योग्यता को प्राप्त किये हुए होते हैं।

२ औषधिजासिन्धि—पारे आदि रसायन के वपयोग से शरीर में विलन्तण परिणाम उत्पन्न करना । अथवा सोमरसपान तथा अन्य औषधियों द्वारा काया-करूप करके शरीर को पुनः युवा बना लेना इत्यादि । यह औषधि आदि सेवन द्वारा चित्तमें सालिक परिणाम से होता है ।

३ मन्त्रजासिद्धि — जैसे (स्वाध्या यदिष्टदेवता संप्रयोगः) स्वाध्याय से इष्ट देवता का मिलना । मन्त्र द्वारा चित्त में एकाप्रता का परिगाम होता हैं । उससे यह सिद्धि प्राप्त होती है ।

४ तपजासिद्धि—"कार्येन्द्रियसिद्धिरशुद्धित्त्रयात्तपसः" तप से अशुद्धि के दूर होजाने पर शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है। चित्त में तप के प्रभाव से यह योग्यता होती है।

५ समाधिका सिद्धि—समाधि से अपन होने वाली सिद्धियाँ, जिनका वर्णन तीसरे

पाद में सविस्तर है। यह समाधि से उत्पन्न हुन्या चित्त ही कैवल्य के उपयोगी है। इस प्रकार सिद्धियों के पांच भेद से सिद्ध चित्तों के भी पाँच भेद जान लेना चाहिये।

टिप्पणी—श्री भोज महाराज ने ये जन्म, खोषधि, मन्त्रादि पांचों सिद्धियाँ पूर्व जन्म में अभ्यस्त समाधि के बल से ही प्रयुत्त हुई बतलाई हैं। पाठकों की जानकारी के लिये उनकी इस सूत्र की युत्ति का भाषार्थ दिये देते हैं:—

भोजहत्ति का भाषानुवाद सूत्र ॥ २ ॥

पहिले जो सिद्धियां कहीं हैं उनके अनेक प्रकार के जन्मादि (सूत्रोक्त) कारण हैं इसका प्रतिपादन करते दृए सूत्रकार यह बतलाते हैं कि ये जो सिद्धियां हैं वे सब पूर्व जन्म में अध्यस्त समाधि के बल से ही प्रवृत्त हुई हैं, जन्म औषधि आदि सब निमित्त मात्र हैं इससे अनेक जन्म में जो समाधि की जाती है उसकी कोई हानि नहीं है अर्थात् एक जन्म में कोई फल न हो तो जन्मान्तर में अवश्य होगा ऐसा जान लेना चाहिये। ऐसे विश्वास को पैदा करने के लिये और समाधि सिद्धि की प्रधानता कैवस्य के लिये (बतलाते हुए यह) कहते हैं—किन्हीं सिद्धियों के केवल जन्म कारण हैं जैसे पच्ची आदि का आक्राश में उड़ना आदि अथवा (पच्ची आदि के उड़ने को सिद्धि न माना जाय तो) जन्म के अनेन्तर ही जो कपिल महर्षि आदिकों के स्वाभाविक गुण थे (वह जन्मजासिद्धि है) पारे आदि रसायनादि के उपयोग से औषधिजन्य सिद्धियाँ होती हैं। किसी मन्त्र के जप से किन्हीं का आकाश में उड़ना आदि "मन्त्रसिद्धि" है। विश्वामित्र आदिकों को "वपसिद्धि" हुई थी। समाधिसिद्धि इससे पूव पाद में बतला चुके हैं। ये सब सिद्धियाँ पूर्व जन्म में क्लेशों को नष्ट करने वालों को ही होती हैं। इससे समाधि के जुल्य दिवाय जन्म में अध्यस्त समाधि ही अन्य सिद्धियों का कारण हैं। जन्म आदि केवल निमित्त मात्र हैं।

संगाति—पूर्वोक्त मन्त्र, तप और समाधि त्रादि से जो पाँच प्रकार की सिद्धियाँ बसलाई हैं वे सिद्धियाँ यही हैं कि शरीर और इन्द्रियों त्रादि में विलक्षण शक्ति त्र्याजावे या पहली जाति से दूसरी जाति बदल जावें। जात्यन्तर परिणाम बिना उपादान के केवल मंत्रादि से कैसे हो सकता है! इस शङ्का के निवारणार्थ त्र्याला सूत्र है।

जात्यन्तरपरिणामः मक्रत्यापुरात् ॥ २ ॥

शष्ट्रार्थं —जात्यन्तर-परिणामः = एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना। प्रकृति-कापूरात् = प्रकृतियों के भरने से होता है।

अन्वयार्थ—एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना प्रकृतियों के भरने से होता है। व्याचया—''जात्यन्तरपरिणाम्'' = एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना अर्थात् इरीर, इन्त्रियों चादि का चौषधि मंत्रादि के चतुष्ठान से विलवण-शक्ति वाजा हो जाना। ''प्रकृत्यापुरान्''—प्रकृति उपादान कारण् को कहते हैं। शरीर की प्रकृति पृथ्वी जलादि पाँच भूत हैं चौर इंद्रियों की प्रकृति चरिमता है। प्रकृतियों का चारण्क्ष से कार्यक्ष्य अवववों के श्चाकार में भरने या प्रवेश करने को "प्रक्रत्यापूर" कहा गया है। इस प्रकृति की "श्चापूर" पूर्ण होने से जात्यंतर (दूसरे जाति के रूप व श्चाकार) में परिणाम होता है।

सूत्र का भाव यह है कि योगी इन्द्रियों आदि में जो जात्यंतर परिग्राम अर्थात् उनका पहले रूप से विलत्तग्-इाक्त वाला हो जाना औषि मंत्र, तप, समाधि आदि के प्रभाव से होता है, वह प्रकृतियों के अपूर्व अवयवों के समृह से होता है। जैसे शुक्कतृणों व शुक्कवन में सूक्ष्म रूप से ज्याप्त अग्नि के अपूर्व अवयवों के समृह अग्नि की एक किएका से दीर्थ देश ज्यापी प्रचण्ड ज्वालारूप हो जाते हैं वैसे ही योगी के शरीर और इन्द्रियों आदि के पहले राजसी व तामसी अवयव अलग हो होकर ज्यों-ज्यों उनके स्थान पर दूसरे सालिक अवयव मरते चले जाते हैं र्यों-त्यों उसके शरीर इन्द्रियें आदि विलक्ष्ण-शक्ति वाले होते जाते हैं इस प्रकार उस जाति के अनुकूल अवयव भरते रहने से दूसरी जाति बन जाती है। इस जात्यंतर परिग्राम में निमित्त योगज धर्म है जिसे योगी मन्त्र तप आदि से सिद्ध करता है।

टिप्पणी-भोजर्शत का भाषार्थ ॥ मुत्र २ ॥

सूत्र १ की टिप्पणी से इसका सम्बन्ध देखें-यहां पर शङ्का होती हैं कि नन्दीश्वरादि का जाति त्र्यादि परिणाम उसी जन्म में देखा गया है तो फिर किस प्रकारदूसरे जन्मों में समाधि किये हुए श्रभ्यास को कारणकहा जाता है। इस शङ्का का उत्तर श्रगले सूत्र में देते हैं।

'धह जो एक जन्म में ही नन्दीश्वरादि का जात्यादि परिग्राम (तप के प्रभाव से देवस्व को प्राप्त करना) है वह प्रकृति के अवयय प्रवेश (अथवा प्रकृति के सर्वत्र ज्याप्त होने से) हुआ जानना चाहिए । पिछले जन्म की ही प्रकृति इस जन्म में श्रपने विकारों को प्रवेश करके जाति विशेषाकार से परिग्रुत होती हैं।"

नोट:—शिव पुराणीय सनरकुमार संहिता के ४५ अध्याय में ऐसा वंणन है कि शिछाद मुनि का नन्दी नामक कुमार शिव जी की अति उम्र उपासना द्वारा मनुष्य शरीर की ध्याग कर उसी जन्म में देवदेह की प्राप्त होगया था।

संगति—क्या धर्म जो अकतियों के आपूर से जत्यंतर परिणाम में निमित्त है स्वयं प्रकृति को ऐसे परिणाम के लियं प्रेरता है अथवा केवल प्रतिबंधक को हटा देता है। इसका उत्तर देते हैं — नहीं, वह केवल रुकावट को दूर कर देता है। रुकावट के दूर होने से जाति बदलने वाले अकृति के अवयव स्वयं भरने आरम्भ होजात हैं।

निमित्तमप्रयोजनं प्रकृतीनां, वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—निमित्तं = (धर्मादि) निमित्त । अप्रयोजकं = प्रयोजकं = प्रेरक नहीं हैं। पृकृतीनां = पृकृतियों का। वरण्-भेदः = आवरण = पृतिबंधक = रुकावट का तोड़ना (होता) है। तु = किन्तु। ततः = उससे अर्थात् धर्मादि निमित्त से। त्रेत्रिकवत् = किसान की तरह।

अन्वयार्थ-्धर्मोदि निमित्त प्रकृतियों का प्रेरक नहीं होता है किन्तु उससे किसान के

सदश रकावट दूर होती है।

न्याख्या—धर्मादि निमित्त प्रकृतियों (उपादान कारणों) के प्रवृत्त करनेवाले नहीं होते। क्योंकि घर्मादि प्रकृति के काये हैं और कार्य कारण का प्रवर्तक नहीं होता। जैसे किसान जब जल से भरी एक क्यारों में से दूसरी क्यारी में जल लेजाना चाहता है तो हाथ से पानी को उस क्यारी में नहीं लेजाता किन्तु उस क्यारी की मेंड (मुहाना जो बन्द है) को तोड़ देता है, उस मेंड के खुल जाने पर जल स्वयं दूसरी क्यारी में भर जाता है इसी प्रकार धर्म पृष्ठ- तियों के वरण (आवरण = प्रतिबन्धक) अधर्म को नष्ट करदेता है। उस अधर्मरूपी प्रतियन्धक के नष्ट होंने पर प्रकृतियें स्वयं अपने-अपने कार्य को नये अवयवों से भर देती हैं। अथवा जैसे वही किसान धान, गेहुं, मूंग आदि के मूल में जल और भूमि के रसों को प्रवेश करने में असमर्थ होता है, किन्तु खेत में जल के सींचने पर जल भूमि आदि के रस खर्य ही धानों आदि के मूल में प्रवेश हो जाते हैं वैसे ही धर्म भी अपने विरोधी अधर्म की निशृत्तिमात्र करने में कारण है क्योंकि गुद्ध और अगुद्ध दोनों में अत्यन्त विरोध है।प्रकृति से प्रवृत्त करने में धर्म उपादान कारण नहीं होता किन्तु निमित्त होता।

जिस प्रकार धर्म प्रकृत्यापूर अर्थात् प्रकृतियों की प्रवृत्ति में निमित्त (हेतु) है इसी प्रकार अधर्म को भी प्रकृतियों को प्रवृत्त करने में निमित्त जानना चाहिये। जब धर्म अधर्म मेरूपी क्रकावट को दूर करता है तब उसका शुद्ध पुरिएगम होता है और जब अधर्म धर्मरूप

प्रतिबन्ध को हटाता है तब श्रशुद्ध परिग्णाम होता है।

दिप्पणी-भोजवृत्ति का भाषानुवाद । सूत्र ॥ ३ ॥

सूत्र २ की टिप्पणी से इसका सम्बन्ध देखें। यहां यह रांका होती है कि धर्म आदि भी तों पूत्र जन्म में किये गए हैं उन्हीं को जात्यन्तर परिणाम का कारण क्यों न मान लिया जावे। प्रकृति को उस परिणाम का कारण क्यों माना जाता है। इसका उत्तर देते हैं:

निर्मित्त जो धर्मीद हैं वे प्रकृति के अर्थान्तर परिग्णाम में मयोजक नहीं हैं (क्योंकि वे प्रकृति के ही कार्य हैं) कार्य से कारण का प्रेरणा नहीं होती। तो फिर धर्मीद का कहां कार्म पहता है ? इसका सूत्रकार उत्तर देते हैं कि जब उस धर्म से उसके विरोधी अधर्म का नाश किया जाता है तो प्रतिबन्धक के न रहने पर प्रकृतियाँ स्वयं अपने कार्य में समर्थ होती हैं। इसमें दृष्टान्त यह देते हैं कि जैसे खेती करनेवाला जो कि एक क्यारी से दूसरी क्यारी में जल लेजाने की इच्छा करता है वह जल की रोकमात्र (मेंड, मिट्टी आदि) को हटाता है, जब इकावट दूर हो जाती है तो जल स्वयमेव फैलकर उस क्यारी में चला जाता है। जल के फैलाने में किसान का कोई प्रयत्न अपेत्तित नहीं है। इसी प्रकार धर्मीद निमित्त अधर्मीद को हटाते मात्र हैं।

विशेष वक्तव्य सूत्र ३ ॥—चित्त भूमि जन्म-जन्मान्तरों के कर्माश्यों में चित्रित है। जो कर्माश्य नियत विपाक बनकर ऊपर की भूमि में खाकर प्रधान रूप से खपना कार्य खारम्भ कर देते हैं वे खपने विरोधी उपसर्जन कर्माश्यों को प्रतिबन्धक रूप से निचली भूमियों में दबाये रखते हैं (सा० पा० सृत्र १३) सूत्र में बतलाये हुये निमित्त धर्मों का केवल इतना काम होता है कि जिन प्रकृतियों को खापूर खर्थात भरना होता है उनके विरोधी प्रकृति बाक्षे प्रधान कमाश्यों को उनके द्वारा हटा दिया जाता है। इस प्रकार निचली भूमियों में दबे पढ़े हुये उपसर्जन (गीया)कर्माश्य खपने प्रतिबन्धक के हट जाने पर ऊपर की भूमि से खाकर प्रधान रूप से श्राभमत (इच्छित) प्रकृतियों के भरदेने का काम श्रारम्भ करदेते हैं। जिस प्रकार जब किसान खेत में पानी भरना चाहता है तब नसके प्रतिबन्धक मेंड को काट देता है। इस प्रकार प्रतिबन्धक मेंड के हट जाने पर मेंड से रुका हुश्रा खेत से बाहर का पानी स्वयं खेत में श्राना श्रारम्भ होजाता है। इसी प्रकार सूत्र सं० २ में बतलाये हुये एक जाति से दूसरी जाति में बदल देने का परिणाम उनकी उपादान कारण प्रकृति के भरदेने से होता है। यहीं कारण है कि कभी-कभी ऐसा देखने में श्राता है कि श्रकस्मात् एक श्रधमी धर्मात्मा बनजाता है तथा कभी-कभी धर्मात्मा श्रधमी।

संगति—जब योगी बहुत से हारीरों का निर्माण करता है तब क्या एकमन वाला होता है वा अनेक मन वाला ? इसका उत्तर देते हैं :— (ब्यासभाष्य)

निर्माणिचत्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥

्राब्दार्थ—निर्माण-चित्तानि=निर्माण चित्त । त्र्रेस्मिता-मात्रात्= अस्मिता-मात्र से (होते हैं)।

अन्वयार्थ-श्रास्मतामात्र से निर्माण-चित्त होते हैं।

व्याख्या—चित्त के कारण श्रश्मिता मात्र को लेकर चित्तों को निर्माण करता है उस

से सचित्त होते हैं। —(ब्यासभाष्य)

श्रर्थात् योगी श्रास्मता-मात्र से निर्माण-चित्तों को श्रपने संकल्प-मात्र से निर्मित करता है। (बनाता है)। इन निर्माण-चित्तों से योगी के बनाये हुए सब शरीर चित्तसंयुक्त होते हैं।

भोजवृत्ति में इस सूत्र की सङ्गति तथा सूत्रार्थ निम्न प्रकार दिये हैं:

संगति —तत्त्व को साज्ञान् करनेवाले योगी को जब एक बार ही कर्मफल भोगने के लिए श्रापनी निरितशय (सबसे बड़ी) सिद्धि के श्रानुभव से एक साथ श्रानेक शरीरों के रचने की इच्छा होती है तब श्रानेक चित्त कैसे हो जाते हैं, यह कहते हैं:

योगी के अपने रचे हुए शरीरों में जो चित्त होते हैं वे अपने मूल कारण अस्मिता-मात्र से ही योगी की इच्छा से फैल जाते हैं। जैसे अम्नि से निकले हुए करण एक बार ही

परिगात होते हैं। -(भोजवृत्ति)

विशेष विचार सूत्र ॥ ४ ॥ इस सूत्र की संगति तथा ज्याख्या में हमने व्यासभाष्य तथा भोजहित के शब्दार्थ दे दिये हैं । योगी की शक्ति त्र्यारिमत हो सकती है और योग के बल से ऐसी सिद्धि का होना भी सम्भव हो सकता है। पर यहाँ कई कारणों से यह सन्देह होता है कि यह शब्द श्री व्यासजी महाराज तथा भोज जी ही के हैं त्र्यवा त्रम्य किसी पुरुष ने योग का अद्भुत चमत्कार दिखलाने के लिये एक समय में बहुत से शरीर चित्तों की करना करके यह शब्द बहा दिये हैं। सन्देह के कारण निम्नलिखित हैं:

(१) योग की भिन्न-भिन्न प्रकार की विभृतियाँ विभृतिपाद में वर्णन की गई हैं। यदि सूत्रकार को कोई ऐसी 'निरतिशय' विभृति बतलाना ऋभिमत होता तो उसमें इसका इन्छ न

कुछ संकेत अवश्य किया जाता।

- (२) अन्य प्रन्थों में जहाँ कहीं बहुत से भौतिक शरीरों के एक साथ दिखलाने का वर्णन आया है वे मायावी बतलाये गए हैं न कि वास्तविक और कर्म-फल भोग की निवृत्ति के लिये प्रकृति आपूर सूत्र-सूत्र की विधि खनुसार निर्माण किये गए हैं।
- (३) गुणों का प्रथम विषम परिणाम चित्त है और पुरुष (चेतनतत्त्व) से प्रतिविश्वित श्रथोत् प्रकाशित चित्त की संझा श्रक्षिता है। एक व्यष्टि चित्त दूसरे व्यष्टि चित्तों का उपादान कारण श्रथोत् प्रकृति नहीं बन सकता। चित्त का विषम परिणाम श्रथोत् विकृति श्रहंकार ही हो सकता है। इस लिये यदि यहां निर्माण चित्तों को श्रहंकार के श्रथों में लें तो श्रहंकार भिन्न होने से वह योगी उन श्रहंकारों के कम्मों और फलों का भोक्ता नहीं हो सकता है।
- (४) यदि निर्माण चित्त के ऋथे श्रद्धंकार न लेकर केवल चित्त के ही लें तो वे भी पुरुष (चेतनतत्त्व) से प्रति विम्बित हो कर उस योगी से भिन्न नए पुरुष (जीव) रूप हो जावेंगे।
- (५) कमे तीन प्रकार के होते हैं कियमाण प्रारब्ध और सिश्वत, प्रारब्ध कर्म प्रधान कर्मा-शय नियत विपाक वाले होते हैं और सिश्वत कर्म उपसर्जन कर्माशय अनियत विपाक वाले होते हैं। उन दोनों में से प्रथम श्रेग्णी के कर्म तो जिन्होंने जन्म, आयु और भोग फल देना आरम्भ कर दिया है भोगने ही होते हैं, किन्तु दूसरी श्रेग्णी के कर्मों को जिन्होंने अभी तक फल देना आरम्भ नहीं किया है उनको इतनी साभध्ये वाला योगी स्वयं दग्धवीज तुल्य कर् सकता है।
- (६) बहुतसे शरीरों के एक साथ निर्माण करने का यहाँ कोई प्रसङ्ग नहीं है। यह सङ्गति के विकद्ध है।
- (७) यहाँ प्रथम सूत्र से पाँच प्रकार की सिद्धियों द्वारा पाँच प्रकार के सिद्ध 'निर्माण' चित्तों का प्रसङ्ग चला आ रहा है। एक साथ बहुत से शरीरों के रचने का कहीं संकेनमात्र भी नहीं है।
- (८) श्री व्यासजी तथा भोज जी महाराज ने स्वयं छटे सूत्र के भाष्य तथा वृत्ति में निर्मा-ए-चित्त के अर्थ जन्म, औषधि आदि द्वारा उत्पन्न हुए पाँच सिद्ध चित्त बसलाए हैं न कि एक साथ उत्पन्न हुए श्रनेक शरीरों के चलाने वाले श्रनेक चित्त ।

इसको अधिक स्पष्ट करने के लिये अर्थसहित मृलभाष्य और वृत्ति नीचे लिखे देते हैं।

पंचिवधं निर्माणिचत्तं जन्मीपिधमन्त्रतपः समिधिजाः सिद्धय इति । तत्र यदेव ध्यानजं चित्तं तदेवानाशयं तस्यैव नास्त्याशयो रागादिमवृत्तिनीतः पुरुय-पापाभिसम्बन्धः जीणक्लोशत्वाद्योगिन इति । इतरेषां तु विद्यते कर्माशयः ॥६॥

—(ज्यासभाष्य) अर्थ--जन्म, श्रीपिध, मन्त्र, तप, समाधि से उत्पन्न जो पाँच प्रकार के सिद्ध निर्माण चित्त हैं उनमें जो ध्यान (समाधि) से उत्पन्न हुआ चित्त है वही वासनाराहत है। उसमें ही रागादि प्रवृत्ति श्रीर वासनायें नहीं होतीं। इस कारण क्लेश नष्ट होने से योगी का पुराय-पाप से सम्बन्ध नहीं होता । दूसरों (चार — जन्म, श्रोषधि, मन्त्र श्रौर तप से उत्पन्न होनेवाले सिद्ध निर्माण-चित्तों) की तो कर्म श्रौर वासनायें विद्यमान रहती हैं।

ध्यानजं समाधिजं यचित्तं तत्पंचसु मध्येऽनाशयं कर्मवासनारहितमित्यर्थेः ॥६॥

— (भोजवात्ती)

अर्थ-ध्यानजं अर्थात् समाधि से उत्पन्न हुआ जो चित्त है वह उन पाँचों (सिद्ध निर्माण्डित्तों) में अनाशय अर्थात् कर्म की वासना और संस्कारों से रहित होता है यह अभिशय है।

उपर्युक्त सब बातों को दृष्टिकोण में रखते हुए सूत्र ४ की व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिए:—

निर्माण्चित्त = जन्म, श्रीपधि, मन्त्र, तप, समाधि इन पांच सिद्धियों से उत्पन्न होने

वाले पाँच प्रकार के सिद्ध-चित्त जिनका प्रथम सूत्र से प्रसङ्ग चला श्रा रहा है।

श्रिसिता = पुरुष से प्रतिविम्बित चित्तसन्त्व (जिससे श्रहङ्कार उत्पन्न होता है श्रयौत् जिसमें श्रहङ्कार बीजरूप से रहता है) जो निर्माण्यिनों की प्रकृति है। उन विलन्त्य शक्ति वाले सिद्ध शरीर इन्द्रियों श्रादि को चलाने वाले सिद्ध निर्माण्यिन श्रस्मितामात्र से उत्पन्न होते हैं श्रर्थात् उनकी प्रकृति (उपादान कारण्) श्रस्मिता (चित्तसन्त्व) है। जिसके 'श्रापूर' से उनमें यह विलन्नण् परिणाम होता है।

पृत्रतिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम् ॥ ४ ॥

दाब्दार्थ—प्रवृत्ति-भेदें =प्रवृत्ति के भेदं में । प्रयोजकम् = प्रेरने वाला । चित्तम् = चित्त । एकम = एक । श्रमेकेषाम = श्रमेकों का होता है ।

अन्वयार्थ-प्रवृत्ति के भेदों में एक चित्त स्रनेकों का प्रेरने वाला होता है।

ब्याख्या — एक चित्त से किस प्रकार अनेक चित्तों के अभिप्रायपूर्वक प्रशृत्ति होती है। इस हांका के उत्तर में कहते हैं कि सब चित्तों का प्रवर्त्तक एक चित्त है उससे प्रशृत्ति-भेद होता है। —(व्यासभाष्य)

उन श्रनेक वित्तों के वृत्तिभेद होने में एक ही जित्त श्रिष्ठाता होकर श्रेरणा करने बाला होता है। इससे श्रनेक चित्तों का मतभेद नहीं होता। तालये यह है कि जैसे एकमन श्रपन हारीर का श्रिष्ठाता बनकर चक्षु हस्तादि की इच्छापूर्वक प्रेरणा करता है वैसे ही श्रन्य कार्यों में भी प्रेरक माना जाता है। — ﴿ भोजवृत्ति)

विशेष विचार। सूत्र ५॥ पिछले वि० वि० श्रनुसार सूत्र की व्याख्या इस प्रकार होगी—ऊपर बताये हुए पाँचों निर्माण्यित्तों का नाना प्रकार की प्रवृत्ति में लगाने वाला श्राह्मता अर्थात् श्राप्याता चित्त है। इन चित्तों की सारी प्रवृत्तियाँ उसी एक श्राप्याता चित्त के श्राप्यान हैं।

संगति—ईन पाँच प्रकार की सिद्धियों से उत्पन्न हुए निर्माखिचाों में से समाधि-जन्य चित्त की विलक्ष्माता अगले सूत्र में बतलाते हैं:—

तत्र ध्यानजमनाश्यम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—तत्र = उतमें से (पाँच प्रकार के निर्माण-सिद्धचित्तों में से)। ध्यानजम्= ध्यान से उत्पन्न होनेवाला (चित्रा)। श्रनाशयम्=वासनाश्रों से रहित (होता है)।

अन्वर्याध — उन पाँच प्रकार के जन्म, औषध आदि से उत्पन्न हुए पाँचों निर्माण-सिद्ध-चित्तों में से समाधि से उत्पन्न होनेवाला चित्त वासनाओं से रहित होता है।

व्याख्या—जन्म, श्रीषिप, मन्त्र, तप श्रीर समाधि से उत्पन्न जो पाँच प्रकार के सिद्ध-तिर्माण-चित्त है उनमें जो ध्यान (समाधि) से उत्पन्न हुन्ना चित्त है वहीं वासना-रिहत है उसमें ही रागादि प्रशृत्ति श्रीर वासनायें नहीं होतीं। इस कारण क्तेश नष्ट होने से योगी का पुर्य पाप से सम्बन्ध नहीं होता। दूसरां (चार—जन्म, श्रीषि, मन्त्र श्रीर तप से उत्पन्न होनेवाले) सिद्ध-निर्माण-चित्तों की तो कर्म श्रीर वासनायें विद्यमान रहती हैं। है।—(स्वास भाष्य)

ध्यानजं अर्थात् समाधि से उत्पन्न हुआ जो चित्त है वह उन पांचों (सिद्ध निर्माण चित्तों में) अनाशय अर्थात् कर्म की वासना और संस्कारों से रहित होता है यह अभिप्राय —(भोजवृत्ति)

संगति — जब योगी भी साधारण मनुख्यों की भांति कमें करते देखे जाते हैं, तो उनके चित्त वासना रहित किस प्रकार होसकते हैं ?

कर्माश्चनलाकुरणं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ॥ ७ ॥

श्रध्यार्थ-कर्म = कर्म । अशुक्त-अकृष्णं = न शुक्त न कृष्ण । वोगिनः = योगी का । त्रिविधं = तीन प्रकार का । इतरेषां = दूसरों का होता है ।

अन्वयार्थ-योगी का कर्म ऋगुक्लाइध्या (न शुक्ल न ऋष्य ऋथीत् निष्काम) होता है, दूसरों का तीन प्रकार का (पाप, पुराय खीर पाप पुराय मिश्रित) होता है ।

ब्याख्या-कर्म चार प्रकार के होते हैं-

१ क्वरण-पापरूप कर्म अर्थात् हिंसा आदि दूसरों को हानि पहुंचाने वाले स्तेय व्यक्षिचार आदि कर्म दुराचारी पुरुषों के होते हैं।

२ शुक्छ-पुरवकर्म बहिंसा बादि दूसरों को लाभ पहुंचाने वाले, स्वाध्याय, तप, ध्यान ब्यादि धर्मात्माओं के होते हैं।

३ कृष्ण शुक्ल - पापपुराय मिश्रित कर्म जिनमें किसीको हानि किसीको लाभ हो, साधारण मनुष्यों के होते हैं।

४ अशुक्ल अकृष्ण—न पुरुष न पाप अर्थात् फलों की वासनारहित निष्काम शक्ष कर्म।

इनमें से योगियों के कर्म श्रशुक्त श्रष्टका होते हैं श्रशीत् न पुरुष वाले न पाप वाले । पापकर्म तो वे कभी करते ही नहीं । क्योंकि वे उनके लिये सर्वदा त्याज्य हैं, इस कारण उनके कर्म श्रकुष्ण हैं । श्रुक्तकर्मों को निष्काम भाव से फलों को त्यागकर करते हैं इस कारण वे अञ्चल होते हैं। साधारण मनुष्यों की तरह उनको कर्म में प्रवृत्त करने वाले अविद्या आदि क्लोझ नहीं होते। बल्कि वे अपने आपको तथा अपने सब कर्मों और उनके फलों को ईश्वर समर्पण करके केवल उसकी आज्ञापालन में अपना कर्तव्य समक्ते हुए करते हैं। इस कारण वे वासनारहित हैं।

ब्रह्मएयाथाय कभीषा सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। जिप्यते न स पापेन अग्रपत्रिमवाम्भसा।। कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियेरिष। योगिनः कमें कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मग्रुद्धये।। युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमामोति नैष्ठिकीम्

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ गीता ५ । १०, ११, १२ ॥

अर्थ — जो पुरुष सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण करके आसक्ति को त्याग कर कर्म करता है वह पुरुष जल से कमल के पन्ने के सहश पाप से लिपायमान नहीं होता ॥ १०॥ निष्काम कर्म योगी केवल इन्द्रिय, मन, बुढ़ि श्रीर शरीर द्वारा भी आसक्ति को त्यागकर अन्तः करण की बुद्धि के लिये कर्म करते हैं ॥ ११॥ निष्काम कर्मयोगी कर्मों के फलों को परमेश्वर के अर्पण करके परमात्म प्राप्तिरूप शान्ति को प्राप्त होता है और सकामी पुरुष फलों में आसक्त हुआ कामना के द्वारा बंधता है॥ १२॥

साधारण मनुष्यों के तीन प्रकार के कमे ? शुक्ल = श्रच्छे, २ कृष्ण = गुरे, ३ शुक्ल-कृष्ण-मिश्रित = श्रच्छे बुरे मिले हुए होते हैं, इस कारण वे चित्त में फलों की वासना को पैटा करते हैं।

संगति—ऊपर बताये हुए योगियों से ऋतिरिक्त साधारण मनुष्यों के तीन प्रकार के कमीं का फल बताते हैं:—

तनस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिन्यक्तिर्वासनानाम् ॥ 🖛 ॥

द्यार्थ—ततः≔ उससे (तीन प्रकार के कर्मों से) तद्-विपाक-श्रनुगुगानां, एव = उन्हीं के फल के श्रनुकूल ही । श्रभिव्यक्तिः = प्रकटता । वासनानाम् = वासनाश्रों की होती हैं।

अन्ययार्थ—उन तीन श्कार के कर्मों से उनके फल के अनुकूल ही वासनाओं की अभिव्यक्ति (प्रादुर्भोव) होती है ।

ज्याख्या— योगियों से अतिरिक्त सकामी पुरुष फतों की वासना से कर्म कर हैं। जैसे कर्म होते हैं उनके फतों के अनुकूत गुर्णों वाली वासनायें उत्पन्न होती हैं। उन वासना-जों से फिर वैसे ही कर्म और उनसे फिर उसी प्रकार की वासनायें बनती हैं। वासनायें चिक्त में को प्रकार के संस्कारकप से होती हैं। एक स्मृतिमात्र फल वाली दूसरी जात, आयु, भोग फल वासी। जब कोई कर्म करता है वो उसके फल के चनुकूज ही सारी वासनायें प्रकट होजाती हैं। बदाहरणार्थ—जन कर्मों का फल मसुख्य जन्म होता ह तो स्मृति फल वाली वासनार्थे मसुष्य जाित आयु और भोग वाली वासनार्थों को जो जन्म-जन्मान्तरों से चित्त में संस्काररूप से पड़ी दुई हैं, जगा देती हैं। उससे भिन्न अन्य जाित आयु और भोग वाली वासनार्थे चित्तभूमि में दवी रहती हैं। इसी प्रकार यदि कर्मों का फल (कर्म विपाक) कोई पशुयोगि हो तो उस जाित आयु और भोग की वासनार्थों की स्मृति फल वाली वासनार्थे जगा देती हैं। और वे अपना फल देने लगती हैं। इसका विवरण विस्तारपूर्वक (२।१२,१३) सूत्र में आवागमन के सम्बंध में किया गया है।

संगति —वासनायें सैकड़ों जन्म पूर्व की होती हैं और इनमें देश तथा समय का भी अत्यंत अंतर होता है फिर एक जन्म को देने के लिये भिन्न-भिन्न जन्मों, देशों और कालों में चित्त में पड़ी हुई वासनायें एक साथ किस प्रकार प्रकट होसकती हैं ? उत्तर

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्थे समृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—जाति-दंश-काल व्यवहितानाम्-श्रिप = जाति, दंश श्रौर काल से व्यवधान वाली (वासनाश्रों) का भी । श्रानन्तर्य=व्यवधान (दूरल) नहीं होता है। स्मृति-संस्कारयोः=स्मृति श्रौर संस्कार के । एक रूपलात्=एक रूप होने से=समानविषयक होने से।

अन्वयार्थ--जाति, देश श्रौर कालकृत व्यवधान वाली वासनाश्रों का भी व्यवधान नहीं होता क्योंकि स्मृति श्रौर संस्कार एकरूप (समान विषयक) होते हैं।

ब्याख्या—जाति, देश और काल का निकट होना वासनाओं के संस्कारों के प्रकट होने का कारण नहीं होता है, बिल्क उनको प्रकट करने वाला कारण उनका अपना-अपना अभिक्यञ्जक (प्रकट करने वाला) होता है। वह संस्कार चाहे कितने ही पिछले जन्मों के हों और चाहे उनमें कितना ही देश और काल का व्यवधान (कासला) हो। श्रभिव्यञ्जक भिन्तने पर तुरंत प्रकट होजाते हैं। उदाहरणार्थ—जब कम्मेफल (कमेबिपाक) यह हो कि मनुष्य किसी पशु योनि में जावे तो वह उन सब बासनाओं के संस्कारों के जगाने में अभिव्यञ्जक होजाते हैं जो उस जाति के बनाने वाले अथवा उनमें भोगे जाने वाले हैं। चाहे वे सैकहों जन्म पहले के बने हुए हों चाहे सहसों वर्ष व्यतीत होगये हों और कितने ही दूर देशों के क्यों न बने हों। यह व्यवधान उनके प्रकट होने में क्वावट न डाल सकेंगे क्योंकि स्मृति संस्कारों के सदश उत्पन्न होती है। जैसे संस्कार हों बैसी स्मृति होती है।

संगति —जब वासनाओं के अनुसार ही जन्म होता है और कर्मों के अनुसार वास-नायें तो सबसे पहिले जन्म देने वाली वासना कहां से आई ? उत्तर:—

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ॥ १० ॥

शष्यार्थ—तासाम्=उन (वासनाओं) को अनादित्वं च=अनादिता भी है। आशिषः=आशिष के=अपने कल्याण की इच्छा के । नित्यत्वात्=ितस्य होनेसे।

अन्ययार्थ- उन वासनाओं को आशिष (अपने कल्याग की इच्छा) के नित्य होने से अनादित्व भी है।

व्याख्या-आशिष-अपने कल्याग् की इच्छा कि मेरे सुख साधन सदैव बने रहें। **उनसे** मेरा वियोग कभी न हो । यह इच्छा सर्व प्राणियों में सरैव पाई जाती है । यही संकल्प विशेष सब वासनात्रों का कारण है। इसके सदा से बने रहने के कारण वासनात्रों का सदा से बना रहना है। यह इच्छा (सङ्कल्पविशेष) प्रवाह से अनादि है इसलिये वासनाओं का भी प्रवाह से अनादित्व सिद्ध होता है इसका कोई आदि नहीं है।

विशेष वक्तव्य-सूत्र १०। इस सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने प्रसङ्ग से चित्त के परिमाण का विशेषता के साथ वर्णन किया है। इसको बतलाने के निमित्त व्यासभाष्य अर्थ सहित लिखे देते हैं।

तासां वासनानायाशिषो नित्यत्वादनादित्वम् । येयमात्माशीर्मा न भूषं भूगासमिति सर्वस्य दृश्यते सा न स्वाभाविकी । कस्मात । जातमात्रस्य जन्तो-रननुभूतमरणधर्मकस्य द्वेषदःखानुस्मृतिनिमित्तो मरणत्रासः कथं भवेत । न च खाभाविकं वस्तु निमित्तप्रपादते । तस्मादनादिवासनानुविद्धिषदं चित्तं निमि-चवशात्काश्चिदेव वासनाः प्रतिलभ्य पुरुषस्य भोगायोपावर्तत इति ।

(घटशासादमदीपक्रम्पं संकोचविकासि चित्तं शरीरपरिवाणाकारपात्र-मित्यपरे मतिपन्नाः । तथा चान्तराभावः संसारश्च युक्त इति ।

वृत्तिरेवास्य विभ्रनश्चित्तस्य संकोचविकासिनीत्याचार्यः)

तच भर्मादिनिमित्तापेत्तप् । निमित्तं च द्विविधं-बाह्यमाध्यात्मिकं च। शरीरादिसाधनापेसं बाह्यं स्तुतिदानाभिबादनादि, चित्तमात्राधीनं श्रद्धाद्याध्या-त्मिकम् । तथा चोक्तम् - ये चैते मैठ्यादयो ध्यायिनां विहारास्ते बाग्रसाधन-निर्तुप्रहात्मानः प्रकृष्टं धर्मेमिभिनिवर्तयन्ति । तयोमीनसं बलीयः । कथं, ज्ञान-वैराग्ये केनातिशय्यते दएदकारएयं च चित्तवलव्यतिरेकेण शारीरेण कर्मणा श्रन्यं कः कर्त्रेम्रत्सहेत समुद्रमगस्त्यवद्वा पिवेत ॥ १० ॥

अर्थ-आशिष के नित्य होने से उन वासनाओं का अनादित्व पाया जाता है। भा न मुवं भयासं' 'ऐसा न हो कि मैं न होऊँ' किन्तु बना रहूँ' यह आशिष अर्थात् अपने सदा बने रहने की प्रार्थना (इच्छा) हर-एक आगाधारी में पाई जाती है। यह खाभाविक नहीं है क्योंकि वह जन्तु जो अभी उत्पन्न हुआ है और जिसने इस जन्म में किसी भी प्रमाण से मरने के दुःख को अनुभव नहीं किया है, वह भी दुःख अनुभव से पीछ होनेवाले स्पृति के निमित्त मर्ग्य-त्रास से द्वेष करता है। स्वाभाविक वस्त निमित्त के आश्रय नहीं होती इस 48

कारण यह चित्त अनादि वासनाओं से बँधा हुआ निमित्त के वहा से किसी वासना को लब्ध करके पुरुष के भोग आय प्राप्त कराता है।

अधात् यद्यपि चित्त अनादि अनेक जन्मों की विलक्त् वासनाश्चों से अनुविद्ध (युक्त) है तथापि सब वासनायें अभिव्यक्त (प्रकट) नहीं होतीं। किन्तु जो कर्म फल देने को उन्मुख हुआ है वहीं कर्म जिनका व्यश्वक होता है वह वासनायें उदय होकर पुरुष के भोग में निमित्त होती हैं, अन्य वासनायें दवी रहतीं हैं। यहां प्रसङ्ग से भाष्यकार चित्त के परिग्राम के सम्बन्य में अन्य तथा योगदर्शन के सन्त्रकार के विचार बतलाते हैं—

'घटप्रासादः "युक्त इति' = कई-एक दर्शनों का मत है कि जिस प्रकार दीपक का प्रकास, दीपक को घट में रखने से संकृषित हो जाता है और महल में रखने से विकसित हो जाता है, इसी प्रकार चित्त (मनुष्य, हाथी, चींटी खादि) जिस शरीर में जाता है इस परिमाण खाकार-मात्र हो जाता है इसलिये उसकी (सूक्ष्म-शरीर में रहते हुए मृख्यु के समय 'अन्तराभाव' परलोकगमन अर्थात् एक स्थूल शरीर का छोड़ना और (उसी सूक्ष्म शरीर में रहते हुए जन्म लेने के समय) 'संसार' परलोक से आगमन अर्थात् दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश करना 'युक्त' सिद्ध होता है।

"युत्तिरेव" श्राचार्य = श्राचार्य अर्थात् योगदर्शन के सूत्रकार श्री पतः कित महा-राज का यह सिद्धान्त है कि इस विभु चित्त की वृत्ति ही सङ्कोच विकास वाली है (चित्त सक्रोच विकास वाला नहीं है क्योंकि वह विमु है)" "और यह (चित्त का वृत्तिमात्र से शरीरमात्र में) संकोच-विकास धर्माद (धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, श्रधर्म, श्रज्ञान, श्रवै-राग्य, अनैश्वर्य) निमित्त की अपेत्ता से होता है। यह निमित्त दो प्रकार के होते हैं-बाह्य व आभ्यात्मिक । शरीर (इन्द्रिय, धन आदि) की अपेत्ता रखने वाले स्तुति, दान, अभिवादन बादि बाह्य निमित्त हैं। और चित्तमात्र के आधीन अर्थात् चित्तमात्र से ही होने वाले श्रद्धा आदि (श्रद्धाः वीर्यः स्मृति, समाधि, श्रज्ञा, वैराग्य श्रदि) श्राभ्यात्मिक निमित्त हैं। श्रीर ऐसा ही पर्व आचार्य (पश्वशिखाचार्य ने कहा है-यह जो योगियों के मैत्री आदि तथा श्रद्धा आहि विहार (प्रयत्नसाध्य ज्यापार) हैं वह बाह्य साधन (शरीर आदि) की अपेक्षा से रहित है और अति प्रकृष्ट (अति उत्तम = शुक्त) धर्म को उत्पन्न करता है। इन दोनों (बाह्य और बाध्यात्मिक साधनों) में से मानस (बाध्यात्मिक) बलवान है क्योंकि ज्ञान वैराग्य जो मानव धर्म हैं उनसे अधिक प्रवल कोई बाह्य साधन नहीं है चित्त-बल के बिना (केवल) शारीरिक-बल से कौन दण्डक वन को (खरदूषणादि चौदह हजार राज्ञसों का ज्ञय करके राज्ञसों से) शून्य करने का उत्साह (श्री रामचन्द्र जी के सदृश) कर सकता है (तथा) कौन अगस्य मुनि के समान समुद्र को पी सकता है।"

भाष्य का स्पष्टीकरण-

१ तासाम्रश्यते।। ब्याशिष के नित्य होने से वासनाकों का तथा जन्मों का प्रवाह से नित्य होना सिद्ध किया है। २ सा न खाभाविकीगुपाद्ते ॥ नास्तिकों के इस तक का कि तत्काल उत्पन्न हुए जन्तु का इष्ट वस्तुओं के देखने में होषे और श्राहितकर वस्तुओं के देखने में होक प्रकट करना कमल-पुष्प के खिलने और गुरमाने के सददा खाभाविक है इस गुक्ति से खएडन किया है कि कमल का खिलना और गुरमाना भी खाभाविक नहीं किन्तु सूर्य की किरणों के निमित्त से है क्योंकि खाभाविक वस्तुएँ सदा एकसी रहती हैं जैसे श्राग्न की उप्णता। इसी प्रकार तत्काल उत्पन्न हुए बच्चे का हुषे, होक खाभाविक नहीं, किन्तु पूर्व जन्मों में मुख-दु:ख के श्रानुभवों की स्मृति इसका निमित्त है।

3 तस्मादनादिवाः इति ॥ चित्त का खनादि खनेक जन्मों की वासनाओं से चित्रित होना और पुरुष के भोग का सम्पादन कराना सिद्ध किया है। (यह सिद्धान्त सब दर्शनकारों को खभिमत है) ।

४ घटप्रासाद युक्त इति ॥ नैयायिकों तथा वैशेषिकों का मत दिखलाते हैं. न्याय श्रीर वैशेषिक ने पृथ्वी, जल, श्रिप्त श्रीर वायु के उन सूक्ष्म परमाणुश्रों को जिनका कोई विभाग न हो सके और मन को अणु (सुक्ष्म) परिमाण माना है। दिशा, काल, आकाश तथा श्चात्मा को विसु (व्यापक) महत् परिमाण माना है। ऋणु और विसु दोनों नित्य होते हैं। श्चनेक परमाणुओं से मिलकर जो पदार्थ बनते हैं वे मध्यम परिमाण वाले होते हैं, जैसे प्रध्वी, जल आदि। ये अतित्य हैं क्योंकि संयोग का विभाग होना आवश्यक है। यह मध्यम परिमारा बाले पदार्थ वास्तव में न ऋणु हैं न विभु । परन्तु एक दूसरे की ऋषेता से परस्पर ऋणु और महत् भी कहलाते हैं, जैसे पृथ्वी की अपेका से घट अणु है और घट की अपेका पृथ्वी महत् परिमाग वाली है (६।११ वैशेषिक) इन दोनों दर्शनों में चित्त की संज्ञा मन की है जिसमें सब जन्मों के वासनारूप संस्कार रहते हैं। मन दीपक के तुल्य प्रकाश वाला है। जिस प्रकार एक काँच की चिमनी में प्रकाशमान ज्योति का प्रकाश घट में रखने से उसके परि-. माण के अनुसार संकुलित श्रीर बड़े मकान में रखने से उसके परिमाण के अनुसार विकसित होता है इसी प्रकार ऋणु परिमाण मन संकोच विकास वाला है, सूक्ष्म शरीर रूपी चिमनी में प्रकाशमान जब वह किसी छोटे चींटी श्रादि के स्थूल शरीर में जाता है तो उसका प्रकाश उसके शरीर के परिमाण के श्रतुसार संकुचित हो जाता है श्रीर जब मनुख्य हाथी आदि जैसे बढ़े स्थूल शरीर में होता है तो उसके परिमाण के अनुसार विकसित हो जाता है।

तदभावादगु मनः(जारार वैशेषिक)

अर्थ-उसके अर्थात् विमुत्व के अभाव से मन अणु है।

यथोक्तहेतुत्वाचाणु । (३।२।६३ न्याय)

अर्थ - उक्त हेतु अर्थात् युगपत् ज्ञान के न होने से मन श्रणु है। यहाँ यह भी जान लेना चाहिये कि इस न्याय श्रौर वैशेषिक में बतलाये हुए मन की

संज्ञा सांख्य और योग में अहंकार है।

५ वृत्तिरेवास्य त्याचार्यः ॥ इससे भाष्यकार ने योगदर्शन के सूत्रकार का सिद्धा-न्त बतलाया है अर्थात् चित्त धर्मी विसु है उसमें संकोच विकास नहीं होता, उसके धर्म धृत्तियों में ही संकोच विकास होता है। धृत्तियों का लाभ जन्म है श्रौर उनके छिप जाने का नाम मृत्यु है। ये धृत्तियाँ नैयायिकों के गु.ण नहीं हैं किन्तु द्रव्य हैं।

र्शका—चिरा प्रधान प्रकृति का कार्य होने से विमु अर्थात् महत् परिमाण् वाला नहीं हो सकता। और यह सांख्य तथा योग-सिद्धांत के विरुद्ध भी है।

हेतुमदनित्यमञ्यापि सक्रियमनेकाश्रितं लिंगम् ॥ (१।१२४ सांख्यवर्शन)

अर्थ — कारण वाला अर्थात् कार्य अनित्य, अन्यापी, किया वाला, अनेक आश्रय बालाः यं कार्य के लिझ हैं (जो कारण प्रकृति को बतलाते हैं)।

हेतुमदनित्यमव्यापि सिक्रियमनेकमाश्रितं लिगम् । सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् । (१० सांख्यकारिका)

अर्थ—कारणवाला, खनित्य, खञ्यापी, क्रियावाला, खनेक खाश्रित, चिन्हु, खवयव बाला, पराधीन, व्यक्त होता है और इससे उल्टा खञ्यक्त ।

समाधान — उपर्युक्त सांख्यसूत्र तथा कारिका में श्रृकृति श्रीर विकृति के लक्ष्ण बताये हैं। सांख्य और योग ने अणुत्व और विमुत्व को न्याय और वैशेषिक के (परमाणु श्रादि की अपेक्षा से) पारिभाषिक अर्थ में नहीं प्रयोग किया है किन्तु (गुणों के परिमाण की अपेक्षा से) अव्यक्त और व्यापी अर्थ में प्रयोग किया है। उन्होंने आठ श्रृकृतियाँ, मूलश्रृकृति, महत्तत्त्व, श्रृहंकार, पाँच तन्मात्रायें, और १६ केवल विकृतियाँ, पाँच स्थूलभूत और मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ मानी हैं। मूलश्रृकृति निरपेक्ष प्रकृति है, अन्य सात श्रृकृतियाँ सापेक्ष अथोत अपनी श्रृकृतियाँ मानी हैं। मूलश्रृकृति और विकृतियां की अपेक्षा विकृति और विकृतियां की अपेक्षा श्रृकृति है। श्रुयंक श्रृकृति अपनी विकृति में व्यापी होने से उसकी अपेक्षा विभु है और उसमें अव्यक्त (मूक्ष्म अश्रकट) रूप से अनुगत रहने के कारण उसकी अपेक्षा अणु (सूक्ष्म) है। और विकृति रूप से अव्यापी और व्यक्त (श्रुक्ट) होती है। इसी श्रकार (मूल श्रृकृति के अतिरिक्त सातों प्रकृतियों में से) हरेक श्रृकृति के अर्कृति और विकृति होने की अपेक्षा से उपर्यक्त लगा जानना चाहिये।

मूल मकृति अपने प्रकृति रूपसे अन्यक्त तथा गुणों के साम्य परिणाम वाली होने से परोच्च अर्थात् प्रत्यच्च करने योग्य नहीं है, केवल उसकी न्यक्त विकृतियों से और गुणों के विषम परिणामां से उसकी सत्ता अनुमान-गम्य है। गुणों के साम्य परिणामा वाली होने से पुरुष के भोग अपवर्ग सम्पादन में भी निष्प्रयोजन है। भाव यह है कि प्रकृति केवल विकृति रूपसे ही अपने को न्यक्त कर सकती है प्रकृति रूपसे नहीं। मूल प्रकृति केवल प्रकृति है, स्वयं किसी की विकृति नहीं है। इसलिए अन्यक्त रूपसे प्रत्यच्च करने योग्य नहीं है केवल सत्तामात्र अनुमानगम्य और आगमगम्य है। योगीजन जो विवेकस्थाति में तीनों गुणों के अलग-अलग परिणामों को साचात् करते हैं, उससे गुणों के साम्य परिणाम की सत्ता का अनुमान करते हैं। अर्थात् महत्त्वल के साचात्कार से मूल प्रकृति अनुमेय है। और यदि उस साचात्कार को मूल प्रकृति ही मान लिया जावे तो वह न्यक्त होने से किसी और अन्यक्त प्रकृति की अपेश्वा वाली होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष आजावेगा। इसलिए चित्त स्वाप्

प्रधान प्रकृति की खपेत्ता खञ्यापी लिङ्ग और विषम परिमाग्ग बाला है, तथापि स्नन्य सब विकृतियों की प्रकृति होने से सारी सृष्टि की स्रपेता न्यापी खर्थात् विसु है। इसलिए इसकी

मंज्ञा महत्त्व अर्थात् विसु परिमाण वाला तत्व की गई है।

चित्तमें श्रहम् भाव पैदा करके भिन्नता करने वाली महत्तत्व की विकृति श्रहंकार है। सांध्य तथा योग की परिभाषा में प्रकृति, धर्मी, तथा विकृति कार्य धर्म परिगाम श्रीर वृत्ति एकार्थक शब्द है। इसलिए वृत्ति शब्द चित्त के धर्म श्रहह्वार के लिए प्रयोग हुआ है, श्राथीत् विमु चित्त का संकोच विकास उसके धर्म श्रहह्वार रूप से शता है। इसी कारण सांख्य ने श्रहह्वार में ही कत्तीपन बतलाया है। यथा "श्रहंकार: कर्ता न पुरुषः" इस सम्बन्ध में आगले सूत्रों में विशेष व्याख्या की जावेगी।

शंका-मन न ऋणु है न विमु है, किन्तु मध्यम परिमाण वाला है। जैसे-

न व्यापकरवं मनसः करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ॥ सिक्रयत्वाद्वगतिश्रते ॥ (५।६९—५।७० सां० द०)

अर्थ-मन को व्यापकता नहीं है करण होने से, इन्द्रिय होने से, क्रियावाला होने से, और (परलोक में) गति सुनने से, इससे मन के विभु होने का खरडन है।

न निर्भागत्वं तद्योगाद्रघटवतुः ॥ (५१७१ सा० द०)

अर्थ-वह निरवयन भी नहीं हैं, क्योंकि उसका घट के समान योग है। इससे ऋणु होने का खराडन किया है।

प्तस्माङजायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ॥ (सुण्डक २।१।१) अर्थ-इस (परमात्मा) से प्राण मन श्रीर सारी इन्द्रियाँ उत्पन्न होते हैं। इस से

चित्त का मध्यम परिशाम होना सिद्ध है।

समाधान—सांज्य ने बाठ प्रकृतियाँ चौर १६ विकृतियाँ मानी हैं जैसा ऊपर बतला बाये हैं । यहाँ 'मन' शब्द 'महत्त्तव' प्रकृति के लिए नहीं प्रयोग हुबा है किन्तु सोलह विकृतियां में जो ग्यारह इन्द्रियों हैं, उस मन इन्द्रिय के लिए (५, ६९, ७०, ७१ सांब्य दर्शन) प्रयोग हुबा है वह केवल विकृति होने से न विभु है न ब्रणु है, किन्तु मध्यम परिमाण वाला है और (मुखक उप० २।१।३) में पुरुष के शुद्ध खरूप व्यर्थात् पर मद्मा को ब्यन्तर, अञ्चल से परे तथा सब कार्य्य जगत् का निमित्त कारण बतलाया है। प्राण, मन, इन्द्रियाहि में परस्पर भिन्नता ब्रथवा उपादान कार्य्य भाव नहीं बतलाया गया है।

श्रुति में मन को चित्त अर्थ में विमु ही बतलाया है। जैसे-

भनन्तं वै मनः (दृहद० उप०)

अर्थ-चित्त अनन्त (विम्) है।

सारांश:—"वृत्तिरेवास्य विसुनश्चित्तस्य संकोषविकासिनी" का थोड़े से शब्दों में इस प्रकार स्पष्टीकरण सममजेना चाहिये कि वृत्ति, परिणाम, धर्म खौर विकृति, तथा प्रकृति, वपादान कारण और धर्मी एकार्थक शब्द हैं। प्रकृति अपनी विकृति की अपेना विसु अर्थात न्यापक होती है। इस लिये पांचो तन्यात्रायें तथा ११ इन्द्रियाँ विसु अहंकार की वृत्ति इप हैं। और अहंकार भी विसु चित्त का वृत्ति रूप ही है।

संगति—जब वासनायें अनादि हैं तो उनका अभाव भी नहीं हो सकता और उनके

श्रभाव न होने से मुक्ति श्रसम्भव है। उत्तर—

हेत्रफलाश्रयालम्बनैः संग्रहीतत्वादेषायभावे तदभावः ॥ ११ ॥

े राष्ट्रिय हेतु-फल-आश्रय- आलम्बनै: = हेतु, फल आश्रय और आलम्बन से (बासनाओं का) संगृहीतत्वात् = संगृहीत होने से । एषाम् = इनके (हेतु फल आश्रय और आलम्बन के) अभावे = अभाव में । तद्-अभावः = उनका (वासनाओं का) अभाव होता है।

अन्वयार्थ—हेतु फल व्याश्रय और व्यालम्बन से वासनाओं के संगृहीत होने से इनके (हेत फल व्याश्रय और व्यालम्बन के) व्यभाव से उन (वासनाओं) का व्यभाव होता है।

ब्यास्या—१ वासनाओं का हेतु-अविद्या आदि क्लेश, शुक्ल कृष्ण तथा दोनों मिश्रित सकाम कर्म हैं।

२ वासनाओं का फल-जाति आयु और भोग है।

३ वासनाओं का आशय-अधिकार सहित चित्त है।

४ वासनाओं का आलम्बन-इन्द्रियों के विषय हैं।

यद्यपि वासनायें अनादि हैं और अनन्त हैं तथापि वे सब इन्हीं हेतुफल-आश्रय और आलम्बन के सहारे रहती हैं। इनकी स्थिति में वासनाओं की उत्पत्ति होती है और अभाव में नाश। विवेक-स्थाति द्वारा तत्वज्ञान से अविद्या आदि क्लेशों का उनके फल आश्रय और आलम्बन सहित अभाव हो जाता है उनके नाश होने पर वासनाओं का भी अभाव हो जाता है।

व्यासभाष्य का भाषानुवाद, सूत्र ॥ १२ ॥

हेतु आदि के वदाहरण ये हैं। यथा-धमें से सुख, अधर्म से दुःख, सुख में राग और दुःख में देव होता है। इन राग और देव से प्रयत्न होता है। इस प्रयत्न से मन वाणी और शरीर से चेष्टा करता हुआ किसी पर अनुमह करता है और किसी की हानि। ऐसा करने से फिर धमे-अधमे, सुख-दुख, देव होते हैं। इस प्रकार यह छः अरों वाला संसार-चक्र चलता है। इस प्रतिच्ला ध्मते हुए चक्र को चलाने वाली अविद्या है। वहीं सब कलेशों का मूल होने से अनन्त अनांव वासनाओं का हेतु (कारण) है। जिसके आश्रय होकर जो उत्सन्न होता है वह उसका फल है तथा धमे-अधमें के सुख-दुख मोग फल हैं। अधिकार-संगुक्त चित्त वासनाओं का आश्रय है, क्योंकि जिसचित्त की फलमागरूप सामप्ये समाप्त हो गई है उसमें ये वासनायें निराश्रय होकर नहीं उहर सकतीं। जिसके सन्युख होने से जो वासना प्रकट होती है वही उसका आलव्यन है (वे रूप रस आदि इन्द्रिय के विषय हैं) इस प्रकार सब वासनायें हेतु, फल, आश्रय और आल श्वन से संग्रहीतहैं (इसलिये यद्यपि ये वासनायें अनावि और अनन्त हैं तथापि) इन हेतु आदि चारों के अभाव होने पर उनके आश्रय रहने वाली वासनाओं का भी अभाव हो जाता है।

भोजवृत्ति भाषाज्ञवाद सूत्र ॥ १२ ॥

उन वासनाओं के अनन्त होने से उनका नाश कैसे होता है इस आशङ्का को करके नाश का उपाय कहते हैं—

वासनाओं का, समीपवर्ती (वत्तर्मान) झान कारण है। उस सुख दु:खादि के झान के रागद्वेषांदि कारण हैं। उन राग-द्वेषादिकों का कारण अविधा है। इस प्रकार वासनाओं का कारण साजात वा परम्परा से अविधा है। वासनाओं के फल शरीरादि और समृत्यादि हैं। वासनाओं के फल शरीरादि और समृत्यादि हैं। वासनाओं का स्थान वित्त है जो झान का विषय है वही वासनाओं (संस्कारों) का विषय है। इससे उन हेत्वादिकों से अनेक वासनाओं का भी संबह व्यापन हो रहा है अर्थात् अनेक वासनाओं के हेत्वादिकों का नाश हो जाय अर्थात् झान और थोग से उन हेत्वादिकों को जले हुए बीज के बराबर करिदया जाय तो जड़ के न रहने से वासनायें नहीं उगतीं अर्थात् शरीरादि को नहीं आरभ्म करतीं। इस प्रकार अनन्त वासनाओं का नाश हो जाता है।

संगति—श्रभाव का कभी भाव नहीं होता और भाव का कभी श्रभाव (नाहा) नहीं होता । इस कारण वासनाओं का और उनके हेतु, श्रविद्या आदि क्लेशों का जो भावरूप हैं श्रभाव कैसे सम्भव है ? उत्तर—

श्रतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम् ॥ १२ ॥

दाष्ट्रार्थ—अतीत-अनागतम् = भूत श्रौर भविष्यत् । खरूपेत:-अस्त = स्वरूप से रहते हैं क्योंकि । अध्व-भेदात् = काल से भेद होता है । धर्माणाम = धर्मों का ।

चन्चयार्थ-अतीत और अनागत स्वरूप से रहते हैं क्योंकि धर्मों का काल से भेद होता है।

ज्याख्या—वासनायं और उनके हेतु आदि का अभाव कहने से यह अभिप्राय नहीं है कि उनका अत्यन्ताभाव हो जाता है। अभिप्राय यह है कि वे वर्तमान अवस्था को छोड़कर भूत अवस्था में चले जाते हैं। जितने धर्म हैं वे सदा धर्मों में बने रहते हैं। जब तक भविष्यत् अवस्था में रहते हैं तवतक वे अपना कार्य प्रकट नहीं करते हैं। केवल वर्तमान अवस्था में अपना कार्य दिखाते हैं। फिर जब वे अपना कार्य बन्द कर देते हैं तो वर्तमान अवस्था से भूत अवस्था में चले जाते हैं। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन ३।९ वें सूत्र की सङ्गति में तथा ३।१२ वें सूत्र की ज्याख्या में करदिया है।

विशेष वक्तव्य—सूत्र १२ ॥ नैयायिकों तथा वैशेषिकों ने खभाव को भी एक खलग पदार्थ निरूपण करके पाँच प्रकार का माना हैं।

१ प्रागमाय-उत्पत्ति से पहले सभाव,जैसे घट की उत्पत्ति से पहले घट का सभाव होता है। २ प्रथ्वंसाभाव-सदसत् सभाव-विद्यमान वस्तु का सभाव, जैसे घट का मुगदर स्नाहि के प्रहार से टूट जाना ।

३ अन्योन्यामाव—सबासत्-अभाव—एक दूसरे में भेदरूप अभाव जैसे घट का वस्त्र ४ अस्यन्तामाव—जो न उत्पन्न हुआ हो और न उत्पन्न होसके, जैसे वन्त्या का पुत्र।

सूत्र १२

५ स्नामिकाभाव —जो समय-समय पर उत्पन्न होकर नाज को प्राप्त हो। नैसे घट के एक स्थान से वसरे स्थान पर चले जाने से इसका अभाव।

वेदान्त, योग और सांख्य का सिद्धांत सत्कार्यवाद हैं। इसके यह अर्थ हैं कि कोई कार्य भी पैदा नहीं होता है किन्तु कार्य की अभिव्यक्ति होती है। कारण में कार्य पहले ही विद्यमान होता है। केवल संस्थानादि विशेष से उसका आविर्भाव होता है जैसे गीता में बतलाया गया है-'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' असत का 'भाव' उत्पत्ति नहीं होती और सत् वस्त का 'अभाव' नाश नहीं होता अर्थात् कार्य सत है. अपनी सत्ता रखता है. उसका न कभी अभाव था न आगे होगा। कार्य कारण और धर्म-धर्मी पयायवाचक हैं, कार्य (धर्म) सदा अपने कारण (धर्मी) में सत-भाव से अपने स्व-रूप से बना रहता है। भेद केवल उतना ही है कि वर्तमान काल में व्यक्त, स्थूल प्रकटरूप से धौर भविष्यत् तथा भूतकाल में श्रव्यक्त (सूक्ष्म = श्रप्रकट) रूप से रहता है। जिसकी अभिव्यक्ति आगे होनेवाली है वह अनागत (भविष्य) जिसकी अभिव्यक्ति पीछे हो चकी वह अतीत (भृत) और जो ज्यापार में उपारूढ़ हुआ अभिव्यक्त हो रहा है वह उदित (वर्त-मान) रूप से रहता है। इसी कारण योगी को जैकालिक पदार्थ-विषयक योगज ज्ञान हो सकता है।

इसलिये उपर्युक्त पाँचों अभावों में से (३) 'अन्योन्याभाव' में वस्त्र में घट का पहले से अभाव था उस अभाव से ही अभाव घट की उत्पत्ति होती है इसी प्रकार (४) 'अत्यन्त अभाव' में बन्ध्या के पुत्र का पहले से अभाव था उस अथवा ही से अभाव की उत्पत्ति होती है। (५) 'सामयिक अभाव' में घट के एक खान से दूसरे खान में जाने में उसका नाश नहीं होता है क्योंकि वह दूसरे स्थान पर अपने स्वरूप से विद्यमान है इसलिये भाव से अभाव नहीं होता । (१) 'प्रागभाव' उत्पत्ति से पूर्व अनागत काल में घट अपने कारण (धर्मी) मिट्टी में अञ्चक (सक्म) रूप से विद्यमान था, इसलिये अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हुई। (२) 'प्रश्वंसाभाव' में घट के दूटने से वह अपने वर्तमान मार्ग को छोड़कर अपने कारण (धर्मी) मिट्री में अव्यक्त (सूक्ष्म रूप से छिप गया, इसलिये भाव से अभाव नहीं हुआ। इसी प्रकार वासनाओं का नाश नहीं होता किन्तु वे भृतावस्था में (अञ्यक्त) हो जाती हैं अर्थान् छिप जाती हैं। और अपना कार्य जाति, आय और भोग आगे के लिये बन्द कर देते हैं।

विष्पणी-भोष्टजित का भाषानुबाद सूत्र ॥ १२ ॥

शका यह है कि चित्त में रहने वाली वासनायें और वासनाओं के स्मृत्यादि रूप फल कार्य-कारण भाव से एक काल में नहीं होते, इससे वासनात्रों का और उनके फलों का भेद है, तो कैसे माना जाय कि चित्तरूपी धर्मी, अपने धर्मी के साथ एकरूप हैं ? इस शंका का बत्तर देते हुए धर्म-धर्मी का एकरूपता का प्रतिपादन करते हैं:-

इस दर्शन में सर्वथा न रहनेवाली वस्तुओं की उत्पत्ति युक्तियुक्त नहीं समस्त्री जाती, क्योंकि सत् और असत् पदार्थों का मेल हो ही नहीं सकता। शश-शृक्तादि (खरगोश के सीग आदि) जो सर्वथा असत् हैं उनका किसी सदस्तु के साथ सम्बन्ध नहीं देखा गया है। यि कार्य को निरुपाख्य (असत्, तुच्छ) माना जाय तो किसवों उद्देश्य करके कारण प्रवृत्त होते हैं जो वस्तु नहीं है उसको समम्मकर कार्ड भी प्रवृत्त नहीं होता। सदस्तुओं का असदस्तुओं के साथ विरोध है। इसलिए सत् और असत् का कोई सम्बन्ध नहीं और जो वस्तु अपने स्वरूप अनागतादि को लाभ किये हुए हैं, वह क्योंकर निरुपाख्य और अभावरूप हो सकती है। स्वरूप को प्राप्त हुई वस्तु अपने विरुद्ध रूप को नहीं प्रहृण करती, इससे जो चीज है उसका नाश नहीं हो सकता और जो चीज नहीं हैं उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती तो उन-उन धर्म से बदलने वाला (धर्मी) चित्तादि सदा एकरूप ही रहता है। उसमें तीनों कालों में रहने वाले धर्म अधिक रूप से रहते हैं। वे धर्म अपने काल में खित हुए स्वरूप को नहीं छोड़ने और जब केवल वर्तमान काल में रहते हैं तो भोग के योग्य बन जाते हैं। इससे धर्मों का ही भूत, भविध्यत् आदि रूप से काल (मार्ग) भेद है उस ही रूप से कार्य-कारण भाव इस दर्शन में म;ना जाता है, इससे मोच्चर्यन्त एक ही चित्त धर्मी रूप में बना रहता है जिसको मोच तक अलग नहीं कर सकते।

संगति-धर्मी का खरूप बताते हैं:-

ते व्यक्तसूच्मा ग्रुणात्मानः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ — ते = वे (धर्मे) । व्यक्तसूक्ष्माः = प्रकट श्रौर सूक्ष्म । गुणास्मानः = गुण-स्वरूप हैं ।

अन्वयार्थ-वे धर्म प्रकट श्रीर सूक्ष्म गुणस्तरूप हैं।

ब्याख्या—सब धर्म तीनों मार्गों वाले हैं। वर्तमान मार्ग में व्यक्त (श्शृल) अर्थात् प्रकट होनेवाले होते हैं, और अतीत तथा अनागत मार्ग में अव्यक्त = सूक्ष्म अर्थात् छिपे रहते हैं। ये सारं धर्म महत्तत्त्व से लेकर स्थूलभूतों-पर्यन्त तीनों गुणों के ही परिणामिवशेष हैं। वास्तव में देखा जाय तो सब पदार्थ महत्त्व से लेकर भूत भौतिक तक गुणों का सिन्नि वेश (तरतीव) मात्र होने से गुण्खरूप ही हैं। अर्थात् पृथ्वी आदि पौँचों स्थूलभूत पश्चत-मात्रा-स्वरूप हैं। पश्चत-मात्रा-स्वरूप हैं। पश्चत-मात्रा तथा एकादश इन्द्रियां अहंकार-स्वरूप हैं। आहंकार महत्त्व-स्वरूप है। महत्त्व प्रधान (मृलप्रकृति) स्वरूप है और प्रधान गुण-त्रय-स्वरूप है। इस प्रकार परम्परा से यह सारा प्रपश्च गुण्सदूप ही है। यद्यपि गुणों का असली स्वरूप हमारी दृष्टि-गोचर नहीं होता, जैसाकि भगवान् वार्षगण्य का वचन है—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमुच्छति । यत्तु दृष्टिपथं माप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्।।

अर्थ-गुर्गो का असली रूप दिखाई नहीं देता, और जो दृष्टिगोचर होता है वह मायान्सा है और बिनाशी है।

अर्थात् कारण रूप गुण देखने में नहीं आते हैं और जो दीखते हैं, वे माया अथवा ६० ४७३ इन्द्रजाल की तरह तुच्छ हैं। भाव यह है कि यह सब कार्य गुरात्रयात्मक रूप अपने कारण प्रधान स्वरूप ही हैं।

संगति—जब तीनों गुण ही सम्पूर्ण पदार्थी के कारण हैं तो पदार्थी को अलग-अलग धर्मी रूप कैसे कह सकते हैं ? उत्तर—

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥

शब्दार्थ-परिणाम-एकत्वात्=परिणाम के एक होने से। वस्तु-तस्वम्=वस्तुकी एकता होती है।

अन्वयार्थ-परिणाम के एक होने से वस्तु की एकता होती है।

ब्याख्या—यह ठीक है कि तीनों गुण ही सब पदार्थों के कारण हैं, पर वे अपने प्रकाश, किया, स्थित स्वभाव से अङ्ग-अङ्गीभाव से गति कर रहे हैं। कहीं सत्व गुण अंगी है अर्थात् प्रधान है और रज तम उसके अंग अर्थात् गीण हैं। इसी प्रकार कहीं रज अंगी है और कहीं तम अंगी है और शेष गुण उसके अंग हैं। इस कारण उनकी परिणाम की एकता से बस्तु एक ही कहीं जाती है। इन गुणों के अंग-अंगीभावमें भी नानाप्रकार के भेद होते हैं। इस कारण उनके परिणाम भी भिन्न-भिन्न होते हैं। परिणाम की भिन्नता से वस्तुएँ भिन्न-भिन्न धर्मों वाली होती हैं जैसे यह महत्तत्त्व है, यह अहङ्कार है, यह इन्द्रियों हैं, यह पृथ्वी है, इत्यादि।

विशेष वक्तव्य । सूत्र १४॥

सत्त्वं लघु मकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः। गुरु वरणकमेव तमः मदीपवच्चायतो हृत्तिः॥

-साख्यकारिका १३ ।

अर्थ—सत्व हलका और प्रकाशक माना गया है रजस् उत्तेजक और चल और तम भारी और रोकने वाला है और दीपक सदृश एक उद्देश्य (पुरुष के भोग अपवर्ग) से इनकी वृत्ति (काम) है।

१ सत्व रजस् और तमस् का साम्य परिग्णाम 'प्रधान' मूल प्रकृति है ।

२ सत्व में रजस तमस् का लिंगमात्र विषम परिणाम महत्तस्व है।

३ सत्व महत्तरचे में श्रहम् वृत्ति से भेद उत्पन्न करने वाला रजस् तमस् का कि धित् अधिक विषमपरिणाम श्रहद्वार है।

४ झहङ्कार के सत्त्रप्रधान श्रंश में रजस्तामस् का विषम-परिणाम ग्यारह इन्द्रियाँ हैं। इसमें भी सत्त्वप्रधान श्रंश से मन, रजप्रधान श्रंश से ज्ञानेन्द्रियाँ और तम:प्रधान श्रंश से कर्मेन्द्रियाँ। इन इन्द्रियों में भी परस्पर भेद करने वाली गुर्णों को न्यूनाधिकता है।

५ आहड्कार के तम प्रधान आंश में रजस् तमस् का परिग्राम पाँचों तन्मात्रायें हैं। इन पाँचों में भी गुणों की न्यून-अधिकता परस्परे भेदक है।

६ इन तन्मात्राओं में भी रजस् तमस् के न्यून-श्रधिक विषम-परिग्राम रूप पाँचों स्थूल भूत परस्पर भेद वाले हैं। इन पाँचों स्थूल भूतों के धर्म सब भौतिक पदार्थ सत्व गुए की प्रधानता में प्रकाश वाले, हलके, युख देनेवाले; रजस् गुए की प्रधानता में उत्तेजक, प्रश्न कराने वाले और दुःख देनेवाले और तमस की प्रधानता में भारी, रोकने वाले और प्रमाद तथा मोह उत्पन्न करने वाले होते हैं। इसलिए यद्यपि गुए तीन हैं, तथापि जैसे बत्ती तेल और श्रमिन मिलकर एक दूसरे को सहायता देते हुए प्रकाश का काम देते हैं इसी प्रकार तीनों गुए मिलकर पुरुष के उपयोग श्रलग-श्रलग वस्तुओं को मिल-भिन्न रूप में उत्पन्न करते हैं।

संगति— शंका—जिस श्रकार स्वय्न में चित्तके श्रतिरिक्त श्रीर कोई वस्तु भाव रूप से नहीं होती है उसी से सब किल्पत होते हैं। इसी श्रकार जागृत श्रवस्था में भी चित्त से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। सब चित्त ही की रची हुई हैं। चित्त श्रनादि वासनाओं से चित्रित है इस कारण उसको श्रपनी श्रपनी वासनाओं के श्रनुसार भिन्न-भिन्न वस्तुएँ श्रतीत होती हैं। वास्तव में चित्त से भिन्न कोई बाहर वस्तु नहीं है।

समाधान—

वस्त्रसाम्ये चित्तभेदात्तयोविभक्तः पन्याः ॥ १४ ॥

शब्दार्थ —वस्तु-साम्ये = वस्तु के एक होने पर (भी) चित्त-भेदात् = चित्त के भेद से । तयो:-विभक्तः पन्थाः = उन दोनों का (चित्त श्रीर वस्तु का) श्रतगन्श्रलग मार्ग है ।

अन्वयार्थ-वस्तु के एक होने पर भी चित्तके भेद से उन दोनों (चित्त और वस्तु)

का अलग-अलग मार्ग है।

व्याख्या—प्रत्येक वस्तु अपने-अपने स्वरूप में ही श्यिर है। श्रौर बहुत से चित्तों का विषय वन सकती है। पर वह न एक चित्ता की करपना की हुई होती है न श्रमेक चित्तों की। क्योंकि एकही वस्तु को देखकर चित्त के श्रवश्या भेद से किसी को मुख होता है, किसी को दुःख; किसी को मोह श्रौर किसी को उदासीनता। यदि चित्त से भिन्न वह वस्तु न होती तो इतने चित्तों का विषय न बन सकता। फिर वही वस्तु श्रमेक चित्तों को नाना प्रकार के भावों से प्रतीत हो रही है। इस कारण वस्तुण चित्त की करपना से नहीं होती हैं बरिक चित्त से भिन्न श्रौर उससे बाहर श्रपनी खतन्त्र सत्ता रखती हैं।

मोजवृत्ति का भाषानुवाद ॥ १५ ॥

यदि कोई शंका करे कि ज्ञान से भिन्न घटादि पदार्थ हों, तो एक व अनेक वस्तु, कहना चाहिए। जबकि एक विज्ञान (चित्त) ही संस्कार वश से कार्य-कारण-भाव को प्राप्त हुआ, घटपटादि रूप से भासता है तो यह कैसे कह सकते हैं कि एक वा अनेक वस्तु हैं ? इसका क्तर देते हैं—

हात और यहें (जातने योग्य पदार्थ घटादि) का भिन्त मार्ग है अर्थात् ये दोनों भिन्न ही हैं। क्योंकि एक वस्तु में चित्तों (विज्ञानों) का भेद रहता है। अर्थात् की आदि एक पदार्थ के मिलने पर की की सुन्दरता में अनेक देखने वालों के चित्त की भिन्तता सुख दु:ख मोह कप से मतीत होती है। जैसे एक सुन्दर रूप वाली की मिल जगय वो कामी का चित्त सुखी होता है। इस स्त्री की सपत्नी (सीत) का चित्त उस से दुखी होता है। और संन्यासी का चित्त उससे उदासीनता अर्थात उपेचा करता है। जब एक ही वस्तु में अनेक प्रकार की चित्त शुसीनता अर्थात उपेचा करता है। जब एक ही वस्तु में अनेक प्रकार की चित्त शुसीने होती हैं तो स्त्री आदि, चित्त के कार्य नहीं हैं। यदि एक चित्ताही के कार्य हों तो, एक ही रूप से ज्ञान हो। और दूसरी बात यह है कि यदि वस्तु को चित्त का कार्य माना जाय तो जिस पुरुप के चित्तका कार्य, वह वस्तु है उसके चित्त के दूसरी वस्तु में लग जाने पर, वह वस्तु, कोई वस्तु ही न रहे?। यदि कही कि वह वस्तु नहीं रहती, तो अन्य पुरुषों को वह क्स्तु को वस्तु होने से, वस्तु, चित्त का कार्य नहीं है। यदि यह माना जाय कि बहुत से चित्त मिलकर एक वस्तु को उत्पन्त करते हैं तो बहुतसों की बनाई हुई चीजों से, एक चित्तकों वनाई हुई चीजों विल्लचण होनी चाहिए। यदि विलच्चण नहीं मानते तो कारणों से भिन्त-भिन्त होनेपर भी कार्यका भेद न रहने से, जगत् को बिना कारण के व एक रूप मानना होगा। बात यह है कि यदि कारणों से अन्त होने पर भी, कार्य भिन्त-भिन्त न माने जावें, तो सब जगत् जोकि अनेक कारणों से उत्पन्न हुआ है वह एकाकार होना चाहिए। अथवा कारण विशेष का सम्बन्ध न रहने से, स्वतन्त्रता से कारण शुन्य होना चाहिए।

दांका — यदि एक चित्त (विज्ञानात्मक) से अनेक वस्तु नहीं होती, (तो) तुम्हारे मतमें एक त्रिगुणात्मक चित्तासे, एक ही पुरुष को सुख दुःख मोह रूप अनेक ज्ञान कैसे हो जाते हैं? अथीत जैसे तुम्हारे मतमें एक चित्त अनेक रूप से परिणत होता है, वैसे हमारे मतमें विज्ञान भी, अनेक कार्य कारण भाव से अवस्थित है। (उत्तर) हमारे मत में त्रिगुण यथाये हैं। जब चित्तासे अर्थ (घटादि) ज्ञान होता है तो धर्माधर्मसहकारी (साथ रहने वाले) कारण होते हैं। जब धर्मादिकों के प्रकाश और तिरोभाव से, चित्तका तत्तद्रुप से प्रकाश होता है। जैसे कामेच्छ पति के पास की हो तो धर्म-सहकारी चित्त सत्वप्रधान होकर सुखमय परिणत होता है। और अधर्म के साथ रहने से सौत का रजःप्रधान चित्त दुःखरूप से परिणत होता है। अधिक अधर्म के साथ रहने से सौत का तमःप्रधान चित्त त्रेसक्तप से परिणत होता है। अधिक अधर्म का सम्बन्ध होने से कुद्ध सौत का तमःप्रधान चित्त मोहमय (अज्ञानमय) होता है। इससे सिद्ध हुआ कि विज्ञान (चित्त) से भिन्न बाह्य प्राह्म अर्थ होता है। तो विज्ञान (चित्त) और अर्थ के स्वरूप का भेद होने से कार्य-कारणभाव (विज्ञान और अर्थ का) नहीं है। कारण के भेद न होने से भी यदि कार्यभेद माना जाय तो दख्ड से भीति आदि भी होने चाहिए। इससे अर्थ का, ज्ञान से भेद ही है।

विशेष वक्तव्य । सूत्र १५ ॥ बुद्धि, चित्त, विज्ञान ये एकार्थक हैं।

यहाँ उन लिएक विज्ञानवादियों की शंकाओं का समाधान किया गया है जो लिएक विज्ञान से अतिरिक्त वस्तु की सत्ता को अनुमान द्वारा नहीं मानते। उनका अनुमान है कि जो ज्ञेय है वह विज्ञान से भिन्न नहीं है क्योंकि विज्ञान से भिन्न दशा में उसकी उपलब्धि (विषय का ज्ञान) नहीं होती। जैसे विज्ञान से विज्ञान अभिन्न है वैसे ही घटादि ज्ञेय भी विज्ञान से अभिन्न हैं। उनकी शंका का समाधान इस प्रकार किया गया है कि वस्तु एक होने पर भी चित्रा (विज्ञान) का भेद दिखलाई देता है, जैसे की रूप वस्तु एक दशा में बनी रहती है किन्तु उसको देखकर पति को सुख, सपत्नी को दुःख, कामी को मोह और निष्काम

संन्यासी को उसमें वपेका विज्ञान होता है। इस प्रकार विज्ञान (चित्तवृत्ति) चार हैं किन्तु वस्तु एक ही बनी रहती है। जो एक है वह घनेकों से भिन्न है। जैसे एक नील का ज्ञान घनेक पीवादि ज्ञानों से भिन्न है वैसे ही एक की रूप वस्तु घपने घनेकों विज्ञानों से भिन्न है। इसलिये ज्ञान और ज्ञेय एक नहीं हो सकते। ज्ञान विषयी है और ज्ञेय विषय है।

एक प्रकृतिरूप वस्तु से चित्त अनेक प्रकार का क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि चित्त और घटादि पदार्थ दोनों त्रिगुणात्मक हैं। जबतक चित्त में धर्म, अधर्म, अविद्यादि का सम्बन्ध रहता है तक्षतक सत्त्व, रजस् और तमस् की क्रमझः अधिकता होने से सुख, दुःख और मोह हुआ करते हैं। तत्वज्ञान होने से उन त्रिगुणात्मक वस्तुओं में उपेचा होजाती है। इसिलये अर्थ विज्ञान से भिन्न है। इसी से ही जगत् मिध्यावाद, जगत् स्वप्नवाद, इप्टिन्सृष्टि-वाद (ज्ञान के साथ ही वस्त का होता) के अमों का समाधान समस्ता चाहिये।

संगति— इंका—वस्तु की सत्ता सत्त्ववित्तों ही के आधीन ठहरती है क्योंकि भिन्न-भिन्न वित्त को एक ही वस्तु उनके भाव के अनुसार ही भिन्न-भिन्न रूप से प्रतीत होती है। समाधान—

न चैकचित्तत्रत्रं वस्तु तद्यमाणकं तदा कि स्यात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—न-च = नहीं श्रौर । एक-चित्त-तन्त्रम् = एक चित्त के श्राधीन है । वस्तु = वस्तु । तत् = वह (वस्तु)। श्रप्रमाणकम् = विना प्रमाण के श्रर्थात् विना चित्त के । तदा = इस समय । किन्स्यात् = क्या होगी ।

अन्वयार्थ — प्राइ-वस्तु एक चित्त के खाधीन नहीं है क्योंकि वह (वस्तु) बिना प्रमाण (चित्त) के उस समय क्या होगी ।

ब्याख्या—यदि एक चित्त के ही आधीन वस्तु को माना जाय तो जब वह चित्त किसी दूसरे विषय में लगा हो तो अथवा निरुद्ध हो गया हो तो उस समय उसका अभाव होना चाहिये। लेकिन हम देखते हैं कि वह विद्यमान रहती है। इसको स्पष्ट रूप से यों समको कि इारीर का जो भाग पीठ या हाथ आदि जिस समय दिखलाई न दे तो उसको उस समय चित्त का विषय न होने से अविद्यमान नहीं कह सकते। इस कारण वस्तु की सत्ता खतन्त्र है चित्त के आधीन नहीं।

व्यासभाव्य का भाषानुबाद । सूत्र १६॥

यदि वस्तु एक चित्त (विज्ञान) के ही आधीन हो अर्थात् ज्ञान के साथ ही वह वस्तु उत्पन्न हो तो चित्त के अन्य विषय में लगने पर वा निरुद्ध होने (रुक्कने) पर वह वस्तु अप्रमाणक हो जाय अर्थात् उसके स्वरूप का प्रह्मा करनेवाला कोई न रहे, ऐसी होगी वो फिर वह होगी ही क्या? क्योंकि वह दूसरे का विषय नहीं बनी और एक चित्त से उसके स्वरूप का सम्बन्ध नहीं। अथवा चित्त के साथ सम्बद्ध हुई भी वह वस्तु कहाँ से उत्पन्न होगी? और जो इसके अनुपक्षित भाग हैं वे भी न होंगे और सब पुरुषों के लिये साधारण है, और निरुष्ण जावेगा। इससे अर्थ (वस्तु) स्वतन्त्र है और सब पुरुषों के लिये साधारण है, और

चित्त (विज्ञान) भी अत्येक पुरुष में स्वतंत्र है उन वस्तु श्रीर चित्ता (विज्ञान) के सम्बन्ध से जो उपलब्धि है वह पुरुष का भोग है।

संगति—शङ्का—यदि वस्तु की सत्ता खतन्त्र होती तो वह सदा चित्त को ज्ञात रहती, लेकिन कभी ज्ञात होती है, कभी नहीं। यह बात सिद्ध करती है कि वह चित्त के बाधीन है।

समाधान —

तदुपरागापेत्रित्वाचित्तस्य बस्तु ज्ञाताज्ञातम् ॥ १७ ॥

दाब्दार्थ — तद्-वराग-अपेक्तितात् = वस पदार्थ के वपराग (विषय का चित्त में प्रतिविम्य पढ़ना) की अपेदा वाला होने से । चित्तस्य = चित्त को । वस्तु = वस्तु । ज्ञात-सङ्गातम = ज्ञात और अज्ञात होती है ।

अन्वयार्थ — चित्त को वस्तु के जानने में उसके उपराग (विषय का वित्त में प्रतिविम्ब पढना) की अपेता होती है इसलिये उसको (चित्त को) वस्तु ज्ञात और अज्ञात होती है ।

व्याख्या—वपराग = इन्द्रिय-सिन्नकर्षे द्वारा जो विषय का चित्त में प्रतिविष्य पहता है इसको उपराग कहते हैं। विषय अयस्कान्त-मिए (चुम्बक पत्थर) के समान है और चित्त लोहे के समान है। विषय इन्द्रिय-सिन्नकर्षे द्वारा अपनी ओर आकर्षित कर अपने आकार से चित्त को चित्रित कर देता है। इस प्रकार जिस विषय से चित्त उपरक्त होता है अर्थात् जिस विषय का चित्त में प्रतिविम्ब पहता है वह विषय उसे झात होता है। वस्तु के झात-च्यात-स्वरूप होने से चित्त परिणामी है न कि वस्तु को स्वयं उत्पन्न करनेवाला।

यहाँ यह भी बतला देना उचित प्रतीत होता है कि जब इन्द्रिय द्वारा चित्त के साथ जिस वस्तु का सम्बन्ध होता है अर्थान् जब जैसा विषयाकार चित्त होता है तब उसमें चेतन प्रतिविन्वरूप स्पुरण होता है (यह स्पुरण वा उपलब्धि वृत्ति से भिन्न है) तो उसी वस्तु क अथवा चित्तवृत्ति को अपने प्रतिविम्ब द्वारा पुरुष जानता है, अन्य वस्तु को नहीं। घटादि के सम्बन्ध से चित्त की घटादि ज्ञानरूप वृत्ति होती है, अन्यथा नहीं। इससे चित्त के विषय ज्ञात और अज्ञात हैं इसी से यह परिणामी है। पौरुषेय-बोध भिन्न है और मानसिक-बोध भिन्न।

भोजहत्ति का भाषानुबाद ॥ सूत्र १७॥

यदि ज्ञान प्रकाशक होने से प्रहणुरूप है और घटादि वस्तु प्राध्यरूप धर्यात् प्रहणु करने योग्य रूप है, तो एक बार ही, सब वस्तुओं का प्रहणु क्यों नहीं होता ? वा सबका स्मरणु क्यों नहीं होता ? इस घ्याशंका को हटाते हैं—

घटादि वस्तुओं के उपराग की अर्थात् अपने आकार को चित्त के लिये समर्पणरूप प्रतिविम्ब-सम्बन्ध की अर्थेता होने से (इन्द्रिय-सिशकर्ष द्वारा विषय का चित्त में प्रतिविम्ब पढ़ने से) चित्त में बाहर की वस्तु, ज्ञात और अज्ञात कहलाती है। ताल्पर्य यह है कि सब पदार्थों को अपना स्वरूपलाभ कराने में चित्त की और सामग्री की अपेखा है (वा चित्तकप सामग्री की अपेदा है)। नीलादि ज्ञान, अपनी उत्पत्ति में इन्द्रिय-प्रणाली द्वारा चित्त में समाये हुए अर्थसम्बन्ध की, सहकारिकारणुरूप से अपेद्या करता है। क्योंकि चित्त से भिन्न अर्थ का बित्ता किसी सम्बन्ध के महर्ण नहीं हो संकता। इस कारण जो वस्तु अपने प्रतिविक्षस्य को चित्त के लिये देती है उसी वस्तु को उस वस्तु का ज्ञान व्यवहार के योग्य बनाता है। इससे थह वस्तु ज्ञात कहाती है, और जिसने अपना स्वरूप नहीं दिया वह 'अज्ञात' रूप से बोली जाती है। जिस जानी हुई वस्तु में उस वस्तु के सादश्यादि किसी पदार्थ का ज्ञान, संस्कारों को जगाता हुआ यदि सहकारी कारण मिल जाय तो उसी वस्तु का स्मरण् होता है। इससे न सब जगह ज्ञान हो सकता है और न सबैत्र स्पृति। इसलिये ज्ञान को माहणुरूप होने पर और घटादिकों को माड्य मानने से कोई विरोध नहीं आता।

संगति—बाह्य जगत् को चित्त से भिन्न सिद्ध करके श्रव श्रात्मा को चिश से भिन्न दिखाते हैं।

शंका—यदि यह मान लिया जाने कि चिरा से अलग वस्तुएँ हैं और चिरा को उनके उपराग से ज्ञात और अज्ञात होती हैं तो फिर आत्मा (पुरुष) को चित्त से अलग मानने की आवश्यकता नहीं और यदि माना भी जाने तो पुरुष भी चित्त के सदृश परिणामी होता है।

समाधान-

सदा ज्ञाताश्चित्रष्टत्तयभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ॥ १८ ॥

चाव्दार्थ—सदा ज्ञाताः = सदा ज्ञात रहती हैं। चित्त पृत्तायः = चित्तकी पृत्तियाँ। तत्-प्रभोः = उस चित्त के स्वामा । पुरुषस्य = पुरुष के । अ-परिग्रामित्वात् = परिग्रामी न होने से ।

अन्वयार्थ - चित्र का खामी पुरुष परिग्णामी नहीं है इसलिए चित्र की बुरिगाँ उसे

सदा झात रहती हैं।

व्याख्या—चित्रा का जब बाहर के विषय के साथ सम्यन्ध होता है तो बह उसको झात होता है जीर जब सम्बन्ध नहीं होता तो झड़ात होता है, इसलिए वह कभी बारह के विषय को जानता है कभी नहीं जानता है। वह जानने न जानने इन दोनों अवस्थाओं में बदलता रहता है, बह उसमें परिएग्राम होता रहता है, इसलिए वह परिएग्रामी है। पर पुरुष में यह परिएग्राम नहीं होता। वह सदा चित्रा की शृत्तियों का साची है। पाहे उसमें कोई विषय हो वा न हो, चित्रा का कार्य केवल इतना ही है कि वह जिस विषय से सम्बन्ध रखता हो उसके आकार में परिएग्र होकर उसके स्वरूप को अपने स्वामी चिति (पुरुष) के सामने रखदे। पुरुष को चित्र के पेसे परिएग्रम का सदा ही झान बना रहता है। ईस झान से पुरुष में चित्र की भाँति कोई परिएग्रम नहीं होता। अर्थान् चित्र के विषय घटादि हैं और पुरुष का विषय शृत्ति सहित चित्र है। विषयों के होते हुए चित्र कभी उन विषयों को जानता है, कभी नहीं, पर पुरुष अपने चित्र को शृत्ति सहित सर्वदा जानता है। कभी न जानता तो परिएग्रामी होता। अपने काम में सदा जानी हुई भोग्यरूप चित्तवृत्तियाँ ही भोका पुरुष को परिएग्रामी होता। अपने काम में सदा जानी हुई भोग्यरूप चित्तवृत्तियाँ ही भोका पुरुष को परिएग्रामी होता। अपने काम में सदा जानी हुई भोग्यरूप चित्तवृत्तियाँ ही भोका पुरुष को परिएग्रामी होता। इत्र भोगका पुरुष को

परिणाम-शून्य जतलाती हैं। मानसिक ज्ञान में अर्थोकारतारूप सम्मन्य की आवश्यकता है, पर पौरुषेय ज्ञान में पुरुष अर्थाकार (वस्तुके आकार में परिणत) नहीं होता, किन्तु प्रतिविम्ब-सम्बन्ध से ज्ञाना मात्र होता है। यद्यपि चित्त जड़ है इससे उसमें ज्ञान (बोध) नहीं हो सकता तथापि जैसे लोहपिएड में अग्नि के प्रवेश होने से लोह भी प्रकाशरूप होता है, वैसे ही ज्ञानरूप पुरुष के साथ भोग्यता सम्बन्ध होने से चित्त में ज्ञान कहा जाता है। चित्त को जहाँतहाँ प्रकाशरूप कहा है वह इसलिय कि ग्रुद्धता से प्रतिविम्ब को प्रहण करने की इसमें शक्ति है। एक बात और भी है कि चित्त का सवेदा ज्ञाता पुरुष न हो तो 'में मुखी हूँ वा नहीं' इस्यादि संशय भी होना चाहिए, सो होता नहीं। इससे भी पुरुष परिणामी नहीं है।

भोजदृत्ति का भाषानुवाद ॥ सूत्र १८॥

प्रमाता (जाननेवाला) पुरुष भी जिस समय नील पदार्थ को जानता है, उस समय पीतादि से सम्बन्ध रखने वाले चित्त के आकार का महण न करने से कदाचित् परिणामी हो जायगा, इस आशङ्का को हटाते हैं:—

जो प्रमाय-विषयेयादिरूप वित्त की वृत्तियाँ होती हैं उनको मह्य करनेवाला वित्त का क्रांब्राला पुरुष सब काल में ही जानता है। क्योंकि पुरुष का परियाम नहीं होता। यदि वह पुरुष परियामी हो तो परियाम के कर्मा-कभी होने से चित्त की वृत्तियों को सदा जानने-वाला नहीं वन सकता। तात्पर्थ यह है कि चैतन्यरूप पुरुष, चित्त का सर्वदा खामी है, और निर्मल अन्तःकरण भी उसके साथ सदैव रहता है। वह चित्त जिस पदार्थ के साथ सम्बन्ध करता है, इसी पदार्थ का ज्ञाता पुरुष कहलाता है, क्योंकि घटायाकार वृत्तियों में चेतन का प्रतिविक्त्य-सा पड़ता है। इससे पुरुष में परियामिता की राष्ट्रा कभी नहीं हो सकती।

संगति—शङ्का—श्रान की भांति चित्त ही वस्तु का भी प्रकाशक है और श्रापना भी, इसलिये चित्त से श्रातिरिक्त किसी श्रान्य पुरुष के मानने की श्रावश्यकता नहीं रहती ।

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ-न = नहीं। तत् = वह चिरा। ख-म्राभासम् = खप्रकाश (अपने को आप ही प्रकाश करने वाला अर्थान् जानने वाला) है। टरयत्वान् = टरय होने से।

अन्वयार्थ - चित्त खप्रकाश नहीं है क्योंकि वह दश्य है ।

क्यास्या — जिस प्रकार दूसरी इन्द्रियां और शब्द चादि विषय दृश्य होने से स्वप्रकाश (अपने को ज्ञाप ही प्रकाश करने वाले अर्थात् जानने वाले) नहीं हैं उसी प्रकार चिशा भी हृश्य होने से स्वध्काश नहीं है, किन्तु पुरुष से प्रकाश्य और जानने योग्य है। अग्नि का दिया हुआ दृष्टान्त भी यहाँ लागू नहीं हो सकता। अग्नि जब है, उसको स्वयं अपना ज्ञान नहीं होता, उसको जानने के लिये किसी अन्य ज्ञान वाले की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार चिश्त भी जब है, उसे जानने के हेतु उससे अलग चिति (पुरुष) को मानना पढ़ेगा। चिल्ल के हृश्य होने में एक प्रमाण यह भी है कि उसमें सुस्त, दु:स्त, भय, क्रोध आदि के जो परिएाम होते हैं वे दूसरे से देखे जाते हैं, जैसे में सुखी हूँ, मैं क्रोघ में था, इत्यादि। इसके सिद्ध है कि चित्त की इस अवस्था को देखने वाला उससे अतिरिक्त चेतन पुरुष है।

भोजष्टिका भाषानुवाद ॥ सूत्र १६ ॥

यदि सत्त्वगुण् की प्रधानता से लित्त को ही प्रकाशक मान लिया जाय तो उसका ही अर्थ का और अपने खरूप का प्रकाशक मानने से 'यह घट है' इत्यादि न्यवहार हो जायेंगे, पुरुष को मानने की क्या आवश्यकता है ? इस शंका को हटाने के लिये यह सूत्र है।

वह चित्त, स्वाभास अर्थात् अपने स्वरूप का स्वयं प्रकाशक नहीं है, किन्तु पुरुष से प्रकाश्य है। क्योंकि वह दृश्य (देखने के योग्य वा प्रकाश के योग्य) है। जो-जो दृश्य है, वह-बह दृष्टा से प्रकाश्य है, यह व्याप्ति है। जैसे घटादि दृश्य हैं और दृष्टा से प्रकाश्य हैं, चित्त भी दृश्य है इससे स्वयं प्रकाशक नहीं हो सकता।

संगति—शङ्का—यदि यह मान लिया जावे कि चित्त ही विषय का झान करता है और चित्त ही अपना झान भी करता है तो उपर्युक्त दोष की निवृत्ति हो जाती है। इसका उत्तर देते हैं:—

एकसमये चोभयानवधारणम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ—एक-समये-च=एक समय में और । उभय-अनवधारणम्=दोनों का विषय और चित्त का झान नहीं हो सकता।

अन्वयार्थ — और एक समय में दोनों विषय और चित्त का ज्ञान नहीं हो सकता। ध्याख्या — यदि यह कहा जाय कि चित्त ही विषय का ज्ञान प्राप्त करता है और चित्त ही को अपना ज्ञान होता है तो इसमें यह दोष आता है कि एक समय में दो ज्ञान नहीं हो सकते अथोत् एक विषयज्ञान, दूसरा विषय वाले चित्त का ज्ञान। इस कारण चित्त से अति-रिक्त इसका साक्षी अन्य चेतन पुरुष का मानना अनिवार्य है।

भोजदृत्ति का भाषानुवाद ॥ २० ॥

क्कार्य में एक शंका तो यह है कि चित्त का दृश्यस्य सिद्ध नहीं हुआ, इससे दृश्यस्य साध्य के तुल्य है, इसलिये 'दृश्यत्य' हेतु 'साध्यसम' हेत्वाभास है। और दृसरी शंका यह है कि पुरुष की तुद्धि के न्यापार को जानकर ही हितशिप्त और श्राहत-निशृत्ति के लिये शृत्तियाँ होती हैं तथापि 'क्कूडोऽहम्' 'भीतोऽहम्' श्वत्र मे रागः' 'मैं क्रोधी हूँ, मेरी इसमें प्रीति है' इस्यादि प्रवृत्तियाँ विना तुद्धि की शृत्ति के नहीं हो सकतीं, तो किर तुद्धि को ही स्वप्रकाशक क्यों न माना जाय १ इन दोनों शंकाओं का उत्तर इस सूत्र में दिया है—

'यह बस्तु मुख का हेतु वा दुःख का हेतु है' इस प्रकार व्यवहार की योग्यता करने वाला एक, वस्तु सम्बन्धी बुद्धि का वृत्तिरूप व्यापार है। और 'मैं मुखी हूँ' इस प्रकार व्यव-हार का सम्पादक बुद्धि का वृत्तिरूप व्यापार, दूसरा है। अर्थक्षान-काल में ऐसे दो विरोधी व्यापारों का होता असम्भव है अर्थात् एक काल में चित्त अपने स्वरूप को और वस्तुओं को विक्रिय नहीं कर सकता, इससे चित्त स्वःकाशक नहीं है। किन्त क्क प्रकार के दो व्यापा को करने के बाद ही दो प्रकार के स्कूर्तिरूप (प्रकाशरूप उपलब्धि वृत्तियों से भिन्न है) फलों का भान होता है अर्थात् फलरूप भान होता है, इसलिये बहिर्मुख रूप से ही अपने में रहने-वाले चित्त को पुरुष स्वयं जानता है, इससे पुरुष में-ही वह फल है, चित्त में नहीं।

बृत्ति का तात्पर्य—घट और चित्त दोनों का चित्त को एक ही च्रण में झान नहीं हो सकता, इसलिए इन दोनों का साची पुरुष है। अर्थात् 'घटमहमद्राच्चम' घट को मैंने देखा' इस प्रकार का जो स्मृतिझान होता है वह चित्त और घट के अनुभव से उत्पन्न होता है। एक-चित्त के च्रण में ही नहीं हो सकता, इसलिये इन दोनों का अनुभवकर्ता इनसे पृथक् पुरुष है।

संगति—शङ्का—यदि ऐसा मान लिया जावे कि एकचित्त से विषय भेहरा किया जाता है और उस विषयसहित चित्त को दूसरा चित्त महरा करता है तो विषय और चित्त दोनों का ज्ञान हो सकता है। इसका उत्तर—

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिपसंगः स्मृतिसंकरश्च ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—चित्त-श्रन्तर-दृश्यं = एकचित्त को दूसरे चित्त का दृश्य मानने में । बुद्धि-बुद्धेः = चित्त का चित्त होना । श्रतिप्रसङ्गः = श्रनवस्था दोष होगा । स्पृति-सङ्कर:-च = श्रौर स्मृतियों का गड़बड़ हो जाना भी ।

व्याख्या—यांद्र यह माना जाय कि त्त्रण्-त्त्रण में चित्त बदलता रहता है, अर्थात् एक चित्र में एक विषय प्रह्मण किया और उस विषय सहित चित्त को दूसरें चित्त ने इसी प्रकार उसको तीसरें ने, तीसरें को चीथे ने, ती थह कम बरावर चलता रहेगा कभी समाप्त न हो सकेगा, इसमें अनवस्था दोष आजायगा, अर्थात् पहले एक वस्तु का ज्ञान, किर उस वस्तु के ज्ञान का ज्ञान, इस प्रकार कभी एक ज्ञान भी समाप्त न होने पायेगा। दूसरा दोष स्पृतिसंकर का है। जितनी बुद्धियों का अनुभव है, उतनी ही स्पृति होंगी। अनुभव अनन्त हैं, जब उन सबकी स्पृति होने लगे तो उनके संकर होने से यह स्पृति किसकी है ? यह धारणा न हो सकेगी अर्थात् उनमें गड़बड़ हो जावेगी। कुछ पता न चल सकेगा कि किसकी कीनसी स्पृति हैं। इस कारण चित्त से अतिरिक्त द्रष्टा पुरुष को मानना ही पड़ता है।

भोजवृत्ति का भाषानुवाद ॥ सूत्र २१ ॥

मुद्धिका स्वयं प्रहण न हो, पर एक बुद्धिका द्वितीय बुद्धि से प्रहण हो जायगा (फिर बुरुणन्तर क्यों मानना ?) इस आशंका का उत्तर देते हैं—

याद बुद्धि को जानने वाली द्वितीय बुद्धि मानेंगे तो वह दूसरी बुद्धि भी श्रपने स्वरूप को न जानकर श्रन्य बुद्धि को प्रकाशित करने में श्रसमर्थ है, इससे उस द्वितीय बुद्धि को प्रहर्ण करनेवाली तृतीय बुद्धि किएंत करनी चाहिए श्रीर उसकी भी प्राहिका श्रन्य, इस प्रकार की श्रनवस्था हो जायगी तो बिना पुरुष के श्रयंज्ञान नहीं होगा, क्योंकि बिना बुद्धि के ज्ञान हुए श्रयंज्ञान होता नहीं (इससे बुद्धि से भिन्न, पुरुष मानना चाहिए)। दूसरा होक यह होगा कि स्पृतियों का मेल हो जायगा। रूप श्रीर रस में जो बुद्धि खरतन हुई है उस बुद्धि को प्रहरण करनेवाली श्रानन्त बुद्धियों के उत्पन्न होने से, उन बुद्धियों से उत्पन्न संस्कार भी श्रानेक होंगे। उन श्रानेक संस्कारों से जब एकबार ही बहुत से स्पृतिज्ञान किये जायेंगे वो बुद्धि के समाप्त न होने से बहुत सी बुद्धिस्पृतियों की एक बार ही उत्पत्ति होगी। एक बार ही उत्पत्ति होगी। एक बार ही उत्पत्ति मानन से किस विषय में यह स्पृति हुई है, यह ज्ञान न हो सकेगा तो स्पृतियों का मेल हो जायगा। इस गड़बड़ी से यह रूपविषय में स्पृति है, यह रसविषय में, इस प्रकार का विभक्त ज्ञान न हो सकेगा।

संगति—पुरुष कियारहित श्रीर अपरिसामी है श्रीर ज्ञान शाप्त करने अथवा किसी विषय को ब्रह्म करने में किया और परिसाम दोनों होते हैं। फिर पुरुष चित्त के विषय का ज्ञान किस शकार कर सकता है?

समाधान--

चितेरपतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ खबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—चिते; = चिति अर्थात् चेतन पुरुष को । अन्प्रतिसंक्रमायाः = जो क्रिया अथवा परिणामरहित है । तद्-आकार-आपत्तौ = स्वप्रतिविम्बित चित्त के आकार की तरह आकार की प्राप्ति होने पर । स्व-बुद्धि-संवेदनम् = अपने विषयभूत बुद्धि (चित्त) का झान होता है ।

अन्वयार्थ—पुरुष को जो किया श्रथवा परिगामरहित **है** स्वप्रतिविम्बित **चित्त के** श्राकार की प्राप्ति होने पर श्रपने विषयभत चित्त का ज्ञान होता है।

व्याख्या—यदापि अपरिणामां भोक शक्ति पुरुष अप्रतिसंक्रम अर्थात् किसी विषय से सम्बद्ध न होने से निर्लप है तथापि विषयाकार परिणामां बुद्धि (चित्त) में प्रतिविम्बि हुआ तदाकार होने से वह उस बुद्धि (चित्त) की वृत्ति का श्रवुपाती (अनुसारी) हा जाता है। इस प्रकार चैतन्य प्रतिविम्बित प्राहिणी बुद्धि-वृत्ति (चित्तवृत्ति) के अनुकारमान्न होने से ही बुद्धिवृत्ति में अभिन्न हुआ वह चेतन ज्ञानवृत्ति कहा जाता है। परमार्थ में वह चेतन ज्ञाना नहीं है। क्योंकि चेतन के प्रतिविम्य का आधार होने से जो चित्त का चेतनाकार हो जाना है वह तदाकारापत्ति है। इस तदाकारापत्ति के होने से जो चित्त में दशेनकरित्व है उसको लेकर ही चेतन को दृष्टा कहा जाता है, वास्तव में तो यह दृशिमात्र ही है। (२।२०)

अथात निर्विकार पुरुष में दर्शनकर्तृत्व, ज्ञातृत्व स्वाभाविक नहीं हैं, किन्तु जैसे निर्मल जल में अतिविग्वित हुए चन्द्रमा में अपनी चञ्चलता के विना ही जलरूप खपाधि की चञ्चलता मे चञ्चलता भासती है वैसे ही चित्त-प्रतिविग्वित जो चेतन है वह भी स्वाभाविक ज्ञातृत्व और भोक्त्र्य के विना ही कवल प्रतिविग्वाधार चित्त के विषयाकार होने से तदाकार भासता है।

अथवा चेतन पुरुष का प्रतिविम्च पड़ने से चित्त का जो चेतनवत् आकार होना है वह तदाकारापत्ति है। ऐसी तदाकारापत्ति हुए चित्त में जो झातृत्व है उसी का निर्विकार पुरुष में आरोप होता है।

इस प्रकार चेतन-प्रतिविम्बत चित्त ही चिदाकार हुआ अपने को दृश्य और चेतन को द्रष्टा कर देता है। वास्तव में पुरुष द्रष्टा नहीं है केवल ज्ञानस्वरूप है, चित्त और चेतन का अभिन्न रूप से भान होने से ही ऐसा कहा गया है।

> न पातालं न च विवरं गिरीखां. नैवान्धकारं क्रचयो नोदधीनाम । ग्रहा यस्यां निहितं ब्रह्म शाश्वतं. बुद्धिवृत्तिमिबिशिष्टां कवयो बेदयन्ते ।।

अर्थ-जिस गुफा में शाश्रत (नित्य) ब्रह्म निहित है वह गुफा न तो पाताल है, न पर्वतों की गुफा है, न अन्धकार है न समुद्रों की खाड़ी है, किन्तु प्रतिविन्वित चेतन से श्रभिन्न-सी जो बुद्धिवृत्ति (चित्तवृत्ति) है उसी को कवि (ब्रह्मज्ञानी) ब्रह्मगृहा कहते हैं ।

टिप्पणी - उपर्यक्त व्याख्या व्यासभाष्यातसार है। यह सत्र अधिक महत्त्व का है

इसलिए भोजवृत्ति का भाषार्थ भी यहाँ देते हैं :-

भोजष्टिच का भाषानुवाद । सूत्र २२ ॥

यदि बृद्धि स्वयं प्रकाश नहीं और भिन्न बुद्धि से उसका प्रह्मा नहीं होता तो बुद्धि-झानरूप व्यवहार कैसे होता है ? इस आशंका को करके अपना सिद्धांत कहते हैं-

पुरुष जो कि चैतन्यरूप है, वह किसी से मिला हुआ नहीं अर्थात् जैसे सत्त्व, रजस श्रादि गुणों का जब श्रङ्गाङ्गिभाव लच्चण परिणाम होता है तो वे गुण अपने प्रधान गुण के से रूप को धारण कर लेते हैं। अथवा जैसे लोक में फैलते हुए परमाणु एकविषय (घटादि) को बना देते हैं, वैसे चैतन्य शक्ति नहीं है, क्योंकि वह सर्वदा एकरूप सुप्रतिष्ठित रहती है, इस चैतन्यशक्ति के सङ्ग होने से जब बुद्धि चैतन्य सी हो जाती है, और जब चेतन शक्ति बुद्धिवृत्ति में प्रतिफलित हुई बुद्धिवृत्ति से मिली हुई जानी जाती है, तब (चिति को) बुद्धि में अपने खरूप का ज्ञान होता है।

वृत्ति का तालर्य यह है कि यद्यपि जैसे बुद्धि का किया द्वारा घटादि सम्बन्ध होता है, वैसे चिति का बुद्धि के साथ संयोग नहीं है क्योंकि चिति परिग्णामग्रुन्य है। तथापि जैसे सूर्य का जल में प्रतिविम्य पड़ता है, वैसे चिति का बुद्धि में प्रतिविम्य पड़ता है, इससे बुद्धि को चिदाकारता होने से चिति को बुद्धिपृत्ति सहित बुद्धि का भान होता है।

संगति—पिछले आठ सूत्रों में यह सिद्ध करके कि बाह्य जमत् और पुरुष चित्त से भिन्न है, अब यह बताते हैं कि चित्त को ही बाह्य वस्तु और आत्मा मानने और उससे अति-

रिक्त इन दोनों का अस्तित्व न मानने में क्यों आन्ति होती है ?

द्रष्ट्रस्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ - द्रष्टु-हरय-वपरक्तम = द्रष्टा और हरय से रॅगा हुआ। चित्तम् = चित्त । सर्वार्थम = सारे अर्थी वाला (आकार वाला) होता है ।

अन्ययार्थ-दृष्टा और दृश्य से रॅगा हुआ चित्त सारे अर्थी वाला होता है । क्याक्या-१ चित्त, गुणों का प्रथम सात्त्विक विषम परिणाम, प्रसवधर्मी (क्रिया-

वाला) परिग्रामी श्रीर श्रचेतन (जड़) है । यह उसका श्रपना प्रहण खरूप है ।

र पहल से प्रतिविश्वित होकर चित्त चेतन अर्थात ज्ञानवाला प्रतीत होता है। यह उसका दृष्टा से उपरक्त हुआ गृहीता खरूप है। इसी से ही चित्त की चेतन और उससे अन्य किसी पुरुष के न होने की भ्रान्ति होती है।

३ बाह्य विषयों से प्रतिविम्बत होकर चित्त उन-जैसा भासने लगना है। यह उसका दृश्य चपरक्त प्राह्म स्वरूप है। इसी से यह भ्रान्ति होती है कि चित्त से श्रतिरिक्त कोई बाह्य

विषय और बाह्य जगत नहीं है।

बास्तव में चित्त, बाह्य जगत् और बस्त्यें, और प्रस्त तीनों अलग-अलग हैं और

श्रपनी श्रलग-श्रलग सत्ता रखते हैं।

चित्त केवल दृश्य (अर्थ) से ही उपरक्त (सम्बद्ध) नहीं होता है किन्तु अपनी यृत्ति (प्रतिविम्ब) द्वारा विषयी पुरुष (प्रतिविम्बित चेतन) भी उसके साथ संबन्ध वाला है। इसी से 'घटमहं जानामि'(मैं घट को जानता हूं) यह जो प्रत्यत्तरूप ज्ञान है वह विषय श्रीर विषयी इन दोनों का उपस्थापक होता है, केवल दृश्य अर्थ का ही उपस्थापक नहीं होता है।

इस प्रकार चित्त अचेतन विषयरूप होते हुए भी चेतन और विषयी के सदश होने से चेतनाचेतन स्वरूप तथा विषय-विषयी अर्थात् दृश्य-द्रष्टा रूप से भासता हुआ स्फटिक मणि

(विह्नौर) के सहश अनेक रूप वाला है ।

जिस प्रकार एक स्फटिक मांखा (बिह्नीर) के पास एक नीला पुरुप श्रीर एक लाल पुष्प रखदें तो वह एक बिछीर ही नीले फल और लाल फुल के प्रतिबिन्य से और तीसरे अपने निज रूप से तीन रूपवाला प्रतीत होता है, इसी प्रकार एक ही चित्त विषय और पुरुष के प्रतिविन्। से और तीसरे अपने रूप से प्राह्म, गृहीता और प्रहुणस्वरूप होकर तीन रूप-वाला हो जाता है अर्थात् अपने रूप से प्रह्णाकार, विषय के प्रतिबन्य से प्राधाकार, और पुरुष के प्रतिबिम्ब से प्राहकाकार होने से चित्रा सर्वार्थ है।

चित्त की इस सर्वार्थता के ही कारण किन्हीं-किन्हीं अभ्यासियों को चित्त का पुरुष के प्रतिविम्ब से भासत हुए उसके गृहीत्राकार स्वरूप को देखकर यह भ्रान्ति उत्पन्न होती है कि विरा के अतिरिक्त अन्य कोई पुरुष (आत्मा) नहीं है तथा उसके दृश्य के प्रतिविम्ब से भासते हुए प्राधाकार खरूप को देखकर किसी-किसी को यह भ्रम होता है कि चित्त से भिन्न कोई बाह्य वस्त नहीं हैं ।%

[#] फुटनोट - जैसा कि कहा गया है- वित्तं प्रवर्तते वित्तं वित्तमेव विमुच्यते । त्रित्तं हि जायते नान्यवित्तमेव निक्थ्यते ॥ संकावतार सूत्र । चित्त की ही प्रवृत्ति होती है और चित्त की ही विमुक्ति होती है। चित्त को छोड़कर दूसरी चस्तु उत्पन्न नहीं होती और न उसका नाश होता है। विश्व ही एकमात्र तस्व है ॥ दश्यं न विश्वते बाढ़ां विश्तं विश्तं हि दश्यते । देहभोगप्रतिष्ठानं विश्व-

उनका यह भ्राम समाधि द्वारा आत्मा के सात्तात्कार से दूर हो सकता है। व्यर्थान् सभाधिकाल में जो सविकल्प प्रज्ञा होती है उस प्रज्ञा में प्रतिविश्वित वर्थ भिन्न है और जिसमें विषय का प्रतिविश्व पड़ता है वह प्रज्ञा भिन्न है तथा प्रतिविश्वित पदार्थ युक्त प्रज्ञा को व्यव-धारण करनेवाला जो पुरुष है वह भिन्न है। विद्य ही सब कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि गृहीता, प्रहृण और प्राष्ट्य सब भिन्न-भिन्नाहीं, एक नहीं हैं।

भोजवृत्ति का भाषानुवाद सूत्र ॥ २३ ॥

इस प्रकार, पुरुष से जाना हुआ जित्त, सब वस्तुओं के प्रहण करने की शक्ति के

कारण, सब व्यवहारों के निर्वाह योग्य होगा, यह कहते हैं:-

द्रष्टा परुप है, उसके साथ चित्त भी चेतन-सा होजाता है और जब दश्य विषयों के साथ सम्बन्ध करता है अर्थात विषयाकार रूपी परिशाम को प्राप्त होता है, तब वही चित्त सब वस्तुओं को प्रहण करने की शक्ति से सम्पन्न होता है। जैसे निर्मल स्फटिक (बिह्नौर) दर्पेण (शोशा) प्रादि ही प्रतिविम्ब को प्रहण करने में समर्थ होता है वैसे रजोगुण और तमोगुण से श्रनाकान्त, शुद्ध चिरा सत्व ही, चेतन प्रतिविम्ब प्रहण करने में समर्थ होता है। रज और तम, दोनों अशुद्ध होने के कारण प्रतिविम्ब प्रहण करने में असमधे हैं। वह वित्त रज श्रीर तम को दबाता हुआ सत्त्व प्रधान बनकर स्थिर दीपक की शिखा (चोटी) के आकार सा चेतन प्रतिविम्य प्रहण करने की शक्ति के कारण सदा एक रूप से परिएत होता हुआ मोत तक रहता है। जैसे चुम्बक के निकट होने पर लोह का चलना प्रकट होता है। ऐसे ही चैतन्य रूप पुरुष के निकट सत्त्व का श्राभिन्धंग्य चैतन्य प्रकट होजाता है। इसीसे इस शास्त्र में दो प्रकार की चित् शक्ति (ज्ञान शक्ति) मानी जाती है। एक नित्योदिता (नित्य उदित द्वितीय अभिन्यंग्य (प्रकाश होने योग्य) । नित्योदिना चेतन शक्ति, पुरुष है. उसीकी निकटता से प्रकाशनीय है चैतन्य जिसका, ऐसा सत्त्व प्रकटित होता है, वही श्राभ-व्यांग्य चिच्छक्ति है। वह अध्यन्त समीप होने से पुरुष का भोग्य है। अर्थात् नित्योदित कृदस्थ चित शक्ति का संस्थादि की समानरूपना को प्राप्त हुई, चित्प्रतिविम्ब रूप चित् शक्ति भाग है। वहीं सत्त्व, शान्त ब्रह्मवादी सांख्यों (योगाचार्यों) से, परमात्मा द्वारा ऋधिष्ठेय अर्थात कर्मानकल सुख दुख का भोका कहा जाता है। तीनों गुणों वाले, सुख दुःखादि रूप,

मात्रं वदाम्यहम् ॥ अर्थात् वाहरी दृष्य जगत् बिल्कुळ विद्यमान नहीं है। वित्त प्रकाकार है। परन्तु वही इस जगत् में विचित्र रूपों से दीख पड़ता है। कभी वह दृष्ट के रूप में और कभी भोग (वस्तुओं के उपभोग) के रूप में प्रतिष्ठित रहता है अतः चित्त ही की वास्तव में सत्ता है। जगत् उसी का परिणाम है। चित्तमात्रं न दृश्योऽस्ति, द्विधा चित्तं हि दृश्यते। प्राह्ममाहकभावेन हाम्थतो-च्छेत्वर्जितम्।। लंकावतार ३। ६५। श्रविभागो हि जुद्ध्यात्मा विपर्यासितद्शेनी: ।माह्ममाहकसंवित्तिभेदवानिव लक्ष्यते।। —स० मि० सं० पू० १२। अर्थात् चित्त ही द्विचित्र रूप से प्रतीयमान होता है—(१) माह्म विपय, (२) प्राह्मक विषयी। आत्त दृष्टिवाच्या स्थित ही अभिक हि स्थात हुत् में माह्म-माहक-महल हुत्त त्रिपुटी की कस्पना कर उसे भेदवती बनाता है।।

(घटादि) जो कि बिना किसी विशेषता के, किसी गुण के प्रधान होने से प्रतिक्ण परिण्त होते रहते हैं, वे कर्मानुसारी (चित् प्रतिविम्य युक्त) शुद्ध सत्त्व में, अपने आकार को समर्पण करने से क्षेय बन जाते हैं। जिसमें चेतन का प्रतिविम्य पहता है जिसका विशिष्ट आकार, विषयों के आकार को प्रहण करने से बनता है और जो वस्तुत: चेतन न होने पर भी चित् प्रतिविम्य के बल से चेतन सा प्रतीत होता है बह पहला चित्त सत्त्व ही, सुख दु:ख ह्रप भोग का अनुभव करता है। वहीं भोग, पुरुष के भी अत्यन्त निकट होने से भेद झान न होने से अभोक्ता पुरुष का भी भोग कहा जाता है। इसी अभिप्राय से, बिन्ध्य-वासी (किसी आचार्य) ने कहा है कि—चित्त सत्त्व का दु:खादि ही पुरुष का दु:खादि हे ओर अन्यप्रभी लिखा है कि "विम्य के रहते हुए, प्रतिविम्यत खाया के सहश छाया का प्रकट होना प्रतिविम्य का सहस्य से कहा जाता है। वैसे ही चित्त सत्त्व में भी पुरुष के प्रतिविम्य के तुल्य चैतन्य का प्रकट होना "प्रतिसंक्षांत" शब्द का अर्थ है, ताल्पये यह है कि— दो प्रकार का भोग है, एक चिद्वसानतारूप और दूसरा परिणाम लच्च्ए, प्रतिविम्यत चिन्छात्त्व परिणु का चिद्वसानतारूप भोग है और प्रतिविम्यत हुआ है चैतन्य जिसमें. ऐसी सुखादि आकार से परिणुत होने वाली बुद्ध (चित्त) का परिणुमलच्च भोग है है

शङ्का यह है कि - जिसका परिएाम नियत अर्थात परिच्छित्र हो ऐसी निर्मल वस्त का, निर्मेल (राद्ध) वस्तु में प्रतिविम्ब पड़ता है; जैसे मुख का शीशे में । परन्त अर्थन निर्मल पुरुष की अपेचा, जो अशुद्ध सत्त्व है उसमें, अत्यंत निर्मल, व्यापक, अपरिशामी (परिणाम ग्रन्य) पुरुष का प्रातिविम्ब कैसे पड़ता है ? उत्तर यह है कि- प्रतिविम्ब के स्वरूप को न जानकर शङ्काकार ने यह कहा है-क्योंकि सत्त्व में प्रकाशनीय चैतन्य शक्ति का, पुरुष की निकटता से प्रकटित होजाना ही प्रतिविम्ब है, और पुरुष में जैसी चेतन शक्ति है उसीकी छाया भी इसमें प्रकट होती है। यह कहना कि श्रास्यन्त निमेल पुरुष, श्राह्य सन्व में फैसे प्रतिविन्वित होता है, यह भी व्यभिचरित है अर्थात् अत्यन्त शुद्ध वस्तु का भी अपने से श्रशुद्ध वस्तु में प्रतिविम्ब पड़ता है। जैसे निमेलता से निकृष्ट जलादि में, श्रत्यन्त निमेल सर्यादि प्रतिविम्बत हुए माळम होते हैं। यह कहना कि-व्यापक का प्रतिविम्ब नहीं होता. यह भी ठीक नहीं, क्योंकि व्यापक आकाश का शांश में प्रतिविम्ब माल्यम होता है। ऐसे प्रतिविम्ब मानने में कोई दोष नहीं। द्वितीय शङ्का यह है कि सत्त्वगुण के परिणाम रूप बुद्धि सत्त्व (अन्त:करण) में पुरुष की निकटता से प्रकाशित चित् शक्ति का जो बाह्य वस्तक्षों के सम्बंध होने पर भोग है, वही पुरुष का भोग है, यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यदि प्रकृति परिगाम रहित है तो चित्त सत्त्व कैसे होसकता है ? श्रीर यदि अकृति में परिगाम होता है तो वह परिणाम उसका क्यों होता है ? यह कहना कि पुरुषार्थ कर्तव्यता को अर्थात पुरुष को सख द:खादि देने के लिये प्रकृति का परिएाम होता है, ठीक नहीं, क्यांकि 'पुरुषार्थ सम्भे करना चाहिए" इस प्रकार की इच्छा को "पुरुषार्थ कतेव्यता" कहने हैं। प्रकृति जड़ है। उसमें ऐसी इच्छा पहले कहाँ से आई ? यदि वैसी इच्छा है तो प्रकृति को जड क्यों कहा जाता है (हत्तर) प्रकृति में अनुलोम और प्रतिलोम, दो प्रकार के खाभाविक परिग्राम होते

सित्र रेश

हैं, वे ही परिणाम "पुरुषार्थ वर्तव्यता" कहलाते हैं। वह परिणाम रूप शक्ति, जब प्रकृति में भी खाभाविक है। इस प्रकृति का बहिर्मुख रूप से महत् आदि से लेके, पश्चमहाभूतपर्यन्त अनुलोम परिणाम होता है, फिर अपने-अपने कारण में प्रवेश द्वारा (अर्थात पृथ्वी का जल में, जल का तेज में, तेज का वाय में वाय का आकाश में इत्यादि रूप से) अस्मिता तक प्रति-लोम परिस्माम होता है। इस तरह जब परुष के भोगों की समाप्ति होजाने से प्रकृति की स्वाभाविक उक्त दोनों शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब मुक्त पुरुष के प्रति प्रकृति कृतार्थ हुई (अपने काम को समाप्त करने वाली) (उस मुक्त पुरुष के लिये) फिर परिगाम को नहीं श्रारम्भ करती । जड प्रकृति को ऐसी पुरुषार्थ कर्तव्यता मानने से कोई दोष नहीं । (शङ्का) यदि ऐसी स्वाभाविक शक्ति प्रकृति में है तो मुमुक्ष पुरुष मोच के लिये क्यों प्रयत्न करता है ? यदि मोत्त इष्ट न हो तो मोत्त का उपदेशक शास्त्र व्यथे ही होजाय । अर्थात जब इच्छादि प्रकृति में ही है तो मुक्ति और बन्धन प्रकृति के ही आधीन हुए, फिर पुरुष क्यों यतन करता है ? (उत्तर) प्रकृति और पुरुष का भोग्य भोक्ता होना संबंध अनादि से है. उसके रहते हुए प्रकटित हुआ है चैतन्य जिसमें ऐसी प्रकृति को 'कर्तृत्वाभिमान' भें करता हूँ" इस प्रकार का श्रमिमान होता है, उस श्रमिमान से दुःख का श्रनुभव हाता है, दुःख के श्रनुभव होने से (पुरुप) यह चाहता है कि मुक्ते यह अत्यन्त दु:खनिवृत्ति कैसे हो ? तो दु:खनि-वृत्ति के उपाय के उपदेशक शास्त्र की अपेता, प्रकृति का होती है। द:स्व निवृत्ति का इच्छा कर्माधिकारी अन्त:करण, शास्त्रोपदेश का विषय है। अन्य दर्शनों में भी इस प्रकार का ही श्रविवेकी शास्त्र में श्रधिकारी है। वहीं श्रधिकारी मोच के लिये यत्न करता हुआ, ऐसे शास्त्रीपदेश रूपी कारण की अपेचा से, मोचरूप फल को प्राप्त होता है। सब कार्य अपनी सामग्री को प्राप्त होने पर ही स्वरूप को लाभ करते हैं। प्रकृति के प्रतिलोम परिग्णाम द्वारा उत्पन्न मांचरूप कार्य की ऐसी ही सामग्री शास्त्रादि श्रमाणों से निश्चित है। द्वितीय प्रकार से उपनादान नहीं होसकता, तो शास्त्रोपदिष्ट यम, नियम विवेक-ज्ञानांवि रूप सामग्री के बिना मोच कैसे हांसकता है ? इससे सिद्ध हुआ कि विषयों के आकार का प्रहण करनेवाला और प्रकट हन्ना है चैतन्यप्रतिविन्य जिसमें ऐसा अन्त:करण, विषयों का निश्चय करके सब व्यव-हारों का चलाता है। इस प्रकार के कथन से ऐसे ही चित्त को मानते हुए और जगत स्वसं-वेदन (चत्त मात्र है (स्वेन खरूपेण संवेदनं प्रकाशो यस्य तच्च तच्चित्त तदेव) अथात अपने स्वरूप से ही प्रकाश है जिसका ऐसा केवल चित्त ही जगत है, इस प्रकार कहने वाले लाग समभायं जातं हैं (क्योंकि चित्त से भिन्न ज्ञाता, ज्ञंयादि भी हैं)।"

विशोष वक्तव्य — सूत्र २२ ॥ वातिककारादि ने इस सूत्र पर और इससे पूर्व सूत्र पर जो भाष्य लिखा है उसका ताराये निम्न प्रकार है —

भोक्ता पुरुष परिगामसून्य है इससे उसमें कहीं आना जाना नहीं होता, किन्तु बुद्धि-वृत्ति में वह प्रतिविन्त्रित-सा होता है इसलिये बुद्धिवृत्ति को चेतनतुन्य बना देता है। अन्यक्षा, 'घटमहं जानामि' 'मैं घट को जानता हूँ' यह बुद्धिवृत्ति चेतन भावार्थ नहीं हो सकती, क्योंकि श्रष्टं पद का अर्थ केवल जह बुद्धि नहीं है। जैसे बुद्धि (अन्त:करग्र) इन्द्रिक्सिट्ट द्वारा अर्थों के सिन्नकर्ष से अर्थों (घटादिकों) के आकार में परिएत होकर अर्थाकार होती है, वैसे ही पुरुष के।अत्यन्त सिश्निक्ष भोग्य-भोक्तत्व रूप सम्बन्ध से उसके प्रतिविम्ब को शहरा करके आत्माकार बन जाती है। परिणाम बुद्धि में ही होता है, वह बहिर्मुख होकर विषयाकार होती है (विषयाकार होने ही से, मन की खप्नावस्था में तत्तदाकार से वृत्तियाँ होती रहती हैं। श्रीर अन्तर्भख होकर आत्माकार प्रतिविम्ब को प्रहण करना ही उसकी आत्मा-कारता है। वस्तत: प्रतिविम्ब के न होने पर भी, बुद्धि का खात्माकार हो जाना ही प्रतिविम्ब है । अपने (इस प्रकार) प्रतिविम्य द्वारा ही चेतन भोक्ता कहलाता है। अर्थात् कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व, य सब बुद्धिवृत्ति में वास्तविक हैं श्रीर पुरुष में श्रारोपित हैं। तात्पर्य यह कि बद्धिशत्ति तत्तदाकार से परिणत हुई अपने खरूप को पुरुष के लिए समर्पण करती है, इससे पुरुष में कर्तृत्व, भोक्तृत्व सममा जाता है। श्रीर श्रात्मा भी प्रतिविम्ब द्वारा श्रपने रूप को बुद्धि के अपेरा करता है, इससे बुद्धि चेतन सममी जाती है। आत्माकार सा बुद्धिवृत्ति का हा जाना प्रतिबिम्ब के तुरूय होने से प्रतिविम्ब कहलाता है। केवल वृत्तियों का बोध भी क्रोधादि वृत्तियों के तुल्य है, वह 'जानामि' मैं जानता हूँ इस वृत्ति का विषय होता है। इस मत्र में चित्त को 'सर्वार्थ' कहा है। इस शब्द का अर्थ यह है कि चित्त प्राह्म, प्रहिता इन सब को प्रहण करता है। 'अयं घटः' 'यह घट है' इस व्यवसायात्मक ज्ञान के अनन्तर खटमहं जानामिं 'मैं घट को जानता हूँ' इस प्रकार का जो श्रनुव्यवसायात्मक ज्ञान श्रोता है वह भी पूर्व ज्ञान के तुल्य साविभास्य है, इसलिए सर्वार्थ कहना ठीक है। इस उत्तर-ज्ञान में 'क्लेय, झाता, झान' तीनों समान होते हैं। 'द्रष्ट्रहरयोपरक्तम्' ऋथीत् पुरुष श्रीर विषय, दोनों के बाकारवाला चित्त होता है। पुरुष और बुद्धि की अत्यन्त समीपता है, इससे शब्दाद्याका-रादिवत पुरुषाकार बुद्धिवृत्ति होकर पुरुष में प्रतिविन्यित होती है, उस बुद्धिवृत्ति का प्रकाश होना ही पुरुष में शब्दादि का ज्ञान श्रीर पुरुष का ज्ञान कहलाता है। इससे पुरुष-ज्ञान के लिए प्रवान्तर वा झानान्तर की अपेचा नहीं और न कर्मकर्त विरोध है अर्थात् 'अहं जानामि' 'में जानता हूँ' इत्यादि प्रतीतियों का आश्रय होने से कत्ती, श्रीर उक्त प्रतीतियों का विषय होने से आत्मा कर्म होता है। पर आत्मा के विरुद्ध कर्मकर्तृत्व कैसे रह सकते हैं इस प्रकार का विरोध नहीं है। क्योंकि अन्त:करण को द्वार माना जाता है। जैसे स्फटिक मणि होनों तरफ भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं के और अपने खरूप के साथ तीनों रूपवाला सा प्रतीत होता है वैसे ही चित्त की दशा है (यहाँ स्फटिक का दृष्टान्त, सर्वोश में नहीं है क्योंकि इसमें प्रतिविन्त्र मात्र पड़ता है श्रीर चित्त तदाकार से परिएत भी होता है। इससे उस-उस बस्त के साथ मेल होने से वैसा-वैसा प्रतीत होने मात्र में हुशन्त है।)

सब वस्तुओं को भ्रममात्र से किल्पत मानना भी ठीक नहीं। सीप में जो चाँदी का अथवा रज्जु में जो सर्प का झान होता है वह सारूप्य दोष से है, इससे अविद्या की सर्वत्र कल्पना करना अयुक्त है। भ्रम-श्रलों में विषय का आकार चित्ता में रहता है, विषय सत्य ही है।

जिन सांख्य योगी वेदान्तियों ने विवेक द्वारा गृहीता, प्रह्म और प्राद्य; इन तीनों को परस्पर विजातीय रूप से प्रथक् प्रथक् जान लिया है वही सम्यन्दर्शी हैं, उन्होंने ही पुरुष के

हेर

स्वरूप को जान लिया है। अन्य जो अविवेकी हैं ने सब आन्ति में हैं। उनकी उपैक्षा न करनी चाडिय, किन्स क्रपा करके उनको बोधन कराना चाहिये।

संगति — शङ्का -जब चित्त से सब व्यवहार चल रहे हैं और उसी में सब वासनायें रहती हैं तो द्रष्टा प्रमाणशून्य होकर चित्त ही भोका सिद्ध होता है। समाधान —

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रपपि परार्थे संइत्यकारित्वातु ॥ २४ ॥

शब्दार्थ — तत् = वह = चिरा । असंख्येय वासनाभिः चित्रम-अपि = अनिगनत वास-नाकों से चित्रित हुआ भी । पर-अर्थम् = दूसरे के लिये है । संहत्य-कारित्वात् = संहत्यकारी होने से ।

. अभ्ययार्थ—चित्त अनिगनत वासनाओं से चित्रित हुआ भी परार्थ है क्योंकि वह संहत्यकारी है।

ब्याच्या—जो वस्तु कई चीजों से मिलकर काम की बनती है वह संहत्यकारी कहलाती है; जैसे मकान, शय्या आदि । संहत्यकारी वस्तु अपने लिये नहीं होती, व्यांकिसी दूसरे के लिये होती है, जैसे मकान शय्या आदि अपने लिये नहीं है विलेक किसी दूसरे के हिन और आराम के लिये हैं। इसी प्रकार चित्त भी सस्त, रजस और तमस गुणों के अन्न अन्नी भाव के मेल से सस्त प्रधान बना है इसलिये वह भी संहत्यकारी है और किसी दूसरे के लिये होना चाहिये सो पुरुष के ही भोग अपवागे के लिये इसकी प्रवृत्ति होती है।

यशिप यह ठीक है कि अनन्त वासनाओं से चित्रित होने के कारण चित्त ही को भोक्ता मानना चाहिए, क्योंकि जो वासना का आश्रय होता है वही भोग का आश्रय होने से भोका बन सकता है, अन्य नहीं। तथापि जब संहत्यकारी होने से वह चित्त खार्थ नहीं किन्तु परार्थ ही है अर्थान् पुरुष के ही भोग अपवर्ग सन्पादन अर्थ जानना चाहिए। इसलिए सुखाकार जो चित्त है, वह चित्त के भोगार्थ नहीं है और तत्त्वज्ञानाकार जो चित्त है, वह भी चित्त के अपवर्गार्थ नहीं, किन्तु यह दोनों प्रकार का चित्त परार्थ है और वह जो इस भोग और अपवर्ग अर्थ से अर्थवाला है, वही असंहत केवल पुरुष है।

भोजदृषि का भाषानुबाद ॥ २४ ॥

यदि उक्त प्रकार के चित्त से ही सब व्यवहार चलते हैं, तो प्रमाण्रहित द्रष्टा क्यों माना जाता है ? इस शङ्का को करके द्रष्टा में प्रमाण देते हैं—

वह चित्त ही व्यसंख्यात वासनाओं से नाना प्रकार का हुआ व्यपने हुआमी के लिए हैं व्ययीत् भोक्ता जीव के भोग और मोक्सपी प्रयोजन को सिद्ध करता है क्योंकि मिलकर काम करनेवाला है। जो-जो मिलकर काम करते हैं वे व्यन्य के लिये होते हैं। जैसे शप्या, बासनादि (मिले हुए किसी पुरुष के लिये होते हैं)। सस्व, रज, तम ये तीनों चित्तरूप स्व परिग्रात होने वाले मिलकर कार्य करते हैं, इससे पर के लिये हैं। जो इनसे पर (भिन्न) है नह पुरुष है। (शहा)—शय्या, आसनादि के दृष्टान्त से तो शरीरवाला है 'पर' सिद्ध होता है और तुमको तो केयल चिन्मात्र पुरुष इष्ट है, दृष्टान्त कससे विपरीत्त की सिद्धि करता है, तो 'संहत्यकारित्वात्' यह हेतु तुम्हारा इष्ट्रसाधक नहीं। (क्या)—यह ठीक है कि सामान्य रूप से केवल परविषयिणी व्याप्ति (जो-जो मिलकर कार्य करता है वह-वह परार्थ है, इस प्रकार की) गृहीत होती है। परन्तु सस्वादि गुण् तो मिलकर कार्य करनेवाले ही है, इनसे विलच्चण कोई अन्य धर्मी होना चाहिये, ऐसा विचार करने पर सस्वादि गुण् तो सिलकर कार्य करनेवाले ही है, इनसे विलच्चण कोई अन्य धर्मी होना चाहिये, ऐसा विचार करने पर सस्वादि गुण् तो से विलच्चण क्रां के विन्यात्र रूप पर्वत में, विलच्चण धूम से, पर्वत की लकड़ियों से वत्पन्न अन्य वन्हियों से विलच्चण प्रकार का ही वन्हि (अग्नि) अनुमित होता है। वैसे यहाँ भी भोग्य सक्त गुण से, परार्थता का अनुमान करने पर उससे विलच्चण ही भोक्ता, खामी, चेतनरूप, असंहत (किसी से नहीं मिला हुआ) सिद्ध होता है। यदि उस पर (पुरुष) में परत्वधर्म, सर्वोक्त ग्रह स्वादि शहा अनुमान विषयों से शरीर उत्तम है, क्योंकि यह प्रकाशकप इन्द्रियों का आश्रय है। उस शरीर से भी उत्तम, चिरासत्व है। उस चिन्न का भी जो प्रकाशक है, जिसका कोई अन्य प्रकाशक नहीं, वह चेतनरूप ही है, उसमें मेल कहाँ से हो सकता है।

संगति—यहाँ तक चित्त और पुरुष का भेद युक्ति द्वारा बतलाया गया, पर चाल्मा कैसा है, क्या है ? यह युक्ति से नहीं जाना जासकता। क्योंकि यह अनुभव का विषय है; इसका वास्तविक खरूप समाधि द्वारा जाना जासकता है। इसको अगले सूत्र में बतलाते हैं।

विशेषदर्शिनः आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥२५॥

शब्दार्थ—विशेष-दिशंतः=(विवेकख्याति द्वारा पुरुष और चित्र में) भेद के देखने वाले की। आत्म-भाव-भावना = आत्म भाव की भावना। विनिवृत्तिः = निवृत्त हो जाती है।

अम्बयार्थ-विवेक ल्याति द्वारा पुरुष श्रीर चित्ता में भेद के देखने वाले की श्रात्म-

भाव की भावना निवृत्त हो जाती है।

ज्याख्या—आत्मभावभावना = आत्मभाव की चिन्ता कि मैं कौन हूँ, कैसा हूँ, क्या था, जागे क्या होऊँगा, इत्यादि ।

विशेष-दर्शिन:= पुरुष और चित्त के भेद को विवेकख्याति द्वारा साचात् करने

वाला विवेक इतानी।

बिनेकख्याति द्वारा जब योगी को पुरुष और विश्व का भेद साचान् हो जाता है बब उसकी आत्मभावना कि मैं कौन हूँ, क्या हूँ, इत्यादि निष्टुत्त हो जाती है, वह विश्व ही में सारे परियामों को देखता है और उसके धर्मों से भिन्न अपने को अपरियामी ज्ञानखरूप अनुभव करने लगता है।

जिस पुरुष के चित्त में यह भावना होती है वही चात्मज्ञान के उपवेश का अधिकारी है और वही योगाभ्यास द्वारा विवेक-ज्ञान का सम्पादन करता है। उसी विवेक ज्ञान से यह आत्मभाव-भावना निष्टुच होती है। जिसको यह आत्मभाव-भावना ही नहीं उसको न तो इस आत्मझान के उपदेश का अधिकार ही है न उसको विवेक झान ही उत्पन्न होता है और न आत्मभाव-भावना की निवृत्ति होती है।

किसके चित्त में यह भावना उदय हुई है और किसके चित्त में नहीं उदय हुई है इसका भाष्यकार इस अनुमान से जान लेना बतलाते हैं कि जैसे वर्षा ऋतु में रूखों के अङ्कुरों का प्रादुर्भीव देखकर उन रूखों के बीजों की सत्ता का अनुमान किया जाता है वैसे ही जिस पुरुष को मोन्नमार्ग श्रवख से रोमाब्ब, हषे और अश्रुपात होवे उस पुरुष ने विवेक-झान के बीजभूत तथा अपवर्ग के साधन जो यम, नियम आदि कर्म हैं उनका पूर्व जन्म में अनुष्ठान करित्या है और इसके चित्त में आत्मभाव-भावना का उदय भी है। जिन पुरुषों की पूर्व जन्म में छाभ कर्मों के अनुष्ठान के अभाव से केवल पूर्व पन्न में ही रुचि हो और सिद्धान्त में अरुचि हो उनके चित्ता में अनुमान से आत्मभाव-भावना का अनुदय जान लेना।

संगति — विशेष-दर्शन के उदय होने पर विशेष-दर्शी का चित्त कैसा होता है ? इसको बतलाते हैं:—

तदा चिवेकनिम्नं कैवन्यमारभारं चिचम् ॥ २६ ॥

शध्यार्थ-तदा = तब (विशेषदरीत के उदय होने पर) विवेक-तिम्तम् = विवेक की खोऱ् तिम्न खर्थात् मुका हुआ = विवेकमार्ग सभ्बारी । कैवल्य-प्राग्भारम् = कैवल्य की प्राग्भार बाला खर्थात् कैवल्य के ऋभिमुख । चित्तम् = विशेषदर्शी का चित्त होता है ।

अन्वयार्थ — विशेषतर्शन के उदय होने पर विशेषदर्शी का चित्त विवेक-मार्ग-सश्वारी होकर कैवस्य के अभिमुख होता है।

व्याख्या—ितन्त-जल के प्रवाह के सञ्चार योग्य जो ढलवान अर्थात् मुका हुआ प्रदेश है वह निम्न कहलाता है।

प्राग्मार—ऐसी उठी हुई भूमि अर्थात् ऊँचे प्रदेश को जहाँ जलका प्रवाह रुकजाता है प्राग्मार कहते हैं।

यहाँ चित्त की उपमा बहते हुए जल से दी गई है, जिस प्रकार पानी नीचे की ओर बहता है इसी प्रकार योगी का चित्त जो पहले ऋषिवेक के मार्ग में बहता हुआ विषयों की ओर जा रहा था, विशेषदर्शन से वह मार्ग बन्द हो जाता है और चित्त का प्रवाह आत्मानात्म रूप विवेक-ज्ञान के मार्ग की ओर निन्न होकर कैवल्य प्राग्मार के अभिमुख हो जाता है। अर्थान् चित्र ऋषान के कारण जो संसारी विषयों में लगा हुआ था, विशेषदर्शन द्वारा विवेक्ज्ञान होने पर उसकी प्रवृत्ति कैवल्य की ओर हो जाती है इसी प्रकार की उपमा (१।१२) में दी गई है।

सगति—विवेक शवाही विशा में भी बीच बीच में कभी कभी व्युत्थान की वृत्तियाँ क्यों बराज़ होती हैं ? इसको बताते हैं—

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥

श्रष्यार्थ—तत् = उस (विवैक-क्कान के) छिद्रेषु = छिद्रों में = बीच-बीच में = श्रन्धगल में । प्रत्यय-श्रन्तराणि = दूसरी (ज्युत्थान की) वृत्तियाँ। संस्कारेम्यः = (पूर्वके ज्युत्थान के) संस्कारों से होती हैं।

अन्वयार्थ- इस विवेक-क्वान के बीच-बीच में अन्य न्युत्थान की वृत्तियाँ (भी) (पूर्वके न्युत्थान के) संस्कारों से उदय होती रहती हैं।

ब्याख्या — खिद्र = विवेकक्कान के बीच में कभी-कभी होनेवाला विवेक-स्रभावरूप स्रवकाश, अन्तराज-स्थवा स्रवसर।

जबतक चित्त में पुरुष और चित्त की भिन्नता का ब्रान प्रवलता से रहता है तथतक उसकी प्रवृत्ति कैनस्य की आर रहती है, पर जन-जन इस विवेकज्ञान में शिथितता आने लगती है, तब-तन व्युख्यान के संस्कार अर्थात् व्युख्यान की मम्ता और अहमता की वृत्तियाँ पह मेरा है भी सुखी हूँ भी दुःखी हूँ स्त्यादि उत्पन्न हो जाती हैं। यह प्रत्ययान्तराणि अर्थात् समाधि की वृत्तियों से भिन्न व्युख्यान की वृत्तियाँ इसलिये बीचमें उत्पन्न होती हैं कि विवेकख्याति (विशेषदर्शन) अभी अत्यन्त परिपक्त नहीं हुई है और अनादि काल से प्रवृत्त व्युख्यान के संस्कार अभी किष्वत् बलवान हैं।

संगति- उनके त्याग का उपाय बताते हैं:-

हानमेषां क्लेशवदुक्तम् ॥ २८ ॥

द्माय्यार्थ — हानम् = निवृत्ति । एषाम् = उनकी (व्युत्थान के संस्कारों की) क्लेशवत् = क्लेशों की सरह । उक्तम् = कही गई है ।

अन्ययार्थ-उन (ब्युत्थान के संस्कारों) की निवृत्ति क्लेशों की िवृत्ति के तुल्य कही

गई जानना चाहिये।

ज्याख्या—जैसे दूसरे पाद के दस व ग्यारहवें सूत्रों में क्लेशों का नाश बतलाया है वैसे ही ज्युत्थान के संस्कारों का भी नाश जान लेना चाहिए खर्थात् जिस प्रकार प्रसंख्यान रूप आन्ति से क्लेश दग्य-बीज भाव को प्राप्त होकर खपने खंकुर उत्पादन में असमर्थ हो जाते हैं वैसे ही विवेक खभ्यास रूप प्रसंख्यान खान से पूर्वले जन्मों के ज्युत्थान के संस्कार भी दग्यबीज होकर ज्युत्थान की वृत्तियों को नहीं उत्पन्न करते । खपरिपक्व विवेकनिष्ठ चित्त में ही ज्युत्थान के संस्कारों का प्राप्त भी दग्यबीज होता है, परिपक्व झाननिष्ठ चित्त में नहीं होता। इसिलाए पहले विवेकझान के खभ्यास से विवेकझान के संस्कारों का सम्पादन करके ज्युत्थान के संस्कारों का तिरोध करना चाहिये। किर निरोध संस्कारों के विवेक के संस्कारों का ज्य करना चाहिये। विवेक-झान में ही खपने को कृतकृत्य न समक्त लेना चाहिय।

संगति - ज्युत्थान के निरोध का छपाय विवेक-अभ्यास रूप प्रसंख्यान बतला कर

अब प्रसंख्यान के निरोध का उपाय कहते हुए जीवनमुक्ति की परमकाशा रूप धर्ममेच समाधि का स्वरूप कहते हैं :--

प्रसंख्यानेऽप्यक्कसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्मेमेघः समाधिः॥ २६ ॥

शब्दार्थ - प्रसंख्याने-ऋषि-ऋकुसीदस्य = प्रसंख्यान ज्ञान में भी विरक्त है जो थोगी. उसको । सर्वथा-विवेक-स्याते: = निरन्तर विवेक-स्याति के उदय होने से । धर्म-मेघ:-समाधि: ■ धर्ममेघ समाधि होती है।

अन्वयार्थ - जो योगी प्रसंख्यान ज्ञान से भी विरक्त है उसको निरन्तर विवेक-ख्याति

के उदय होने से धर्ममेघ समाधि होती है।

ब्याख्या—प्रसंख्यान - जितने तत्त्व परस्पर विलक्षण स्वरूप वाले हैं, उनका यथा-क्रम विचार करना प्रसंख्यान कहलाता है। (भोजवृत्ति) इसी को विवेक ज्ञान भी कहते हैं।

धमें मेच: = श्रवि उत्तम पुरुष पाप से रहित परम पुरुषार्थ के साधक धर्म की जो वर्षा

करता है वह धर्ममेघ कहलाता है। (भोजवृत्ति)

श्रकुसीद - ऋए देकर मास-मास में धन की वृद्धि करना अर्थात सुद (ब्याज) लेने को कसीद कहते हैं। यहाँ जो योगी प्रसंख्यान की लिप्सा वाला है उसके लिए कसीद और जो फल की इच्छा से विरक्त है उसके लिए त्र्यक्सीद शब्द का प्रयोग हन्ना है।

जब ब्रह्मित्र योगी पर वैराग्य द्वारा प्रसंख्यान अर्थात् विवेक-ज्ञान से भी किसी फल (सर्वज्ञत्वादि जिनको ३।४९ में बतला आये हैं) की इच्छा नहीं रखता तो उसके विरक्त हो . जाने पर इस पर वैराग्यशील योगी की सर्वथा विवेक-ख्याति उदय होती है, ऋर्थात् निरन्तर विवेक ज्ञान का प्रशह बहुने लगता है। इससे ब्यूत्थान के संस्काों के बीज नितान्त भस्म हो जाते हैं। इस कारण व्युत्थान की वृत्तियाँ वीच-बीच में उत्पन्न नहीं होतीं। ज्ञान की इस परिपका अवस्था को धर्ममें समाधि कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि की सबसे ऊंची अवस्था विवेक-ख्याति (प्रसंख्यान) है । विवेक-ख्याति की परिपक्व श्रवस्था धर्ममेघ समाधि है। इसकी पराकाष्ट्रा ज्ञानप्रसाद-नामी पर-वैराग्य है। जिसका फल श्रसम्प्रज्ञात श्रथीत निर्वीज समाधि है।

संगति-धर्ममेघ समाधि का फल क्लेशकर्म की निवृत्ति बताते हैं :-

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ-तत: = उस (धर्ममेघ समाधि) से । क्लेश-कर्म-निवृत्ति: = क्लेश और कमीं की निश्चित्त हाती है।

अन्वयार्थ - उस धर्ममेध समाधि से क्लेश श्रीर कर्मों की निवृत्ति होती है।

व्याख्या उस भमेमेच समाधि की प्राप्ति पर श्रविद्या श्रादि पाँचों क्लेश श्रीर शृक्त. कृष्ण तथा मिश्रित तीनों प्रकार के कमें (सकाम कमें) और उनकी वासनायें मूलसहित नाश हो जाती हैं। इस प्रकार क्लेश और कमों के अभाव में योगी जीवन्मुक्त होकर विच-रता है और शरीर त्यागने के पश्चात् विदेह मुक्त पद को प्राप्त होता है अर्थात् पुनः जन्म धारण

नहीं करता जैसा कि भाष्यकार लिखते हैं "कस्मात् यस्माद्विपर्ययो भवस्य कारण्म, निह ज्ञीण् हेशिवपर्ययः कश्चित् केन चित्कचिजातो दृश्यत इति।" क्योंकि विषयेय ज्ञान व्यर्थात् श्वविद्या ही संसार का कारण् है। इसलिये जिसके व्यविद्यादि हेश नष्ट हो गये हैं ऐसा पुरुप कोई भी किसी कारण् से भी, कहीं भी उत्पन्न हुव्या नहीं देखा जाता। महर्षि गौतम ने भी न्याय दर्शन में ऐसा ही कहा है। "वीतरागजन्मादर्शनात्" (३।१।२५) जिसके राग बीत गये हैं ऐसे पुरुष का संसार में जन्म न देखे जान से।

संगति - क्लेशकर्म की निवृत्ति पर क्या होता है ?

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याङ्ग्रेयमरूपम् ॥ ३१ ॥

द्यार्थ—तदा = तव क्लेशकमे की निष्टित्त पर । सर्वे-श्रावरण-मल-श्रपेतस्य = सारे श्रावरण् मल से श्रलग हुए । ज्ञानस्य = ज्ञान के = चित्त के प्रकाश के । श्रानन्त्यात् = श्रनन्त होने से । ज्ञेयम् = जानने योग्य वस्तु । श्रल्पम् = थोड़ी रह जाती है ।

अन्वयार्थ-तब सब क्लेशकमों के चय-काल में सर्व श्रावरणरूप मलों से रहित

होकर चित्तारूप प्रकाश के श्रानन्त होने से ज्ञेय पदार्थ श्राल्प हो जाता है।

व्याख्या—िचित्त सत्त्वप्रधान सूर्य के सहरा प्रकाशशील है। जिस प्रकार शरद् ऋतु में मेच सूर्य के प्रकाश को ढक देते हैं, उसी प्रकार रजस्तमस्मूलक श्रविद्या श्रादि क्लेश श्रीर सकाम कमे की वासनायें चित्त के प्रकाश पर श्रावरण डाले हुए रहने हैं। बादलों के हृदने पर जब सूर्य का प्रकाश नारों दिशाश्रों में फैलता है तो सारी वस्तुयें स्पष्ट दीखने लगती हैं, ये सारी वस्तुयें उसके सर्वत्र फैले हुए प्रकाश की श्रपेना श्राति न्यून परिच्छित्र हैं, इसी प्रकार धर्ममेच समाधि द्वारा जब रज-तम-मूलक क्लेश श्रीर कमें वासनाश्रों के मल का पदी चित्त से हट जाता है तो उसके श्रपरिमित ज्ञान के सर्वत्र फैले हुए प्रकाश में कोई वस्तु छिपी नहीं रहती। उसका प्रकाश इतना बढ़ जाता है कि जानने योग्य कोई वस्तु श्रज्ञात नहीं रह सकती। विषय बहुत न्यून, परिच्छित्र श्रीर ज्ञान का प्रकाश श्रनन्त श्रपरिच्छित्र हो जाता है। ज्ञेय सांसारिक वस्तुयें उसकी दृष्टि में श्रन्य श्रथांत् तुच्छ हो जाते हैं, जैसे प्रकाश में ज्ञुगन्त श्री व्यासजी महाराज उसके विषय में निम्त दृष्टान्त देते हैं:—

धन्धो मणिमविध्यत्तपनंगुलिरावयत् ।

अग्रीवस्तं प्रत्यभ्रंचत्तपिज्ञह्वोऽभ्यपूजयत् ॥ इति ।

अर्थ—अन्धे ने मिण्यों को बींधा, बिना ॐगुली वाले ने उसमे धागा पिरोया, प्रीवा-रहित के गले में वह डाली गई और जिह्नारहित ने उसकी प्रशंसा की।

अर्थात् जैसे यह वाक्य आश्चरेरूप जान पड़ता है, ऐसे ही आश्चर्यरूप दशा योगी की

इस काल में होती है।

संगति—धर्ममेष समाधि से क्लेशकर्मों की निवृत्ति हो जाने पर भी गुण जो खतः ही परिणाम स्वभाव वाले हैं, विद्यमान रहते हुए उस पुरुष के लिये शरीर और इन्द्रियों को क्यों नहीं ब्रयन्न करते ? इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं :—

ततः कुतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्श्वणानाम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ — नतः = तत्र । ऋतार्थानाम् = ऋतार्थ हुए । गुणानाम् = गुणों के । परिणाम-क्रम = परिणाम के क्रम की । समाप्तिः = समाप्ति हो जाती है ।

अन्वयार्थ-तब कृतार्थ हुए गुणों के परिणाम के क्रम की समाप्ति हो जाती है।

व्याख्या—गुर्णों की प्रवृत्ति पुरुष के भोग-खपवर्ग के लिये है। जबतक पुरुष के यह दोनों प्रयोजन सिद्ध नहीं हो लेते तबतक वे इसके लिये श्रपने परिणाम के क्रम (दारीर, इन्टिय आदि के खारम्भ) को जारी रखते हैं।

धर्ममेघ समाधि से क्लेश और कर्मों की निवृत्ति होती है उसके फलस्वरूप रजस्तिम्स गुर्गों का व्यावरण इटने से ज्ञान व्यानन्त (व्यपिरिमत) और क्षेत्र व्यावरण इटने से ज्ञान व्यानन्त (व्यपिरिमत) और क्षेत्र व्यावरण होने से व्यावरण होने से पर-वैराग्यरूप है। उस उरक्ष्म वैराग्य के बाद गुर्गों का जो व्यानुलोमतया (सीधे) सृष्टि उन्मुख और प्रतिलोमतया (चल्टे) प्रलय उन्मुख प्रधान-व्यप्रधान भाव से स्थितिरूप परिणाम है उसके क्रम की उस प्रस्तु के प्रति समाप्ति हो जाती है। उस पुरुष के लिये फिर गुर्ग प्रवृत्त नहीं होते।

भाव यह है कि धर्ममंघ समाधि के पश्चात् जब पुरुष के भोग और श्रपवर्ग प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं, तो इन गुर्णों का उस पुरुष के लियं कोई कार्य शेष नहीं रहता। इस कारण उसकी श्रोर से कृतार्थ श्रर्थात् कर्त्तव्य पूरा करके श्रपना परिणाम-क्रम समाप्त कर देते हैं और उसरे पुरुषों के इसी प्रयोजन को सिद्ध करने में लगे रहते हैं (२।२२)।

संगति -क्रम का स्वरूप बताते हैं :--

चलपतियोगी परिणामापरान्तनिर्माषः क्रमः ॥ ३३ ॥

द्राव्दार्थ—चर्ण-प्रतियोगी = चर्णों की सम्बन्धी = प्रतिचर्ण होनेवाली । परिणाम-द्यपरान्त-तिर्पाद्यः = परिणाम की समाप्ति पर प्रहर्ण करने योग्य (जो गुर्णों की स्रवस्था विशेष है वह)। क्रमः = क्रम कही जाती है ।

अन्वयार्थ—प्रतिज्ञ होनेवाली परिग्णम की समाप्ति पर जानी जाने वाली (गुर्गों को অवस्थाविरोप का नाम) कम है ।

ज्याख्या - चणों की निरन्तर (परम्परा के) घारा के आश्रित जो परिणामों की निरन्तर परम्परा है, उसको परिणाम कम कहते हैं अथोत् चए-चण में जो शत्यक वस्तु में परिणाम होता रहता है उसको कम कहते हैं। परिणाम इतना स्कूम होता है कि महण नहीं हो सकता। वह होते-होते अन्त में स्थूलरूप होने पर दिखलाई देने लगता है। जैसे वस्त्र कितना ही सुरचित क्यों न रखा जाय, एक समय पर इतना जीर्ण हो जाता है कि हाथ रखने से फटने लगता है। यह परिणाम का कम उसी समय नहीं हुआ बल्कि शत्येक चणों होता रहा है। परन्तु इतने सूक्ष्म रूप में हो रहा था कि देखा नहीं जा सकता था, अन्त में बहुतसे परिणामों का स्थूल रूप में होने पर वह दिखलाई देने लगा। यही गुर्जों के धर्म परिणाम और लक्ष्य-परिणाम का कम है। अर्थोत् परिणाम और लक्ष्य-परिणाम का कम है। अर्थोत् परिणामों की जो आगो-पींछ की एक

धारा या सिलसिला है वह कम है। किसी क्रम का धारम्भ एक विशेष ज्ञ्या में होता है और समाप्ति एक दूसरे ज्ञ्या में। पहले ज्ञ्या को जहाँ से क्रम धारम्भ होता है, पूर्वान्त और धन्तम ज्ञ्या को जहाँ वह क्रम समाप्त होता है, अपरान्त कहते हैं।

यह कम धर्मे, लच्चण और श्रवस्था; तीनों परिणामों में पाथा जाता है। उत्पर वस्त्र के उदाहरण से बताया है कि श्रवस्था-परिणाम का कम सुक्ष्मरूप से होता हुआ दिखाई नहीं देता है। उसका श्रन्तिम फल ही श्रत्यच होता है। धर्म और लच्चण-परिणाम का कम भी जो दिखलाई देता है वह भी कई परिणामों का स्थूल रूप ही है; जो कम प्रत्येक च्या में सुक्ष्म रूप से होता रहता है वह इनमें भी साचात् नहीं दिखाई देता।

यह परिएए।म-कम गुर्यों में बराबर होता रहता है। यदि यह झंका हो कि गुर्य तो तित्य हैं उनमें परिएए।म कैसे हो सकता है ? उसका सामाधान करते हैं। अतीवावस्था से झून्य होना मात्र ही नित्य का सामान्य लक्ष्य है न कि श्रपरिएए।मी होना। इसलिए नित्यता वो प्रकार की होती है, एक क्रूटस्थ नित्यता दसरी परिएए।मी नित्यता।

१ कूटस्थ नित्यता—स्वरूप से सदा एक बना रहना और किसी प्रकार का परि-ग्याम न होना। यह पुरुष की नित्यता है जिसमें वह सदैव एक रूप में बना रहता है। और उसमें कोई परिग्याम नहीं होता।

२ परिणामी नित्यता — श्रवस्था से परिणाम होता रहना, खरूप से सदा एक बने रहना। यह परिणामी नित्यता गुणों की है। गुण परिवर्तन को प्राप्त होते हुए भी खरूप से नष्ट नहीं होते हैं, उन नित्य धर्मी गुणों की परिणामों की कोई श्रन्तिम सीमा नहीं प्रतीत होती। जहाँ सीमा प्रतीत होती है वह श्रन्य धर्मियों की है जो श्रनित्य हैं, जैसे बुद्धि, इन्टिय, तन्मात्रा, पाँचों भृत, शरीर श्रादि।

श्रव यह शंका होती है कि स्थिति व गति श्रार्थात् सृष्टि प्रलय प्रवाह रूप से जो गुणों में वर्तमान संसारकम है इस कम की समाप्ति होती है वा नहीं, यदि समाप्ति मानी जावे तो ऊपर जो कहा गया है कि 'गुणों के परिणाम की कोई श्रान्तिम सीमा नहीं ' इसका संडन होता है श्रीर यदि समाप्ति न मानी जावे तो पूर्व सृत्र में गुणों के कम की समाप्ति क्यों कही। इस शङ्का के निवारणार्थ भाष्यकारों ने यह कहा है कि यह प्रभ एकान्त वचनीय नहीं है अर्थात एक बार ही 'हाँ' अथवा 'ना ' में उत्तर देने योग्य नहीं हैं, किन्तु अवचनीय है। प्रभती न प्रकार के होते हैं—

१ एकान्त वचनीय-जो नियत से एक ही समाधान द्वारा उत्तर देने योग्य है।

२ विभज्य वचनीय —जो विभागपूर्वक उत्तर देने योग्य है।

३ अवचनीय-जिसका उत्तर एकान्तरूप से एक प्रकार से कहने योग्य नहीं होता।

जैसे 'क्या सब जगत् जो उत्पन्न हुआ है मरेगा ' ? उत्तर—'हाँ अवस्य मरेगा'। यह एकान्तवस्तीय अर्थात् एक ही उत्तर देने की योग्यता वग्ला है 'क्या जो-जो मरेगा वह सब उत्पन्न होगा ' ? उत्तर—'केवल जिसको विवेकज्ञान उद्य हो गया है और जो रुष्णारहित हो गया है वह उत्पन्न न होगा अन्य उत्पन्न होगा '। 'मनुष्य जाति उत्तम है वा नहीं ? डत्तर—'मनुष्य जाति पशुकों से डत्तम है देवताकों से डत्तम नहीं है'। यह विभव्य-वचनीय है। 'यह संसार अन्तवान है वा अनन्त है ? 'यह अवचनीय है। क्योंकि दोनों में से एक विशेष कहने योग्य नहीं है। परन्तु आगम प्रमाण (शब्द प्रमाण) से इसका उत्तर यह है कि ज्ञानियों को संसारकम की समाप्ति है, अर्थात् ज्ञानियों को संसार अन्त को प्राप्त होता है, अज्ञानियों को नहीं होता। ज्ञानी संसारकम के समाप्त होने पर अर्थात् संसार के अन्त होने पर मुक्त हो कैवस्यपद को प्राप्त होते हैं।

टिप्पणी—भोजवृत्ति में यह सूत्र कुछ पाठान्तर के साथ लिखा गया है, इसलिए इस सूत्र का भोजवृत्ति के श्रथं सहित पाठकों की जानकारी के लिए लिखे देते हैं।

च्चणमतियोगी परिष्णामोऽपरान्तनिर्ग्राद्यः क्रमः ॥३३॥

उक्त कम का लक्षण कहते हैं —

भोजदृत्ति का भाषानुवाद ॥ सूत्र ३३ ॥

सब से छोटे काल का नाम च्या है, (च्या भी क्रियात्मक व शाब्दबोधात्मक परिणाम ही है)। उस च्या का जो प्रतियोगी, (निरूपक) च्या से भिन्न परियाम है, वह गुर्णों का क्रम है। जाने हुए च्याों में, पीछे जोड़ लगाने से ही वह प्रह्मा किया जाता है, बिना जाने हुए च्याों के, उनमें क्रम, नहीं जाना जा सकता, इससे उसे 'श्रपरान्तिनर्पाधा' कहा है।

विशेष वक्तव्य — । सूत्र ३३ ॥ श्रीविज्ञान भिक्षु श्रादि, सूत्र में, 'परिणामापरान्त' पाठ मानते हैं। श्रीरामानन्द यति, कुछ विभिन्न व्याख्यान करते हैं। वे च्रण प्रतियोगी शब्द का पष्टी समास नहीं, किन्तु बहुनीहि करते हैं (वही ठीक माद्यम होता है) अर्थात् 'च्रणी प्रतियोगिनी निरूपकी यस्य, श्रासी, च्रणप्रतियोगी '। च्रण हैं निरूपक बतलाने वाले जिसके, वह च्रणप्रतियोगी। च्रण, कलांश्च (पिमाण विशेष) को कहते हैं। च्रणों में बुद्धि को समाधिष्य करके ही कम (पूर्वापरभाव) जानने योग्य है। इस से यह बता दिया कि च्रण्णिक परिणाम होता है। उस कम में प्रमाण देते हैं:—

' अमरान्तिर्माधः'। कहीं क्रम प्रत्यत्त और कहीं श्रमुमेय है। मृत्तिका में पिड, घट, कपाल, चूर्ण कर्णुरूपी, प्रत्यत्त परिग्णाम होते हैं, उनका पूर्वान्त पिड है, और अपरान्त क्या है। इनमें पूर्वीत्तर अवधि के झान से, क्रम, निश्चित रूप से गृहीत होता है, अर्थात् मृत् पिंड के अनन्तर घट होता है ऐसा क्रम प्रत्यत्त है। अच्छे प्रकार रक्खा हुआ वक्ष भी पुराना पढ़ जाता है। वक्ष में पुरानापन, एकबार तो आता नहीं, किंतु स्थ-स्था में पूर्वान्त नवीनता से लेकर पुराग्यता होती रहनी है। अर्थात् नवीन होने के बाद, अत्यन्त सूक्ष्म पुराग्यता इत्यादि रूप से पुराग्यता होती रहती है। वहाँ पर, क्रम, अतुमान करने योग्य है। यह क्रम, नित्य और अनित्य होनें प्रकार के पदार्थों में होता है। नित्य हो प्रकार के हैं। एक—क्रुट्थ नित्य होते हैं जैसे—पुरुष। दितीय—परिग्यामी नित्य होते हैं, जैसे—सत्थादि गुग्य। धर्म, लक्ष्य, अवस्था, हन तीनों प्रकारों (नृतीय पाद के

१३ वें सूत्रोक्त) से परिखाम होने पर भी, धर्मी में, स्वरूप का नाश न होना 'परिखामी नित्यता 'है। एक धर्म को छोड़ धर्मान्तर को प्रह्म करना 'परिखाम'है। श्वनित्य बुद्धि श्वादि धर्मियों में जो कम है, वह श्ववधि सिंहन है। बुद्धि में रागादि परिखाम 'पूर्वान्त' श्रीर पुरुष का प्रत्यन्न करना 'अपरान्त' क्रम है। परिखामी नित्य गुर्थों में परिखाम का क्रम, श्रवधि (हद्) से रहित है। क्योंकि गुक्त पुरुषों के प्रति, गुर्खों का परिखाम न होने पर भी, बद्ध जीवों के प्रति, होता ही रहता है।

प्रश्न—सब जीव गुक्त हो सकते हैं, वा नहीं ? यदि हो सकते हैं, तो प्रकृति (गुणों) का परिणाम, श्रवधि से रहित मानना ठीक नहीं खौर नहीं हो सकतेतो तत्त्व-ज्ञान में किसे विश्वास होगा वर्धात् तत्त्वज्ञान होने पर भी, यदि नहीं हो सकते तो तत्त्वज्ञान में विश्वास चठ जायगा, विश्वास चठने से कोई मुमुछ न रहेगा; हत्यादि दोष होंगे।

उत्तर—तीन प्रकार का प्रश्न हो सकता है—एकान्तवचनीय, विभव्यवचनीय, अवचनीय। याद पहला प्रश्न किया जाय कि क्या सब उत्तम हुए मरेंगे ? तो यह एकान्तवचनीय है, अथान कहना चाहिए कि हाँ अवश्य मरेंगे। आपका किया हुआ जो दूसरा प्रश्न है। वह 'विभव्य वचनीय' है अर्थात् विभाग करके उत्तरणाय है—कि जिसे तत्त्वज्ञान होगा, वह मुक्त हो जायगा और जिसे न होगा, वह नहीं। जीव अनन्त हैं स्रृष्टि प्रलय भी अनन्त हैं इससे सबकी मुक्ति का परिणामकाम समाप्त होता है या नहीं ? इसके उत्तर दो होसकतो हैं—प्रथम यह है कि निश्चित नहीं कर सकते कि समाप्त होता है या नहीं ? इसके उत्तर दो होसकते हैं—प्रथम यह है कि निश्चित नहीं कर सकते कि समाप्त होता है या नहीं। वितिय यह है कि जो झानी हैं, उनके लिये समाप्त होता है, अन्यों के लिये नहीं। वास्तविक परिणामकाम, परिणामी नित्य गुणों में है और पुरुष में किस्पत है, वस्तुत: नहीं अर्थात् बुद्धि के परिणामों का आरोप है, इत्यादि भाष्य का तास्त्ये हैं।

संगति – गुर्णों के परिणामक्रम की समाप्ति पर कैवल्य कहा गया है उसका स्वरूप अगले सत्र में बताते हैं:—

पुरुषार्थश्चरयानां ग्रुणानां प्रतिपसनः कैन्हयं खरूपप्रतिष्ठा ना चिति-शक्तिरिति ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ — पुरुषाथे-सुरुपानां-सुरुपानां = पुरुष कथं से स्ट्रूप हुए सुरुपों का। प्रति-प्रसवः = अपने कारण में लीन होजाना। कैनस्य = कैनस्य है। वा = अथवा। स्वरूप-प्रतिष्ठा = अपने स्वरूप में अवस्थित होजाना। वितिशक्तिः = वितिशक्ति का (कैनस्य है) इति = और यह पाद तथा योगशास्त्र समाप्त होना है।

अन्वयार्थ - पुरुषार्थ स शून्य हुए गुर्णों का ऋपने कारण में लीन होजाना कैवस्य है इथवा चितिराक्ति का ऋपने स्वरूप में अवस्थित हाजाना कैवस्य है।

क्याख्या—गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भाग अपवर्ग क लिय है इसलिये भोग और अपवर्ग ही पुरुषाये है। इसी पुरुषाये के लिय गुण, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि में परिस्तृत

होरहे हैं। जिस पुरुष का यह प्रयोजन सिद्ध होगया उसके प्रति इनका कोई कार्य शेष नहीं रहता । तब उस पुरुष के भोग तथा अपवर्ग रूप पुरुषाधे के सम्पादन से कताथे हुए पुरुषाधे शुन्य कार्य-कारण स्वरूप गुरू प्रतिप्रसव को प्राप्त होते हैं अर्थात प्रतिलोम परिणाम के अपने कारण में लीन होजाते हैं। अर्थात् व्यत्थान समाधि और निरोध के संस्कार मन में लीन होजाते हैं, मन ऋहंकार में, ऋहंकार बुद्धि (चित्त) में और बुद्धि प्रधान प्रकृति में लय होजाती है। इस प्रकार पहल का अन्तिम लक्ष्य अपवर्ग सम्पादन करने के प्रश्नात गरागों के अपने कारण में लीन होजाने का नाम कैवल्य, अर्थात् गुणों का उस पुरुष से अलग होना है। अथवा यों कहना चाहिये कि धर्म चित्त के परिएाम क्रम बनाने वाले गुर्हों का अपने कारण में लीन होजाने पर चितिशक्ति पुरुष का चित्त से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहने पर अपने स्वरूप में अवस्थित होजाने का नाम कैवल्य है। इसकी सविस्तर व्याख्या तृतीय पाद के ५५ वें सूत्र में करदी गई है। यहाँ यह त्र्यौर जान लेना चाहिये कि जैसे वेदान्त में स्प्रज्ञान की निवृत्ति और परमानन्दस्वरूप ब्रह्म प्राप्ति को समकाल होने पर भी कहीं स्वज्ञान की निवृत्ति को जैसे 'भयश्रान्ते विश्वमाया निवृत्तिः' 'श्रीर फिर अन्त में सारी माया निवृत्त होजाती है' श्रीर कहीं ब्रह्म की प्राप्ति को जैसे 'स यो वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' 'जो निश्चय उस ब्रह्म को जानता है ब्रह्म ही होजाता है' मुक्ति कहा है। वैसे ही यहाँ पर भी गुणों का प्रति-प्रसव और चितिशक्ति की स्वरूपप्रतिष्ठा इन दोनोंके समकाल होने पर भी तात्वर्य की एकता होने से कैवल्य के दो लच्चण कहे हैं। लच्चणभेद से कैवल्य का भेद नहीं किया है।

सम्यग् ज्ञानाधिगमाइ धर्मादीनामकारत्यमाप्तौ । तिष्ठति संस्कारवशाख-कश्चमिवइ धृतशरीरः ॥ माप्ते शरीरं भेदे चरितायेत्वात् मधानविनिष्टचौ । ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवन्यमाप्नोति ॥ (सा॰का॰ ६७, ६८)

अर्थ—यथार्थ झान की प्राप्ति से जब कि धर्म आहि अकारण बन जाते हैं. तब पुरुष (पिछले) संस्कार के बझ से चक्र के सदश शरीर को धारण किये हुये ठहरा रहता है। शरीर के छूट जाने पर और चरितार्थ होने से प्रधान की निवृत्ति होने पर ऐकान्तिक (अवश्य होने वाले) और आत्यन्तिक (बने रहने वाले) दोनों प्रकार के कैवल्य को प्राप्त होता है।

इति का शब्द इस पाद तथा योगशास्त्र की समाप्ति के लिये लाया गया है।

भोजहत्ति का भाषानुवाद । सूत्र ॥ ३४ ॥

"अब फलरूप मोस के सामान्य खरूप को कहते हैं—जो सस्वादि गुण् भोग और मोस्रूर पुरुषाथे को समाप्त कर चुके उनका जो उस्टे-उस्टे परिणाम की समाप्ति होने पर साणों में विकार का पैदा न होना वा वृत्तियों के तुस्य रूप की निवृत्ति होने पर चेतन शक्ति का अपने खरूपमात्र में स्थिति करना मोस कहा जाता है केवल हमारे ही दर्शन (मत) में मोस्राबस्था में पुरुष इस प्रकार का चेतन रूप नहीं होता, किन्तु अन्य दर्शनों में भी विचार करने पर खरूपावस्थित होता है। जैसे—

आत्मा स्वरिष्क विज्ञान नहीं है—संसारावस्था में कर्ता. भोत्ता स्वीर विचार करने बाला आत्मा प्रतीत होता है अन्यथा यदि एक कोई चेतन उस प्रकार का न हो और जान बर्गों को ही, जोकि पूर्वापरविचार से शून्य हैं आत्मा माना जाय तो कर्म्भ और फल का सम्बन्ध नियमपूर्वक नहीं होसकता और किये हुए की हानि, नहीं किये हुए की प्राप्तिकप दोष भी हो। और जिसने शास्त्रों में ही कहे हुए कर्म को किया है वही यदि भाका रहे तो सबकी प्रवित्त कल्याराप्राप्ति के लिये दुःख की निवित्त के लिये होसकती है। प्रहरा करना या छोडना विचार से ही हाता है इससे और ज्ञानकर्यों को परस्पर भिन्न होने से (पर्वार) विचार अन्यता है। यदि कोई उनका अनुसंधान करने वाला न रहे तो किसी का भी व्यवहार नहीं चल सकता । इससे. जो कर्ता, भोक्ता, अनुसंघाता (विचार करने वाला वा जानने वाला) है वह आत्मा है यह व्यवस्था की जाती है। मोजावस्था में केवल चैतन्यरूप ही आत्मा रहता है क्योंकि मोन दशा में तो प्राह्म प्राहक रूप अर्थात् प्रहण करना आदि सब व्यवहारों के न रहते से केवल चैतन्य ही शेष रहता है। वह चैतन्य, अपने खरूप को ानने से नहीं है किन्त स्वरूप से है क्योंकि विषयों को ग्रहण करने की सामध्ये ही चे न का स्वरूप है अपने स्वरूप को प्रहरण करना नहीं (ऐसा ही श्रति बतलाती है यथा:-"विज्ञातारमरे केन विजा-नीयात" सबके जानने वाले विज्ञाता को किस से जाना जासकता है। तथा "येनेदं सव विजानाति तं केन विजानीयात्" जिसे ये सब कुछ जाना जाता है उसको किस से जानें) जैसे चेतन से गृहीत हुई वस्तु 'यह है' इस प्रकार प्रहुण की जाती है और चेतन का स्वरूप 'श्रहं' श्रथीन 'में हं' इस प्रकार प्रहण किया जाता है। श्रापस में विरुद्ध, बहिमेखता श्रीर अन्तर्भखता रूप दो व्यापार एक काल में नहीं होसकते तो चेतन स्वरूप से ही शेष रहता हैं। इससे मोजावस्था में गुर्गों के कार्यों की समाप्ति होने पर केवल चैतन्यरूप ही आत्मा रहता है यही ठीक है, और संसारदशा में तो ऐसे ही आत्मा को कत्ती, भोक्ता और अनुसंधाता होता सब ठीक है।

आत्मा का संसारद्द्या और मुक्ति अवस्था में एक ही रूप है। देखिये जो ये प्रकृति के साथ अज्ञानमूलक भोग्य का भोग करना रूप अनिह स्वाभाविक सम्बन्ध है उसके होने पर और जो पुरुषार्थकर्तव्यतारूप शक्तियों के होने से (४ पाद के २२ वें सूत्रीक) श्रकृति का महाच् आहि रूप से परिणाम है उसमें संयोग होने पर जो आत्मा का अधिष्ठाता (स्वामी) बनना अर्थान् अपने प्रतिविम्ब को समर्पण करने की शक्ति और अन्तःकरण की पड़े हुए चेतन प्रतिविम्ब को प्रहण करने की शक्ति रखना, तथा चेतन के सम्बन्ध से, बुद्धि में करित्व भोवकृत्व का निश्चय है, उसी से स्मृतिपूर्वक व्यवहारों की सिद्धि हो जायगी, फिर अन्य तुच्छ करपनाओं से क्या प्रयोजन ? (अर्थान् कोई प्रयोजन नहीं) यिह इस प्रकार के मार्ग को छाड़कर आस्मा में पारमाधिक कहेलाहि धर्मों को छाकार किया जाय, तो आत्मा को परिणाम। मानना पड़ेगा। परिणामी और आनत्य मानने पर आत्मा का आत्माव अर्थान् एकरस से रहना न बनेगा। क्योंकि एक ही समय में, एक रूप से, परस्पर विद्व अवस्थाओं का जावा। नहीं हो सकता। जैसे जिस अवस्था में आत्मा में भारमा में

समवाय सम्बन्ध से सुख उत्पन्न हुआ, उसी अवस्था में आत्मा में दु:ख का अनुभव करना नहीं हो सकता तो अवस्थाओं के भेद होने से, अवस्थाओं से अभिन्न अवस्थानों का भेद मानना चाहिये। भेद मानने से परिणामी मानना पड़ेगा और परिणामी मानने पर न आत्मा में आत्मभाव रह सकता है, न नित्यभाव। इसलिये योगाचार्य, तथा सांख्याचार्य आत्मा का संसार-दशा में और मुक्ति अवस्था में एक ही रूप स्वीकार करते हैं।

श्रात्मा वृत्ति-ज्ञान से विलक्षण खयंत्रकाश ज्ञान-खरूप है। जो वैदान्ती लोग (उपनिषदों तथा न्यास भगवान के तात्पर्य को भली प्रकार न सममकर) चिदानन्दमय होना. श्रात्मा की मुक्ति मानते हैं उनका मत ठीक नहीं है। क्योंकि श्रानन्द सुखरूप ही है और सुख सवेदा होय (जानने योग्य) रूप से ही भान होता है और झेयता बिना ज्ञान के नहीं हो सकती, तो ज्ञान, ज्ञेय दो पदार्थी को मानने से (उसके माने हए) खद्वैतवाद की हानि होगी। मुक्ति-प्राप्त आत्मा को सुखरूप मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञान, ज्ञेय एक नहीं हो सकते । श्रद्धैतवादी लोग कर्मात्मा श्रीर परमात्मा के भेद से दो प्रकार का श्रात्मा मानत हैं, तो जिस प्रकार से कर्मारमें को सखन्दाख का भोग होता है उसी रूप से यदि कर्मात्मा के तुल्य परमात्मा को भी सुख-दुःख का भोक्ता माना जाय तो परमात्मा परिणामी श्रीर श्रज्ञानी हो जाय। ("ज्ञानं श्रनन्तं ब्रह्म" श्रादि भृतियों से परमात्मा ज्ञानस्वरूप ही सिद्ध होता है और जहां कहीं आनन्द का शब्द ब्रह्म के साथ आया है वहां उस की जान द्यार्थ में लेना चाहिये और यदि सुख के द्यार्थ में लिया जाय तो वह श्रापर-महा = शक्ल बद्धा = सराण बद्धा अर्थात ईश्वर का बोधक होगा न कि पर-बद्धा = शुद्ध बद्धा = निरोण बद्धा द्यर्थात परमात्मा का, क्यांकि सुख प्रकृति के सत्त्व गुरुष में है और शुद्ध ब्रह्म परमात्मा प्रकृति से परे हैं) श्रीर यदि श्रात्मा को साचात् भोग नहीं होता किन्तु बुद्धि द्वारा श्रारोपित भोग होता है अर्थात परमात्मा से प्राप्त भोक्तृत्व को उदासीन रूप से अधिष्ठाता हुआ खाकार करता है। यह माना जाय वो हमारे मत में (योगोक्त मत में) प्रवेश होगा। आत्मा आनन्द (सुख) रूप है, यह पहले ही खरडन कर विया । और यदि आत्मा को अविद्या स्वभाव माना जाय तो खयं स्वभावशून्य होने से अर्थात् अपने में किसी धर्म के न रहने से शास का अधिकारी कीन रहेगा ? क्योंकि सर्देश मुक्त होने से परमास्मा (शास का कांधकारी) नहीं हो सकता, और न अविद्या खभाव होने से कर्मात्मा (शास्त्र का) अधिकारी हो सकता है। तो अधिकारी न होने से सब शास्त्र व्यथे हो आयेंगे। यदि जगत को अविद्यामय माना जाय तो वह अविद्या किसको है ? यह विचार किया जाता है-परमात्मा को अविद्या है, यह नहीं कह सकते; क्योंकि वह नित्यमुक्त है और विद्यास्त्य है अर्थात चैतन्यरूप है। और न कर्मात्मा को अविद्या है क्योंकि वह (अविद्या के) स्वयं स्वभावशन्य होने से शश्विपाण (खरगोश के सींग) के तुल्य होने से स्रथात कल्पनामात्र होने से, अविद्या के साथ कैसे सम्बद्ध हो सकता है! यदि यह कहा जाय कि विचार में न आना ही अविद्या का अविद्यापन है अर्थात जो सूर्यिकर सों के स्पर्श से ही नीहार (बर्फ़ का कहर) के तस्य नष्ट हो जाय वह 'अविद्या' है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जो बस्त

कुछ काम करती है वह अवस्य किसी से भिन्न वा अभिन्न कहनी चाहिये। और अविधा का संसाररूपी कार्य का करना, अवस्य ही स्वीकार करना पढ़ेगा। उस कार्य के करने पर भी अनिवंचनीय अविद्या को मानने से कोई भी पदार्थ निवंचनीय न रहेगा तो ब्रह्म भी निवंचनीय न ठहरेगा अर्थान् सत्य, ज्ञानादि रूप से उसका निरूपए न हो सकेगा। इससे चैतन्यरूप अधिष्ठातृता के सिवाय पुरुष का अन्य रूप सिद्ध नहीं हो सकता अर्थात् वृत्तिज्ञान से विलक्षण स्वयंप्रकाश ज्ञानस्वरूप आत्मा है।

आत्मत्वादि जातियों से भित्र ग्रुप्तात्मा अधिष्ठान चैतन्यरूप है—जो नैयायिक आदि (गौतम भुनि और कणाद मुनि के आभ्राय को न जानकर) मुद्धि के योग से आत्मा को चतन मानत हैं, और मुद्धि को भी मन के संयोग से उत्पन्न मानते हैं, और कि इच्छा, ज्ञान-प्रयत्नादि जीवात्मा के गुण, ज्यवहारदशा में अर्थात् संसारावस्था में आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न होते हैं। उन्हीं गुणों से आत्मा खर्य ज्ञाता, कर्ता, भोका कहा जाता है और मोनदशा में तो मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होनेसे, मिथ्याज्ञानमृत्वक राग-द्वेषादि सब गुणों की भी निवृति हो जाती है तो आत्मा के विशेष गुणा अर्थात् ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख, द्वेष; इन सब का अत्यन्त नाश हो जाता है, फिर आत्मा अपने स्वरूप, प्रयत्न, सुख, द्वेष; इन सब का अत्यन्त नाश हो जाता है, फिर आत्मा अपने स्वरूप, प्रयत्न, सुख, द्वेष; इन सब का अत्यन्त नाही है। क्योंकि मोनदशा में नित्यत्व, व्यापकत्व आदि गुणा तो आकाशादिकों के भी रहते हैं, इससे उनसे विलक्तण, आत्मा का चैतन्य रूप अवस्य अङ्गीकार करना चाहिये। आत्मत्व जाति का सम्बन्ध ही आकाशादिकों में भी है (मुक्तात्मा की संसारियों से विलक्तण होना चाहिये) इससे आत्मत्वादि जातियों से भिन्नता मुक्तात्म की संसारियों से विलक्तण होना चाहिये। इससे आत्मत्वादि जातियों से भिन्नता मुक्तात्म की अवस्यया नाहीं।

द्यातमा सहम् प्रतीति का विषय नहीं किन्तु केवल चिद्रूप श्रिष्णा है — जो मीमां-सक लोग (जैमिन मुनि के सिद्धान्त को ठींक-ठींक न समफते हुए) श्रात्मा को कमे-कर्तारूप मानते हैं, उनका पन्न भी ठींक नहीं है । उनकी प्रतिज्ञा है कि श्रह्म (मैं) प्रतीति (ज्ञान) से प्रह्मण के योग्य खात्मा है, श्रह्म प्रतीति में खात्मा को (श्राश्रयता सम्बन्ध से) करेत्व और (विषयता संबन्ध से) कमेल हैं। पर यह उनका मन्तव्य खयुक्त है । क्योंकि प्रमातृत्वरूप करेत्व और प्रमेयत्वरूप कमेल का विरोध है (प्रमाता जाननेवाला, प्रमेय जानने योग्य) धर्था-त् जाननेवाला और जानने योग्य होना ऐसे विरुद्ध धर्मों का एक काल में, एक पदार्थ में समावेश नहीं हो सकता। जो विरुद्ध धर्मों के श्रीष्ठणान हैं वे एक नहीं जैसे भाव और अभाव। करेत्व, कमेल भी परस्पर विरुद्ध धर्मे हैं। यह कहना कि करेत्व और कमेल का विरोध नहीं, किन्तु करेत्व और करणत्व का है ठींक नहीं, क्योंकि विरोधी धर्मों का खम्यारोप, दोनों खानों में तुल्य होने से केवल करेत्व और करणत्व का ही विरोध है करेत्व कमेल का नहीं, यह कौन कह सकता है ? (खर्थान् कोई नहीं कह सकता)। इससे खात्मा को खर्ह प्रतीति का विषय न मानकर, केवल चिद्रप श्रीबष्टाता ही मानना चाहिए। आतमा अव्यापक शरीर तुल्य परिमाण वाला और परिणामी नहीं है—जो द्रव्य बोध पर्याय भेद से अथोत् नामान्तरर खकर आत्मा को अव्यापक शरीर नुत्य परिमाण् वाला और परिणामी मानते हैं, उनका पत्न तो उठकर ही मरा हुआ है अर्थात् बिल्डल ही निकम्मा है क्योंकि परिणामी मानने से चेतन कहाँ रहा वह तो जब रूप होगया। (जो परिणामी है, वह अचेतन है यह व्याप्ति है) जड़ मानने पर आत्मा में क्या आत्मभाव रहा इससे अधिष्ठानृता रूप चैतन्य ही आत्मा है।

श्वातमा में साचान् कर्तृत्व धर्म नहीं है-कोई कर्त्ता रूप ही श्वात्मा को मानत हैं जैसे—घटादि विषयों के समीप होने पर, जो ज्ञानरूप किया उपम होती है, उस किया का विषय संवेदन अर्थान् विषयों का प्रकाशरूप फल है, उस फल में फल का स्वरूप प्रकाशरूप से भान होता है और विषय प्राध्य रूप से; तथा श्वात्मा माहक रूप से, क्योंकि 'घटमहं जानमि' (घट को में जानना हूँ) इस आकार मे वह फल उत्पन्न होता है। क्रिया का कारण कर्त्ता ही है, इससे कर्तृत्व श्रीर भोक्तव श्वात्मा का ही रूप है। यह पच भी युक्ति-युक्त नहीं। (क्योंकि इन विकल्पों का उत्तर नहीं वन मकता) यह बताओं कि संवित्ति रूप फलों का कर्त्ता श्वात्मा एक काल में ही होता है वा क्रम में १ एक किसी काल में सबों का कर्त्ता मानो तो श्वन्य च्यों में कर्ता नहीं रहेगा (तो श्वात्मा को कत्ता मानाना ठीक नहीं) श्रीर क्रम से कर्ता होना भी एक रूप श्वात्मा का नहीं घट सकता; क्योंकि यदि उसे एक रूपसे ही कर्ता माना जाय तो वह सर्वदा (व्यापक हानसे) पास तो है ही, सब फल भी एक रूप होने चाहिन्य। श्रीर यदि श्रनेक रूपसे कर्ता माना जाय तो परिणामी होने से चिद्रूप नहीं हो सक्ता। इससे सिद्ध हुआ कि श्वात्मा को चैतन्य रूप मानने वालों को श्रात्मा में साज्ञात्म कर्त्तव धर्म नहीं मानना चाहिए। किन्तु कूटस्थ, नित्य, चिद्रूप श्वात्मा का कर्ता होना जैसा हमने प्रितपादन किया है, वह ही ठीक है।

जो ऐसा मानते हैं कि विषयों के ज्ञान वा प्रकाश द्वारा आत्मा में प्राह्कता शक्ति प्रकट हो जाती है उनका पत्त भी वक्त विकल्पों से संख्ति जानना चाहिए।

आत्मा विमर्श रूप से चेतन नहीं हैं। कोई विमर्श रूप से आत्मा को चेतन मानते हैं, वे कहते हैं कि विना विमर्श (विचार) के आत्मा को चेतन रूप नहीं बतला सकते। चैतन्य रूप जगत् से भिन्न है; पर, विचार के सिवाय अन्यया उसकी स्थिति नहीं हो सकती (अर्थात् विचार रूप हो है)। यह पन्न भी अयुक्त है। क्योंकि विचार का नाम 'विमर्श' है। वह बिना अस्मिता (दितीय पाद के ६ सूत्रोक्त) के नहीं हो सकता। क्योंकि आत्मा (अन्त:कर्या) में पैदा होने वाला विमर्श 'अहमेंव भूतः' मैं ऐसा हूँ' इस आकार से जाना जाता है। और इस प्रतीति में अहं शब्द में भिन्न आत्म रूपी अर्थ का प्रकाश होनेसे विकल्प व्यरूपत अर्थात् यथार्थ ज्ञान से भिन्नता है। स्वभावसिद्ध निव्ययात्मक ज्ञान बुद्धि का धर्म है, चेतन का नहीं, क्योंकि कूटस्थ नित्य होनेसे चैतन्य, सदा एक रूप रहता है। चिंत को नित्य होने से ही आह्कार में अन्तभोव नहीं कर सकते। इससे आत्मा को विचार रूप सिद्ध करने वाले ने, बुद्धि का ही, आत्मा, आन्ति से समस्म लिया है। प्रकाशरूप आत्मा के स्व-रूप को नहीं समस्मा।

सब दर्शनों में आत्मा का अधिष्ठात्ता रूप ही और वृत्तियों के सहश रूपों को बोक-कर खरूप में श्वित होना ही चिति शक्ति का कैवल्य सिख हो सकता है। इस पकार सक दर्शनों में ही अधिष्ठात्ता को छोड़कर, आत्मा का अन्य रूप नहीं बन सकता। जब से शिक्ष चैतन्यरूपता ही 'अधिष्ठात्ता' है। जो चितरूप से अधिष्ठान करता है, वह ही (बुद्धि को) भोग्य बनाता है। और जो चेतन से अधिष्ठित है वह श्वय कामों के योग्य होता है। इस प्रकार आत्मा को नित्य मानने से, श्कृति के ज्यापार की निवृत्ति होने पर, जो आत्मा का मोत्त, हमने वर्णन किया है उसे छोड़कर अन्य मतों की कोई गति नहीं। इससे यह युक्ति-युक्ति कहा है कि वृत्तियों के सहश रूपों को (जो कि प्रतिविश्वित होते रहते हैं) छोड़कर अपने खरूप में श्वित होना चितिशक्ति का कैवल्य (सुक्ति) है।

नोट--यहां यह न समझना चाहिए कि युत्तिकार ने अन्य दर्शनों का खरडन किया है, किन्तु 'अन्य शास्त्रों में ऐसी ही मुक्ति बन सकती है' यह सिद्ध कर कैवल्य (मुक्ति) के स्तरूप का निरूपण किया है। विशेष जानकारी के लिए भूमिकारूप 'यह्दशेन समन्वय'

में देखें ।

उपसंहार

कक प्रकार से (इस पाद में) अन्य सिद्धियों से भिन्न सब सिद्धियों की मूल, समाधि सिद्धि को कहकर, अन्य जाति में परिशासरूप सिद्धि की प्रकृति की पूर्णता, कारण है, यह सिद्ध कर: धर्माधर्म की, प्रतिबन्धक को हटाने मात्र में शक्ति है; यह दिखाकर, सिद्धिजन्य वांचों चित्रों का अस्मितामात्र से होना बतला कर. (सत्र ४ के विशेष वक्तव्य में) एक समय में भोगनिवृत्ति के लिए बहुत से चित्तों और शरीरों की श्रास्मता मात्र से उत्पत्ति बतलानेवाले शब्दों के प्रमाणिक होने में जो सन्देह उत्पन्न होते हैं उनको दिखलाकर सूत्र ४ की प्रसंगानुसार व्याख्या कर, पांच प्रकार की सिद्धियों से उत्पन्न हुए निर्माण चित्तों में से समाधिजन्य चित्त को अपवर्ग का भागी बतलाकर, योगी के कमों की, लौकिक कमों से विचित्रता को सिद्ध कर, कर्म-फलानुकूल वासनाओं (संस्कारों) के प्रकट होने को समर्थन कर. कार्य-कारण की एकता सिद्ध करने से ज्यवधान (बीच) यक्त वासनाओं की समीपता को सिद्ध कर. वासनाओं के अनन्त होने पर भी, हेत-फलादि द्वारा उनका नाश बताकर, भूता-दि कालों में घटादि धर्मों की स्थिति को उपपादन कर, विज्ञानवादियों की शक्काओं को निवृत्त कर, चित्तद्वारा पुरुष को ज्ञाता मानने से सब व्यवहारों की सिद्धि को निरूपण कर, पुरुष के होने में प्रमाण दिखाकर, मुक्ति के निर्णय के लिये दस सूत्रों से, क्रम से उपयोगी अर्थों को कहकर, अन्य शास्त्रों में भी " ऐसी ही मुक्ति बन सकती है" यह सिद्ध कर, मुक्ति के स्वरूप का निर्णय किया। इस प्रकार पात जल-योग-प्रदीप में कैवल्य नामवाले चौथे पाद की **च्या**ख्या समाप्त हुई ।

इति पातंजख्योग-प्रदीपे कैवस्यपादः चतुर्थः

48

मूल सूत्र

		र्वेह		бã
	तस्वसमास सांख्यमूत्र		४ वृत्तिसारूप्यमितरत्र ।	१८
8	अथातस्तस्यनमासः।	60	५ वृत्तयः पश्चतय्यः क्रिष्टाक्विष्टाः ।	१९
2	घाटौ प्रकृतयः।	۲۶	६ प्रमार्गावपयेयविकल्पनिद्राम्मृतयः ।	२०
	षोडश विकाराः।	ر ۲	७ प्रत्यत्तानुमानागमाः प्रभागानि ।	२०
	पुरुषः ।	८२	८ विवर्धया मिथ्याज्ञानमतद्रुपप्रतिष्ठम् ।	२५
4	भ्रेगुएयम् ।	زع	९ शब्दज्ञानानुपार्ता वस्तुग्र्न्यो	٠
	संचरः प्रतिसंचरः।	93	विकल्यः।	२८
v	श्रध्यात्मम् धिनुतम् धिदैवंच ।	94	१० इ.भावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।	२९
6	पंचाभिबुद्धयः।	९५	११ ऋतुम्तविषयासप्रमोषः स्मृतिः ।	38
	वंच रुग्यानयः	९६	१२ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः	३४
१०	ंच व ।यत्र: I	९६	१३ तत्र स्थिती यत्नां ऽभ्यासः ।	રૂપ
	दंच कमो मानः।	९७	१४ स तु दीघेकालनैरन्तयेसत्कारा-	
१२	पंच पत्रो श्रविद्या।	९७	सेवितो इड ्मिः।	રૂપ
१३	श्चद्वित्रान्धाऽशक्तिः।	९७	१५ हुनुश्रांबकविषयवितृष्ण्स्य	
१४	नवधा तुष्टिः ।	९८	वर्शाकार का वैराग्यम्।	३७
१५	च ष्टथा सिद्धिः ।	९५	१६ तत्यरं पुरुषख्यातेर्गुरावैतृदरायम् ।	३९
१६	दश भौलिकाथोः।	१००	१७ वितर्वत्रिचारानन्दास्मितानुगमात्	` '
	भनुपरः स गेः ।	१०१	संप्रज्ञातः ।	४०
१८	चतुदेशवियो भूतसर्गः।	१०२	१८ विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कार-	-
१९	, त्रिविधो बन्धः।	१८५	शेषं।ऽन्यः।	४७
२०	त्रिविधो मोचः ।	१८५	१८ भवप्रत्यया त्रिदेहप्रकृतिलयानाम्।	48
२१	त्रिविधं प्रमाणम्।	१०६	० श्रद्धार्वारेस्मृतिसमाधिश्रज्ञापूर्वक	•
२२	एतत् सम्यग्ज्ञात्वा कृत्यकृत्यः		इतरेग-।	ξų
	स्यान् । न पुनस्त्रिविधेन दुःखेनाभि		२१ तीब्रसंवगानामासन्नः।	ξu
	भूयते ।	१०६	२२ मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततांऽपि	-
	पातञ्जलयोग सूत्र		विशेषः ।	Ę۷
	श्रय समाधियादः		२३ ईश्वरप्रणिधानादा।	Ę۷
१	षय योगानुशासनम्।	१	२४ हेशकर्भविपाकाश्यैरपरामृष्टः	
2	। योगश्चित्त _{र्थ} त्तिनिराधः ।	٩	पुरुषविशेष ईश्वरः।	६९
	तदा द्रष्टः स्वरूपेऽवस्थानम्।	१७	२५ तत्र निरतिशयं सर्वेज्ञबीजम्	68
		u	, ,	

,,,	444 41 411 114 114 114 114		La mia artastirtatadina dita di l	(40
२८	तज्जपस्तदर्थभावनम् ।	८१	८८ ऋतम्भरातत्र प्रज्ञा।	१३८
२९	ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्त-		४९ श्रृतानुमानश्रज्ञाभ्यामन्यविषया	
	रायाभावश्च ।	66	विशेषाथेत्वात् ।	१३९
३०	व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्या-		५० तज्ञः संस्कारां इन्यसंस्कारः	
	विरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमि-		प्रतिबन्धी ।	180
	कत्वानवस्थितत्वानि चित्त-		५१ तस्यापि निराधे सर्देनिरोधान्निर्धीजः	
	विद्येपास्तेऽन्तरायाः ।	८९	समाधिः ।	१४१
३१	दु:खदौमेनस्याङ्गमे जयत्वश्वास-		इति श्रीपातञ्जले योगशासे समाधिनि	देंगो
	प्रश्वासा विज्ञेत्रसह्भुवः ।	९०	नास प्रथमः पादः ॥ १ ॥	
३२	तत्व्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।	९ १		
३ ३	मैत्रांकरणामुदितापेत्राणां, सुखदुःख	!-	व्यथ साधनपादः	
	पुरायापुराय विषयःगां भावः तिश्चित्तः		१ तपः स्वाध्यायेश्वरप्रांग्यधानानि	
	प्रसादनम् ।	९५	क्रियायोगः ।	१५१
३४	प्रच्छद्देनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।	९७	२ सनाविभावनार्थः क्षेत्रतन्-	
રૂપ	विषयवर्ता वा प्रशृत्तिहत्वत्रा मनसः		करणाथेश्च।	१५८
	स्थितिनिबन्धना ।	१२३	३ ऋविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः	
	विशोका वा ज्योतिहमती।	१२५	क्षेत्राः ।	१५८
३७	बीतरागविषयं वा चित्तम्।	१२७	४ ऋविद्या सेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनु-	
	स्वप्रनिद्राज्ञानालम्बनं वा ।	१२७	विच्छिकोदारासाम्।	१५९
	यथाभिमतध्यानाद्वा ।	१२८	५ श्रमित्याशुचिदु:खानास्मसु	
૪૦	परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य		नित्यशुचिसुखारन्छयातरविद्या ।	१६३
	वशीकारः।	१२९	६ हुग्द्शेनशक्त्यारेकात्मतेवास्मिता ।	१६४
४१	च्ची गृष्टुचंरभिजातस्येव मग्रेप्रेहीतु-		७ सुस्तानुशयी रागः ।	१६५
	प्रहराप्राह्मेषु तत्थतदश्चनता		८ दुःस्वानुशयी द्वेषः ।	१६५
	समापत्तिः।	१२९	९ स्वरसवाही विदुषीऽपि तथारुढी-	
४२	तत्र शब्दाथेज्ञानविकल्पैः संकीणो		ऽभिनिवेशः ।	१६५
	स्वितको समापत्तिः।	१३०	१० ते प्रतिप्रसबहेयाः सूक्ष्माः ।	१६७
४३	समृतिपरिशुद्धी स्वरूपग्रन्यवार्थः	032	११ भ्यानहेयास्तद्युत्तयः ।	१६८
υu	मात्रनिभोसा निर्नितको। एतयैव सविचारा निर्विचारा च	१३२	१२ क्रेशमूल: कमोशयां दृशहष्टजन्म-	
0.5	सूर्मिवषया व्याख्याता ।	१३३	वेदनायः ।	१६९
84	स्मानिषयतं चालिङ्गपर्थवसानम्	१३५	१३ स्रवि मूले विद्वपाको जास्यायुर्भीगाः।	१७०

	•	ā8			A8
१४	ते हादपरितापफलाः पुरवापुरवः		३३ वितर्कट	राधने प्रतिपत्तभावनम् ।	२९५
	हेतुत्वात् ।	१७४	३४ वितर्का	हिसादयः कृतकारितानु-	
१५	परिणामतापसंस्कारदुः खैरां खबुत्ति-			तोभकोधमोहपूर्वका मृदु-	
	विरोधाच दुःखमेव सर्वे विवेकिनः।	१७६		यमात्रा दुःखाज्ञानानन्त-	
१६	हेयं दुःखम्नागतम् ।	१७८		ति प्रतिपत्तभावनम् ।	२९६
१७	द्रष्ट्रस्ययोः संयोगां हेयहेतुः	१७८		प्रति ष्टायां तत्संनिधौ वैर-	
	प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्र-		त्याग:	1	२९८
10	यास्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।	१८५	३६ सत्यर्श	तेष्ठायां क्रि <mark>याफलाश्रयत्वम्</mark> ।	२९८
۶Q	विशेवाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि	,,,	३७ अस्तेयः	प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।	२९९
` `	गुरापकीणि।	१९५	३८ ब्रह्मचर	प्रितिष्ठायां वीर्यलाभः।	२९९
20	द्रष्टा हशिमात्रः शुद्धाऽपि		३९ अपरिष्	ाहरथैर्ये जन्मकथन्तासं बोधः।	२९९
•	प्रत्ययानुपरयः ।	२१०	४० शौचा	खाङ्गजु गुप्सा परै रसंसर्गः ।	३००
२१	तद्ये एव दृश्यस्यात्मा ।	२१८	४१ सत्त्वशु	द्विसौमनस्यैकाम् येन्द्रिय-	
	कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्य-		जयात्म	दशेनयांग्यत्वानि च ।	,३००
	साधारणत्वात्।	२२०		दनुत्तमसुखलाभः ।	३०१
२३	स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलिधः		४३ कायेन्	रयसिद्धिः,श्चंद्वित्तयात्तपसः ।	३०१
	हेतुः संयोगः।	२२१	४४ खाध्या	यादिष्टदेवसासंप्रयोगः।	३०१
ર્	तस्य हेतुरविद्या।	२२८	४५ समाधि	ासिद्धिरीश्व रैंत्रशिधानात् ।	३०२
રંપ	तदभावासंयोगाभावो हानं तद्-		४६ स्थिरसुर		३०२
	दृशेः कैवल्यम् ।	२३१		थिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्याम्।	३२२
२६	विवेकख्यातिरविष्लवा हानोपायः।	२३२		न्द्रानभिषा्षः ।	३२४
₹७	तस्य ५प्रधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ।	२३५		विशास#धासबो-	
२८	योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिचये ज्ञान-			व्हेदः प्राग्णायामः ।	३२४
	दीप्तिराविवेकस्यातः ।	२३६		यन्तरस्तम्भृष्ठत्तिर्देशकाल-	
२९	यमनियमासनप्रागायाम-			भः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।	३२४
	प्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो-		५१ बाह्याञ्	पन्तरविषयाचेषी चतुर्थ:।	३३७
	<u>ऽष्टावङ्गा</u> नि ।	२३७		यितं प्रकाशावरणम् ।	३३९
३०	श्र हिसासत्यास्तेयब्रह्मचर्या-			सु च योग्यता मनसः।	३४०
	परिष्रहा यमाः ।	२४५		पासंत्रयोगे चित्तस्वरूपानु-	
३ १	जातिद्शकालसमयानविच्छनाः			वैन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।	३४०
	सावभीमा महाव्रतम्।	२४९	५५ ततः प	(मा वश्यतेन्द्रियाग्गाम्।	३४१
	शौचसन्तोषत्तः स्त्राध्यायश्चर-			ातञ्जले योगशास्त्रे साधमनिर्दे	स्रो
	प्रशिक्षांचानि नियमाः ।	२६३	ना	म द्वितीयः पादः ॥ २ ॥	
			_		

		व्य			£8
	अथ विभूतिपादः	.	२१	कायरूपसंयमात्तद्गाद्यशरिक् सन्थे	
8	देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।	३६५		चक्षुःप्रकाशसंप्रयोगेऽन्तर्धानम् ।	४१४
२	तत्र प्रत्ययेकतानता ध्यानम् ।	३६५	२२	सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म	
3	तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्य-			तत्संयमाद्परान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ।	४१४
•	मिव समाधिः।	३६६		मैत्र्यादिषु बलानि ।	४१५
8	त्रयमेकत्र संयमः।	३६८		बलेषु हस्तिबलादीनि ।	४१६
ષ	तज्जयात्प्रज्ञालोकः ।	३६८	२५	प्रवृत्त्यालोकन्यासात्सूक्ष्मभ्यवहित-	
Ę	तस्य भूमिषु विनियोगः।	३६८		विश्रष्टशानम् ।	४१६
	त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।	३७३		भुवनज्ञानं सूर्यं संयमात्।	४१६
6	तदपि बहिरङ्गं निर्वीजस्य ।	३७३		चन्द्रे ताराब्यूह्ज्ञानम् ।	४२३
ዓ	व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभव-	1		ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।	४२४
	प्रादुर्भावौ निरोधत्तरणित्तरान्वयो			नाभिचक कायव्यूह्झानम	४ २४
	निरोधपरिग्णामः ।	३७५		करठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ।	४२५
१०	तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।	३७७		कूमेनाड्यां स्थैयेम्।	४२५
	सर्वार्थतैकामतयोः चयोदयौ			मूर्मज्योतिषि सिद्धदर्शनम ।	४२५
	चित्तस्य समाधिपरिणामः।	३७७		प्रातिभाद्वा सर्वम्।	५२६
१२	ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ			हृदये चित्तासंवित्।	४२६
	चित्तस्यैकाप्रताप्रीरणामः।	३७८	३५	सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकी ग्रेयोः	
१ ३	एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मेलच्चणा-			प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थान्य-	
	वस्थापरिगामा व्याख्याताः।	३७९		स्वाथेसंयमात्युरुषज्ञानम् ।	४२६
१४	शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती		३६	ततः प्रातिभश्रावग्ववेदनादशाः-	
	धर्मी ।	३९२		स्वादवातो जायन्ते ।	४२८
१५	क्रमान्यत्वं परिगामान्यत्वे हेतुः।	३९९		ते समाधातुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः	३२९
१६	परिणामत्रयसंयमादतीतानागत-	1	३८	बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचार-	
	ज्ञानम् ।	४०१		संवेदनाम चित्तस्य परशरीरावेशः।	४२९
१७	शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराभ्यासान्	.	३९	उदानजयाज्ञलपङ्कराटकाद्य-	
	संकरस्तस्त्रविभागसंयमात्सर्वभूतः			सङ्ग उत्कान्छ।	४३०
	रतज्ञानम् ।	४०१		समानजया ञ्चलमम ्।	४३७
१८	संस्कारसाचारकरणात्पूर्वजाति-		88	श्रीत्राकाशयोः संबन्धक्रंबमाहिन्यं	
	ज्ञानम्।	888		श्रोत्रम्।	४३७
	प्रत्ययस्य परिचशक्कानम्।	४१२	४२	कायाकाम्स्योः संबन्धवंत्रमाहसु-	
२०	न च तत्सालम्बनं तस्याविषयी-	•		त्लसमापचेद्याकाशगमान्।	४३८
	भूतत्वात्।	४१३;	४३	बहिरकस्मिता इतिर्मक्षांबहेश तक	•
			•		

		A8			AB
	प्रकाशावरगाज्ञयः ।	४३८	4	प्रवृत्तिमेदे प्रयोजकं चित्तमेक-	
ጸጸ	स्थूलखरूपसूक्ष्मान्वयार्थवस्व-			मनेकेषाम् ।	४६२
	संयमाद्भूतजयः ।	४३९	Ę	तत्र ध्यानजमनाशयम् ।	४६२
४५	ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः काय-		હ	कमोञ्जाकलकृष्णं योगिनश्चिविध-	
	संपत्तद्धमोनभिघातश्च ।	४४२		मितरेषाम् ।	४६२
४६	रूपलावग्यबलवज्रसंइननस्वानि		6	ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभि-	
	कायसंपत् ।	४४३		व्यक्तिर्वासनानाम् ।	४६३
४७	प्रहणुखरूपास्मितान्वयार्थवस्व-		٩	जातिदेशकालम्यवहितानामप्यान-	
	संयमादिन्द्रियजयः ।	888		न्तर्ये स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ।	
४८	ततो महाजवित्वं विकरणभावः			तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्	४६४
	प्रधानजयश्च	४४५	११	हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वा-	
४९	सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य			देषामभावे तदभावः।	४७०
	स्वभावाधिष्ठारुखं सवैज्ञारुखं च।	४४६	१२	श्रतीतानागतं स्वरूपतोऽस्यभ्यः	
५०	त्रद्वेराग्यादपि दोषबीजत्त्रये			भेदाद्धमाणोव्।	४७२
	केवल्यम् ।	४४८	१३	ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणास्मानः ।	४७३
५१	स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं		१४	परिगामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम् ।	४७४
	पुनरनिष्टभसङ्गात् ।	४४९		वस्तुसाम्यं चित्तभेवात्त्रयोर्विभक्तःपंथ	ाः ४७५
५२	च्चणस्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं		१६	न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तद्गमाण्कं	
	मानम्।	४५०		तदा किं स्थात्।	४७७
पर	जातिलच्चणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुस्ययोस्ततः अतिपत्तिः ।	134. 0	१७	तदुपरागापेत्तिस्वाचित्तस्य वस्तु	
,, 13	तुस्ययास्तरः अतिपात्तः । तारकं सर्वेविषयं सर्वेथाविषयमक्रमं	४५१		ज्ञाताज्ञातम् ।	১ ৬४
48	तारक स्वावपय सवयाविषयमकम चेति विवेकजं ज्ञानम्।	४५२	१८	सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयसाध्यभोः	
L L	सत्त्वपुरुषयोःशुद्धिसाम्यं कैवल्यम् ।			पुरुषस्यापरिगामित्वात् ।	४७९
				न तस्वाभासं दृश्यत्वात् ।	४८०
•	हित भीपातअछे योगशाचे विभूतिनिर्देश	Ħŧ		प्रकसमये चोभयानवधारणम्।	४८१
	नाम तृतीयः पादः ॥ ३ ॥		२ १	चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरितशसङ्गः	
	•	1		स्पृतिसंकरम् ।	४८२
	अथ केंद्रस्पवादः		२२	चितरप्रतिसक्रमायास्तदाकारायसी	
	जन्मीपधिमन्त्रतपःसमाधिजा सिद्धर			स्तबुद्धसंबेदनम् ।	863
	जात्यन्तरपरिगामः प्रकृत्यापूरात् ।	४५६		द्रष्ट्रहरयोपरकं चित्तं सर्वार्थम् ।	858
3	निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां		48	तद्संस्यववासनाभिश्चित्रमपि	
	वरण्भेदस्तु ततः सेत्रिकवत्।	846		परार्थ र हत्वकारित्वात् ।	४९०
8	निर्माण्यस्मितामात्राह् ।	848	२५	विशेषदक्षिन चात्मभावभावना-	

परिशिष्ट १]	मूल सूत्र	[पातः खलवागश्रद्याप
	58	. 18
विनिवृत्तिः । २६ तदा विवेकन्मिनं कैवल्यप्राग्भारं	866	३१ तदा सर्वावरणमलापेतस्य झानस्या- नन्त्याः झेयमल्पम् । ४९५ ३२ ततः कृतार्थानां परिणमाक्रम-
चित्तम्। २७ तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारे	४९२ भ्यः ४९३	समाप्तिग्रेणानाम् ४९६ ३३ च्रणप्रतियोगी परिणामपरान्त-
२८ हानमेषां बलेशवदुक्तम् । २९ प्रसंख्यानेऽप्यकुर्सादस्य सर्वथा	४९३	निर्माद्यः क्रमः ४९८ ३४ पुरुषार्थेशून्यानां गुणानां प्रति
विवेकख्यातधेमेमेघः समाधिः । ३० ततः क्लेशकमेनिवृत्तिः ।	૪९૪ ૪९૪	प्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिद्यक्तिरिति । ४९९
	- 4	C

(पातश्वलयागश्रहाप

वर्णानुऋमसूत्रसूची

	वस्व समास सांख्य सूत्र		1	पातझलयोग सूत्र		
		व्रष्ट				ab.
	` a			भ		
8	ध्यथातस्तरवसमासः।	८०	१२	श्रतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्य-		
•	श्रभ्यात्ममधिभूतमधिदैवं च ।	९५		ध्वभेदाद्धर्माणाम् ।	ጸ	४७१
१७	श्रनुप्रदः सर्गः ।	१०१		श्रथ योगानुशासनम् ।	ę	*
ą	अष्टी प्रकृतयः।	८१	4	श्रनित्याशुचिदुःखानोःमसु		
\$ \$	अष्ट विंशतिधाऽशक्तिः।	९७		नियत्युचिमुखाःमख्याति-		
१५	ष्प्रष्ट्या सिद्धिः ।	९९		रविद्या ।	२	१६३
	ý		88	च नुभृतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः	ę	३२
२२	पतत् सम्यग् ज्ञात्वा कृत्यकृत्य-			श्रपरिप्रहस्थैयें जन्मकथन्तासं-		
	स्यात्। न पुनिस्निविधेन दुःखेना-	a . c		बोधः ।	२	२९९
	भिभूयते ।	१०६	80	अभावप्रत्ययालम्बना वृत्ति-		
9,	चतुर्देशविधो भूतसर्गः।	१०२		निंद्रा ।	8	२९
	त	,-,	१२	श्रभ्यासत्रैराग्याभ्यां तन्निरोधः	8	ંર૪
	त्रिविधो बन्धः।	१०५		श्रविद्यास्मितारागद्वेषाभिनि-		
	त्रिविधो मोचः।	१०५		वेशाः क्लेशाः ।	२	१५८
	त्रिविधं प्रमाणम्।	१०६	8	श्रविद्या चेत्रमुत्तरेषां श्रमुप्ततनु-		
4	त्रेगुगयम् ।	८९		विच्छिन्नोदाराणाम्।	२	१५९
o c	दश मौलिकार्थाः	१००	30	श्चस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्था-		
4	व्या नाराकाचाः व	100		नम् ।	२	२९९
18	नवधा तुष्टिः।	९८	३५	ब्रहिसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधी		
	Ф.	८२		वैरत्यागः ।	2	२९०
8	पु रुषः ।	९५	३०	श्रहिंसासत्यास्तेयमद्याचर्याप-		
	पंचाभिबुद्धयः । पंच रग्योनयः ।	68.	'	रिप्रहा यमाः ।	२	ર ४५
	पेष दायवः। पेष वायवः।	59 9§		ŧ		
-	वंश्व कर्मात्मानः।	34	२३	ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।	8	६८
	पंचपर्वा अविद्या ।	90		उ	_	
"	स	10		चदानजयाञ्चलपङ्कराटका-	3	
Ę	संचरः प्रतिसंचरः।	93		दिष्यसङ्ग चक्रांन्तिश्च।		४३०
	Description 1	42		म् सम्बद्धारा सम्बद्धाः ।	8	116
₹	पोडश विकाराः।	८२		ऋतम्भरा बन्न प्रज्ञा ।	١	140
		-				

पातः अलयोगप्रदीप]	वसानु	क्रमसूत्रसूपा		
पा०	gg	पा०		18
q		२१ चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरति-		
२० एकसमय चोभयाववधारणम् ४	४८१	प्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च । ४	8	८२
४४ एतयेव सविचारा निर्विचारा	1	ज		
च सूक्ष्मविषया व्याख्याता । १	१३३	१ जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः		
१३ एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्तगा-		सिद्धयः ।		४५५
वस्थापरिगामा व्याख्याताः। ३	३७९	९ जातिदेशकालव्यवहितानाम-		
क		प्यानन्तर्ये स्मृतिसंस्कारयोरेक-		
३० कराठकूपे श्लुत्पिपासानिवृत्तिः । ३	४२५	रूपत्वात ।	3 '	४६४
७ कमोशुक्लाकृष्णं योगिनस्ति-		३१ जातिदेशकालसमयानविष्ठ-		
विधमितरेषाम्। ४	४६२	न्नाः सावेभीमा महाव्रतम्।	२	२४९
२१ कायरूपस्यमात्तद्रमाह्यश्र्ति-		५३ जातिलचगादेशीरन्यतानवच्छ-		
स्तम्भे चक्षुःप्रकाशासंप्रयोगेऽः	1	दाम तल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ।	ą	४५१
स्तम्भ पञ्चात्रकारायम्यायः न्तर्धानम् । ३	888	२ जात्यन्तरपरिग्णामः प्रकृत्या-		
४२ कायाकाशयोः संबन्धसंयमा-		पूरात् ।	8	४५६
ह्युतूलसमापत्तेश्राकाशगम-		स		
स्युत्वसमाम्यव्याकारमञ	३ ४३८	२७ तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि सं-		
नम् । ४३ कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धित्तयात्त-	` • •	स्कारेभ्यः	8	४९२
	२ ३०१	२८ तज्जपस्तदर्थभावनम् ।	8	८१
471.1	३ ४२५	५० तज्ञः संस्कारा ऽन्यसंस्कारप्र		7
२२ कृतार्थ प्रति नष्टमप्यनष्टं तदः		तिबन्धी ।	8	१४०
२२ कृताय त्रात महस्त्रपाट तर न्यसाधारणत्वान् ।	२ २२०	५ तज्जयात्प्रज्ञालाकः।	३	३६८
१५ क्रमान्यत्वं परिगामान्यत्वे		४५ ततोऽशिमादिप्रादुभावः काय-		
	३ ३९९	संपत्तद्धमोनभिघातश्च ।	4	४४२
हेतुः । २४ क्लेशकर्मविपाक।शयैरपरा-	` ` ` ` ` ` `	४८ ततो द्रन्द्रानभिघातः।	२	३२४
मृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।	१ ६९	४८ ततो मनोजवित्वं विकरण-		
मृष्टः पुरुषावराष इत्यरः । १२ क्लेशमूलः कमाशयो दृष्टादः	, ,,	भाव: प्रधानजयश्र ।	ર	४४५
१२ क्लशमूलः कमासया ६८०८ ष्टजन्मवेदनीयः	२ १६९	३२ ततः कृतार्थानां परिगामक्रमः		
ष्ठजान्सवयुगायः	, ,,,,	समाप्तिग्रेणानाम् ।	8	४९६
ग ४७ प्रह्रण्खरूपास्मितान्वयार्थेव-		३० ततः क्लेशकमेनिवृत्तिः।	8	
४७ भ्रह्णसम्बद्धारमधान्ययायम् स्वसंयमादिन्द्रियजयः ।	३ ४४४	५ २ ततः जीयते प्रकाशावरणम्	२	
स्वरायमा।पान्प्रयायः ।	, ,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,	५५ ततः परमा वश्यतन्द्रियाणाम	^{र्}	३४१
२७ चन्द्रे ताराव्यृहज्ञानम्।	३ ४२ ३	१२ तत: पन: शान्तादिती तुल्य	-	
२२ चितरप्रतिसंक्रमायास्तदाका-	• - •	प्रत्ययो चित्तस्यैकामतः		
रापत्ती खबुद्धिसंवैदनम्।	8 86		3	1 39
41111 radiations	-	प१३		

पा	, ه	18		ч	10	48
२९ ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्य-			a	र्गितिविच्छेदः प्रागायामः ।	२	३२४
न्तरायाभावश्च। १	١,	20	१० र	तस्य प्रशान्तवाहिता संस्का-		
३६ ततः प्रातिभश्रावण्वेदनादर्शा-			1	तत् ।	३	३७७
स्त्रादवार्ता जायन्ते ।	ર ક	२८	६३	तस्य भूमिषु विनियोगः।	₹	३६८
१६ तत्यरं पुरुषख्यातग्रेणवैतृष्ययम्।				तस्य वाचकः प्रग्वः।	१	હ્ય
३२ तरप्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः। १	۱ ۱	38	२७ व	तस्य सप्तधा शान्तभूमिः श्रज्ञा ।	२	२३५
२ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।	६ ३			तस्य हेतुरविद्या ।	२	२२८
	3 8	६२	५१ र	तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधा-		
२५ तत्र निरतिश्यं सर्वज्ञबीजम्।	γ ,	ક્ક	f	न्नेबीजः समाधिः ।	8	१४१
४२ तत्र शब्दार्थज्ञानिवकल्पैः				ता एव सबीजः समाधिः।	१	१३६
संकीर्गा सवितको समापत्तिः। १				तीत्रसंवेगानामासन्नः ।	8	६७
१३ तत्र स्थिती यक्षोऽभ्यासः।	₹ :	३५		तारकं सर्वेवषयं सर्वेथाविषय-		
८ ततस्तद्विपाकानुगुरानामेवा-				मक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम ।	3	४५२
भिन्यक्तिवोसनानाम् । ४	ક ક	६३	१०ः	तासामनादित्वं चाशिषो		
	३ ३	હરે ∣	1	नित्यत्वात् ।	8	४६४
२५ तदभावात्संयोगाभावो हानं			१०	ते प्रतिप्रस वहेयाः सूक्ष्माः ।	२	१६७
		38	१४	ते ह्वादपरितापफलाः पुराया-		
** *** ***	२ २	१८	!	पुगयहेतुत्वात् ।	२	१७४
२४ तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि				ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ।	8	४७३
	8 8	80	३७	ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने		
	१	१७		सिद्धयः ।	3	४२९
२६ तदा विवेकनिम्नं कैवल्य-				त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।	३	३७३
	8 8	९२	8	त्रयमेकत्र संयमः।	₹	३६८
३१ तदा सर्वावरणमलापेतस्य		1		द		
	8 8	84		दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्व-		
१७ तदुपरागापेत्रित्वात्रित्तस्य वस्तु				श्वासप्रश्वासा विच्नेपसह्युवः	18	१९०
	8 8	100		दुःखानुशयी द्वेषः ।	२	१६५
३ तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूप-			Ę	हग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवा-		
शून्यमिव समाधिः।	३ :	156		स्मिता।	२	१६४
५० तुद्दैराग्यादपि दोषबीजन्तये			१५	दृष्टानुश्रविकविष्यविरु ष्ण्स्य		
केवल्यम्।	₹ 8	१४७	1	वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।	१	३७
१ तपःखाभ्यायेश्वरप्रशिधानानि				देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।	4	३६५
क्रियायोगः ।	२ :	१५१	२०	द्रष्टा रशिमात्रः शुद्धोऽपि		
४९ तस्मिन्सति भासप्रभासयो-		ı	ı	प्रत्ययानुपरयः ।	२	२१०

	पा०	58	पा० पृ ष्ठ
१७ द्रष्ट्रहरययोःसंयोगी हेयहेतुः	12	१७८	१८ प्रकाशकियास्थितिशीलं भूते-
२३ द्रष्ट्रहरयोपरक्तं चित्तं सर्वो-			न्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं .
र्थर्म् ।	8	858	दृश्यम्। २ १८५
4			३४ प्रच्छईनविधारगाभ्यां वा प्रा-
५३ धारगासु च योग्यता मनस	:। २	३४०	सस्य। १९७
११ भ्यानहेयास्तद्वृत्तयः।	ર	१६८	१९ प्रत्यवस्य परचित्तक्कानम् । 👂
२८ ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ।	3	४२४	७ प्रत्यज्ञानुमानागमाः प्रमाणा-
न		Ý	नि। १२०
२० न च तत्सालम्बनं तस्या	à-		६ प्रमाण्विपर्ययविकल्पनिद्रास्पृ-
षयीभूतत्वात्।	์	४१३	तयः। १ २०
१६ न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तद-	•	- • •	४७ प्रयक्षरौथिल्यानन्त्यसमापत्ति-
प्रमाणकं तदा कि स्थात ।	8	8/૭૫૭	भ्याम्। २ ३२२
१९ न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ।	8	४८०	५ प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेक-
२९ नाभिचक्रे कायव्युहज्ञानम	1 3	४२४	मनेकेषाम्। ४ ४५७
३ निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां			२५ प्रशृत्यालोकन्यासात्सृक्ष्मव्य-
वरणभेदस्तु ततः चेत्रिकवः	118	४५७	वहितवित्रकृष्टकानम। ३ ४१६
४ निर्माणिच वान्यस्मितामात्र		४५९	२९ प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा
४७ निर्विचारवैशारघेऽध्यात्मप्र	i- `		विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समा-
सादः।	१	१३८	घि:। ૪ ૪९૪
Tr.			३३ प्रातिभाद्वा सर्वम्। ३ ४१६
/ _ ·			•
४० परमाणुपरममहस्वान्तोऽस	. न १	१२९	३८ बन्धकारणशैथिल्यासमार-
वशीकारः।		111	संवेदनाश चित्तस्य परशरीरा-
१५ परिग्णामतापसंस्कारदुःखैर् वृत्तिविरोधाच दुःखमेव स			वेशः। ३ ४२९
वृत्तावराधाच दुःखमन स विवेकिनः।	^{।प}	१७६	२४ बलेषु इस्तिबलादीनि । ३ ४१६
।ववाकनः। १६ परिग्णामत्रयसंयमादतीताः		104	४३ बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा
गतज्ञानम ।	اار غ	४०१	ततः प्रकाशावरणाचयः । १ ४३८
गतमानम् । १४ परिगामैकत्वाद्वस्तृतस्वम्।	•	४७४	
३४ पुरुषार्थशून्यानां गुणानां १		0.00	र्थः। २ ३३७
प्रस्तः कैवस्यं स्वरूपप्रतिष्ठ			५० बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देश-
वितशक्तिरिति ।	8	४९९	
२६ पूर्वेशमपि गुरुः कालेनान		~ 1 1	स्हमः। २ ३२:
च्छेदात्	.u- 1	ىرى	20 . 02
-01.51.5	,		1 10 100 1000 00 00 00 00 00 00 00 00 00

	c	ग०	£8		पा	0	S.A.
	भ			6	विपर्ययो मिध्याज्ञानमसद्र्पप्र-		
१९	भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलया-				तिष्ठम्। '	?	२५
	नाम ।	8	4ફ	१८	विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्का-		
₹	भुवनज्ञानं सूर्यं संयमात्।	3	४१६		रशेषोऽन्यः ।	8	80
	.			२६	विवेकख्यातिरविष्तवा हानो-		
३२	मूर्घज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।	3	४२५			२	२३२
	मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि			२५	विशेषदर्शिन आत्मभावभाव-		
	विशेषः।	१	६८		नाविनिवृत्तः ।	8	४९१
33	मैत्रीकरुणामुदितोपेदाणां			१९	विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गा-		
	सुखदु:खपुरायापुरायविषया एां				नि गुग्पवीगि ।	२	१९५
	भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।	8	६८			8	१२५
२३	मैत्र्यादिषु बलानि ।	3	४१५	३५	विषयवती वा प्रवृत्तिरूत्यना		
	य				मनसः स्थितिनिबन्धनी ।	?	१२३
३९	यथाभिमतध्यानाद्वा ।	१	१२	३७	वीतरागविषयं वा चित्तम्।	8	१२७
२९	यमनियमासनप्रागायाम-			વ	वृत्तयः पश्चतय्यःक्षिष्टाक्षिष्टाः ।	₹	. १९
	प्रत्याहारधारणाध्यानसमाध-			8	वृत्तिसारूप्यमितत्र ।	P	१८
	योऽष्टावङ्गानि ।	२	२३७	३०	व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्या-		
२	योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।	ę	९५		विरतिभ्रान्तिदरीनालब्धभूमि-		
२८	योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धित्तये ज्ञा-				कत्वानवस्थितत्वानि चित्त-		
	नदीप्तिराविवेकख्याते :।	२	२३६			१	८९
	₹			ዓ	न्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभव		
४६	रूपलावएयबलवक्रसंहननत्वा-				प्रादुर्भावी निरोधचणचित्तान्वयं	Ì	
	नि कायसंपत् ।	३	४४३		निरोधपरिग्णमः	₹	३७५
	व				হা		
१५	वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोविं-			९	शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो		
	भक्तःपन्थाः ।	8	४७५		विकल्पः ।	8	२७
३३	वितक्षेवाधनं प्रतिपद्मभावनम्।	२	२९५	१७	शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यास	ान्	
	वितक् विचारानन्दास्मितानुग-				संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूत	•	
	मात् संप्रज्ञातः।	ę	80			3	४०२
३४	वितकां हिसादयः कृतकारिता-			68	शान्तोदिताञ्यपदेश्यधर्मानुपाती		
	नुमोदिता लोभक्रोधमोइपूर्व-					२	३९२
	का मृदुमध्याधिमात्रा दुःखा-			३२	शौचसन्तोषतपः खाध्यायेश्वर-		
	ज्ञानानन्तफला इति प्रतिपद्म-					2	२६३
	भावनम् ।	२	२९६	So	शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः	١٦	३००
				9.0			

2 2 2 2	पा०	র্মন্ত	्पा० प्रश
२० श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वे		VP	२२ सोपक्रमं निरुपक्रमं च कमे तत्संग्रमाद-
इतरेषाम्।	१	ĘϤ	परान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा । ३ ४१४
४९ श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया			१८ संस्कारसाचात्करणात्पूर्वजाति-
विशेषार्थत्वात् ।	१	१३९	ज्ञानप्। ३ ४१२
४१ श्रोत्राकाशयोः संबन्धसंयमाहिय	व्यं		४३ स्पृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवाथे-
श्रोत्रम् ।	3	४३७	म।त्रनिभीसा निवितकी १ १३२
` स			५१ स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं
" १३ सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भी		9.00	पुनरनिष्टप्रसङ्गात्। ३ ४४९
(२ सातमूल ताढपाका जात्यायुमाः १४ स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसस्कारा-		, 100	४६ स्थिरसुखमासनम्। २ ३०२
९४ स तु दाधकालनरन्तयसत्काराः सेवितो दृढभूमिः ।	8	રૂપ	४४ स्थूलखरूपसूक्ष्मान्वयार्थवस्त्व-
सावता दृढभूगि । ३६ सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफ-	۲	२५	संयमाद्भूतजयः। ३ ४३४
रप सत्यत्रातष्ठाचाक्रयाकः लाश्रयत्वम	२	२९८	३८ स्वप्ननिद्रोज्ञानालम्बनं वा। १ १२७
लावयतम् ५५ सत्त्वपुरुषयोःशुद्धिसाम्ये	۲.	410	९ खरसवाही विदुषोऽपि तथारूढो-
२२ सत्त्वपुरुषयाःशुद्धसान्य कैवल्यम् ।	3	४५३	ऽभिनिवेशः। २ १६५
कवरवम्। १५ सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्शयोः	4	074	५४ स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानु-
१२ सरवपुरुषयारत्यन्यासकारायाः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थान्य-			कार इवैन्द्रिया्णां प्रत्याहारः । २ ३४०
त्रत्ययावराया मानः परायान्यः स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम् ।	3	४२६	२३ स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धि-
४९ सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य			हेतुः संयोगः । २ २२१
वाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च ।	3	४४६	४४ स्वाध्यायादिष्टदेवतासंत्रयोगः । २ ३०१
वाविष्ठारस्य समझारस्य प ४१ सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाप्रचेन्द्रिय		884	ξ
ठ ९ सत्पञ्जाञ्जसाममस्यकामयान्त्रय जयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ।	- ર	300	२८ हानमेषां क्लेशबद्धक्तम्। ४ ४९३
१८ सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्त्रभोः	`	400	३४ हृदये चित्तसंवित्। ३ ४२६
पुरुषस्थापरिखामित्वात्।	8	४७८	११ हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वा-
४२ संतोषादनुत्तमसुखलाभः।	۰ ٦	308	देषामभावे तद्भावः। ४ ४५
२ समाधिभावनार्थः क्वेशतन्-	`	7-1	१६ हेयं दुःखमनागतम्। २ १७८
करणार्थश्च ।	२	१५७	क्ष
४५ समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्	•	३०२	५२ च्यातकमयोः संयमाद्विवेकजं
४० समानजयाञ्चलनम्।	``` ```	४३७	ज्ञानम। ३ ४५
११ सर्वार्थतैकाव्रतयोः चयोदयौ	•		३३ च्राणप्रतियोगी परिग्णामापरान्त-
चित्तस्य समाधिपरिग्णामः।	3	રેજ્જ	निर्मोद्याः कमः। ४ ४९०
७ सुखानुशयी रागः।	ર	१६५	४१ चीरावृत्तेरभिजातस्येव मरोर्भेहीरः-
४५ सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्य-	•	• • •	प्रह्माप्राह्मेषु तत्थतद जनता
वसानम् ।	ર	१३५	समापत्तिः। ११२
Aming 1	•		१७

शब्दानुक्रमणी

		A8			48
	षड्दशेनसमन	ष्य		अवयव	49 .
	8:			श्रवत्ते पण	48
	अ प्रि	28		अविद्या	९७, १२८
	च णु ्	48		अशक्ति	९७
-	अकरित्व	१००-१०१		श्रस्तित्व	१००-१०१
_	च्यत्यन्ताभाव •	५५		असम्प्रज्ञातसमाधि	-
	अथवेवेद	8		श्रस्मिता	80
Ę	श्रद्वेत सिद्धान्त १२-१४		३४	अहङ्कार	९७-८८, १०८
	विशिष्टा देत सिद्धान्त	२९-३०		आ	
	शुद्ध देत सिद्धान्त	ર	8	थाका श	४९
	बंदष्ट	. \$8	-	आकुष्यन कर्म	48
	च्यमं 	५ ૪ १ १		चागम प्रमाण	५८, १०६
	अधिकरण	49		आत्म तस्व	,,,,,,,
	अधिकरण सिद्धान्त	94		आत्मा (शुद्ध चेतन-स	
	अधिदेव (सृष्टि)			आत्रेय	22
	अधिभूत (सृष्टि)	94 94		आधिदैविक	ર, ૧ેં
	चाध्यात्म (सृष्टि)			आध्यात्मक	ع، وط ره ي
48	अध्यास (जो वास्तव मे			आरम्भिक खपादान ।	हार् स ६५
	किन्तु अज्ञान से मा			बाश्मरध्य	22
94	भारोपित) भनुमान-प्रमाण	१४ ५७		ब्रा सुरि	२२, ७७
	अन्तःकरण	८३, ८४, १२७	••	•	(1, 00
	भन्यता	१००, १०१		₹	
-	अन्योन्याभाव	વલ		इच्छा	4રૂ
-	अपरत्व	ષર (इन्द्रियां	49, ८७, १०८
	अपवर्ग	६२		इन्द्रियें (कर्म)	९७
-	अपान	९६	8	इन्द्रियें (ज्ञान)	६२, ९६
	ष्मभ्युपगम सिद्धान्त	89		ફે	
	श्रभाव पदार्थ	વ વ	8	ईश्वर (पुरुष विशेष,	डाबल चेतन तस्त्र
	ष्मभिनिवेश	१२९	•	समष्टि रूप)	
	પ્રશ્	६२	ą	ईश्वरवाद (सांख्य)	११८-१ २३
	अर्थवत्	१००-१०१	3	ईश्वरवाद (पूर्व मीम	१.८. ८
•••		49		A -1312 1 Ka ala	

शब्दानुक्रमणी

•			
	38		₫8
3	-	कर्भ	૪७, ५૪
१ उत्तर मीमांसा (वेदान्त-दर्श	त. ब्रह्मसूत्र)	कारख	६५
१ ब्रस्तर मानाचा (नदान दर	१०-४६	कास्य कर्म	8
	48	काल	४७, ४९
२ उत्सेपण कर्म	९६, ९७	८ कालातीत हेर	वाभास ६०
३ उदान	ί , ξο	९ काशकृत्सन	२२
४ उपचार छल	દ્દેર	१० कादगाजिन	२२
५ उपलब्धि	49	११ कार्य	६५
६ उदाहरण	49	१२	१३२, १३३, १३५
७ उपनय		१ २	१२८, १२९
८ उपनिषद् (वेदमन्त्रों के	न्द्रश चित्र में	**	ग
विचारों को द्शोने वाले	त्रस्या । जारा प	१ गन्ध	40
मुख्य ग्यारह हैं - ईश, के	न, ५००, नम, जैस सेवरेस	र गन्य २ गमन कर्म	48
मुगडक, मागडूक्य, तैत्ति	रीय, एतरप,	२ गमन कर ३ गुरा	५०, ८९, १०९, ११०
छान्दोग्य, बृहदारएयक	પ્રાય અલાઝલ ય શ	२ गुरा ४ गुदा	را الله الله الله الله الله الله الله ال
उ पनिषद्)		५ गुरुख	५२
९ उपमान प्रमाण	५८, १०६	६ गौतम	80
१० डपलन्नग	१६	4 .114.1	ष
११ उपस्थ	८१	CTITIT	४९, ८१
१२ उपादान कारण	३३, ६५	वाण	
	_	चतुः सूत्री	१५, ९२, १२८
१ ऋग्वेद	१	चतुः सूत्रः चित्त	२६, ८१, ८८, १२५, १२६,
२ ऋषि (वेदमन्त्रों के द्रष्ट	y (1	144	१३४
प्		चित्तवृत्ति	१२४, १२७
१ एकत्व	१ ००, १०१	वित्तपुरित	(श्रात्मा, परमात्मा) २,
भौ	0.	पत्त तथ	१७, २५, ८२, १०७
१ श्रौडुलोमि श्राचार्य	९, २२		
毒		. •	· 1 1
१ कशाद	४७	१ छन्द् (ली	किक और वैदिक शब्दों को
э கரென	२२, ७६, ७७		हरने, पाद, यति और विराम
३ स्ट्रा (स्वाधानायन, ह	गपस्तम्ब, बोधा-		व्यवस्था करने में उपयोगी है) व
गान ज्योग कात्यायन प	ब्राह् ऋषिया क	1 80	६०
स्थाने भीत सत्र ग्रह	सित्र, घमसूत्र र		
जिन में याग के प्रयोग	मन्त्रों के विनि		(प्रकृति, माया, गुर्गो का
योगकी विधि है)	" ₹	साम्य तथ	विषम परिग्राम) २,८०,
થાન જાાવાય જ		५१९	

104811 (11.41)	
d8	प्रश
२ जनक २२	३३, ३४
३ जल ४८, ४९, ८९	१३ द्वैताद्वेत सिद्धान्त ३२
४ जल्प ५९	ধ
५ जामत भवस्था १३४	१ धर्म ४८, ५०, ५४
६ जाति ६१	२ धर्म (मूल) १००
७ जीव (पुरुष = शबल चेतन तस्व	३ धर्मी ४८
व्यष्टि रूप) २, २५, ८३, ८५	४ धारणा १३१
८ जनक २२	५ भ्यान १३१
९ जैगीषव्य श्राचार्य २२	न
१० जैमिनि ५, ९, २२	१ निगमन ५९
११ ज्योतिष (यज्ञादि अनुष्ठान के काल-	२ निप्रह्स्थान ६१
विशेष की व्यवस्था करता है) ३	३ नित्य ४९
7	४ निद्रा (वृत्ति) ९५
१ तस्व (सार वस्तु) २,८० २ तमस ८१,१०९	५ निमित्त कारण ६५
_	६ निम्बाकोचार्य ,३२
३ तस्व समास ७७,८०	७ निर्णय ५९
४ तन्मात्रा ८१,८२,१०८ ५ तर्क ५९	८ निरुक्त (पद विभाग, मन्त्र का अर्थ,
• ""	श्रीर देवता के निरूपण द्वारा एक एक
६ तुष्टि ९७, ९८, ९९	पद के सम्भावित और श्रवयवार्थ का
७ त्वचा ४९,८१ द	निश्चय करता है) ३
१ दर्शन (तस्वज्ञान सम्बन्धी शास्त्र) १, ३	९ नित्य कर्म ४
२ दयानन्द सरस्वती २४, ३२	१० निषिद्ध कमें ४
३ दिशा ४८, ४९	११ निरोध १२७, १२८
४ दुःख (अपने विरुद्ध प्रतीत होने वाली	१२ नेत्र ४९, ८१
रजोगुरा से उत्पन्न हुई चित्त की एक	१३ नैमिसिक कर्म ४
प्रुत्तिकानाम दुःखंहै) १,५३,६२	१४ न्याय (प्रमाणों से अर्थ का परीच्चण,
५ दृश्य १२९, १३०	गौतम मुनिका बनाया हुआ द्शेन)
६ दृष्टाम्त ५८	३, ४७, ५६, ६५
७ दोष ६२	प
८ द्वस्य ५० ५२	१ पश्चा भूत ४९
९ द्रव्य ४८	२ पश्च यज्ञ ५
१० द्रष्टा १३०	३ पश्च शिस्ताचार्य २२, ७८
११ द्वेष ५०, ५३, ९७, १२९	४ पदार्थ ४८, ५६
१२ द्वेत सिद्धान्त १२-१४, ३०, ३१,	५ परत्व ५०, ५२
	Ro

ारिशिष्ट ३]	शब्दानुकम्य	ì	[यड्यशंनसभन्त्रं
	88		gg.
		३५ प्रलय श्रवस्था	१३४
६ परमाणुवाद	१२, १६	३६ प्रशृत्ति	६२
७ परमात्म तस्त्र		३७ प्रसारण कर्म	વષ્ઠ
८ परमात्मा (शुद्ध चेतन	तस्य समाठ	३८ प्रज्ञा	१३१
* 4)	२, ८४. १०७	३९ प्रागभाव	५५
९ पराश्रर	२२	४० प्रायश्चित्त कर्म	8
० परार्थे	१००, १०१		९६
११ परार्थानुमान	48	४१ प्राण	मान वस्तु का प्रकट
१२ परिमाण	५१		1
१३ पाद (चौथा भाग, प्रकर्	म्) १०, १२७	होना)	६२
१४ पुरुष (जीव = शबल चे	तन तस्व व्याष्ट	४३ प्रेतमाब	4
(P3	२, ८२	१ फल	६२
१५ पुरुष-विशेष (ईश्वर, श	बल चेतन तस्व		व १०५, ११४
समष्टि रूप)	२, ८३	१ बन्ध	
१६ पुरुष (का बहुत्व)	११२, ११५	२ बुद्धि	५०, ५२, ६२, १२७ १००, ६०१
१७ पूर्ववत् अनुमान प्रमाय	म् ५७	३ बहुत्व	₹ ₹ 0, ₹3,
१८ पृथक्त	५०, ५१	४ बहुभाचाये	41 22
१९ पृथ्वी	४८, ४९, ८१	५ बाद्रायम्	\$?
२० प्रकर्गा (श्रध्याय, वृत्त	॥न्त) १,४,	६ बादरि	
	४७, ७०	७ जाह्मण (वेद	मन्त्रों के ठ्याख्या प्रन्थ
२१ प्रकरणसमहेत्वाभास	६०	इन में से चार	प्रसिद्ध हैं :
२२ अकृति (गुणों का स	सम्य परिगाम,	ऐतरंच ऋग्	का, शतपंथ यज्ञ का,
ं माया)	२, ८१, ८९, १०८	. तारह्य ब्राह्म	ण साम का और गोंपथ
२३ प्रश्व प्रमाण	ં વદ્દ, ૧૦૬	- अथर्वका)	, *
२४ प्रतिहा	49		भ `
२५ प्रतितन्त्र सिद्धान्त	40	१ भावागगेश	.oo.
२६ प्रध्वंसामाव	ધ્યુ		म ं ⊍३०
२७ इमाय	५६, ५८, १८	६ १ मध्वाचाये	•
२८ प्रमाता	4	६ / २ मन	४८, ५२, ६२, ६२७
२८ भगाया २९ प्रमाण-यृति	3	५ ्र महत्तस्य	८१, ८२, १०८
१९ प्रमाण-प्राप ३० प्रमिति	_		<u>}</u>
२० प्रामाव ३१ प्रमेय	५८, ६	२ ५ माया (प्रक्र	ति, गुर्गोका साम्य परि
• •	40,		4 (3) 300
३ : प्रय म		. e imiai si	र्गन (पूर्व मामाना, जीमि
३३ प्रयोजन	. ر امدید میر	३ मान का बन	।।या दुवा व्यक्ति) र क्
्रिश्च प्रश्लब '	· · · · · · · ·	*****	

	ब्रष्ट		gg.	
७ मुनि (मनन शील, वैदों	के अर्थों को	१५ विवेक-ख्याति	१३१	
मनन करके उन के सस्व		१६ विशेष	8C, 48	
वाले)	8	१७ विराट्	१५	
८ मोच	१०५, ११४	१८ विरुद्ध हेत्वाभास	६०	
य			१५, १२४, १२७	
१ यजुर्वेद	१	२० वेद (ईश्वरीय ज्ञान,	_{ध्यवेद,} यजुर्वे द ,	
२ यज्ञ	8-6	सामवेर, श्रथर्व वेर)	8	
🤰 योग (समाधि, पतव्यति मु	निकाबनाया	२१ वेदान्त (उत्तर मीमांसा		
दुषा दर्शन)	३, ७०, १२४	बनाया हुआ दर्शन, उ		
₹			१०	
१ रजोगुः ए	८९, १०९	२२ वेदों के अपंग (शिद्या,		
२ रस	४८, ५०	निरुक्त, छन्द, ज्योतिष)		
३ रसना	४९, ८१	२३ वेदों के उपांग (मीमांसा	वेदान्त, म्याय,	
४ राग	९७, १२९	वैशेषिक, सांख्य, योग)	.	
५ रामानुजाचार्य	स्९	२४ वैशेषिक (पदार्थी के भेदों का बोधक,		
६ रूप	४८, ५०	करणाद मुनि का बनाया हुआ दर्शन) ३,		
6			४७, ६५, ६९	
१ लिङ्ग	40	२५ व्यष्टि (अंश रूप) ७,		
२ लिक्कि	५७	२६ व्याकरण (व्याकरण		
a		प्रत्यय आदि के उपदेश		
१ वाक् छल	६०	और उसके अर्थ के	निश्चय करने में	
२ वाणी	८१	उ पयोगी है)	3	
रे वाद	५९	२७ व्यान	9 8	
४ वीषगग्रयाचार्य	२२, ७८	२८ व्यास मुनि	५, ९, २२	
५ बायु	४८, ८१	२९ व्याप्ति	લહ	
६ विकल्प (वृत्ति)	९५	গ		
 বিস্তবি 	८१, १०७	१ शॅकराचार्य	२३-२९	
८ वित्रस्था	५९	२ शब्द	५०, ५२	
९ विषयेष (वृत्ति)	የ ኅ	३ शरीर	६२	
१० विभाग	५२	४ शबल स्वरूप	१६	
११ विसु	40	५ शिक्ता (शिक्ता का उप		
१२ वियोग	१००, १०१	स्वर और मात्राकों के	बाध कराने में	
१ विक्रान भिक्षः	৩৩	होता है)	ą	
१४ विवर्चनाद	१२	६ हुद्ध चेदन दस्व	OS.	

रिकार १]	इंड्स् नुकर	रणी	[वड्व्शनसमन्वव
	48		48
	१७	२३ सामान्य	48
शुद्ध सहत्	40	२४ सामान्य छल	€o
८ शेषवत् अनुमान प्रमाण	- 1	२५ सामान्यतोदृष्ट म	नमान प्रमाण ५७
९ शेष वृत्तित्व	१००, १०१	२६ सिद्धि	९९, १३१—१
१० श्रोत्र	४९, ८१	२७ सिद्धान्त	46
đ		२८ सुषुप्ति अवस्था	१३४
१ वड दर्शन (मीमांसा, वे	शन्त, न्याय,		પર
वैशेषिक, सांख्य श्रीर योग	जो वेदों के	२९ सुख	९३, १०१, १०८
उपांग कहलाते हैं)	3	३० सृष्टि	८१, १०८
२ षष्टि-तन्त्र	96	३१ स्थूल भूत	86, 48
स		३२ स्पर्श	१३४
	48	३३ स्वप्त	१२७, १२८
१ संख्या		३४ स्वरूपावस्थिति	इतस्य के अविवेक पूर्ण
२ सत्त्वगुण	४९, १०९	३५ स्वरूपास्थात । ज	हो कर पुरुष का अपने
३ समन्वय (मेल, श्रविरोध) १,३०	सयाग स पर	प में स्थित होना) २, १४
४ समवाय	४८, ५५	शुद्ध चतन स्वरू	49
५ समष्टि (पूर्ण रूप) १६	_१ , ८२, ११९ १ ३४	३६ स्त्राथोनुमान	
६ समाधि प्रारम्भ अवस्था		३७ स्पृति (वृत्ति)	પ ર
•	१, १२४, १२७ ९६, ९७	३८ स्तेह	
८ समान	79, 70		₹
९ सम्प्रज्ञात समाधि (ए	ात्रता) १५० 	१ इस्त	6
१० सम्प्रज्ञात समाधि (विवेध	६६याचि) १२० १३१	२ हान (दुःस्व	हा नितान्त अभाव) २,
११ संयम	49	1 8	०, १४, ६३, १०७, ४२५
१२ सर्वतन्त्र सिद्धान्त	49	े ३ माजोवाय (ह	न का साधन) २,१०,
१३ सब्यभिचार हेत्वाभास		94.8 = 800	१२९
10 " "	५१, १८०, १०१		१५, १२७
१५ संशय	40	५ हेत	५९
१६ संस्कार	40, 48	६ केम / स्यावर	।= दुःस) २, १०, ६३,
१७ संहिता (पुस्तक)			१०७, १९७
१८ सांख्य (कांपल मुनि	का बनाया दुअ	ं के हेय हेत (हें	का कारण) २, १०, ६३
दर्शन)	ર, હું, હું	1	१०७, १२९
१९ सांख्य सप्तति	9		4
२० साधारण कारण	Ę	1	2
२१ साध्यसम हेलाभास	Ę	0 9 513	· •
२२ सामवेद		१ १ ज्ञान	
• •		५ २३	

18	48
पातञ्जन्तयोगमदीप	३३ श्ररिष्ठ ४१४, ४१५
. ar	३४ छार्च (बवासीर) ३५९, ३६०
१ महिष्ट १९,२०,२६	३५ अलब्धभूमिकत्व ८९, ९०
े २ श्रक्तमेजयंत्व ९०	३६ धालिङ्ग १३५, १९५२०८
३ बाजीर्गानाशक (ब्रीषधियाँ) ३४९	३७ श्रविरति ८९ ९०
े अहरूजन्मवेदनीय १६९,१७१	३८ अग्रचि १६३
ं भ ऋष्यात्मत्रसाद १३८	३९ श्रहिबनी मुद्रा ३०८
६ धनवस्थितस्य ८९-९०	४० ब्रष्टक गोली (तुस्खा) ३४९
अंश्वनन्त समापत्ति ३२२,३२३	४१ श्वसम्प्रज्ञात समाधि २, ४५. ४७,
८ ब्रानन्त्य समापत्ति ३२२,३२३	४८, ५४, १४२
९ ध्वनात्म १६३	४२ चस्मितानुगत सम्प्रज्ञात ४०,४,४३,
१० अनाहत चक ११२	४५, ५३. १३७
११ अनियत विपाक १७१	४३ ऋस्मिता छेश १५८, १६४
१२ इपनित्य १६३	४४ व्यस्तेय २४५, २४८, २६२. २९९
१३ अनुमान २०-२१, २३-२४	४५ श्रहिसा २४५, २४६, २५० " २५२
१४ अनुमान प्रज्ञा १३९, १४०	र९८
१५ धन्तराय • ८८,८९	४६ श्रहङ्कार १४, १७, ५२, ४२
१६ व्यन्तर्धान ४१४	भा
१७ अन्यता-ख्याति ४६	१ व्याकर्ण धनुषासन ३११
१८ भन्तःकरण चतुष्टय १४	२ ध्याकाशगमन ४३८
१९ बाझमय कोश ४५, ४६, ४७	३ श्रांख के रोग (श्रीपधियाँ) ३६२,३६३
२० व्यपरान्त ज्ञान ४१४, ४१५	४ द्यागम २०, २२, २४
२१ च्यपवर्ग १८७ १९४	५ आदित्य लोक ५४, १४८,
२२ व्यवरिमह २४५, २४८, २६३, २९९	६ आधे सिरका दर्द ३५१
२३ व्यपान १८१, १८२, ४३१	७ झात्मा ५०१५८५
२४ व्यवतार ५४, १४८,	८ चानन्दानुगत सम्प्रज्ञात ् ४०,४२, ४४
२५ इतिशेष १९५२१०	પરં, १२६, १३६
२६ अविद्या १५९१६४, २२८२३२	९ द्यानन्दमय कोश ४५, ४६, ४७
२७ व्यभिनिवेश (ह्रेश) १६५ "१६७	१० ञानन्द भैरों रस (ब्रीषधि) ३४९
२८ व्यभिव्यंजक १७१	११ चाभ्यन्तर वृत्ति ३२४, ३२५
२९ अभ्यास ३४, ३५, ३६	१२ घालस्य ८९
१० चमृतधारा (नुस्ता) ३४८	१३ ब्याशिष ६९, ४६४
३१ खम्ल पित्त नाशक (भौषधि) ३५०	१४ चाशय ६९
३२ बारगडी पाक (ब्योषधि) ३५०	१५ व्यांव नाशक (चौषधियाँ) ३४६

	£8	.0.0	3.8
१६ बासन	३०२३२४	४ एकतरग्रभ्यास	9.9
१७ कासंगी	३३७, ३३८	५ एकन्द्रिय वैराग्य	36
१८ चाजा चक	૧૧૪, ૧૧ ૫	भो	-
१९ बाये सत्य	१७८, २३४	१ बो३म् 🔑	ري وي
१५ मान सर्व		•	
१ इन्द्रिये	१४, ४१	१ कपालभाति (८८, १७०, १७१
	१०२ " १०४	२ कफनाशक (औषधियां)	\$88
:२ इड़ानाड़ी : ई	,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,,	३ कमर के अन्दर के फोड़े	की दवा ३५८
•	६८ " ८८, १५१,	४ कहणा भावना	९५, ९ ६
१ ईश्वरप्रणिधान		५ करोपीड़ासन	३१४, ३२०
	१५२, १६५, ३१०	६ कराउकूप	ેષ્ટરવ
g	U2 - U3 9	७ कम	३९९, ४५०
१ उत्कान्ति	४३०, ४३१	८ कम-मुक्ति	४३६
२ उजाई प्राणायाम	३३१, ३३२	९ कमें	. ६९
३ उड्डीयान बन्ध	३०५	१० कवित्राणायाम	३३२
४ उत्तानपादासन	३१२, ३२०	११ कमोशय	856, 800
५ उत्थित पद्मासन	३१८	१२ काकी प्राशायाम	333
६ उदान १०	१, १८२, ४३०, ४३२	१३ कान का दर्द (क्यीपधि)	
७ उदानजय	४३०, ४३१		२३७
८ खदार (छेश)	२५९	१४ कारण	४६. ४७. ८७
९ इपसर्जन कमोशय	१७१	१५ कारण शरीर	३२५, ३२ ६
१० डपसंहार	१४९, ३४२, ४५३-४,	१६ काल परिदृष्ट	437) 433 8 28
	40	१७ कायञ्यूह्जान	848
११ चपाय प्रत्यय	६५६८	१८ कियायाग	
१२ उपेचा भावना	९५९७	१९ क्रिया-फलाश्रय	२९८
१३ चष्ट्रासन	३१६, ३२०	२० कुक्टासन	386
	S	२१ कुम्भक	३२९, ३३५, ३३६
१ ऊर्ध्वपद्मासन	३१८	२२ कूमासन	386
२ ऊर्ध्वसर्वाङ्गासन	३१३, ३२०	२३ कू भेन। दी	४३६
	ĸ	२४ कुताथं	२२०
१ ऋतम्मरा प्रका	१३८, १३९	२५ कुत्रिमनिद्रा	२८३ ८६
	τ	२६ केबल्य	१६, २३१
१ एकवानवा	364	२७ कैवल्यपाद	४.५
२ एकपादांगुंडासन	३ १९	२८ कांणासन	३२०
	१, ९, १०, १२		84 8 0
३ एकामावस्था	,,,,,,,	1 7	

	88		22
o कोष्ठबद्ध नाशक (स्त्रीषधियां)		३ जानुहित्समन	३११, ३२०
० काष्ठ्रवद्ध नाशक (आयायया)	३४३, ३४४	४ जात्वन्तर परिणाम	४५६
_	१९, २०	५ जालन्धर बन्ध	३०५
.१ क्रिष्ट १२ क्रेका ६९, ७०, १५८, १		६ जीबन-मक्त	१४९
१२ होश ६९, ७०, १५८,	800	७ जुकाम नाशक (भौषधिय) ३४४, ३४५
ख	,,,,	π π	
१ खांसी नाशक (श्रीषधियां)	384	१ तस्त्र १०	५, १०८, १०९
१ स्वासा नाशक (कापायपा)	384	२ तन्मात्राये	१४, ४१
२ खुरकी " ।।	३०६	३ तनु (क्वेश)	१५९
३ खेंचरी मुद्रा	४४६	४ तनुकरण	१५८
४ स्त्र्याति ग	***	५ तमोगुण	१३
१ गठिया नाशक (चौषधियां)	340. 352	६ तप १५२, १५३१५	६, २६३, ३०१
	389	७ तड़ागी मुदा	३०९
२ गरुड।सन ३ गर्भासन	388	८ ताप दु:ख	१७६, १७७
४ गुरा १३, १८४, २२०,		९ ताड़ासन	३१९
५ गुरा १२, १८७, २२०, ५	PioE. Pioro	१० तालयुक्त प्राजायाम	३३०, ३३१
५ गुर्सा-शत-ावराध (दुःख)	१९५२१०	११ तारक	४५१
1 34 4	380	१२ तिह्री	340
गौरशासन	470	१३ तोलांगुलासन	396
/)	११०११५		०, २७९, २८३
1 44 / 14 /	११७११ ९	१५ त्रिवेसी (युत्त)	११४
,	288 388	१६ त्रिवेणी (मुक्त)	११०
३ चकासन	410 348	१७ त्रिबन्धासन	396
४ चन्द्रप्रभावटी (नुस्स्ना)	.१. ४३३ - ४	र्ज ।असम्बाराम	***
1 4. X/11. 1	.९, ४२२ – ४ ३३१	१ दमा-नाशक (स्रोषधियां)	35%. 35%
६ चन्द्रमेशी प्राणायाम		२ दन्त-रोग-नाशक (श्रोष	ani 344.348
	३३७३३९	३ दर्शन-शक्त	? \$;
८ पिति शकि १८	., ४८३, ४९९	४ देशा १७, १८, २१०"	
	४६५४९९	868884	(10,
१० वित्त-वृत्ति	१७, १९		३, ४८४ ४९
११ चित्त की चवशायें	११, १२	६ दस्त-नाशक (कोषधियाँ	
१२ चित्त विद्येष	८८, ८९	७ दाद-नाशक (ओषधियां)	३५७, ३५,
4	D7 D7	८ दिल की धड़कन (ओप	ir) 35
१ जल-चिकित्सा	२७२, २७३		") ४३
२ जानत भवस्था	८४	। ५ दिल्य भाज ५२६	• •

पासक्षष्ट र]	41.113		
\$. J.W	प्र ष्ठ १४, ९०, १६३	११ निर्बोज समाधि	१४२, १४३
१० दुःख ११ दृश्य १७८ २१	०, २१९, ४७४	१२ निर्माण चित्त	४५९, ४६२
११ हर्स्य २०० १२ हिज्ञमात्र	२१०२१८	१३ नेति	१६४
१२ हरो	२३१	१४ नौर्ला (षट्कमें)	२६९, २७०
१४ दृष्टजन्म वेदनीय	१६९१७१	٩	३०३, ३१८
१५ हम्झक्ति	१६४	१ पद्मासन	३४ १
१६ देवयान ५	૪, ૪૨૨૪૨૬	२ परमवश्यता	२३९
१७ देशपरिदृष्ट	२२४२२७	३ पश्च-शील	४१३
१८ दीमंनस्य	९०	४ परिवत्त ज्ञान	કર ે
१९ इन्द्र	३२४	५ परशरीरावेश	38, 8 0
२० द्विपाद मध्यशीषीसन	388	६ पर-वैराग्य	•
२१ द्वेष (क्वेंश)	१५७, १६५	७ पथरी तोडकर निकालना	३६२
A (0.1)		(स्रोपधि)	
१ धनुरासन	३१६, ३२०		, ३७४ " ३९२
२ धर्म	३९२	९ परिसाम दुःख	१७६, १७७
३ धर्म परिणम	३७४, ३७९	१० पश्चिमात्तानासन	३१०, ३२०
४ धर्मी	३९२-३	११ पवनमुक्तासन	३१२, ३ २० २ ६ ३
	१३७, २३८, ३६५	१२ पागलपन की श्रीषधि	
६ धौति (षट्कर्म)	१६६ २६८	१३ पादहस्तासन	રૂશ્ડ, રૂર ૦ ન રે શ૦
७ ध्यान	२३७, २३८	१४ पादांगुष्ठ-नासाप्रस्पर्शास	न २ ९० ३ ६ ४
८ ध्यानहेया	१६८, १ ६९	१५ पारा बांधना	• •
९ ध्याद	३६६, ३६७	१६ पार्वती आसन	o\$\$
१० भ्येय	३६५, ३६७	१७ पितृयाया	४३२४३५
म		१८ विंगला नादी	१०२, १८
१ नाभ्यासन	३१४, ३२०	१९ पुरुष	१५, १६, ४५३
२ नाड्मशोधन प्राणाया		२० पुरुष विशेष	ξς φ₹
a former	२०, २७, ३०	२१ पुरुष ज्ञान	४२६
, र ।नद्र। ४ नियम २३७, ^१	२६८, २६३ " २९४		866
् भ नियतविपाक	१७१	। २३ पूरक	३२६३२८
६ निरतिशय	હ	२४ पूबेवत् अनुमान प्रमार	ŋ २ ३
७ निरुद्ध अवस्था	२, १२, १	३ २५ वर्षे-जाति हान	84.
७ निर्धे वयस्या ८ निर्धेध	, १६, ૧૪૧, ૧૪	्री ३६ घेट के की डे (ऋषिध) 35
८ निराध ९ निर्वितक	१३२, १३	६ २७ पेशाव में शकर आना	(स्रावाध) २२५
९ निविद्यार (समापचि			8
to what and and	, ,,,,,,,		

पात खलयोग प्रदीप	1
ALC MODELLINES	J

	A
शब्दा	नुक्रमणी

t	परिशिष्ट	Ŕ
---	----------	---

तावज्ञातातात्रवान]	4	, ,	
,	58		88
ः २९ ंप्रकृति १३ १६,	४५६४५८	२ बजीली सुद्रा	305
३० प्रकृतिलय ५	३, ५६६४	३ बजासन	३३०
३१ प्रकृत्यापूर	844	४ बद्ध पद्मासन	રે લ્ફે
३२ प्रकाशावरण	३३४	५ बन्द पेशाब स्रोलना	६३१
३३ प्रत्यच् वृत्ति	२०	६ बन्ध	३८५
३४ प्रतिपद्धभावना	२४५	७ बहुमूत्र नाशक (धं	षिध) ३५३
३५ इस्यय	२१०, ३६५	८ बाह्य वृत्ति	इर्४, २रप
३६ प्रश्यय श्रानुपश्य	२१०२१३	९ बुखार-नाशक (अ	(पधियां) ३५४
३७ प्रस्यय-म्रविशेष	४२६	१० बुद्धि	१४०
३८ प्रत्याहार २३७	, ३४०, ३४१	११ बेध	३०६
३९ प्रच्छदंन	9.0	२२ बौद्ध दर्शन	१७८, २३४, २३९
४० भा	२१, २२	१३ ब्रह्मचयं	२४७, २६३, २९९
र्थश्रमाद	८९	१४ ब्रह्मी घृत	३५२, ३५३
४२ प्रमाण दृत्ति	२०२४	¥	
४३ प्रसंख्यान १६७	१६९, ४९४	१ भव प्रत्यय (योगी)	५६, ५७
४४ प्रसुप्त (क्वेश)	१५९, १६०		म ३२८, ३३२३३४
४५ प्रस्त	ەىەن		४१, १४५
४६ प्रतिप्रस वहे या	१६७, १६८		३१५, ३२०
४७ प्रधान १८४, १९	૧, ૧૧૨, ૪૪ ૫		
४८ प्रधान कमीशय	१७०; १७१	६ भुवनक्षान	४१६
५९ अमेह नाशक (औषधि)	३५१, ३५२	७ मुवः लोक	४१७-४६२
५० । यस शै.थल्य	३२२, ३२३	८ भूतजय	. કર્ફ
५१ प्रशास	ં ૬૦, રૂર૪	९ भूः लोक	४१७-४२३
५२ प्रका	६४, ६५, १३९	१० भोग	१८४-१८६
५३ ४ इं। लांक	३६८		८९, ९०
५४ प्राविभ	४२६, ४२७	१२ भ्रामरी प्राणाया	म ३२८, ३३४
५५ प्राण	९९१८५		म ं
५६ प्राण (स्€म)	१०२, १०३		४४९
५७ प्राणायाम १३	७, ३१५ : ३३८		900
५८ प्राग्।मय कोश	8480	३ मत्स्यासन	३१८, ३२०
५९ प्रान्त-भूमि	२३५		३१६
६० प्रावनी प्राणायाम	2 34		१४, ४६५-४७०
	٠.٠		४४५
र् थकासन	240	७ मनोमय कांझ	४५, ४६, ४७

114 -111			<u> </u>		
		58			28
२६ विवि	प्त अव स्था	१, ११, १६	ş	सत्त्वपुरुष-श्रन्यता-स्याति	४४६
२७ विसे		८९, ९०		सद्यो मुक्ति	४३७
२८ वीर		२०३	4	सनबाथ	२७२
	।।नमय कोश	४५४८	•	सन्तोष	२६३, २६४
३० वीत	राग-विषय-चित्र	१२७		संकल्प शक्ति २७७	
३१ वीर		६५, २१९	ć	संप्रहर्णा (श्रीषधि)	३४९
३२ वृत्ति		१९, ३५		संख्या परिदृष्ट	३२५, ३२६
	सारूप्य	१८, १९	१०	सञ्जीवनीवटी (नुस्खा)	
३४ वृद्धि	वकासन	३२६		संस्कार	१४०, १४१
३५ वैन	शिक(चृणिक विज्ञ	ानवादी)९१ · ९४		संस्कारशेष १६, ४	
३६ वैरा	ाय	३४, ३७ " ४०	१३	संस्कारदु:ख	१७६, १७७
३७ वैश	गरद्य	१३८		सशंय	ሪዓ
३८ व्या	ान ं	१०१, १०२,			८, २२१, २३१
३९ व्या	धि	۷8	१६	सर्यम	३६८३७३
४० ध्य	तिरेक संज्ञा वैराग्य	३८		सकेद कोढ़-नाशक स्रीपधि	
४१ ड्यु	त्थान	३७५		सबीज समाधि	१३६
	হা			समाधि १, ६५, १५८, २३	
	द प्रमाग	२४		समाधिस्थ	१४६, १४७
२ शव		३१४			, ४०, ४४, ८५
	। भासन	३१५, ३२०	२२	सम्प्रसारण-भू-नमनासन	३१०, ३२०
	क्तचालनी मुद्रा	३०८	२३	समान (प्राय)	
	भवी मुद्रा	३०९	२४	सम [ा] पत्ति	१३९
	तकारी प्राणायाम	३३२	२५	समासन	३०३
	त्ली प्राणायाम	३३८, ३३२		सम्मोहन शक्ति	२७७ …२८६
८ शी		३०९, ३२०		सम्बेग	६७, ६८
	र्षपादासन	३११, ३२०		सर्वागासन	३१४, ३२०
	वत् अनुमान प्रमा		२९	सर्वे इवीज	•8
११ शौ		१६३, २६५ २९४	३०	सर्वज्ञात्त्वम्	88€
१२ अव		३६, ६५, ६६,	38	सर्वभावाधिष्ठावृत्वम्	888
	-प्रका	१६९		सर्वभूतहतज्ञान	४०१
१४ ख		९०, ३२४	1	सविचार समापत्ति	१३३, १३५
•	₹			सवितके समापत्ति	· १३०, १ ३१
		५३ " २६१, २९९		सहस्रार चक	११५
र स	त्वगुण	? ३	35	सहित कुम्भक	396, 238

-					
		22			99
३७	साधन पाद	१५१	६६	स्मृति वृत्ति	३१३३
३८	साधारण	२२०	६७	स्वप्न व्यवस्था	३३, ८५
४९	साधारण सहित कु	म्भक ३२९,३३०	६८	स्वप्र-निद्रा-क्कानात्	
۶o	साम्य परिगाम	१३, १५, १७		स्बरसाधन	१०४१०६
४१	सामान्यतोदृष्ट	२३		स्वः लोक	४११४२२
	सिट्ज बाथ	२७२	७१	स्वबुद्धि संवदेन	४८३
४३	सिद्धासन	३०३	७२	स्वाधिष्ठान चक	१११
88	सिंहासन	३१७	હરે	स्वरूपावस्थिति	१७, १८, १४२१४४
४५	सुप्रवज्रासन	३१७	ષ્ઠ	स्व रूप-उपलब्धि	२२१
४६	सुषुम्ना नाड़ी	१०२१०९	હલ	स्वरूपस्थिति	१४२१४४
8/0	सुषुप्ति श्रवस्था	३०, ३१, ८७	৩६	स्वशक्ति	२२१
86	सूचनार्थे	२८१	છહ	स्वामीशक्ति	२२१
49	सूर्यचिकित्सा	२७२२७५	96	स्वाध्याय	१५१, २६५, ३०१
40	सूर्यप्रभा वटी	३५१	८९	स्वस्तिकासन	३०२
	सूर्यभेदी प्राणायाम	३२८, ३३१			200
	सूक्ष्म विषय	१३५, १३६	8	हस्तपादांगुष्ठासन	1 389
	सूक्षम शरीर	८२, ८५, ८६	२	हान	२३१
	सृष्टि उत्पत्ति	१३, १७	3	हानोपाय	२३२
		निकल जाना (भौष-	8	हिपबाथ	२७२
	धियाँ)	३५३	4	हिंसा	२९६, २९७
48	स्टीम बाथ	२७२	Ę	इ रययगभे	ર્, ૪
	स्तम्भ वृत्ति	३२५	v	हेय	१७८
	स्त्यान	68	6	हेयहेतु	१७८
	स्थूल भूत	१४	9	हृद्यस्तम्भासन	३११, ३२०
	स्यूल शरीर	८२, ८६			त्त
	स्थितप्रज्ञ	१४६, १४७	१	च्याकम	४५०
	स्थिति	३५, ९१,	1 2	चिप्तावस्था	११११२ १६
	स्नायु-सश्चालनासन		3	च्चेत्र	४५४
	स्फोटवाद	४०२४१२			*
		३३, ६५, १३२, ४६४	8	ज्ञानदीप्ति	२३६
	. •				

शब्दा तुक्रमणी

विषयसृची

षष्ट्रश्रीनसम्बद्ध

£8		विषय
ł	****	पहिला प्रकरण-वेद-मूल मंत्रों की ४ संहिताएं। त्राह्मस प्रन्थ । स्पनिषद् ।
-		दरीनप्राणिमात्र की दुःख निवृत्ति की स्रोर प्रवृत्ति ।
२	••••	दर्शनों के ४ प्रतिपाद्य विषय —हंय, हेयहेतु, हान, हान उपाय। ३ मुख्य तत्त्व-(१)
		चेतन तस्त : पुरुष (जीव): (२) जह तस्त : प्रकृति, (३) चेतन तस्त : पुरुष-
		विशेष (ईश्वर)।
ą	••••	षह्दर्शन-वेदों के छः श्रंग श्रीर छः उपांग।
ß	••••	दूसरा प्रकरण-पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा। कमें काएड, उपासना कायड,
		ज्ञान कागड । मीमांसा के अर्थ ।
ب	••••	पूर्व मीमांसा यज्ञ, महायज्ञ । वंद के ५ प्रकार के विषय ।
Ę	•••	स्वर्गकामो यजेत । श्रीमद्भगवद्गीता में यज्ञ का वर्णन।
· ·	••••	"मीमांसा में तीसरे चेतन तस्व ईश्वर को ही व्यष्टिक्ष से प्रत्येक यज्ञ का अधि-
		छातृ देव मान कर विशेष यज्ञों में उपासना" इस में प्रमास ।
۷	••••	हान उपाय, हान।
9	••••	जैमिनि मुनि, बोडुलोमि श्राचार्य तथा न्यास जी का मुक्तिविषयक मत । जैमिनि
-		ईश्वर वादी थे इस में प्रमाण ।
ŧ0		पूर्व मीमांसा में पशु मांस बलि का निषेध । उत्तर मीमांसा ।
99	••••	उत्तर मीमांसा- इत्तर मीमांसा कं चारों अध्यायों का संचित्र वर्णन, अधिकरण,
		अधिकरणों के विषय । हेय, हेय हेतु, हान, हानोपाय ।
१२	••••	दैताद्वेत सिद्धान्त के भेद । परिणामवाद भौर विवर्त्तवाद ।
१३	••••	द्वैताद्वैत सिद्धान्त के भेद मं श्रविरोध।
88	••••	द्दान, द्दानोपाय ।
१५	••••	वेदान्त की चतुःसूत्री। नदा का शुद्ध और शवल खरूप, शवल खरूप के ३
		भेद—विराट, हिरएयगर्भ भीर ईश्वर । -
१६	••••	व्यष्टि और समष्टि रूप से नहां की बपासना। बन्यादेश, बहंकार। देश, बात्मादेश।
		वपलक्षण से बद्धा का वर्णन।
१७- १	2-19	चेतन तस्य का शुद्ध स्वरूप।
		N N 1

२०-२१

ह्या सूत्रों में योग साधन की शिक्षा । दोनों भीमांसाओं के शंथकार आचार्यों का समय और वनसे पूर्व आचार्यों

२३-२४ वेदान्त पर भाष्यकार आयार्थे के नवीन सन्प्रदाय; ब्रह्म सूत्र पर भाष्यकार श्री स्वा० शंकराचार्य का बाह्रेतसिद्धान्त ।

,	18	विषयु
24-5	٠٠٠٠ ع	संस्य योग का द्वेत सिद्धान्त।
२२	٠	शंकर के निर्विशेष घड़ेत सिद्धान्त श्रीर सांख्य योग के द्वेत सिद्धान्त में तुलना ।
२९	••••	नदासूत्र के भाष्यकार भी रामानुजाचाये का विशिष्टाहैत सिद्धान्त ।
३०	••••	,, भी मध्याचाये का द्वैत ,,
38	••••	भी स्वामी द्यानन्द सरस्वती का देख सिद्धान्त ।
३२	••••	मद्मसूत्र के भाष्यकार श्री वह्नभाचार्य का शुद्धाद्वैत सिद्धान्त ।
		33 35 35 जिल्लाकीचाये का इताहैतासद्वान्त । श्रह्मसूत्रों में अन्य वैदिक दर्शनों का स्वयहन नहीं है ।
33	••••	"जन्माशस्य यतः" के ३ ८कार से अर्थ-जड़ अद्वैत वाद, चेतन अद्वैत वाद और
		चेतन जड़ अर्थात् आत्म अनात्म द्वैतवाद ।
34	••••	''ईक्तेनोशब्द'' (ब्रह्म सू० घ० १ या १।५) का स्पष्टीकरण ।
३८	••••	"आनुमानिकमध्येकेषामिति चेत्र श्रीररूपकविन्यन गृहीतेदेशीयति च" (ब॰ सृ०
		१।४।१) और ''सूक्ष्मं तुत्तद्वितात्'' ॥ (ब्र० सु०१।४।२)की व्याख्या।
39	••••	"तर्धानत्वारथेवत्", (ब्र० स्० १ । ४ । ३) । "होयत्वावचनाच" (ब्र० स्० १ । ४ । ४)
		''वदर्तातिचेत्र प्राज्ञो हि प्रकरणात्'' (त्र० सू० १। ४। ५) ''त्रयाणामेव चैवमु-
		पन्यासः प्रश्नश्च" (अ० सू० १ । ४ । ६) की व्याख्या
४०	••••	"महद्भा" (१। ४। ७ म० स्०) "चमसवद्विशेषात्" (म० स्०१।४।८)।
		"क्योतिक्पक्रमा तु तथा द्याचीयत एके" (त्र० स्०१ । ४ । ९)
		''कल्पनोपदेशास, मध्यादिवदविरोधः'' (त्र० सू० १।४। १०)
88	••••	"न संस्थोप संप्रहाद्पि नाना भावा दितरेकास" ॥ (त्र० स्० १ । ४ । ११)
		"प्रागादयो वाक्यशेषात्" (म० सू० १ । ४ । १२)
४२	••••	"भ्योतिषैकेषामसत्यक्रे" (त्र० सु० १।४।१३)
		"रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्" (त्र० सू० २ । २ । १)
		"प्रवृत्तेश्च" (त्र० सू० २।२।२) "पयोऽन्युवचेत्त त्रापि" (त्र० सू० २।२।३)
४३	••••	"ब्यतिरेकानवश्यितेश्चानपेत्रलात्" (म० सू० २। २।४)
		"अन्यत्राभावाच न तृणादिवत्" (त्र० स्०२ । २ । ५) "अध्युपामेऽप्यर्थाभावात्" (,, ,,, २ । २ । ६)
		"पुरुषास्मवदिति चेत्रथापि" (,, ,, १२२१७)
		"म्राक्रितालुववरोरच" (,, ,, २।२।८)
		"श्रन्थथातुभिर्वो च इशक्तिवियोगात्" (,, २ । २ । ९)
88	••••	"विप्रतिवेशावासमध्यस्यम्" (,,२।२।१०)
94		"स्वस्यनवकाशदोषप्रसंग इति चेनान्यस्यस्यनवकाशदोषप्रसंगात्"
		(त्र० स्०२।१।१)
		438

ष्ट्रष्ठं विश्वयः ५ "इतरेषाच्यानुपलब्धेः।" (झ०सू०२।१।२) "पतेन योगः प्रस्युक्तः"।। (झ०स०२।१।३)

४७ ···· तीसरा प्रकरण-न्याय-वैशेषिक दर्शन । वैशेषिक दर्शन । वैशेषिक का कार्थ, वैशेषिक सूत्रों की संख्या ।

४८ वैशेषिक के ९ द्रव्य, उनके सुबोध लक्त्रण तथा अवान्तर भेद ।

४९-५० वैशेषिक के २४ गुरा।

५२--३ बुद्धिसम्बन्धी, न्याय-वैशेषिक का सांख्य-योग के साथ समन्वय ।

प्रे अविवेकी पुरुषों द्वारा न्याय-वैशेषिक पर बुध्य से अलग आत्मा को एक जड़ हव्य मानने के आचेप का निवारण ।

५४ कर्म-कर्म के ५ मेद, सामान्य-सामान्य के भेद व्याख्या और लक्त्य सहित । ५५ विशेष का विस्तृत व्याख्या सहित लक्त्या । समवाय का व्याख्या सहित लक्त्या ।

५५ द्वाराव का विस्तृत ज्याक्या सहत्त ताच्या । समयाय का ज्याक्या सहत्त ताक्य ।

५६ ··· न्याय दर्शन । न्याय का स्वरूप-न्याय के ४ प्रमाण -प्रत्यज्ञ प्रमाण, अनुमान प्रमाण, उपमान प्रमाण और श्वागम प्रमाण । इनका विस्तृत वर्णन । न्याय के १६ पदार्थ जिन के द्वारा तत्त्व ज्ञान से निशेयस होता है। प्रत्येक का विस्तृत स्वरूप ।

५७ ... अनुमान प्रमाण- उस के तीन भेद-पूर्वतत्, शेषवत् और सामान्यतो दृष्ट ।

५८ न्याय के सोलह पदार्थ, जिन के न्याय द्वारा तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस होता है। प्रत्येक का विस्तृत स्वरूप (लच्चण)

६२ वैशेषिक के नव द्रव्यों और न्याय के सोलह पदार्थों में से बारह प्रमेय में समान-ता । बारह प्रमेर्यों का लच्च्या ।

६३ इन दोनों दर्शनों के अनुसार नित्य और अनित्य पदार्थ। इन दोनों दर्शनों को आस्तिक सिद्ध होना और परमात्म तस्त्र को अलग न वर्णन करने का कारण ।

६४ ... मुक्ति के स्वरूप का वर्णन।

६५ ... मुक्ति और फैबल्य का स्वरूप। कार्य-कारण-तीन प्रकार के कारण। न्याय-वैशेषिक का सिद्धान्त। उस की सांख्य और योग के सिद्धान्त से समानता।

६६ ··· विमु-अणु और मध्यम परिमाण । इन दोनों दर्शनों का आस्तिक सिद्ध होना तथा ईश्वर के वर्णन न करने के कारण । ईश्वर सिद्धि ।

६७ चात्मा को जड़तरन से भिन्न दिखलाने वाले चिन्ह । आत्मा में बुद्धि को सिम्मिलित करके उसके शबल खरूप के चास्तित्व के सिद्ध करने का कारया। इन दोनों दर्शनों का सांख्य योग के साथ समन्वय।

६८ "विभवान् महानाकाशस्त्रथाचारमा"।। इस वैशेषिक सूत्र का उपनिषद् और गीता के साथ समन्त्रय ।

६९ वैरोषिक और न्याय में योग साधन की शिला। इन दोनों दर्शनों में अवीन्द्रिय पदार्थों को जानने के लिए योग का सहारा बवलाना वथा योग साधनका क्यवेश।

TD)

विषय

- ७० चौथा प्रकरण —सांस्य और योग दर्शन सांस्य सौर योग के निष्ठासों की परम्परा श्रतियों और स्मृतियों के प्रमाण द्वारा।
- ७२ सांख्य और योग की निष्ठाओं में तुलता, योग द्वारा अन्तर्भुख होना, सांख्य द्वार अन्तर्भुख होना, योग में उत्तम श्रीधकारियों के लिये असन्प्रकात समाधि लाभ का विशेष उपाय "ईश्वर प्रियाम"।
- ७३ " सांख्य में उत्तम अधिकारियों के लिए असम्प्रज्ञात समाधि लाभ का विशेष चपाय (ध्यान निर्विषयं मन:"। कार्यक्तित्र में सांख्य और शेग का व्यवहार, योगियों का कार्यक्तित्र में व्यवहार।
- ७४ सांख्ययोगियों का कार्यक्तेत्र में ज्यवहार । सांख्य और योग की उपासना—योग द्वारा उपासना 'श्रन्य आदेश' अर्थान् प्रथम और मध्यम पुरुष द्वारा ।
- ७५ सांस्य द्वारा उपासना 'श्रहंकार आदेश और आत्म आदेश' अथोत् उत्तम पुरुष और आत्मा द्वारा।
- ७६ सांख्य दर्शन-सांख्यप्रवर्तक कपिल मुनि ।
- তত ^{শশ} सांख्य के प्रसिद्ध प्राचीन স্থাখাথ, सांख्य के मुख्य प्रन्थ, कपिल मुनि प्रयोशि तत्त्वसमास।
- ७८ ··· पश्वशिखाचार्य के सूत्र, वार्रगएवाचार्य प्रस्तितषष्टि तन्त्र, सांस्य सप्तति, सांस्य सूत्र
- ७९ श्रेताश्रेतर उपनिषद् और श्रीमद्भगवद्गीता।
- ८० *** कपिल सुनि प्रणीत तरवसमास के स्त्रों की विस्तृत व्याख्या, ''श्रथातस्तरवसः मासः' की व्याख्या, जड़ तरव ।
- ८१ 'ख्राटी शक्कतयः' ।।२।। 'बोडश विकाराः' ।।३।। की व्याख्या, ब्याठ मक्कतिया, सोलह विकृतियां।
- ८२ चेतनतस्य, 'पुरुष' ॥४॥ की व्याख्या ।
- ८३ पुरुष शब्द तीन अथों में जीव, इंश्वर और शुद्ध चेतन तस्त ।
- ८९ ... प्रकृति के तीन गुण, "त्रेगुण्यम्" ॥५॥ की विस्तृत व्याख्या ।
- ९३ सृष्टि और प्रलय का क्रम, "संबर: प्रतिसंबर:"।।६।। की विस्तृत व्याख्या ।
- ९५ ··· सृष्टि के तीन भेद "अध्यात्ममिष्ठ मृतमिष्ठदैवंच" ॥ ७॥ की विस्तृत व्याख्या, पांच वृत्तियां — "पंचामिबुद्धयः" ॥ ८॥ की विस्तृत व्याख्या।
- ९६ ···· पांच झानेन्द्रियें 'पंच इन्यानयः' ॥ ९॥ 'पांच प्राया' पंच बायवः ॥ १०॥ की बिस्तत क्याख्या ।
- ९७ पांच कमेन्द्रियां—'पंच कमोत्मानः' ।। ११ ॥ पांच गांठवाली स्रविद्या— 'पंच पवो स्रविद्या' ।। १२ ॥ स्रद्वाईस अशक्तियां--'सप्टविशतिधाऽशक्तिः' ॥ १३ ॥ की व्याख्या ।
- ९८ ... नौ तुष्टियां—'नवधा तुष्टिः' ॥ १४ ॥ की व्याख्या ।

पृष्ठ विका

९९ बाठ सिद्धियां—'ब्रष्ट्या सिद्धिः ॥ १५ ॥ की व्यास्या ।

१०० दश मूल धमे — 'दश मौलिकार्थाः' ॥ १६ ॥

१०१ सृष्टि का रूप- 'भनुप्रहः सर्गः'।। १७।।

१०२ चौदह प्रकार की प्राणि सृष्टि 'चतुर्देश विश्रो भूत सर्गः' ॥ १८ ॥

१०५ ... बन्ध श्रीर मोत्त के तीन प्रकार- 'त्रिबिधो बन्धः' ।।१९।। 'त्रिबिधो मोत्तः'।।२०।।

१०६ तीन प्रकार के प्रमाण-- 'त्रिविधं प्रमाणम्' ॥ २१ ॥

१०७ ··· वरोनों के चार प्रतिपाद्य विषयों पर सांख्य के ग्रुख्य सिद्धान्त । दो ग्रुख्य तस्य — जद घौर चेतन ।

१०८ जड़ तरव के चौबीस विभाग करके सांख्य के सब पर्वास तरव । चौबीस जड़ तरव । मूल प्रकृति केवल प्रकृति श्रविकृति, सात प्रकृति—विकृति, सोलह केवल विकृति श्रपकृति; पर्वासवां चेतन पुरुष—श्रप्रकृति श्रविकृति (न प्रकृति न न विकृति)।

सृष्टिकम । न्याय वैशेषिक तथा सांख्य श्रीर योग के सिद्धान्त में तुलना।

१७९ गुणों का स्वरूप, गुणों की सामध्ये, गुणों का काम ।

११० गुर्णों के धर्म। गुर्णों का परिणाम।

१११ सृष्टि उत्पत्ति ।

९१२ पुरुष का बहुत्व—पुरुष में बहुत्व केवल श्रास्मिता की श्रापेक्षा से होना। स्वरूप स्थिति श्राथवा कैवस्य की श्रावस्था में बुद्धि का संयोग न रहने पर सुख दुःख किया श्रावि के सहश बहुत्व (संख्या) का भी श्राभाव हो जाना।

११४ पुरुष-वन्ध चौर मोत्त ।

११५ ... पुरुष में बहुत्व आरोपित है। इसका समर्थन ।

११८ सांख्य और ईश्वरवाद । सान्ध्रदायिक पत्तपातियों द्वारा कपिल सुनि पर नास्ति-कता और उन के दर्शन पर अमीश्वरवाद का दोवारोपण । उनकी शंकांओं का समाधान । सांख्य और योग, न्याय और वैशेषिक का आस्तिक सिद्ध होना । इनका ईश्वर के विशेष रूप से न वर्णन करने का कारण ।

११९ ... ईश्ररासिद्धेः का युक्ति और प्रमाणपूर्वक समाधान ।

१२३ कपिल सुनि आस्तिक थे इस में अन्य युक्तियां।

१२४ · योग दर्भ । योग का महत्त्व-योग का वास्तविक स्वरूप-बाहर से धन्तर्भुख होना ।

१२५ ... बोग के तीन अन्तर्विभाग-डपासना, कर्म और ज्ञान ।

१२६ ... तीनों योगों के मुख्य दो भेद-सांख्य और योग । रूपक द्वारा योग का स्वरूप ।

१२७ बोग के बादि बाजार्थ - हिरएयमर्भ । योग दर्शन के जार पाद । समाधि पाद । एकामवा का रहस्य ।

विषय

१२८ योग के कान्तर्गत मन को दो प्रकार से रोकना। निरोध चेतन स्वरूप का सर्वथा नाक्ष हो जाना नहीं है। किन्तु जड़ तत्त्व के काविवेक पूर्ण सयोग का सर्वथा हट जाना है। योग दर्शन की चतुः सूत्री। साधन पाद—सब दुःस्त्रों के मूल कारण पांच क्लेश।

१२९ हेय-त्याच्य दुःख; हेय हेतुः-त्याच्य दुःख का कारण।

१३० ... द्रष्टाकास्वरूप। दश्यकाप्रयोजन।

१३१ योग के आठ अंग। विभूतिपाद्।

१३२ कैवस्य पाद।

१३४ चित्त की नौ श्रवस्थाओं का संचिप्त वर्णन ।

१३५ पतश्जलि मुनि का परिचय।

१३७ ... योगदर्शन पर भाष्य तथा वृत्ति आदि।

१३९ "षड्दर्शन सदुपयोग समन्वय सूत्र" अर्थ सहित ।

पातञ्जलयोगमदीप

पृष्ठ १ समाधिपाद विषय

सूत्र १—योग के आरम्भ की प्रतिक्का । व्याख्या—क्षथ, थोग श्रीर अनुशासन
… विशेष विचार —श्रनुबन्ध चतुष्टयः —विषय, प्रयोजन, श्रीधकारी श्रीर सम्बन्ध।
धातु खर्थ । योग की प्राचीन परम्परा । श्रनुशासन।

३ ... 'हिरएयगर्भ योग के आदि गुरु हैं इस में श्रुति और स्मृतियों के प्रमाण ।

थ श्रेताश्वेतर उपनिषद् में योग का उपदेश ।

५ ... कठ उपनिषद् में योग का उपदेश।

६ ... गीता में योग का उपदेश।

७ ... योग दर्शन की विशेषता।

८ योग के अवान्तर भेद और उन सब का पात जल योग दर्शन में समावेश।

९ ···· सूत्र २ — योग का लक्ष्या चिरा की वृत्तियों का निरोध । क्याख्या — योग का खरूप । चिरावृत्ति निरोध ।

११ चित्त की पांच अवश्यायें--मृदावस्था, चित्रावस्था, विचित्रावस्था, एकाम अवस्था।

१२ चिरा की पांच अवस्थाओं की तालिका।

१३ ···· निरुद्धावस्था। विशेष—विचार:—वित्त के खरूप तथा सृष्टि कम का विस्तार पूर्वक वर्णम । जड़तस्य मूल সकृति, ग्रुर्णों के साम्य परिग्राम का पुरुष के निष्प्रयोजन

विषय

होना; इसका गुर्लो के विषम परिलामों के प्रत्यन्त होने से अनुमागन्य और आगमगन्य होना। जड़ तत्त्व सिक्रय परिलामी नित्य और चेतन तत्त्व निष्क्रय कूटस्थ नित्य, चेतन तत्त्व का शुद्ध खरूप जड़तत्त्व से सर्वथा विलन्त्या, इस की सिक्रिध मात्र से जड़तत्त्व में ज्ञान नियम और ज्यवस्थापूर्वक किया। समष्टि जड़ तत्त्व के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व के शबल खरूप की संज्ञा पुरुष विशेष अर्थात हैश्वर।

१४ ... गुलों का प्रथम विषम परिलाम महत्तरत (समष्टि तथा व्यष्टि चित्त)—सस्य गुल में रजोगुल का क्रियामात्र तथा तमोगुल का स्थिति मात्र विषम परिलाम सारी सृष्टि का कारल महत्तरत का विषम परिलाम ऋहंकार-एकत्व, बहुत्व, व्यष्टि, समष्टि आदि सब प्रकार की भित्रता उत्पन्न करने वाला । ऋहंकार का प्रहल विषम परिलाम ग्यारह इन्द्रियां और प्राष्ट्र विषम परिलाम पौच तन्मात्रायें पांच तन्मात्राओं का विषम परिलाम ग्यार इन्नियां और प्राष्ट्र विषम परिलाम पौच तन्मात्रायें पांच तन्मात्राओं का विषम परिलाम गांच स्थल भृत ।

१६ ··· पुरुष, उस का प्रयोजन भोग और अपवर्ग,गुर्जों का साम्य परिखाम मूल प्रकृति, तथा उन के विषम परिखाम सात प्रकृतियें अनादि, सोलह विकृतियें प्रवाह से अनादि स्वरूप से सादि।

सत्त्व में ज्ञान स्वरूप पुरुष से ऽतिविभ्वित होने से पुरुष को ज्ञान दिलाने की योग्यता और निष्क्रिय पुरुष को चित्त में अपने प्रतिविभ्य जैसे चेतना से चित्त का तथा उस के सारे विषयों का ज्ञान। अतः चित्त हर्य और पुरुष द्रष्टा। समाधि, चित्त के सार्वभूम धर्म का अविद्या आदि क्लेशों के आवरण से दबा रहना और वृश्विरूप बाह्य परिणामां का होते रहना। मृद्वावस्था में शामसी वृतियों, चित्तावस्था में शास्थर सात्त्विक वृश्वियों, चित्तावस्था में आस्थर सात्त्विक वृश्वियों, का चदय। एकामता की पराकाष्ट्रा गुण परिणाम साम्नाक्तार पर्यन्ति चित्त और पुरुष में विवेक ज्ञान। वृश्वि निरुद्ध अवस्था वाली स्वरूपावस्थित में संस्कार शेष की निवृश्वि । परिणाम का लच्चण—सास्य और विषम परिणाम में भेद।

१७ धृष्टि उत्पक्ति क्रम (सार) सूत्र ३—वृत्तियों के निरोध होने पर द्रष्टा की स्वरूप में अवस्थिति । व्याख्या—वृत्तिनिरोध अवस्था में पुरुष का अपने स्वरूप से निरोध नहीं होता किन्तु अपने उपाधिरहित स्वरूप में अवस्थिति होती है ।

१८ सूत्र ४—िनरोध से भिन्न ब्युत्यान अवस्था में पुरुष की वृत्तिसारूप्यता। व्याख्या—सिन्धि मात्र से उपकार करगाशील चित्त रूप दृश्य का दृश्यस्वरूप से पुरुष के साथ भोग अपवर्ग सम्पादनार्थ अनादि खन्खामि-भाव सम्बन्ध; शान्त, जोर आदि चित्त के घर्मों का चिति (पुरुष) में आरोप।

A8

विषय

१९	सूत्र ५क्लिष्ट श्रक्लिष्ट भेद वाली पांच वृत्तियां । व्याख्या ।
२०	सूत्र ६—पांच धृत्तियों के नाम—परमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति । सूत्र ७—प्रमाणधृत्ति के तीन भेद—प्रत्यत्त, श्रनुमान, श्रागम । व्याख्या—
२१	सूत्र ७— त्रमाणपुरात के ताम मद्—त्रत्यक्ष, अनुमान, आगम । व्याख्या—
44	and and an artist and artist arti
	निष्ठज्ञान = यथार्थं अनुभव = सत्य ज्ञान। प्रमा के करण प्रमाण चित्त वृत्ति के
	तीन भेद - प्रत्यक्त प्रमाण, श्रतुमान प्रमाण, श्रागम प्रमाण ।
	प्रमाणों से पुरुष ज्ञान (फल-प्रमा) के तीन भेद-प्रश्यक्त प्रमा, अनुमितिप्रमा,
	शाब्दो प्रमा। प्रत्यत्त प्रमाण् व प्रत्यत्त प्रमा। अनुमान प्रमाण् व अनुमान प्रमा
	श्रथोत् श्रनुमिति ।
२२	
	विशेष वक्तव्य—विज्ञानभिक्षु के योग वार्त्तिक की समालोचना करते हुये प्रत्यव प्रमाण के, प्रमाण प्रमेय, प्रमा, प्रमाता और साक्ती भेद से पांच पदार्थ
	का सिद्ध करना
२३	अनुमान प्रमाण के तीन भेद - पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतीदृष्ट । लिङ्ग लिङ्गी
	का सम्बन्ध कराने वाला धर्म व्याप्ति ।
₹४	व्याप्ति ज्ञान अनुमान का मूल प्रत्यत्त । भ्रान्ति दोष के कारण । शब्द प्रमाण
	श्राप्त पुरुष श्राचार्यों के वचन । उपमान, श्रर्थापित्त, सम्भव, श्रभाव, ऐतिहा
	श्रीर संकेत का तीनों प्रमाणों के श्रन्तर्गत होना।
२५	सूत्र ८-विपर्यय पृत्ति का वर्णन । व्याख्या-विपर्यय, मिध्याज्ञान, सतद्रूर,
	प्रतिष्ठम् । विपर्यय प्रमाण् का भेद् ।
२६	Claim Industrial de Articul Industrial Control de Section Landelle
	टिप्पणी—श्रविद्या, श्रश्मिता, राग द्वेष और अभिनिवेश होशों के सांख्य परि-
	भाषा में क्रमशः राग, मोह, महामोह, तामिस्र श्रीर श्रन्धतामिस्र नामान्तर।
	तामिस्न के आठ भेद, मोह के आठ भेद, महामोह के दस भेद, तामिस्न के अठा-
	रह भेद, अन्धतामिस्र के अठारह भेद ।
२७	विदोष वक्तव्य-विषयेय वृत्ति किस प्रकार चित्रिष्ट रूप हो सकती है ? इस का
	विवेचन ।
२८	सूत्र ९—विकल्प वृत्ति का वर्णन । व्याख्या—विकल्प में प्रमाण और विपर्धय
	से भिन्नता ।
२९	विज्ञानभिक्षु के अनुसार सूत्र का अर्थ।
	सूत्र १० - निद्रावृत्ति का वर्णन
३०	ब्याख्या-अभाव का अर्थ । नशा, क्लोरोफार्म आदि से उत्पन हुई मूर्छित
	अवस्थाः निद्रावृत्ति के अन्तर्गत ।

प्रष्ट

वियष

विशेष विचार-सुषुप्ति और प्रलय काल तथा असम्प्रज्ञात समाधि और कैवर्ल्य 38 में भेद। वाचस्पति मिश्र श्रनुसार सूत्र का अर्थ।

सत्र ११ - स्मृति वृत्ति का वर्णन । व्याख्या ।

- श्रतुभूत विषय, श्रसम्प्रमोष । ३२
- भावित स्मर्तेव्य स्मृति, श्रभावित स्मर्तेव्य स्मृति । विशेष विचार-स्वप्न श्रवस्था । 33 स्वप्न के तीन भेद।
- सूत्र १२—श्रभ्यास वैराग्य द्वारा वृत्तियों का निरोध । व्याख्या—श्रभ्यास वैराग्य 38 का सुन्दर रूपक द्वारा वर्णन।
- गीता में अभ्यास और वैराग्य का वर्णन। 34 सत्र १३-व्याख्या-स्थिति, श्रभ्यास । सत्र १४-श्रभ्यासकी दढता के साधन ।
- व्याख्या । विशेष विचार—तीन प्रकार की श्रद्धा । 3 &
- सूत्र १५ वशीकार वैराग्य का लक्त्स्य। व्याख्या-हष्ट श्रीर श्रानुश्रविक विषय। 30 चानुश्रविक विषय के दो भेद ।
- किसी विषय का केवल त्यागना मात्र वैराग्य नहीं है। वैराग्य के चार भेद-36 यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार ।
- सुत्र १६-पर वैराग्य का वर्णन । ज्याख्या । ३९
- विशेष विश्वार-गुरावैतृष्यम्। Χo सत्र १७-सम्प्रज्ञात समाधि का उसके चार अवान्तर भेद सहित स्वरूप निरूपए।
- ब्याच्या-भावना, भाव्य। वितर्क अनुगत प्राह्म समाधि, विचार अनुगत प्राह्म 88 समाधि, आनन्दानुगत केवल प्रहण रूप समाधि, अस्मितानुगत गृहीतृ रूप समाधि
- ४३ चतुष्टयानुगत, त्रितयानुगत, द्वचानुगत और एकानुगत सम्प्रह्मात समाधि।
- तालिका-सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद । 88
- विशेष वक्तव्य-कोशों द्वारा अभ्यास की प्रणाली । सूत्र में बतलाई हुई चारों χų भावनाओं तथा कोशों द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि तक पहंचने की प्रक्रिया में भेद ।
- चिमनियों के दृष्टान्त के साथ कोशों का विस्तार पूर्वक वर्णन । 88
- कोश सम्बन्धी चित्र । ४७
 - सूत्र १८-पर वैराग्यजन्य श्रसम्प्रज्ञात समाधि का लज्ञ्ण । व्याख्या ।
- विशेष वक्तव्य-बारों भूमियों का वास्तविक अनुभव का विस्तारपूर्वक वर्णन ४९
- सत्र १९--भव प्रत्यय विदेह और प्रकृतिलयों का योग । व्याख्या । 46
- गीता में विदेह और प्रकृतिलय योगियों का वर्णन। ५७

पृष्ठ विशेष वक्तव्य—विदेह भौर प्रकृतितयों का वास्तविक खरूप दिखलाने भौर सूत्र के यथार्थ को वतलाने के डोश्य से इस सूत्र के व्यास भाष्य का भाषानुबाद तथा वाचस्पति सिश्न के तत्त्व वैद्यारिं और विज्ञानिंभक्षु के योग

६५ ···· सूत्र २०-विदेह और प्रकृतिलयों से भिन्न साधारण लोगों के लिए व्यसम्भद्वात समाधि का बपाय से शास करना। व्याख्या-श्रद्धा, वीर्थ, स्मृति, समाधि क्रोर प्रज्ञा।

६६ ··· विशेष विचार—श्रद्धा वीये आदि से किस प्रकार श्रसम्प्रज्ञात सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्ति की जा सकती है।

- ६७ संगति हपाय प्रत्यय योगियों के नौ भेद ।
 सूत्र २१ अधिमात्र उपाय तीव्रसम्वेगवः न् योगियों को शीव्रतम समाधि लाभ ।
 ब्यास्या —
- ६८ सूत्र २२-साधनों की प्रबलता से समाधि लाभ में विशेषता। व्याख्या।
- ६८ सन्न २३ ईश्वरप्रशिधान से शीघ्रतम लाभ । व्याख्या-

बार्त्तिक का भाषानुबाद और उन पर समीदा।

६९ सूत्र २४—ईश्वर का स्वरूप निरूपण, इस में अन्य पुरुषां से विशेषता। न्या-रूया—क्षेत्रा, कर्म, विपाक, आहाय, अपरासृष्ट।

७० *** (१) क्रेश, कर्म, विपाक व्यादि चित्त के धर्म हैं, पुरुष ईश्वर के समान निर्लेष होने से ईश्वर में विशेषता मानना चयुक्त हैं। इस शंका का समाधान। (२) मुक्त व्याद क्रेशर में विशेषता मानना चयुक्त हैं। इस शंका का समाधान। (२) मुक्त व्याद क्रेशर के वाच्य हो सकते हैं। इस शंका का समाधान।

७१ (३) पुरुषों के उद्धार का सत्य संकल्प रूप एर्श्वय बिना चित्त के नहीं हो सकता चौर सदा मुक्त ईश्वर में चित्त के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध अनुक्त है। इस अंका का सामाधान।

- ७२ *** (४) यदि ईश्वर में विशुद्ध सस्वमय चित्र के द्वारा सर्वोत्कृष्टता में श्रुति स्पृति को प्रमाश्य माना जावे तो श्रुति स्पृति में क्या प्रमाश्य है ? इस इांका का समा-धान। (५) यदि ईश्वर को न मान कर केवल प्रधान (मूल-५कृति) को ही पुरुष के भोग-श्रपवर्ग प्रयोजन के सम्पादनार्थ संसार-रचना में प्रवृत्त मानें ता क्या दोष है ? इस शंका का समाधान। अन्य क्रोटी-क्रोटी शंकाकां का समा-धान।
- ७३ विशेष विचार । सारांश ।
- ७४ सूत्र २५—ईश्वर की सर्वज्ञता अनुमान प्रमाण द्वारा । व्याक्या—सातिशय, निर-विक्रय, सर्वज्ञवीजम् ।
- ७५ ··· टिप्पणी—भोजवृत्ति का भाषानुवाद । सूत्र २६—ईसर बादि ग्रुव है । व्याख्या—

विषय

विशेष वक्तव्य--30 सूत्र २७-ईश्वर के वाचक छोश्म का वर्णन। ब्याख्या-विशेष वक्तव्य-91 ८१ सूत्र २८-ईश्वर प्रणिधान का लक्षण । व्याख्या-विशेष विचार-उपनिषदों में बतलाई हुई प्रणव उपासना । जामत अवस्था, स्वप्न अवस्था अथवा सम्प्रज्ञात समाधि, सुष्प्रि अथवा विवेक ख्याति । श्रास्मा तथा परमात्माका शुद्ध स्वरूप । शबल स्वरूप के तीन भेद । ८२ बोश्म के चार पाद और मात्रायें। मात्राश्रों से बोश्म की उपासना। ८३ उपनिषदों में परमात्मा के शुद्ध स्त्ररूप का निषेधात्मक रूप से वर्णन । विराम 68 'स्वरूपावस्थिति' में उपास्य उपासक भाव की निवृत्ति। स्थल, सुक्ष्म, श्रीर कारण शरीर का वर्णन। 64 श्रोकार का भावनामय चित्र। 20 सूत्र २९-ईश्वरप्रियान से विशेष फल प्रत्यक्-चेतना का साज्ञात्कार; अन्त-66 रायों का स्थभाव । व्याख्या—प्रत्यक्-चेतना । विशेष वक्तस्य-८९ सूत्र ३०-योग के नौ विघ्नों का स्वरूप। व्याख्या-व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दशेन, अलब्ध-भूमिकःव, अनवस्थितत्व । सूत्र ३१-विद्मेपों के सहकारी अन्य पांच योग के प्रतिबन्धकों का स्वरूप। ९० •्याख्या—दुःख, दौर्मनस्य, श्रङ्गमेजयस्व, श्वास, प्रश्वास। सुत्र ३२ - विद्योपों और उपविद्योपों को दूर करने के लिए एक तस्व का अध्यास। ९१ क्याख्या—टिप्पणी-चिषक प्रत्यय मात्र प्रत्यय नियत चित्त नहीं है किन्त कानेक पढार्थों को विषय करने वाला सब प्रत्ययों का आश्रय एक स्थायी चित्र है। विशेष वक्तव्य-सूत्र ३३ - चित्त को निर्मल करने का उपाय। व्याख्या - राग-कालुच्य, ईर्ध्या 94 कालुच्य, परापकार चिकीर्षा-कालुच्य, असूया-कालुब्य, द्वेष-कालुच्य, आमर्ष-

९६ मैत्री भावना, करुणा भावना, मुद्तिता भावना, व्येका भावना ।

९७ टिप्पर्गी—भोजवृत्ति द्यादि ।

कालुब्य ।

" सूत्र ३४--निर्मेल चित्त की स्थिति का उपाय प्राणायाम ।

९८ व्याख्या-केवल प्रच्छदेन और प्रच्छदेन-विधारण प्रक्रियायें।

९९ विशेष वक्तव्य--प्राण का वास्तविक स्वरूप। प्राण का महत्व।

१०० रिव भौर प्राण, समध्ट प्राया ।

१०१ कार्यभेद से प्राण के दस नाम तथा उनका स्थान और कार्य।

ą́g	विषय
१०२	सूक्ष्म प्राण का वर्णन । सुषुम्ना, ईडा, पिंगला नाडियों का वर्णन ।
१०३	स्वर और उनकी चाल।
१०४	स्तर-साधन-स्वर बदलने की कियायें।
१०५	तत्त्वों का वर्णन । तत्त्व पहचानने की रीति । तत्त्व-साधन विधि ।
१०६, १०७	स्वरसम्बन्धी तालिका।
१०८	तत्त्वसम्बन्धी तालिका ।
१०५	पृथ्वी तत्त्व का साधन। जल तत्त्व का साधन। श्रप्ति तत्त्व का साधन। वायु तत्त्व
	साधन । श्राकाश तरेव का साधन । सुषुम्ना नाड़ी । सुषुम्ना के श्रन्तर्गत सूक्ष्म नाड़ियाँ । शक्तियों के केन्द्र । सात मुख्य पद्म ।
११०	चक्रों का वर्णन। —(१) मूलाधार चक्र।
१११	(२) खाधिष्ठान चक्र । —(३) मिण्पूरक चक
११२	(४) श्रनाहत चक्र।
११३	(५) विशुद्ध चक्र ।
११४	(६) श्राज्ञा चक्र।
११५	
११६	कुराडितिनी जागृत करने के उपाय।
११७	चक्र भेदन अथोत् कुएडलिनी योग ।
११८	कुएडलिनी जागृत करने का एक अनुभूत साधन।
११९	साधकों के लिए चेतावनी।
१२३	सूत्र ३५-निर्मल चित्त की स्थिति का दूसरा उपाय विषयवती प्रवृत्ति । ध्याख्या-
	गन्ध, प्रवृत्ति, रस प्रवृत्ति, रूप प्रवृत्ति, स्पर्श प्रवृत्ति, स्प्रौर शब्द प्रवृत्ति।
१२४	विशेष विचार । विषय प्रवृत्तियों द्वारा वितकांतुगत, विचारातुगत, भानन्दातुगत
	् श्रीर श्रस्मतानुगत सम्प्रज्ञात् समाधि ।
१२५	सूत्र ३६ —तीसरा चपाय 'विशोका वा ज्योतिष्मती'। व्याख्या।
१२७	सूत्र ३७चौथा उपाय नीतराग विषय चित्त । सूत्र ३८पाँचवा उपाय स्वप्न
	तथा निवा ज्ञान का चालम्बन ।
१२८	सूत्र ३९—छठा उपाय यथाभिमत भ्याम ।
१२९	सूत्र ४०—इन उपायों का फल। सूत्र ४१—समाधि का खरूप घोर विषय।
१३०	सूत्र ४२—स्वितके संज्ञक स्थूल प्राध्य समापत्ति का लच्चण । व्याख्या—शब्द, क्यथे, ज्ञान, विकल्प ।
१३१	परप्रत्यन् ।
१३२ ं	सूत्र ४३ निर्वितर्क समापत्ति । व्याख्या—स्पृति परिशुद्धी, खरूपशून्य १व । विशेष वित्रार ।
	ו אוד דו דוקדו

58	विष्य
१३३	टिप्पर्गा । सूत्र ४४—सविचार श्रीर निर्विचार समापत्ति । व्याख्या ।
१३४	टिप्पर्गा—ध्यान, सवितर्क तथा सविचार सभापत्ति द्यौर समाधि में भेद
१३५	सूत्र ४५ —सूक्ष्म विषय की श्रवधि । व्याख्या टिप्पणी ।
१३६	सूत्र ४५ —सबीज समाधि का स्वरूप। व्याख्या। सबीज समाधि के छ: भेद।
१३७	विशेष वक्तन्य—सबीज समाधि के श्रवान्तर भेदों मं वाचस्पति मिश्र श्रीर विज्ञानभिक्षु का मत भेद।
१३८	सूत्र ४७—निर्विचार की निर्मलता का फल। सूत्र ४८—ऋतम्भरा प्रज्ञाका वर्णन।
१३९	सूत्र ४९ — ऋतम्भरा श्रहा-जन्य प्रत्यत्त ज्ञान की श्रेष्ठता ।
१४०	सूत्र ५०—ऋतम्भरा प्रज्ञाका फल्
१४१	सूत्र ५१ — निर्वीज समाधि का वर्णन । व्याख्या ।
१४२	विशेष विचार—निरोधपरिणाम
१४३	श्रीमान् महास्मा हरिभजन का संनिप्त परिचय । उनके अनुभव ।
१४६	स्वरूप स्थिति प्राप्त किये हुये योगी के लक्ष्या। समाधि स्थित श्रीर स्थित प्रज्ञा।
१४७	स्वरूपिश्वित को प्राप्त कियं हुये दो प्रकार के योगियों की दो प्रकार की भक्ति।
	श्रवतार .
१४९	उपसंहार समाधिपाद का।
१५१	साधनपाद
	सूत्र १—क्रिया योग का स्वरूप। व्याख्या—तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रशिधान।
१५३	विशेष वक्तव्य-तप की व्याख्या-युक्ताहार (मिताहार)
१५४	युक्त विहार, युक्त कर्म चेष्टा, युक्त स्वप्नावबोध ।
१५५	बांगी का तप, मन का तप।
१५६	स्वाध्याय-गायत्री मन्त्र की स्याख्या ।
१५८	सूत्र २ क्रियायोग का फल । व्याख्या-समाधि-भावना, छेश तनूकरण सूत्र ३
	क्षेत्रों का स्वरूप।
१५९	सूत्र ४—्क्रेशों का चेत्र और अवस्थायें। व्याख्या—प्रसुप्त, तनु, विच्छित्र और
	उदार हेश ।

१६० दग्ध बीज छेश। विशेष वक्तव्य -विदेह और प्रकृतिलयों के सम्बन्ध में आन्ति जनक क्यों का निराकरण।

१६१ व्यासभाष्य का अर्थ।

१६२ भोजवृशि का अर्थ।

१६३ सूत्र ५—व्यविद्या का स्वरूप । विशेष वक्तम्य—सस्य वित्तों में अविद्या कास्थान ।

27	विषय
१६४	सूत्र ६ — अस्मिता कास्त्ररुप्। वि० व०।
१६%	सूत्र ७-राग का लक्त्य। सूत्र ८-द्वेष का लक्त्या।सूत्र ९-द्यभिनिवेश कालक्त्या
१६७	सूत्र १० – दग्धवीज क्वेशों की निवृत्ति ।
१६८	सूत्र ११ - तनुक्केशों के दूर करने का उपाय।
१६९	सूत्र १२ - हेश सकाम कर्नों के कारण हैं, जिनकी वासनायें वर्त्तमान जन्म वा
	जन्मान्तरों में फलती हैं।
१७०	स्त्र १३ - कर्माशयों का फल जाति, श्रायु श्रीर भोग। व्याख्या-
१७१	प्रधान कमीशय, उपसर्जन कमाशय, नियत विपाक, अनियत विपाक । अनियत
	विपाकवाले उपसर्जन कर्माशयां की तीन प्रकार की गति। विशेष वक्तव्य-
	सिवति कर्म, प्रारब्ध कर्म, क्रियमाण कर्म।
१७२	विकासवादियों की इस र्शका का कि मनुष्य से नीचे पशु आदि योनि में जाना
	विकासवाद के विरुद्ध है, समाधान।
१७४	सूत्र १४जाति, त्रायु त्र्यौर भोग का फल, सुख दुःख ।
१७६	सूत्र १४ - योगी की दृष्टि में विषय सुख भी दुःख ही है। व्याख्या
१७७	परिणाम-दुःख, ताप-दुःख, संस्कार दुःख, गुणवृत्ति-विरोध ।
१७८	स्त्र १६—हेय (त्यागने योग्य) क्या है १ टिप्पणी—योग दर्शन के चार प्रतिपादय
	विषयों की बौढ़ धमें के चार आयं सत्य के साथ समानता । सूत्र १७—हेय
	(दु:ल) का हेतु क्या है ?
९७९	टिप्पणी—न्यासभाष्य भाषार्थ । विज्ञानभिक्षु के योगवार्त्तिक का भाषानुवाद ।
१८४ १८०	मुत्र १८—दृश्य का स्वरूप श्रीर प्रयोजन । न्याख्या—गुणों का धर्म ।
१८४	गुर्खों का कार्य, गुर्खों का प्रयोजन, भाग, ऋपवर्ग। श्रनिष्ट भोग,
१८६ "	चुला का कार्य, चुला का अयाजन, बान, अययन । आन्य बान, इष्ट भोग, अपवर्ग ।
१८७ ···	इट चारा, जनवर । टिप्पणी—न्यासभाष्य का भाषानुवाद ।
१८८	विज्ञानिभक्षु के योगवार्त्तिक का आषानुवाद ।
१९५ ····	स्त्र१९ — दृश्य की श्रवस्थायें। व्याख्या—विशेष, श्रविशेष, तिङ्गमात्र, श्रतिङ्ग ॥
१९६	विशेष वक्तव्य—गुण पर्वाणि, जड़ तत्त्व के तीन विभाग-प्रकृति अविकृति,
***	प्रकृति विकृति विकृति, श्रमकृति ।
१९७	सःकार्थवाद का सिद्धान्त । टिप्पणी—न्यासभाष्य का भाषानुवाद
१९८	विज्ञानभिक्षु के योग नार्त्तिक का भाषानुवाद ।
२१०	सूत्र २० - द्रष्टा का स्वरूप श्रीर उसका चित्त से सम्बन्ध ।
२११	ब्यास्या — दृशि मात्र, प्रस्ययानुपरय । दिप्पणी—
२१२	व्यासभाष्य का भाषाये।
२१३	
Ęq	ે

TR

विषय

२१८ सूत्र २२ — दृश्य के स्वरूप का प्रयोजन पुरुष के लिये है।

२१९ टिप्पणी-ज्यासभाव्य का भाषानुवाद । भाजवृत्ति का भाषार्थ ।

२२० सूत्र २२ -- एक पुरुष का प्रयोजन साथ कर भी दश्य खपने खरूप से नष्ट नहीं होता, किन्तु दूसरों का प्रयोजन साधने में लगा रहता है। टिप्पणी--व्यासभाष्य का भाषानुवाद। भोजवृत्ति का भाषार्थ।

२२१ सूत्र २३—द्रष्टा और दश्य के संयोग के वियोग का कारण खशक्ति और खामि शक्ति के खरूप की उपलब्धि।

२२२ टिप्पणी-ड्यास भाष्य का भाषानुवाद ।

२२४ भोजवृत्ति का भाषार्थ । विज्ञानिभक्षु के वार्त्तिक का भाषानुवाद ।

२२८ सूत्र २४ - अदर्शनरूपी संयोग का कारण अविद्या।

२२९ टिप्पणी-व्यासभाष्य का भाषानुवाद ।

२३० भोजवृशि का भाषार्थ । विज्ञानिभक्षु के वार्त्तिक का भाषानुवाद ।

२३१ सूत्र २५--हान का लक्षण और स्वरूप।

१३२ सूत्र २६ - हान का खपाय। व्याख्या - विष्ठव सहित विवेक ख्याति, विष्ठव रहित अथान् अविष्ठव विवेक ख्याति।

२३३ टिप्पणी - व्यासभाष्य का भाषार्थ । विज्ञानभिक्षु के वार्त्तिक का भाषानुवाद ।

२३४ बौद्ध दर्शन — बौद्ध धर्म में 'हान' के स्थान में 'तृतीय आर्य सत्य' 'दु:स निरोध' (निर्वाण)

१३५ सूत्र २७ — अविष्ठन बिवेक-ख्याति वाले योगी की कृतकृत्यता (सात प्रकार की प्रज्ञा) । ब्याख्या—कार्यविद्युक्ति प्रज्ञा अर्थात् क्षेत्र शून्य अवस्था, द्वेय शून्य अवस्था, प्राप्य प्राप्त अवस्था और चिकीषी शून्य अवस्था ।

२२६ चित्तविमुक्ति प्रज्ञा, गुग्गुलीनता, चात्मस्थिति। सूत्र २८ — विवेक स्थाति का साधन योग अक्षों का अनुष्ठान। व्यास्था। टिप्प्गी — कारण के नौ भेद।

२३७ सूत्र २९ - योग के चाठ अङ्गों का वर्णन।

२३८ विशेष वक्तव्य—विधिष्ठिता और अन्तर्भुक्तता अर्थात् अवरोह और आरोह काक्रम।

२२९ टिल्पणी—बौद्ध दर्शन—'क्षष्टांग योग' की बौद्ध धर्म के 'क्षष्टांङ्गिक मार्ग' के साथ समानता।

१४५ सूत्र ३०--यमों का वर्णन । व्याख्या-- झहिंसा ।

२४७ सस्य ।

२४८ अस्तेय । ब्रह्मचर्य । अपरिव्रह ।

१४९ सूत्र ३१ — यमों के पालन की सब से खंबी झक्स्या । विसेच विचार-यमों का स्थापक सक्त्य ।

48	विषय
२५०	म्बाईसा। तीन प्रकार की हिंसा।
२५३	सस्य ।
२५४	राष्ट्र की सारी परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये योगीश्वर श्रीकृष्ण अगवान् का सत्य भाषण का उपदेश (महाभारत कर्ण पर्व कथ्याय ६९)।
२६२	अस्तेय का स्यापक स्वरूप। ब्रह्मचर्थ।
२६३	न्नपरिमह का व्यापक स्वरूप । सूत्र ३२—वैयक्तिक धर्म रूप नियमों का बर्यान । व्याख्या—शोच ।
२६४	सन्तोष ।
२६५	तप । स्वाध्याय । ईश्वरप्राणिधान । विशेष वक्तव्य—
२६६	हठयोग की छः क्रियाओं द्वारा शरीर शोधन । धौति—धौति के तीन भेद ।
२६७	घेरएड संहिता श्रनुसार धौति के चार भेद ।
२६८	वस्ति ।
२६९	घेरएडसंहिता के अनुसार विस्ता के दो भेद। नेति —नेति के दो भेद—नीती। नौली के तीन भाग।
२७०	त्राटक —त्राटक के तीन भेद। कपालभाति। घेरग्रडसंहिता अनुसार कपाल भाति के तीन भेद।
२७१	प्राञ्चतिक नियमों द्वारा शरीरशोधन अर्थात बिना औषधि रोग दूर करने के खपाय। प्राञ्चतिक जीवन, खान, पान आदि के नियम। खास्प्य सुधारने, फेकड़ों, पसली, खाती आदि के रोगों के दूर करने के लिये प्रायायाम। जल-चिकित्सा—हिप बाथ, सन बाथ, स्टीम बाथ, सिट्ज बाथ।
	शीच साफ लाने, आंव निकालने व फोड़े फुन्सी आदि के दूर करने के खपाय।
२७३	सूर्यविज्ञान — सूर्य चिकित्साः । विशेष-विशेष शंगों का सूर्य की किरणों द्वारा कृष्ण शरीर में लाभ पहुंचाने के उपाय ।
२७४	रंगों का प्रयोग—किस-किस रोग में कौन-कौन से रंगों का प्रयोग।
२७५६	अन्यशक्तिक विकित्सायें—ज्वर आदि, सिर का दरे, सिर का चकर, बादी का बुखार, कोष्ठवढ़, दन्त रोग, चक्षु रोग, रक्त विकार तथा मसिष्क के कार्य से थकावट, नींद न आने आदि की अवस्था में चपयोगी कियायें।
२७७	सम्मोहन शक्ति और संकल्प शक्ति द्वारा शरीर शोधन। सम्मोहन शक्ति, वसका मुख्य स्थान और प्रयोग। सम्मोहन शक्ति के विकास करने के नियम।
२७८	सम्मोहन शक्ति के हास के कारण। आकर्षण शक्ति को बढ़ाने के साधन। मन को एकाम करने का अभ्यास। शरीर की आन्तरिक क्रियाओं तथा रक्त- श्रवाहनी नादियों के वशीकार करने का अभ्यास।

a	
As.	विषय
२७९	त्राटक का त्रभ्यास । प्राग्णायाम का बभ्यास । ब्रारोग्यता और खारथ्य की
	हद भावना । इष्ट (श्रच्छी) प्रकृतियों का प्रहर्ण और श्रानष्ट (बुरी) प्रकृतियों का परित्याग ।
२८१	आकर्षेणशक्ति का प्रयोग। सूचनायें अधीत् आदेश (Suggestions)। मार्जन क्रिया (Passes) के प्रयोग करने की विधि।
१८२	त्राटक श्रीर फुँक।
२८३	दूरबैठे रोगी का इलाज (Post Hypnotism)। अपने रोग का खबं इलाज करना। दूसरे की पीड़ा को बख में खींचना। कृत्रिम निद्रा (Hypnosis).
२८४	कृत्रिम निद्रो उत्पन्न करने की कई सरल विधियां।
२८५	कृत्रिम निद्रा द्वारा रोग निवारण । कृत्रिम निद्रा की श्रवस्थार्ये ।
२८६	Clairvoyance I Spiritualism I
२८७	Telepathy । संकल्प शक्ति (Will power)। वेदों में संकल्प शक्ति – सम्बन्धी मन्त्र ।
२९१	प्राणिमात्र की भलाई की प्रार्थना। वेदों में निर्भयता की प्रार्थना। वेदों में संसार के कल्याण और शान्ति की प्रार्थना।
२९५	श्चात्मविश्वास श्रौर श्रास्तिकता । सूत्र ३३-यम तथा नियमों के पालन में विष्नों के रोकने का उपाय । व्याख्या–प्रतिपत्त भावना ।
२९६	ब्यासभाष्य श्रनुसार प्रतिपत्त भावना । सूत्र ३४- वितर्कों के स्वरूप, उनके भेद श्रीर उनके फल सहित प्रतिपत्त भावना । टिप्पर्णा-भोजवृत्ति ।
२९८	सूत्र ३५-व्यहिसा में सिद्धि का फल। सूत्र ३६- सत्य में सिद्धि का फल।
२९९	सूत्र ३७ अस्तेय में सिद्धि का फल। सूत्र ३८ अद्याचर्यसिद्धि का फल। सूत्र ३९- अपरिमहसिद्धि का फल।
₹00 ····	नियमों की सिद्धि के फल । सूत्र ४०- शौच की सिद्धि का फल। सूत्र ४१-आभ्यन्तर शौच सिद्धि का फल।
\$08 ····	सूत्र ४२- सन्तोष का फल। सूत्र ४३- तप का फल। सूत्र ४४ स्वाध्याय का फल।
३०२	सूत्र ४५- ईश्वरप्रसिधान का फल । सूत्र ४६ आसन का लक्ष्म । व्याख्या- स्वस्तिक आसन ।
३०३	सिद्धासन, समासन, पद्मासन, बद्धपद्मासन, बीरासन, गोमुखासन, बकासन।
≸ ∘8	भासन सम्बंधी विशेष बातें । विशेष वक्तव्य-श्रभ्यास के उपयोगी स्थान इत्यादि।
३०५	बन्ध श्रीर वेध-मूल-बन्ध, उड्डीयान-बन्ध, जालन्धर-बन्ध।
३०६	महाबन्ध, महाबेध । मुद्रायें- (८) खेचरी मुद्रा ।
300 ····	(२) महामुद्रा ।
३०८	(३) ऋश्विनी सुद्रा (४) शिष्टि चालिनी सुद्रा (५) योनिसुद्रा (६) योगसुद्रा ।

22	विषय
३०९	(७) शाम्भवी सुद्रा (८) तङ्गागी सुद्रा (९) विपरीतकरणी सुद्रा (१०) बज्जोली सुद्रा।
३१०	श्चासन—चित लेटकर करने के श्वासनः (१) पादागुष्ट-नासाप्र-स्पशासन (२) पश्चिमोत्तानासन (२) सम्प्रसारण-भू- नमनासन ।
३११	(४) जानुशिरासन (५) आकर्ण धनुषासन और उसकी चार प्रक्रियायें (६) शृषिपादासन (৬) हृदयसम्भासन्।
३१२	(८) उत्तानपादासन और उसकी नौ प्रक्रियायें।
३१३	(९) हस्त-पादागुष्टासन (१०) स्नायु-संचालासन (११) पवन-मुक्तासन (१२) ऊप्य-सर्वागासन ।
३१४	(१३) सर्वागांतन (इलासन) (१४) कर्णेपीडासन (१५) चक्रासन (१६) गर्भासन (१७) शवासन (विश्रामासन)। पेट के बल लेटकर करने के खासन-(१८) मस्तक-पादागुष्टासन (१९) नाभ्यासन ।
३१५	(२०) मयूरासन (२१) मुजगांसन (सर्पासन) और उसकी तीन प्रक्रियायें (२२) ज्ञलभासन।
३१६	सहित. (२५) वृश्चिकासन, (२६) उष्ट्रासन ।
३१७	(२७) सुक्त-वकासन, (२८) कन्द पीड़ासन, (२९) पावेती व्यासन, (३०) गौरला- सन, (३१) सिंहासन (३२) वकासन ।
३१८	(३३) लोलासन । पद्मासन लगाकर करने के खासन । (३) ऊर्ध्वपद्मासन, (३५) उत्थित पद्मासन, (३६) कुक्टुटासन, (३७) गर्भासन, (३८) कुमासन, (३९) मरस्यासन, (४०) तोलागुलासन, (४१) त्रिबन्धासन ।
३१९	गरुड्सन, (४५) द्विपादमध्यशीषांसन, (४६) पादहस्तासन, (४७) हस्तपादा- गणासन ।
३२०	(४८) कीग्णासन । विशेष आसनों से विशेष लाभ चठाने की विधि ।
३२१	आसन का उठना। आसन रठाने की विधि। गुफा में बैठना। गुफा में बैठने की दो विधियाँ।
३२२	सूत्र ४७-ग्रासन की सिद्धि का चपाय ।
३२३ ····	0 0-C 100 memorati
३२६	
₹ २७	

- १२८ " कुम्मक के आठ भेव प्रायायाम में बन्धों का प्रयोग, प्रायायाम में खंगुलियों का प्रयोग।
- ३२९ सगर्भ (सबीज) और निर्शम, सिहत-कुम्भक। सगर्भे प्राणायाम की विधि। सात सिहत-कुम्भकों का वर्णन। (१) साधारण सिहत अथवा अनुलोम विलोम कुम्भक।
- ३२० डपर्युक्त प्राणायाम में मात्रात्रों के बदाने की विधि । तालयुक्त प्राणायाम ।
- ३३१ (२) सूर्यभेदी कुम्भक; चन्द्रभेदी प्राणायाम (३) उजाई कुम्भक ।
- ३३२ ···· दोषेसूत्री बजाई। () शीतली कुम्भक, शीतकारी प्राणायाम, काकी प्राणायाम, भुजंगी प्राणायाम। (५) भक्तिका कुम्भक, (क) मध्यम भक्तिका।
- ३३३ (ख) वाम भरित्रका (ग) दित्तिण भरित्रका (घ) अनुलोम विलोम भक्तिका ।
- ३३४ भिक्तका के अन्तर्गत दो प्राणायाम । भ्रामरी कुम्भक।
- ३३५ ···· श्रनुलोम-विलोम भ्रामरी शाणायाम; ध्वन्यात्मक शाणायाम। (७) मृच्छो कुम्भक (षरमुखी सर्वेद्वार बन्द मुद्रा) (८) प्रावनी कुम्भक, केवल कम्भक ।
- ३३६ ··· केवल कुम्भक की विधि हठयोग द्वारा। केवल कुम्भक की विधि राज योगद्वारा। विशेष सूचना।
- ३३७ सूत्र ५१- चौथे प्राणायाम का लक्त्या। व्यासभाष्य।
- ३३८ चौथे शाणायाम की चार विधियाँ।
- ३३९ विशेष वक्तव्य पांचर्वाविधि । सूत्र ५२-प्राणायाम का फल ।
- ३४० सूत्र ५३-प्राणायाम का दूसरा फल । सूत्र ५४- प्रत्याहार का लक्क्ण ।
- ३४१ सूत्र ५५- प्रत्याहार का फल।
- ३४२ साधनपाद का उपसंहार।
- ३४३ परिशिष्ट--- छौषिय द्वारा शरीरशोधन (आरोग्यता)। कोष्ठबढ दूर करने की सात अनुभूत औषधियां।
- २४४ वातिकारनाशक तथा रेचक तीन अनुभूत श्रीविध्यां, कफनाशक, पाचक व रेचक श्रीपि, विगड़े हुये जुकाम, खांसी, सब प्रकार के मस्तिष्क व पेट के विकारों को दूर करने के ियं श्रनुभूत श्रीपिधयाँ।
- २४५ साधारण जुकाम के लिये कादा। भजन (शणायाम, ध्यान आदि क्रिया) से उत्पन्न होने वाली ख़रकी दूर करने के लिये तीन अनुभूत औषधियाँ।
- २४६ आवंत के रोग मरोड़ व पेविशे के लिये पांच अनुभूत और्विधयाँ। ज्वर के प्रधात् निर्यलता दूर करने के लिये चुर्शे। खांसी की औषधियाँ।
- ३४७ श्वास, दमा के १४ अनुभूत नुसले ।
- २४८-९ व्यजीर्थ, दस्त व के व्यादि के लियं व्यष्टतधारा तथा सन्धीवनी वटी के जुसके तथा व्यन्य व्योषधियाँ। संबद्दग्री के दो तुसक्षे ।

विषय 78 हैजे का नुसखा। अम्लिपत्त से हाजमा ठीक न रहने के लिये अविपत्तिकरचूर्ण। ३५० वातविकार के लिये रेचक वातारि गूगल, ऋरएडी पाक तथा अन्य श्रीषधियाँ। श्राधेसिर का दर्द, नथने बन्द रहने, सिर के भारी रहने की श्रनुभूत श्रीषधियाँ। ३५१-२ प्रमेह, पेशाब में शकर आना, स्वप्नदोष आदि बीये विकार के लिये चन्द्रप्रभा वटी, सूर्यप्रभा वटी, ब्रह्मा घृत की दो विधियाँ तथा अन्य अनुभूत श्रीषिधयाँ। साते समय पेशाय निकल जानाः पेशाय के साथ शकर धानाः बहुमूत्र । इनकी 343 श्रीषधियाँ। हर प्रकार के बुखार के लिये श्रीषधियाँ। ३५४ तपेदिक के लिये तीन अनुभूत श्रीषधियाँ। पायोरिया, दाढ़ का दर्द, तथा दांतों के ३५५ ... सब रोगों के लिये श्रीषधियाँ। फोड़े, फुन्सी, रक्तविकार आदि सम्बन्धी औषधियाँ। ३५६ सफेद कोद, छाजन, लाहौरी, मुग्नदादी फोड़े तथा अन्य दादों की अनुभृत ३५७ ... श्रीषधियाँ । र्भैसिया अर्थात् काले दाद, छाजन, चम्बल, नासूर, भगन्दर। कमर के अन्दर ३५८ ... के फोड़े तथा गांठ वाले फोड़ों की अनुभूत श्रीपधियाँ। भगन्दर तथा गुदा के रोगों, अर्श (बवासीर), मस्सों के माइने की दवायें। ३५९ ... ३६० तिहां, दर्द गुर्दे की दवाइयाँ। पथरी तोइकर निकालने, बन्द पेशाव के खोलने, रुक-रुक कर पेशाव आने, 388 बायु गोला, पेट के कीड़े, दिमारा के कीड़े सम्बन्धी दवायें। गठिया: आंखों से सम्बन्ध रखने वाले रोगों की द्वायें। ३६२ कान का दर्दे, मुंह के छाले के लिये दवायें। दिल की धड़कन सम्बन्धी अनुभूत 3 6 3 द्वायें। पागलपन या उन्माद की द्वा। नीन्द कान आना। बुद्धिवर्धक सरस्रती चूर्ण। पारा बांधना। 348 ··· विभूतिपाद । सूत्र १--धारणा का लक्तण । व्याख्या-देश, बन्ध, ध्येय । ३६५ सूत्र २-ध्यान का लक्त्या। व्याख्या—प्रस्यय, एकतानता । सूत्र ३-समाधि का लक्त्या । व्याख्या-खरूप 355 शून्यम् इव, चर्थमात्र निर्भासम्। विशेष वक्तव्य-त्रिपुटी, धारणा, ध्यान और ससाधि में भेद । ३**६**७ ···· सूत्र ४-संयम का लक्ष्ण । सूत्र ५-संयम का फल । प्रज्ञालोक । सूत्र ६-संयम ₹६८ "" का विनयोग । ३६९-३७२ विशेष बक्तव्य-संयम का महस्त्र।

२७३ ··· सूत्र ७--योग के बन्तरंग । सूत्र ८--योग के बहिरंग । ३७४ ··· संगत--धर्म-परियाम, लच्य-परियाम, अवस्था-परियाम ।

48	विषय
રૂહવ	सत्र ९-चित्त का निरोध-परिगाम । व्याख्या-निरोध, अभिभव, प्रादुर्भाव,
•	निरोधन्तरणिचत्तान्वयः । निरोध-परिणाम ।
३७७	सूत्र १०निरोध संस्कार का फल। सूत्र ११चित्त में समाधि-परिएाम।
३७८	समाधि-परिणाम और निरोध परिणाम में भेद । सूत्र १२-एकामता-परिणाम ।
३७९	सूत्र १३भूत और इन्द्रियों में धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम ।
३८१	टिप्पणी—ज्यासभाष्य का भाषानुवाद ।
३८३	विज्ञानभिक्षु के वार्श्तिक का भाषानुवाद ।
३९२	सूत्र १४धर्मी का लज्ञ्ण । शान्त, उदित, श्रव्यपदेश ।
३९३	टिप्पर्णा व्यासभाष्य का भाषानुवाद ।
३९४	विज्ञानभिक्षु के योगवार्त्तिक का भाषानुवाद।
३९९	सूत्र १५—एक धर्मी के अनेक परिणाम किस प्रकार होते हैं व्याख्या।
४००-४०१	चित्त के प्रत्यत्त रूप और सात अप्रत्यत्त रूप परिणाम । सूत्र १६—
	तीनों परिग्णामों के संयम का फल. भूत श्रीर भविष्यत् का ज्ञान । सूत्र २७ —
	शब्द, अर्थ और ज्ञान के विभाग में संयम करने का फल, सब प्राणियों की
	बोली का ज्ञान।
४०२	टिप्नणी—स्फोटवाद । भोजवृत्ति का भाषानुवाद ।
४०३	व्यासभाष्य का भाषानुवाद।
808	विज्ञानभिक्षु के योगवासिक का भाषानुवाद ।
818	विशेष वर्णन ।
४१२	सूत्र १८ - संस्कार के साम्रात् करने का फल, पूर्वजम्म का झान । टिप्पणी ।
४१३	सूत्र १९, २०—दूसरे के चित्त का ज्ञान ।
868	सूत्र २१-सामने होते हुए दिखलाई न देना। सूत्र २२-मृत्यु का ज्ञान। स्रोप-
	क्रम, निरुपक्रम, चरिष्ट ।
४१५	सूत्र २३ मैत्री आदि में संयम का फल।
४१६	सूत्र २४ — हाथी श्रादि के बल की प्राप्ति। सूत्र २५ — सूक्ष्म दृष्टि की प्राप्ति।
	सूत्र २६ — सूर्य में संयम करने से भुवनों का ज्ञान।
४१७	स्पष्टीकरण ।
४२३	सूत्र २७चन्द्रमा में संयम करने से ताराज्यूह का ज्ञान ।
४२४	सूत्र २८ - ध्रुव में संयम करने से तारों की गति का ज्ञान। सूत्र २९ नाभि
	चक्र में संयम करने से शरीर के व्यूह का ज्ञान।
४२५	सूत्र २० - करठकूप में संयम करने से भूख-प्यास की निवृत्ति । सूत्र २१कूर्म नाड़ी में संयम करने से शिरता । सूत्र ३२ मूखी-ज्योंकि में संयम करने से सिखों के दरीन । विरोष विचार ।

-	-
A8	विषय
४२६	सूत्र ३३ प्रातिभ से सब बातों का ज्ञान। सूत्र ३४ हृदय में संयम से चित्र
	का झान। सूत्र ३५ - स्त्रार्थ संयम का फल पुरुष विषयक ज्ञान।
४२७	विशेष वक्तस्य ।
४२८	भोज वृत्ति का भाषानुवाद । सूत्र ३६—पुरुष विषयक क्वान से पूर्व होने बाली छ: सिद्धियाँ—प्रातिभ, श्रावण, वेदना, चादर्श, घास्वाद, वाता ।
્ર ૪ ર ૧	सूत्र ३७—ये सिद्धियां समाधि में विन्न, ब्युत्थान में सिद्धियां हैं। सूत्र ३८— चित्त का दूसरे के शरीर में त्रावेश।
४३०	टिप्पणी—भोजवृत्ति का भाषार्थ। सूत्र ३९ — उदानजय का फल जलादि में असंग रहना और ऊर्ध्वगति।
४३१	विशेष वक्तव्य १— अन्तः करण की दो प्रकार की वृत्तियां। विशेष वक्तव्य २—
४३२	मृत्यु के समय लिङ्ग शरीर की चार श्रवस्थायें। पितृयान व देवयान।
४३३	पितृयान, दिल्लायन।
४३५	देवयान । उत्तरायण ।
४३६	मुक्ति के दो भेद । क्रममुक्ति श्रौर सद्योमुक्ति ।
	सूत्र ४०—समान के जीतने से दीप्तिमान् होना ।
४३७	सूत्र ४१ — श्रोत्र श्रोर श्राकाश के सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य श्रोत्र होना।
४३८	सूत्र ४२ – शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से आकाशगमन
	सिद्धि । सूत्र ४३ — बहिरकल्पिता वृत्ति से प्रकाश के आवर्या का नाश ।
४३९	
	संयम का फल, भूतजय। टिप्पणी—ज्यासभाष्य की ज्याख्या।
४४२	सूत्र ४५—भूतजय का फल आठ प्रकार की सिद्धियाँ, कायसम्पत् और भूतों के धर्मों की रुकावट का दूर होना । व्याख्या—आग्रिमा, लिघमा, मिहमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, विश्वत्व, इशितृत्व, यत्रकामावसायित्व ।
୪୪३	सूत्र ४६ - कायसम्पत् का लज्ञाग रूप, लावग्य, बल, वफ की सी बनावट।
888	सूत्र ४७ प्रहण इन्द्रियों के प्रहण, खरूप, श्रास्मता, श्रन्वय, अर्थवरव में
	संयम का फल इन्द्रियजय। टिप्पणी-च्यासभाष्य का भाषानुवाद।
४४५	सूत्र ४८—इन्द्रिजय का फल मनोजित्रत्व, विकरण भाव और प्रधान जय।
४४६	सूत्र ४८—प्रहीत में संयम अर्थात् विवेकस्याति का फल सर्वभाव व्यधिष्ठातृत्व व्यौर सर्वज्ञातृत्व । टिप्पणी—न्यासभाष्य का भाषानुवाद, योगवात्तिक का
	भाषानुवाद ।
886	सूत्र ५०—विवेक ख्याति से भी वैराग्य का फल कैवल्य। टिप्पणी—व्यास भाष्य का भाषानुवाद।
88\$	सूत्र ५१ — स्थानधारियों के आदरभाव पर योगी लगाव व घमगढ़ न करे।

विषय

योगियों की चार भूमियां—प्रथम काल्पिक । मधुभूमिका, प्रज्ञाज्योति, अतिकान्त भावनीय।

४५० सूत्र ५२ — ज्ञ्ण और उसके क्रमों में स्यम करने का फल विवेकज झान। टिप्पणी — भोजवृत्ति का भाषानुवाद।

४५१ सूत्र ५३ — विवेकज ज्ञान के मुख्य फल से पूर्व अवान्तर फल — जाति, लत्तरण, देश से भेद का निश्चय न होने से दो तुल्य वस्तुओं का विवेकज ज्ञान से निश्चय होना।

४५२ सूत्र ५४ — विवेकज ज्ञान का स्वरूप।

४५३ सत्र ५५-चित्त और पुरुष की समान शुद्धि होने पर कैवल्य। उपसंहार।

४५५ ... कैवस्य पाद ।

सूत्र १—पाँच प्रकार की सिद्धियाँ। जन्मजा सिद्धि, श्रौषधिजा सिद्धि, मन्त्रजा सिद्धि, तपजा सिद्धि, समाधिजा सिद्धि।

४५६ भोजवृत्ति का भाषानुवाद । सूत्रू २ -- जात्यन्तर परिणाम का वर्णन । प्रकृत्यापूर ।

४५७ टिप्पणी-- भोजवृत्ति का भाषार्थ। सूत्र ६-- प्रकृतियों के बदलने में धर्म अधर्म का काम।

४५८ भोजवृत्ति का भाषानुनाद । विशेष वक्तव्य ।

४५९ निर्माण चित्तों का वर्णन । विशेष विचार ।

४६१ सूत्र ५ - निर्माण चित्तों का प्रेरक अधिष्ठाता चित्त । विशेष विचार ।

४६२ अपवर्ग के बपयोगी चित्र का वर्णन। सूत्र ७ - कर्मों के चार भेदों में से योगी के अशुक्त अञ्चल कर्म

४६३ सूत्र ८-कर्मी के फलों के अनुकूल वासनाओं का उत्पन्न होना।

४६४ सूत्र ९ — दूसरा जन्म देने वाली वासनाश्रों के उदय होने में जाति, देश और काल की ककावट नहीं होती है। सूत्र १० — वासनाश्रों के अनादि होने का वर्णन।

प्र६५ बिशेष वक्तत्व्य । व्यासभाव्य का भाषार्थ तथा स्पष्टीकरण तथा चित्त के परि-ग्राम के सम्बन्ध में दार्शनिक विचार ।

४७० सूत्र ११ - अनादि वासनाओं के दूर होने में युक्ति। व्यास भाष्य का भाषानुवाद

४७१ भोजपूत्ति का भाषानुवाद । सूत्र १२ — अतीत और व्यनागत खरूप से रहते हैं क्योंकि धर्मों का काल से भेर होता है। विशेष वक्तव्य — पाँच प्रकार का स्थमाव।

४७२ भोजवृत्ति का भाषानुवाद ।

४७३ सूत्र १३ — सारे प्रकट और सूक्ष्म (धर्म) कार्थ गुरा स्वरूप हैं।

४७४ हत्र १४--परिगाम के एक होने से वस्तु की एकता। विशेष वक्तक्य।

पुष्ठ	विषय
४७५	सूत्र १५—चित्त और विषय का भेद । भोजवृत्ति का भाषानुवाद । विज्ञान
	वादियों की शङ्का का समाधान।
४७६	विशेष वक्तव्य
<i>లల</i> 8	सृत्र १६ प्राह्म वस्तु एक चित्त के अधीन नहीं। व्यासभाष्य का भाषानुवाद
४७८	सूत्र १७ — वपराग की श्रपेता से चित्त को बाह्य वस्तु ज्ञात और श्रज्ञात होर्त है। भोजवृत्ति का भाषानुवाद।
ሄ ७९	सूत्र १८—पुरुष को चित्त की बृत्तियाँ सदा ज्ञात रहती हैं।
850	भोजवृत्ति का भाषानुवाद । सूत्र १९—िचत्त स्वप्रकाश नहीं ।
४८१ ····	भोजवृत्ति का भाषानुवाद । सूत्र २० चित्त को एक समय में दोनों चित्त श्री
	विषय का ज्ञान नहीं हो सकता । भोजवृत्ति का भाषानुवाद ।
४८२	सूत्र २१-एक चित्त दूसरे चित्त का प्रकाश्य नहीं। भाजवृत्ति का भाषानुवाद
४८३	सूत्र २२ — स्व प्रतिबिश्चित चित्त के आकार की प्राप्ति होने से पुरुष को अपने विष्य भूत चित्त का ज्ञान रहता है।
828	भोजवृत्ति का भाषानुवाद । सूत्र २३—चित्त का सारे अर्थो वाला दोने के कारर
	चिति श्रीर बाह्य विषयों के न मानने में भ्रान्ति ।
४८६	भोजवृत्ति का भाषानुवाद ।
866	विशेष वक्तव्य ।
४९०	सूत्र २४—चित्त का संहत्यकारी होने से परार्थ सिद्ध होना। भोजवृत्ति क भाषान्वाद।
४९१	सूत्र २५—विवेक ख्याति द्वारा चित्त स्त्रीर पुरुष में भेद दर्शन से स्नात्मभा भावना की निवृति ।
४९२	सूत्र २६—भेद दशेन के उदय होने पर चित्त की निर्मलता।
४९३	सूत्र २७—विवेक ज्ञान के बीच-बीच में पिछले संस्कारों के कारण ब्यूत्थान क वृत्तियों का उदय होना । सूत्र २८—ब्युत्थान के संस्कारों की निवृत्ति का उपाय
४९४	सूत्र २९ —धरमेष समाधि । सूत्र ३० —धर्ममेष समाधि का फल क्लेश औ कमे की निवृत्ति ।
४९५	सूत्र ३१—क्लेश और कर्म की निवृत्ति पर चित्त के प्रकाश की अनन्तता।
४९६	सूत्र ३२ — कृतार्थ गुर्णों के परिस्ताम के क्रम की समाप्ति। सूत्र ३३ — क्रम क स्वरूप।
४९८	टिप्पर्सा । भोजवृत्ति का भाषानुवाद । विशेष वक्तव्य ।
866	सूत्र ३४ — कैवस्य का स्वरूप — पुरुषाधे से शून्य हुये गुर्गो का अपने कारा में लीन होना अथवा चिति शक्ति का अपने स्वरूप में अवस्थित होना।
५००	भोजवृत्ति का भाषातुवाद ।
•	

ZB.	विषय
५०१	श्रात्मा चिएक विज्ञान नहीं है। श्रात्मा संसार दशा श्रीर मुक्ति श्रवस्था में एक रूप है।
५०२	त्रात्मा विज्ञान से विलत्तरण खयं श्रकाश ज्ञान स्वरूप है।
५०३	म्यात्मत्वादि जातियों से भिन्न भ्यात्मा श्रविष्ठान चेतन रूप है। श्रात्मा अर्ह प्रतीति का विषय नहीं किन्तु केवल चिद् रूप है।
५०४	श्रात्मा श्रव्यापक, इागेरपरिमाणवाला और परिणामी नहीं है। श्रात्मा में सान्नात् कतृत्व धर्म नहीं है। श्रात्मा विमर्श रूप से चैतन्य नहीं है।
404	चपसंहार ।

शुद्धचशुद्धि-पत्रे

परिशिष्ट ४

आज्ञा की गई थी कि इस दूसरी आवृत्ति में अज़ुद्धियां न होने पायेंगी किन्तु प्रेस बालों के प्रयरन करने पर भी ऐसा न हो सका और यह ज़ुद्धि-अज़ुद्धि पत्र लगाकर पाठकों से इस के अनुसार पुस्तक को ठीक करने के लिए निवेदन करना पड़ा।

कहीं-कहीं जो निम्नलिखित साधारण प्रेस की भूलें रह गई हैं वे पढ़ते समय खासानी से ठीक की जा सकती है खत: उनको इसमें नहीं दिया गया है:—

- (१) 'त्त ' के स्थान में 'त ' यथा—तत्त्व, सस्व, महत्तस्व, वार्त्तिक, वर्त्तमान कत्तो, वृत्ति, प्रवृत्ति, प्रवर्त्तित, निमित्त, चित्त, वेत्ता, कर्त्तव्य, अर्थवस्व हत्यादि।
- (२) 'त' के स्थान में 'त्त' यथाः— चत्थान, व्युत्थान, इत्यादि, बहुत्व एकत्व, अत्यावस्यक, अत्यन्त ।
- (३) आकार की मात्रा का छूट जाना यथा:—व्यावहारिक, स्वाभाविक, प्रत्याहार, चाहार
- (४) ' व ' के स्थान में ' व ' यथा:— बन्ध, बृहस्पति, बृहदारएयक, शब्द, शबल, बीज, निर्वीज, बोधन, बाधा इत्यादि
- (५) 'व' के स्थान में 'व'यथाः— वृत्ति, विचार, वाद, अनकाश, कर्मविपाक ब्याख्या, भावना, वही, वचन, सर्वे, तीव्र इत्यादि ।
- (६) 'ट'के स्थान में 'ठ' यथाः— उयष्टि, षष्टी, समष्टि, षाष्टाध्यायी, दृष्टि, दृष्टा, इष्ट ।
 - (७) 'ठ 'के स्थान में 'ट 'यथा:- विश्वा
- (८)() इलन्त के चिन्ह का छूट जाना यथा:—जगत्, अर्थात्, स्पर्शवान्, प्रथक्, प्रथक्त्, किश्चित्, रजस्, तसस्, अनुगमात्, प्रस्तुत्, विद्युत्
- (९) (१) ऊपर रकार का छूट जाना यथा:—श्रश्तेत, वर्णन, कत्तो, श्रकत्तो, स्पर्शे, कमे, सर्वेड, श्रंतर्गत, प्रदर्शेक, यथाथे, निर्माण, सम्पूर्णे, पदाथे, पर्याय ।
- (१०) (🕳) श्रतुखार का छूट जाना यथा:— नहीं, संस्कार, में, हैं, फांसों, हिंसा, सर्वीगासन ।
- (११)(़) के स्थान में (्) यथाः—दूष, रूप खरूप, निरूपण, रूपेण, रूपें, सारून्य ।
- (१२) परिएात के स्थान में परिणित; दु:ख के स्थान में दुख; परिच्छित के स्थान में परिच्छित; नदा के स्थान में नदा; 'थे' 'बे' बहुतचन के स्थान में 'यह' 'वह' एक वचन; तथा 'यह' 'वह' एक वचन के स्थान में 'थे' 'वे' बहुतचन; विराम के चिन्ह के स्थान में (,) तथा (,) के स्थान में विराम का चिन्ह (!) इस्यादि छोटी-छोटी भूतें ।

पड्दशेनसमन्वय

18	র্ণক্তি শ্বস্তুত্ত	গুৱ	ā8	रं क्ति	ষয়ুদ্ধ	গুৱ
	_		१५	6	विपय	विषय
१	१६ यहा यह	i उपनिषद् का अर्थ इन में	શ્ પ		तेजसे दढः	तेज सेद्धः
*	१७ इस में		१५	२०	कहलाती	कहलाते
२		हव श्रात्मा पुरुष भी	१६	२२	"तत्, त्रहा, परा	नहा ^भ "तत् ^भ
ą	६ मी		1 44	'''	"蚵	द्याः परमद्य
3	१४ कल	कल्प		२२	अन्दर नहीं के व	
ą	१५ श्रीत सूत्र	के आगे गृध्य सूत्र,	१०	77	BIET	कुछ नहीं',
		धर्म सूत्र	1			सुस्मं
ą	१५ योग	याग	१७	ર્ષ	सुसुक्ष्मं	
ą	२४ प्रा	त्राप्त	86	2	सुश्रुम	श्रुम
8	२ दश्न	वर्शन	16	१२	द्रब्या	द्रव्यो
Š	११ कम्यमर्म	काम्यकर्म	१८	१४	निर्टेश	निर्दे श
૪	१७ उपासना	कारा उपासनाकार्	१८	२०	श्रपार्गामी	श्रपरिगामी
ů,	२० इटि	इप्टि	२०	२९	स्थापित करके	स्थापित करक)
Ę	१० लाको	लोको	२१	y	वहिन	विद
۹ Ę	२४ रते	करते		6	जैगी शब्य	जैगीषव्य
	२१ देवाः	देवाः'	1	११	श्राचार्या	ग्राचार्यो
9	१० प्रातगद्य			१,२	उन सूत्रों के व	गध्यकार 🗙
د ع		यन्यासात एवमप्यु	1	३२		स्वरूप
,	4 4411.3	पन्यासार		२६,	, २८, चित	चित्
		•			३ १	
१०				२७	, २८ ऋचित	अचित्
१०					३ १	
११		P9		२९		व्यर्थात्
8 :	_		•••			मानने
8.			-		- ~ >:	विधर्मियों
१		•			तद	तद्
*	২ १७ আ	~ ~ ~			_	नाभिः
		ादान निमित्तोपाद				
	२ २६ मिध		1 -			सम्प्रज्ञात
8	≀२ २७ सह		द्रप ३१		_	बुढिम
•	१४ ५ भिष	नता भिष	ता ३१	३ ३	० जासच	3,000

शुद्ध	षशुद्ध	पंक्ति	58	शुद्ध	পগুৱ	· (क	58
अन्यत्रा-	चन्यत्रभावात्	٩	४३	ऋतम्भरा	तम्यरा	१ ऋ	३५
भावास्				वद्धीः	बहवी:	२१	३५
(रुणादिवत्)	(तृणादिवत)	१०	४३	ब्य क्त	स्यक्	ዓ	36
पाद	पद	86	88	सूयते	सृयते	१८	३६
प्रव र्तते	प्रवर्तत	११	४५	निबञ्जन्ति	नि वन्न न्ति	२६	३६
य न	वन	२८	84	महाबाहो	महावाहो	२६	३६
समवायानां	समबायनां	٤	86	योगाधि	योगधि	Ę	३७
वैधम्योभ्यां	वैधम्याभ्यां	Ę	४८	मयानघ	मयानध	ዓ	३७
होता	होती	6	४८	परमर्षिः	परमर्षि	१५	३७
(बै० रारा९)		२२	४९	ऋषिः	ऋषि	२३	३७
(बै० रारा१०)		२८	४९	बिभति	विभर्ति	11	33
(बै० ७।१।२२)	(७।१।२२)	१३	40	गौड़पाद	गोड्पाद	२६	३७
चलता	चतला	२२	40	जटी	जठी	२९	३७
4 1	की	३३	લ ૦	निराकरण	निराकारण	8	३८
रहता	रहती	३४	40	सूक्ष्मं	सूच्चमं	२९	₹८ .
पार्थिव	पार्थिक	१६	५२	भूतेन्द्रिय	भूतोन्द्रय	8	३९
सुखं इष्ट	48	१५	43	अर्थः—	चर्धाः—	٩	३९
भावना	भावना	v	48	(ह्रोयत्वा	(क्रेयस्वा)	٩	३९
वन्नेपग	वचेगा	१७	વજ	भी	मी	19	11
(बै० शशा१०)	(१।१।१०)	१८	ષષ્ઠ	भ्येय	ध्यये	१०	,,
आम्र स्व	चामत्व	રૂષ્ટ	ષષ્ઠ	निचाय्य	निचाय	१७	ii
द्रव्यःबादि	मध्यत्वदि	Ę	५५	पदार्थी	पदार्थी का	२३	11
प्राग भाव	प्रागभोव	38	५५	वर्णन = उत्तर	वर्णन उत्तर	28	11
।व अन्यो-	श्रन्योऽन्यभा	38	વવ	সন্থাত	সন্মত	१	go
ऽन्याभा व				मूल	मृल	१३	80
द्यानित्य देखा	द्यनित्यखा	8	६०	ऽनुशे ते	नुशेते	२०	80
वह भी	वहें भी	११	६१	जहा	जन्हा	91	"
- विद्या-विनय-	विद्या-नियम-	११	६१	मुक्त	नुत्त	11	99
किया	किगा	9	Ęę	वच	क्ष	٩	88
ऊर्मि का	ऊर्मिका	१३	६४	भी	मी	१६	88
जान का चित्र के			1	সাকাহ্য	আকাগপ	१७	86
	वित्तके	१४	६४	नुपपरोध	नुपपेत्तश्च	१८	४२
• बुद्धि	बुद्धिः,	१६	\$8 1 5	त्र० सू० २।	न० ०२।	4	84

£8	पंक्ति	षशुद्ध	शुद्ध	वृष्ट	पं चि	ষয়ুৱ	গ্ৰুব
ĘS	३०	विरोधीच	विरोधाच	હફ	१०	वाघास्या	वा घास्पा
Ęų	१४	8 ,	है।	७६	११	इहा शिषा	इहाशिष:
Ęq	२८	पष्ठतमी	षष्ठतमो	७६	२२	तग्द्त	तद्गत
६६	१५	मानी	समभी	60	२	ऋषि	ऋषिं
ĘĘ	२१	(पा. ४।१।१९)	(न्याय-	UU	१५	घाच र्य	बाबार्य
			४।१।१९)	હહ	३१	भावागनेश	भावागगोश
ξų	२६	सस्वऽपि	सत्त्वेऽपि	७८	२८	মূ त्र	सूत्र
Ęw	१	तद्वचन	तद्वचन	७९	86	गनेश	गगोश
Ęu	१०	प्रानायान	प्राणायाम	49	१९	विद्यान	विज्ञान
86	१०	मन्येत	मन्येत	60	२६	निरति	निवृत्ति
86	११	शृश्यन्	अ ग्वन्	८१	4	रं रे	रमरे
Ęć	११	न्नश्वन्	न्नश् तन्	८२	ц	प्रक्रित	प्रकृति
Ę	११	श्वसस्	श्वसन्	८२	9	श्रवव्य क्त	श्रव व्यक्त
ĘZ	१२	गृह्मन	गृह्वन्	८२	१०	चनुमन	घनुमान
46	१३	न्द्रियोर्थषु	न्द्रियार्थेषु	८२	१९	8	8
82	२१	विभू	विभु	68	२८	बाधक	बोधक
६९	Ę	परमात्मा पर	मात्मा के शबल	८२	३२	विपर्थ	विपर्य
			स्वरूप	८३	9	चस्यतिष्ठ	घ त्यतिष्ठ
६९	Ę	समष्टि	समष्टिजगत्	८३	१५	शररों	शरीरों
90	y	श्वेतना	श्चेतना	८३	१६	करणों	करण
90	१०	सर्व पारौः	सर्वपारौः	८३	२२	सद्धत्	तद्वत्
40	१४	वेतान्त	वेदान्त	८३	२२	मृग्। दिषु	मृगादिषु
90	२	डो	ह्ये	८३	२८	सेत्रध्वेब	चेत्रेध्वेव
७२	8	कौई	कोई	८३	२९	वभूव	वभूव
७२	8	प्रारम्भ	प्रारम्भ	58	१०	है।	× ×
७२	१३	घारणा	धारणा	58	११	गुर्णे	र्गुणै
७२	68	अ सम्प्रज्ञान	असम्प्रज्ञात	68	१२	निगुग	निर्गुगः
७२	१६	स्वरूपावस्विति		C8	१४	वार्क्तिक	वार्त्तिक
હરે			खरूपार्वाश्यति	68	२९	घ द्वेत	च द्वैत
AS.	१५	इद्रिन्यादि	इन्द्रियादि	64	१६	चात्मापिएड	चास्मा पियह
e8	१८	चसक	चासक	64	२२	व्यतिदेवतासु	
٩g	३०	मु खीथा	मु कीथा	64	२५	विभुक्तः	विसुकः
we	२२,२४	. वभूव	वभूव	20	•	इं ब्रस	ईयर
			64	la.			

gg.	पंचिष्ठ	সহ্যৱ	গুৱ	as.	पंक्ति	ব্যুত্র	शुद
66	२	प्रतिविमिंबत	प्रतिविम्बित	९७	२९	सत्तर	सत्तरह
66	११	र स	गुण	96	9	सत्रह	सत्तरह
66	११	तनमात्रा	तन्मात्रा	96	१५	नवघा	नवधा
66	२३	संगतिशंका स	गितिः शंका-	"	२४	बाध्यात्मक	चाध्यात्मिक
66	२९	कीई	कोई	९९	8	परावार	पारापार
ረዓ	ą	प्रकृति	प्रकृति	"	8	व्यनुत्तमाभ्यः	चनुत्तमाभ्य
دع	२१	षष्ठीतन्त्र	षष्टितन्त्र	,,	ષ	उत्तमाभ्यः	उत्त माभ्य
९०	२	निर्मल सत्त्व	चेतन तस्व	१००	१५	फिर	×
98	१ ४	रतने	रत्ने	१०१	११	चक्रभूमि	चक्रभ्रमि
९१	१७	श्राभ्यान्तर	आभ्यन्तर	"	२४	रशना	रचना
98	२४	तैतिरेय	तैसिरीय	,,	३१	पदार्थ	परार्थ
९१	३१	विकृत्त	विकृत	१०२	ર	न्ही है।	नहीं है)।
९२	१०	विभाजक	विभाजक	31	१६	योनश्च	योन्यम
93	१०	होती	होता	१०३	٩	सन्प्रज्ञात	सम्प्रज्ञात
98	२	छान्दोय	छान्दोग्य	१०३	१८	चनुवाक्य	धनुवाक
98	१३	यध्याणी	यद्ब्रह्मणों	33	२३	अ ानानज	चात्रानज
९४	१४	होरोत्तंविदो	होरात्रविदो	:,	३२	घ जानज	घाजानज
९४	१५	द्वयत्त्रयः	द्व्यक्तयः	१०४	९,१०	सम्प्रज्ञान	सम्प्रज्ञात
९४	१५	सर्वा	सर्वाः	,,,	१७	योगो	योगी
98	१६	राष्ट्रयागमे	राज्यागमे	19	२२	समय	समय-समय
९४	१७	भूतग्नामा	भूतप्रामा		२५	अ भ्यु र थान	भभ्युरथान
९५	३	आवा न्तर	अ वान्तर		३१	अ सम्प्रज्ञान	असम्प्रज्ञा त
९५	ર	Ē	ğ	१०५	१४	भूत	भूत,
84	१८	दु:क	दुःख		4	वैज्ञानिक	वैकारिक
94	२५	निन्द्रा	निद्रा		१४	चिह्न	विश
९६	१८	ह्रदय	इदय		२४	चरिता धेरवात	चरितार्थस्वान्
९६	२०	इन्द्रियों	इन्द्रियों के		२ ४	विनिष्टती	विनिष्ठती
90	8	ड्रय	इत्य		२९	समभी	समग्री ।
90	4	पी०	, वि०	1 ."	"ર	अन्य	(X
90	१०	चपस्थत	बप स्थ		₹	सां०	(सां॰
90	२०	धन्धन। मिस्			Ę	সন্ত	স ক্ত বি
91	२०	समा०	सा		4	विकृति है	प्रकृति है
19	२६	ė́о	सां	1 909 1 48	93	सृष्टि की 🗒	सृष्टिकी

317170	'						
88	पंक्ति	বহুৱ	शुद	48	पंक्ति	খয়ুৱ	शुद्ध
१०९	२२	दवाकर	द्वा कर	१२५	२१	कारण	करण
११०	१४	उन्नेजना	उत्तेजना	१२६	१९	वै	Ė
१११	१८	∓ ुल	मूल		३४	थोडे	घोड़े
"	२३	व ा म	विषम	१२८	२०	क्रियात्मिक	क्रियात्मक
11	२५	द्वेप	द्वेष		२७	चतुःसूर्ची	चतुःसूत्री
११४	१३	सन्पूर्ण	सम्पूर्ग	१२९	8		इसके कारण
"	२३	रहता है।	रस रहता है।			3	इ चित्त और
११५	२३	अविरुद्र	श्रविरुद्ध				चेतन पुरुष
११६	१६	g 6 4	पुरुष	१३३	१२	अन गिनती	
"	38	श्चात्मीपप्येन	श्चात्मीपम्येन	१३४	ą	वशेष	विशेष
15	२७	छा त्।	श्रात्मा	,,	१३	वाद्य	वाद्य
११७	१०	વૃથ±वेन	पृथक्खेन		88	होता	होती
33	१८	जानना	जानता		२१	का भा	का भी
११८	88	ईश्वद	ईश्वर	१३४	२७	रहत	रहते
93	२६	वध्नास्यात्म	। वध्नात्यात्मा	। १३५	ų	सम्प्रज्ञात	सम्प्रज्ञात
११९	4	विज्ञातारं	रे विज्ञातारमरे	1		समाधि	समाधि श्रौर
"	٩	उ सी	इसी	1			श्रसम्प्रज्ञात
19	१९	(चित्र	(चित्त	1			समाधि की
19	२९	व्ययहित	न्यवहित			ě	चिकी अवस्था
१२०	ષ	मनुञ्यों	मनुष्यों	१३५	१८	कैवल्यः मुक्ति	प्रति प्रसव
,,	२३	कमेकल	कर्मफल	147	10	(स्वरूपाव-	अर्थात् चित्त
19	ર૪	पावं	पापं			स्थिति)	को बनाने वाले
"	२८	भूस	×			iena)	लीन गुणों की
33	२९	साम्नित्य	सान्निध्य				अपने कारण
१२१	Ę	ģ	है।। १६॥	Ì			में लीन होने
33	१७	दोता है	होता है				की अवस्था।
11	२४	हूए	हुए			यौ	यो
१२२	२६	ख्दासीन को			३३		
१२४	१५	(सी०द०	(सां० द०		` 8	यागानुशास	त" योगानु द्या -
33	१९	(क्लेषादि)	(हेशादि)	ì			सनम्"
१२५	१७	कारन	कारण	1	ષ	शब्दानुशास	न'' शब्दानुशा-
93	१८	वैराग्य हेतु	वैराग्य की श्राप्ति के लिये		٩	पुर्में।रिचे	सनम्" इन पुर्माश्चेतनं
				. 60	•	•	•

8 B	पंक्ति	ষয়ুৱি	গুর	AB.	पंक्ति	ব্যুত্ত	গুর
35	१३	ठेहरा	ठहरा	१३९	१८	करें	करे ।
19	२८	पश्चिन	पाणिनि		२०	मुमुच	मुमुका
	२९	सपोऽहम	''सपोऽहम्''	१४०	१३-१६	निधिष्या	निविभ्या
			पातञ्जल	घोगप्र	द्रीप		
٩	१४	1	हैं।	6	३०	कुम्भव	कुम्भक
11	२६	बनन	बन्धन	` ع	8	सष्ठे	सूयेाष्ठ
٠ ٦	२	श्रसम्प्राज्ञात	श्रसम्प्रज्ञात	ዓ	4	सायोगा	सोर्योगा
ર	२२	सन्बन्ध	सम्बन्ध	१०	१३	श्रान्तरिके	चान्तरिक्
ર	ą	याज्ञवल्क	याज्ञवल्क्य	१०	१९	से	में
3	१९	यजु० प्र०	यजु॰ ८०	१०	38	सरंब्यान्	संख्यान
3	२०	हिरग्राभे	हिरययगर्भ	११	8	শহ্যৱ	चशुद्ध तथा
ع	२२	हिरगयश्म्	हिर एयम	११	ц	कहत	कहते
٠ २	२३	छान्द	छान्दो०	११	ષ	प्रकार	प्रकार
3	ર૪	सुनहर	सुनहरा	"	१०	दवा	द्वा
8	१९	विवर्जित	विवर्जिते	१२	4	चश्चलता	चचलता
8	₹ ९	योम	योग	१२	₹	सच्व	सस्व
y	30	योगान्निमय	योगाग्निमय	१२	१५	प्र तिष्ठ ति	प्रतिष्टिति
ષ	ેશ	न रोग है,	न रोग है,	31	१५	योजियों	योगिय
•	•	•	न जरा है	१३	१२	तलवाया	बतलाय
ų	۷	मृद्या	मृदयो	१३	38	कारण। है	कारण दे
ų	٩	तद्वोऽ	तद्वाऽऽ	88	3	परिग्णान	परियाम
ų	१३	हा	हो	88	Ę	समन्ध	सम्बन्ध
ų	२६	विरोध	निरोध	88	v	'सै जस्'	'तैजस
ų	29	खप्य	ऋप्यय	188	२०	द्राद्वा	র্ছ
Ę	१२	त्यानं	त्मानं	١,,	२४	परिणा	परियाम
Ę	१३	मह	महः	111	२४	मपरस्पर	परस्प
Ę	१७	चिछ्नतं	च्छ्रितं	,,	२६	वायू	qı
Ę	૨હ	मते	व्रते	१५	y	ऋहं कार	चहंकार
Ę	२८	चित्तो	वित्तां		ર૪	कस्पयतः	कल्पय
Ġ	११	भुवोमध्ये	भुवोर्मध्ये		३०	योगवा	योग्यत
u	१६	निहत्त	³ निरुष्य	१७	१ं३	विकृति	विकृति
•	ર્વ	प्रयोजा	प्रयोजन				महत्त्रत्त

ग्रदि	খহাত্তি	पंक्ति	D 163			\	
•		भाक	58	হ্যব্রি	অ গুৱি	G .	વંધિ
महामोइ	माहमोह	6	19	में	में	88	1
साधन	साधन,	२७	19	होती	हाती		
पारमार्थिक		२९	11		कहे जायेंगे कही	`` २०	
त्रिगुणात्मक	1	91	33	अर्थात्	अर्घात्		
विपयंय	विपर्य	30	••		ष्ठ के शीर्षक में सू	~ ~ ~ ~ ~	_
भिन्न	मित्र	38	२७	नहीं होना	हाना चाहिये चौथा र	88	१९
क्त्र से आस्म		३३	"	चाहिये।	्।ता चारिय नाना	Ę l	
इसलिये इससे	इसलिये इर	٠ 4 -	२८		शीर्षक में पाँचवे	. 4 .	
विकल्प	विकव्य	ą	२९		त्रापक स्वाप्त त्र होना चाहिये	२० के	18
अ थोत्	અર્ધાત્	٩	9)	(२।१२)	त्र हामा नावन (२।१)	छटा सूत्र ६.	
मिध्या ।	मिध्मा	33	3,	ষ্টিষ্ট	किष्ट	۹ . نو.	२०.
विकल्पः	विल्पः	२९	,,	(8120)	(४।२६)	ષ. ૨ ૦	33
जामत	मात्रत	Ę	30	(साधना)	(साधन)	₹ २ ,	17
इसलिये	इ स िये	१२	,,		शीर्षक में छटे सू	4 \) 1 D 9 B S 5	1)
पुरुष	पुरुष	4	38		द्याना चाहिये।		
महत्तस्व	मत्व	Ę	,,	जिस	जस	१ १	भ जाय २१
वा	व	88	,,	पुरुषनिष्ठ	पुरुष निष्ट	Š	
वङ्	शंकुरित हो	२६	,,	२-जो	जो	११	19
××	चिस वृत्ति	२७	,,	करण	कारण	१७	۶۰ عو
जाता	जाती	,,	,,	莱星	<u> </u>	१९	
	वह अनुभूत	19	,,		द्वार्थ	३ २	33
	पदार्थ के	-		वास्तविक	वास्तव	પ	" २३
××	व्याकार से			डपरोत्त	डरोक्त	१४	11
''इस संस्कार	को रंग कर	२७	,,	पुरुषनिष्ट	पुरुषनिष्ट	84	"
विषयक''	तदाकार ही			कहलार्त	कहलावा	32	,,
	বিস কা			देस	सके	१०	ર૪
	कर देता है	२८	,,	A	শ্বৰু	રંવ	ર૪
जावा है				तर	तट	6	રવ
प्रमार	प्रश्रम	२९	,,	लक्ष	ल प	83	19
q.	पूर्व	२७	ा ३२	मिध्य	मिध्या	१३	,,
भूरि	भूभि	२८		प्रमार	प्रणाम	4	२६
् वाक	बाल	4	1	सामिर	तामि ञ	२८	12
चाभाव	भ्यास	88	τ ,,	प्रका	FIRER	8	

18	पंक्ति	স্ যুৱ	হ্যৱ	A8	पंक्ति	चशुद्ध	গুর
३६	२८	द्द भूमि	दृढ़ भूमि	48 ,	9	मष्ट	नष्ट
91	३२	श्रृ	স্থ	"	१७	'সাত্যা	प्राणा
₹0	१	प्रवृतिम-लिका	प्रवृत्ति-	91	२४	मति	गति
			मूलिका	५५	१८	तथा	तथा—
૪૦	२६	श्रनुगमात	अनुगमात्	33	२४	ऋषिः	ૠ ષિ
91	38	वितकोनुगतः	वितकीनगतः	६३	v	अनुष्टान	, अनुष्ठान
કર્શ	``` `	जिस ने	जिससे	11	२०	सूचिक प्रह	सूचिकटाह
४१	ų	श्राहिमता	अस्मिता	६४	v	निरोधावस्थ	निरोधावस्थित
"	દ્	छो डकर	छोड़कर	91	ዓ	यन्त्रत	यन्त्रित
૪૧	ર૪ં		इन्द्रिय ऋदि	,,	२३	र्निगुन	निर्गुग
11	२९	तैयालीस	र्तेतालीस	६५	२५	रूची	र ची
પ્ર [?]	૨ १	श्रभ्यास	ऋधास	11	३१	जागृत्	जागृत
४३	eq	ये	यह	६६,१०	,११,१७	निचिली	निचली
"	Ę	चाहिये।	चाहिये)।	,,	२०	'नरने	भरने
४५	२६	श्रम्प्रज्ञात	सम्प्रज्ञात	६८	२	भाज	भोज
४६	હ	पिय	प्रिय	,,	११	श्राप	अपि
४८	३०	अभ्मास	अध्यास	95	१४	मध्म	मध्य
19	३२	श्रलम्बन	श्रालम्बन	,,	,,	वाला	वालों
88	२२	श्रसक्ति	आसक्ति	,,	२५	पूर्वाक	पूर्वोक्त
४९	२९	श्रश्नति	उन्नति	६९	१८	छश् न	हिरन
५१	१	सङ्गस्या	सङ्गरमया	,,	२६	(२।३)	(२।१३)
19	ધ	चित्र १	चित्त	ဖစ	8	निलर्प	निर्लेप
39	२६	40	4	90	३०	दाचिंगिक	दान्निगिक
42	१६	न्दियम्	न्द्रियम्	١٠٥	१६	नहीं है	नहीं है।
19	२२	येगी ं	योगी	७१	२३	विशद्ध	ৰিহ্যু ৱ
,,	३ २	र्निधर्म स्व ात्	निर्धमेखात्	७२	4	ईश्वर,	ईश्वर
4ર્ચ	3	चित्र	चित्त		ዓ	चसमें	में
11	ષ	के लिये	× ×	68	२९	वीसरे	दूसरे
93	२२	विदेही	विदेहों	હફ	३०	तिष्ठा	प्रतिष्ठा
93	२ २	अ स्मिताओं			38	बढ़ने	बढ़ाने
"	२७	द्वेश	द्वेष		33	सारे पश्चों	सारे प्रपच्चों
48	26	बासनाएँ	नासमार्ये;		99	द्योभ्यं	द्वो भयं
•			•	484			

		200.0				
વંજિ	ঋয়ুদ্ৰ	গুৱ	মৃত্তি	पंक्ति	সমূৱ	গু ৱ
१३	(रे बे ० ड प०) १४(শ্ব ০ য়ুণ০ ঋ০ १)				श्रादि बौद्धधर्म के प्रधात् के कई
१७	ध्यान	ध्यान	९२	१७	गमा	गमन
२१	ऋराम	ऋचम	९४	१२	प्रत्यये-नियत	प्रत्यय नियत
२१	प्रोत्यो	प्रोत्योमित्ये	९७	१६	डपकारण	उपकार क
२२	रमे-तद्	रमेतद	,,	२८	प्राग्रह्थ	प्राग् स्य
	(હાફારાક)	(छान्दो०	,,	२४	योय	योग
"	, ,	(શકાક	९८	२६	प्रक्रिया	प्रक्रियार्थे
31	भय	મયં	}	र९	प्रकार	इसप्रकार
१	पाप्र	पा्रु	९९	२०	श्रात्मतत्त्व	चात्मतत्त्व है
१८	शिवा	शिवो	१००	የ	स्याजानात्	व्यजाना त्
२४	शास्र	হান্ত	,	२७	ब्रह्मराट	ब्रह्माग्ड
Ę	श्रात्मा के इस	×	१०२	8	प्रवेश	प्रवेश होना
१५			13	२१	जुहूवति	जुह्बति
१९			१०५	4	सूर्योस्त	सूर्योस्त से
			१०५		नवीं पंक्ति वे	पश्चात् निम्न
						छपने से रह
9 -						
						घ शतःकाल
						समय से ढाई
		(वसु			ढाई घड़ी	के हिसाब से
70	ा ६ रखयगम				क्रमशः एक	एक नथुने से
१९	अनबश्यितत्त्व इ	_ 1			खाभाविक स	दर चलावे।
			१०५			तीयं
		1	39			श्रंगु लियों
38				१८		खाद लेने
			११३	१२		धूम्र अथवा
v				38	(१५) (१५)	चक्र पर ध्यान
१७	मित्र					काफलः
28			११५			अन् रः
		ब्यास भा ष्य	"		-	चन्द्र
	₹	चाधार पर	•			प्रयोग के
	q			४५	समान्य	सामान्य
	११९१२ । ११८४६५९ ०५६८ ९८९१८७७	पेकि अशुद्ध १३ (रे वै० वप० १९ प्र्यान २१ श्रद्धाम २१ प्रोत्यो २२ रमे-तद ११ पात्र ११ पात्र ११ शहरा १४ कारण प्रकृति १९ रही हैं रही हैं परे १९ सा १५ संकर्ष विभू २८ शहरावगर्भ १९ अनवधितस्य १ १८ आकरने की १ १८ अप्रवृद्धान की ३१ विषय १८ आधि दैविक	पेकि अञ्चास शुद्ध १३ (रेबे० वप०) १४(शे० वप० अ०१) १७ ध्यान श्यान २१ श्वराम श्रवम २१ प्रोत्यो प्रोत्योमित्य २२ रमे-तद रमेनत १ (७१०।४।४) (छान्यो० १।४।४) १, भय भयं ११ पाप्र पाप्र १८ शिवा शिवा २४ शास्त्र शास्त्र ६ आत्मा के इस × १५ कारण प्रकृति कारण जगत् १९ रही हैं रही है। प्रकृति से परं परमात्मा का ग्रुद्ध निर्मुण अर्थोत पर-स्वरूप है १० सा सारे १५ संकल्य संकल्य २६ विमू विभु २८ 'हिरययगर्भ' 'हिरययगर्भ' ६५ स्वत्य व्याप्य १९ अनवस्थितस्व अनवस्थितत्व २८ का करने की को करने का अनुष्ठान की अनुष्ठान का ३१ विपय विषय २८ आधि दैविक धार्धि दैविक ७ चित्र सिम्न १४ इस सूत्र में इस सूत्र में स्यार माध्य के आधार पर वाचस्पति मिम	पेकि अग्रुद्ध ग्रुद्ध पृष्ठि १३ (र वे० वप०) १४(ये० वप० वप० १) १७ व्यान प्यान १२ ११ श्रात्मा श्रवम १४ ११ प्रोत्मो श्रीत्योमित्ये १७ ११ प्रोत्मा श्रीत्योमित्ये १७ ११ प्रात्म एम्प्रात्म ११४। ११ पात्र पात्म ११८।	पैक्ति	पेकि बाहुद्ध शुद्ध पृष्ठि पंकि बाहुद्ध १३ (रे वे० वप०) १४(श्वे० वप० अ०१) १७ घ्यान घ्यान २१ श्वराम श्वयम २१ प्रोत्यो प्रोत्योमित्य २२ रमे-तव रमेतव (१० १६ वपकारण २२ रमे-तव रमेतव (१० १६ वपकारण २२ रमे-तव रमेतव (१० १६ वपकारण २२ प्रात्य प्राप्ठ १४ प्रात्य प्राप्ठ १४ पात्र पात्र १४ पात्र पात्र १४ पात्र पात्र १४ शास्त्र शास्त्र शास्त्र ६ श्वात्मा के इस × १०० १ व्याजानात् २४ शास्त्र शास्त्र शास्त्र १०० १ व्याजानात् २४ शास्त्र शास्त्र शास्त्र १०० १ व्याजानात् २४ शास्त्र शास्त्र १०० १ व्याजानात् २४ शास्त्र शास्त्र शास्त्र १०० १ व्याजानात् २४ शास्त्र शास्त्र शास्त्र १०० १ व्याजानात् २४ शास्त्र शास्त्र १०० १ व्याजानात् २० शास्त्र शास्त्र १०० १ व्याजानात् २० शास्त्र शास्त्र १०० १ व्याजानात् २० शास्त्र शास्त्र १०० १ स्वयंस्त्र १० सा परे परमात्मा का ग्रुद्ध निर्मु १०० म्यूयंस्त्र १० सा सारे १०० म्यूयंस्त्र १० सा सारे १०० म्यूयंस्त्र १०० सा स्वर्भ विभ्र विभ

i wat diringly	***								
গু ৱ	চ খ গুৱ	पंति	য়ষ্টি	গুৱ		ষ্মগুরু	कि	ų	क्षीष्ट
ट्यु स्थान	ठ्युत्थात	4	.8ક	होरेब		होरप	3	8	११९
पूर्व-जन्म	पूर्व-जम्म	१०	४३	ीक्ष्म	तथा	तीच्चग्	8	₹	१२०
पर जो	से पर जो	२०	35	तों में	34	तो आंतों मे		3:	**
জৰ	जब जब	२७	11	१६	सं	सं० १५		3,	१२१
स्वरूपश्चिति	स्वरूपिथि	88	88	叹事		एक एक		₹:	१२२
कोशमयी	को शमयी	२०	33	न हो	शरीर	शरीर नहीं		3	33
। हो जाता है"	हो जाता है।	२३	"	तवमें		सवको	२	•	१२४
चौथे श्लोक से			84	प्रथम		पृथक		₹.	१२४
चाहिये	ऊपर चानी प			त्येवं		त्येव	ζ.	9	१२६
श्लोक से ऊपर	वीं पंक्ति ५४ व	१२	४६	न्तो		न्ता		ď	१२९
मे।	ञानी चाहिये			हीत्	मग्रे	मगोपहीतृ	} :	28	19
बोलता	बोत्तला	१४	४६	तद्रप		त्रूप	१	33	"
इससे छन सब	उन सब	१५	8/0	लौर	बि	विल्लेर	1	8	१३०
जानतीं	जानते	१५	,	न के		ज्ञान		१९	,,
मर्यादा	मर्थादा	१६	४८	कित		संत		१५	१३१
Я	पक्ष	6	40	र्भासा	नि	निभासा	f	३१	१३२
पभ्यास	वैराग्य तथा	8	48	- 1	ञ्या ख	एयाख्याता		२५	१३३
न वैराग्य तथा	चभ्यास				तन्म	तन्मात्र	, ;	९	१३४
इन्द्रियों	इन्द्रियां	રે હ	13	ल्पों		विकल्षों	: f	38	"
वासना से	वासना से	१२	,	मता		समवा	: 1	२८	१३५
चित्रित				माह्य	•	गहा	5	ધ	१३६
न हो।	(पीड़ीकार)	१६	,	तथा		तघा	•	२३	**
रक) न हो।				हिप	9	वाहिये	5	११	१३७
सांख्य	संख्या		•	त है		ोता, है	6	३१	99
	१८४ तक पृष्टो			हार		अङ्कार		३५	१३७
में साधन पाद	ापाद के स्थान र			स्मा		तब आत्मा	3	१२	१३८
			ना चाहिरे	र्थात्	8				
मा	या			1 है	रहर	दा है	₹	,,	",
नाम से	नाम		3	रूप	प्रकाशस	ाशस्त्र स्	9	१७	१३८
नैव	नेव				अनु	मनुभा व		३२	१३९
डपवासी को	कि चपवासी			हि	जार	गती हैं		१८	१४२
मात्रा	मात्र			ड्यों	कर	त्त्रीव्यों	4	२१	19
रहे भौर	रहे।	4	, ;	न्तु ।	ही रहता वि	हींरहता न	न	३१	19

परिशिष्ट (4		গু ৱ ণ্	द्धि पत्र			पातश्वल योगप्रदीप	
प्रिष्ठ	पंक्ति	সগুর	शुद्ध	प्रष्टि	पंचि	চ অহ	্র গুর	
বৃদ্ধ	१५५ मे	ं इटी और	सातवीं पंक्ति	१७०	२४	क्लेसों	क्लेक्रों	
मिली ह	हे होनी	चाहिये ।		Žį.	१७१	क्ति ३ में "	चित्रा में" के प्रधात्	
१५५	रेश		शनैः शनैः	निम्नलि	खित भ	ाग छपने	से रह गया है:-	
58	१५६ व	१५७ के ऊ	पर के शीर्घक	जन्म-ज	त्मान्तर <u>ं</u>	ों से सध्य	ात चले घारहें हैं।	
में मनु	के श्लोक	के स्थान में स	योगदर्शन साध-	जब जि	न कर्माः	शयों के सं	स्कार चित्त में	
नपाद क	ा पहिल	सूत्र आना	चाहिये ।	१७१	ધ	होकर	होकर उनको	
१५६	٩	स्त्	सतिस्रो	,,	G	चनकी	च तनी	
19	१६	ऋमग्र	ऋ० म०	19	२९	नित	जिन	
"	२८	मकार	मकार:	१७३	२	तथाः—	यथाः	
१५७	१०	सवितु	सिवतुः	१७३	2	र्जयाते	र्जायते	
**	२३	प्रवृक्त	प्रवृत्त	,,	९	मगङ्गक	मुग्डक	
			र्षिक में तीसरे	99	१७	प्रभाव	ः मा ग्	
		दूसरा सूत्र ह		"	३२	नियम	नियम से	
१५९	२८	विन्छिन्न	विच्छिन्न	१७५	6	है। तो	है तो	
१६०	8	न्याग्युप	न्यग्न्युप	१७५		ठिदुरते	ठिठुरते	
१६२	Ę	जो	जब	,,		मनुष्म	मृनुष्य	
11	२०	असमर्थ है।		19	٠.	कमचे	कर्म यः	
१६२	२९	श्रंकुरित्त	श्रं कुरित	11	३३ क		को अर्थात् अज्ञानी	
11	३०	सम्बन्ध नि	श्चेत् सम्बन्ध भीनिश्चित				हरष द्वारा किये हुये	
*43	ધ	छ ावयार्थ	अन्वयार्थ			₹	म्पूर्ण क्रियाओं के स्याग में भी	
11	२०	विषय	विषम	१७६	ц	कर्मपला	कर्मफला	
"	ર૪	पुरुष	पुरुष भौर	१७७	રહ	जा ला	जाला भी	
11	32	प्रांनिथ	प्रंन्थि	860	१९	बुरुष	पुरुष	
१६५	२०	जम्म	जन्म	१८३		पु ष सिखा		
য়ন্ত	१६८	में पंक्ति ४	का "(अथवा	१८३		भेत्त	भेव	
सम्प्रज्ञा	त समा	धे)" पंक्ति	५ में "क्रिया	828	89	E	ŧ	
योग'' ब	हे पश्चात्	होना चाहिर	1	१८५		सत्व	सब	
१६८	२४	प्रतिपाटक	प्रतिपादक	१८६		प्रवृति	प्रकृति	
"	२९	जोतनु ज	ो तनु क्लेश हैं	१८९		दुर्धो	दुच्यों	
			वे तनु	१९०		ध्रुति	ध्रुत्ति	
१६९	२७	ऐसे	ऐ सी	१९१	8	वृथिवी	पृथिवी	
१७०	२३	पा दुः	भा युः	१९१	११	गुणों का	गुणों की	
			Q.	84			• • • •	

S S	पंति	म शुद्ध	शुद्ध	রিপ্ত	पं चि	অ হ্যুৱ	গুৰ
१९२	u	गुणात्मान	गुणात्मानः	२२६	Ę	Th.	50 5
१९२	6	गुणानाम्	र्गुणानाम्	,,	હ	वह	है वह
91	१८	श्रोतादिना	श्रोत्रादिना	. 19	6	नि	होने
१९३	१३	चोकमिति	चोक्तमिति	२२९	9	२४	२४—
٠, ,,	१७	पुरुप	पुरुष	२२९	११	वही	(वही
१९४	१२	(ऐसा विशेषण	देया है)	,,	२०	में	में
		• ऐसा विशेष	ाण दिया है)	33	३३	नहीं है)	नहीं है
1,	२०	कर्त	कर्त्तव	२३०	4,0	२४	२४—
१९५	३२	नह	नहीं	95	२४	a)	₹)
१९६	११	प्रकृत्ति	प्रकृति	२३३	२०	यद	यह
,,	१७,३२	अप्रकृति विकृति	विकृति,	२३४	ዓ	जमत	जमता
•		_	अप्रकृति	,,	२०	मि वस्ववे	[भिक्सवे
19	२६	चिह्नमात्र	चिह्नमात्र	55	,,	येव व	येवव
१९९	१०	लषग्	लच्या	33	२१	परि	परि
२००	Ę	सानम्	सानम्	39	३२	पवेधे	पवेधे
२००	१५	ठ्य जं	ह्य श	२३७	पृष्ठ ती	न पंक्ति में ''वा	श्रविद्या संयोग
19	३०	चाषय	आशय		की उ	त्पत्ति का कारए	है।" इसको
२०४	3	सत्यात्व	सत्यत्व		चौथी	पंक्ति के अन्त में	ले जावें।
२०५	२७	शोभ	च्चोभ	२३८	११	सूत्र २६	सूत्र २९
२०६	१७	मपने	अपने	२३९	2	के	×
२०८	२५	पर ज्ञात्मा	पर-आत्मा	२४०	१९	श्रियग्रीय	भाश्रयगीय
२०९	3	ज्याती	च्योती	,,,	२०	द	Z.
२०९	२६	अहं कारं	अहंका रं	,, ۶	०,२१	सो हो	स्रोहो
२१७	२०	सकान्त्	संक्रान्त	,,	२२	खो	ब्ब्बो
"	२४	स्याश्चेति	तस्याश्चेति	99	२३	एतंति	एतं हि
२१९	२०	ञ नुमा	श्रनुमान	२४०	२३	परिष	पट्टिप
93	२५	अ व्वय	अन्व य	२४१	4	वराने	वर्णन
19	38	पर्दाथ	परार्थ	91	२७	रेना	टेना
19	३३	२०	28	1,	38	मन्त्रहि	मन्तिधि
२२१	-	संयाग-	संयोगः =	33	३२	सम्मो	धम्मो
19		द्रष्ट	द्रष्ट	>,	३३	(धम्मपद २।	५) (धम्मपद १।५)
२२१		<u>a</u>	त्	2020	0.5	*******	•
"	२८	द्रष्ट हरय	द्रष्टा दश्य	२४२	१६	मुसवाद	मुसाबाद
	७२			५६९			

वृष्टि	άf	क्ति घशुद्ध	গুৱ	प्रीष्ट	યુ વ	क्ति र	দহ্যৱ গুৱ
२४२	,,	गन्छ्रति	गच्छति	२६४	३०	रस, रूप	ह्य, रस
२४२	१८	सुरा में	सुरामे	58	२६५ वं	कि २९	का 'विशेष वक्तव्य,
,,	१९	इ हे	इधे		ģ	क्ति ३० के	जारम्भ में जाना
11	२०	१०। १२। १३	१८। १२। १३				चाहिये
२४३	२१	वे	के	२६६	१०	ाठकों	पाठकों
11	२६	(२)	(३)	२६७	-	इठच	इश्व
२४३	२६	धर्मनुपश्यना (४)	धर्मनुपश्यना	,,	٠	वह	विक्र
ર૪૪	२	श्राये चतुः सत्य	चार्य च तुः	२६८	ب	ोना	होना
			सत्य	"	عد	मक्खन	या मक्खन
91	१८	मान्य है	मान्य है।	२६९	१३	आदि	आदि में
11	२७	सुत्त ३२	सुत्त ३१	२७०		लिखते	लिखे
11	३२	लवान	शीलवान	२७१	રઙ	रूत्र	सूत्र
२४७	२९	प्रकुत्येव	प्रकृत्येव	२७२		वेषल	केवल
२४८	१४ १४	खरप करना	खरूप- होना	२७३	२१	उन्ह ने	उन्हो ने
२५१	रह १५	करना स्वधर्मप	हाना स्वधर्ममपि	,,	२२	भी। स्था	
11	१५	स्वयमाप अपेछा	श्रवममाप श्रपेता	"	२६	बंरके	करके
२५३	२६	अपका अ धी	"शंधों	२७५	38	अवामाइ	
२५५ २५५	Ę	धम	धर्म	२७६	6	उड ीयान	
२५६	۲ २२	यथः'''विभागवि	- 1	93	२९	लगादें	लगावे
	₹°	संबं	सर्व	11	३०	बांधो	बांघे
" २५८	१६	वृर्वक	पूर्वक	19	38	जाप	के जाप
249	20	स म् मनित	सम्मानित	२७७	Ę	होता है	होता है।
260	١,	श्रुतना	श्रुतीना	२७७	२०	Hypoti	sm Hypnotism
• • •	Ę	तद महि	तद् ब्रुहि	२७८	२	धैय,	धैर्य.
91 11	१०	त्रयाः	व्रयाः	२७८	१५	रत्तप्रवा	•
"	१५	स्व	ेत्वं	11	२६	रही ह	रही है
२६१	8	त्रयाञ	त्रयाञ्च	२८०	Ę	इत्यादि	इत्यादि)
19	११	वेदत	वदेत्	२८०	२८	इष्ठ प्रकरि	
11	१७	नियामित	नियमित	२८१	१०	सायंकल	सायंकाल
२६२	१०	सुवर्ण	सवर्ग	264	3	देकर	देकर रोग
"	१५	राजनौतिक	राजनैतिक	12	१९	बिना	बिना पलक
२६४	१६	वाद्य	वाद्या	२८६	3	Cliar	Clair

पाराक्षड ७			20.3				
as.	पंक्ति	শগুৱ	গু ত	. 58	पंक्ति	অ গু র	গুৰ
₹८६	२८ N	lagnet	Magnet.	पो	स्त तुरुंज व	ो तोला, पर्ग	गाव जवां दो
	29,30,38	Nedium	Medium.				त्तोला ।
91		ाराऍ	धारा में	३४६	२	भौर	और आधी
"		रती है	करता है	₹8⁄9	8	Coillana	
13	• -	hrit	Spirit	"	<u>ئ</u> 9در	Lubclia	Labelia
'' २८७		। क्योंकि	है क्योंकि	3014		Arth रती	Asth र र ी
२८८		ने लेगे	होने लगे	३४८	१८		
२ ९१	२७	- - - जल शा ण	जल, प्राण	३५०	२२	छः तोले	दस तोले
२९३	3	अणुयाम	शृणुयाम	३५२	२२	दो सेर	दो सेर रस
	ર १ ૪	त्रशुपान ने न ी मान	र की यह नौ	३५५	38	षीसकर	पीसकर
२९७	48	य ना प्रका		३५६	२२	तेंल तीन	तेल नौ
			प्रकार की	३५९	१३	एक एकदि	
३०८	३, ४, ११		श्रश्विनी				तप्ताहं के पश्चात्
13	२५	कुडरालिनी	कुराडलिनी				एक एक दिन
३०९	3	भ्रमध्य	भ्रमध्य	३५९	१७	एक, अनु	(एक-धनु
३१४	38	सममूत्र	समेसूत्र	३६१	8	(२)	(₹)
३१५	8	उठाय	च्ठाये	33	"	सद	यहृद
19	१२	इनमा	एनिमा	33	વ	तुरव्मा	तुरूम
३१६	3	धनुरासन	२३ धनुषासन	**	१४	मासे	माशे
324	8	उसका	उसकी	,,	१८	पेड	पेड्ड
99	१६	Ę	3	३६२	વ	(७)	(१)
३२८	· ` `	गोरथ	गौरच	३६२	Ę		टर के बराबर
"	१ ३	वंधो	१ वन्धों	25.	१७		injection
•	રેશે	इममे	इसमें	३६४	8	dr	gr
"; ३३०	3	६ मात्रा से		३६५		उतमा धिकारी	•
440	`		त्रासे कुम्भक	"	११	अन्वयाथ	अन्वया् थे
			त्रास कुम्मक रेचक ६ मात्रा	३६७	२८	शुल्येवार्थ निभ	
31	19	८ भात्रा स	रचक ६ मात्रा से रेचक				वार्थमात्र-
							निर्भासा
		तक पृष्ठों के इ	र्विक पर सूत्र	३६९	"	१।४२	. १। ४३
	के स्थान में		ना चाहिये।	442		विचार श्रनुगर धान न्द	
३४५	8	(तिजल)	(हिंजल)			ના નાવ્યું	फिर वि चार
मुख्यु	४५ पंक्ति ४	में निम्नलिबि	त औषधियें				बनुगत, फिर
छपने व	से रह गई है	:					मानन्द

	-2:		शुद्ध	25	पंक्ति	খয়ুৱ	গ্ৰহ
बृष्ट	पंक्ति	ষয়ুৱ	શુક્ર			_	
३६९	6	श्रमुगत फिर	श्रनुगत	पृष्ठ ३८	९ से ३९१	तक शीर्षक में	सूत्र १४
***	•		प्रौर फिर			ान पर् १३ हो न	
	२ ४	आध्यात्मके वा	ध्या त्मिक	३८९	१२	आप के मन	श्राप का
13	₹ ७	कि	×	19	२२	धर्मी की	धर्मी के
3	२८	सम्बधी	सम्बंधी	95	२३	कि चेति	किं चेति
<i>₹</i> ७ ०	११	मना	कामना	33	३३	यथेति	यथैति
३७२	१२	र्ख	मूर्ख	३९०	२३	बोल्	बोले
રે ,, રેહ્ય	१९	ज्ञ जिसमें	उसमें	३९१	२९	दशाते	दर्शाते
•	२४, ३०	संस्कारो का सं	1	33	३१	निर्देश	निर्दश
	२०, २० १२	प्रवृत्त	प्रवृत्ति	३९२	१९	गले	गां्ले
३७७ ३७७	२१	नरू । चयीदयो	च्योदयी	33	२५	बर्त्तन दूट क	्वर्त्तन
३७९	१८	नरोध-परिणा	म निरोध	३९३	११, ३२	श्रव्यपदेश श्र	व्यपदेश्य है,
407	10		परिगाम में	388	ч	अध्यपदेश र	
			र्मपरिणाम	३९४	१८-१९	व्यपदेश	व्यपदेश्य १
30	Ę	धमे लच्चराध		३९५	१	वैधर्घ्य,	•वैधम्ये
३७९		चाहिये	चाहिये।	,,	१४	यथा'	यथा
३७९		ह्रप धर्म की व		,,,	२१	रह हैं	रहे हैं
३८०	, २ ० ३१	ह्यों	श्रीर	396	v	कलाप्मक	कलात्मक
3 40		ज। लज्ज्ज्य परिगा		١,, و	४,१५,१६	उपसि	् उत्पत्ति
३८१		निरोधत्रिलदः		93	१८,१९	(हमारे शरी	
		MAININ	निरोध)ıx.x.x
			त्रिलद्ग्य	1,	१९	अभिव्यक्ति	
३८	२ १३	लच्च	लद्मग् से			श्रभिव्यक्ति	नहीं शरीरों
,	,, ३३	विमेद विमदे	(विनाश)			होती	से सर्व
36		परिमा	परिमाण				प्राशियों
	,, ३३	विनाशर	विनाशरूप	1			की उत्पत्ति
30		परिखामित्व	परिगामत्व				नहीं होती)
30	६ १	सत्वादिपुरुष	स्त्रवाद्	,		खतन्त्र	स्वतन्त्रता
	19 11	में पूर्व	में पुरुष पूर्व		ર૪	परिणामों	परिणामों में
30		कही	कहा	३९९	-	सिद्ध ही	सिद्ध
	,, १३	को	×	,		उसके	चनके
30	८७ १		अपर				सकारण जब
3,0	८८ ६	भौर रूपता	रूपत	1 , 80:	१ १४	होना	होता
				५७२			

গুৱ	घ शुद्ध	पंक्ति	মূদ্র	शुद्ध	षशुद्ध	पंक्ति	प्रश्चि
देखो वि० व० में देखो	वि० व०	३३	४२५	वाचक है। "वाच्याका	वाचक। वाच्यका हैं	२८	४०३
वण्म द्खाः वृक्तिः'	वृत्तिः	Ę	४२९	श्रजापय (घोड़े		१३	४०४
पूरायं लोकं	पुरां लोक	8	४३२	बकरी, दूध) दूध			
पुरुष लाक (चादित्य	पुरा लाफ स्नावित्य	8	041	प्रहण	म ह	२७	,,,
(जावस्य पितृ	भाष्य पित	१८			प्रमाग ह	१३	४०६
अन्न	श्रङ्ग	38	४३३	রন্ধ অবহিজ্ঞ		6	४०७
के	की	ζ,	838	तिभक्षु के योग-			
की	को को	,,,	"	धान में 'विशष	•		
	 कम्मशियों	ર?	,,		•	होना चा	-
बाले हैं, वे	वाले हैं	ų	४३५		अ नुसार	१८	४१२
গ্ৰন্থ	3	१२	33	८ के स्थान पर			
न,से दिनको,		રેઇ	"	क्योंकि	गाह्य योंकि	१ होनाच ३२	सूत्रार ४१३
दिन से		,-	,,	क्याक इन दोनों कर्मी	याक इन दोनों	२२ १०	४१५ ४१५
मार्ग है)	मार्ग है	३०	,,,	में संयम करन	कर्मो में	,,	017
××	यथा—	२०	४३६	से उनका साज्ञा-			
ते हैं)। यथा	हरतं हैं।) हो	२५	,,	त् हो जाने पर			
	७।३।१	२६	,,	योगी को।			
धारण''	धारणा	२६	४३८	कहसे	करहते	१२	४१८
श्चन्वय ।	श्रन्वप	9	४३९	स्थित	तिस्थ	२१	11
से । भूत-जय:	से भूत-जय	9	४३९	दिशा	दिज्ञा	१६	>1
का	को	१७	४३९	e···•Pacific		१३	४२२
का जो भेद है	का भेद है	२५	४४०	e Atlantic		88	"
वह	वह'	३२	91	Arctic	Arctie	१५	,,
मात्र रूप में	मात्र रूप	२५	४४६	Antarctic		१६	"
पुरुष की	पुरुष को	१	880	anian Me-	Meaitr	१८	33
परिग्रामन्	परिण्मन	२६	880	ditranian योगी	योग	2	४२४
ऐश्वये	ऐ श्वर्थर	२२	४४९	यागा प्रतिपादन	•• •	ર ૨ ૪	४२४
विवेकज	विवेकज्ञ	२०	४५०	भातपादन गाधनपाद्'' के	प्रदिपाध क्रीकेट में 'क		
वह	व 	३३	४५१	' होना चाहिये			50
न्नास्ति विक्री	न्तास्ति ि र्ण	१०	४५२	हाना पाहिय सर्प	म ापम्रातपाद सर्व	१५	४२५
चिति	चित्ति	४	४५५	सप	सव	रप	633

			·				
व्रष्ट	पंक्ति	খগুৱ	গুৱ	ã8	पंक्ति	च्युद	গুৰ
४५५	२३	स्त्राध्याया	खाध्याया-	४७२	२४	(सूक्ष्म	(सूक्ष्म)
ררס		विष्ट देवता [.]		,,	२६	देते हैं।	देती है।
४५७	ą	योगी	योगी के	97	38	धम-धर्मी का	धर्म-धर्मी की
	२३	जस्यंतर	जात्यन्तर	864	२६ .		, बा
19 8'4C	20	कार्य	काम	४७६	, 80	व	वा
	२७	हटाते	हटाने	४७९	२३	बारह्	बाहर्
**	ं २८	,) , , , , , , , , , , , , , , , , , , ,	से	800 .	१६	तात्पर्थे	तात्पये
४५९	رن ع	पुरुष	भौर पुरुष	828	33	ट्या पा	व्यापारों
४६०	3	युग-सूत्र सूत्र-सूत्र	सूत्र २	864	, १३.		, चितेः
४६१	ì	निमाण चि		. 91	.२०	प्रतिविग्ध	प्रतिविम् <mark>यित</mark>
071	,	(-1-1-2-1	चित्तानि	,,	२१	Ę	हो
	8 8	^{''} श्रस्मिता	व्यस्मितामात्रात्	878	ą .	कहा गया है।	कहा गया
" ४६२	68		—(भोजवृत्ति)	, ,	31		है। मिम्न बाक्य
011	,,,	i	है। (भोजवृत्ति)	ļ		•	से चेतन को
४६६	٠ ﴿		परिमाण	١.			बुद्धिपृत्यविशिष्ट
४६८	१ ४	_	परिणाम	, :			कहा गया है:
	٠ ٦:		प्रकृति	828	38	रक्तम	रक्तम्
કર્ફલ્ ય			श्रुतेः	86	२०	(नित्य चिंद	। (नित्य उदित)
४६९		\ युष ५ घटवस्ः	घंटवत्			विपया	विपर्यया
8/00		१ १२	. 88	004	, ३०		प्रश्न तीन
800		५ द्वेष	राग-द्वेष		२७	प्रभवी न	
४०१			बस्त में अभाव		२८	नियत	नियम
0.01	•		ध्यौर बस्त का घ	১१४ 🛓	१२	ৰ	्वा
			में घमाव है।	५०१			भोक्ता
805	}	० इतना	इतन	1 ५०२	१५	सव	सर्व

ब्रासनचित्र

इष्ठ ३१५ पर २१. (ग) मुजंगासन को २१. (ख) भुजंगासन स्पीर २१. (ख) मुजंगासन को २१. (ग) मुजंगासन पिढ़बे। पृष्ठ ३१८ पर ३४. उन्हें पद्मासन के स्थान पर कुम्कुटासन का ही चित्र भूल से इप गया है।

लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय प्रशासन अकादमी, पुस्तकालय Lal Bahadur Shastri National Academy of Administration Library

ससूरी MUSSOORIE

अवाध्ति सं• 1207 13

कृपया इस पुस्तक को निम्न लिखित दिनांक या उससे पहले वापस कर दें।

Please return this book on or before the date last stamped below.

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की सख्या Borrower's No.
	-		
	<u> </u>	· · · · · · · · · · · · · · · · · · ·	

अवाग्ति सं ० 14188 ACC. No..... पुस्तक स. Class No Book No.... लेखक शोवंक पातंजल बोगपदोष िर्नात निर्मांक । ज्यारकर्ता की स. LIBRARY

LAL BAHADUR SHASTRI National Academy of Administration MUSSOORIE

 Booke are issued for 15 days only but may have to be recalled earlier if urgenmay have to be recalled earlier. Accession No.

An over-due charge of 25 Paise per day per volume will be charged.

Books may be renewed on request, at the discretion of the Librarian.

4. Periodicals, Rere and Reference books may not be issued and may be consulted only in the Library.

The consulted only in the Library.

The consulted only in the Library.

The consulted only in the Library.

S. Books lost defaced or injured in sen way shall have to be replaced or its souble price shall be peld by the barrower. Lis baok fresh, elean & ma